भारतीय दर्शन में अनुमान

भारतीय तर्कशास्त्र तथा पाश्चात्य पारम्परिक और
प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का तुलनात्मक अनुशीलन

लेखक
डॉ० ब्रजनारायण शर्मा

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
भोपाल

भारतीय दर्शन में अनुमान

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
९७, मालवीय नगर
भोपाल—३

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्य
२५ रुपये

मुद्रक
मॉडर्न प्रिन्टरी लिमिटेड
५५, कडावघाट मेनरोड,
इन्दौर–२

प्रस्तावना

दर्शन वस्तु के मूल तत्त्व को हृदयङ्गम कराने का साधन है। जिसके द्वारा देखा जाय अथवा दिखलाया जाय वह दर्शन कहलाता है। मनुष्य में स्वयं को जानने और चारों ओर से घेरनेवाले वातावरण को हृदयङ्गम करने तथा इन दोनों के कारणभूत तत्त्व का (यदि वह कोई हो) साक्षात् करने की इच्छा स्वाभाविक है। बालक के मन में भी कुछ प्रश्न स्वतः उठते हैं। पृथ्वी कैसे बनी, किसने बनायी ? सूरज, चाँद, तारे कैसे निकलते हैं और कहाँ डूब जाते हैं ? ये सब किसने बनाये हैं ? यहाँ से प्रारम्भ कर "कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः, का मे जननी को मे तातः" जैसी जिज्ञासाएँ बालक के मन में बार-बार उठती हैं। बहुत-सी छोटी-मोटी समीपस्थ वस्तुओं का साक्षात् तो इन्द्रियों द्वारा कर लिया जाता है। आवश्यक एवं दैनन्दिन काम में आने वाली सामान्य वस्तुओं की जानकारी के के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ही। प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान को अन्तःकरण स्वीकार कर लेता है। ज्ञान के इन साधनों को हम प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, किन्तु अधिकांश बातें ऐसी हैं जिनका ज्ञान साक्षात् संभव नहीं है। इनके लिए हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। वनभूमि को गीला देखकर वर्षा का अनुमान अथवा रसोईघर से उठता हुआ धुआँ देख कर उसमें अग्नि होने का अनुमान प्रतिदिन के अनुभव की बातें हैं।

भारत में दर्शन के अनेक सम्प्रदाय हैं। लक्ष्य एक होने पर भी उसकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। प्रमाणों को ही लें। इनकी संख्या के विषय में भी काफी मतभेद है। कुछ लोग आठ तक प्रमाण मानते हैं तो कोई छः, कोई पाँच, कोई चार, कोई तीन और कोई-कोई दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं। फिर भी सामान्यतया न्याय-वैशेषिक द्वारा स्वीकृत चार प्रमाण मानने वालों की संख्या अधिक है। जो लोग आप्त प्रमाण स्वीकार नहीं करते वे भी अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक के वचनों को आप्तवत् ही मानते हैं।

अनुमान पञ्चावयव होता है। इन्हें तथा अनुमान में बाधक बातों को लेकर शास्त्रों में बहुत कुछ ऊहापोह की गयी है। वैदिक शाखाओं में भी अनुमान को लेकर छोटे-मोटे मतभेद हैं। कोई-कोई शाखा इनके भेद भी स्वीकार करती है। न्यायशास्त्र का तो यह सबसे क्लिष्ट प्रकरण है ही, अन्य शास्त्रों में भी इसका महत्व कुछ कम नहीं है। नव्य न्याय का प्रासाद बहुत कुछ इसी की ईंटों पर खड़ा है। यही बात नव्य वेदान्त के बारे में भी कही जा सकती है। अनुमान के बिना वह एक पग नहीं चल सकता। वस्तुतः अनुमान का क्षेत्र इतना व्यापक है कि हमारा प्रातः से लेकर सायंकाल तक का कार्य-कलाप बहुत कुछ इसके सहारे चलता है। भारतीय दर्शन के चिन्तन का यह सर्वाधिक

महत्वपूर्ण अंग है। जैन और बौद्ध दर्शन साहित्य का बहुत बड़ा भाग प्रमाण, विशेषत: अनुमान के निरूपण से भरा है।

हिन्दी में इस विषय पर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। इसलिए जब डॉ. ब्रजनारायण शर्मा की यह कृति सामने आयी तो लगा कि इसका प्रकाशन विश्वविद्यालयों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। ग्रन्थ का कलेवर देखकर पहले तो प्रकाशन में कुछ संकोच हुआ किन्तु देश के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों की मुक्तकंठ से प्रशंसा देखकर ऐसा लगा कि इस ग्रन्थ को अवश्य प्रकाश में आना चाहिए और अब इसे पाठकों को सौंपते हुए यह अकादमी गौरव का अनुभव कर रही है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि डॉ. शर्मा का यह ग्रन्थ दर्शन-जगत् में उचित प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डा. प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

आमुख

सामान्यतया 'भारतीय दर्शन' के अन्तर्गत मुख्यतः आस्तिक छः दर्शन—पूर्व-मीमांसा, उत्तर मीमांसा या वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय एवं वैशेषिक तथा नास्तिक तीन दर्शन—चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शनों को समाविष्ट किया जाता है। इस पुस्तक का उद्देश्य उन्हीं दर्शन-ग्रन्थों में निबद्ध अनुमान सम्बन्धी विवेचन को ऐतिहासिक क्रम से उसकी समग्रता में उपस्थित करते हुए सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टिकोण द्वारा आनुमानिक सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है।

यह सर्व-विदित है कि हमारे देश की विभिन्न दर्शन-पद्धतियों एवं उनकी विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध चिन्तन का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है। विशेषतः अनुमान सम्बन्धी विवेचन के विकास-क्रम का कोई विवरण कहीं भी प्रामाणिक रूप से प्राप्य नहीं है। भारतीय दर्शन के इतिहास ग्रन्थों में तथा न्याय सम्बन्धी तार्किक ग्रन्थों में अनुमान सम्बन्धी थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य रहता है, किन्तु यह विवरण अधूरा, एकाङ्गी और कहीं-कहीं भ्रामक भी रहता है। अंग्रेजी अथवा हिन्दी में अभी तक इस महत्वपूर्ण विषय पर कोई स्वतन्त्र एवं प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसी न्यूनता को दृष्टि में रखते हुए इस ग्रन्थ की रचना की गयी है।

ऐतिहासिक क्रमबद्ध चिन्तन की अवहेलना अथवा अभाव का मूल कारण मेरी समझ में सम्भवतः यही हो सकता है कि समस्त तर्कशास्त्रीय वाङ्मय संस्कृत भाषा की गौरवमयी उपलब्धि है और जिन दिग्गज पण्डितों की इस भाषा में श्रेष्ठ गति है उन्होंने इसको अपनी धरोहर समझ रखा है अथवा वे अंग्रेजी या हिन्दी से प्रायः अनभिज्ञ हैं एवं जिन विद्वानों को इन भाषाओं पर अधिकार है वे तर्कशास्त्रीय चिन्तन को अनुपादेय और नगण्य समझते हैं। धन्य है उन पाश्चात्य मेक्समूलर, कोवेल, शरबाट्स्की, जेकोबी, कीथ, रेण्डल, ऊई, टूची, इङ्गल, स्टाल, बोशेन्स्की आदि मनीषियों को जिन्होंने कठोर परिश्रम, अविरल साधना तथा अटूट श्रद्धा से विनत होकर भारतीय न्याय शास्त्र की श्रेष्ठता को पाश्चात्य जगत् के सामने सम्पादित किया और भारतीय विद्याओं के चिन्तन-मनन के लिये मार्ग प्रशस्त किया। संभवतः इन्हीं विद्वानों से दिशाबोध लेकर कुछ भारतीय दार्शनिकों जैसे, डा० विद्याभूषण, म. म. गोपीनाथ कविराज, सैलेश्वर सैन, म. म. महेश-चन्द्र न्यायरत्न, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, आठले और बोडास, डा० बी. एल. आत्रेय, डा. डी. सी. गुहा, डा. शान्तिप्रकाश आत्रेय, प्रो. कुप्पुस्वामी शास्त्री, डा. एस. आर. शर्मा, डा. एस. एस. बारलिङ्गे आदि ने न्यायशास्त्र का इतिहास अथवा कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या अथवा तर्क संग्रह को आधार बना कर उस पर अपनी टीकाओं द्वारा तर्कविद्या पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इसी प्रकार डा. चेटर्जी ने न्याय पर, डा. दत्त ने

वेदान्त पर, डा. भट्ट ने भाट्ट मीमांसा पर लिखी गयी पुस्तकों में अन्य प्रमाणों के साथ अनुमान का भी संक्षिप्त विवरण दिया है। डा. कोठिया की पुस्तक, 'जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार' में यद्यपि जैन आनुमानिक सिद्धान्तों को भली प्रकार निवेषित किया गया है, किन्तु न्याय विद्या पारङ्गत डा. कोठिया से इस प्राथमिक विवेचन की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ कृति की अपेक्षा थी। उनके कुछ पूर्वाग्रहों की यहाँ समीक्षा की गयी है।

पुस्तक का दृष्टिकोण सर्वत्र तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक है। प्रथम सात अध्यायों में तुलनाएं और समालोचना प्रायः भारतीय दर्शन तक ही सीमित रखी गयी हैं। भारतीय दर्शन अपने आप में पूर्ण है; उसका अपना निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं ऐतिहासिक महत्व है; पाश्चात्य दर्शनों से तुलना करने या न करने से उसका गौरव बढ़ या घट नहीं जाता। यहाँ यह भी विचारणीय है कि कतिपय पश्चिमी विद्वानों ने इस बात को लेकर खिन्नता प्रकट की है कि भारतीय दार्शनिक, अपने-अपने अनुसन्धान ग्रन्थों में, अपने दार्शनिकों को योरोपीय विचारकों से तुलित करने के लिये लालायित रहते हैं। यह भी मानना पड़ेगा कि कुछ भारतीय विद्वानों ने जो संभवतः गलत कोटि की देशभक्ति के वशवर्ती हो, इस प्रकार की तुलनाओं द्वारा, स्वदेश-विदेश के चिन्तकों के साथ कहीं-कहीं अन्याय भी किया है। एक विशुद्ध न्याय ग्रन्थ में ऐसे ढंग की तुलना जो प्रामाणिक, वस्तुपाती एवं निष्पक्ष हो, सहज साध्य नहीं है। "दर्शन और तर्क शास्त्र में सभी योरोपीय भाषाओं का आगार एक ही है क्योंकि इन सबकी एक समान पूर्वज अरस्तु की कृतियाँ हैं। परन्तु भारतीय दर्शन इस प्रकार के किसी प्रभाव से स्वतन्त्र विकसित हुआ है। इसके स्वयं अपने अरस्तु हैं और अपने कान्ट। यह विकास की एक सर्वथा स्वतन्त्र धारणा का निर्माण करता है जो योरोपीय विकास की धारा के समानान्तर चलती है। अतः ऐसी बातों पर ध्यान देने का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्व है जिन पर दोनों धाराओं में किसी सिद्धान्त या धारणा की समानता मिलती है।" इस समय यह हमारा लक्ष्य नहीं है कि हम तर्कशास्त्र के महत्वपूर्ण क्षेत्र में योरोपीय और भारतीय उपलब्धियों के सम्बन्ध में कोई लम्बी-चौड़ी व्याख्या प्रस्तुत करें अथवा इनका तुलनात्मक मूल्यांकन करें। अधिक योग्य लेखनियां कभी इस महान् कार्य को सम्पन्न करेंगी फिर भी, तर्कशास्त्रीय मुख्य-मुख्य समस्याओं पर योरप और भारत के बीच उल्लेखनीय आंशिक साम्य तथा साथ ही साथ, महान् अन्तर की ओर ध्यान दिये बिना भी नहीं रहा जा सकता। इसी दृष्टि से अन्तिम अध्याय में योरोपीय और भारतीय आनुमानिक सिद्धान्तों की तुलना की गयी है। इसी अध्याय में भारतीय तथा पाश्चात्य अनुमान सम्बन्धी सामग्री को अत्यन्त संक्षिप्त विधि से प्रतीकात्मक रूप से संजोने का भी प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक में इस बात का प्रयास किया गया है भारतीय दर्शनों के अनुमान-चिन्तन का पूर्ण एवं निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत किया जाय किन्तु भारतीय दर्शनों का साहित्य इतना विस्तृत है कि उसके महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन प्रायः अठारहवीं शताब्दी तक होता रहा है। प्रस्तुत पुस्तक का आधार, प्रधानतया, समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों के सैद्धान्तिक, सारगर्भित प्रतिपादक ग्रन्थों का सृजनात्मक काल रहा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ भारतीय दर्शनों

के मौलिक ग्रन्थों के अध्ययन पर आधारित है। अधिकांशतः तार्किक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध नहीं हैं हिन्दी में तो इस कोटि के अनुवादों का एकदम अभाव है, अंग्रेजी में कुछ अनुवाद अवश्य हुए हैं, किन्तु इन अनुवादों पर निर्भर न करके, मैंने सर्वत्र मूल-ग्रन्थों से अधिकारी विद्वानों की सहायता लेकर स्वतन्त्र अनुवाद किये हैं।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि प्राध्यापक कीथ और उनका अनुगमन करते हुए डा० रेण्डल आदि कतिपय सतर्क विद्वानों ने अविनाभाव सम्बन्ध, स्वार्थ-परार्थ अनुमान भेद, त्रैरूप्यवाद, विरुद्धाव्यभिचारी अनैकान्तिक हेत्वाभास, पक्षाभास एवं दृष्टान्ताभास की परिकल्पनाओं के लिये आचार्य दिङ्नाग को आदि प्रवर्तक ठहराया है। इस भ्रान्ति-मूलक धारणा के मूल में उनका आस्तिक दर्शनों के अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्तों के गूढ़ अभिप्राय से अनभिज्ञ होना तथा ऐतिहासिक क्रम की तत्त्वाभिनिवेशी-तलस्पर्शी-वस्तु-पाती समीक्षा से अपरिचित होना जान पड़ता है। तृतीय अध्याय में उक्त प्रथम, चतुर्थ अध्याय में द्वितीय एवं षष्ठ अध्याय में तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ भ्रममूलक धारणाओं का निराकरण करते हुए आस्तिक दर्शनों में उक्त कल्पनाओं का परिनिष्ठित होना सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार डा० विद्याभूषण ने महर्षि गौतम के अवयव-विवेचन को उनके अनुमान-निरूपण से सर्वथा असम्बद्ध बतलाकर भारतीय परार्थानुमान व्याख्या में अरस्तू के प्रभाव को अंकित किया है। प्राध्यापक कीथ ने भी व्याप्ति समस्या के लिये यूनानी-प्रभाव की कल्पना की है। इन तथ्यविहीन आक्षेपों की उपसंहार तथा अध्याय तीन में आलोचना की गयी है।

इस पुस्तक में तत्त्वचिन्तामणिकार आचार्य गङ्गेश एवं दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि की जटिल लच्छेदार भाषा में गुम्फित सूक्ष्म और दुरूह अनुमिति, परामर्श, व्याप्ति, व्याप्तिग्रह-साधन के रूप में उपाधि, तर्क और सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति, पक्षता, केवलान्वयी-केवलव्यतिरेकी-अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भेद, अवयव, हेत्वाभास, प्रमाण अन्तर्भाव आदि सिद्धान्तों को मथुरानाथ, जगदीश तथा गदाधर भट्टाचार्य की टीकाओं के आलोक में बोधगम्य सरल भाषा में प्रचलित करने का प्रयास किया गया है। 'भूमिका' में डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के मन्तव्य का परिहार करते हुए नव्यन्यायनिष्ठ अनुमान-विकास काल को अनुमान का स्वर्णिम काल स्थापित किया गया है।

मुझे जितने प्रकार की प्रेरणा और सहायता, इस पुस्तक को लिखने में डॉ० अर्जुन मिश्र, प्राध्यापक सागर विश्वविद्यालय, से प्राप्त हुई है उसका समुचित उल्लेख करने की क्षमता मेरी लेखनी में नहीं है। पुस्तक को आरम्भ करने से अन्त तक डॉ. साहब से अपूर्व प्रोत्साहन, स्नेहिल मार्मिक पथ-प्रदर्शन एवं पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर परामर्श और सुझाव अनवरत रूप से मुझे मिलते रहे हैं।

मैं डॉ. बी. एल. आत्रेय, भूतपूर्व प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, दर्शन, मनोविज्ञान तथा भारतीय दर्शन और धर्म विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, का भी अत्यन्त आभारी हूँ। मुझे लगभग दो-तीन वर्षों तक वाराणसी रहने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह डॉ. आत्रेय साहब की प्रेरणा और कृपा का ही परिणाम है।

वाराणसी-प्रवास-काल में मुझे उद्‌भट न्याय-विद्या-वारिधि एवं प्रकाण्ड विद्वानों जैसे, स्व. पं. शिवदत्तजी गौड़, पं. राजेश्वरजी शास्त्री, द्राविड़, म० म० गोपिनाथजी कविराज के चरणों में बैठकर गूढ़ न्याय-समस्याओं को समझने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

वाराणसी में रहकर जो सहायता मुझे पं. ज्वालाप्रसादजी गौड़, से प्राप्त हुई है, वह अकथनीय है। इन्हीं के सौजन्य से मुझे अधिकारी विद्वानों जैसे, पं. बद्रीनाथजी शुक्ल, पं. दुर्गाधरजी झा, पं. ढूण्डीराज शास्त्री एवं गुरुभाई दत्तात्रेयजी उगले से प्राचीन और नव्यन्याय-वैशेषिक; स्व. पं. रामचन्द्रजी रवनज्ञ, पं. विनायकजी टिल्लू शास्त्री, पं. श्यामसुन्दरजी शर्मा से भाट्ट और प्रभाकर मीमांसा; पं. रघुनाथजी शर्मा, और स्व. पं. नीलमेघाचार्यजी से वेदान्त; पं. हरिरामजी शुक्ल, से सांख्य-योग, पं. उदयचन्दजी, से बौद्ध दर्शन; पं. कैलाशचन्द्रजी, तथा डा. दरबारीलालजी कोठिया, से जैन दर्शन के प्रतिपाद्य ग्रन्थों के कठिन स्थलों के अभिप्राय समझने का अभूतपूर्व अवसर मिला है। मैं इन सभी आचार्यों की हृदय से कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

डॉ. नन्दकिशोरजी देवराज, सञ्चालक, उच्च दर्शन अनुसन्धान केन्द्र, वाराणसी, डॉ. चन्द्रधरजी शर्मा, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, डॉ. रामचन्द्रजी पाण्डेय प्राध्यापक एवं अध्यक्ष बौद्ध-अध्ययन दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से भी मुझे समय-समय पर उपयोगी सुझाव मिलते रहे हैं। अतः मैं इनके प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ।

अन्त में मैं अपने रेल्वे सहयोगियों और श्री बंसीलाल बाहेती का भी आभारी हूँ जो अपना अमूल्य सहयोग देकर मुझे सर्वदा प्रोत्साहित करते रहे हैं।

इस पुस्तक का प्रणयन यद्यपि बी. ए., एम. ए. के दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत तर्कशास्त्र पढ़ने वाले छात्रों तथा न्याय-मध्यमा, न्याय-शास्त्री, न्यायाचार्य, न्यायतीर्थ, तर्कतीर्थ आदि परीक्षाओं में रखे गये पाठ्यक्रम को दृष्टिकोण में रखते हुए किया गया है किन्तु सामान्य पाठक भी इससे यथेष्ठ सामग्री उपलब्ध कर सकते हैं। पुस्तक मे जितने भी मौलिक विचार हैं उनके गुण-दोषों के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ। जो महानुभाव इन विचारों पर अपना मत देना चाहें, उनका मैं हृदय से स्वागत करूंगा। इस पुस्तक के द्वारा डॉ. एस. एस. बागची की पुस्तक 'इन्डक्टिव रीजनींग' के द्वितीय पहलू 'डिडक्टिव रीजनींग' की पूर्ति हो सके तो मैं अपने आपको धन्य समझूंगा।

ब्रजनारायण शर्मा

विषयानुक्रमणिका

अध्याय २

अनुमान के मौलिक घटक

४. सं

१. त

अध्याय ३

अनुमान के आधारभूत तत्त्व

अध्याय ४

अनुमान के भेद

अध्याय ५

अनुमान के अवयव

अध्याय ६

हेत्वाभास

अध्याय ७

अनुमान और अन्य प्रमाण

अध्याय ८

तर्कशास्त्रीय पाश्चात्य तथा भारतीय सिद्धान्त

संकेत परिचय

अ० दी०—अर्थदीपिका
अ० वृ०—अनिरुद्धवृत्ति
अ० श०—अष्टशती
अ० स०—अन्तर्व्याप्ति समर्थनम्
अ० सह०—अष्टसहस्री
अ० सि०—अद्वैतसिद्धि
अ० सू०—अनुयोगद्वारसूत्र
आ० त० वि०—आत्मतत्त्वविवेक
आ० मी०—आप्तमीमांसा
ई० उ०—ईशावास्य उपनिषद्
उ०—उपस्कार
उ० सू०—उत्तराध्ययन सूत्र
उ० हृ०—उपायहृदय
ऋ० वि०—ऋजुविमला
ऐ० उ०—ऐतरेय उपनिषद्
क० उ०—कठ उपनिषद्
क० टी०—कर्णकगोमि टीका
का०—कारिका
का० व०—कारिकावली
कि०—किरणावली
के० प्र०—केवलान्वयिप्रकरणम्
केन० उ०—केन उपनिषद्
ख०—खद्योत टीका
खं०—खण्डनखण्डखाद्य
गा०—गादाधरी
गौ० भा०—गौडपादभाष्य
च० सं०—चरकसंहिता
छा० उ०—छान्दोग्य उपनिषद्
जा०—जागदीशी
जा० प०—जागदीशी पक्षता
जा० व्य०—जागदीशी व्यधिकरणम्
जै० त० भा०—जैन तर्कभाषा
जै० त० वा०—जैन तर्कवार्तिक
जै० द०—जैन दर्शन
त०—तर्कामृत
त० कौ०—तर्ककौमुदी
त० चि०—तत्त्वचिन्तामणि
त० चि० र०—तत्त्वचिन्तामणिरहस्य
त० प्र०—तत्त्वप्रदीपिका
त० भा०—तर्कभाषा
त० रा० वा०—तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक)
त० वै०—तत्त्ववैशारदी
त० शा०—तर्कशास्त्र
त० श्लो० वा०—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
त० सं०—तर्कसंग्रह
त० सं० दी०—तर्कसंग्रह दीपिका
त० सि० र०—तंत्र सिद्धांत रत्नावली
त० सिं०—तत्त्वोपप्लवसिंह
त० सू०—तत्त्वार्थसूत्र
तत्व० सं०—तत्त्वसंग्रह
तत्व० सं० पं० पं०—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
तर्क० प्र०—तर्कप्रकरणम्
ता० टी०—तात्पर्य टीका
ता० र०—तार्किकरक्षा
तै० उ०—तैतिरीय उपनिषद्
द० वै० सू०—दशवैकालिकसूत्र
दि०—दिनकरी
दी०—दीधिति
ध० प्र०—धर्मोत्तर प्रदीप
न० सू०—नन्दीसूत्र
नी०—नीलकण्ठी
न्या० क०—न्याय कलिका
न्या० कं०—न्यायकन्दली

न्या० कु० } —न्याय कुसुमाञ्जली
कु० }
न्या० कु० च०—न्याय कुमुदचन्द्र
न्या० कु० बो०—न्याय कुसुमाञ्जलि-बोधिनी
न्या० को०—न्याय कोष
न्या० दी०—न्यायदीपिका
न्या० प्र०—न्यायप्रवेश
न्या० प्र० पं०—न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका
न्या० बि० —न्यायबिन्दु
न्या० बि० टी०—न्यायबिन्दु टीका
न्या० बो०—न्यायबोधिनी
न्या० भा०—न्यायभाष्य
न्या० मं० १ } न्यायमञ्जरी प्रमाण खण्ड
न्या० मं० २ } न्यायमंजरी प्रमेय खण्ड
न्या० र० —न्यायरत्नाकर
न्या० र० मा०—न्यायरत्नमाला
न्या० ली०—न्यायलीलावती
न्या० ली० प्र० —न्याय लीलावती प्रकाश
न्या० व०—न्यायावतार
न्या० व० टी०—न्यायावतार टीका
न्या० व० वा०—न्यायावतारवार्तिक
न्या० व० वा० वृ०—न्यायावतारवार्तिक वृत्ति
न्या० वा०—न्यायवार्तिक
न्या० वा० ता० टी०—न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका
न्या० वा० ता० टी० प०—न्यायवार्तिक तात्पर्यटीकापरिशुद्धि
न्या० वि०—न्यायविनिश्चय
न्या० वि० वि०—न्यायविनिश्चय-विवरण
न्या० सा०—न्यायसार
न्या० सि० मं०—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी
न्या० सू०—न्यायसूत्र
प०—पदकृत्य
प० पं०—पदपञ्जिका
प्र० उ०—प्रश्न उपनिषद्

प्र० क० मा०—प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्र० न० त०—प्रमाणनयतत्त्वालोक
प्रमाण० प० } —प्रमाणपरीक्षा
प्र० प० }
प्र० पं० —प्रकरणपञ्जिका
प्र० भा०—प्रशस्तपादभाष्य
प्र० मी०—प्रमाणमीमांसा
प्र० मी० भा० टि०—प्रमाण मीमांसा भाषा टिप्पण
प्र० र० मा०—प्रमेयरत्नमाला
प्र० वा०—प्रमाणवार्तिक
प्र० वा० टी०—प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका
प्र० वा० भा०—प्रमाणवार्तिक भाष्य
प्र० स०—प्रमाणसमुच्चय
प्र० स० वृ०—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति
प्र० सं०—प्रमाणसंग्रह
पृ०—पृष्ठ
पा० सू०—पाणिनि सूत्र
प्रा०—प्रामाण्यवाद
बृ० उ०—बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सू०—बृहस्पतिसूत्र
बौ० त० भा०—बौद्ध तर्कभाषा
बौ० त० भा० टी०—बौद्धतर्कभाषा टीका
बौ० द०—बौद्धदर्शन
भ० सू०—भगवतीसूत्र
भो० वृ०—भोजवृत्ति
मनु०—मनुस्मृति
म० प्र०—मणिप्रभा
म० भा०—महाभारत
म० वृ०—मनोरथनन्दी वृत्ति.
मा०—माथुरी
मा० उ०—माण्डुक्य उपनिषद्
मा० मे०—मानमेयोदय
मा० व०—माठरवृत्ति
मी० सू०—मीमांसासूत्र
मु० उ०—मुण्डक उपनिषद्
मै० उ०—मैत्रायणी उपनिषद्

या० —याज्ञवल्क्य स्मृति
यो० भा० — योगभाष्य
यो० मू०—योगसूत्र
र०—रत्नाकरावतारिका
रा०—रामरुद्री
रा० सू०—राजप्रश्नीयसूत्र
ल०—लघीस्त्रय
वा० न्या०—वादन्याय
वा० न्या० टी०—वाद न्याय टीका
वि० १ —विलासिनी टीका प्रत्यक्ष खण्ड
वि० २ —विलासिनी टीका अनुमान खण्ड
वि० ३ —विलासिनी टीका शब्दखण्ड
वि० व्या०—विग्रहव्यावर्तनी
वे० प०—वेदान्त परिभाषा
वै० सू०—वैशेषिक सूत्र
व्या० पं०—व्याप्तिपञ्जक
व्यो०—व्योमवती
शा० दी०—शास्त्रदीपिका
शा० भा०—शाबरभाष्य
शि० म०—शिखामणि
श्वे० उ०—श्वेताश्वर उपनिषद्
श्लो०—श्लोक
श्लो० वा०—श्लोकवार्तिक
ष० द० स०—षड्दर्शनसमुच्चय
स० द० सं०—सर्वदर्शनसंग्रह
स० द० सं० टी०—सर्वदर्शनसंग्रह टीका
स० प्र०—सप्तपदार्थी
स० टी०—सन्मतिप्रकरण टीका
सा० नि०—सामान्यनिरुक्ति
सा० ल०—सामान्यलक्षणा
सां० का०—सांख्यकारिका
सां० त० कौ०—सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां० त० कौ० प्र०—सांख्यतत्त्व कौमुदी-प्रभा
सां० प्र० भा०—सांख्यप्रवचनभाष्य
सां० सू०—सांख्यसूत्र
सि० मु० १ —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली प्रत्यक्ष खण्ड
सि० मु० २ —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली अनुमान खण्ड
सि० मु० ३ —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली शब्द खण्ड
सि० वि०—सिद्धिविनिश्चय
सि० वि० वृ०—सिद्धिविनिश्चय स्वोपज्ञवृत्ति
सि० वि० टी०—सिद्धिविनिश्चय टीका
स० सू०—सूत्रकृतांगसूत्र
स्था० सू०—स्थानांगसूत्र
स्या० मं०—स्याद्वादमञ्जरी
स्या० र०—स्याद्वादरत्नाकर
स्या० सि०—स्याद्वादसिद्धि
ह० वृ०—हरिदासी वृत्ति
हरि० वृ०—हरिभद्रीय वृत्ति
हे० बि०—हेतुबिन्दु
हे० बि० टी०—हेतुबिन्दुटीका

AIL : An Introduction to Logic.
AILP : An Introduction to Logic by Alexandar Peter.
AILS : An Introduction to Logic and Scientific Method.
AMIL : A Modern Introduction to Logic.
AML : A Manual of Logic.
BL : Buddhist Logic.
BLBD : Buddhist Logic before Diñnāga.
DL : The Development of Logic.
EFL : Elements of Formal Logic.
EML : Elements of Mathematical Logic.
ESL : Elements of Symbolic Logic.
FFD : Fragments of From Diñnāga.
FL : Formal Logic.
HIL : History of Indian Logic.
HPE : History of Philosophy Vol. I. by Erd mann.
HPU : History of Philosophy Vol. I. by Uberweg.
ILA : Indian Logic and Atomism
ILES : Indian Logic in its early schools.
IML : Introduduction to Mathematical Philosophy
L : System of Logic
LFM : Logic for Mathematicians.
MILL : A Modern Introduction to Indian Logic.
MNL : Materials from Navya Nyāya Logic.
NDN : Navya Nyāya Doctrine of Negation.
NSL : Navya Nyāya System of Logic.
NTK : Nyāya Theory of Knowledge.
PDBT : Pre Diñnāga Buddhist texts on Logic.
PM : Principia Mathematica
POC : Proceedings of Oriental Conference.
POM : Principles of Mathematics.
SBNT : Six Buddhist Nyāya Tracts.
SEFL : Studies and Exercises in Formal Logic.
SH : Student's Hand Book or on Mill's System of Logic
SL : System of Logic.
SYL : Symbolic Logic.

भूमिका

विषय-प्रवेश--सामान्य परिचय

दो शब्दों—'अनु' और 'मान' के योग से अनुमान शब्द निष्पन्न होता है। प्रथम का अर्थ है पश्चात् तथा द्वितीय का अर्थ ज्ञान। अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है—'अनुमितिः अनुमानम्' तथा 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्'। प्रथम में 'अनु' पूर्वक 'मा' धातु के आगे 'ल्युट्' प्रत्यय भाव अर्थ में किया गया है और द्वितीय में करण अर्थ में। इस प्रकार भाव अर्थ में अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा तथा करण अर्थ में अनुमान प्रमाण का वाचक होता है। 'अनुमिति' में प्रयुक्त 'अनु' पद प्रतियोगी-साकाङ्क्ष है। जो मिति अर्थात् ज्ञान के पूर्व किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा रखता है। पूर्व ज्ञान से यहाँ व्याप्तियुक्त पक्षधर्मता रूप एक विशिष्ट ज्ञान अभिप्रेत है। अतः इस विशिष्ट ज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है, हर किसी ज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान नहीं। इस प्रक्रिया को न्यायदर्शन के अनुसार इस प्रकार समझा जा सकता है—पाकशाला आदि स्थल विशेष में बार-बार धूम के साथ अग्नि को सहचरित देखकर दृष्टा के मन में यह निश्चय उत्पन्न हो जाता है कि 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि भी होती है।' तत्पश्चात् जङ्गल में जाकर जब वह पर्वत शिखर पर उठती हुई अविच्छिन्न-मूला सतत धूमरेखा का अवलोकन करता है, तो उसे पाकशाला में गृहीत किये हुए धूम और अग्नि के सम्बन्ध का स्मरण हो आता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य विद्यमान रहती है। इसके अनन्तर वह धूम को पुनः उसी पर्वत में देखता है, किन्तु वह धूम अब केवल धूम ही नहीं रहता, प्रत्युत पूर्वोक्त व्याप्ति से विशिष्ट होता है। इस विशिष्ट ज्ञान के उपरान्त उसे तत्काल 'पर्वत पर अग्नि है' इत्याकारक अपरोक्ष या ज्ञात उस विशिष्ट धूम के द्वारा परोक्ष या अज्ञात अग्नि का अनुमित्यात्मक निश्चय हो जाता है। अनुमान प्रक्रिया द्वारा जिस वस्तु की सिद्धि की जाती है, उसे साध्य या अनुमेय; जिसके माध्यम से सिद्ध की जाने वाली वस्तु का अवधारण होता है, उसे साधन या हेतु एवं साधन द्वारा जिस आश्रय विशेष में साध्य वस्तु का निश्चयन किया जाता है, उसे पक्ष या अधिकरण कहा जाता है। प्रकृत में अग्नि साध्य, धूम हेतु और पर्वत पक्ष है। ये तीन अनुमान के मौलिक घटक कहलाते हैं। साध्य और साधन के बीच स्थापित किये जाने वाले नियत अव्यभिचरित स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति तथा पक्ष और साधन के सम्बन्ध अर्थात् पक्ष में साधन के अनिवार्यतः विद्यमान रहने को पक्षधर्मता कहा जाता है। ये दोनों अनुमान के आधारभूत स्तम्भ कहलाते हैं। भारतीय अनुमान का भव्य प्रासाद इन्हीं तार्किक और मनोवैज्ञानिक आधार शिलाओं पर अवस्थित है, क्योंकि दोनों में से किसी एक अथवा दोनों के अभाव में अनुमान सद् अनुमान नहीं कहला सकता है। ऊपर जो अनुमान प्रक्रिया दी गयी है, वह अनुमान का मानसिक क्रम कहलाती है। किन्तु जब कोई व्यक्ति स्वयं द्वारा ज्ञात तथ्यों का प्रतिपादन यदि अन्य व्यक्तियों को कराना चाहता है, तो उसे अपने अभि-

प्राय के परिस्फुरण के लिये वाक्यों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है, जिन वाक्यों के माध्यम से किसी वस्तु की सिद्धि हेतु वह अनुमान प्रक्रिया निष्पादित करता है, उन्हें अवयव कहा जाता है। अवयव प्रयोग के प्रसङ्ग में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है, इसीलिए उन्होंने विभिन्न प्रकार से अवयवों का प्रयोग किया है। न्याय दर्शन के अनुसार अवयव पाँच हैं, जिन्हें उदाहरण सहित इस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है—

प्रतिज्ञा — पर्वत अग्नियुक्त है,
हेतु — धूम होने से,
उदाहरण — जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि भी होती है, जैसे पाकशाला में,
उपनय — पर्वत भी धूमयुक्त है,
निगमन — पर्वत अग्नियुक्त है।

अनुमान की इस प्रक्रिया को शाब्दिक क्रम कहा जा सकता है। अनुमान के मानसिक क्रम को स्वार्थानुमान तथा शाब्दिक क्रम को परार्थानुमान कहा जाता है, क्योंकि प्रथम में स्वयं अनुमाता अपने संशय की निवृत्ति के लिये और द्वितीय में अन्य पुरुषों की संशय निवृत्ति हित वाक्य प्रयोग द्वारा अनुमान प्रक्रिया निष्पन्न करता है। अनुमान के इन भेदों के अतिरिक्त पूर्ववत् शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट तथा केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वय-व्यतिरेकी आदि और भी अनेक भेद भारतीय दर्शन में उपलब्ध होते हैं। इनमें से पूर्ववत् और शेषवत् कार्यकारणभाव तथा सामान्यतोदृष्ट सामान्यज्ञान पर आधारित है। केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी आदि भेद व्याप्ति और पक्षधर्मता प्रतिपादित करने वाले हेतु के पञ्च रूपों—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व के सुदृढ़ आधार पर अवस्थित होने के कारण उपर्युक्त अन्य भेदों से अधिक समीचीन जाभ पड़ते हैं। केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी में विपक्षासत्त्व तथा सपक्षसत्त्व को छोड़कर अन्य चार रूप तथा अन्वयव्यतिरेकी में सभी रूप पाये जाते हैं। कुछ दार्शनिकों ने उक्त पाँच रूपों में से चतुर्थ और पञ्चम को न मानते हुए तीन ही रूप माने हैं। इन पाँच अथवा तीन रूपों से युक्त हेतु सद्हेतु कहलाता है। इन रूपों में एक अथवा दो रूपों का वैकल्य होने पर हेतु, सद्हेतु न रहकर, सव्यभिचार या अनैकान्तिक, विरुद्ध, साध्यसम या असिद्ध, प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष, कालात्ययापदिष्ट या बाधित आदि हेत्वाभास हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि के यथार्थ लक्षणों से शून्य होने पर अनेक प्रतिज्ञाभासों, दृष्टान्ताभासों, उपनयाभासों तथा निगमनाभासों की कल्पना विभिन्न प्रकार से विभिन्न दार्शनिकों द्वारा संपादित हुई है। अनुमान सम्बद्ध, असम्बद्ध, विप्रकृष्ट, अतीन्द्रिय तथा भूत, भविष्य और वर्तमान सभी पदार्थों को अवगम्य करने की सामर्थ्य रखता है, इसलिये यह प्रत्यक्ष पर आधारित होने पर भी उससे अधिक व्यापक है। इसकी व्यापकता का परिचय प्रमाण अन्तर्भाव प्रक्रिया का परिशीलन करने पर विदित होगा। वहाँ विभिन्न दार्शनिकों ने शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, चेष्टा आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव इसमें ज्ञापित किया है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में भी आनुमानिक सिद्धान्तों की चर्चा पायी जाती है, किन्तु वहाँ तात्त्विक चिन्तन की अपेक्षा भाषा-अभिव्यञ्जना पर अधिक बल दिया गया है, जब कि भाषा में अभिव्यक्त परार्थानुमान को यहाँ गौणरूप से ही अनुमान कहा गया है। सम्भवतः इसी-लिये अरस्तू से लेकर बरट्रेन्ड रसेल तक प्रायः सभी पाश्चात्य तार्किकों का झुकाव ज्यामिति

और बीजगणित की पद्धतियों के अनुरूप भाषा अभिव्यञ्जन के चरम परिष्कारों की पृष्ठभूमि में आनुमानिक सिद्धान्तों के उत्तरोत्तर विकास की ओर रहा है। अति आधुनिक धारा तर्कीय प्रत्यक्षवाद से प्रभावित गणितज्ञों और तार्किकों ने इस पद्धति को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।

दार्शनिक चिन्तन में अनुमान का स्थान और महत्व

प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य भारतीय दर्शनों के अनुमान सम्बन्धी विचारों का विकासात्मक, तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही विचारधाराओं में अनुमान विषयक समस्या एक मौलिक समस्या रही है। दर्शन शास्त्र के इतिहास में इस समस्या का कितना महत्व रहा है, इसका परिचय, उन अगणित दार्शनिकों की नामावली पर दृष्टिपात करने से ज्ञात हो सकता है, जिन्होंने इसके सम्बन्ध में गहन चिन्तन किया है। योरोपीय दर्शन के प्राचीन युग के सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि (मध्य युग के चिन्तकों का चिन्तन धार्मिक विचारों से अनुप्राणित होने के कारण अनुमान सम्बन्धी मन्तव्यों के लिये विशेष उल्लेखनीय नहीं है) से लेकर आधुनिक युग के फ्रांसिस बेकन, लाइबनीज, जे० एस० मिल, व्हेवेल, हरबार्ट लोट्जे, ब्रेडले, बोसांके, सिगवार्ट, हेमिल्टन, जान्सन, कीनेस प्रभृति अनेक विद्वानों ने अनुमान विषयक समस्याओं के विभिन्न अङ्गों पर गम्भीर विचार किया है। इसी प्रसङ्ग में प्रतीकवादी या गणितीय तार्किकों में जार्ज बूल, डी० मार्गन, पीअर्स, श्रोडर, फ्रेग, पिआनों, व्हाइटहेड, बरट्रेण्ड रसेल, विटगेन्स्टीन, सी० आई० लेविस आदि का अनुमान सम्बन्धी परिशीलन भी विशेषत: स्मरणीय है। भारतीय दर्शन में व्यक्तियों की अपेक्षा सम्प्रदायों का अधिक महत्त्व रहा है। अनेक शताब्दियों तक, यहाँ के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास साथ-साथ समानान्तर रूप से होता रहा है। अनुमान के सम्बन्ध में वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में विशेष रूप से एवं सांख्य, योग तथा वेदान्त सम्प्रदायों में गौण रूप से चिन्तन किया गया है। साथ ही साथ बौद्ध नागार्जुन, चार्वाक जयराशि भट्ट, वेदान्ती श्रीहर्ष तथा चित्सुखाचार्य के निषेधमूलक मन्तव्य भी उल्लेखनीय हैं। अनुमान की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये 'एनसायक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा गया है कि यथार्थ अनुमान के सामान्य सिद्धान्तों के व्यवस्थित अध्ययन का नाम ही तर्कशास्त्र है।[1] यही बात यहाँ के तर्कशास्त्र के प्रचलित शब्द 'आन्वीक्षिकी', 'न्यायविद्या', 'न्यायशास्त्र' आदि से भी व्यक्त की गयी है।[2]

अनुमानिक चिन्तन का विकास

प्रारम्भिक या बीजवपन-युग

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि अनुमान शब्द अनुमिति ज्ञान और उसके साधन के लिये प्रयुक्त किया जाता है। ज्ञान और ज्ञान के साधनों का विकास कब हुआ, इनके आदि प्रवर्तक कौन हैं, किस प्रदेश में इनका सर्वप्रथम प्रसार एवं उत्थान हुआ आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सर्वथा असम्भव है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि जब से मानव ने अपनी विवेक बुद्धि का प्रयोग किया होगा और अपनी विचार शक्ति द्वारा सृष्टि और उससे सम्बद्ध अनेकानेक विषयों की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई होगी, तभी से ज्ञान और ज्ञान के साधनों का प्रयोग होना आरम्भ हुआ होगा, क्योंकि साधन

ज्ञान के अभाव में, विषयों की ओर दृष्टिपात करना सम्भावित नहीं है। कहा भी गया है-- 'प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि'[३]—पदार्थों का निश्चय प्रमाणों द्वारा ही होता है। कुछ विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि प्रमाण शास्त्र के आदि प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम 'न्यायसूत्र' लिखकर इस विद्या को आविर्भूत किया। यदि ऐसा मान लिया जाय तो एक बहुत बड़ी समस्या का सामना करना होगा कि क्या महर्षि गौतम के पूर्व मनुष्यों अथवा प्राचीन ऋषियों में विचार शक्ति का अभाव था अथवा क्या वे अनादिकाल से चले आ रहे वेदों और उनसे सम्बद्ध अन्य वाङमय पर विचार नहीं करते थे? इस प्रश्न की पुनरावृत्ति करते हुए जयन्त भट्ट ने लिखा है कि अक्षपाद गौतम के पूर्व वेदों के प्रामाण्य का निश्चय किस प्रकार होता था? यह तो बहुत थोड़ा कहा गया है, इससे भी अधिक महर्षि जैमिनि के पूर्व किसने वेदों के अर्थों की व्याख्या की, महर्षि पाणिनि के पहले किसने वेदों का व्युत्पादन किया एवं पिङ्गल के पूर्व किसने छन्दों की रचना की? आदि सर्ग से लेकर वेद के समान ये सभी विद्याएं भी प्रवृत्त हुई होंगी, परन्तु संक्षेप और विस्तार की विवक्षा से उन-उन व्यक्तियों को उनका प्रवक्ता कहा जाता है।[४] अतः भारतीय दर्शन से सम्बद्ध किसी भी समस्या के आदि स्त्रोत का अन्वेषण करने के लिये वेदों की ओर दृष्टिपात करना होगा, क्योंकि वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान के अनुपम आगार एवं संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रत्येक पहलू का उद्‌गम तथा मूल स्वरूप वेदों में उपलब्ध होता है। अतः यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि प्रमाण शास्त्र और विशेषकर अनुमान-मूलक प्रवृत्ति के बीज भी वेदों में उपलब्ध हों। चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। इसी में दार्शनिक तत्त्वों का अपूर्व विचार किया गया है, यजुर्वेद और सामवेद का सम्बन्ध अधिकतर यज्ञ-प्रक्रिया से है एवं अथर्ववेद को भौतिक विद्याओं की खान समझा जाता है। ऋग्वेद में प्रकृति के अलौकिक एवं सजीव चमत्कारों को देखकर ललित काव्य मन्दाकिनि फूट पड़ती है। जहाँ इसमें एक ओर सौन्दर्यमय कला है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति के पीछे छिपी हुई अलौकिक दिव्य शक्ति का आवाहन भी। यह सर्व विदित है कि भारत में दर्शन जीवन का अङ्ग है, अतः समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रवृत्ति तत्त्व साक्षात्कार के लिये हुई है। ऋग्वेदकाल से ही तत्त्व साक्षात्कार करने के लिये भारतीय वाङमय में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक। प्रथम द्वारा प्रातिभ चक्षुओं द्वारा तत्त्व विवेचन होता था एवं द्वितीय द्वारा तत्त्वों की समीक्षा के लिये तर्कमूलक पद्धति का अवलम्बन लिया जाता था। प्रकृति के भौतिक पदार्थों को देखकर, वैदिक ऋषियों के मन में, उनके सूक्ष्म कारण को अन्वेषित करने के लिये जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी। कार्य का ज्ञान होने पर मूल कारण की गवेषणा सुलभ हो जाती है। इसी कार्य-कारण मूलक तार्किक प्रकृति ने आगे जाकर अनुमान को जन्म दिया है। जैसे सृष्टि के मूल तत्त्व की जिज्ञासा में लीन होकर 'नासदीय सूक्त' का ऋषि कहता है कि उस काल (प्रलयावस्था) में न तो असत् था और न सत् ही। न पृथ्वी थी न आकाश। कहाँ किससे ढका हुआ था? क्या उस समय दुर्गम और गम्भीर जल ही जल था? उस समय मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी और रात-दिन का भेद भी नहीं था। इतनी निषेधमूलक युक्तियों के पश्चात् वह अन्तिम निष्कर्ष के रूप में कहता है कि उस समय वायु शून्य और आत्मावलम्बिन से श्वास-प्रश्वास युक्त केवल एक ब्रह्म ही था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।[५] 'पुरुष सूक्त' में आया है कि हजारों सिर, हजारों बाहु, हजारों आँख एवं हजारों पाँव वाला पुरुष ही परम परमेश्वर है, जो

भूमि के चारों ओर व्याप्त है, भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सभी रूप, जो दिखाई देते हैं, वे उसी पुरुष के रूप हैं ।[६] इस प्रकार देवताओं के स्वरूप के बारे में विविध कल्पना करते हुए वैदिक ऋषियों ने अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहा है कि इन्द्र, वरुण, अग्नि, आदि अनेक देवता एक ही शक्ति के अनेक स्वरूप हैं, जो अनेक नामों से अभिहित किये जाते हैं ।[७] तर्कमूलक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिये, विश्व-वाङ्मय में ऋग्वेद से बढ़कर अन्य उदाहरण मिलना दुष्कर है । उसमें कहा गया है—हे मनुष्यों ! आपस में एक दूसरे से मिलो, मिल-जुलकर, प्रगति, बातचीत एवं किसी विषय का विवेचन करो । प्राचीन देवता भी मिलजूल कर विचार करते हुए अपने-अपने अधिकारों के अनुसार आचरण करते आये हैं । तुम सबके विचार, संगठन, मन और चित्त समान हों । मैं (ईश्वर) तुम सबको यही उपदेश देता हूँ और समान भोग अधिकार से युक्त करता हूँ । तुम्हारा सबका अभिप्राय, हृदय एवं मन समान हों, जिससे कि तुम सब अच्छी प्रकार से साथ-साथ रह सको ।[८] यही नहीं परवर्ती ग्रन्थों में, यथार्थज्ञान के लिये प्रयुक्त प्रमा शब्द वेदों में अनेक बार प्रयक्त हुआ है ।[९] 'प्रमा' पद में प्रयुक्त 'मा' धातु का वास्तविक तात्पर्य है अर्थ परिच्छेद एवं 'प्र' प्रकृष्ट अर्थ का परिचायक होने से यथार्थता का बोधक है । ऋग्वेद के 'प्रमा' और 'सह प्रमा' पदों की व्याख्या करते हुए सायण ने यज्ञवेदी की इयत्ता (परिमाण) के लिये प्रथम का अर्थ 'प्रमाण' एवं इयत्तापरिज्ञान के लिये द्वितीय का अर्थ प्रमिति किया है ।[१०] इसके अतिरिक्त कुमारिल भट्ट ने, विशेषतोदृष्ट अनुमान के लिये, गोमेय ईंधन से उत्पन्न होने वाले विशेष धूम से विशेष अग्नि का, जो उदाहरण दिया है,[११] उसका मूल ऋग्वेद की 'शकमयं धूमम्' इत्यादि ऋचा में उपलब्ध होता है । इस ऋचा में कहा गया है—'मैंने समीप ही गाय के सूखे गोबर से उत्पन्न होने वाले धूम को देखा, तत्पश्चात् चारों दिशाओं में व्याप्त इस निकृष्ट धूम के द्वारा मुझे अदृष्ट नीचे दबी हुई अग्नि का बोध हुआ, जिसके द्वारा वीर या ऋत्विक लोग शुक्लवर्ण वृष या फलदाता सोम का पाक करते हैं ।[१२] इसी प्रकार 'योगभाष्य' 'शाबरभाष्य', 'न्यायभाष्य' आदि पश्चात्वर्ती प्राचीन ग्रन्थों में[१३] देवदत्त की स्थानान्तर प्राप्ति से चन्द्र, तारागण, आदित्य आदि के गतिशील होने के सामान्यतोदृष्ट अनुमान में जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका संकेत भी 'यजुर्वेद' की अनेक ऋचाओं में उपलब्ध होता है, जहाँ इन नक्षत्रों के गतिशील होने एवं अपनी-अपनी परिधि में घूमने का विवरण दिया गया है ।[१४] इसी प्रकार 'अथर्ववेद' में 'अनुमृश्य' तथा 'अनुमेय' पदों का भी प्रयोग किया गया है ।[१५] जिन्हें उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने ज्ञात या ज्ञायमान तथा साध्य के रूप में प्रयुक्त किया है । यजुर्वेद की यज्ञ प्रक्रिया के विकास की पराकाष्ठा ब्राह्मण ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है, जिनमें बड़े-बड़े यज्ञों का विधिवत् विस्तृत वर्णन पाया जाता है । यद्यपि इनमें याज्ञिक अनुष्ठानों की ही चर्चा की गयी है, फिर भी वैदिक मंत्रों की योग्य संगति एवं समन्वय के अनुसार, यथार्थ यज्ञ प्रक्रिया सम्पादित करने के लिये इनमें एक विशिष्ट विद्या 'वाकोवाक्य' रूप में प्रस्फुटित हुई, जो कालान्तर में तर्क विद्या के नाम से अभिहित होने लगी ।[१६] ब्राह्मणों की इस वाकोवाक्य विद्या का संकेत 'छान्दोग्य उपनिषद्' में भी पाया जाता है, जहाँ सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने अपने आपको अनेक विद्याओं के साथ वाकोवाक्य विद्या का भी अध्येता बतलाया है ।[१७] 'ऐतरेय ब्राह्मण' में 'युक्ति' पद भी उपलब्ध होता है,[१८] जिसको परवर्ती ग्रन्थ 'चरकसंहिता' में स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है,[१९] किन्तु 'तत्त्वसंग्रह' में उसके पृथक् प्रामाण्य का खण्डन किया गया है ।[२०]

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग 'आरण्यकों' की रचना, उन चिन्तकों द्वारा सम्पन्न हुई है, जो यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड से उदासीन होकर, जङ्गलों में जाकर तत्त्वचिन्तन में लीन रहते थे। आरण्यकों के जिन भागों में काव्यमयी, प्रतीकात्मक, एवं रहस्यात्मक भाषा में, दार्शनिक तत्त्वों का, विवेचन किया गया है, उन्हें उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषदों की तत्त्वाभिनिवेशी प्रवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि, जिस परमतत्त्व को अन्वेषित करने के लिये, विभिन्न देवताओं का आवाहन एवं उपासना कर रहे थे, उसे उपनिषद्कालीन ऋषियों ने आत्म साक्षात्कार के रूप में जान लिया है। उपनिषदों के रचयिता प्रायः सभी ऋषियों का यह दृढ़ विश्वास था कि विश्व के परिवर्तनशील आकार, नाम, रूप आदि का परम कारण एक सर्वव्यापी सत्ता है, जिससे सभी वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, जिसमें सभी पदार्थ स्थित हैं, जिसमें सभी वस्तुएं विलीन हो जाती हैं एवं इसी तत्त्व के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस परम तत्त्व, को, निषेधमूलक युक्तियों द्वारा कभी निरूपाधि, निर्विशेष, नित्य, निर्गुण परब्रह्म[२१] कहा गया है, तो कहीं कार्यकारणभावमूलक अनेक रूपक एवं दृष्टान्तों के माध्यम से इसे सविशेष, सप्रपञ्च, सगुण, सनातन अपर–ब्रह्म[२२] अथवा कहीं अपनी-अपनी साक्षात्कृत अनुभूतियों के अवलम्बन पर इसे आत्मा[२३] भी कहा गया है। उपनिषदकारों की दृष्टि अधिकतर आत्म-साक्षात्कार पर ही केन्द्रित रही है। आत्म तत्त्व को अवगम करने के लिये उपायों की चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं 'हे मैत्रेयी ! पति, पुत्र, धन आदि सभी पदार्थ अपने लिये प्रिय नहीं होते, अपितु आत्मा के लिये ही प्रिय होते हैं, इसलिये दर्शन, श्रवण एवं मनन द्वारा आत्मा को देखो, सुनो, मनन एवं निदिध्यास करो' क्योंकि इसके जानने पर सकल पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।[२४] 'अध्यात्म उपनिषद्' में इन उपायों की विस्तृत चर्चा करते हुए लिखा गया है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता का अनुसन्धान करना श्रवण, जो कुछ सुना गया है, उस पर युक्तिपूर्वक विचार करना मनन एवं मनन द्वारा निस्सन्देह हुए अर्थ में चित्त को एकाग्र बनाना निदिध्यासन है। इस प्रकार तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ प्रथमतः श्रवण एवं मनन द्वारा परोक्षज्ञान रूप में प्रकाशित होता है। फिर निदिध्यासन द्वारा एकाग्र चित्त से तन्मय होकर कर में स्थित आँवले के अवबोधन की तरह अपरोक्षमूलक अनुभूति होती है।[२५] इस प्रकार इन श्रुतियों में प्रयुक्त होने वाले पदों-दर्शन, श्रवण, मनन आदि में प्रत्यक्ष, शब्द, अनुमान आदि प्रमाणों के बीज निहित जान पड़ते हैं। परन्तु उपनिषद्-कालीन ऋषिगण श्रुति-वाक्यों का केवल अन्धानुकरण नहीं करते थे, वरन् अपनी अनुभूतियों को तर्क की कसौटी पर कस, उनके अनुकूल युक्तिमूलक प्रवृत्तियों द्वारा उनका गम्भीर मनन भी करते थे। कहा भी गया है 'जो पुरुष ऋषियों द्वारा उपदिष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृति शास्त्रों के तत्त्व का वेदानुकूल तर्क द्वारा अनुसन्धान करता है, वही धर्म के यथार्थ मर्म को जानता है, दूसरा नहीं।[२६] पर तर्कपरक मनन को आत्म साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ साधन नहीं। प्रत्युत अनेक साधनों की तरह एक सहायक उपाय ही माना जाता था। 'कठ' उपनिषद् में नचिकेता को उपदेश देते हुए यम ने कहा है हे नचिकेता ! आत्म-ज्ञान सहज ही में समझ में आने वाली वस्तु नहीं है, क्योंकि यह सूक्ष्म ज्ञान तर्क से परे है एवं 'केन', 'बृहदारण्यक' तथा 'मुण्डक' उपनिषद् में भी कहा गया है कि परमतत्त्व मन, वाणी अथवा किसी इन्द्रिय से ग्रहणीय वस्तु नहीं है।[२७] संभवतः इसी कारण 'मुण्डक' उपनिषद् में शौनक मुनि के पूछने पर महर्षि अङ्गिरा ने वेद-वेदाङ्ग विषयक विद्या को

अपरा विद्या तथा अक्षर रूप परब्रह्म को अधिगत करनेवाली विद्या को परा विद्या घोषित किया है तथा ब्रह्मा द्वारा भी इस ब्रह्म विद्या को सकल विद्याओं की आश्रयदात्री बतलाया गया है।[२८] वेद-उपनिषद् साहित्य में इसी आत्म विद्या को ब्रह्म की उपलब्धि तथा अमृतत्व की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ एवं एकमात्र साधन माना गया है।[२९] परवर्ती ग्रन्थ जैसे 'वैशेषिकसूत्र' और 'प्रशस्तपादभाष्य' में यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के लिये जो 'विद्या' और 'अविद्या' पद प्रयुक्त किये गये हैं,[३०] वे सम्भवतः उपनिषदों से ही लिये गये हैं, क्योंकि प्रायः सभी उपनिषदों में इन पदों का इसी अर्थ में प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। यहीं नहीं 'प्रशस्तपादभाष्य' में अर्थापत्ति प्रमाण को जिस प्रक्रिया द्वारा अनुमितानुमान में अन्तर्भावित किया गया है, उसका स्रोत भी उपनिषद् वाङ्मय में उपलब्ध होता है, जहाँ एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे, तीसरे से चौथे इस प्रकार अनेक तत्त्वों की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[३१] 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अनेक श्लोकों में भी इस प्रक्रिया की आवृत्ति देखी जा सकती है।[३२] उत्तरवर्ती न्याय ग्रन्थों में पाये जाने वाले अनेक शब्द जैसे, अनुमीयते–'अनुमीयन्ते'[३३] 'अनुविनाभाविनी'[३४] आदि भी उपनिषदों में व्याख्या सहित पाये जाते हैं। यही नहीं 'यजुर्वेद' तथा 'शतपथ ब्राह्मण' के समान 'बृहदारण्यक' और 'छान्दोग्य' उपनिषदों में 'अनुवीक्ष्य'[३५] पद भी आया है, जिसके आधार पर उपनिषदों की आत्मविद्या को कालान्तर में आन्वीक्षिकी विद्या कहा गया है। वेद-उपनिषद्कालीन इस आन्वीक्षिकी विद्या में मुख्यतः आत्म तत्त्व पर ही अनुशीलन किया जाता था तथा गौण रूप से इस परम तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये यदा-कदा युक्तियों का भी अवलम्बन किया जाता था। कालान्तर में इस विद्या का पर्यवसान वेद-उपनिषदीय साहित्य में व्याप्त विशिष्ट विचारधाराओं के आधार पर विकसित होने वाले विविध वैदिक तथा अवैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के आविर्भाव में हुआ। इस बात की पुष्टि 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में भी की गयी है, जहाँ आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत सांख्य, योग तथा लोकायत आदि दर्शनों को समाविष्ट किया गया है। परन्तु अवैदिक चिन्तकों की संशयवादी तथा अनात्मवादी प्रवृत्तियों (जिनका संकेत 'ऋग्वेद' और 'बृहदारण्यक' उपनिषद् का समर्थन[३६] करते हुए 'कठ' और 'छान्दोग्य' उपनिषदों के 'यम-नचिकेता' और प्रजापति-इन्द्र-विरोचन के परिसंवादों में उपलब्ध होता है।[३७]) का निराकरण करने के लिए प्रथम मुख्य अङ्ग की अपेक्षा द्वितीय गौण अङ्ग को कालान्तर में प्रधान समझा जाने लगा। यद्यपि 'वाल्मीकि रामायण' 'महाभारत' 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' आदि ग्रन्थों में आन्वीक्षिकी विद्या को आत्मविद्या के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है,[३८] फिर भी उनमें द्वितीय तर्कमूलक प्रवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है। यही कारण है कि उक्त ग्रन्थों में आन्वीक्षिकी विद्या को 'हेतुशास्त्र', हेतुविद्या', 'तर्कविद्या' अथवा 'वाद-विद्या' आदि अनेक नामों से भी पुकारा गया है।[३९] आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति इन चार विद्याओं का विधान करने के लिए कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी विद्या की व्याख्या तथा महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि सांख्य, योग, लोकायत आदि दर्शन आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत समाहित हैं, त्रयी आदि अन्य तीन विद्याओं के बलाबल को, विभिन्न युक्तियों द्वारा निर्धारित करती हुई, यह विद्या लोक की उपकारक है, सुख-दुःख में बुद्धि को स्थिर बनाती है एवं मनुष्य को सोचने, विचारने, बोलने, तथा क्रिया करने में निष्णात करती है। इसलिए इस अन्वीक्षिकी विद्या को सर्वदा ही समस्त विद्याओं का प्रदीपवत् प्रकाशक, सकल कार्यों का साधन एवं यावत् धर्मों का आश्रय

माना गया है ।[४०] 'कामन्दकीय नीतिसार' में भी इन्हीं तथ्यों को प्रतिपादित किया गया है ।[४१] आन्वीक्षिकी विद्या को परिभाषित करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है—'प्रत्यक्ष तथा आगम (प्रमाणों) पर आश्रित रहने वाले अनुमान अथवा प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण की सहायता से विदित विषय की 'अनु' अर्थात् पश्चात् 'ईक्षा' अर्थात् ईक्षण, अवलोकन या ज्ञान करना ही अन्वीक्षा है । अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने के कारण इस विद्या को आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या या न्यायशास्त्र कहा जाता है । 'प्रमाणों द्वारा वस्तुओं की परीक्षा करना न्याय है ।' 'न्याय' पद का विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ देते हुए आगे उन्होंने कहा है—'साध्य विषय के अवधारण के लिये आवश्यक प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि अवयव स्वरूप पञ्च वाक्यों के समूह का नाम न्याय है । इन्हीं अवयव वाक्यों में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द आदि चार प्रमाणों का पर्यवसान होने से इनको परम न्याय कहा जाता है ।[४२] 'उनके उत्तरवर्ती न्याय ग्रन्थों में भी इस विद्या की इसी प्रकार व्याख्या की गयी है ।[४३] विशुद्ध औपनिषदिक आत्मविद्या से आन्वीक्षिकी विद्या का पृथक् विधान करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि जैसे, अपनी-अपनी विशिष्ट विवेच्य सामग्री का विवरण प्रस्तुत करने के लिये त्रयी, वार्ता आदि चार पृथक् विद्याओं का व्यवस्थापन किया जाता है, उसी प्रकार प्रमाण, प्रमेय इन दो पदार्थों के द्वारा लोकगत समस्त वस्तुओं का परिज्ञान हो जाने पर विशिष्ट-विषय-विवेचन के हेतु संशय आदि अन्य पदार्थों का भी न्यायविद्या में अध्ययन किया जाता है । यदि न्याय विद्या द्वारा संशय आदि पदार्थों को आन्वीक्षिकी विद्या में समाविष्ट न किया जाय, तो अध्यात्मविद्या मात्र विषयक उपनिषदीय आत्मविद्या से इसकी पृथक्ता ज्ञापित नहीं हो सकेगी । इसीलिए इसके अन्तर्गत संशय आदि पदार्थों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जाता है । क्योंकि न्याय, निर्णीत अथवा अनुपलब्ध अर्थ में उपपन्न नहीं होता, प्रत्युत् संदिग्ध अर्थ में ही होता है ।[४४] इस तथ्य का समर्थन उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट ने भी किया है ।[४५] इस पञ्चावयव युक्त न्याय विद्या का प्रथमतः संकेत 'महाभारत' में उपलब्ध होता है, जहाँ देवर्षि नारद को अनेक विद्याओं के साथ इस विद्या के गुण व दोषों का भी विशेषज्ञ बतलाया गया है ।[४६] 'महाभारत' में विवेचित पञ्चावयवी न्याय विद्या का विकास सम्भवतः उन वाद-विवाद-विमर्शों का परिमाण प्रतीत होता है, जो तत्त्वज्ञ ऋषि तथा अनेक जिज्ञासुओं की परिषद् में तत्त्व-विषयक-अनुसंधान के लिये उन्मुख हुआ करते थे । वेद, उपनिषद् तथा स्मृति ग्रन्थों में उक्त परिषद्, संसद, सभा अथवा समितियों का विवरण उपलब्ध होता है ।[४७] क्षत्रीय राजाओं के आश्रय में पल्लवित एवं घोषित होने वाली विद्वानों की सभाओं का विवरण 'महाभारत' के प्रायः प्रत्येक पर्व में पाया जाता है, फिर भी वाद-विवाद विषयक सिद्धान्तों के लिये जनक की सभा में होने वाले सुलभा[४८] तथा अष्टावक्र[४९] के संवाद विशेष उल्लेखनीय हैं । न्यायविद्या का उल्लेख स्मृति तथा पुराण ग्रन्थों में भी पाया जाता है ।[५०] इससे भी अधिक 'तैत्तिरीय आरण्यक, तथा 'वाल्मीकि रामायण' में उल्लिखित स्मृति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य, अनुमान तथा अनुमान प्रत्यक्ष, आगम आदि प्रमाणों की भांति[५१] मनुस्मृति' में भी प्रत्यक्ष 'अनुमान' आगम आदि तीन प्रमाणों का संकेत उपलब्ध होता है ।[५२] इस युग का प्रधान उद्देश्य अनुभूति तथा तर्कमूलक मनन आदि साधनों के द्वारा आत्म तत्त्व का साक्षात्कार करना था । इसीलिए वेदानुकूल तर्क प्रक्रियाओं को आदर की दृष्टि से उत्कृष्ट समझा जाता था[५३] और वेद प्रतिकूल तार्किक चिन्तन को हेय ।[५४] अनुमानिक चिन्तन के इतिहास में इस वेद-ब्राह्मण-

आरण्यक-उपनिषद्-रामायण-महाभारत-स्मृति-पुराण कालीन युग को प्रारम्भिक अथवा बीज-वपन युग कहा जा सकता है।

इस प्राथमिक युग के पश्चात् पल्लवित होने वाले अनुमान-चिन्तन को तीन सुविधाजनक युगों—(१) सर्जना युग, (२) संघर्ष और विकास युग एवं (३) नव्य न्याय युग में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम युग में विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने मौलिक चिन्तन द्वारा अनुमान के मूलभूत सिद्धान्तों की सर्जना में योग दिया, जिन्हें द्वितीय युगीन चिन्तकों ने अपने-अपने प्रवर्तकों के मन्तव्यों की स्थापना के लिये अन्य मतावलम्बियों की आलोचना की पृष्ठभूमि में विकसित किया और तृतीय युग के तार्किकों ने उनका परिष्कार कर उन्हें विशुद्ध स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में तीनों युगों के अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्तों का तुलनात्मक, विकासात्मक एवं समीक्षात्मक विवरण दिया गया है, अतः यहाँ उनके विषय में विशेष विवेचन करना पिष्टपेषण होगा। इसलिए आनुमानिक सिद्धान्त विषयक प्रमुख दार्शनिक कृतियों का संक्षिप्त परिचय देना ही यहाँ पर्याप्त है।

सर्जना युग

प्रथम युगीन विभिन्न वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय और उनकी रूढ़िवादी कट्टरता के विरोध में प्रतिक्रिया स्वरूप प्रस्फुटित होनेवाले अवैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय में विवेचित विचारों को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से सुरक्षित रखने के लिये उत्तरवर्ती संस्कृत, प्राकृत तथा पाली ग्रन्थों की रचना हुई। आनुमानिक सिद्धान्तों के विमर्शण के लिये वैदिक परम्परा के 'वैशेशिक सूत्र', 'न्यायसूत्र', 'न्यायभाष्य', 'प्रशस्तपादभाष्य' तथा ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' और उस पर लिखी गयी 'माठरवृत्ति' विशेष उल्लेखनीय है। 'मीमांसासूत्र' तथा 'ब्रह्म सूत्र' में अनुमान सम्बन्धी किसी भी समस्या पर स्पष्टतः विचार नहीं किया गया है, यद्यपि उनमें अनुमान शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[५५] 'योगसूत्र' में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि तीन प्रमाणों की परिगणना के लिये केवल एक सूत्र दिया गया है। इसी प्रकार 'शाबरभाष्य' में अनुमान लक्षण तथा उसके द्विविध भेदों—प्रत्यक्षतोदृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट को दृष्टान्त के माध्यम से समझाया गया है, जबकि 'योगभाष्य' में संक्षिप्त रूप से अनुमान लक्षण की उदाहरणसहित व्याख्या की गयी है। "वैशेषिकसूत्र' तथा 'प्रशस्तपादभाष्य' में मुख्य रूप से द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों की विवेचना की गयी है, किन्तु प्रसङ्गवश प्रमाण-चर्चा में कतिपय अनुमान सम्बन्धी मन्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। इसीलिए इनमें वाद विषयक नियमों का सर्वथा अभाव पाया जाता है, परन्तु 'न्यायसूत्र' तथा न्यायभाष्य' में प्रायः सभी आनुमानिक समस्याओं तथा वाद विषयक नियमों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। 'माठरवृत्ति' पर 'न्यायभाष्य' तथा 'प्रशस्तपाद-भाष्य' का संयुक्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अवैदिक चार्वाक सम्प्रदाय का सूत्रग्रन्थन महर्षि बृहस्पति के 'बार्हस्पत्यसूत्र में सम्पादित हुआ है, पर दुर्भाग्यवश इनका यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। इनके सूत्रों के यत्र-तत्र खण्डन प्रणाली में कुछ सन्दर्भ अवश्य मिलते हैं, जिन्हें डा० सर्वानन्द पाठक ने अपने प्रबन्ध' चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय परीक्षा' के चतुर्थ अध्याय में संकलित किया है। इन सूत्रों में कुछ ऐसे भी सूत्र हैं, जिनमें प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण स्वीकार करके अनुमान आदि अन्य प्रमाणों का खण्डन किया गया

है। जैन परम्परा में महावीर स्वामी के पश्चात् उनके तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के विचारों को संकलित करने के लिये प्राकृत भाषा में विभिन्न आगम–'षटखण्डागम', 'भगवती', 'सूत्रकृतांग', 'राजप्रश्नीय', 'नन्दी', 'स्थानांग', 'उत्तराध्ययन', 'अनुयोगद्वार', 'दशवैकालिक' सूत्र ग्रन्थों की सर्जना हुई। इनमें 'अनुयोगद्वारसूत्र' में गौतमोक्त चार प्रमाणों तथा अनुमान के त्रिविध भेदों—पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट का विशेष विवरण दिया गया है, शेष सभी आगम ग्रन्थ, प्रमाण-निरूपण-प्रसङ्ग में न्यूनाधिक रूप से इसी से प्रभावित जान पड़ते हैं। 'दशवैकालिकसूत्र' पर (लिखी गयी) भद्रबाहु की प्राकृतभाषा में लिखी गयी 'दशवैकालिक-निर्युक्ति-गाथा' में अवयवों पर विशद प्रकाश डाला गया है, जिनमें 'न्यायभाष्य' से भिन्न दस अवयवों की द्विविध विवेचना प्रमुख है। विभिन्न आगमों को सूत्रबद्ध करते हुए उमास्वाति ने अपने संस्कृत ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' में विभिन्न प्रमाणों के साथ अनुमान का भी अल्प परिचय दिया है। 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' की 'प्रस्तावना' में पं० दलसुखभाई मालवणिया ने 'सूत्रकृतांग' तथा 'दशवैकालिकानिर्युक्तिगाथा' के आधार पर कतिपय वाद विषयक नियमों की व्याख्या भी की है।[२१] बौद्ध परम्परा में गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके विचारों का संकलन पाली 'त्रिपिटक साहित्य' में सम्पन्न हुआ है। पालीभाषा में लिखे गये 'सूत्तपिटक'—'दीघनिकाय के ब्रह्मजालसूत्त, मज्झिमनिकाय के अनुमानसूत्त, खुद्दकनिकाय के उदानसूत्त, 'विनयपिटक' के परिवारसूत्त, पातिमोक्खसूत्त, 'अभिधम्भपिटक' के कथावत्थूपकरण तथा स्वतंत्र ग्रन्थ 'मिलिन्दपन्हो' के विविध संवादों तथा संस्कृत भाषा में सर्जित 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र', 'महाविभाषाशास्त्र', 'नवधर्मसूत्र'—'अष्टसाहस्रिका', 'प्रज्ञापारमिता', 'गण्डव्यूह', 'दशभमिश्वर', 'समाधिराज', 'लंकावतार', 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'तथागतगुह्यक', 'ललितविस्तर' एवं 'सुवर्णप्रभास' में वाद-विवाद विषयक अनेक नियम तथा कतिपय आनुमानिक सिद्धान्त यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिन्हें नागार्जुन ने अपने ग्रन्थ 'उपायहृदय' में व्यवस्थित रूप से संकलित किया है। इसमें गौतमोक्त चार प्रमाणों, तीन अनुमान भेदों, सव्यभिचार, कालातीत, विरुद्ध आदि तीन हेत्वाभासों की संक्षिप्त चर्चा की गयी है, किन्तु वाद विषयक छल, जाति, निग्रहस्थान आदि नियमों का विस्तृत विवेचन हुआ है। पुनरुक्त, सिद्धसाधन, परिहार आदि वाद विषयक सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए उन्होंने 'माध्यमिककारिका' में महर्षि गौतम के प्रमाण सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। 'विग्रहव्यावर्तनी' में प्रमाण की सामर्थ्य पर प्रहार करते हुए उन्होंने प्रमाणमात्र को क्षमताविहीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार उनके 'प्रमाण-विध्वंसन' अथवा 'प्रमाण-विहेटन' में गौतमोक्त समस्त सोलह पदार्थों का खण्डन किया गया है, किन्तु यह ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता। नागार्जुन के पश्चात् अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्तों का धूमिल तथा वाद विषयक मन्तव्यों का स्पष्ट विवरण मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मैत्रेयनाथ का 'सप्तदसभूमिशास्त्रयोगाचार्य', असङ्ग का 'महायानअभिधर्मसंयुक्तसंगीतिशास्त्र' तथा 'प्रकरणार्यवाचाशास्त्र' एवं वसुबन्धु के 'वादविधि' और 'वादविधानटीका' जिनमें वाद सम्बन्धी नियमों का संकलन किया गया है, अभी तक सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होते। मैत्रेयनाथ तथा असङ्ग ने वाद साधन रूप में जिन आठ साधनों का प्रयोग किया है, उनमें न्यायोक्त पञ्चावयव और प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ये तीन प्रमाण सम्मिलित हैं। वसुबन्धु के 'तर्कशास्त्र'

में प्रशस्तपादकृत त्रैरूप्यवाद न्यायोक्त पञ्चावयवी प्रयोग के साथ-साथ वाद विषयक छल-जाति-निग्रहस्थानों की भी विवेचना की गयी है। प्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थ 'चरकसंहिता' को भी इसी युग में संकलित किया जा सकता है। इनमें तीन प्रकार के अनुमान भेद, न्यायोक्त पञ्चावयव के साधर्म्य-वैधर्म्य प्रयोग की स्थापना-प्रतिस्थापना के रूप में द्विविध व्याख्या, हेत्वाभास तथा वाद सम्बन्धी नियमों की विस्तृत विवेचना की गयी है। 'कौटलीय अर्थशास्त्र की बत्तीस तन्त्रयुक्तियों की भांति इसमें भी चौंतीस तन्त्र-युक्तियां दी गयी हैं, जिनसे कतिपय वाद सम्बन्धी सिद्धान्त प्रथमतः प्रस्फुटित हुए जान पड़ते हैं। उक्त प्राचीन बौद्ध तथा आयुर्वेद ग्रन्थ में पाये जाने वाले अनुमान तथा वाद-विवाद सम्बन्धी नियमों का संक्षिप्त विवेचन डा० विद्याभूषण ने स्पष्टतः अंकित किया है।[५०] इस युग की वैदिक-वैशेषिक-सांख्य परम्परा तथा अवैदिक चार्वाक, जैन और बौद्ध परम्पराओं के प्रतिपाद्य विषय यद्यपि भिन्न-भिन्न थे, किन्तु उन्हें प्रतिपादित करने वाली आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या अथवा हेतुविद्या एक ही थी, जिसे प्रारंभिक, मौलिक सिद्धान्तों का संकलन महर्षि गौतम द्वारा सम्पन्न हुआ है। अतः वैदिक अवैदिक सभी रचनाएं न्यूनाधिक रूप से उनसे प्रभावित हैं।

संघर्ष और विकास युग

इस युग को उक्त रीति से पुकारे जाने का अभिप्राय यह है कि वैदिक, चार्वाक, जैन और बौद्ध परम्पराओं के विभिन्न दार्शनिकों ने इस युग में पारस्परिक वाद-विवाद की पृष्ठभूमि में अपने-अपने प्रवर्तकों के सिद्धान्तों को परिमार्जित, परिशोधित एवं विकसित करने का प्रयास किया है। संघर्ष के केन्द्रस्थल वैदिक और बौद्ध दार्शनिक ही जान पड़ते हैं, जिनमें कुछ काल पश्चात् जैन और चार्वाक चिन्तकों ने भी योगदान दिया है। आचार्य दिङ्नाग से इस युग का प्रादुर्भाव होता है, जो बारहवीं शताब्दी तक व्यापक है। सर्जन युग में वादविद्या धर्म प्रचार का प्रमुख साधन थी, इसीलिए उसमें प्रमाण चर्चा गौण और छल, जाति, निग्रहस्थान आदि वाद विषयक मन्तव्यों, वाद के गुण दोष तथा खण्डन-मण्डन प्रणाली पर विशेष ध्यान दिया जाता है। संभवतः इसी कारण सर्वसामान्य हेतु अथवा वाद विद्या एक ही थी। किन्तु खण्डन-मण्डन वाली वाद विद्या से दिङ्नाग के दार्शनिक मन्तव्यों का ठीक-ठीक आकलन होना दुष्कर था, इसलिए उन्होंने सर्वसामान्य वाद विद्या की त्रुटियों और न्यूनताओं की ओर दृष्टिपात करते हुए अपना ध्यान केवल परमत खण्डन तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् सर्वसामान्य वाद विद्या के साधनों की प्रमाण की पुष्टशिला पर आधारित करने का भी प्रयास किया है। 'प्रमाण समुच्चय' में उन्होंने विशुद्ध प्रमाणशास्त्र की सर्जना की है, जिसमें उनके समय में प्रचलित सभी दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होता। वाद विद्या को विशुद्ध प्रमाण विद्या में परिणत करने के कारण इनको बौद्ध न्याय का जनक कहा जाता है। इसी धारा का अनुसरण करते हुए धर्मकीर्ति ने, 'प्रमाण-वार्तिक', 'न्यायबिन्दु', 'हेतुबिन्दु'; शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह', कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका' धर्मोत्तर ने 'न्यायबिन्दुटीका', अर्चट ने 'हेतुबिन्दुटीका', एवं मोक्षाकार गुप्त ने 'बौद्ध तर्कभाषा' आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर बौद्ध न्याय के विकास में अपना-अपना योगदान दिया है। दिङ्नाग का अनुगमन करते हुए सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी विशुद्ध प्रमाण रचना 'न्यायावतार' रचकर जैन न्याय को जन्म दिया, जिसे वार्तिककार

अकलंक और उत्तरवर्ती विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र आदि जैनाचार्यों ने पल्लवित किया। इसी युग में चार्वाक जयराशि भट्ट ने 'विग्रहव्यावर्तनी' के अनुरूप अपने समय में प्रचलित सभी प्रमाण लक्षणों का व्यापक खण्डन कर वितण्डावाद को नयी दिशा की ओर अग्रसर करने का प्रयास किया है। यह आश्चर्य की बात है कि इन्होंने महर्षि बृहस्पति द्वारा समर्थित प्रत्यक्ष प्रमाण को भी प्रामाणिक नहीं माना और न्याय, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य आदि दर्शन-सम्मत प्रत्यक्ष लक्षणों का निरास किया है। पूर्ववर्ती वैदिक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक तथा अनुमान सम्बन्धी मन्तव्यों की आचार्य दिङ्नाग द्वारा की गई सारगर्भित, सूक्ष्म, एवं कटु आलोचनाओं ने उत्तरवर्ती दार्शनिकों को नवीन परिमार्जित प्रणाली के अनुसार सोचने और अपने प्रवर्तकों के दार्शनिक सिद्धान्तों को निर्दोष, निर्भ्रान्त एवं परिष्कृत बनाने के लिये बाध्य कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप आचार्य दिङ्नाग के आक्षेपों का खण्डन करने के लिये उद्योतकर ने 'न्यायवार्तिक' की रचना की। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर ने भाष्यकार शबरस्वामी के अनुमान सम्बधी संक्षिप्त विवरण के आधार पर 'श्लोकवार्तिक' तथा 'बृहती' की सर्जना द्वारा मीमांसान्याय को प्रादुर्भूत करने का प्रयास किया। धर्मकीर्ति और उत्तरवर्ती बौद्धाचार्यों ने अपनी रचनाओं में वैदिक दार्शनिक मन्तव्यों की पुनः आलोचना की, जिसके परिणामस्वरूप न्याय परम्परा में 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका', 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका-परिशुद्धि', 'कुसमाञ्जलि', 'न्यायमञ्जरी', 'न्यायसार'; वैशेषिक परम्परा में व्योमवती 'सप्तपदार्थी', 'किरणावली', 'न्यायकन्दली', 'न्यायलीलावती'; मीमांसा परम्परा के भाट्ट प्रस्थान में 'तात्पर्यटीका', 'काशिका', 'न्यायरत्नाकर', 'शास्त्रदीपिका', 'न्यायरत्नमाला' तथा प्रभाकर प्रस्थान में 'ऋजुविमला', 'प्रकरणपञ्जिका'; सांख्य-योग परम्परा में 'गौडपादभाष्य', 'भोजवृत्ति' एवं 'वितण्डावाद' को पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाले श्रीहर्ष कृत 'खण्डनखंडखाद्य' आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। इस युग में अनुमान लक्षण सर्जनायुग की भांति दृष्टांत पर आधारित न होकर व्याप्ति के पुष्ट आधार पर अवस्थित किया गया। आचार्य दिङ्नाग ने, प्रशस्तपाद द्वारा समर्थित त्रैरूप्यवाद, व्याप्ति सम्बन्ध, स्वार्थ-परार्थ अनुमान भेद, असिद्ध, विरुद्ध, संदिग्ध या अनैकान्तिक हेत्वाभास, विविध प्रतिज्ञाभास तथा दृष्टान्ताभास, अनुमान में अन्य प्रमाणों की अन्तर्भाविता आदि सिद्धांतों का परिष्कार करते हुए उन्हें विशुद्ध परिभाषा तथा निर्भ्रान्त स्वरूप में मण्डित करने का प्रयास किया गया है।[२८] उत्तरवर्ती सभी दार्शनिकों पर इनके परिष्कृत लक्षणों की छाप देखी जा सकती है। इस युग में अनुमान सम्बन्धी सभी विषयों-अनुमान लक्षण, अनुमितिकरण, मौलिक घटक, अनुमेय व्याख्या, व्याप्ति तथा उसके ग्राहक प्रमाण, पक्षधर्मता, अनुमानभेद, अवयव-लक्षण व अवयव-प्रयोग, हेत्वाभास, प्रतिज्ञाभास, दृष्टान्ताभास, उपनयाभास, निगमनाभास एवं प्रमाण अन्तर्भाव प्रक्रिया का पूर्ण विकास हुआ है।

नव्यन्याय काल

आचार्य गङ्गेश उपाध्याय की युग प्रवर्तक 'तत्त्वचिन्तामणि' से इस युग का प्रारम्भ होता है, जो आज तक अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा तथा अद्वितीय पाण्डित्य के बल पर न्यायोक्त चार प्रमाणों-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के विभिन्न अंगों पर स्वतंत्र शैली से विचार करते हुए उनके

लक्षणों में अवच्छेदक, अवच्छिन्न, प्रतियोगी, अनुयोगी, निरूप्य, निरूपक, विषयता, प्रकारता आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग करके जो सूक्ष्म, स्पष्ट, एवं परिष्कृत पारिभाषिक शब्दावली का उपन्यास किया है, वह वास्तव में श्लाघनीय है। यद्यपि उक्त पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से न्यायशास्त्र जटिल, दुरूह या सुगमता से समझा जाने वाला शास्त्र नहीं रहा है, फिर भी यह परिष्कार कोरा वाग्जालीय छिद्रान्वेषण नहीं है, क्योंकि इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के विश्लेषण तथा लक्षणों को परिशुद्ध तथा सर्वथा दोषहीन बनाने में बड़ी सहायता मिलती है। इनकी इस पारिभाषिक शब्दावली के कारण ही इसे नव्य न्याय की संज्ञा दी गयी है। उनकी इस महत्वपूर्ण कृति का प्रभाव सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय पर पड़ा, जिसके फलस्वरूप नव्य व्याकरण, नव्यवेदान्त आदि की सर्जना हुई है। इस युग में बौद्ध और चार्वाक प्रायः निःशेष हो गये थे, जैन परम्परा यद्यपि अक्षुण्ण रूप से अभी तक चली आ रही है, फिर भी यशोविजय की एक दो कृतियों जैसे, 'जैन तर्कभाषा', 'न्यायखण्डखाद्य', 'ज्ञानबिन्दु' आदि के अतिरिक्त कोई महत्वपूर्ण नव्य जैन न्याय कृति उपलब्ध नहीं है। इस युग में न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्रकरण ग्रन्थों का ही बाहुल्य रहा है। न्याय-वैशेषिक दर्शन की 'दीधिति', 'माथुरी', 'जागदीशी', 'तर्कामृत', 'गादाधरी', 'तार्किकरक्षा', 'तर्कभाषा', 'तर्कसंग्रह', 'सिद्धान्त-मुक्तावली', 'तर्ककौमुदी', 'उपस्कार'; मीमांसा दर्शन की 'भाट्टदीपिका', 'मानमेयोदय'; वेदान्तदर्शन की 'तत्त्वप्रदीपिका', 'अद्वैतसिद्धि', 'वेदान्त परिभाषा' तथा उसकी टीकायें– 'शिखामणि', 'मणिप्रभा', 'अर्थदीपिका' आदि विशेष उल्लेखनीय है। ये सभी रचनाएं गङ्गेश से पर्याप्त रूप से प्रभावित हैं। 'सांख्यप्रवचनसूत्र'[५९] तथा उस पर लिखी गयी 'अनिरुद्धवृत्ति' और 'सांख्यप्रवचनभाष्य' नव्यन्याय भाषा में न होने पर भी इसी काल की रचनाओं में संकलित की जा सकती हैं। इस युग में अनुमान के प्रत्येक अङ्ग पर स्वतंत्र कृतियां लिखी गयी हैं, जिनमें अनुमिति लक्षण, करण, भेद, अवयव, हेत्वाभास आदि लक्षणों का परिष्कार किया गया है। प्राथमिक युग के आत्मवाद, सर्जनायुग के वाद विषयक नियमों की प्रधानता तथा संघर्ष और विकास युग की प्रमेय प्रधानता की अपेक्षा इस युग में प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों के विशिष्ट अङ्गों पर ही विशेष प्रकाश डाला गया है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने इस युग को ह्रासयुग कहा है,[६०] किन्तु अनुमान विषयक सिद्धान्तों के परिशीलन और व्यापक परिष्कार पद्धति को देखते हुए इस युग को आनुमानिक सिद्धान्तों का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, क्योंकि अनुमान के विविध अङ्गों का जैसा परिष्कार तथा निर्दोष विवेचन इस युग में मिलता है, उतना अन्य तीन युगों में नहीं।

अनुमान की व्यापकता और आवश्यकता

विचार की प्रारम्भिक वेला में प्रमाण का अस्तित्व ही विस्तार नहीं किया जाता था। चार्वाक की मूल परम्परा में प्रत्यक्ष का अस्तित्व नहीं माना गया है, जिसका निर्देश और विस्तार जयराशि भट्ट के ग्रन्थ 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में उपलब्ध होता है। महर्षि बृहस्पति ने आगे जाकर प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार किया है, किन्तु यह प्रत्यक्ष स्थूल कोटि का ही था। शरीर में स्थूल रूप से विद्यमान चक्षु आदि स्थानों को ही इन्द्रिय और उनके द्वारा होने वाले अर्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता था। देश विप्रकृष्ट, काल विप्रकृष्ट तथा अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रत्यक्ष द्वारा उपपत्ति न होने के कारण इन्होंने इनका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। अनुमान आदि अन्य प्रमाणों के स्थान पर प्रत्यक्ष-

मूलक सम्भावना को जीवन की पथप्रदर्शिका माना जाता था। किन्तु केवल प्रत्यक्ष के द्वारा भविष्य के सारे व्यवहार यथावत् सम्पादित नहीं हो सकते थे. मानवीय व्यवहार क्षेत्र में ऐसी भी अनुभूतियां होती है, जो प्रत्यक्ष द्वारा सम्पन्न नहीं हो पातीं। जैसे, विदेश में गये हुए मनुष्य को स्वदेश की वस्तुएं प्रतीत होती है. एक मनुष्य के सुख-दुःख की प्रतीति दूसरे मनुष्य को उसकी चेष्टाओं को देखकर होती है, एक घटना के सदृश अन्य घटनाओं का ज्ञान भी मनुष्य को होता है; भावी इष्टानिष्ट की सूचना मनुष्य को तदनुकल लक्षणों के द्वारा हुआ करती है। इन सब बातों की उपपत्ति प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती इसलिए मनुष्य को प्रत्यक्ष से भिन्न अनुभूति के कारणों को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसी दृष्टि से वैशेषिक दर्शन में कुछ सूक्ष्म तत्त्वों की ओर विचार करते हुए उनकी उत्पत्ति के लिये, प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमान प्रमाण के महत्व को भी, स्वीकार किया गया। आचार्य दिङ्नाग के पश्चात् बौद्ध दार्शनिकों ने भी इन दो प्रमाणों को मान्य किया है। मनुष्य बहुत समय तक प्रत्यक्ष प्रमाण से घटित न होने वाले अनुभव और व्यवहार की उपपत्ति के लिये प्रत्यक्ष से ऊपर उठकर अनुमान से कार्य सम्पादित करता रहा। किन्तु बाद में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण भी मानवीय प्रतीतियों का मूल्यांकन करने में पर्याप्त नहीं हैं। व्यवहार के सबसे व्यापक साधन शब्द को प्रमाण के रूप में स्वीकार न करना कुछ अनुचित जान पड़ने लगा। शब्द स्थल में सर्वत्र आनुमानिक बोध अथवा मानस या बाह्य प्रत्यक्ष की कल्पना करने में उसे कठिनाइयां प्रतीत होने लगीं। इसलिए वह आगे जाकर प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दोनों प्रमाणों के अतिरिक्त शब्द प्रमाण मानने के लिये विवश हुआ। इसी दृष्टि से सांख्ययोग दर्शन में ये तीन प्रमाण माने गये हैं। इसी क्रम से सादृश्य-शब्दार्थ सम्बन्ध, अभाव आदि प्रमेय वस्तुओं को लेकर उपमान, अनुपलब्धि आदि उत्तरोत्तर प्रमाणों की अपेक्षा हुई। इस प्रकार व्यावहारिक सौलभ्य और प्रतीतियों की ऋजु और स्पष्ट उत्पत्ति तथा प्रमेय वस्तुओं के साक्षात्-सरल अवबोधन की दृष्टि से विभिन्न दार्शनिकों, जैसे नैयायिकों ने, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द, प्रभाकर मीमांसकों ने अर्थापत्ति और भाट्ट मीमांसकों तथा अद्वैत वेदान्तियों ने अनुपलब्धि और जोड़कर क्रमशः चार, पांच और छः प्रमाणों की मान्यता को विद्वद्समाज में प्रतिष्ठापित किया है। इसी प्रकार जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम; पौराणिक, आलंकारिक तथा तान्त्रिकों ने उक्त छः प्रमाणों के अतिरिक्त सम्भव और ऐतिह्य, प्रतिभा तथा चेष्टा को स्वीकार कर क्रमशः छः, आठ, नो और दस प्रमाण मानने का संकेत प्रदान किया है। भारतीय दर्शनों में चार्वाकों के अलावा प्रायः सभी दार्शनिकों ने अनुमान की प्रामाणिकता स्वीकार की है। अनेक विचारकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि अनुमान प्रमाण न स्वीकार किया जाय तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण की साधनभूत इन्द्रियां स्वयं अतीन्द्रिय हैं, जो अपनी सिद्धि के लिये अनुमान की अपेक्षा करती हैं। यदि शरीर में स्थित तत्तद् इन्द्रियों के स्थानों को ही इन्द्रिय मान लिया जाय और अतीन्द्रिय की कल्पना को स्वीकार नहीं किया जाय, तब भी उन स्थानात्मक इन्द्रियों की प्रमाणता अनुमान के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। भारत की जीवन दृष्टि ऐसी अनेक मान्यताओं पर अवलम्बित है, जो अनुमान के बिना प्रदर्शित नहीं की जा सकती है, जैसे पुर्नजन्म, ईश्वर, आत्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक-अमृत और उत्पन्न होने वाले प्राणियों के प्रति मनुष्य का कर्तव्य आदि। यदि अनुमान का परित्याग कर दिया जाय, तो भारतीय

संस्कृति का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। इसलिये भारतीय समाज में अनुमान की उपेक्षा का प्रश्न नहीं उठ सकता। भारत की सम्पूर्ण विद्याएं, शास्त्र एवं वाङ्मय अनुमान की आधारशिला पर अवस्थित हैं, भारतीय कला, भारतीय संगीत, भारत की लोकोक्तियां और भारतीय जीवन के समस्त पक्ष अनुमान के अवलम्बन पर ही जीवित हैं। सम्भवतः इसीलिए कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी अर्थात् अनुमान विद्या को समस्त विद्याओं का प्रकाशक, सकल कर्मों का उपाय तथा यावत् धर्मों की आश्रयदात्री बतलाया है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन साहित्य में अनुमान प्रमाण का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है। यदि दर्शनों के प्रमाण सम्बन्धी विचारों का संकलन किया जाय, तो उसका सर्वाधिक भाग अनुमान से ही सम्बन्धित मिलेगा। अनुमान की इसी व्यापकता को देखते हुए विभिन्न दार्शनिकों ने शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, चेष्टा आदि अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव इसमें किया है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विविध ग्रन्थों के परिशीलन से भी यही विदित होता है कि वहाँ भी अनुमान पर सर्वाधिक विचार हुआ है।

चार्वाक आक्षेप

यह बतलाया जा चुका है कि दार्शनिक क्षेत्र में जड़वादी चार्वाक दार्शनिकों ने समस्त मानवीय प्रतीतियों का मूल्यांकन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सम्पादित करने का प्रयास किया है। उनका मौलिक सिद्धान्त है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उपलब्ध होता है, उसकी सत्ता है तथा जिसकी प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उपलब्धि नहीं होती, उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः स्वर्ग, नरक, आत्मा, परमात्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सम्भावित नहीं हो सकने के कारण, उनकी सत्ता भी नहीं मानी जा सकती। अन्य सभी दार्शनिकों ने अतीन्द्रिय पुरुष, प्रकृति, ईश्वर आदि तथा लौकिक व्यवहार दोनों के लिये अनुमान की आवश्यकता को स्वीकार किया है, किन्तु चार्वाक चिन्तकों ने अतीन्द्रिय और लौकिक व्यवहार में आने वाले पदार्थों के लिए भी अनुमान तथा अन्य प्रमाणों को अनावश्यक तथा अप्रमाणिक ठहराया है। प्रायः सभी दार्शनिक निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रवृत्ति का जनक मानते हैं, किन्तु चार्वाक दार्शनिकों की ऐसी मान्यता है कि जगत् के समस्त कार्यकलाप संभावना के आधार पर निष्पन्न होते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कृषक सम्भावना बुद्धि के आधार पर ही कृषि कार्य में प्रवृत्त होता है। कभी-कभी इसी सम्भावनात्मक ज्ञान को निश्चयात्मक मानकर मनुष्य उक्त कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। ऐसी दशा में सम्भावनात्मक ज्ञान में ही निश्चयात्मकता का आरोप होता है। निश्चयात्मक ज्ञान केवल सफल प्रवृत्ति के जनक अव्यभिचारी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही सम्भव है, अनुमान आदि अन्य प्रमाणों द्वारा नहीं। अनुमान स्थल में जैसे, पर्वत और धूम का अवलोकन होता है, तब वहाँ अग्नि होने की सम्भावना हमारे मन में उदित होती है। इसी सम्भावना को निश्चयात्मक मानकर अनुमान की जो प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है, वह काकतालीय सम्भावना सर्वदा सफल प्रवृत्ति की जनक न होने के कारण अप्रामाणिक है।[११] अनुमान साध्य और साधन के नियत साहचर्य सम्बन्ध पर आधारित है। इसी व्यापक सम्बन्ध को व्याप्ति, अनौपाधिक अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध कहा जाता है। व्याप्ति स्वयं अपने अस्तित्व से अनुमिति का कारण नहीं है, अपितु उसका ज्ञान ही उसका कारण माना जाता है। अनुमान के प्रारम्भिक काल से ही यह एक महत्वपूर्ण समस्या रही है कि साध्य और साधन के मध्य

पाये जाने वाले अनौपाधिक सम्बन्ध का अवबोधन किस प्रकार किया जाय अर्थात् उसके जानने के लिये कौन से साधन प्रयुक्त किये जांय ? यह सम्बन्ध बाह्य या आन्तर प्रत्यक्ष द्वारा अवगम नहीं हो सकता, कारण बाह्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ से संयोग से उत्पन्न होता है और यह वर्तमान और सम्बद्ध वस्तुओं का ग्राहक है। इसलिए, व्याप्ति, जो कि भूत, भविष्य, वर्तमान, सम्बद्ध-असम्बद्ध विषयों से सम्बद्ध सकल हेतुओं और सकल साध्यों का नियत सम्बन्ध है, का ग्रहण बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है। व्याप्ति सम्बन्ध आन्तर प्रत्यक्ष द्वारा भी नहीं मानी जा सकती, कारण मन बाह्य पदार्थों का ग्रहण इन्द्रियों से स्वतंत्र रहकर नहीं कर सकता, क्योंकि वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रदान की गयी सामग्री को ही गृहीत करता है। अनुमान द्वारा भी इसका भान होना दुष्कर है, क्योंकि अनुमान स्वयं व्याप्तिज्ञान पर आधारित है। एक व्याप्ति यदि अनुमान द्वारा अनुगम्य हो, जो अन्य व्याप्ति पर आधारित है और वह व्याप्ति किसी अन्य अनुमान द्वारा ज्ञात हो तो इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। तथा व्याप्ति को अनुमान का आधार और अनुमान को व्याप्ति का आधार मानने पर अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। व्याप्ति शब्द प्रमाण द्वारा भी अधिगत नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द प्रमाण को वैशेषिक दार्शनिकों द्वारा अनुमान में अन्तर्भावित कर लिया गया है। यदि शब्द को अनुमान में सन्निविष्ट नहीं किया जाय, तो वह आप्त पुरुषों के वचनों पर आधारित होगा। अर्थ के अवबोधक होने के कारण शब्दों द्वारा किसी न किसी वस्तु का निश्चित बोध होता है। शब्दों की अर्थ ग्राहकता के लिए शब्द और अर्थ में व्यापक साहचर्य ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिये व्याप्ति शब्द द्वारा भी गृहीत नहीं की जा सकती, क्योंकि वह स्वयं अन्य व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर है। अतः यहाँ चक्रक दोष होगा। और यदि किसी अन्य व्यक्ति के कथन को व्याप्ति साधक माना जाय जैसे, हेतु और साध्य में नियत व्याप्ति सम्बन्ध पाया जाता है" तो मनु आदि ऋषियों के वचन की तरह इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि विश्वास किया जाय तो स्वार्थानुमान का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि उसमें व्याप्ति प्रतिपादक वाक्य का निर्देश अन्य व्यक्ति द्वारा सम्पादित नहीं किया जाता। उपमान संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध ज्ञान तक ही सीमित रहता है अतः उसके द्वारा और उक्त अन्य प्रमाणों द्वारा अनौपाधिक व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान होना अशक्य है।[६१] उपाधि शून्य सम्बन्ध को यदि व्याप्ति कहा जाय, तो भी ठीक नहीं है, कारण सभी उपाधियां प्रत्यक्षगम्य हों, यह आवश्यक नहीं। इसलिए जिन उपाधियों का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान हो सकता है, उनका प्रत्यक्ष द्वारा वरण किया जा सकता है, किन्तु जिन उपाधियों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सम्पन्न नहीं होता, उनका निराकरण अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से भी मानना होगा और ऐसा मानने पर उक्त सभी दोष आक्रान्त होंगे। विविध निश्चय हो जाने के पश्चात् ही उसके निषेध का अवधारण होता है। इसलिए उपाधिज्ञान के निश्चय होने पर ही उपाधिविहीन व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान संभावित हो सकता है। किन्तु साध्य की व्यापक होते हुए जो साधन की व्यापक नहीं होती उस उपाधि का ज्ञान भी व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर है, क्योंकि उक्त उपाधि लक्षण व्याप्ति निर्देश के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याश्रय दोष से ग्रसित होने के कारण उपाधिविहीन सम्बन्ध का बोध नहीं हो सकता।[६२] यदि व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण किसी प्रमाण द्वारा मान भी लिया जाय तो यह आशंका उपस्थित हो सकती है कि यह सम्बन्ध धूमत्व और अग्नित्व आदि सामान्यों में गृहीत होता है अथवा धूम और अग्नि व्यक्तियों में ? सामान्यों में तो यह गृहीत नहीं

हो सकता, क्योंकि सामान्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं है ।[१४] व्यक्तियों में इस सम्बन्ध का अवधारण इसलिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि धूम और अग्नि व्यक्तियों के अनन्त होने के नाते व्याप्ति का भी आनन्त्य मानना होगा । जैसे पर्वतीय अग्नि की व्याप्ति पर्वतीय धूम में; पाकशालीय अग्नि की व्याप्ति पाकशालीय धूम में, चत्वरीय अग्नि की व्याप्ति चत्वरीय धूम में पायी जाती है । इस प्रकार तत्तद् अग्नि की व्याप्ति तत्तद् धूम में माननी होगी । अतः यहाँ आनन्त्य दोष होगा । यदि अनुगत रूप से व्याप्ति का निर्वचन किया जाय, तो भी उचित नहीं क्योंकि प्रथम तो वह दृष्टिगत ही नहीं होता और यदि हो भी तो आनन्त्य दोष पुनः स्थिर होगा, कारण किसी अनुगमक धर्म के अभाव में अनन्त व्यक्तियों का अनुगम करना दुष्कर है । अनन्त व्यक्तियों का साहचर्य प्रत्यक्ष द्वारा भी अवगम नहीं हो सकता; कारण देश, काल और स्वभाव भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न होता है ।[१५] अवस्था, देश, काल आदि विप्रकर्षता के कारण भर्तृहरि ने भी अनुमान की प्रामाणिकता में संदेह प्रकट किया है ।[१६] उनकी कारिकाओं को शान्तरक्षित और कमलशील ने पूर्वपक्ष में विशद व्याख्या की ही है ।[१७] अपवाद बहुत होने के कारण भूयोदय दर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार सकल धर्मों में सकल अग्नियों का साहचर्य अन्वय सहचार और व्यतिरेक सहचार द्वारा भी गृहीत नहीं हो सकता, कारण सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वघटनिक सम्बन्ध का बोध करना मानव के लिये असम्भव है, क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् में उपलब्ध होनेवाले धूम और अग्नि व्यक्तियों का अवलोकन नहीं कर सकता । इसी प्रकार सामान्यों में भी यह गृहीत नहीं होता, कारण कि सामान्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, और यदि मान भी ली जाये तो सिद्ध साधन दोष होगा, क्योंकि अग्नित्व सामान्य के ज्ञान में पर्वतीय अग्नि, जिसका कि अनुमान किया जा रहा है, भी निहित होने से अवगम हो जाती है । अतः विशेष पदार्थों में व्याप्ति गृहीत नहीं होती और सामान्य पदार्थों में सिद्ध साधन होने से अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता ।[१८] यदि कार्यकारणभाव द्वारा इस सम्बन्ध को गृहीत किया जाय तो भी उचित नहीं, कारण, कार्यकारणभाव उपपन्न ही नहीं होता । पौर्वापर्य को कार्यकारणभाव का ग्राहक इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह आकस्मिक है । कभी-कभी दो घटनाओं का एक साथ अनेक बार अवलोकन होता है, इसीसे पूर्वगामी और पश्चाद्गामी घटनाओं में कार्यकारण का आक्षेप होता है,[१९] इसी प्रकार अन्वय-व्यतिरेक, सत्ताविच्छेद, कारणसामग्री तथा कारणमात्र से भी कार्यकारणभाव को सिद्धि नहीं की जा सकती ।[२०] यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष द्वारा यह भान होता है कि जहाँ अग्नि होती है वहाँ धूम भी होता है और अग्नि के न होने पर धूम भी नहीं होता इसलिए कार्यकारणभाव की उपपत्ति की जा सकती है तो ऐसी अवस्था में कार्यकारणवादियों से यह पूछा जा सकता है कि वह प्रत्यक्ष विधि-मुख अर्थात् 'वह्नि सत्वे धूमसत्त्वे' इस रूप में होता है अथवा निषेधमुख अर्थात् 'वह्न्यभावे धूमाभावे' इस रूप में ? यदि विधिमुख से स्वीकार किया जाय तो, वह प्रत्यक्ष धूम को गृहीत करता है अथवा वाष्प आदि अन्य पदार्थ को विषय करता है या सर्वथा निर्विषयक ही होता है अर्थात् किसी भी पदार्थ को विषय नहीं करता ? प्रथम कल्प में धूम के स्वरूप का अवगाहन करने वाले उस प्रत्यक्ष द्वारा धूम-स्वरूप के अस्तित्व का विधान हो सकता है, उसके स्वरूप का खण्डन नहीं । इसके परिणामस्वरूप धूम के स्वरूप की सत्ता ही विधेय कोटि में निक्षिप्त हो जायगी ।

द्वितीय कल्प में भी धूम के स्वरूप के अस्तित्व का विधेय कोटि में सन्निविष्ट होने से निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि उसका निषेधक कोई वाक्य ही नहीं है तथा वह अपने ही स्वरूप के अस्तित्व का विधान करता है। यदि तृतीय कल्प अङ्गीकार किया जाय, तो विषय के अभाव में न तो वह किसी का विधान कर सकता है और न निषेध ही। ऐसी स्थिति में वह मूक, अंध तथा बधिर व्यक्ति के समान माना जायगा। आशय यह कि जिस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का कोई भी विषय नहीं होता, वह मूक, अन्ध तथा बधिर इन तीन प्रकार की इन्द्रियों के वैकल्य से सम्पन्न उस व्यक्ति के समान है जो मूक, अंधा और बहरा होने के कारण बोल, देख और सुन नहीं सकता। इसलिए उससे धूम के स्वरूप के अस्तित्व का विधेय कोटि में निक्षिप्त होने में कोई हानि नहीं होगी। यदि प्रत्यक्ष निषेधमुख से माना जाय, तो भी ये ही तीन कल्प उपस्थित किये जा सकते हैं। प्रथम कल्प में यदि वह धूम को विषय करता है, तो वह प्रत्यक्ष धूम की सत्ता से उपनिबद्ध होने वाले उस धूम के स्वरूप के अस्तित्व का ही विधायक होगा। ऐसी दशा में भी धूम के स्वरूप की सत्ता विधेय कोटि में निक्षिप्त होगी। यदि द्वितीय कल्प में वाष्प आदि अन्य पदार्थ उसके विषय माने जांय, तब भी अन्य वाष्प आदि उन विषयों के अवगाही प्रत्यक्ष के द्वारा धूम के स्वरूप की सत्ता का खण्डन नहीं कर सकते। तृतीय पक्ष मानने पर पुनः वे ही आपत्तियां होंगी। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर धूम को वह्नि का कार्य नहीं कहा जा सकता और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ऐसा प्रबल कोई प्रमाण नहीं है, जिसके द्वारा वह्नि-धूम में कार्यकारणभाव गृहीत हो सके। इसलिए धूमात्मक कार्य से वह्नि रूप कारण का अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता।[७१] इन्हीं का अनुमान करते हुए श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य ने व्याप्ति के साथ-साथ पक्षधर्मता पर भी प्रहार किये हैं और अन्तिम निष्कर्ष के रूप में अनुमान को अप्रामाणिक ठहराया है। इनके आरोपों-प्रत्यारोपों का विवरण विस्तार से तृतीय अध्याय में दिया गया है। चार्वाक पुरन्दर का मत उत्थापित करते हुए शान्तरक्षित तथा कमलशील ने लिखा है कि प्रत्यक्ष जगत् के लिये अनुमान सही है, किन्तु अतीन्द्रिय पदार्थों के लिये उसे यथार्थ साधन नहीं माना जा सकता।[७२] परन्तु अन्य चार्वाक विद्वान् दोनों के लिये अनुमानको सही साधन नहीं मानते। पर जीवन के अनेक कार्य अनुमान द्वारा सम्पन्न होते हैं। कुछ अनुमान सफल प्रवृत्ति वाले होते हैं, कुछ नहीं। इसलिए चार्वाक इसे पूर्ण रूप से आकस्मिक मानते हैं, क्योंकि यथार्थ निश्चायकता अनुमान का स्वाभाविक गुण अथवा धर्म नहीं है। वस्तुतः संशयता ही जीवन की मार्गदर्शिका है।

आक्षेपों का अन्य दार्शनिकों द्वारा खण्डन

इन आक्षेपों का निराकरण करते हुए उदयन ने लिखा है कि सम्भावना को जीवन के समस्त कार्यकलापों का आधायक इसलिए नहीं माना जा सकता कि सम्भावना एक प्रकार का संशय ज्ञान है, जो सभी दार्शनिकों द्वारा अनिश्चित ज्ञान माना गया है। धूम के दर्शन से उसके स्वभाव तथा जब उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता तब उसकी असत्ता का निश्चित ज्ञान होता है। निश्चित ज्ञाव सर्वदा संशय ज्ञान का विरोधी होता है। अतः जीवन के कार्य पदार्थों की उपस्थिति और अनुपस्थिति के निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, सम्भावनाओं पर नहीं।[७३] लोक में ऐसे भी अनेक पदार्थ विद्यमान हैं, जो देश अथवा काल से व्यवहित होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय नहीं बन सकते, किन्तु फिर भी उनकी सत्ता मानी जाती है। इसलिए अनुपलम्भ मात्र को अभाव का साधक

नहीं माना जा सकता, क्योंकि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वयं चार्वाक भी स्वीकार करते हैं। अतः उपलब्धि योग्य पदार्थों का अनुपलम्भ ही उन पदार्थों के अभाव का साधक होगा। चक्षु आदि इन्द्रियों की सत्ता अनुमान द्वारा ही सिद्ध होती है, उपलम्भ अथवा अनुपलम्भ द्वारा नहीं। इसलिए इन्द्रियों की सत्ता निर्धारित करने के लिये उन्हें भी अनुमान प्रमाण को मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि जिस व्यक्ति अथवा वस्तु को हमने कल देखा था और पुनः आज भी देख रहे हैं उसको मध्यवर्ती काल में अपलापित नहीं किया जा सकता। अतएव ऐसे पदार्थों की उपपत्ति के लिये भी अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है। प्रत्यक्षायोग्य पदार्थ, जैसे परमाणु आदि की सिद्धि अथवा निषेध प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती, अतः इनके लिये भी प्रमाणान्तर अनुमान की आवश्यकता प्रतीत होगी, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा अनुपलब्ध होने पर भी उसकी सत्ता निर्विवाद रूप से रहती है।[७४] अनुमान में साध्य और साधन के मध्य अनौपाधिक सम्बन्ध होना परमावश्यक है, किन्तु चार्वाकों के अनुसार सर्वथा उपाधि शून्य हेतु मिलना दुष्कर है, क्योंकि देशान्तर और कालान्तर में उसके उपाधियुक्त होने की सम्भावना सर्वदा बनी रहती है। समाधान देते हुए उदयन ने कहा है कि संदेह रहने और न रहने पर दोनों अवस्थाओं में अनुमान यथार्थ रूप से सम्पन्न हो सकता है। चार्वाकों ने कालान्तर तथा देशान्तर में उपाधि की सम्भावना द्वारा अनुमान पर जो दूषित होने की आपत्ति उठायी थी, वह निर्मूल है, क्योंकि प्रत्यक्षगम्य न होने से कालान्तर और देशान्तर के सद्भाव की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि इन दोनों का सद्भाव माना जाय, तो उनके होने का अनुमान भी किया जा सकता है। अतः चार्वाकों का संदेह—'उपाधि का होना' भी अनुमान की यथार्थता की पूर्वकल्पना करता है, जो भविष्यकाल अथवा दूरस्थ प्रदेश के अस्तित्व को निर्धारित करता है। फिर संशय भी निश्चित ज्ञान की अपेक्षा करता है, क्योंकि संदेह की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जब दो पदार्थों के सामान्य धर्मों का अवलोकन तथा विशेष धर्मों का स्मरण होता है। चार्वाकों की तरह धूम से अग्नि के अनुमान को इसलिए सम्भावनामूलक नहीं माना जा सकता कि अग्नि के होने की सम्भावना तब तक उत्पन्न नहीं हा सकती जब तक अग्नि का अनुभव निश्चयात्मक रूप से नहीं हो जाता। अभिप्राय यह कि अग्नि होने की सम्भावना भी पूर्व अनुभूत अग्नि के निश्चित ज्ञान की अपेक्षा रखती है। इसी प्रकार देशान्तर तथा कालान्तर के ज्ञान के लिये स्मरणात्मक ज्ञान भी कार्यवाहक नहीं हो सकता, कारण स्मरण अनुभूत वस्तु का होता है, जो निश्चित रूप से रहती है। इनका अनुभव भी अनुमिति रूप अनुभव से ही सम्भावित हो सकता है। अतः संशय और स्मरणात्मक दोनों ज्ञानों के निष्पादन के लिये अनुमान की प्रामाणिकता न चाहते हुए भी चार्वाकों को स्वीकार करना होगी।[७५] इसी प्रकार चार्वाकों द्वारा जो कार्यकारणभाव का खण्डन किया गया है वह भी अर्थविहीन जान पड़ता है, कारण यदि कार्यकारणभाव पर भी संदेह किया जाय, तो संदेह का उद्भावन कहीं भी नहीं हो सकेगा। संशय का भी कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। यदि उसका कोई कारण न माना जाय तो किसी भी कार्य की किसी भी कारण से निष्पत्ति हो सकती है, यथा मृत्तिका से मोदक और बालुका से स्वर्ण आभूषण निर्मित किये जा सकते हैं। किन्तु यह असम्भत तथ्य युक्तिसंगत नहीं हो सकता। इसलिए उन्हें भी संशय का कोई न कोई कारण अवश्य मानना होगा। इस प्रकार न चाहते हुए भी उन्हें कार्यकारणभाव मानना अनिवार्य है।[७६] साध्य-साधन की व्याप्ति में व्यभिचार होने की आशंकाओं तथा व्याप्ति ग्राहक प्रमाणों के लिये जो आक्षेप किये गये हैं, उनका

विस्तारपूर्वक तृतीय अध्याय में व्याप्ति ग्राहक साधन निरूपण के प्रसङ्ग में निराकरण किया गया है अतः पुनः उनका निर्देश करना पुनरुक्तिपूर्ण होगा। आचार्य धर्मकीर्ति ने अनुमान की आवश्यकता और उसके प्रामाण्य व्यवस्थापन के लिये चार्वाक मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य दोनों का ज्ञान सम्पादित करने के लिये, अन्य पुरुष की बुद्धि के ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण का भी सद्‌भाव मानना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष के समान अनुमान भी अविसंवादी है और बहिरर्थ से उदित होता है इसलिए दोनों में समबलत्व है।[७७] कारिकाओं का आशय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रमाण और अप्रमाण का विवेक होना दूभर है। प्रत्यक्ष केवल वर्तमान और सम्बद्ध विषयों का ग्राहक होने के नाते देशान्तर और कालान्तर में होने वाले सत्य-असत्य ज्ञानों के पूर्वापर परामर्श की सामर्थ्य नहीं रखता। इसलिये प्रत्यक्ष से पूर्व और पश्चात् होने वाले ज्ञानों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ग्रहण होना प्रत्यक्ष द्वारा अशक्य है। अतः उनका यह मत कि अर्थक्रिया में समर्थ अर्थ की उपलब्धि करा सकने के कारण प्रत्यक्ष ही अविसंवादी प्रमाण है, अन्य नहीं, समीचीन नहीं जान पड़ता। अनुमान प्रमाण के बिना चार्वाक अपनी प्रतीति में अनुभूत प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अन्य पुरुषों को प्रतिपादित भी नहीं कर सकते, क्योंकि अन्य पुरुषों की चित्तवत्ति और विचारधारा प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अवगम्य नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि उनके बोलने की क्रिया, वाक्‌चातुर्य, चेष्टा विशेष आदि से उनकी विचारधारा को अवगम किया जा सकता है, तो कार्य द्वारा कारण का अनुमान, उनके न मानते हुए भी, बलात् सिद्ध हो जाता है। स्वर्ग, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्धि न हो सकने के कारण जो प्रतिषेध किया जाता है, वह भी निषेधमुख से अनुपलब्धि हेतु द्वारा सम्पन्न होने के कारण अनुमान को स्वीकार करना है। फिर सम्बद्ध तथा उपलब्धिलक्षण प्राप्त विषयों का ही प्रतिषेध किया जा सकता है, अतः प्रत्यक्ष द्वारा यह कार्य सम्पादित न होने के कारण, अतीन्द्रिय पदार्थों के निषेध के लिये प्रमाणान्तर अनुमान को स्वीकार करना अपरिहार्य है। यदि पदार्थों के दोषविहीन ज्ञान का जनक होने के नाते ही चार्वाक प्रत्यक्ष को अव्यभिचारी प्रमाण मानते हैं, तो निर्दोष रूप से अर्थ परिच्छेद कराने में समर्थ होने के कारण अनुमान आदि अन्य प्रमाणों की भी समान रूप से प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि उनके द्वारा भी असंदिग्ध यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि यह कहा जाय कि अनुमान आदि अन्य प्रमाण सदैव निर्दोष नहीं होते, इसलिए वे अप्रमाण हैं, तो भी उचित नहीं है, कारण प्रत्यक्ष ज्ञान भी भ्रान्त हो सकता है, जैसे, पीतरोग पीड़ित रोगी को श्वेत वस्तु भी पीली दिखाई देती है, ज्वर ग्रसित मनुष्य को मिश्री भी कड़वी लगती है, रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है आदि। सदोष प्रत्यक्ष की तरह सदोष अनुमानादि प्रमाण भी अविसंवादी नहीं कहे जा सकते, अतः जिस में अनुमान आदि प्रमाण भ्रान्त हों, उन्हें अप्रमाण कहना उचित है, किन्तु यथार्थ परिच्छेद करानेवाले अन्य स्थलों में उन्हें प्रत्यक्ष की भांति प्रमाण मानना आवश्यक है। धर्मकीर्ति की इन युक्तियों का अनुगमन करते हुए बौद्ध शान्तरक्षित, कमलशील, नैयायिक वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, जैन सिद्धर्षिगणि, हेमचन्द्र अनन्तवीर्य, मल्लिषण आदि दार्शनिकों ने चार्वाक दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए अनुमान की आवश्यकता को स्वीकार किया है।[७८]

अनुमान सम्बन्धी कुछ मौलिक समस्यायें

उक्त विवेचन के पश्चात् अनुमान सम्बन्धी कुछ मौलिक समस्याओं पर विचार किया जा सकता है। अनुमान की सबसे महत्वपूर्ण और जटिल समस्या है व्याप्ति ज्ञान ! किन्हीं दो वस्तुओं का कतिपय स्थानों में सहचार देखकर उस जाति की समस्त वस्तुओं में अव्यभिचरित स्वाभाविक सम्बन्ध का अवधारण करना कठिन प्रतीत होता है। मनुष्य खेती करता है, व्यापार करता है, अध्ययन करता है, किन्तु उसके ये व्यापार सर्वदा सफल नहीं होते। फिर अमुक कार्य से अमुक फल की प्राप्ति होगी ही, इस नियम का निश्चयन किस प्रकार हो सकता है ? व्याप्ति की इस दुर्बोधता के कारण चार्वाक दार्शनिकों ने अनुमान की उपेक्षा की है। अनुमिति के तार्किक कारण व्याप्ति की भांति मनोवैज्ञानिक कारण पक्षता की भी कुछ समस्याएं हैं। साध्य संदेह, संशययोग्यता, अनुमित्सा, सिद्ध्यभाव, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव में से किसको पक्षता कहा जाय, यह निर्णय आज तक नहीं हो पाया है। फिर भी, विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार व्याप्ति लक्षण, उसके ग्राहक साधन तथा पक्षता लक्षणों को निर्दुष्ट बनाकर इन समस्याओं के निराकरण करने के जो प्रयास किये हैं, उनका विस्तृत विवरण तृतीय अध्याय में दिया जायगा। इसी प्रकार अनुमिति लक्षण तथा उसके यथार्थकरण का निर्धारण, अनुमान के मौलिक घटक; अनुमान के यथार्थभेद; परार्थानुमान में प्रयुक्त होने वाले अवयवों के दोषविहीन लक्षण तथा उनकी विभिन्न प्रयोग पद्धतियां; हेत्वाभास के सामान्य और विशेष लक्षण; उनकी विभिन्न संख्याओं का निर्धारण एवं प्रतिज्ञाभास, दृष्टान्ताभास, उपनयाभास, निगमनाभास आदि की स्वतन्त्र आभास मान्यता, अनुमान में अन्य प्रमाणों के अन्तर्भाव होने की संभावना; भारतीय और पाश्चात्य तर्कशास्त्र में उपलब्ध होने वाले अनुमान चिन्तन का पृथक् अस्तित्व अथवा पारस्परिक प्रभाव का निर्धारण आदि अनेक मौलिक समस्याएं हैं, जिनका विधिवत् विवेचन क्रमशः आगे के अध्यायों में किया जायगा।

संकेत-सूची

भूमिका

१. Vol. XIV. p. 307; cf. DL. p. 1; BL. p. 1। २. न्या० भा० पृ० ३९। ३. सां० का० का० ४। ४. न्या० मं० १ पृ० ५। ५. ऋग्वेद १०।१२९।१-२। ६. वही १०।९०। १-२। ७. वही १।१६४।४६। ८. वही १०।१९१।२-४। ९. ऋग्वेद १०।१३०। ३, ७; यजुर्वेद १४।१८, १५।६५; अथर्ववेद १०।७।३२। १०. प्रमा प्रमाणम् इयत्ता वा कथंभूता आसीत। ———प्रमिति यज्ञस्येयत्ता परिज्ञानम्। सायण भाष्य पृ० ७८५-७८७। ११. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १४१। १२. ऋग्वेद १।१६४।४३। १३. यो० भा० पृ० ११; शा० भा० पृ० ३७; न्या० भा० पृ० १४१। १४. यजुर्वेद ३।६, २३।९-१०, ३३।४३। १५. २०।१६।५, ६।१३७।२। १६. शतपथ ब्राह्मण ४।६।९।२०, ११।५।६।८, ११।५।७।९; जैमिनि ब्राह्मण २।२५, गोपथ ब्राह्मण १।१।३०।

१७. ७।१।१-२; तुलनीय शंकराचार्य, छान्दोग्य भाष्य ७।१।२; डा० भगवानदास, दर्शन का प्रयोजन पृ० १। १८. ६।२३। १९. सूत्रस्थान ११:३२। २०. का० १६९६-९८। २१. बृ० उ० २।३।६, ३।८।८, ३।९।२६, ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।१५; केन० उ० १।५-६; कठ० उ० २।१६-२३, ३।१५, ४।१५, ६।१२; मु० उ० १।१।६, ३।२।३-९; तै० उ० २।९; श्वे० उ० २।७-२१; मा० उ० १ प्र० उ० ५।२, ७ अध्यात्म उपनिषद् १,६७-६९। २२. तै० उ० ३।१-६; छा० उ० ३।१४।१, ६।३।१-४, ६।२।१-४; केन० उ० ४।६ बृ० उ० ३।७।३, ३।८।९; मु० उ० १।१।७-९, २।१।४, २।१।९, २।२।५, २।२।१४; कठ० उ० ४।९, ५।९; श्वे० उ० १।७, २।१६-१७; प्र० उ० ४।८-११। २३. ऐ० उ० १।१।१ छा० उ० ६।८।७, ६।१३।१-३, ६।१६।३, ७।२६।१; बृ० उ० १।४।१, १०, १६-१७, २।४।५, २।५।१९; कठ० उ० २।१८-२०, २३, ३।३-४, ३।१०-१२, ६।७-८; तैं० उ० २।१; श्वे० उ० १।१२-१६; मा० उ० २-८; प्र० उ० ३।६-१२, ६।२-६; अध्यात्म उपनिषद् १६-२१। २४. बृ० उ० २।४।५। २५. ३३-३४, ४०। २६. मनु० १२-१०६। २७. कट० उ० २।८-९; केन० उ० १।५; बृ० उ० ३।८।७, २।३।६; मु० उ० २।२।८, ३।१।७-८। २८. १।१।४-५, १। २९. श्वे० उ० १।१६; ई० उ० ११; मै० उ० ७।९; केन० उ० २।१२। ३०. वै० सू० ९।१०-१२; प्र० भा० पृ० २५९, २७६। ३१. प्र० भा० पृ० ३२३; तै० उ० २।२:१; कठ० उ० ३।१०-११, ६।७-८; छा० उ० ६।३।३-४; ऐ० उ० १।१।४। ३२. २।६२-६३, ३।१४-१५, ३।४२-४३। ३३. अध्यात्म उपनिषद् ३६-३७; मैत्रायणी उपनिषद् ५।१; ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् ९। ३४. अन्नपूर्णा उपनिषद् ५।५२, ५३-५४। ३५. यजुर्वेद १३-३०; शतपथ ब्राह्मण ६।२।२।६; बृ०उ० १।४।१; छा० उ० ८।८।४। ३६. ऋग्वेद ७।८९।३-४; बृ० उ० ४।५।१३। ३७. कठ० उ० १।२०-२१; छा० उ० अध्याय ८ खण्ड ७।१४। ३८. वा० रा० अयोध्या काण्ड १००। ३६; म० भा० शान्तिपर्व १८०।४७; मनु० ७।४३; या० ३।२९२। ३९. वा० रा० अयोध्या काण्ड १।१३।२३, ७।५३।१५; म० भा० आदि पर्व १।६७, शान्ति पर्व १८०। ४७, २१०।१२, २४६।१८, अश्वमेध पर्व ८५।२७; मनु० २।११, ६।५०, ८।२६९, १२।१०६,११; या० ३।२९२; 'तर्क' न्याय कोश पृ० ३२१। ४०. कौटलीयम् अर्थशास्त्रम् भाग १ पृ० २६-२८। ४१. २।१-२, २, ७, ११। ४२. न्या० भा० पृ० ३८-३९, ४७-५२; तुलनीय समन्तभद्र, युक्त्यनु शासन का० ४८। ४३. न्या० वा० पृ० ३९, ४७-५३; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३९, ४७-५३; न्या० मं० १ पृ० ४-५, २ पृ० १३१-३२; न्या० सू० वृ० पृ० ६२-६४। ४४. न्या० भा० पृ० ३४-३५। ४५. न्या० वा० पृ० ३५-३७; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३५-३७; न्या० मं० १ पृ० ९। ४६. म० भा० सभा पर्व ५।२-६ अन्य पर्वों में भी इस विद्या के संकेत मिलते हैं—आदि पर्व १।६७, ७०।४२-४४, शान्ति पर्व २१०-१२। ४०. ऋग्वेद १०।१९१।३; छा० उ० ५।३।१; बृ० उ० ६।२।१; प्र० उ० १।६; मनु० १२।११०-१३; पाराशर स्मृति ८।१९, या० १।९। ४८. म० भा० शान्ति पर्व ३२०।७८-२४। ४९. वही वन पर्व अध्याय १३२-३४। ५०. या० १।३; विष्णु पुराण तृतीय खण्ड अध्याय ६; मत्स्यपुराण ३।२ पद्मपुराण उत्तर खण्ड अध्याय २६३। ५१. १।२; ५।८७।२३। ५२. मनु० १२।१०५। ५३. म० भा० आदि पर्व १।६७, ७०।४२, ४४, शान्ति पर्व २१।२२, अश्वमेध पर्व ८५।२७; मनु० ७।४३, १२।१०६, ११; या० १।३; मत्स्य पुराण ३।२; स्कंध पुराण

कालिका खण्ड अध्याय १७ । ५४. वा० रा० अयोध्या काण्ड १००।३६-३९; म० भा० शान्ति पर्व १८०।४७-४९, २४६।१८; मनु० २।११ । ५५. १।३।२-३, १०, १५, १६; १।३।२८, ३।२।२४, ४।४।२० । ५६. पृ० ८२-९४ ।· ५७. HIL. p. 24-28, 224-269 । ५८. प्रशस्तपाद और दिङ्नाग के काल के प्रसङ्ग में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । प्रो० जेकोबी (Encyclopaedia Religion and Ethics Vol. I, p. 201) प्रो० यूई (Vaiśeṣika Philosophy according to Daśapadārthśastra) बोडास (त० सं० भूमिका पृ० ४०) प्रो० ए० बी० ध्रुव (न्या० प्र० भाग १ भूमिका पृ० १६-२२); डा० जादुनाथ सिन्हा (History of Indian Philosophy. Vol. I. p. 292-93) डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (भारतीय दर्शनशास्त्र पृ० ११३-१४) ए० एस० कृष्णराव (JORM. Jan. & Oct. 1927) आदि विद्वानों ने प्रशस्तपाद को दिङ्नाग का पूर्ववर्ती घोषित किया है । डा० सुआली ने दोनों को समकालीन माना है । (Quoted in ILES. p. 27) प्रो० शरबाट्स्की ने अपने प्रथम मत में दिङ्नाग को प्रशस्तपाद से पूर्ववर्ती बतलाया है, किन्तु बीस वर्ष के चिन्तन के पश्चात् उन्होंने अपने अन्तिम मत में दिङ्नाग को प्रशस्तपाद से उत्तरवर्ती स्वीकार किया है । (Le Museon Vol. V. 1904 quoted by Faddegon in Vaiśeṣika System p. 15; BL. Vol. I. p. 50) प्रो० फेडेगन (Vaiśeṣika System p. 605) न्या० प्र० भाग १ भूमिका पृ० १७ में उद्धृत) और डा० रेण्डल (ILES. Introduction p. 24-32 FFD. p. 61-70) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दोनों दार्शनिक किसी प्राचीन वैषेषिक परम्परा के ऋणी हैं । प्रो० कीथ ने त्रैरूप्यवाद, स्वार्थ-परार्थ अनुमान-भेद, पक्षाभास, दृष्टान्ताभास, अविनाभाव आदि सिद्धान्तों के आधार पर प्रशस्तपाद को दिङ्नाग से उत्तरवर्ती सिद्ध किया है । (ILA. p. 93-110) प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रो० कीथ के सभी आरोपों का खण्डन किया गया है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि प्रशस्तपाद अपने विचारों के लिये न्यायवैशेषिक सूत्रकार तथा न्यायभाष्यकार के ऋणी हैं । निष्कर्षतः प्रशस्तपाद को दिङ्नाग का पूर्ववर्ती मानना उचित एवं न्यायसंगत जान पड़ता है । ५९. 'सांख्यसूत्र' को अधिकांश विद्वानों ने चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं सदी की रचना बतलाया है, किन्तु पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने प्रबन्ध 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के प्रथम पाँच अध्यायों में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वर्तमान 'सांख्यप्रवचनसूत्र' महर्षि कपिल प्रणीत 'षष्ठितन्त्र' ही है । तृतीय प्रकरण में उन्होंने 'सांख्यषडध्यायी' अथवा 'षष्ठितन्त्र' के सूत्रों और 'सांख्यकारिका' की कारिकाओं की पारस्परिक तुलना द्वारा यह बतलाया है कि द्वितीय ग्रन्थ प्रथम ग्रन्थ के प्रथम तीन अध्यायों के आधार पर लिखा गया है, संक्षिप्त होने के नाते द्वितीय में प्रथम की आख्यायिकाओं और परमत समीक्षा नहीं दी गयी है । । ६०. भारतीय दर्शनशास्त्र (न्याय-वैशेषिक) पृ० १०६, १२७-२९ । ६१. न्या० कु० बो० पृ० ३३४ । ६२. स० द० सं० पृ० ७-१० । ६३. वही पृ० १०-१२ । ६४. त० सि० पृ० ४-७ । ६५. वही पृ० ६५ । ६६. वाक्यपदीयम् २।३२-३५ । ६७. तत्त्व सं० का० १४६०-६२ तत्त्व सं० पं० पृ० ४२६-२७ । ६८. न्या० मं० १ पृ० १०८-९ । ६९. त० सि० पृ० ७० । ७०. त० सि० पृ० ६६-६७, ७० । ७१. वहीं पृ० ६६-६७ । ७२. तत्त्व सं० का० १४८२-८३; तत्त्त सं० पं० पृ० ४३१-३२ । ७३. कु० पृ० ३३४-३५ । ७४. वही पृ० ३३५-३६ । ७५. वही पृ० ३४२; ह० वृ० पृ० १११ । ७६. वही पृ० ३४७ । ७७. प्रमाणेतरसामान्य-

स्थितेरन्यधियोगतेः । प्रमाणान्तर सद्भावः प्रतिशेधाच्च कस्यचित ।। अर्थस्यासम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता । प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ।। उद्धृत–प्र० मी० पृ० ७-८ । ७८. तत्त्व०.सं० का० १४८२-७७, १४५६, १४८२-८६; तत्त्व सं० पं० पृ० ४२५, ४२९-३०, ४३२-३३; न्या० वा० ता० टी० पृ० १३३, सां० त० कौ० पृ० ३५-३६; न्या० मं० १ पृ० ११०-११; न्या० व० टी० पृ० २६-२७; प्र० मी० प्र० ७-८; प्र० र० मा० पृ० ४३-४८; स्या० मं० पृ० २५६-५८ ।

१ अनुमान की परिभाषा

प्रमा और प्रमाण

अ. प्रयोजन–भारतीय दर्शन-साहित्य में ज्ञान के अन्तर्गत यथार्थ एवं अयथार्थ दोनों प्रकार के ज्ञान सम्मिलित हैं। अर्थ विषयक यथार्थ ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है। जैसे, रजत को देखकर, रजत का ज्ञान होना, रजत रूप अर्थ की यथार्थ प्रतीति है। किन्तु इसके विपरीत शुक्ति को रजत समझना अयथार्थ ज्ञान है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इस सत्यता को परखने के लिए कसौटी क्या है? अथवा सत्य का बोध कराने के लिए साधन क्या है? अर्थ विषयक यथार्थ ज्ञान, साधन के अभाव में हो ही नहीं सकता। जैसे, नेत्रों को बन्द कर लेने पर प्रमाता सामने उपस्थित पुस्तक आदि किसी विषय का ज्ञान उपलब्ध नहीं कर पाता। प्रमाता को जिन साधनों द्वारा विषय की यथार्थ प्रतीति होती है, उन्हें दार्शनिक शब्दावली में प्रमाण कहा जाता है। कहा भी है—

"मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्"[१]

अर्थात् प्रमाणों के अधीन प्रमेय की व्यवस्था और प्रमाणों की व्यवस्था उनके लक्षणों पर अवलम्बित होती है। वात्स्यायन ने भी कहा है कि प्रमाण के बिना किसी घट-पट आदि वस्तु रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता और अर्थ ज्ञान के बिना किसी वस्तु को लाने अथवा ले जाने रूप कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। प्रमाण के द्वारा ही ज्ञाता अर्थ-उपलब्धि करके उस अर्थ को प्राप्त करने की अथवा छोड़ने की इच्छा करता है। पुरुष की अभीप्सा (ग्रहण करने की इच्छा) और जिहासा (परित्याग करने की इच्छा) प्रयुक्त ही संसार में तद्विषयक प्रवृत्ति देखने में आती है। क्योंकि इच्छा के उत्पन्न होने के पश्चात् ही मनुष्य उस इच्छा के पूर्वकालीन इष्टसाधनता तथा अनिष्ट-साधनता ज्ञान के आधार पर प्रयत्नशील होता है। इष्टसाधनता ज्ञान होने पर किसी वस्तु को ग्रहण करने की और अनिष्टसाधनता ज्ञान के द्वारा वस्तु के परित्याग में प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। प्रमेय चार प्रकार के होते हैं: दुख, दुःख हेतु, सुख एवं सुख हेतु।[२] जिस प्रकार आयुर्वेद में रोग, रोग हेतु, आरोग्य और औषधि इन चार प्रमेयों का वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी हेय, हेय हेतु, हान एवं हानोपाय ये चार प्रमेय प्रचलित हैं। जैसा कि उद्योतकर ने कहा है कि उक्त हेय आदि चार पदार्थ अर्थ पद से अभिप्रेत हैं। इनमें से दुःख का नाम हेय, दुःख के कारण अविद्या, तृष्णा, धर्म, अधर्म आदि को हेय हेतु, तत्त्वज्ञान अर्थात् यथार्थ रूप से अवस्थित वस्तु की अधिगति (बोध) हान एवं उसका उपाय शास्त्र हानोपाय है।[३] उक्त चारों में प्रमाण की प्रधानता है,[४] क्योंकि संशय आदि प्रमेयों की अधिगति प्रमाण के अधीन है।[५] प्रमाण द्वारा प्रमेय वस्तु को अवगम करने के लिए प्रमाता और प्रमिति भी आवश्यक है। किसी वस्तु के ग्रहण अथवा त्याग की इच्छा से प्रवृत्त होने वाला पुरुष प्रमाता, प्रमाता जिस साधन से विषय को उपलब्ध करता है उसे प्रमाण, विषय को प्रमेय तथा विषय (पदार्थ) के यथार्थ

ज्ञान को प्रमिति कहा जाता है।[6] इन चारों में से प्रमाण की मुख्यता है, क्योंकि प्रमाण द्वारा ही प्रमाता विषय को उपलब्ध कर उसके ग्रहण अथवा त्याग की इच्छा करता हुआ कृत-कृत्य होता है।[7] इस प्रकार इष्ट वस्तु रूप अर्थ की प्राप्ति के आधार पर प्रमाण को सप्रयो-जन माना गया है और प्रमाण के अर्थविशिष्ट होने पर ही प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमिति ये सभी अर्थवान् होते हैं।[8] न्याय-मंजरीकार ने भी प्रमाण का महत्व समझाते हुए कहा है कि आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्यन्त बारह प्रमेय पदार्थों का यथार्थ ज्ञान निःश्रेयस प्राप्ति का साधन है, तत्त्व साधन से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर संसार प्रवाह की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। इसलिए प्रमेय-पदार्थ का उपदेश करना आवश्यक है। विषय का यथार्थ ज्ञान निःश्रेयस का का साधन है—यह बात आगम प्रमाण से ही जानी जा सकती है।[9] श्रुति भी कहती है—"निचाय्य तं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते" अर्थात् आत्मा को जानकर पुरुष, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसी बात को यजुर्वेद में इस प्रकार से स्फुट किया गया है :

> "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
> तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥[10]

अर्थात् ईश्वर के एकत्व का अनुभव करने वाले सर्वात्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता का शोक मोह नष्ट हो जाता है। ऋग्वेद में भी मनुष्य को प्रमाण आदि ग्रहण करने योग्य बतलाया गया है—"मनुष्य अनेक पदार्थों का 'प्रमाण', 'प्रतिमाण' तथा 'उन्मान' या ज्ञान प्राप्त करने के योग्य है।"[11] प्रायः समस्त भारतीय दर्शनों का चरम लक्ष्य मोक्ष है और उसके उपाय के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है। अतः सभी दार्शनिकों ने प्रमाणों का विवेचन अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार किया है।

आ. प्रमाण शब्द का अर्थ–व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रत्येक शब्द की सिद्धि छः कारकों और भाव साधन द्वारा होती है। सिद्धर्षिगणि के अनुसार प्रमाण शब्द का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ 'कर्ता कारक' में आत्मा, 'कर्म कारक' में अर्थ, 'करण कारक' में साधन, "सम्प्रदान कारक' में अर्थक्रिया, 'अपादान कारक' में कारण समूह, 'अधिकरण कारक' में क्षयोपशम एवं भाव में फल रूप प्रमिति का परिचायक है। प्रकृत में तृतीय करण कारक-प्रमाण रूप साधन एवं भाव में प्रमिति रूप फल ही इष्ट है। प्रमाण निरूपण में यही दोनों उपादेय हैं। प्र+मान इन दोनों शब्दों के योग से ही प्रमाण शब्द बना है, जिसका अर्थ है यथार्थ-ज्ञान। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु में 'ल्युट' प्रत्यय करने पर 'प्रमीयतेऽने-नेति प्रमाणम्' इस व्युत्पति के अनुसार साधन अर्थ में प्रमाण गृहीत होता है। अर्थात् जिस साधन के द्वारा प्रमा ज्ञान होता है, उसे प्रमाण कहते हैं। भाव अर्थ में ल्युंट प्रत्यय करने पर, व्युत्पत्ति-'प्रमितिः प्रमाणम्" इस प्रकार होगी तब प्रमाण शब्द का अर्थ होगा 'यथार्थ-ज्ञान'। अतः यथार्थ ज्ञान या यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में यही दो उपादेय हो सकते हैं। क्योंकि यथार्थ ज्ञान के प्रसङ्ग में कर्ताकारक निष्पन्न 'प्रमाता' से यहाँ अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो पाती, कारण प्रमाता यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान दोनों में समान रूप से विद्यमान रहता है। कर्म कारक निष्पन्न 'प्रमेय' भी यहाँ यथार्थ ज्ञान के सन्दर्भ में अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि प्रमेय स्वयं उपेय है, जिसका कार्य उपायभूत ज्ञान के परीक्षण से ही सम्पन्न हो जाता है। सम्प्रदान कारक निष्पन्न 'अर्थक्रिया' की भी यही दशा है, क्योंकि ज्ञान के बिना अर्थ-क्रिया उत्पन्न ही नहीं हो सकती। अपादान कारक निष्पन्न 'कारण समूह' की परीक्षा भी

व्यर्थ है, क्योंकि ज्ञान के अभाव में कारण समूह का स्वरूप नहीं समझा जा सकता। इसलिए ज्ञान के स्वरूप का निर्णय हो जाने के उपरान्त ही कारण समूह ठीक है या गलत इस बात का बोध होता है। अधिकरण कारक निष्पन्न 'क्षयोपशम' भी निष्प्रयोजक है क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति से ही क्षयोपशम का निर्णय होता है।[१२]

करण अर्थ को लेकर ही सर्वसाधारण प्रमाण लक्षण—'प्रमाकरणं प्रमाणम्'[१३] का प्रादुर्भाव हुआ जान पडता है। जो प्रमा का साधन हो, उसे प्रमाण कहा जाता है। इस लक्षण में 'प्रमा' और 'करण' ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रमा' की व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है फिर भी यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि प्रमाण सामान्य का यह सर्वसाधारण लक्षण उपलब्ध होते हुए भी विभिन्न दर्शन-ग्रन्थों में प्रमाण के अनेक लक्षणों का आविर्भाव क्यों हुआ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि प्रमा को यथार्थ ज्ञान मानने में कहीं भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, तथापि यथार्थ ज्ञान की व्याख्या सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में की है। अतः प्रमा के स्वरूप की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए ही प्रमाण के अनेक लक्षण दार्शनिकों द्वारा व्यक्त किये गये हैं।

करण शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि पाणिनि ने कहा है 'साधकतमं करणम्'[१४] अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो सबसे प्रकृष्ट उपकारक अथवा सर्वाधिक सहायक कारक होता है, उसे करण कहा जाता है। जैसे हरिण को बेधकर मारने में धनुष, बाण, प्रत्यञ्चा, शिकारी, शिकारी के हाथ आदि सब सहायक उपकरण हैं, अतः सभी साधन या साधक कहे जा सकते हैं। किन्तु इनमें से अतिशय साधक अर्थात् चरम साधन बाण ही है, क्योंकि धनुष-प्रत्यञ्चा आदि साधन क्रिया के उपकारक होते हुए भी दूरवर्ती कारण हैं। इनमें और क्रिया के फल 'वेधन' में अन्तराल या व्यवधान है, इसलिए इन्हें साधक होते हुए भी, साधकतम नहीं कहा जा सकता। साधकतम उसे कहते हैं, जो क्रिया का प्रकृष्टोपकारक अर्थात् सबसे अधिक समीपवर्ती हो, जिसका व्यापार होते ही क्रिया के फल की निष्पत्ति हो जाये तथा बीच में किसी वस्तु का व्यवधान नहीं हो। उक्त उदाहरण में बाण लगने पर हरिण की मृत्यु हो जाती है अर्थात् वेधन क्रिया सम्पन्न हो जाती है, बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता। यदि बाण की अपेक्षा शिकारी के हाथ को साधकतम कारण माना जाये तो ठीक नहीं है, क्योंकि वेधन क्रिया होने तक उसमें धनुष, प्रत्यञ्चा एवं बाण का व्यवधान रहता है।

प्रकारान्तर से करण की व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है: 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्'[१५] एवं 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्'[१६]। प्रथम व्याख्या के अनुसार व्यापार वाले असाधारण कारण को करण कहा जाता है। असाधारण कारण भी दो प्रकार के होते हैं: व्यापार सहित और व्यापार रहित। जो स्वयं कारण से उत्पन्न होकर कार्य को उत्पन्न करता है, उसे व्यापार कहते हैं।[१७] जैसे, कपाल और कपाल संयोग दोनों घट के कारण हैं। कपाल की कारणता में कपाल संयोग व्यापार है, क्योंकि कपाल संयोग कपाल से उत्पन्न होता है और कपाल के कार्य 'घट' को उत्पन्न करता है अतः घट के प्रति संयोग रूप व्यापार वाला कारण कपाल है। जो किसी के द्वारा कार्य को उत्पन्न नहीं करता किन्तु स्वयं ही उत्पन्न होता है, उसे व्यापार रहित कारण कहते हैं। इसलिए कपाल संयोग, असाधारण कारण होते हुए भी व्यापारहीन होने के कारण, करण नहीं है अपितु कारण ही है।

यहाँ करण के रूप में कपाल को ही माना जा सकता है क्योंकि यह असाधारण कारण होने के नाते, समस्त कार्यों के प्रति अर्थात् कार्य मात्र के प्रति ईश्वरादि साधारण कारणों से भिन्न भी है ।

दूसरी व्याख्या के अनुसार, जो कारण, फल के अयोग से शून्य हो, उसको करण कहते हैं । अर्थात् जिसके होने से कार्य की उत्पत्ति में किसी प्रकार का विलम्ब न होता हो, किन्तु अव्यवहित उत्तर क्षण में फल की उत्पत्ति हो जाती हो वही करण है । इस मत के मानने वालों की दृष्टि यही रही है कि कारण चाहे व्यापार वाला हो अथवा व्यापारहीन, इससे वस्तु स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता अपितु फल की उत्पत्ति में जो साधकतम कारण हो, उसको ही करण मानना अभीष्टदायक है । जैसे, उक्त उदाहरण में यहाँ कपालद्वय संयोग ही घट का करण होगा । क्योंकि कपालद्वय संयोग हो जाने के तत्काल उत्तर क्षण में घट रूप कार्य की उत्पत्ति हो जाती है । इन दोनों के मध्य में किसी का व्यवधान भी नहीं है ।

पाणिनि के सूत्र 'साधकतमं करणम्' से दोनों ही लक्षण निष्पन्न हो सकते हैं । सूत्रकारों में केवल महर्षि[१८] कपिल ने ही स्पष्ट रूप से पाणिनि के सूत्र को प्रमा-करण की व्याख्या में प्रस्तुत किया है । वात्स्यायन[१९] दोनों लक्षणों से परिचित जान पडते हैं, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण फल व्यवस्था में इन्द्रिय और इन्द्रिय संयोग दोनों को प्रमाण के रूप में प्रकट किया है । उद्योतकर[२०] ने करण की व्याख्या में साधकतम कारण को ही अतिशय कारण बतलाया है । वाचस्पति मिश्र ने दोनों लक्षणों की व्याख्या की है । उन्होंने करण के दो लक्षण निर्दिष्ट किये हैं : सिद्ध और असिद्ध । प्रथम में व्यापार सिद्ध रहता है, द्वितीय में असिद्ध । जैसे, कोई पुरुष कुल्हाड़ी से लकड़ी काटता है, यहाँ पर साधन रूप कुल्हाड़ी में काष्ट संयोग रूप व्यापार कर्ता में दृष्ट रहता है । इसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय करण, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष व्यापार एवं प्रत्यक्ष प्रमा फल है । दोनों उदाहरणों में व्यापार सिद्ध अर्थात ज्ञात रहता है । किन्तु 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वैदिक वाक्यों को श्रवण कर याग आदि क्रियाओं में जो प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रयोजकत्व-व्यापार किसी पुरुष में दृष्ट नहीं रहता अपितु वह वेद के शब्दों में ही रहता है । इसी प्रकार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को करण मान लेने पर भी व्यापार सिद्ध अवस्था में नहीं रहता अपितु असिद्ध ही रहता है । दोनों लक्षणों में साधकतम कारण से ही क्रिया की निष्पत्ति होती है ।[१२] इस प्रकार करण के दोनों लक्षणों द्वारा प्रमाण शब्द की निष्पति होती है ।

इ. प्रमाण विशिष्ट लक्षण–प्रमा और प्रमाण की सामान्य व्याख्या को समझ लेने के उपरान्त विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाण, विशिष्ट लक्षणों को सुगमता-पूर्वक समझा जा सकता है ।

वैशेषिक मत

भारतीय दर्शन में 'वैशेषिक सूत्र' में प्रमाण सामान्य लक्षण सर्वप्रथम प्राप्त होता है । अन्य सूत्र ग्रन्थों में केवल प्रमाण निर्वचन ही किया गया है । यद्यपि 'सांख्य सूत्र' में प्रमाण सामान्य लक्षण स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है तथापि अधिकांश विद्वानों ने सांख्य सूत्रों को उतना प्राचीन नहीं माना है । महर्षि कणाद के अनुसार—"अदुष्टं विद्या"[२२] अर्थात् दुष्ट ज्ञान से भिन्न ज्ञान का नाम विद्या है । दुष्ट ज्ञान की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—"इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या"[२३] अर्थात् इन्द्रिय-दोष तथा संस्कार-दोष

से उत्पन्न अयथार्थ ज्ञान ही दुष्ट अथवा अविद्या है। "प्रशस्तपाद भाष्य" में बुद्धि के विद्या और अविद्या रूप दो भेद उपलब्ध होते हैं। पुनः विद्या और अविद्या को चार-चार भेदों में विभक्त किया गया है। विद्या चार प्रकार की है—१. प्रत्यक्ष, २. लैङ्गिक, ३. स्मृति एवं ४. आर्ष ज्ञान। अविद्या भी चार प्रकार की है: १. संशय, २. विपर्यय, ३. अनध्यवसाय एवं ४. स्वप्न। यद्यपि भाष्यकार ने विद्या का कोई लक्षण व्यक्त नहीं किया है तथापि उनके विद्या-अविद्या विभाजन से, सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट कारण दोष राहित्य विद्या लक्षण को ही प्रकट करना इष्ट जान पड़ता है।[२४] उदयन ने भी अपनी "किरणावली" टीका में यथार्थ प्रतिपत्ति को विद्या कहा है।[२५] असन्दिग्ध, अबाधित एवं निश्चयात्मक ज्ञान को श्रीधर[२६] ने भी विद्या माना है। सूत्रकार की व्याख्या करते हुए शंकर मिश्र ने विद्या के तीन लक्षण उपस्थित किये हैं—१. दोष शून्य इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान विद्या रूप प्रमा ज्ञान है। अर्थात् जिस विशेष्य में जिस विशेषण की सत्ता रहती है उस विशेष्य में अगर उस विशेषण का ज्ञान हो, अथवा विशेष्यता के साथ विशेष्य रूप एक अधिकरण में रहने वाले विशेषण का अनुभव यदि उस विशेष्य में होता है, उसको प्रमा कहा जाता है। उक्त दोनों लक्षण "तद्वति तत्प्रकारकानुभवो यथार्थः" रूप नवीन नैयायिकों द्वारा किये गये प्रमा लक्षण के समान है। किन्तु ऐसा लक्षण मान लेने पर निर्विकल्पक ज्ञान में अव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि निर्विकल्प-ज्ञानीय-विषयता, प्रकारता और विशेष्यता रूप नहीं है। इसलिए इस अव्याप्ति दोष का निराकरण करने के लिए उन्होंने तृतीय लक्षण की व्याख्या इस प्रकार की है—विशेष्य में न रहने वाला विशेषण जिस ज्ञान में भासित न हो उसे प्रमा ज्ञान कहते हैं। निर्विकल्प ज्ञान में कोई भी प्रकार नहीं रहता अतः विशेष्य में न रहने वाली कोई भी वस्तु प्रकार नहीं होगी। किन्तु सविकल्पक प्रमाभूत "घटवद् भूतलम्" इत्यादि प्रमा स्थल में भूतल रूप विशेष्य में न रहने वाली वस्तु प्रकार नहीं है। परन्तु विशेष्य में रहने वाला घट रूप प्रकार अवश्य है, इसलिए निषेध मुखी यह लक्षण निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रमा दोनों में समान रूप से घटित हो जाता है। प्रमा के करण को प्रमाण कहा जाता है।[२७] तत्त्वानुभव अर्थात् यथार्थ अनुभव प्रमा और जो उसके अयोग (सम्बन्धाभाव) से व्यवच्छिन्न हो वह प्रमाण कहलाता है।[२८]

न्याय प्राचीन मत

न्याय सूत्रकार गौतम ने प्रमा अथवा प्रमाणा का लक्षण सूत्र द्वारा निर्दिष्ट नहीं किया है किन्तु भाष्यकार ने प्रमाण लक्षण स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। उनके अनुसार-उपलब्धि[२९] अर्थात् ज्ञान अथवा प्रमा[३०] के साधन को प्रमाण कहते हैं। "प्रमीयते अनेन इति" इस प्रकार के करण अर्थ में अभिधान करने पर प्रमाण शब्द निष्पन्न होता है। इसी समाख्या से प्रमाण का लक्षण भी निकल आता है। जयन्त भट्ट ने इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखा है कि महर्षि गौतम ने एक ही सूत्र से प्रमाणों की चार संख्या का निर्वचन और प्रमाण लक्षण, इन दोनों बातों को प्रकट किया है। अतः न्याय सूत्रकार के मत में किसी प्रकार की असङ्गति नहीं दिखाई देती।[३१] उद्योतकर[३२] ने भाष्यकार के लक्षण का ही समर्थन किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी "उपलब्धि हेतुःप्रमाणम्" इस रूप से व्याख्या करते हुए लिखा है: "उपलब्धि" मात्र से स्मृतिभिन्न अव्यभिचारी रूप प्रमा ज्ञान अभिप्रेत है "लक्षण में" 'हेतु' पद प्रमा रूप फल से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए दिया गया है।[३३] तात्पर्य यह कि जिस साधन के द्वारा अर्थ की उपलब्धि होती है, उसे प्रमाण कहा जाता

है। यही प्रमाण-लक्षण के विषय में भाष्यकार वात्सायन, उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र तीनों का इष्ट अभिप्राय जान पड़ता है। किन्तु अर्थ की उपलब्धि के स्मरणात्मक एवं भ्रमात्मक ज्ञान से भिन्न होने पर भी संशयात्मक होने की सम्भावना बनी रहती है और ऐसी स्थिति में संशय में अतिव्याप्ति होना स्वाभाविक जान पड़ता है। इसी अति-व्याप्ति दोष का निराकरण करने के लिए जयन्त भट्ट ने अपने अर्थोपलब्धि रूप प्रमाण लक्षण में "अव्यभिचारिणी' पद के साथ 'असन्दिग्धा' पद का भी निवेश किया है। इस प्रकार जयन्त भट्ट के अनुसार, संशय और विपर्यय से भिन्न अर्थ विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने वाला कारण समूह ही प्रमाण है। इस कारण सामग्री (समूह) में कुछ पदार्थ बोध स्वभाव के हैं जैसे, व्याप्ति ज्ञान, पक्ष-धर्मता ज्ञान, सादृश्य ज्ञान आदि एवं कुछ अबोध स्वभाव के पदार्थों का भी इसमें समावेश है जैसे, चक्षु आदि इन्द्रियाँ।[३४] जयन्त भट्ट के इस लक्षण पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'साधकतमं करणम्' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार कार्य के साधक, साधकतर इन दोनों से अत्यन्त अपेक्षित कारण ही साधकतम हो सकता है। किन्तु प्रमाणीभूत सामग्री के अन्तर्गत गौण और मुख्य सभी कारण समा-विष्ट हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में गौण और मुख्य भाव का विवेचन करना कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रकार सामग्री साधकतम न होने के नाते प्रमाण नहीं हो सकती। इसका समाधान देते हुए उन्होंने लिखा है कि किसी एक भी कारण के न रहने से प्रमा का उत्पादन असम्भव है, इसलिए प्रमा ज्ञान के सभी कारणों का समूह ही प्रमाण है। यह समूह स्वघटक प्रत्येक कारण की अपेक्षा से प्रमा का साधकतम भी है, इसलिए सामग्री को प्रमाण शब्द का अर्थ मानने में उक्त पाणिनि सूत्र से भी कोई विरोध नहीं है। अन्वय-व्यतिरेक से भी यह बात सिद्ध हो जाती है। जैसे, अनेक अवयवों के मिलने से किसी मशीन का निर्माण होता है, उस अवयव सामग्री में से यदि छोटे से छोटा अवयव भी निकाल दिया जाये तो मशीन का कार्य अवरुद्ध हो जाता है और उसको लगा देने पर, पूर्ववत मशीन चलने लगती है। ऐसी स्थिति में एक अवयव को साधकतम नहीं कहा जा सकता किन्तु अवयव सामग्री को ही साधकतम कहना समीचीन जान पड़ता है। क्योंकि सभी अपनी-अपनी जगह घटक हैं और सभी साकल्य रूप से मशीन का कार्य चलाते हैं। इसी प्रकार कारण सामग्री में भी वे ही कारण सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनका कार्य के साथ व्यतिरेक उपलब्ध हो जैसे, घट ज्ञान में प्रमेय के स्थान पर घट ही लिया जा सकता है, पट आदि नहीं। इसी तरह जो परम्परा से कारण हैं जैसे धनुष, प्रत्यञ्चा और शिकारी के हाथ, वे क्रिया के उपकारक होते हुए भी आरादुपकारक अर्थात् दूरवर्ती कारण हैं। उनमें और क्रिया के फल में व्यवधान होने के कारण इन्हें भी साधकतम नहीं कहा जा सकता। अतः कारण सामग्री को प्रमाण लक्षण मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।[३५] उदयन ने उपलब्धि की पृथक् रूप से व्याख्या कर, उसके स्थान पर 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा के रूप में अवस्थित कर उसके साधन के रूप में प्रमाण को अभिव्यक्त किया है। स्मृति ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए उन्होंने प्रमाण लक्षण में 'अनपेक्ष' अर्थात् 'ज्ञानान्तरानपेक्ष' विशेषण पद भी दिया है, क्योंकि स्मरणात्मक ज्ञान अनुभव सापेक्ष है, इसलिए उसको प्रमा नहीं माना जाता।[३६] आगे इस विशेषण को भी हटाकर केवल 'सम्यक् परिच्छिति' अर्थात् यथार्थ अनुभव को ही उन्होंने 'मिति' अर्थात् प्रमा कहा है।[३७] प्रमाण लक्षण में अनुभव पद का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले दार्शनिक उदयन ही जान पड़ते हैं। केशव[३८] मिश्र और लौगाक्षि[३९] भास्कर ने भी उदयन का ही समर्थन किया

है४। भासर्वज्ञ ने उदयन के द्वितीय लक्षण से 'सम्यक्' पद एवं प्रथम लक्षण से 'अनुभव' पद लेकर उसमें 'साधन' पद और जोड़कर अपना प्रमाण लक्षण इस प्रकार सूचित किया है—"सम्यक् अनुभव ही यथार्थ ज्ञान है, उसके साधन को प्रमाण कहते हैं।" संशयात्मक एवं विपर्ययात्मक ज्ञान की व्यावृत्ति करने के लिए 'सम्यक्' पद को ग्रहण किया गया है। स्मरणात्मक ज्ञान का व्यवच्छेद करने के लिए 'अनुभव' पद का उपादान किया गया है। 'साधन' पद को इसलिए गृहीत किया गया है कि उसके द्वारा प्रमिति रूप फल की भिन्नता भी ज्ञापित हो जाये और प्रमाता-प्रमेय में भी लक्षण की अतिव्याप्ति न हो।[४०] इस प्रकार भासर्वज्ञ के लक्षण में वात्सायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र एवं उदयन के मतों का संकलन हो गया है।

न्याय नव्य मत

उपर्युक्त सभी लक्षणों की मूल दृष्टि यही रही है कि यथार्थ ज्ञान उसी को कहा जाता है जो भ्रम आदि दोषों से सर्वथा मुक्त एवं अनुभव रूप हो। यहाँ पर दोषहीनता पर ही अधिक बल दिया गया है और प्रमा के प्रति दोषाभाव को ही प्रमुख रूप में कारण माना गया है। अन्वयव्यतिरेक से भी यह तथ्य सिद्ध हो जाता है। दोषमय ज्ञान को अप्रमा और दोष हीन ज्ञान को प्रमा माना गया है। कहा भी गया है "दोषसत्त्वेऽप्रमाज्ञानसत्त्वं दोषाभा-वेऽप्रमाज्ञानाभाव:" जैसे, जो व्यक्ति पाण्डू रोग से पीड़ित है, उसे पीत दोष होने के कारण, श्वेत शङ्ख भी पीला दिखाई देता है। और जब वह व्याधि से मुक्त हो जाता है, तब श्वेत शङ्ख, श्वेत ही दिखाई देता है। अतः अन्वय-व्यतिरेक से, रोग रूप दोष होने पर, श्वेत शङ्ख का पीत शङ्ख के रूप में ज्ञान होना, अयथार्थ ज्ञान है और दोष हट जाने पर, श्वेत शङ्ख का, श्वेत शङ्ख के रूप में यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु अन्वय व्यतिरेक से दोषाभाव की सिद्धि हो जाने पर भी यह प्रमात्मक ज्ञान का उत्पादक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'पीतः शङ्खः' यहाँ 'शङ्ख है' यह अंश तो यथार्थ है पर 'वह पीला है' यह अंश अयथार्थ है। अब यदि दोषाभाव को ही प्रमात्मक ज्ञान माना जाये तो 'यह शङ्ख है' इस अंश में भी यथार्थता का उद्भावन नहीं किया जा सकता, क्योंकि पाण्डू रोग स्वरूप दोष विद्यमान है। अतः दोषाभाव रूप कारण न रहने से प्रमा ज्ञान रूप कार्य भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि नियम है "कारणाभावात् कार्याभावः" अर्थात् कारण के न रहने पर कार्य का भी अभाव होता है। प्रमा शब्द घटक 'प्र' प्रकर्ष का सूचक है। इसलिए इस शब्द के द्वारा केवल दोष का अभाव ही प्रमा का अर्थ नहीं किया जा सकता बल्कि गुण सापेक्षता भी यहाँ अपेक्षित है। फिर किसी भी वस्तु में केवल दोषों के अभाव को देखकर ही उसका उत्कर्ष नहीं जाना जा सकता, इसलिए गुण को ही प्रमा ज्ञान का कारण मानना समीचीन जान पड़ता है। दूसरी बात यह है कि दोषाभाव को ही कारण माना जाये और गुण को कारण नहीं माना जाये, इसमें कोई विनिगमक युक्ति भी नहीं है। दोष अनन्त है, अतः दोषाभाव भी अनन्त ही मानना होंगे अतः विनिगमना विरह होने के नाते अनन्त दोषाभावों को मानने की अपेक्षा गुण को भी प्रमा के प्रति कारण मानना युक्ति-सङ्गत है। इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए गङ्गेश ने अपना प्रमाण लक्षण इस प्रकार किया है—जहाँ जो वस्तु जैसी अवस्थित हो वहाँ उसको वैसी ही समझना अथवा जिस ज्ञान में जिस धर्म का आश्रय विशेष्य हो उस ज्ञान में यदि वह धर्म विशेषण हो तो वह ज्ञान प्रमा ज्ञान कहलाता है।[४१] जगदीश,[४२] विश्वनाथ[४३] तथा अन्नमभट्ट[४४] ने गङ्गेश का अक्षरशः समर्थन किया है। उक्त गङ्गेश

लक्षण में उदयन के "यथार्थानुभव" को प्रमा मानते हुए अनुभव पद को रूढ़ बनाकर यथार्थपद का ही परिष्कार किया गया है, जिसे उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। तर्क-संग्रहकार के मत को परिष्कृत करते हुए न्यायबोधिनीकार ने लिखा है "तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठ प्रकारताशालि अनुभव" प्रमा एवं "तद्भावद्विशेष्यता-निरूपिततन्निष्ठ प्रकारताशालि ज्ञान" अप्रमा है।[४५] जैसे, "अयं घटः" "यह घट है"। इस अनुभवात्मक ज्ञान में, घटत्व धर्म का आश्रय घट, विशेष्य है और उसमें घटत्व धर्म, प्रकार (विशेषण) है। इसलिए घटत्व धर्म वाले घट में घटत्व धर्म के प्रकार होने से "अयं घटः" यह अनुभव यथार्थ अनुभव कहलाता है। इसके विपरीत जिस ज्ञान में जिस धर्म का अभाव होता है यदि उसमें उसी धर्म को ग्रहण किया जाये तो वह ज्ञान अप्रमा होगा। अर्थात् जिस ज्ञान में, जिस धर्म के अभाव के आश्रय विशेष्य में यदि वह धर्म प्रकार हो, तो वह ज्ञान अयथार्थ या अप्रमा है। जैसे शुक्ति में "यह रजत है" ऐसा ज्ञान। यहाँ पर "यह रजत है" इस आनुभविक ज्ञान में रजतत्व धर्म के अभाव का आश्रय, शुक्ति विशेष्य है। और रजतत्व धर्म, प्रकार है। इसलिए रजतत्व धर्म के अभाव वाली शुक्ति में, रजतत्व धर्म प्रकार होने से "इदं रजतम्" यह ज्ञान अप्रमा है। यदि प्रमा लक्षण—"तद्वतितत्प्रकारकः यथार्थानुभवः" में से "अनुभव" पद निकाल दिया जाये और "तद्वति तत्प्रकारकः यथार्थः" इतना ही लक्षण रहने दिया जाये तो स्मृति ज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि जैसे, यथार्थ अनुभव में, घटत्वादि धर्म वाले, घट आदि में, घटत्व आदि धर्म प्रकार हैं, उसी प्रकार "स घटः" "वह घट है" इत्याकारक यथार्थ स्मृति स्थल में भी घटत्वादि धर्म वाले, घटादि में, घटत्व आदि धर्म प्रकार होते हैं। इसलिए इस दोष के निवारण के लिए लक्षण में "अनुभव" पद का निवेश किया गया है। "अनुभव" पद दे देने से अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि स्मृति में उपर्युक्त सभी बातें होते हुए भी अनुभव-रूपता नहीं है। यदि "तत्प्रकारकानुभवः यथार्थानुभवः" इतना ही लक्षण स्वीकार किया जाये और "तद्वति" पद नहीं दिया जाये, तो अयथार्थ अनुभव में लक्षण की अति-व्याप्ति हो जायेगी। जैसे, शुक्ति में "इदं रजतम्" यह अयथार्थ अनुभव भी रजतत्व धर्म प्रकारक ही है। इसलिए इस दोष की निवृत्ति के लिए "तद्वति" पद का निवेश लक्षण में करना आवश्यक है। इस पद के ग्रहण करने से, अब "इदं रजतम्" यह अयथार्थ अनुभव, शुक्ति में रजतत्व धर्म को विषय करता हुआ भी, यथार्थानुभव नहीं कहला सकता, क्योंकि शुक्ति रजत्व धर्म वाली नहीं है। अपितु रजत ही रजतत्व धर्म वाला होता है। अतः कोई दोष नहीं होगा।

यथार्थ पद की विवेचना करने के उपरांत हम पुनः मूल प्रश्न पर आते हैं कि यथार्थ ज्ञान में गुणों का समावेश होना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमात्मक होने के लिए विशेषण युक्त विशेष्य के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष गुण कहलाता है। रजत को रजत समझने से पूर्व, रजतत्व स्वरूप विशेषण से युक्त रजत खण्ड के साथ आँख का संयोग सन्निकर्ष होने के कारण ही रजत को "यह रजत है" इस प्रकार से देखना, यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान है। शुक्ति को रजत के रूप में देखते समय यह बात नहीं होती। वहाँ "यह रजत है" इस अप्रमात्मक प्रत्यक्ष से अव्यवहित पूर्व में रजतत्व विशेषण से युक्त विशेष्य के साथ चक्षु-इन्द्रिय का संयोग नहीं होता किन्तु शुक्तित्व से युक्त शुक्ति के साथ ही होता है। यही कारण है कि शुक्ति को "यह रजत है" ऐसा समझना अयथार्थ प्रत्यक्ष कहलाता है। अनुमिति प्रमा स्थल में अनुमेय से युक्त पक्ष में परामर्श होना गुण है। जैसे, "वह्नि-व्याप्य धूम पर्वत में है" ऐसा परामर्श होने

के कारण ही "पर्वत वह्निमान् है" ऐसी यथार्थ अनुमिति होती है। क्योंकि अनुमेय वह्नि से विशिष्ट पर्वत में उक्त आकार का परामर्श ज्ञान अनुमिति के पूर्व हुआ होता है। यदि "वह्नि व्याप्य धूम जल में है" इस प्रकार से अनुमेय अग्नि से तत्त्वतः रहित जल में, धूम का परामर्श हो, तो उससे होने वाली, "जल में अग्नि है" इत्याकारक अनुमिति, यथार्थ अनुमिति नहीं होती। क्योंकि जल अनुमेय अग्नि से युक्त नहीं है, जिसमें कि वह्नि-व्याप्य धूम को पहले से जान लिया गया है। अतः अनुमिति रूप प्रमा ज्ञान के प्रति साध्य वाले पक्ष में साध्य व्याप्य हेतु के वैशिष्ट्य का अवगाही परामर्शात्मक ज्ञान अर्थात् साध्य विशिष्ट धर्मी में परामर्श होना गुण है। एवं वन में जाकर यदि तत्त्वतः "विषहरणी बूटी" को ही "यह मूंग के समान पत्ते वाली है" इस प्रकार का सादृश्य ज्ञान उपमाता करता है तो "यह विषहरणी बूटी है" इस प्रकार से होने वाली उपमिति यथार्थ उपमिति होती है किन्तु किसी अन्य बूटी में उक्त प्रकारक सादृश्य ज्ञान यदि उपमाता करता है तो "यह विषहरणी बूटी है" इत्याकारक उपमिति यथार्थ नहीं होगी, क्योंकि वह कोई और ही बूटी होती है, जिसे विषहरणी समझा जाता है। अतः प्रकृत वाच्यार्थ में सादृश्य का ज्ञान होना ही उपमिति के लिए गुण है। इसी प्रकार शाब्द बोध के लिए विशेष्य में विशेषण का यथार्थ ज्ञान स्वरूप यथार्थ-योग्यतादि ज्ञान गुण कहलाते हैं, क्योंकि इनके अभाव में शाब्द बोध अयथार्थ हो जाता है। यही कारण है कि "अग्नि से सींचो" इस वाक्य से यथार्थ शाब्द बोध नहीं होता क्योंकि सींचने के साथ वस्तुतः अग्नि का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अग्नि का सम्बन्ध जलाने से ही हो सकता है, सींचने से नहीं। इसलिए यथार्थ ज्ञान के प्रति कारण होने वाले इन्हीं को गुण शब्द से ग्रहण किया जाता है।[४६] साधारणतया भी वस्तु के गुण ही उसके उत्कर्ष के आधायक होते हैं। "ये बड़े गुणी हैं" इस प्रकार के प्रयोग स्थल में गुणों के सहारे ही गुणी व्यक्ति का उत्कर्ष अवगत हो सकता है। प्रकृत में भी उक्त प्रदर्शित कारणों के आधार पर याथार्थ्य स्वरूप उत्कर्ष का, आधान होता है। अतः गुणों द्वारा ही प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार सारांशतः न्याय मत में यथार्थ अनुभव को ही यथार्थ ज्ञान माना गया है और उसके (असाधारण कारण) साधन को प्रमाण।

मीमांसा-भाट्ट मत

शब्द प्रमाण का विवेचन करते समय महर्षि जैमिनि ने "मीमांसासूत्र" में लिखा है—"शब्द (वेद वाक्यस्थ प्रत्येक पद) का अपने अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसके (धर्म के) यथार्थ ज्ञान का साधन होने के नाते शब्द उपदेशात्मक अर्थात् वेदात्मक होता है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्राप्त (अनुपलब्धेअर्थे) अबाधित एवं निरपेक्ष विषयक होने के कारण बादरायण मतानुसार उसको प्रमाण कहा जाता है।[४७] "यद्यपि इस सूत्र में शब्द प्रमाण का ही निरूपण किया गया है तथापि उसके "अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्" अंश को लेकर प्रमाण लक्षण भी उपपन्न हो जाता है। "चोदना-सूत्र" में श्लोकवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने "स्वतः प्रामाण्य" निरूपण के प्रसंग में प्रमाण का लक्षण इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"जो ज्ञान, ज्ञानान्तर विषयक न होते हुए, अन्य किसी ज्ञान से बाधित एवं संन्दिग्ध अर्थ का बोधक न हो, उसे प्रमाण कहते हैं।"[४८] पार्थसारथि मिश्र ने कुमारिल के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए तथा सूत्रकार से सङ्गति रखते हुए प्रमाण लक्षण इस प्रकार दिया है—"कारण दोष एवं बाधक ज्ञान से रहित अज्ञात विषयक ज्ञान ही प्रमाण शब्द का बोधक है।[४९] कुमारिल के "दृढं"

"नापिसंवादमृच्छति" एवं "ज्ञानान्तरेण विज्ञानम्" विशेषणों को ही पार्थसारथि मिश्र ने क्रम से "कारण दोष राहित्य", "बाधक ज्ञान राहित्य" तथा "अगृहीतग्राही" पदों द्वारा प्रयुक्त किया है। ये तीनों विशेषण सूत्रकार के "ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे" सूत्रांश का ही विशदीकरण है। प्रत्येक विशेषण का अपना-अपना कार्य है। प्रथम "कारण दोष राहित्य या दृढ़" पद से संशयात्मक ज्ञान की व्यावृत्ति की गयी है। द्वितीय "बाधक ज्ञान राहित्य" या नापिसंवादमृच्छति" पद से विपर्यय ज्ञान का निराकरण किया गया है। तृतीय "अगृहीतग्राही" या "ज्ञानान्तरेण विज्ञानम्" पद से स्मरणात्मक ज्ञान का व्यवच्छेद किया गया है। मानमेयोदयकार ने भी अज्ञात तत्त्व विषयक ज्ञान को प्रमा और उसके कारण को प्रमाण कहा है।[५०] उक्त सभी आचार्यों के मतों को संकलित करते हुए चिन्न स्वामि शास्त्री ने लिखा है कि अज्ञात यथावस्थित अर्थ-विषयक ज्ञान प्रमा तथा इस अनधिगत, अबाधित एवं वस्तुविषयक ज्ञान का असाधारण कारण प्रमाण कहलाता है।[५१]

मीमांसा-प्रभाकर मत

प्रभाकर मत का विवेचन करते हुए शालिकनाथ मिश्र ने प्रमाण के विषय में लिखा है—"अनुभूति ही प्रमाण है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभूति कहते हैं। ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि "अनुभूति" प्रमाण लक्षण में स्मृति की व्यावृत्ति हो जाये, क्योंकि स्मृति संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला पूर्व अनुभूति सापेक्ष ज्ञान है। अतः स्मृति पूर्वज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण अर्थात् सापेक्ष ज्ञान वाली होने के नाते प्रमाण नहीं कही जा सकती।[५२] यहाँ पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि स्मृति से अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रमा अर्थात् अनुभूति रूप हैं तो भ्रम आदि स्थल में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि भ्रम आदि ज्ञान भी अनुभवात्मक होते हैं। इस आक्षेप का समाधान उन्होंने इस प्रकार दिया है कि "रजतम् इदम्" इत्यादि भ्रमात्मक ज्ञान भी अनुभवात्मक होने के कारण दूषित नहीं है। "रजतम् इदम्"—"यह रजत है" यह एक ज्ञान नहीं वरन् दो ज्ञानों का योग है। यहाँ पर "इदम् अंश" अनुभवात्मक ज्ञान का सूचक है और "रजत अंश" स्मरणात्मक ज्ञान का। इस "रजत अंश" ज्ञान के स्मृतिमूलक होने के नाते यह अनुभव-रूप नहीं है। अतः इसमें प्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। "इदम्"—"यह" जो ज्ञान है वह प्रमात्व रूप से इष्ट ही है। केवल रजत ज्ञान ही व्यवहार में विसंवादक होने से भ्रम कहा जाता है। मान लिया कि उक्त प्रकरण में दो ज्ञान हैं परन्तु "पीतः शंखः"—"शङ्ख पीला है" में दो ज्ञान नहीं है किन्तु यह ज्ञान भी प्रभाकर मत में प्रमाण ही है। पाण्डु रोग ग्रसित रोगी को श्वेत शङ्ख भी पीला दिखाई देता है। इसका समाधान यह है कि इस ज्ञान के प्रामाण्य विशिष्ट होने पर भी व्यवहार दशा में विसंवाद होने से यह ज्ञान भ्रान्त कहा जाता है। जहाँ पर व्यवहार में विसंवाद नहीं देखा जाता वहाँ पर भ्रान्ति का व्यवहार भी नहीं होता। इस प्रकार से पीत शङ्खादि ज्ञान प्रमाण होते हुए व्यवहार-विसंवादी होने के नाते भ्रान्त ही सिद्ध होता है। अतः अनुभूति ही प्रमाण है।[५३]

सांख्य मत

सांख्य-सूत्रकार के अनुसार प्रमा एवं प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है—"बुद्धि और आत्मा अथवा उसमें से केवल आत्मा को ही पूर्व अज्ञात अर्थ का अवधारण होना प्रमा या यथार्थज्ञान तथा उसका अतिशय साधक प्रमाण कहलाता है, जो तीन प्रकार का होता

के कारण ही "पर्वत वह्निमान् है" ऐसी यथार्थ अनुमिति होती है। क्योंकि अनुमेय वह्नि से विशिष्ट पर्वत में उक्त आकार का परामर्श ज्ञान अनुमिति के पूर्व हुआ होता है। यदि "वह्नि व्याप्य धूम जल में है" इस प्रकार से अनुमेय अग्नि से तत्त्वतः रहित जल में, धूम का परामर्श हो, तो उससे होने वाली, "जल में अग्नि है" इत्याकारक अनुमिति, यथार्थ अनुमिति नहीं होती। क्योंकि जल अनुमेय अग्नि से युक्त नहीं है, जिसमें कि वह्नि-व्याप्य धूम को पहले से जान लिया गया है। अतः अनुमिति रूप प्रमा ज्ञान के प्रति साध्य वाले पक्ष में साध्य व्याप्य हेतु के वैशिष्ट्य का अवगाही परामर्शात्मक ज्ञान अर्थात् साध्य विशिष्ट धर्मी में परामर्श होना गुण है। एवं वन में जाकर यदि तत्त्वतः "विषहरणी बूटी" को ही "यह मूंग के समान पत्तें वाली है" इस प्रकार का सादृश्य ज्ञान उपमाता करता है तो "यह विषहरणी बूटी है" इस प्रकार से होने वाली उपमिति यथार्थ उपमिति होती है किन्तु किसी अन्य बूटी में उक्त प्रकारक सादृश्य ज्ञान यदि उपमाता करता है तो "यह विषहरणी बूटी है" इत्याकारक उपमिति यथार्थ नहीं होगी, क्योंकि वह कोई और ही बूटी होती है, जिसे विषहरणी समझा जाता है। अतः प्रकृत वाच्यार्थ में सादृश्य का ज्ञान होना ही उपमिति के लिए गुण है। इसी प्रकार शाब्द बोध के लिए विशेष्य में विशेषण का यथार्थ ज्ञान स्वरूपं यथार्थ-योग्यतादि ज्ञान गुण कहलाते हैं, क्योंकि इनके अभाव में शाब्द बोध अयथार्थ हो जाता है। यही कारण है कि "अग्नि से सींचो" इस वाक्य से यथार्थ शाब्द बोध नहीं होता क्योंकि सींचने के साथ वस्तुतः अग्नि का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अग्नि का सम्बन्ध जलाने से ही हो सकता है, सींचने से नहीं। इसलिए यथार्थ ज्ञान के प्रति कारण होने वाले इन्हीं को गुण शब्द से ग्रहण किया जाता है।[४६] साधारणतया भी वस्तु के गुण ही उसके उत्कर्ष के आधायक होते हैं। "ये बड़े गुणी हैं" इस प्रकार के प्रयोग स्थल में गुणों के सहारे ही गुणी व्यक्ति का उत्कर्ष अवगत हो सकता है। प्रकृत में भी उक्त प्रदर्शित कारणों के आधार पर याथार्थ्य स्वरूप उत्कर्ष का, आधान होता है। अतः गुणों द्वारा ही प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार सारांशतः न्याय मत में यथार्थ अनुभव को ही यथार्थ ज्ञान माना गया है और उसके (असाधारण कारण) साधन को प्रमाण।

ांसा-भाट्ट मत

शब्द प्रमाण का विवेचन करते समय महर्षि जैमिनि ने "मीमांसासूत्र" मैं लिखा है—"शब्द (वेद वाक्यस्थ प्रत्येक पद) का अपने अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसके (धर्म के) यथार्थ ज्ञान का साधन होने के नाते शब्द उपदेशात्मक अर्थात् वेदात्मक होता है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्राप्त (अनुपलब्धेअर्थे) अबाधित एवं निरपेक्ष विषयक होने के कारण बादरायण मतानुसार उसको प्रमाण कहा जाता है।[४७] "यद्यपि इस सूत्र में शब्द प्रमाण का ही निरूपण किया गया है तथापि उसके "अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे प्रमाणम्" अंश को लेकर प्रमाण लक्षण भी उपपन्न हो जाता है। "चोदना-सूत्र" में श्लोकवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने "स्वतः प्रामाण्य" निरूपण के प्रसंग में प्रमाण का लक्षण इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"जो ज्ञान, ज्ञानान्तर विषयक न होते हुए, अन्य किसी ज्ञान से बाधित एवं संन्दिग्ध अर्थ का बोधक न हो, उसे प्रमाण कहते हैं।"[४८] पार्थसारथि मिश्र ने कुमारिल के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए तथा सूत्रकार से सङ्गति रखते हुए प्रमाण लक्षण इस प्रकार दिया है—"कारण दोष एवं बाधक ज्ञान से रहित अज्ञात विषयक ज्ञान ही प्रमाण शब्द का बोधक है।[४९] कुमारिल के "दृढं"

"नापिसंवादमृच्छति" एवं "ज्ञानान्तरेण विज्ञानम्" विशेषणों को ही पार्थसारथि मिश्र ने क्रम से "कारण दोष राहित्य", "बाधक ज्ञान राहित्य" तथा "अगृहीतग्राही" पदों द्वारा प्रयुक्त किया है। ये तीनों विशेषण सूत्रकार के "ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे" सूत्रांश का ही विशदीकरण है। प्रत्येक विशेषण का अपना-अपना कार्य है। प्रथम "कारण दोष राहित्य या दृढ़" पद से संशयात्मक ज्ञान की व्यावृत्ति की गयी है। द्वितीय "बाधक ज्ञान राहित्य" या नापिसंवादमृच्छति" पद से विपर्यय ज्ञान का निराकरण किया गया है। तृतीय "अगृहीतग्राही" या "ज्ञानान्तरेण विज्ञानम्" पद से स्मरणात्मक ज्ञान का व्यवच्छेद किया गया है। मानमेयोदयकार ने भी अज्ञात तत्त्व विषयक ज्ञान को प्रमा और उसके कारण को प्रमाण कहा है।[४०] उक्त सभी आचार्यों के मतों को संकलित करते हुए चिन्न स्वामि शास्त्री ने लिखा है कि अज्ञात यथावस्थित अर्थ-विषयक ज्ञान प्रमा तथा इस अनधिगत, अबाधित एवं वस्तुविषयक ज्ञान का असाधारण कारण प्रमाण कहलाता है।[४१]

मीमांसा-प्रभाकर मत

प्रभाकर मत का विवेचन करते हुए शालिकनाथ मिश्र ने प्रमाण के विषय में लिखा है—"अनुभूति ही प्रमाण है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभूति कहते हैं। ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि "अनुभूति" प्रमाण लक्षण में स्मृति की व्यावृत्ति हो जाये, क्योंकि स्मृति संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला पूर्व अनुभूति सापेक्ष ज्ञान है। अतः स्मृति पूर्वज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण अर्थात् सापेक्ष ज्ञान वाली होने के नाते प्रमाण नहीं कही जा सकती।[४२] यहाँ पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि स्मृति से अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रमा अर्थात् अनुभूति रूप हैं तो भ्रम आदि स्थल में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि भ्रम आदि ज्ञान भी अनुभवात्मक होते हैं। इस आक्षेप का समाधान उन्होंने इस प्रकार दिया है कि "रजतम् इदम्" इत्यादि भ्रमात्मक ज्ञान भी अनुभवात्मक होने के कारण दूषित नहीं है। "रजतम् इदम्"—"यह रजत है" यह एक ज्ञान नहीं वरन् दो ज्ञानों का योग है। यहाँ पर "इदम् अंश" अनुभवात्मक ज्ञान का सूचक है और "रजत अंश" स्मरणात्मक ज्ञान का। इस "रजत अंश" ज्ञान के स्मृतिमूलक होने के नाते यह अनुभव रूप नहीं है। अतः इसमें प्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। "इदम्"—"यह" जो ज्ञान है वह प्रमात्व रूप से इष्ट ही है। केवल रजत ज्ञान ही व्यवहार में विसं-वादक होने से भ्रम कहा जाता है। मान लिया कि उक्त प्रकरण में दो ज्ञान हैं परन्तु "पीतः शंखः"—"शङ्ख पीला है" में दो ज्ञान नहीं है किन्तु यह ज्ञान भी प्रभाकर मत में प्रमाण ही है। पाण्डु रोग ग्रसित रोगी को श्वेत शङ्ख भी पीला दिखाई देता है। इसका समाधान यह है कि इस ज्ञान के प्रामाण्य विशिष्ट होने पर भी व्यवहार दशा में विसंवाद होने से यह ज्ञान भ्रान्त कहा जाता है। जहाँ पर व्यवहार में विसंवाद नहीं देखा जाता वहाँ पर भ्रान्ति का व्यवहार भी नहीं होता। इस प्रकार से पीत शङ्खादि ज्ञान प्रमाण होते हुए व्यवहार-विसंवादी होने के नाते भ्रान्त ही सिद्ध होता है। अतः अनुभूति ही प्रमाण है।[४३]

सांख्य मत

सांख्य-सूत्रकार के अनुसार प्रमा एवं प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है—"बुद्धि और आत्मा अथवा उसमें से केवल आत्मा को ही पूर्व अज्ञात अर्थ का अवधारण होना प्रमा या यथार्थज्ञान तथा उसका अतिशय साधक प्रमाण कहलाता है, जो तीन प्रकार का होता

है।[५४] सूत्रकार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि अनधिगत (अज्ञात या जो पूर्व में न जाना गया हो) अर्थ का अवधारण अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमा है। यह आत्मा और बुद्धि दोनों को अथवा दोनों में से एक आत्मा को होने वाला यथार्थ ज्ञान है। प्रमा के साधकतम कारण, जिसके तत्काल अनन्तर प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है वह प्रमाण कहलाता है। स्मृति में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ, उक्त लक्षण में "अनधिगत" या "असन्निकृष्ट" पद का उपादान किया गया है। भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान की व्यावृत्ति के लिये, "अर्थ" या "वस्तु" पद का निवेश किया गया है तथा संशय ज्ञान के वारण के लिए, "परिच्छिति" या "अवधारण" पद दिया गया है।[५५] "सांख्य-कारिका" में ईश्वर कृष्ण ने प्रमाण लक्षण न देकर केवल तीन प्रकार के प्रमाणों का ही निर्देश किया है। "माठरवृत्ति" और "गौडपाद भाष्य" में भी प्रमा-प्रमाण-लक्षण का विवेचन नहीं हुआ है। किन्तु सांख्यतत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने प्रमा-प्रमाण का लक्षण इस प्रकार दिया है—"प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्" इस व्युत्पति के आधार पर प्रमाण शब्द करण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। करणार्थक होने से प्रमाण प्रमा का साधन कहा जाता है। और प्रमाण वह चित्तवृत्ति है, जिसका विषय असन्दिग्ध (निश्चित रूप से ज्ञात होने वाला) अविपरीत (अबाधित) एवं अनधिगत हो। ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न होने वाला उसका फलभूत पुरुषवर्ती बोध प्रमा है। "असंन्दिग्ध", "अबाधित" एवं "अनधिगत" विशेषणों से क्रमशः संशय ज्ञान, भ्रमात्मक ज्ञान एवं स्मृति ज्ञान का निवारण किया गया है। इसलिए इन सबके साधनों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता।[५६] सारांशतः सांख्य दर्शन में प्रमाण केवल बोध स्वरूप या ज्ञान रूप ही है और यह ज्ञान विषयाकार परिणाम स्वरूप होने के कारण एक मात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय इत्यादि का नहीं।

महर्षि पतञ्जलि ने पाँच[५७] प्रकार की वृत्तियों में से प्रथम वृत्ति को प्रमाण वृत्ति कहा है। यह प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है—१. प्रत्यक्ष २. अनुमान एवं ३. आगम।[५८] यहाँ भी प्रमाण विभाग का ही विवेचन हुआ है, लक्षण नहीं। भाष्याकार व्यास ने भी प्रमा व प्रमाण का कोई लक्षण नहीं दिया है किन्तु उनके प्रमाण-विशेष-विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि "पौरुषेय बोध ही प्रमा है" जैसा कि उनकी निम्न पंक्ति से विदित होता है

"फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः"[६०]

अर्थात् फल रहित पुरुष की चित्त-वृत्ति पदार्थ का ज्ञान कहलाती है। "तत्त्व-वैशारदी" में वाचस्पति मिश्र ने पौरुषेय व्यवहार के प्रवर्तक (कारण) अनधिगत तत्वविषयक ज्ञान को प्रमा तथा उसके करण को प्रमाण कहा है।[६१] वृत्तिकार भोज के अनुसार अविसंवादी ज्ञान ही प्रमाण है।[६२] निष्कर्षतः सांख्य दर्शन की भाँति इस मत में भी बुद्धि-निष्ठ ज्ञान प्रमाण और पुरुष निष्ठ ज्ञान प्रमा कहा जाता है।

वेदान्त मत

सामान्यतः प्रमा के करण को प्रमाण घोषित करते हुए, स्मृति को प्रमा न मानने वालों तथा प्रमा मानने वालों को ध्यान में रखकर वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रमा के दो लक्षण व्यक्त किये हैं। प्रथम स्मृति व्यावृत्त प्रमा का लक्षण इस प्रकार है—अनधिगत तथा अबाधित अर्थात् दूसरे प्रमाणों से अथवा उत्तर ज्ञान से मिथ्या सिद्ध न होने वाला वस्तु विषयक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है।[६३] स्मृति-विषय पूर्व अधिगत होता है, क्योंकि वह अनु-भव सापेक्ष होता है। अतः "अनधिगत" पद से स्मृति की व्यावृत्ति की गयी है। इसी प्रकार

"शुक्ती इव रजतम्" अर्थात् "शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है" रजत ही इस ज्ञान का विषय है। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा स्पर्श करने पर उसका उत्तरकाल में बाध हो जाता है, इसलिए इस मिथ्या ज्ञान का व्यवच्छेदन करने के लिए लक्षण में "अबाधित" पद का निवेश किया गया है। 'ज्ञानत्व" पद से, प्रमा का स्वरूप बोधन किया गया है। इसी पद से, इच्छा आदि की भी व्यावृत्ति की गयी है, क्योंकि इच्छा आदि, अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञान होने के कारण अनधिगत नहीं है। एवं इसी "ज्ञानत्व' पद से, चक्षुरादिकों में भी लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण किया गया है। क्योंकि चक्षुरादिकों में भी घट आदि स्फुरण के द्वारा घटादि विषयत्व माना जाता है किन्तु यहाँ पर ज्ञान को 'ज्ञप्ति' अर्थात् अनुभव रूप से लिया गया है, इस कारण उसका करण, जो अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञान है, उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।[६४] यथार्थ विषयिणी होने के नाते कुछ दार्शनिक स्मृति को भी यथार्थ ज्ञान मानते हैं। उत्तर ज्ञान से बाधित न होने के कारण ही स्मृति को यथार्थ कहा गया है। अतः प्रमा का द्वितीय लक्षण, परिभाषाकार ने इस प्रकार से दिया है—"अबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्" अर्थात् उत्तर ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है। इसी लक्षण को वे स्मृत्ति-साधारण के नाम से ज्ञापित करते हैं।[६५] अनेक में रहने वाले को साधारण कहते हैं। यह लक्षण समान रूप से अनुभव और स्मृति में घटित हो जाता है, इसी कारण इस लक्षण को स्मृत्ति-साधारण कहा गया है एवं प्रथम लक्षण को स्मृति व्यावृत्त। उदाहरणार्थ प्रथमतः हमें 'अयं घटः'—'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, जो किसी प्रमाण से अथवा उत्तर ज्ञान से बाधित न होने के कारण, अबाधित विषय ज्ञानत्व रूप अनुभव में यथार्थ ज्ञान का परिग्रह करवाता है। और उसके अनन्तर कुछ काल पश्चात् उस ज्ञान से, अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन संस्कारों से स्मृति का उदय होता है। यदि इस स्मृति के विषय घट का भी उत्तर काल में बाध न हो तो यह स्मृति प्रमा ही कहलायेगी। इसके विपरीत शुक्ति में रजत का ज्ञान अथवा रज्जु में सर्प का ज्ञान होने पर, प्रमाण द्वारा उसका विवेचन करने के लिए, उसके समीप जाकर, जब हम देखते हैं कि क्या वास्तव में यह रजत है अथवा सर्प है? तब प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा उनका बाध हो जाता है इसलिए इस ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जा सकता और इस बाधित अनुभव जन्य संस्कारों से उत्पन्न होने वाली स्मृति भी प्रमा नहीं कही जायेगी। सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली स्मृति को प्रमा सिद्ध करने के लिए ही यह द्वितीय लक्षण प्रयुक्त हुआ है। सारांश यह है कि अबाधित अर्थ-विषयक ज्ञान को ही वे प्रमा मानते हैं और इसके करण को प्रमाण।

बौद्ध मत

बौद्ध साहित्य में यद्यपि दिग्नाग से पूर्व भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, किन्तु उनमें प्रमाण-चर्चा गौण रूप से ही हुई है। कहीं-कहीं तो इन विचारों का सर्वथा अभाव ही पाया जाता है। दिङ्नाग ने सर्वप्रथम प्रमेय-द्वैविध्य द्वारा प्रमाण-द्वैविध्य को स्वीकार किया है। तत्पश्चात् उन्होंने प्रमाण का लक्षण इस प्रकार दिया है—"अज्ञात अर्थ का प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है।"[६६] धर्म कीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' में अविसंवादी ज्ञान को प्रथमतः प्रमाण कहा है और अर्थक्रियाकारिता को अविसंवाद।[६७] प्रमाण द्वारा जिस अर्थ का प्रदर्शन किया जाता है उसमें अर्थक्रियाकारित्व होना चाहिये अर्थात् उस पदार्थ को अर्थ-क्रिया करने में समर्थ होना चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि प्रमाण के द्वारा ज्ञात अर्थ अपनी अर्थ-

क्रिया कराये ही। किन्तु कोई व्यक्ति ज्ञान से, किसी पदार्थ को जानकार भी, उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है अथवा प्रवृत्त होने पर भी किसी प्रतिबन्ध के कारण अर्थ-क्रिया करने में समर्थ नहीं होता है, फिर भी यदि उसमें योग्यता रूप अविसंवाद पाया जाता है, तो वह ज्ञान प्रमाण ही कहलायगा।[६८] विकल्प रूप से धर्मकीर्ति ने आगे दिङ्नाग के लक्षण का अक्षरशः समर्थन किया है।[६९] इसकी व्याख्या करते हुए मनोरथनन्दी ने लिखा है कि अज्ञात वस्तु का प्रकाशन कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। यहाँ 'अर्थ' पद के द्वारा द्विचन्द्र आदि ज्ञान में प्रमाणता का व्यवच्छेद हो जाता है। और 'अज्ञात' शब्द के द्वारा, कल्पना-जन्य अवयवि आदि विषयक ज्ञान को विषय करने वाले ज्ञान में, प्रमाणता का निरास हो जाता है। अविसंवादी ज्ञान एवं अज्ञातार्थ-प्रकाशक ज्ञान को कोई भ्रम वश प्रमाण के पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं समझे इसीलिए वृत्तिकार ने उक्त व्याख्या के अनन्तर यह बात भी सूचित की है कि दोनों से एक ही परस्पर सापेक्ष प्रमाण लक्षण अवधारित किया गया है।[७०] धर्मोत्तर ने अपनी टीका में धर्मकीर्ति और मनोरथनन्दी का ही समर्थन किया है।[७१] मोक्षाकार गुप्त के अनुसार "अपूर्व पदार्थ को विषय करने वाला सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है।" 'सम्यक्' पद से संशय और विपर्यय ज्ञान तथा 'अपूर्व गोचरं' पद से गृहीतग्राही ज्ञान का निराकरण किया गया है।[७२]

"दिङ्नाग ने अन्य दार्शनिकों की भाँति प्रमाण और प्रमाणफल में कोई भेद नहीं माना है अपितु दोनों को एक ही ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'विषयाकार' को 'प्रमाण' एवं 'विषयाकार-अर्थ निश्चय' तथा 'स्वसंवेदन' को 'प्रमाणफल' कहा गया है।"[७३] धर्मकीर्ति ने भी इसी का समर्थन करते हुए कहा है कि ज्ञान प्रमाण का फल एवं अर्थ सारूप्य प्रमाण है।[७४] वास्तव में यह ठीक भी है। ज्ञान अर्थ की प्रतीति रूप होता है इसलिए वह प्रमाण का फल है और अर्थ की प्रतीति अर्थ सारूप्य (अर्थाकारता) के आधार पर ही होती है, इसलिए 'अर्थ सारूप्य' को प्रमाण के रूप में व्यक्त किया गया है। तत्त्व-संग्रहकार ने दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के विचारों को समन्वित करते हुए लिखा है—"सारूप्य और योग्यता प्रमाण एवं विषय की प्राप्ति और स्वसंविति प्रमाण फल है।"[७५] मोक्षाकर गुप्त ने, प्रमाण और प्रमाण फल को इस प्रकार से व्यक्त किया है—एक ही ज्ञान को प्रमाण तथा प्रमाण फल के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। जैसे, नील आदि पदार्थ से दो रूप वाला ज्ञान उत्पन्न होता है—'नीलाकार-ज्ञान' और 'नील बोध रूप ज्ञान'। यहाँ ज्ञान में जो नीलाकारता है उसे प्रमाण एवं नील-बोधरूपता को, प्रमाणफल कहा जाता है। एक ही ज्ञान में दो रूपों की व्यवस्था, व्यावृत्ति के द्वारा, की जाती है। नीलाकार ज्ञान में, अनीलाकार जैसे, पीताकार, श्वेताकार आदि ज्ञानों की व्यावृत्ति है, इसलिए वह नीलाकार है। इसी प्रकार अनील बोध के अपोह अर्थात् व्यावृत्ति होने से, वह नील बोध रूप भी है।[७६] सारांश यह है कि बौद्ध परम्परा में, विज्ञानवादी दार्शनिक बाह्य-अर्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, इसलिए ज्ञानगत योग्यता ही उनके मत में प्रमाण है। तथा स्वसंवेदन उसका फल है। एक ही ज्ञान की व्यापार सहित प्रतीति होने से, उसी में प्रमाण और फल ये दो पृथक् व्यवहार, व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक का भेद स्वीकार करके, कर लिये जाते हैं। सौत्रान्तिक मत में, बाह्य अर्थ की सत्ता स्वीकार की गयी है इसलिए ज्ञानगत ('अर्थाकारता' या 'सारूप्य' को, प्रमाण एवं 'विषयाधिगति' को प्रमाण फल माना गया है। सारूप्य और विषयाधिगति वास्तव में भिन्न धर्म नहीं है प्रत्युत दोनों एक ही ज्ञान के धर्म हैं।[७७]

जैन मत

जैन आगमों में, प्रमाण चर्चा अवश्य निहित है, किन्तु वहाँ प्रमाण भेद ज्ञान भेद की दृष्टि से ही किया गया है। 'भगवतीसूत्र',[७८] 'उत्तराध्ययनसूत्र',[७९] 'राजप्रश्नीयसूत्र'[८०] आदि में पञ्च ज्ञानों की विवेचना उपलब्ध होती है। 'भगवतीसूत्र'[८१] और 'स्थानांगसूत्र'[८२] में अन्यत्र 'अनुयोगद्वारसूत्र'[८३] की तरह गौतमप्रोक्त चार प्रमाणों का भी निर्देश किया गया है। 'स्थानांगसूत्र'[८४] और 'नन्दीसूत्र'[८५] में पञ्च ज्ञान–१ अभिनिबोध, २. श्रुत, ३. अवधि, ४. मनःपर्यय और ५ केवल का निरूपण करके उन्हें दो प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों में विभक्त किया गया है तथा उनके और भी अनेक उपभेद किये गये हैं। उमास्वाति[८६] ने भी उक्त आगमिक चर्चा का सङ्कलन अपने सूत्रों द्वारा किया है। आगमिक जैन ग्रन्थों में ज्ञान को यथार्थ अथवा मिथ्या मानने की कसौटी बड़ी विलक्षण थी। उस काल में मोक्षोपयोगी ज्ञान ही यथार्थ अथवा मिथ्या ज्ञान की परख के लिये आधार था। मोक्षानुपयोगी, मिथ्या दर्शन वाले ज्ञान, व्यवहार में यदि सत्य भी हो, तो उन्हें मिथ्या ही माना जाता था और मोक्षोपयोगी यथार्थ दर्शन वाले ज्ञान, व्यवहार में असत्य और अप्रामाणिक होने पर भी यथार्थ कहलाता था। किन्तु कालान्तर में यह व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकी और व्यावहारिक रूप से जिस ज्ञान द्वारा जो विषय अव्यभिचरित रूप से प्रतिभासित होता उसे ही यथार्थ ज्ञान अन्यथा मिथ्या ज्ञान कहा जाने लगा। इस दृष्टि से प्रमाण का स्पष्ट विवेचन समन्त- भद्र और सिद्धसेन दिवाकर के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। समन्तभद्र के अनुसार समग्र वस्तु को अखण्ड (युगपत्) रूप से जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण है।[८७] अन्यत्र उन्होंने 'स्व' और 'पर' के अवभासक ज्ञान को भी प्रमाण कहा है।[८८] अर्थात् जो अपने स्वरूप को जानता हुआ अन्य पदार्थ को भी जाने, वही प्रमाण है। इस लक्षण में 'बाधविवर्जितम्' पद और जोड़ कर सिद्धसेन दिवाकर ने प्रमाण लक्षण इस प्रकार दिया है—"बाधा विहीन स्वपराभासी ज्ञान ही प्रमाण है।"[८९] अकलङ्क ने समन्तभद्र के लक्षण को ही शब्दान्तर से स्वीकार किया है। उनके 'स्व' पद के स्थान में 'आत्मा' 'पर' पद के स्थान में 'अर्थ' एवं 'अवभासक' के स्थान में 'व्यवसायात्मक' पद प्रयुक्त करके उन्होंने आत्मार्थग्राहक, व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[९०] अन्यत्र उन्होने अनधिगत अर्थ-विषयक अविसंवादी ज्ञान को भी प्रमाण के रूप में अभिव्यक्त किया है।[९१] अर्थ के विशेषण 'अनधिगत' को उन्होंने 'अनिश्चित', 'अनिर्णीत' आदि पदों द्वारा भी निविष्ट किया है।[९२] विद्यानन्द के मतानुसार ज्ञान, चाहे अनाधिगत पदार्थ को जाने अथवा अधिगत को, इससे वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता अर्थात् यदि ज्ञान 'स्वार्थ-व्यवसायात्मक' है तो गृहीतग्राही और अगृहीतग्राही दोनों अवस्था में प्रमाण ही कहलायेगा।[९३] इसके अतिरिक्त उन्होंने सम्यग ज्ञान को भी प्रमाण कहा है।[९४] माणिक्यनन्दी के अनुसार 'स्व' एवं 'अपूर्व' (अनधिगत) अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है।[९५] अनन्तवीर्य ने लक्षण घटक सभी पदों की सार्थकता विशद रूप से सिद्ध की है।[९६] हेमचन्द्र के लक्षण में 'स्व', 'पर' और 'व्यवसायात्मक' आदि पदों का अभाव है। उन्होंने अर्थ के सम्यक् निर्णय को ही प्रमाण माना है।[९७] अर्थ का निर्णय स्व-निर्णय के अभाव में नहीं हो सकता। अतः अर्थ निर्णय का अविनाभावी स्व-निर्णय, स्वतः सिद्ध है, क्योंकि स्व-निर्णय होने पर ही अर्थ निर्णय हो सकता है। 'निश्चित', 'बाधविवर्जित' 'व्यवसायात्मक' आदि सभी विशेषण 'सम्यक्' पद से ही गृहीत हो जाते हैं। यही नहीं इस पद से संशयात्मक,

विपर्ययात्मक आदि ज्ञानों की भी व्यावृत्ति हो जाती है।[९८] इसीलिए धर्मभूषण ने विद्यानन्द के द्वितीय लक्षण की पुष्टि करते हुए 'सम्यक् ज्ञान' को ही प्रमाण कहा है।[९९] वादि देवसूरि ने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्वार्थ' पद के स्थान में समन्तभद्र-सिद्धसेन समर्थित 'पर' पद का प्रयोग कर परीक्षामुखकार का ही समर्थन किया है।[१००]

निष्कर्ष यह कि "प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्" अर्थात्–जिसके द्वारा प्रमीति हो वह प्रमाण है- इस साधन अर्थ में प्रायः सभी दार्शनिकों ने निर्विवाद रूप से प्रमाण को स्वीकार किया है। किन्तु प्रमा ज्ञान की विशेष विवेचना द्वारा ही उक्त अनेक लक्षण आविर्भूत हुए जान पड़ते हैं। वस्तुस्थिति को देखते हुए गङ्गेश-लक्षण उपयुक्त जान पड़ता है।

अनुमान की परिभाषा

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ—अनुमान के विकास, आवश्यकता, व्यापकता एवं महत्व पर भूमिका में प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहाँ अनुमान की परिभाषा पर विचार करना ही अभिप्रेत है। अनुमान शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धतु से निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि 'अनु' और 'मान' दो शब्दों के योग से अनुमान शब्द बना है। 'अनु' शब्द पश्चात् अर्थ का बोधक है और पश्चात् शब्द नियमतः प्रतियोगी साकाङ्क्ष है : इस पश्चात् अर्थ में, लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध और लिङ्ग ज्ञान ये दोनों ही प्रतियोगी के रूप में अनुमित होते हैं। 'मान' शब्द ज्ञान का परिचायक है। लिङ्ग और लिङ्गी का यह सम्बन्ध ही व्याप्ति या अविनाभाव आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है। अतः 'लिङ्ग लिङ्गी सम्बन्ध ज्ञान' से हेतु में रहने वाली साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अभिप्रेत है। 'लिङ्ग ज्ञान' से पक्षधर्मता ज्ञान गृहीत किया जाता है। इस दृष्टिकोण से 'अनु' शब्द से अर्थात् 'व्याप्ति ज्ञान' और 'पक्षधर्मता ज्ञान' इन दोनों के पश्चात् जो 'मान' अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहते हैं। साधारणतः दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। जैसे, हमें यह ज्ञात है कि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है' और दूसरे हम अपने नेत्रों से देख रहे हैं कि 'पर्वत पर अविच्छिन्नमूला धूम उठ रहा है', इन दोनों ज्ञात तथ्यों के आधार पर, हमें तत्काल यह बोध हो जाता है कि पर्वत पर अग्नि अवश्य है, इसी को अनुमान कहते हैं। इस ज्ञान में किसी के कहने-सुनने की अथवा पर्वत-शिखर पर जाकर अग्नि को प्रत्यक्ष देखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह अनुमान शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से भाव अर्थ में अथवा करण अर्थ में 'ल्युट' प्रत्यय लगाकर दो प्रकार से सिद्ध होता है। प्रथम अर्थ में 'अनुमीयत इति अनुमानम्' या 'अनुमितिः अनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह अर्थ अनुमिति प्रमा का बोधक है। द्वितीय अर्थ में 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्' इस रूप से व्युत्पत्ति करने पर 'अनुमान' पद, अनुमिति प्रमा के करण का वाचक है। अर्थात् अनुमिति प्रमा का साधन है। सामान्यतः सभी दार्शनिकों ने "अनुमितिकरणमनुमानम्" यह अनुमान लक्षण माना है। लेकिन अनुमिति प्रमा के स्वरूप तथा उसके करण को लेकर विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया गया है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार अनुमान का लक्षण विभिन्न प्रकार से सूचित किया है और अपने पक्ष की स्थापना के लिए अन्य मतों का खण्डन। इसी दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय तर्कशास्त्र में अनुमान के विभिन्न लक्षण उपलब्ध होते हैं। करण के विषय में भी इसी प्रकार पर्याप्त विप्रतिपत्तियाँ हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो अनुमान का लक्षण सर्वप्रथम वैदिक परम्परा में उपलब्ध होता है। बौद्ध और जैन परम्पराओं में लक्षण-विन्यास वैदिक परम्परा के पश्चात् ही आरम्भ हुआ जान पड़ता है। वैदिक परम्परा में अनुमान का लक्षण सूत्र ग्रन्थों-जैसे, 'वैशेषिकसूत्र', 'न्यायसूत्र' तथा 'सांख्यसूत्र' में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। 'मीमांसासूत्र', वेदान्तसूत्र' एवं 'योगसूत्र' में उपलब्ध नहीं होता है। 'वेदान्तसूत्र' के अतिरिक्त 'शांकरभाष्य' में भी अनुमान-लक्षण की चर्चा नहीं की गई है। शेष सभी भाष्यों जैसे, 'शाबरभाष्य', 'योगभाष्य', 'न्यायभाष्य', 'प्रशस्तपादभाष्य' एवं 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में अनुमान लक्षण पर यथेष्ट रूप से विचार विमर्श हुआ है। भाष्यों के बाद 'वार्तिक' 'टीका' तथा 'प्रकरण ग्रन्थों' में अनुमान लक्षण का सूत्रपात वैदिक परम्परा के सभी ग्रन्थों में मिलता है। वेदान्त मत में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'वेदान्त परिभाषा' लिखकर इस कमी को पूर्ण करने का प्रयास किया है। बौद्ध परम्परा में यद्यपि दिङ्नाग पूर्व ग्रन्थों में अनुमान लक्षण का स्पष्ट निर्देश किया गया है किन्तु अधिकतर बौद्ध ग्रन्थ अभी चीनी अथवा तिब्बती भाषा में ही हैं। अतः जब तक उनका अनुवाद संस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा में नहीं हो जाता तब तक उनके विकास का मूल्यांकन अत्यन्त दुष्कर है। वसुबन्धु की 'वादविधि' से उद्धरित अनुमान लक्षण अवश्य प्राप्त होता है किन्तु अनुमान लक्षण धर्म कीर्ति के ग्रन्थों में ही स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है दिङ्नाग का 'प्रमाण-समुच्चय' ग्रन्थ केवल प्रत्यक्ष खण्ड तक तक ही उपलब्ध है। बाद के सभी बौद्धाचार्यों ने धर्मकीर्ति का ही अनुसरण किया है। जैन परम्परा में यद्यपि 'अनुयोगद्वारसूत्र', 'भगवतीसूत्र एवं' 'दशवैकालिकनिर्युक्तिगाथा' में अनुमान का यत्रतत्र निरूपण किया गया है, किन्तु अनुमान लक्षण को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने वाले दार्शनिक, सिद्धसेन दिवाकर ही जान पड़ते हैं। इन्हीं का परिष्कार अकलङ्कग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उत्तरवर्ती सभी जैनाचार्यों ने सिद्धसेन दिवाकर और अकलङ्क का ही अनुगमन किया है। अनुमान के आधार हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान। किसी भी अनुमान लक्षण में इन दोनों ज्ञानों का होना अत्यावश्यक है। इनमें से किसी का भी अभाव हो जाने पर लक्षण, लक्षण नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए प्रत्येक दर्शनगत अनुमान लक्षण की परीक्षा करनी चाहिये।

वैशेषिक मत

सूत्रकार महर्षि कणाद के अनुसार—कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी एवं समवायी आदि लिङ्गों को देखकर, जो तत्सम्बन्धी लिङ्गी का ज्ञान होता है उसको लैङ्गिक अर्थात् अनुमान कहते हैं।[१०१] लिङ्ग का ज्ञान प्रसिद्धिपूर्वक होता है।[१०२] प्रसिद्धि को ही व्याप्ति कहते हैं। जिसके साथ जिसकी प्रसिद्धी होती है, वह उसका लिङ्ग कहलाता है और लिङ्ग ज्ञान, व्याप्तिज्ञानाधीन होने के कारण, अनुमिति प्रमा का साधक होता है। व्याप्ति ज्ञान के बिना, लिङ्ग ज्ञान, प्रमिति साधक नहीं हो सकता। प्रसिद्धि नियमित होना चाहिये, इसीलिये सूत्रकार ने पाँच प्रकार के हेतुओं द्वारा, इसकी नियमितता का उपन्यास किया है। जब तक एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ नियमित सम्बन्ध निर्धारित नहीं किया जाये, तब तक उसे व्याप्ति सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। कार्य-कारण-भाव द्वारा यह सम्बन्ध नियत किया जा सकता है। उनमें से एक को लिङ्ग बनाकर अन्य का अनुमान किया जा सकता है। जैसे, पिता-पुत्र में, कारण कार्य सम्बन्ध है। अतः पुत्र को देखकर उसके पितृ-

जन्यत्व का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि पिता-पुत्र में नियमित सम्बन्ध है अर्थात् पिता के बिना पुत्र कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता। नदी की बाढ़ को देखकर पूर्व से, वर्षा होने का अनुमान, कार्य-कारण अनुमान है अर्थात् यहाँ कार्य से कारण का अनुमान, किया गया है। इसी प्रकार संयोग से, भी यह सम्बन्ध निश्चित किया जा सकता है जैसे, शरीर को देखकर, त्वचा का अनुमान। विरोध द्वारा इस सम्बन्ध को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है---सर्प को, क्रोध में भरकर फुफकारते हुए झाड़ी की ओर देखते हुए जानकर, वहाँ नेवला होने का अनुमान करना। इसी प्रकार जल को उष्ण देखकर, उसमें संयोग सम्बन्ध से रहने वाली उष्णत्व की समवायी अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। प्रशस्तपाद ने सूत्रोक्त लिङ्गों को न गिनाकर, सामान्य रूप से अनुमान लक्षण प्रदर्शित किया है---"लिङ्ग-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही लैङ्गिक ज्ञान अर्थात् अनुमिति कहलाता है।[१०३] भाष्य में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ केवल चक्षु से उत्पन्न होने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान ही नहीं है अपितु सभी ज्ञान या उपलब्धि इससे अभिप्रेत है। अनुमान द्वारा, ज्ञात हेतु से अनुमान होता है, जिसे अनुमितानुमान कहा जाता है। इसी प्रकार स्मृति द्वारा ज्ञात हेतु से भी अनुमान होता है। इसीलिए किरणावलीकार[१०४] एवं कन्दलीकार[१०५] ने दृष्ट (प्रत्यक्ष) अनुमिति तथा स्मृति द्वारा ज्ञात हेतुओं से भी अनुमान होना स्वीकार किया है। शंकर मिश्र[१०६] ने स्मृति के स्थान में 'श्रुत' का प्रयोग किया है। इस तरह तीनों की विवेचना समान हैं। यहाँ पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि लिङ्ग-दर्शन से, लिङ्ग विषयक संस्कार भी उत्पन्न होता है और इस संस्कार से ही स्मृति उत्पन्न होती है, इसलिये अनुमिति लक्षण स्मृति में भी अतिव्याप्त हो जाता है।[१०७] इसका समाधान कन्दलीकार ने इस प्रकार किया है---"यह बुद्धि प्रकरण है, अतः प्रकरणानुसार 'लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानम्' के बाद ज्ञान पद का अध्याहार कर लेना स्वाभाविक है। फिर संस्कार ज्ञान रूप भी नहीं होता। अतः लक्षण में उक्त अतिव्याप्ति दोष नहीं दिया जा सकता[१०८]"। इस बात को व्यक्त करने के लिए उदयन,[१०९] श्रीधर[११०] तथा शंकर[१११] मिश्र तीनों ने दर्शन के आगे ज्ञान 'उपलब्धि' आदि पदों का प्रयोग किया है। भाष्य में आये हुए 'सञ्जायमानम्' पद में प्रयुक्त 'सम्' शब्द से सम्यक् अर्थ का बोध होता है। तदनुसार हेतु ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सम्यक् ज्ञान ही अनुमान है। अतः इस लक्षण से संशय, विपर्यय, एवं स्मृति इन तीनों ज्ञानों की अनुमान से व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि तीनों, ज्ञान होते हुए भी सम्यक् ज्ञान नहीं है। सभी सम्यक् ज्ञान स्वभावतः यथार्थ रूप से अपने-अपने विषयों का बोध कराते हैं, किन्तु संशय और विपर्यय ज्ञान में अर्थ यथार्थ रूप से उपस्थित नहीं किये जाते हैं। इसलिए उन्हें सम्यक् ज्ञान नहीं कहा जा सकता। स्मृति ज्ञान अनुभव पर आश्रित है अतः वह भी अपने विषयों की परिच्छेदिका नहीं हो सकती, क्योंकि पूर्व अनुभव ही स्मृति के विषयों का परिच्छेदक होता है[११२]। संपूर्ण 'सञ्जायमानम्' पद का तात्पर्य वर्तमान हेतु का यथार्थ रूप से ज्ञात रहना ही है[११३]। शंकर मिश्र ने प्रशस्तपाद का समर्थन करते हुए व्याप्ति-विशिष्ट पक्षधर्म रूप हेतु से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को लैङ्गिक कहा है[११४]। शिवादित्य के अनुसार जो अनुमिति प्रमा के अयोग से व्यच्छिन्न हो वही अनुमान है और वह व्याप्तिपक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु ज्ञान ही है।[११५]

न्याय-प्राचीन मत

'न्यायसूत्र' में 'तत्पूर्वकं------अनुमानम्'[११६] यह अनुमान लक्षण दिया गया है।

किन्तु यह परिभाषा स्पष्ट नहीं है, क्योंकि यह जिज्ञासा सर्वदा बनी रहती है कि किसके 'पूर्व' होने वाले को 'तत्पूर्वक' कहा जाय? इस स्पष्टता का निवारण करते हुए वात्सायन ने 'तत्' पद की व्याख्या इस प्रकार की है—'तत्' शब्द से लिङ्ग-लिङ्गि दर्शन एवं लिङ्ग-दर्शन दोनों अभिप्रेत हैं। लिङ्गी के साथ लिङ्ग का सम्बन्ध ग्रहण हो जाने के उपरान्त लिङ्ग-दर्शन से व्याप्ति का स्मरण होता है, व्याप्ति स्मरण के पश्चात् होने वाले लिङ्ग ज्ञान से परोक्ष अर्थ का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं[११७]। भाष्यकार की इस व्याख्या को और स्पष्ट करते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि महानस आदि में लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध दर्शन अर्थात् ज्ञान रूप प्रथम प्रत्यक्ष के अनन्तर पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि लिङ्ग का द्वितीय प्रत्यक्ष होने पर अनुमित्सा वाले पुरुष को संस्कारों के उद्बोध द्वारा—'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है" इस व्याप्ति का स्मरण होता है, और उस व्याप्ति स्मरण के अन्तर जो पर्वत पर 'अयं धूमः'—'यह धूम है' इस प्रकार का तृतीय लिङ्ग दर्शन अर्थात् धूम हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यही अनुमिति का करण होने से अनुमान कहलाता है, जिसका फल 'पर्वत बह्निमान् है' इस प्रकार की अनुमिति प्रमा है। इस तृतीय लिङ्ग-दर्शन को ही उद्योतकर ने पारिभाषिक रूप से परामर्श[११८] या 'लिङ्ग परामर्श'[११९] कहा है। उनके बाद सभी नैयायिकों ने इसे 'लिङ्ग परामर्श' के रूप में अथवा 'तृतीय लिङ्ग परामर्श' के रूप में व्यक्त किया है। वात्सायन ने इस तृतीय ज्ञान का विवेचन तो अवश्य किया है किन्तु 'परामर्श' के नाम से इसको अभिव्यक्त नहीं किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी इसी का समर्थन किया है। उनके अनुसार जिस सम्बन्ध (व्याप्ति) के स्मरण-पूर्वक अपने साध्य के अविनाभूत लिङ्ग का इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है, उसी का नाम परामर्श है।[१२०] न्याय सूत्रकार के 'तत्पूर्वक' शब्द में प्रयुक्त 'तत्' शब्द की व्याख्या भाष्य के अनुसार, उद्योतकर, ने इस प्रकार से की है—"ते द्वे प्रत्येक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति" अर्थात् जिसके पूर्वकाल में दोनों प्रत्यक्ष—लिङ्ग-लिङ्गि सम्बन्ध दर्शन और लिङ्ग दर्शन हो, उस प्रत्यक्ष को ही 'तत्पूर्वक' शब्द से प्रकट किया गया है[१२१]। न्याय भाष्य में उक्त अनुमान लक्षण के अतिरिक्त एक और भी परिभाषा दी गयी है—"ज्ञात लिङ्ग के द्वारा लिङ्गि रूप अर्थ का जो बाद में ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहते हैं[१२२]।" भाष्य घटक 'अर्थ' पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"उक्त व्याप्ति ज्ञान आदि से जिसका साधन किया जाये, वही प्रकृत में 'अर्थ' शब्द से अभिप्रेत है[१२३]।" तात्पर्यटीकाकार के इसी अभिप्राय को लेकर उत्तरवर्ती आचार्यों ने लिङ्गी रूप अर्थ के स्थान पर 'साध्य' पद का प्रयोग किया है। यह साध्यपद स्वरूपतः धर्मी नहीं है अपितु सिषाधयिषित धर्मविशिष्टधर्मी ही है।[१२४]

यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक कहा जाये तो उसकी संस्कार और निर्णय में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्षपूर्वता की अपेक्षा रखते हैं। इस आक्षेप का निराकरण करते हुए उद्योतकर ने कहा है कि यह सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमान एक यथार्थ ज्ञान है और संस्कार ज्ञान नहीं। इसी प्रकार निर्णय को भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह या तो ज्ञान का साधन है अथवा ज्ञान का फल, अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति दोष वारित हो जाता है।[१२५]

'न्यायसार' में भासर्वज्ञ ने अनुमान की परिभाषा इस प्रकार दी है—"सम्यक् अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा परोक्ष अनुभव के साधन को अनुमान कहते हैं"[१२६]। 'सम्यक्' पद निश्चय का बोधक है। इस विशेषण द्वारा संशय, भ्रम आदि ज्ञानों का निराकरण किया

गया है[१२७]। 'परोक्ष' पद के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण में लक्षण की अतिव्याप्ति का निरास किया गया है। किन्तु परोक्ष अनुभव का साधन तो शाब्द ज्ञान भी है इसलिए अविनाभाव पद के द्वारा उसका व्यवच्छेद किया गया है[१२८]। स्मृति की व्यावृत्ति के लिए 'अनुभव' पद का सन्निवेश किया गया है[१२९]। "न्यायमञ्जरीकार के अनुसार अनुमान-लक्षण इस प्रकार है—"पक्षसत्त्व आदि पाँच लक्षणों से युक्त हेतु के ज्ञान से व्याप्ति स्मरण के द्वारा उत्पन्न परोक्ष साध्य विषयक ज्ञान ही अनुमिति कहा जाता है तथा अनुमिति के करण को अनुमान।" न्यायभाष्यकार की दोनों परिभाषाओं का समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है—"व्याप्ति स्मरण सहित हेतु ज्ञान" (परामर्श) अथवा 'ज्ञायमान हेतु' ही अनुमान है। हेतु के पाँच लक्षण ये हैं—१. पक्षसत्त्व, २. सपक्षसत्त्व, ३. विपक्षासत्त्व, ४. अबाधित-विषयत्व एवं ५. असत्प्रतिपक्षत्व। हेतु के इन पाँच लक्षणों में से यदि किसी का भी अभाव हुआ तो हेतु, सद्धेतु न रहकर, हेत्वाभास हो जाता है।[१३०]

नव्य मत

उक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अनुमान -लक्षण अनुमिति-लक्षण पूर्वक ही हो सकता है, अतः चिन्तामणिकार ने भी अनुमितिपूर्वक ही अनुमान का लक्षण व्यक्त किया है—"व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहते हैं। अनुमान लिङ्ग विषयक परामर्श ही है, परामृश्यमान लिङ्ग नहीं[१३१]।" दीधितिकार ने अनेक प्रकार से लक्षण घटित पदों का समास विग्रह करके खंडन-मण्डन प्रणाली से इसी लक्षण का समर्थन किया है। किसी विद्वान का मत प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि 'व्याप्तिविशिष्ट' और 'पक्षधर्म' पदों में कर्मधारय समास माना जाये, तो 'व्याप्तिविशिष्टत्व' तथा 'पक्षधर्मत्व' इन दोनों के सामानाधिकरण्य-अवगाही ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति कहा जायगा। क्योंकि कर्मधारय समास में उत्तर भाव प्रत्यय का अर्थ दो पदार्थतावच्छेदकों का सामानाधिकरण्य होता है। ज्ञान पद से बाधित तथा अबाधित दोनों ज्ञान लिये गये हैं इसलिए भ्रमात्मक अनुमिति में भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी[१३२]। किन्तु यह विग्रह ठीक नहीं है, क्योंकि 'परामर्श' के द्वारा, नियम से व्याप्तिवैशिष्ट्दि का सामानाधिकरण गृहीत हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है और तद्विषयत्व रूप से हेतु मानने में गौरव भी है। भ्रम स्थल में इस प्रकार का सामानाधि-करण्य हो नहीं सकता, अतः यह पक्ष ठीक नहीं है[१३३]। यहाँ यह आशङ्का होती है कि प्रमाण लक्षण के प्रस्तुत होने से प्रमा ही लक्ष्य है, अतः पूर्वोक्त कर्मधारय समास द्वारा विग्रह करने पर भ्रम स्थल में अव्याप्ति प्रदर्शन युक्तिसंगत नहीं है। यदि सद्धेतु विषयक परामर्श से भी भ्रमात्मक अनुमिति होती है, तब चरम ज्ञान पद को ही प्रमात्मक ज्ञान का बोधक कहना चाहिये। अतः पूर्वोक्त कर्मधारय समास विग्रह में कोई दोष नहीं[१३४]। किन्तु यह शङ्का भी उचित नहीं जान पड़ती, क्योंकि अव्याप्य धूलि पटल आदि में व्याप्यत्वावगाही और अपक्षधर्म महानसत्व आदि में, पक्षधर्मत्व अवगाही परामर्श द्वारा जनित 'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमिति में अव्याप्ति हो जायगी। इसलिए यह विग्रह ठीक नहीं है[१३५]। यदि "व्याप्तिविशिष्टे पक्षधर्मता तस्याः ज्ञानं व्याप्तिविशिष्ट पक्ष-धर्मता ज्ञानं तज्जन्यं ज्ञानं अनुमितिः' अथवा "व्याप्तिविशिष्टे पक्षधर्मता ज्ञानं इति व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानं तज्जन्यं ज्ञानं अनुमितिः" यह सप्तमी तत्पुरुष समास विग्रह द्वारा अर्थ लिया जाये तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व युक्ति द्वारा इसका भी

निरास हो जाता है[१३६]। किसी अन्य आचार्य के अनुसार 'व्याप्तिविशिष्ट तथा 'पक्षधर्म' पदों में द्वन्द्व समास है। "व्याप्ति- विशिष्टश्च पक्षधर्मश्च व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मो तयोर्भाव: व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता तस्या ज्ञानम्" इत्यादि विग्रह के अनुसार इस पक्ष में 'व्याप्तिविशिष्टत्व' तथा 'पक्षधर्मत्व' उभय अवगाही ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति कहा गया है। यद्यपि यहाँ व्याप्तिविशिष्ट-पदार्थ तथा पक्षधर्म-पदार्थ दोनों एक ही हैं तथापि पदार्थता अवच्छेदक—'व्याप्तिविशिष्टत्व' और 'पक्षधर्मत्व' के भेद होने से यहाँ पर द्वन्द्व समास सिद्ध होता है, क्योंकि 'प्रमाण-प्रमेय' इत्यादि सूत्र में पदार्थ के अभेद होने पर भी पदार्थता-अवच्छेदक के भेद से द्वन्द्व समास देखा जाता है। कर्मधारय समास में, दो पदार्थों का अभेद बोध होता है और द्वन्द्व समास में, भेद तथा अभेद दोनों से उदासीन पदार्थ द्वय का बोध होता है। यही दोनों में अन्तर है। 'विशिष्ट' पद धर्म का बोधक है, इसलिए व्याप्ति वैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व की उपलब्धि हो जायगी। अतः 'व्याप्तिविशिष्टत्व' और 'पक्षधर्मत्व' उभय अवगाही ज्ञान जन्य ज्ञान को, अनुमिति कहा गया है[१३७]। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि "आलोको वह्निव्याप्यो धूमवान् पर्वत: इति" इस ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायेगी और इसका वारण करने के लिए यदि समानरूप से 'व्याप्तिविशिष्टत्व' तथा 'प्रक्षधर्मत्व' अवगाही ज्ञान को अनुमिति कहा जाय तो मीमांसक मत का प्रवेश हो जायगा[१३८]।" व्याप्तिविशिष्टं च तत्पक्षधर्मता-ज्ञानं च इति व्याप्ति- विशिष्ट पक्षधर्मता-ज्ञानं तज्जन्यं ज्ञानं अनुमिति:" इस ज्ञानान्त कर्मधारय समास विग्रह द्वारा दीधितिकार ने अपना सिद्धान्त मत प्रतिपादित किया है। यहाँ 'विशिष्ट' पद से व्याप्ति प्रकारक समझना चाहिये तथा व्याप्ति प्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान जन्य ज्ञान को अनुमिति। यद्यपि "ईंधन समानाधिकरण अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता अनवच्छेदक वह्नित्वावच्छिन्न समानाधिकरण ईंधनवान्" इत्यादि परामर्श से उत्पन्न होने वाली अनुमिति में अव्याप्ति हो सकती है, क्योंकि इस प्रकार की अखण्डव्याप्ति ही अप्रसिद्ध है तथापि तत्तद पदार्थों का परस्पर सम्बन्धावगाहित्व की विवक्षा करके अथवा निरूप्य-निरूपक भावापन्न विषयताशाली ज्ञान की विवक्षा करके इसका समाधान किया जा सकता है। 'व्याप्ति' पद से यहाँ व्यभिचार ज्ञान विरोधि-विषयत्व रूप से अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों का ग्रहण करना आवश्यक है अन्यथा एक के ग्रहण में एक की अव्याप्ति हो जायगी। ईंधन के अधिकरण में वह्नि का अभाव नहीं मिलेगा किन्तु अन्य किसी पदार्थ का अभाव ही प्राप्त होगा। उसके प्रतियोगी होंगे, घट-पट आदि अन्य पदार्थ तथा प्रतियोगिता के अवच्छेदक होंगे, 'घटत्व', 'पटत्व' आदि और अनवच्छेदक 'वह्नित्व' होगा, तद्वच्छिन्न अधिकरण पर्वत आदि में वृत्ति ईंधन तद्वान् पर्वत आदि उक्त परामर्श का तात्पर्य है।[१३९] उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने उक्त लक्षणों का ही अनुसरण किया है। केशव मिश्र ने 'लिङ्ग-परामर्श' को अनुमान कहा है।[१४०] 'तर्क-संग्रह' में भी "परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को ही अनुमिति कहा गया है और उसके करण को अनुमान।"[१४१]

मीमांसा-भाट्ट मत

यद्यपि 'मीमांसासूत्र' में अनुमान का कोई लक्षण नहीं दिया गया है फिर भी भाष्यकार शबर स्वामी ने स्पष्ट रूप से अनुमान का लक्षण इस प्रकार दिया है—"ज्ञात सम्बन्ध के (विदित व्याप्ति सम्बन्ध के) सम्बन्धी एक देश दर्शन से (लिङ्ग दर्शन से) एक देशान्तर

(अन्य एकदेश रूप साध्य) असन्निकृष्ट अर्थ (असम्बद्ध विषय) का ज्ञान ही अनुमान है।[१४२] भाष्यघटक 'ज्ञानसम्बन्धस्य' पद की व्याख्या करते हुए कुमारिल ने चार पक्ष उपस्थित किये हैं—"प्रथम पद को प्रमाता या एकदेशी के रूप में व्यक्त किया जा सकता है अथवा 'ज्ञातसम्बन्ध' से केवल सम्बन्ध को लिया जा सकता है और एकदेश से उसके दो अङ्ग अथवा लिङ्ग-लिङ्गी समुदाय का भी ग्रहण किया जा सकता है।[१४३] इन चारों की विवेचना करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि यदि प्रथम पक्ष को माना जाये, तो तृतीयार्थ बहुव्रीहि समास के द्वारा, यह अर्थ निष्पन्न होता है कि, जिस प्रमाता के द्वारा सम्बन्ध ज्ञात है, उसकी बुद्धि (ज्ञान) ही अनुमान है। अर्थात् जिस अनुमाता को पूर्व में धूम और अग्नि का सम्बन्ध ज्ञात हो, वही यदि कालान्तर में पर्वत पर धूम देखता है तो उसे तुरन्त व्याप्ति स्मरण द्वारा वहाँ अग्नि का अनुमान हो जाता है। द्वितीय पक्ष में, यदि षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि समास किया जाय, तो 'एकदेशी' (ज्ञात है सम्बन्ध जिस एकदेशी का) का बोध होता है। यहाँ 'एकदेशी' से सपक्ष और पक्ष दोनों अभिप्रेत हैं। तात्पर्य यह है कि महानस रूप सपक्ष में, धूम और अग्नि के नियत सम्बन्ध को जानकर, पक्ष रूप पर्वत पर, धूम दर्शन से जो अग्नि का अनुमान होता है, वही इस द्वितीय अर्थ से विवक्षित है। तृतीय पक्ष में, यदि कर्मधारय समास किया जाये, तो 'सम्बन्ध' का ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् 'ज्ञात सम्बन्ध का एकदेश' यह विग्रह होगा। अभिप्राय यह कि सम्बन्ध के एक सम्बन्धी धूम से, अपर सम्बन्धी अग्नि का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है। एवं अन्तिम पक्ष में, बहुव्रीहि समास द्वारा, लिङ्ग और लिङ्गि दोनों के समुदाय का बोध होता है। इस समुदाय के दो अंश हैं—लिङ्ग और लिङ्गी। समुदायी को एकदेश के रूप में भी व्यक्त किया गया है। अतः इस व्याख्या का अनुसरण करने पर अनुमान लक्षण इस प्रकार होगा—" 'एकदेश', अर्थात् 'समुदायी' उसके ज्ञान से '(लिङ्ग ज्ञान-धूम दर्शन से) दूसरे समुदायी (साध्य रूप अग्नि) का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है।"[१४४] 'भाष्य में प्रयुक्त 'असन्निकृष्ट' पद साध्य का विशेषण है। इस पद का उपादान इसलिये किया गया है कि जिस रूप से अनुमान करने की इच्छा है, उस रूप से अथवा उसके विपरीत रूपान्तर से, शीघ्र प्रमाण (प्रत्यक्षादि बलवत् प्रमाण) के द्वारा, परिच्छिन्न धर्मों की व्यावृत्ति की जा सके, क्योंकि जिस रूप से अनुमान करना है, उस रूप से वस्तु का प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वारा यदि ज्ञान हो जाय, तो अनुमान निष्फल होगा। तथा विपरीत रूप से ज्ञात होने पर भी अनुमान का अवकाश नहीं हो सकता। अतः इन दोनों के निराकरण के लिए 'असन्निकृष्ट' पद का ग्रहण किया गया है।[१४५] 'शास्त्रदीपिका' में पार्थसारथि मिश्र ने अनुमान लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—"जिस तरह के पदार्थ का, जिस प्रकार के पदार्थ के साथ, साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध अर्थात् संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय, कार्यकारणभाव अथवा अन्य कोई भी सम्बन्ध, दृष्टान्त रूप धर्मी (सपक्ष) में, जिस व्यक्ति को नियमतः ज्ञात है उस पदार्थ का, साध्यधर्मी (पक्ष) में, जिस व्यक्ति ने ज्ञान किया है, उसको ही उस प्रकार के सम्बन्ध के सम्बन्धी में, प्रबल प्रमाण द्वारा ताद्रूप्य (तद्वत्ता) और तद्विपर्यय (तद्वत्ताभाव) से अपरिच्छिन्न (रहित) वस्तु में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे, ऊर्ध्वगमनविशिष्ट धूम का, अग्नि के साथ, जिस पुरुष को नियत साहचर्य महानस आदि में ज्ञात है, उसी पुरुष को पर्वत में धूम दर्शन से जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है।"[१४६] 'मानमेयोदय-कार' के शब्दों में व्याप्य के दर्शन से असन्निकृष्ट अर्थ विषयक ज्ञान होना ही अनुमान है। जैसे, पर्वत में धूम दर्शन से अग्नि

(अन्य एकदेश रूप साध्य) असन्निकृष्ट अर्थ (असम्बद्ध विषय) का ज्ञान ही अनुमान है।[१४२] भाष्यघटक 'ज्ञातसम्बन्धस्य' पद की व्याख्या करते हुए कुमारिल ने चार पक्ष उपस्थित किये हैं—"प्रथम पद को प्रमाता या एकदेशी के रूप में व्यक्त किया जा सकता है अथवा 'ज्ञातसम्बन्ध' से केवल सम्बन्ध को लिया जा सकता है और एकदेश से उसके दो अङ्ग अथवा लिङ्ग-लिङ्गी समुदाय का भी ग्रहण किया जा सकता है।[१४३] इन चारों की विवेचना करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि यदि प्रथम पक्ष को माना जाये, तो तृतीयार्थ बहुव्रीहि समास के द्वारा, यह अर्थ निष्पन्न होता है कि, जिस प्रमाता के द्वारा सम्बन्ध ज्ञात है, उसकी बुद्धि (ज्ञान) ही अनुमान है। अर्थात् जिस अनुमाता को पूर्व में धूम और अग्नि का सम्बन्ध ज्ञात हो, वही यदि कालान्तर में पर्वत पर धूम देखता है तो उसे तुरन्त व्याप्ति स्मरण द्वारा वहाँ अग्नि का अनुमान हो जाता है। द्वितीय पक्ष में, यदि षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि समास किया जाय, तो 'एकदेशी' (ज्ञात है सम्बन्ध जिस एकदेशी का) का बोध होता है। यहाँ 'एकदेशी' से सपक्ष और पक्ष दोनों अभिप्रेत हैं। तात्पर्य यह है कि महानस रूप सपक्ष में, धूम और अग्नि के नियत सम्बन्ध को जानकर, पक्ष रूप पर्वत पर, धूम दर्शन से जो अग्नि का अनुमान होता है, वही इस द्वितीय अर्थ से विवक्षित है। तृतीय पक्ष में, यदि कर्मधारय समास किया जाये, तो 'सम्बन्ध' का ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् 'ज्ञात सम्बन्ध का एकदेश' यह विग्रह होगा। अभिप्राय यह कि सम्बन्ध के एक सम्बन्धी धूम से, अपर सम्बन्धी अग्नि का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है। एवं अन्तिम पक्ष में, बहुव्रीहि समास द्वारा, लिङ्ग और लिङ्गि दोनों के समुदाय का बोध होता है। इस समुदाय के दो अंश हैं—लिङ्ग और लिङ्गी। समुदायी को एकदेश के रूप में भी व्यक्त किया गया है। अतः इस व्याख्या का अनुसरण करने पर अनुमान लक्षण इस प्रकार होगा—"'एकदेश', अर्थात् 'समुदायी' उसके ज्ञान से '(लिङ्ग ज्ञान-धूम दर्शन से) दूसरे समुदायी (साध्य रूप अग्नि) का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है।"[१४४] 'भाष्य में प्रयुक्त 'असन्निकृष्ट' पद साध्य का विशेषण है। इस पद का उपादान इसलिये किया गया है कि जिस रूप से अनुमान करने की इच्छा है, उस रूप से अथवा उसके विपरीत रूपान्तर से, शीघ्र प्रमाण (प्रत्यक्षादि बलवत् प्रमाण) के द्वारा, परिच्छिन्न धर्मों की व्यावृत्ति की जा सके, क्योंकि जिस रूप से अनुमान करना है, उस रूप से वस्तु का प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वारा यदि ज्ञान हो जाय, तो अनुमान निष्फल होगा। तथा विपरीत रूप से ज्ञात होने पर भी अनुमान का अवकाश नहीं हो सकता। अतः इन दोनों के निराकरण के लिए 'असन्निकृष्ट' पद का ग्रहण किया गया है।[१४५] 'शास्त्रदीपिका' में पार्थसारथि मिश्र ने अनुमान लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—"जिस तरह के पदार्थ का, जिस प्रकार के पदार्थ के साथ, साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध अर्थात् संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय, कार्यकारणभाव अथवा अन्य कोई भी सम्बन्ध, दृष्टान्त रूप धर्मी (सपक्ष) में, जिस व्यक्ति को नियमतः ज्ञात है उस पदार्थ का, साध्यधर्मी (पक्ष) में, जिस व्यक्ति ने ज्ञान किया है, उसको ही उस प्रकार के सम्बन्ध के सम्बन्धी में, प्रबल प्रमाण द्वारा ताद्रूप्य (तद्वत्ता) और तद्विपर्यय (तद्वत्ताभाव) से अपरिच्छिन्न (रहित) वस्तु में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे, ऊर्ध्वगमनविशिष्ट धूम का, अग्नि के साथ, जिस पुरुष को नियत साहचर्य महानस आदि में ज्ञात है, उसी पुरुष को पर्वत में धूम दर्शन से जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है।"[१४६] 'मानमेयोदय-कार' के शब्दों में व्याप्य के दर्शन से असन्निकृष्ट अर्थ विषयक ज्ञान होना ही अनुमान है। जैसे, पर्वत में धूम दर्शन से अग्नि

का ज्ञान होता है।[१४७] सारांशतः पाकशाला आदि में व्याप्य धूम और व्यापक अग्नि के स्वाभाविक नियत सम्बन्ध तथा व्याप्य धूम को पर्वत पर देखकर अर्थात् व्याप्य के व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दो ज्ञानों द्वारा जो अनक्षगोचर (असन्निकृष्ट) अग्नि आदि व्यापक का जो ज्ञान होता है वही अनुमिति है।[१४८]

मीमांसा-प्रभाकर मत

भाष्यगत अनुमान लक्षण की व्याख्या करते हुए प्रभाकर ने लिखा है कि लक्षण में 'ज्ञातसम्बन्ध' जो विशेषण प्रयुक्त किया गया है, उसका अन्वय (सम्बन्ध) किसके साथ अपेक्षित है ? यदि 'एकदेशदर्शनात्' इस समस्त पद के पूर्व पद 'एकदेश' के साथ उसका अन्वय विवक्षित समझा जाय अर्थात् 'ज्ञातसम्बन्ध' ऐसा एकदेश' ऐसा अर्थ किया जाय तो यह विवक्षा उपयुक्त नहीं जान पड़ती। क्योंकि "पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन"—'पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है, उसके एकदेश के साथ नहीं" इस नियम के अनुसार किसी पदार्थ के एकदेश के अर्थ का बोध कराने के कारण जो पद स्वयं ही उपसर्जन (गौण) है, उसका अन्वय किसी अन्य पद के साथ नहीं हो सकता। जैसे, 'राजपुरुष' इस पद में प्रयुक्त एकदेशभूत राजा में जिस प्रकार 'सूरस्य', 'ऋद्धस्य' आदि विशेषणों का अन्वय नहीं हो सकता। वैसे ही एकदेश के साथ भी अन्वय नहीं किया जा सकता। 'सम्बन्धज्ञानविशिष्ट' पुरुष या 'समुदायार्थ' का प्रत्यक्ष उपादान न होने पर भी, केवल इसी कारण से अन्य पद का उनमें सम्बन्ध न कर, एकदेश के साथ सम्बन्ध करना उचित नहीं है। क्योंकि प्रकृत में विवक्षित सम्बन्ध विशेष का ज्ञान न होने के कारण ही इस प्रकार का व्यामोह होना स्वाभाविक है कि 'ज्ञातसम्बन्ध' इसका अन्वय किसके साथ किया जाये ? पुनः सम्बन्ध क्या है ? इस जिज्ञासा का शमन करते हुए उन्होंने कहा है कि अनुमान —" 'एकदेश दर्शन से अन्य एकदेश में होने वाला इन्द्रियों से असम्बद्ध ज्ञान है।" यदि एकदेश का दर्शन (अर्थात् अनुमान घटक हेतु और साध्य दोनों में से किसी एक अंश का ज्ञान) जो कि 'ज्ञातसम्बन्ध' है, ऐसा अर्थ लगाया जाय, तो ऐसी स्थिति में, एकदेश में ही सम्बन्ध करने पर पुनः उक्त 'उपसर्जनान्वय दोष' आरोपित हो जाता है। इसका समाधान यह है कि उपसर्जन होना अथवा न होना, इस पर ही अन्वय निर्भर नहीं है, कारण सम्बन्ध का अनुयोगी या प्रतियोगी वही हो सकता है, जो आकाङ्क्षित अर्थ की पूर्ति करने में समर्थ हो। प्रकृत स्थल में 'एकदेशदर्शनात्' कहने पर, 'किस एकदेश का', ऐसी आकाङ्क्षा होती है। क्योंकि दर्शन यानी ज्ञान नित्य सविषयक होने के नाते सर्वथा दृष्य प्रधान होता है और उस सम्बन्धी रूप दर्शन के कारण ही आकाङ्क्षित अर्थान्तर का ज्ञान होता है। इसलिए 'एकदेश' ही दर्शन अर्थात् ज्ञान के स्वरूप का निर्वाहक होने के कारण आर्थिक दृष्टि से प्रधान है। परिणामस्वरूप उसमें अन्वय होने में कोई बाधा नहीं है। इसीलिये किसी स्थल में पूर्व पद प्रधानता होती है तो किसी में उत्तर पद प्रधानता। इस प्रकार की व्यवस्था कहीं-कहीं उपलब्ध होती है, सर्वत्र नहीं। जैसे, 'अर्धपिपल्ली' में पूर्व पद प्राधान्य है तथा 'राजपुरुष' में उत्तर पद। तात्पर्य यह कि व्याकरण शास्त्र के द्वारा निर्धारित यह उपसर्जन संज्ञा—"प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् इति" (पा० सू० १।२।४३) केवल 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पा० सू० २।२।३०) इस नियम के अनुसार, समास में उसके पूर्व प्रयोग मात्र की सिद्धि के लिये है। क्योंकि अर्थों के परस्पर अन्वय रूप सम्बन्ध के लिये अर्थ विषयक आकाङ्क्षा ही प्रयोजक है, न कि उपसर्जनता अथवा अनुपसर्जनता। उदाहरणार्थ 'कस्य गुरुकुलम्' आदि स्थलों में, 'गुरु' पद, समास

घटक होने के कारण उपसर्जन होने पर भी, अपने निरूपक अर्थात् शिष्य के लिये वह नित्य साकाङ्क्ष है। अतः 'कस्य' इसके उत्तर में 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यादि अन्वय देखा जाता है। अभिप्राय, यह कि 'एकदेशदर्शनात्' यहाँ पर 'एकदेश' शब्द अवयव-अवयवीभाव सम्बन्ध में नित्य साकाङ्क्ष होने के कारण 'ज्ञातसम्बन्धस्य' का अन्वय उसमें किया जाना अभीष्ट है। जैसे, "ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशस्य दर्शनात्"—पूर्वदृष्ट व्याप्य (हेतु) का पक्ष में दर्शन होने पर ही व्यापक (साध्य) का बोध होता है। अतः उक्त भाष्य लक्षण में "ज्ञात- सम्बन्धस्य व्याप्यस्य (अर्थात् धूम आदि हेतु) एकदेशदर्शनात्" इस प्रकार से व्याप्य हेतु के साथ ही 'ज्ञातसम्बन्धस्य' इस विशेषण का अन्वय होना अनिवार्य है। 'ज्ञातः सम्बन्धो यस्य' इस बहुव्रीहि समास विग्रह में प्रयुक्त अन्य पदार्थ की बोधक षष्ठी (यस्य), व्याप्य धूम आदि का ही निर्देश करे, इसमें कोई विनिगमक प्रमाण नहीं है, क्योंकि साधारणतया सम्बन्धी मात्र बोधक प्रातिपदिक से षष्ठी होती है। यह सत्य है कि सम्बन्धी निर्दिष्ट होने पर, प्रातिपदिक से सम्बन्ध प्रतिपादक षष्ठी भी होती है, किन्तु सम्बन्ध के अनुयोगी स्वरूप अव्याप्य यानी व्यापक वस्तुओं में सम्बन्ध के प्रतियोगी स्वरूप व्याप्य वस्तु की विवक्षा में ही (व्याप्य वस्तु के सम्बन्ध की) षष्ठी होती है। इसका निरूपण 'तत्र तत्र' किया जायगा। जैसे, लोक व्यवहार में 'मम अयम्'—'यह मेरा' इस षष्ठी से 'अयम्' पदार्थ को व्याप्य (सीमित) किया जाता है, अथवा 'अयं पुनरस्यापीति' इत्यादि रूप से ग्रहण होता है, किन्तु वहाँ उस व्यक्ति की अर्थात् अनुयोगी की व्यापकता की अपेक्षा में 'मम' इस षष्ठी का प्रयोग नहीं होता।[१४९] प्रकरणपञ्चिकाकार के अनुसार अवगत सम्बन्ध नियम के द्वारा एकदेश के दर्शन से अन्य एकदेश रूप इन्द्रियासम्बद्ध अर्थ में होने वाला अबाधित ज्ञान ही अनुमान है।[१५०] श्लोक घटक पदों की व्याख्या करते हुए टिप्पण- कार सुब्रह्मण्य शास्त्री ने लिखा है कि लक्षण में प्रयुक्त 'एकदेश' और 'एकदेशान्तरे' इन दोनों पदों से आश्रित हेतु और साध्य का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि दोनों से एक आश्रय का आक्षेप (बोध) होता है। अतः समान अधिकरण में आश्रित रहने के कारण दोनों का गम्य-गमक-भाव होता है। 'अन्तर' शब्द भी इसी अर्थ का साधक है। 'असन्निकृष्ट' पद का प्रयोग स्मरणात्मक ज्ञान का व्यवच्छेदन करने के लिये किया गया है। (प्रभाकर के उक्त अभिप्राय की 'ऋजु-विमला' में स्पष्टतः पुष्टि की गयी है—बृ० एवं ऋ० वि० पृ० ८०) तथा 'प्रकरणपञ्चिका' में भी यही आशय निहित जान पड़ता है। किन्तु 'भाष्य- परिशिष्ट' में शालिकनाथ ने इस पद का अर्थ 'जिज्ञासितपरक' ही गृहीत किया है। 'सम्बन्ध' पद से अनौपाधिक सम्बन्ध अभिप्रेत है अन्यथा सम्बन्ध मात्र को स्वीकार करने पर बौद्ध अभिमत तादात्म्य आदि सम्बन्ध भी अधिगम होने लगेंगे। इसलिए इस अति- व्याप्ति दोष का निरास करने के लिये सम्बन्ध पद के साथ-साथ 'नियम' पद का भी उपादान किया गया है। अर्थापत्ति की व्यावृत्ति के लिये लक्षण में प्रयुक्त 'दर्शन' पद से निश्चय अभिप्रेत है तदनुसार सम्पूर्ण लक्षण को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है"—"समान अधिकरण में आश्रित रहने वाले एकदेशों (हेतु और साध्य) के अधिगत सम्बन्ध नियम (महानस आदि अधिकरण में आश्रित रहने वाले हेतु-धूम और साध्य-अग्नि में अवधारित किया हुआ व्याप्ति सम्बन्ध) द्वारा एकदेश दर्शन (पर्वत-शिखर पर दिखाई देने वाले हेतु-धूम का ज्ञान) से अन्य एकदेश (साध्य- अग्नि) रूप असन्निकृष्ट अर्थ में जो (अबाधित) ज्ञान होता है, वही अनुमान है।"[१५१]

सांख्य मत

महर्षि कपिल के अनुसार प्रतिबन्ध दर्शन (लिङ्गज्ञान) से, प्रतिवद्ध का ज्ञान होना, अनुमान है।[१५२] सूत्रकार की व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि 'प्रतिबन्ध' व्याप्ति का ही अपर नाम है व्याप्ति ज्ञान से होने वाला व्यापक (वृत्तिरूप प्रतिबद्ध या साध्य) का ज्ञान अनुमान है और पौरुषेय बोध अनुमिति।[१५३] ईश्वरकृष्ण के अनुसार "लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्" ही अनुमान है।[१५४] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य माठर ने लिखा है कि अनुमान लिङ्गलिङ्गिपूर्वक अर्थात् हेतु तथा साध्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। इसमें कहीं लिङ्ग द्वारा लिङ्गी का अनुमान होता है और कहीं लिङ्गी द्वारा लिङ्ग का। जैसे, त्रिदण्ड आदि को देखकर सन्यासी का अनुमान, लिङ्ग द्वारा लिङ्गी का अनुमान है। एवं सन्यासी को देखकर (समीप में पड़े हुए त्रिदण्ड के लिये यह अनुमान करना कि) यह सन्यासी का ही त्रिदण्ड है—लिङ्गिपूर्वक लिङ्ग का अनुमान है।[१५५] गौडपादभाष्य में भी यही बात कही गयी है।[१५६] वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'व्याप्य-व्यापक-भाव अर्थात् हेतु और साध्य के व्याप्ति ज्ञान एवं पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनुमान कहलाता है।[१५७] लिङ्ग को व्याप्य और लिङ्गी को व्यापक कहा जाता है।[१५८]

योग मत

'योगसूत्र' में अनुमान का कोई लक्षण उपलब्ध नहीं होता किन्तु भाष्यकार ने अनुमान का लक्षण स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—"अनुमान करने योग्य वस्तु का, समान जातियों से युक्त करने वाला तथा भिन्न जातियों से पृथक् करने वाला जो सम्बन्ध है, तद्विषयक सामान्य रूप से निश्चय करने वाली प्रधान वृत्ति को अनुमान कहते हैं। जैसे, चन्द्रमा, तारागण आदि गतिशील हैं, देशान्तर की प्रोप्ति होने से, चैत्र पुरुष के समान तथा देशान्तर प्राप्ति वाला न होने के कारण विन्ध्याचल पर्वत गतिमान् नहीं है।[१५९] तात्पर्य यह कि जो-जो देशान्तर प्राप्ति वाले होते हैं, वे-वे गतिशील भी होते हैं, जैसे चैत्र पुरुष। इस अन्वय व्याप्ति के आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान में चन्द्रमा, तारागण आदि को देखकर उनकी गतिशीलता का अनुमान किया जाता है। क्योंकि बिना चले, चैत्र एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं देखा जाता। इसी प्रकार जो-जो गतिशील नहीं है, वे-वे देशान्तर प्राप्ति वाले भी नहीं होते, जैसे, विन्ध्याचल पर्वत। इस व्यातिरेक व्याप्ति अवलम्बन पर विन्ध्याचल पर्वत को एक ही स्थान पर अचल व स्थिर देखकर उसके गतिशील न होने का अनुमान किया जाता है। वृत्तिकार के मत में "लिङ्ग द्वारा लिङ्गी का सम्बन्ध ग्रहण करके जो सामान्य रूप से निश्चय होता है वही अनुमान है।"[१६०] वास्तव में देखा जाय तो न्याय दर्शन में, जिस 'पर्वतो- वह्निमान्' इत्याकारक व्यवसाय रूप ज्ञान को अनुमिति प्रमा माना गया है, उसे ही योग और सांख्य दर्शन में बुद्धि वृत्ति रूप अनुमान प्रमाण कहा जाता है तथा जिसको, नैयायिक 'अहं वह्नि अनुमिनोमि' इत्याकारक अनुमिति ज्ञान को विषय करने वाला अनुव्यवसाय कहते हैं, उसी को यहाँ पौरुषेय-बोध रूप अनुमिति प्रमा कहा गया है।

वेदान्त मत

"अनुमिति करणम् अनुमानम्"[१६१] यह अनुमान सामान्य लक्षण करने के उपरांत

अनुमान का विशेष लक्षण वेदान्तपरिभाषाकार ने इस प्रकार से दिया है—"व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है।[१६२] अनुमिति मूलक यथार्थ ज्ञान, व्याप्तिज्ञानत्व रूप होता है, अतः अनुव्यवसाय, स्मृति एवं शब्द ज्ञान आदि के लक्षणों में इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती।[१६३] इस परिभाषा को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि ग्रन्थकार ने 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' पद का ही निवेश क्यों किया, 'व्याप्ति विषयत्वेन' क्यों नहीं ? 'अयं घटः' इस घट ज्ञान में घटत्व धर्म प्रकार है, इसलिये इस घट ज्ञान को घटत्व-प्रकारक-ज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार 'यह व्याप्ति है' इस ज्ञान में व्याप्तित्व धर्म प्रकार है, अतः इस व्याप्ति ज्ञान को व्याप्तित्व-प्रकारक-ज्ञान कहा जायगा। व्याप्तिज्ञानत्व का निष्कृष्ट लक्षण होगा—'व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्व'। शिखामणिकार ने भी कहा है—'व्याप्तिज्ञानत्वेनेति व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेनेत्यर्थः'।[१६४] जैसे, 'पर्वतो-वह्निमान् धूमात्' में धूम को 'वह्निव्याप्य' कहा जाता है, क्योंकि धूम में वह्नि की व्याप्ति रहती है। इस व्याप्ति प्रकारक ज्ञान में व्याप्ति प्रकार (विशेषण) है। इसी व्याप्तिप्रकारक-ज्ञानत्व धर्म से युक्त व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही अनुमिति कहा जाता है। अन्यथा 'अयं व्याप्तिः'—'यह व्याप्ति है' इस व्याप्ति विषयक ज्ञान से भी 'पर्वत वह्निमान है' इत्याकारक अनुमिति होने लगेगी। किन्तु ऐसी अनुमिति कदापि नहीं हो सकती। अतः 'व्याप्तिज्ञानत्व' पद से व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्व अर्थ विवक्षित है।[१६५] यदि 'व्याप्ति-ज्ञानत्वेन' पद न देकर केवल 'व्याप्तिज्ञानजन्या अनुमितिः' इतना ही लक्षण किया जाता, तो यह लक्षण दूषित हो जाता, क्योंकि 'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमिति में, 'धूम वह्निव्याप्य है' इत्याकारक व्याप्तिप्रकारक ज्ञान, अनुमिति के प्रति जिस प्रकार कारण है, इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान का अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दबोध एवं ध्वंस में भी कारण हो सकता है, क्योंकि ये सब भी व्याप्तिज्ञान द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। अतः इन सभी में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। किसी भी ज्ञान में उसका विषयकारण होता है, यह नियम है। 'ज्ञानं प्रति विषयस्य कारणत्वम्' इस नियम के अनुसार, व्याप्तिज्ञान, अपने अनुव्यवसाय का 'विषयत्व' धर्म से कारण होता है। इन्द्रियों से होने वाले प्रथम ज्ञान को व्यवसाय कहा जाता है जैसे, 'यह घट है' इत्याकारक ज्ञान व्यवसायात्मक है और उसके पश्चात् होने वाले तद्विषयक मानसज्ञान जैसे, 'मैं घट को जानता हूं' इत्याकारक ज्ञान अनुव्यवसायात्मक कहलाता है। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान, अपनी स्मृति का 'समान विषयक अनुभवत्व' धर्म से, अपने वाक्यार्थज्ञान (शाब्दबोध) का 'पदार्थज्ञानत्व' धर्म से एवं 'प्रतियोगित्व' धर्म से अपने ध्वंस का कारण है। यद्यपि यह सत्य है कि व्याप्ति का अनुव्यवसाय, उसकी स्मृति उसका शाब्द ज्ञान एवं उसका ध्वंस, व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होते हैं तथापि इनमें जो जन्यत्व है उस जन्यत्व से निरूपित अर्थात् उस जन्यत्व से ज्ञात होने वाले व्याप्ति ज्ञान की जो कारणता है, उनका अवच्छेदक धर्म व्याप्तिज्ञाननिष्ठ 'विषयकत्व', 'समान विषयक अनुभवत्व', 'पदार्थज्ञानत्व', 'प्रतियोगित्व' आदि धर्म ही होते हैं, 'ज्ञानत्व' धर्म नहीं। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होने पर भी उसके अनुव्यवसाय में 'विषयत्व', स्मृति में 'समान विषयक 'अनुभवत्व,' वाक्यार्थज्ञान में 'पदार्थज्ञानत्व', ध्वंस में 'प्रतियोगित्व 'आदि धर्म ही कारणता के अवच्छेदक हैं, न कि व्याप्तिज्ञानत्व कारणता अवच्छेदक धर्म। क्योंकि उनके प्रति व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से जनकता नहीं है, अतः अनुमिति लक्षण व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से घटित होने के कारण उसकी अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' पद का लक्षण में सन्निवेश किया गया है, ताकि उक्त ज्ञानों में लक्षण अतिव्याप्त न हो। जैसे,

'यह दण्ड है' इस ज्ञान में 'दण्ड' इस ज्ञान का विषय है और 'विषयत्वेन' उस ज्ञान का जनक है, किन्तु 'ज्ञानत्वेन' उसका जनक नहीं। इसी प्रकार दण्ड पदार्थ ज्वलन क्रिया में ईंधनत्व (काष्टत्व) धर्म से यद्यपि कारण है तथापि दण्ड ज्ञान कारण 'दण्डत्व' रूप धर्म ही होता है। इस स्थल में दण्ड की कारणता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व होगा, न कि ईंधनत्व आदि धर्म। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान में भी, जो अनुमिति कारणता है वह भी कारणताअवच्छेदक-धर्म' 'व्याप्तिज्ञानत्व धर्म' से ही है, न कि विषयत्व आदि धर्म से।'[166] 'व्याप्तिपद' से यहाँ व्याभिचार-ज्ञान विरोधी ज्ञान विषयत्व रूप से ही विवक्षित है, न कि ग्रंथ कृत' 'अशेष साधना०' इत्यादि व्याप्ति। अन्यथा अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव घटित व्याप्तियों से जहाँ अनुमिति होती है, उसमें लक्षण की अव्याप्ति होगी।[167]

बौद्ध मत

दिङ्नाग ने प्रथमतः अनुमान के दो भेद—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान करके अनुमान-लक्षण व्यक्त किया है—"ज्ञात अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा नान्तरीयक अर्थ का दर्शन ही अनुमान है।"[168] एक वस्तु का अपर वस्तु के अभाव में कभी भी न होना 'नान्तरीयक' कहलाता है। जो वस्तु इस नान्तरीयक अर्थात् अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, उसे नान्तरीयक अर्थ कहते हैं, जैसे, सूर्योदय होने से, मैदानों में, सर्वत्र प्रकाश हो जाता है और न होने पर नहीं। जिस व्यक्ति को दो वस्तुओं का अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात है, उसे ही नान्तरीयक एक वस्तु के दर्शन द्वारा अपर वस्तु का अनुमान होता है। यहाँ 'नान्तरीयक' विशेषण है और 'अर्थ' विशेष्य। इसलिए नान्तरीयकार्थ में कर्मधारय समास है। नान्तरीयक हेतु त्रिरूपता सम्पन्न होता है। लिङ्ग का अनुमेय में होना (पक्ष में रहना), सपक्ष में निश्चित सत्त्व एवं विपक्ष में निश्चित असत्त्व ही त्रिरूपता है।[169] इस त्रिरूप लिङ्ग के द्वारा ही साध्य रूप अर्थ का ज्ञान होता है।' न्याय प्रवेशपञ्जिका' में भी इसी बात को शब्दान्तर से विवेचित किया गया है।[170] धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' में अनुमान का लक्षण इस प्रकार से दिया है—"किसी सम्बन्धी के धर्म से, धर्मी के विषय में, जो ज्ञान परोक्ष रूप से उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहा जाता है।"[171] मनीरथ-नन्दी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि अन्वय-व्यतिरेक लिङ्ग द्वारा, उसके आश्रय में जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अनुमान कहा जाता है, जो त्रिरूप लिङ्ग द्वारा उत्पन्न होता है। अनुमान द्वारा परोक्ष अर्थ की एकान्तरिक रूप से सिद्धि की जाती है।[172] 'न्यायबिन्दु' में इस प्रकार का कोई लक्षण नहीं दिया गया है। इस ग्रन्थ में अनुमान के दो भेद ज्ञापित कर, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण दिये गये हैं।[173] शान्तरक्षित,[174] धर्मोत्तर[175] एवं मोक्षाकर[176] गुप्त ने भी इसी परिपाटी का अनुसरण किया है।

जैन मत

उपलब्ध जैन-न्याय ग्रन्थों में, अनुमान का स्पष्ट लक्षण 'न्यायावतार' में ही प्रसक्त होता है। इसके अनुसार, साध्य के अभाव में न होने वाले—अविनाभावीय लिङ्ग द्वारा, साध्य का जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है।[177] इसी लक्षण की पुष्टि करते हुए, अनुमान लक्षण, प्रमाण और फल की व्यवस्था प्रदर्शित करते हुए अकलङ्क ने लिखा है कि साध्य-अविनाभूत लिङ्ग के द्वारा जो साध्य का ज्ञान उत्पन्न होता

है उसे अभिनिबोध या अनुमान एवं हान आदि ज्ञान को उसका फल कहते हैं।[१७८] अन्यत्र उन्होंने साधन द्वारा साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहा है।[१७९] उत्तरवर्ती जैन आचार्यों जैसे, विद्यानन्द,[१८०] माणिक्यनन्दी,[१८१] हेमचन्द्र,[१८२] धर्मभूषण,[१८३] यशोविजय[१८४] आदि ने भी अकलङ्क के उक्त द्वितीय लक्षण को अक्षरशः मान्य किया है। साधन-साध्य के स्थान पर लिङ्ग लिङ्गी पदों को आसीन करते हुए शान्ताचार्य ने भी यही बात कही है।[१८५] वादि देवसूरि ने धर्मकीर्ति की 'न्यायबिन्दु' निष्ठ पद्धति का अनुकरण कर, अनुमान के प्रथमतः दो भेद—स्वार्थ और परार्थ ज्ञापित करते हुए, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण दिये हैं।[१८६]

इस प्रकार यदि अनुमान प्रमाण के इन समस्त लक्षणों पर विचार किया जाय तो अनुमिति का असाधारण कारण ही अनुमान कहलायेगा। किसी न किसी रूप में सभी दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है और इसी की व्याख्या उन्होंने अपने-अपने मतों के अनुसार की है।

अनुमिति करण—अनुमिति करण को भी अनुमान लक्षणों की पृष्ठभूमि में समझ लेना आवश्यक है। अनुमिति के करण के विषय में मुख्य रूप से चार मत पाये जाते हैं—(१) लिङ्ग या लिङ्गज्ञान (२) ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यमानलिङ्ग (३) व्याप्ति-ज्ञान और (४) लिङ्ग परामर्श।

लिङ्ग या लिङ्गज्ञान—कुछ प्राचीन विद्वानों ने अनुमिति के प्रति लिङ्ग अथवा लिङ्गज्ञान को ही करण माना है। किन्तु इस मत का खण्डन करते हुए जैन दार्शनिक धर्मभूषण ने लिखा है कि केवल लिङ्ग को ही यदि अनुमिति करण माना जाय तो सुप्त, मूर्छित अथवा अन्ध पुरुष आदि, जिन्होंने लिङ्ग धूम को नहीं देखा है, उन्हें भी साध्य 'अग्नि' का ज्ञान हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिये केवल लिङ्ग से अनुमिति ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उसे अनुमिति का साधकतम कारण भी नहीं माना जा सकता।[१८७] शिखामणिकार ने भी इस मत की आलोचना करते हुए कहा है कि अयोग्यलिङ्गक अनुमिति में व्यभिचार होने के कारण यह मत युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, कारण लिङ्ग जिस स्थल में, प्रत्यक्षगम्य, नहीं होता, वहाँ परामर्श की व्यापारता सम्भव नहीं है अर्थात् व्यापार के न होने से लिङ्ग में करणता नहीं मानी जा सकती।[१८८] क्योंकि व्यापारयुक्त असाधारण कारण को ही करण कहा गया है। मणिप्रभाकार[१८९] ने भी उदाहरण के माध्यम से इसी बात की विशद रूप से पुष्टि की है। दूसरी बात यह भी है कि धूलि-पटल में धूम का भ्रम होने से 'पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहाँ पर लिङ्ग के न होते हुए भी अनुमिति होती है अतः केवल लिङ्ग को अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार मात्र लिङ्ग ज्ञान को भी अनुमिति-करण नहीं कहा जा सकता, कारण जिस व्यक्ति ने पहले कभी पाकशाला आदि में हेतु और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण नहीं किया है अथवा जिसे उक्त सम्बन्ध गृहीत करने के उपराँत भी पर्वत पर धूम को देखकर अर्थात् 'पर्वत पर धूम है' इत्याकारक लिङ्ग ज्ञान होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हुआ हो तो उसे 'पर्वत अग्निवाला है' इत्याकारक अनुमिति नहीं हो सकती। इसलिए लिङ्ग ज्ञान को भी अनुमिति का करण स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ज्ञात-ज्ञायमान या परामृश्यमान लिङ्ग—न्यायभाष्यकार की अनुमान की उक्त दूसरी परिभाषा से स्पष्ट पता चलता है कि अनुमान के सम्बन्ध में उन्हें 'ज्ञातलिङ्ग' ही

अनुमिति का करण इष्ट है।[१९०] इसी सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए उद्योतकर ने इसे पूर्वपक्ष में 'अनुगृह्यमानलिङ्ग'[१९१] तथा उदयन ने 'परामृश्यमानलिङ्ग'[१९२] के रूप में व्यक्त किया है। बौद्ध[१९३] तथा जैन[१९४] दार्शनिकों की अनुमान परिभाषा से ज्ञात होता है कि अनुमिति-करण के रूप में उन्हें ज्ञातलिङ्ग ही अभिप्रेत है। इस मत के अनुसार विशिष्ट वस्तु में जहाँ कारणता का निश्चय हुआ करता है वहाँ उस निश्चय के आधार पर विशेषण में कारणता का निश्चय हो जाता है, क्योंकि कारणता-अवच्छेदक में निहित जितने भी पदार्थ होते हैं, उन सबको ही कारण माना गया है। इसी दृष्टि से जब लिङ्ग विषयक विशिष्टज्ञान, अनुमिति के प्रति कारण होता है, तब उसके आधार पर उससे विशेषणीभूत जो लिङ्ग है, उसमें भी कारणता का ज्ञान हो जाना अनुभवसिद्ध है। इसलिये 'परामृश्यमानलिङ्ग' अथवा 'ज्ञायमानलिङ्ग' में कारणता का निश्चय हो जाता है। इसलिये लिङ्गपरामर्श में कारणता स्वीकार करने मात्र से 'परामृश्यमानलिङ्ग' में भी कारणता का निश्चय हो जाता है। फिर लिङ्ग परामर्श को करण मानने वाले भी केवल परामर्श को ही करण नहीं मानते अपितु लिङ्गपरामर्श को ही करण मानते हैं और लिङ्गपरामर्शकारणतावादी पक्ष में एक ही पक्ष को सिद्ध करनेवाली ऐसी कोई विनिगमनात्मक युक्ति भी उपलब्ध नहीं होती, जिसके आधार पर लिङ्गपरामर्श को ही अनुमिति का कारण माना जाय।[१९५] 'परामृश्यमानलिङ्ग' का तात्पर्य उस लिङ्ग से है जो कभी परामर्श का विषय बन चुका है। इसी प्रकार साध्य के साथ जिस लिङ्ग का अविनाभाव निश्चय हो चुका है, उसे ज्ञायमान या ज्ञात लिङ्ग कहा जाता है। अनुमान मात्र के लिये लिङ्ग का सिद्ध अर्थात् ज्ञात अवस्था में रहना अत्यावश्यक है, क्योंकि अनिश्चित (अज्ञात) साधन, केवल अपनी योग्यता अथवा स्वरूप से साध्य का ज्ञान कराने की क्षमता नहीं रखता। जिस प्रकार अज्ञात रहकर भी, चक्षु इन्द्रिय द्वारा अपनी योग्यता से रूप-ज्ञान उत्पन्न होता है, उस प्रकार, साधन, अज्ञात रहकर, साध्य ज्ञान नहीं करा सकता। अतः अनुमिति के करण के रूप में ज्ञातलिङ्ग को मानना ही समीचीन जान पड़ता है। इस मत का खण्डन करते हुए गङ्गेश[१९६] के समर्थन में विश्वनाथ ने लिखा है कि यदि परामृश्यमान-लिङ्ग को अनुमिति के प्रति करण माना जाय तो भूत अथवा भविष्य धूमादि लिङ्गज्ञान से भूत और भविष्यकालीन अग्नि की अनुमिति नहीं हो सकेगी, क्योंकि उसका कारणीभूत लिङ्ग प्रकृत में अव्यवहित पूर्वगामी कारण नहीं है। इसलिये ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति का करण मान लेने पर, कारणता का बोध हो जायगा। अन्य किसी लिङ्ग की सत्ता को भी इसका कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता, कारण वह परामर्श का विषय नहीं है। नियमतः जो परामर्श ज्ञान का विषय होता है, वही अनुमिति का करण हो सकता है और जो परामर्श ज्ञान का विषय नहीं है, वह अनुमिति का करण भी नही बन सकता। जैसे, "इयं पाकशाला वह्निमती भविष्यति भाविधूमात्"—"यह पाकशाला वह्निवाली होगी, भावी धूम होने से) यहाँ पर अनागत धूम हेतु के द्वारा, अनुमिति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अनुमिति-करण अनागत धूमात्मक लिङ्ग उस काल में विद्यमान नहीं था जिससे कि उसे ज्ञायमान कहा जा सके। इसी प्रकार किसी प्राचीन भवन में धूम की कालिमा को, किसी स्थल विशेष में देखकर (अर्थात् पाकशाला में देखकर) जैसे, कोई व्यक्ति यह परोक्ष निश्चय करता है कि ("इयं पाकशाला वह्निमती आसीत् अतीत धूमात्")—"यह पाक-शाला वह्निवाली थी, अतीत धूम होने से'? यहाँ पर विनष्ट अतीत धूम हेतु के द्वारा अनुमिति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अनुमिति का करण जो विनष्ट अतीत धूमात्मक

लिया है, वह, वहाँ नहीं है । अतः अनागत एवं अतीत धूमरूप हेतु से उक्त स्थलों में वह्नि की अनुमिति परामृश्यमानलिङ्ग अथवा ज्ञायमानलिङ्ग को करण मान लेने पर सम्भव नहीं है । अतः यह मत भी उपयुक्त नहीं जान पड़ता ।[१९७]

व्याप्ति ज्ञान–अद्वैत वेदान्त के अनुसार 'व्याप्ति ज्ञान' अनुमिति का करण और 'संस्कार' उसका अवान्तर व्यापार है ।[१९८] मीमांसक और कुछ नैयायिकों ने भी 'व्याप्ति ज्ञान' को करण माना है, किन्तु व्यापार के विषय में उनमें मतभेद है । जहाँ मीमांसकों ने 'व्याप्ति ज्ञान' को करण एवं 'व्याप्ति स्मरण' को उसका व्यापार स्वीकार किया है वहाँ नैयायिकों ने 'व्याप्ति ज्ञान' को करण और परामर्श को व्यापार माना है ।[१९९]

वेदान्त मत के अनुसार पक्ष में, हेतु के ज्ञान (पक्षधर्मता ज्ञान) से, महानस आदि में, ग्रहण किया हुआ 'व्याप्ति ज्ञान' का संस्कार प्रथमतः उद्बुद्ध होता है, उसके उपरांत व्याप्ति का स्मरण होकर अनुमिति हो जाती है । पक्षधर्मता ज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकेगी । अन्वय-व्यतिरेक से भी यह बात सिद्ध हो जाती है–––व्याप्ति संस्कार जाग्रत होने पर यदि व्याप्ति स्मरण हुआ, तो अनुमिति होगी (अन्वय) और संस्कारोद्बोध नहीं हुआ, तो व्याप्ति स्मरण के न होने पर अनुमिति भी नहीं होगी (व्यतिरेक) अतः 'व्याप्ति ज्ञान' को अनुमिति का करण मानना उचित है ।[२००]

लिङ्ग परामर्श–अनुमिति का करण क्या हो इस विषय में 'न्यायसूत्र' और 'न्याय-भाष्य' में स्पष्ट संकेत नहीं मिलता । इस ओर ध्यान देने वाले सर्वप्रथम नैयायिक उद्योतकर ही जान पड़ते हैं । बाद में प्रायः सभी नैयायिकों ने उनका अनुसरण किया है । जिस प्रकार ज्ञान और उसके साधन के रुप में, प्रमाण शब्द दो प्रकार से निष्पन्न होता है उसी प्रकार अनुमान शब्द भी अनुमिति ज्ञान और अनुमान-प्रमाण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । पहले बताया जा चुका है कि करण शब्द दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है––"व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्" तथा "फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्" । 'अनुमिति करण' के विषय में जितने भी मतभेद देखे जाते हैं, उनका मूल स्रोत करण की इन्हीं व्याख्याओं में निहित है । न्यायभाष्यकार की उक्त दोनों परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने इन दोनों 'करण लक्षणों' को ध्यान में रखते हुए ही अनुमान की परि-भाषाओं का प्रणयन किया है । उनकी प्रथम परिभाषा में अनुमिति के करण के रूप में 'लिङ्गपरामर्श' और 'व्याप्ति ज्ञान' दोनों निहित है, किन्तु द्वितीय परिभाषा में 'ज्ञात' अथवा 'ज्ञायमान लिङ्ग' अभिप्रेत है । उद्योतकर ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि––'लिङ्गलिङ्गि-सम्बन्ध का ज्ञान' अथवा 'लिङ्ग ज्ञान' ही अनुमिति करण है । वास्तव में करण किसको माना जाय, इसकी व्याख्या करने के लिये उन्होंने तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं––(१) लिङ्ग-लिङ्गि-सम्बन्ध-ज्ञान (२) अनुगृह्यमानलिङ्ग एवं (३) लिङ्ग परामर्श । यद्यपि इन तीनों को ही अनुमान कहा जा सकता है, किन्तु सिद्धांत में लिङ्ग परामर्श को ही अनुमिति करण मानना युक्तिसंगत दिखाई देता है, क्योंकि लिङ्ग परामर्श के अव्यवहित उत्तरकाल में अनुमिति हो जाती है लेकिन यह 'आनन्तर्य प्रतिपत्ति, उक्त प्रथम दो विकल्पों को मान लेने पर नहीं हुआ करती । इसलिए प्रथम दोनों विकल्पों को करण नहीं कहा जा सकता ।[२०१]

गङ्गेश ने भी 'लिङ्ग परामर्श' को ही करण माना है, परामर्श मात्र को नहीं।[१०२] परामर्श मात्र को यदि करण माना जाय, तो 'द्रव्य व्याप्यमान् पर्वतः' इस ज्ञान से भी 'पर्वतोवह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति हो सकती है क्योंकि यह ज्ञान भी परामर्श रूप ही है। किन्तु इस परामर्श ज्ञान से, 'पर्वतो वह्निमान' यह अनुमिति नहीं होती, इसलिये लिङ्गविषयक परामर्श' को ही करण मानना अधिक उपयुक्त है।

यदि "व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्" इस रूप से करण व्युत्पति मानी जाय तो 'व्याप्ति ज्ञान' करण और परामर्श व्यापार होगा। जो विद्वान् इस मत के पक्षपाती हैं कि व्यापार वाला असाधारण कारण ही करण हो सकता है, उनके अनुसार इस मत की उत्पत्ति हुई है, किन्तु इस मत में भी किसी न किसी रूप में परामर्श को मानना अवश्य पड़ता है। 'लिङ्ग परामर्श' को, यदि करण स्वीकार किया जाय, तो कोई मध्यवर्ती-व्यापार नहीं बन पाता। व्यापार को प्रतिपादित करने के लिये कहा जा सकता है कि परामर्श असाधारण कारण है और उसका संस्कार उसका व्यापार। अतः व्यापार वाले असाधारण कारण को, करण मान लेने पर भी, संस्कार रूप व्यापार वाला होने के नाते लिङ्ग परामर्श को करण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि परामर्श संस्कार को करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'लिङ्ग परामर्श' चरम कारण है और संस्कार की उत्पत्ति, उसके उपरांत होती है। अतः संस्कारोत्पत्ति काल में अनुमिति हो जायगी। ऐसी अवस्था में संस्कार को व्यापार नहीं माना जा सकता। अतः व्याप्ति ज्ञान, को करण मानकर परामर्श को उसका व्यापार कहना चाहिये। साथ ही व्याप्ति ज्ञान को करण मानने वालों का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है कि व्याप्ति ज्ञान, करण होने पर भी, चरम कारण नहीं है, क्योंकि फलोत्पत्ति रूप अनुमिति, का वह अव्यवहित पूर्व कारण नहीं है। इसके मध्य कार्य विशेष परामर्श का व्यवधान रहता है। अतः 'लिङ्ग परामर्श' को ही करण मानना चाहिये। गङ्गेश की इस व्याख्या में, 'साधकतमं करणम्' अथवा 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्" करण व्युत्पत्ति जान पड़ती है, क्योंकि परामर्श रूप कारण के अव्यवहित उत्तरकाल में फल रूप अनुमिति उत्पन्न हो जाती है।[१०३]

यहाँ लिङ्ग परामर्श की व्याख्या कर देनी भी आवश्यक प्रतीत होती है। 'परा' पूर्वक 'मृश' धातु से परामर्श शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है ज्ञान और 'लिङ्ग' शब्द से 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु' अभिप्रेत है। अतः समग्र पद का अर्थ होगा— साध्य की व्याप्ति से विशिष्ट हेतु का पक्ष में विद्यमान रहने का ज्ञान। निष्कर्ष यह कि व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान ही लिङ्ग परामर्श कहलाता है।[१०४] 'लिङ्ग परामर्श' की व्याख्या करते हुए केशव मिश्र ने लिखा है कि जितनी बार के, देखने से, हेतु और साध्य (धूम और अग्नि) की व्याप्ति का ग्रहण हो सके, वह सब मिलकर हेतु का प्रथम ज्ञान कहलाता है। व्याप्ति निश्चय के उपरांत (पर्वत आदि) पक्ष में जो हेतु का दर्शन होता है वह हेतु का द्वितीय ज्ञान है। इस द्वितीय ज्ञान से, पूर्व गृहीत हेतु और साध्य की व्याप्ति का स्मरण हो आता है और व्याप्ति स्मरण होने के पश्चात् "वह्निव्याप्य धूमवांश्च अयं पर्वतः" इत्याकारक ज्ञान होता है, यही लिङ्ग का तृतीय ज्ञान 'लिङ्ग परामर्श' कहलाता है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि लिङ्ग के तृतीय ज्ञान को ही लिङ्ग परामर्श क्यों माना जाय? 'प्रथम लिङ्ग ज्ञान' अथवा द्वितीय लिंग ज्ञान' को 'लिङ्ग परामर्श' मानने में क्या हानि है? इसका समाधान देते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि व्याप्ति का ग्रहण न होने के कारण प्रथम लिङ्ग ज्ञान से अनुमिति उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय

कि महानस में, व्याप्ति निश्चय हो जाने के अनन्तर, 'प्रथम लिङ्ग ज्ञान' से अनुमिति होनी चाहिये, किन्तु महानस में अग्नि का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान निश्चित रूप से हो जाने पर अनुमान का अवकाश ही नहीं रहता। कहा भी है––"सर्वथा अज्ञात अथवा निर्णीत अर्थ में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु संदिग्ध विषय में ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है।" इसी प्रकार अग्नि का संदेह, पर्वत रूप पक्ष में, विद्यमान होने पर वहाँ धूम दर्शन रूप द्वितीय लिङ्ग ज्ञान से भी अनुमिति नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ व्याप्ति स्मरण नहीं हुआ होता और जिस व्यक्ति ने व्याप्ति गृहीत नहीं की है, उसी के समान ही यदि किसी व्यक्ति को पूर्व में व्याप्ति निश्चय कर लेने के उपरान्त भी, पर्वत पर, धूम को देखकर व्याप्ति का स्मरण नहीं होता, तब ऐसी दशा में भी अनुमिति नहीं होती। अतः द्वितीय लिङ्ग ज्ञान से, उदबुद्ध संस्कार द्वारा, व्याप्ति स्मरण होने पर ही जो 'धूमवांश्च अयं पर्वतः' इत्याकारक तृतीय लिङ्ग ज्ञान होता है उसी से 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होती है। अतः तृतीय लिङ्ग ज्ञान को ही लिङ्ग परामर्श कहा जाता है। यदि तृतीय लिङ्ग परामर्श को न माना जाय तो 'जहाँ धूम होगा वहीं अग्नि होगी' ऐसा सामान्य ज्ञान ही होगा, इसलिये पर्वत रूप स्थल विशेष में साध्य अग्नि का उपपादन करने के लिये 'पर्वत में भी धूम है इत्याकारक लिङ्ग परामर्श ज्ञान मानना आवश्यक है।[२०५]

परामर्श, विशेष्य-विशेषण भाव के भिन्न-भिन्न होने के कारण दो प्रकार का है––"साध्यव्याप्य हेतुमान् पक्षः"––साध्यनिरूपित व्याप्ति विशिष्ट हेतु वाला पक्ष और "साध्यव्याप्य हेतुः पक्षेः"––पक्ष में रहने वाला साध्य निरूपित व्याप्ति विशिष्ट हेतु। तदनुसार 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' रूप अनुमिति स्थल में कारणीभूत परामर्श दो है––"पर्वत विशेष्यक वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" और "पर्वत विशेषणक वह्निव्याप्य धूमः पर्वतेः।" प्रथम में, पक्ष विशेष्य है, अतः पक्ष विशेष्यक परामर्शात्मक ज्ञान से, "पक्षः साध्यवान्" इत्याकारक 'पक्ष विशेष्यक' अनुमिति होती है। और द्वितीय में, पक्ष विशेषण है, इसलिये आधेयता सम्बन्ध से पक्ष विशेषणक (पक्ष प्रकारक) परामर्शात्मक ज्ञान के द्वारा "पक्षे साध्यम्" इस आकार की पक्षप्रकारिका अनुमिति होती है।[२०६] ऐसा कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार के परामर्शों से "पक्षः साध्यवान्" अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' यह पक्ष विशेष्यक अनुमिति ही होती है। 'सिद्धान्त मुक्तावली' के विलासिनी टीकाकार ने इस आपत्ति का निराकरण करते हुए लिखा है कि पक्षप्रकारिका अर्थात् "पर्वते वह्निः" इत्याकारक अनुमिति नहीं हो सकती, प्रत्युत पक्ष विशेष्यक अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति ही प्रायः अनुभव में दृष्टि गोचर होती है। अतः "वह्निव्याप्य धूमः पर्वतेः" इत्याकारक पक्ष प्रकारक परामर्श अप्रामाणिक है। दूसरी बात यह है कि 'तथा च अयम्' अर्थात् 'वह्निव्याप्य धूमवान् अयम्' इस प्रकार के उपनय वाक्य का प्रयोग ही देखने में आता है न कि "वह्निव्याप्य धूमः पर्वते"। इसीलिये उपनय 'पक्ष विशेष्यक' ही माना गया है।, 'पक्ष प्रकारक' नहीं। अतः परामर्श पक्ष प्रकारक नहीं हो सकता। इसलिये पक्ष विशेष्यक परामर्श को ही 'पर्वतो वह्निमान्" अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित है।[२०७]

इस प्रसङ्ग में मीमांसक और वेदान्तियों का कहना है कि "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्शात्मक ज्ञान की अनुमिति में कोई उपयोगिता नहीं है। क्योंकि "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से धूम दर्शन अर्थात् पक्षधर्मता ज्ञान और 'जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि रहती है' इत्याकारक व्याप्ति का स्मरणात्मक

ज्ञान होने से ही अनुमिति हो जाती है। कहीं स्थल विशेष में लिङ्ग की आवश्यकता होने पर वहाँ उसे माना जा सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अनुमिति मात्र (अनुमितित्वावच्छिन्न) के प्रति उसे सर्वत्र कारण मान लिया जाय। वास्तव में 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान' को ही अनुमिति में कारण मानना चाहिये।' धूमवान् पर्वतः' यह पक्षधर्मता ज्ञान व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान है, क्योंकि वह्नि का व्याप्य होगा 'धूम' और व्याप्यतावच्छेदक' 'धूमत्व' यह धूमत्व 'धूमवान् पर्वतः' इस ज्ञान में, धूम अंश में, 'धूमत्व' रूप से प्रकार है। इसी प्रकार "वह्निव्याप्यो धूमः' यह व्याप्ति स्मरणात्मक ज्ञान भी व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान है, क्योंकि व्याप्यतावच्छेदक 'धूमत्व', 'वह्निव्याप्यो धूमः' इत्याकारक ज्ञान के, धूम अंश में, प्रकार है। दूसरी बात यह भी है कि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही तृतीय लिङ्ग परामर्श ज्ञान स्वीकार करने पर गौरव भी हो जाता है, किन्तु 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान' मानने में लाघव है। जैसे, प्रथम क्षण में 'धूमवान् पर्वतः' यह ज्ञान हुआ, द्वितीय क्षण में 'वह्निव्याप्य धूमः' इत्याकारक व्याप्ति स्मरण होकर तृतीय क्षण में अनुमिति हो जाती है किन्तु न्याय मतानुसार प्रथम क्षण में धूम दर्शन, द्वितीय क्षण में व्याप्ति स्मरण, तृतीय क्षण में लिङ्ग परामर्श एवं चतुर्थ क्षण में अनुमिति हो पाती है। अतः न्याय-सिद्धान्त में परामर्श रूप एक ज्ञान तथा एक क्षणात्मक काल का गौरव है। इसलिए व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान ही अनुमिति के प्रति कारण मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है।[१०८] नैयायिकों ने अपने मत की पुष्टि में इन आक्षेपों का निराकरण करने के लिये निम्न युक्तियां प्रतिपादित की हैं— यदि 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान' को अनुमिति के प्रति कारण माना जाय, तो जिस पुरुष को व्याप्यतावच्छेदक (धूमत्व) का ज्ञान नहीं हुआ है, उसे वह्निव्याप्यवान् पर्वतः' इस ज्ञान से अनुमिति होती है। अर्थात् वह्नि का व्याप्य धूम या आलोक अथवा ईंधन पर्वत में अवश्य है, यह विशेष रूप से ज्ञात न होने पर भी उसे सामान्यतः पर्वत में वह्नि के व्याप्य का निश्चय है। यह नियम है कि जिस आत्मा में यद्धर्मिक व्याप्यवता का निश्चय हुआ करता है, उस निश्चय से उसके उत्तर क्षण में उसी आत्मा में तद्धर्मिक व्यापकवता निश्चय भी हो जाता है जैसे, "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" यह पर्वत धार्मिक व्याप्यवता निश्चय, समवाय सम्बन्ध से जिस आत्मा में, जिस काल में, उत्पन्न होता है, उसी आत्मा में, व्याप्यवता निश्चय द्वारा, 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक पर्वत धार्मिक अनुमिति रूप व्यापकवता निश्चय को भी उत्पन्न कर देता है। मीमांसक आदि के मत में ऐसा नहीं होना चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्त ज्ञान उनके मत में व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान नहीं है। तात्पर्य यह है कि "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" इस ज्ञान में, व्याप्यतावच्छेदक 'धूमत्व' प्रकार नहीं है। अतः यह ज्ञान व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान न होने के कारण अनुमिति का उत्पादन करने में असमर्थ है, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस ज्ञान से भी अनुमिति होती है, इसे प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। दूसरी बात यह भी है कि यदि 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान' को ही, अनुमिति में, कारण माना जाय तो केवल 'धूमवान् पर्वतः' इस ज्ञान से भी अनुमिति होनी चाहिए, क्योंकि यह ज्ञान धूमांश में व्याप्यतावच्छेदक जो 'धूमत्व' है, तत्प्रकारक भी है और धूम पर्वत में रहने वाला धर्म होने के नाते पक्ष का धर्म भी। किन्तु केवल पक्षधर्मता ज्ञान से अनुमिति कदापि नहीं हो सकती। तीसरी बात यह भी है कि मीमांसक और वेदान्तियों के अनुसार 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान' को अनुमिति के प्रति कारण माना गया है, किन्तु न्याय मत में 'व्याप्यता-प्रकारक' अर्थात्

व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान को ही कारण स्वीकार किया गया है, अतः न्याय लक्षण में अवच्छेदक का निवेश न होने के नाते लाघव है। इस दोष का निवारण करने के लिए यदि यह कहा जाये कि सहकारी कारणीभूत अपर ज्ञान से विशिष्ट जो व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान है, वही अनुमिति के प्रति कारण है, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि जिस स्थल में चैत्र को "वह्निव्याप्यो धूमः" यह स्मरणात्मक व्याप्ति ज्ञान हुआ और उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में मैत्र को 'धूमवान् पर्वतः' इत्याकारक 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक' पक्षधर्मता ज्ञान हुआ, तो वहाँ भी अनुमिति होनी चाहिये, किन्तु अनुमिति होती नहीं है। अतः मीमांसकों तथा वेदान्तियों द्वारा लिङ्ग परामर्श के विषय में उठायी गयी आपत्तियाँ निराधार हैं।[१०९]

सारांश यह है कि अनुमिति ज्ञान में व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों ही आवश्यक है, अतः अनुमिति के करण में इन दोनों का सन्निवेश होना चाहिये। 'लिङ्ग या लिङ्ग ज्ञान' और 'ज्ञात या ज्ञायमान लिङ्ग' में पक्षधर्मता ज्ञान पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण मानने वालों ने व्याप्ति ज्ञान पर। दोनों ही मत एकाङ्गी जान पड़ते हैं, अतः इस समस्या को सुलझाने के लिये ही संभवतः नैयायिकों ने विशिष्ट ज्ञान रूप परामर्श की कल्पना की है। क्योंकि व्याप्ति को हेतु का विशेषण बना देने पर दोनों—व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान हेतु में समाविष्ट हो जाते हैं। परामर्श इसलिये न केवल पक्षधर्मता ज्ञान है और न व्याप्ति ज्ञान मात्र ही, प्रत्युत व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान है। स्वार्थानुमान में, निष्कर्ष, साध्यवाक्य और पक्ष वाक्य से ही सरलता से निकाला जा सकता है। उसमें इन दोनों के अतिरिक्त किसी तीसरे समष्टिमूलक वाक्य की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तर्क वाक्यों से लेकर निष्कर्ष तक की विचार-प्रक्रिया स्वाभाविक ही जान पड़ती है। परार्थानुमान में, जब हम, किसी ज्ञात तथ्य को, दूसरों को समझाना चाहते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि दोनों वाक्यों में प्रयुक्त होने वाले, एक ही हेतु पद की स्थिति का प्रदर्शन करके, तीसरे वाक्य में, उसी हेतु का सम्बन्ध, साध्य और पक्ष के साथ स्थापित कर दिया जाय। अतः स्पष्ट है कि जो हेतु साध्य के साथ सर्वदा नियत रूप से सहचरित रहता है वही पक्ष में भी विद्यमान रहता है। इसलिये निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लिङ्ग परामर्श समस्त अनुमानों की आवश्यक अवस्था नहीं है, यद्यपि कि इसके द्वारा अनुमान सुदृढ़ और विश्वसनीय हो जाता है।

सन्दर्भ-निर्देश

१. त० प्र० श्लो० १८ पृ० ३५६, तुलनीय प० मु० प्रतिज्ञा श्लोक १; प० प० पृ० ६३। २. न्या० भा० पृ० २१। ३. न्या० वा० पृ० ११-१२। ४. वही पृ० १२ ५. न्या० वा० ता० टी० पृ० १२। ६. न्या० भा० पृ० २४। ७. न्या० वा० पृ० २४। ८. न्या० भा० पृ० २२। ९. न्याय० मं० १ पृ० ९। १०. यजुर्वेद ४०।७। ११. ऋग्वेद १५।६५। १२. न्या० व० टी० पृ० १५-१६। १३. त० भा० पृ० १३, वे० प० पृ० ८। १४. (अष्टाध्यायी) पा० सू० १।४।४२ १५. न्या० बो० पृ० २५। १६. सां० प्र० भा० पृ० ४७। १७. व्यापारश्च

तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः त० पृ० १५, प० पृ० ३७६ । १८. ——प्रमा तत्साधकतमं यत्तत्————प्रमाणम् सां० सू० १।८७ । १९. न्या० भा० पृ० ८६-८७ । २०. न्या० वा० पृ० १८ । २१. न्या० वा० ता० टी० पृ० १६-१७ । २२. वै० सू० ९।२।१२ । २३. वही ९।२।१० । २४. तस्याः ——समासतो द्वे विधे–विद्या चाविद्या चेति । तत्राविद्या चतुर्विधा—संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा । प्र० भा० पृ० २५९, विद्यापि चतुर्विधा—प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा वही पृ० २७६ । २५. यथार्था प्रतिपत्तिर्विद्येति सामान्यलक्षणमुक्तम् । कि० पृ० २७६ । २६. निःसंदिग्धाबाधिताध्यसायात्मिका प्रतीतिर्विद्या । न्या० कं० पृ० ४१४ । २७. उ० पृ० २३१ । २८. तत्वानुभवः प्रमा । प्रमायोगव्यवच्छिन्नं प्रमाणम् । स० प० १४०, १४४ । २९. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यम् । प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः न्याय० भा० पृ० ९१ । ३०. वही पृ० २४ । ३१. न्या० मं० १ पृ० २४-२५ । ३२. उपलब्धिहेतुः प्रमाणम् । न्या० वा० पृ० १५ । ३३. न्या० वा० ता० टी० पृ० १६ । ३४. ——अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धि विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् । न्या० मं० १ पृ० १२ । ३५. वही पृ० १२-१४ । ३६. यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते । न्या० कु० ४।१ । ३७. मितिः सम्यक् परिच्छित्ति———— । तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ।। वही ४–५ । ३८. त० भा० पृ० १४-१९ । ३९. त० कौ० पृ० ८ । ४०. सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् । सम्यग्ग्रहणं संशयविपर्ययापोहार्थम् । स्मरणज्ञानव्यवच्छेदार्थमनुभवग्रहणम् । प्रमातृप्रमेयव्यवच्छेदार्थं फलाद् भेदज्ञापनार्थं च साधनग्रहणम् । न्या० सा० पृ० २-६ । ४१. यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा । त० चि० १. पृ० ४००, उद्धृत न्या० को० पृ० ५५१ । ४२. त० पृ० ११ । ४३. न्या० सू० वृ० पृ० ८१, सि० मु० ३ पृ० १२२ । ४४. त० स० पृ० २३ । ४५. न्या० बो० पृ० २४ । ४६. सि० मु० ३ पृ० १२० । ४७. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् । मी० सू० १।१।५ । ४८. तस्मात् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति । ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम् ।। श्लो० वा० चो० सू० श्लो० ८० । ४९. एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञान–रहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम् । शा० दी० पृ० १२३ । ५०. तस्मादज्ञाततत्त्वार्थज्ञानसाधनमेव नः । प्रमाणमिति निर्णीतम्—— ।। मा० मे० पृ० ७ । ५१. त० सि० र० पृ० ३२ । ५२. अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः । पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ।। न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तेरपेक्षणात् । प्र० प० पृ० १०४ । ५३. वही पृ० १२६-२७ । ५४. द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् । सा० सू० १।८७ । ५५. सां० प्र० भा० पृ० ४६ । ५६. सां० त० कौ० पृ० २६ । ५७. यो० सू० १।५ । ५८. वही १।६ । ५९. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । वही १।७ । ६०. यो० भा० पृ० १०-११ । ६१. अनधिगततत्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा । तत्करणं प्रमाणम् । त० वै० पृ० १० । ६२. प्रमाणलक्षणन्तु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति । भो० वृ० पृ० २० । ६३. प्रमाकरणं प्रमाणम् । तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वम् अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्——वे० प० पृ० १६ । ६४. शि० पृ० १६-१७

६५. स्मृतिसाधारणं त्वबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् । वे० प० पृ० १६ । ६६. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाण सामान्य लक्षणम् । प्र० स० वृ० पृ० ११ । ६७. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं अर्थक्रियास्थिति । अविसंवादनम्——————।। प्र० वा० १।३ । ६८. म० वृ० पृ० ३ । ६९. अज्ञातार्थप्रकाशो वा—प्र० वा० १।७ । ७०. म० वृ० पृ० ८ । ७१. न्या० बि० टी० पृ० १७-१९ । ७२. बौ० त० भा० पृ० १ । ७३. प्र० स० २।१० । ७४. न्या० बि० १।१८-२१ । ७५. तत्त्व० सं० श्लो० १३४४ । ७६. बौ० त० भा० पृ० ११ । ७७. तत्त्व० सं० प० पृ० ३९८ । ७८. ८८।२।३१७ । ७९. २३ । ८०. १६५ । ८१. ५।४।१९१-९२ । ८२. ३३८ । ८३. पृ० २११ । ८४. ७१ । ८५. ३५ । ८६. त० सू० १।९-१२ । ८७. तत्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासकम् । आ० मी० श्लो० १०१ । ८८. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् । स्वयम्भूस्त्रोत्र श्लो० ६३ । ८९. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् । न्या० व० श्लो० १ । ९०. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् । ल० का० ६० । ९१. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् । अ० श० का० ३६ । ९२. वही का० १०१ । ९३. त० श्लो० वा० १।१०।७७, प्रमाण० प० पृ० ५३ । ९४. प्रमाण० प० पृ० ५१ । ९५. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् । प० मु० सू० १।१ । ९६. प्र० र० मा० पृ० १४-१५ । ९७. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् । प्र० मी० १।१।२ । ९८. न्या० दी० पृ० ९ । ९९. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम । वही पृ० ९ । १००. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । प्र० न० त० १।२ । १०१. अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लेङ्गिकम् । वै० सू० ९।२।१ । १०२. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य । वही ३।१।१४ । १०३. लिंगदर्शनात् संजायमानं लैंगिकम् । प्र० भा० पृ० २८९ । १०४. दर्शनं ज्ञानं तथा च दृष्टादनुमितात् स्मृताच्च लिङ्गादित्यर्थः । कि० पृ० २८९ । १०५. दर्शनशब्द उपलब्धिवचनो न चाक्षुषप्रतीतिवचनः, अनुमितानुमानस्यापि संभवात् । न्या० कं० पृ० ४७६ । १०६. लिङ्गं च दृष्टमनुमितं श्रुतं वा यदनुभवरूपं ज्ञानं जनयति तल्लैङ्गिकम् । १०७. न्या० कं० पृ० ४७६ । १०८. वही पृ० ४७६ । १०९. कि० पृ० २८९ । ११०. न्या० कं० पृ० ४७६ । १११. उ० पृ० २१६ । ११२. कि० पृ० २८९, न्या० कं० पृ० ४९०-९१ । ११३. कि० पृ० २८९ । ११४. लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकम् व्याप्तिविशिष्टः पक्षधर्मो लिङ्गम् । उ० पृ० २१५ । ११५. अनुमितिप्रमायोगव्यवच्छिन्नमनुमानम् । तच्च व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टलिङ्गज्ञानम् । स० प० १४६ । ११६. न्या० सू० १।१।५ । ११७. न्या० भा० पृ० १४२-१४६ । ११८. न्या० वा० पृ० १३४-४० । ११९. वही पृ० १४३ । १२०. न्या० वा० ता० टी० पृ० १४० । १२१. न्या० वा० पृ० १३४ । १२२. अनुमानं—मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् । न्या० भा० पृ० ८८ । १२३. अर्थस्येति । अथर्यंते साध्यते इत्यर्थः । न्या० वा० ता० टी० पृ० ८९ । १२४. न हि धर्मो स्वरूपेणअर्थ्यते, किन्तु जिज्ञासितधर्मविशिष्ट इत्यर्थः । वही० पृ० ८९ । १२५. न्या० वा० पृ० १४३-४४ । १२६. सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम् । न्या० सा० पृ० २१ । १२७. न्या०सा० पृ० ३ । १२८. प० पं० पृ० २२ । १२९. न्या० सा० पृ० ८ । १३०. न्या० म० १ पृ० १०१ । १३१. तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः तत्करणमनुमानं तच्च लिङ्गपरामर्शो न तु परामृश्यमानं लिङ्गमिति वक्ष्यते । त० चि०

पृ० २४ । १३२. दी० पृ० २५ । १३३. वही पृ० ३५-३६ । १३४. वही पृ० ३८-३९ । १३५. वही पृ० ४१, गा० पृ० ४१ । १३६. दी० पृ० ४१ । १३७. वही पृ० ४३ । १३८. वही पृ० ४३ । १३९. वही पृ० ५० । १४०. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । त० भा० ७१ । १४१. परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः । त० सं० पृ० ३४ । १४२. अनुमानं ज्ञातसंबंन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः । शा० भा० पृ० ३६ । १४३. श्लो० वा० अनुमान, श्लो० २-३ । १४४. न्या० र० पृ० ३४६ । १४५. श्लो० वा० अनुमान, श्लो ५५-५७ । १४६. शा० दी० पृ० १६६-६९ । १४७. मा० मे० पृ० २५ । १४८. त० सि० र० पृ० ५७ । १४९. बृ० पृ० ६९-७२, ऋ० वि० पृ० ६९-७२ । १५०. ज्ञातसंबन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात् । एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते ।। प्र० प० पृ० १०५, १९६ ज्ञातः संबन्धनियमो यस्य, तस्यैकदेशस्य दर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे या बुद्धिः, साऽनुमानमित्यर्थः । वही पृ० १९६ । १५१. पृ० १९७ । १५२. प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् । सां० सू० १।१०० । १५३. सां० प्र० भा० पृ० ५३ । १५४. सां० का० का० ५ । १५५. मा० वृ० पृ० १२-१३ । १५६. गौ० भा० पृ० ७ । १५७. सां० त० कौ० पृ० ३८ । १५८. वही पृ० ३७ । १५९. यो० भा० पृ० ११ । १६०. भो० वृ० पृ० २० । १६१. वे० प० पृ० १५९ । १६२. अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या । वही पृ० १६१ । १६३. वही पृ० १६३ । १६४. शि० म० पृ० १६२ । १६५. म० प्र० पृ० १६३ । १६६. शि० म० पृ० १६३, म० प्र० पृ० १६४ । १६७. शि० म० पृ० १६२, म० प्र० पृ० १६३ । १६८. नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम् इति । प्र० स० अध्याय २. उद्धृत न्या० वा० पृ० १६१, FFD. Fragment G. p. 21 । १६९. अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति प्र० स० अध्याय २ उद्धृत न्या० वा० पृ० १६३, HIL. F. No. 2 p. 288; FFD. Fragment H. p. 22 । १७०. न्या० प्र० पं० पृ० ४२ । १७१. प्र० वा० २।६२ । १७२. म० वृ० पृ० १३४ । १७३. न्या० बि० २।१-३, ३-१ । १७४. तत्त्व० सं० का० १३६२-६३ । १७५. न्या० वि० टी० पृ० ८७, ९०, १५१ । १७६. बौ० त० भा० पृ० १३, १९ । १७७. न्या० व० का० ५ । १७८. ल० श्लो० १२; 'अभिनिबोध' की विशेष व्याख्या के लिये देखिये—डा० दरबारीलाल जैन कोठिया, जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ० ७६-८५ । १७९. साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम् न्या० वि० १७० । १८०. त० श्लो० वा० श्लो० १।१३। १२० । १८१. प० मु० सू० ३।१० । १८२. प्र० मी० १।२।७ । १८३. न्या० दी० पृ० ६५ । १८४. जै० त० भा० पृ० १२ । १८५. न्या० व० वा० का० ४१ । १८६. प्र० न० त० ३।९, १०, २३ । १८७. न्या० दी० पृ० ६७ । १८८. शि० म० पृ० १६४ । १८९. म० प्र० १६४-१६५ । १९०. न्या० भा० पृ० ८८ । १९१. न्या० वा० पृ० १४३ । १९२. कि० पृ० २९० । १९३. बौद्ध मतानुसार दी गयी उक्त अनुमान परिभाषाओं में त्रिरूप लिङ्ग द्वारा ही अनुमान निष्पन्न होता है अतः इस विवेचना से उन्हें ज्ञात अथवा ज्ञायमान लिङ्ग ही अनुमिति करण के रूप में अभीष्ट जान पड़ता है, क्योंकि हेतु में जब तक त्रिरूपता का निश्चित ज्ञान नहीं हो, तब तक उसके द्वारा कोई भी अनुमान सम्पादित नहीं किया जा सकता । १९४. न्या० दी० पृ० ६७-६८, सिद्धसेन दिवाकर और अकलङ्क के लघीस्त्रय वाले अनुमान लक्षण में साध्य-अविनाभूत लिङ्ग द्वारा भी ज्ञात अथवा ज्ञायमान लिङ्ग ही अनुमिति करण अभिप्रेत जान पड़ता है ।

१९५. सि० मु० २ पृ० २-३, दि० पृ० २१०-११, वि० पृ० २-३ १९६. एवं लिङ्ग परामर्शः कारणं न तु परामृश्यमानं लिङ्गम् । त० चि० पृ० १२८४; पृ० २४; पृ० १३०१-२ । १९७. जायमान लिङ्ग तु करणं न हि । अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा ।। का० व० का० ६७, सि० मु० २ पृ० ३-४, दि० पृ० २११-१२; वि० २ पृ. ३-४ १९८. अनुमितिकरणञ्च व्याप्तिज्ञानम् । तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः । वे० प० पृ० १६४-६५ । १९९. व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत ।अनुमायां———— ।। का० व० का० ६६ । २००. वे० प० पृ० १७१, शि० म० पृ० १७१ । २०१. न्या० वा० पृ० १४२-४३ । २०२. अथ परामर्शमात्रं न हेतुरपि तु लिङ्गपरामर्शः । त० चि० पृ० १८८४ । २०३. वही पृ० १३१२-१३ । २०४. दि० पृ० २११, त० चि० ११७५, का० व० का० ६८, सि० मु० २ पृ० ४ । २०५. त० भा० पृ० ७७-७९ । २०६. सि० मु० २ पृ० ४-५, दि० २१२-१३, वि० २ पृ० ५ । २०७. वि० २ पृ० ५-६ । २०८. सि० मु० २ पृ० ८-९ । २०९. वही पृ० ९-११, वि० २ पृ० ९-११, त० चि० पृ० १२१६-१७ ।

७ अनुमान के मौलिक घटक

पक्ष, साध्य एवं हेतु का सामान्य परिचय

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि अनुमान के लिए व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों अत्यावश्यक हैं। व्याप्ति तथा पक्षधर्मता ज्ञान में पक्ष, साध्य तथा हेतु निहित हैं। अतः अनुमान प्रक्रिया को पूर्ण रूप से समझने के लिए इन पदों का भली प्रकार जानना परमावश्यक है।

'पच्यते इति पक्षः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर पक्ष उस वस्तु को कहा जा सकता है, जो अपने में साधन और साध्य दोनों को समाविष्ट करने की सामर्थ्य रखती हो। इसीलिए इसे साध्य और साधन दोनों का आश्रय या अधिकरण कहा जाता है। वास्तव में बिना किसी आश्रय के साधन और साध्य की कल्पना असंगत है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है,' 'क्योंकि वहाँ धूम है' यहाँ साधन धूम और साध्य अग्नि दोनों का अधिकरण पर्वत है। किन्तु केवल अधिकरण होने से ही किसी को पक्ष नहीं कहा जा सकता, अन्यथा महानस भी पक्ष कहलाने लगेगा। इसीलिए इसमें संदिग्ध विशेषण लगाया जाता है अर्थात् जिस आश्रय में साध्य संदिग्ध रूप से रहता हो, उसे पक्ष कहते हैं। अनुमान में हेतु ज्ञात रहता है और साध्य अज्ञात। इसलिये अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने वाले समस्त चिन्तकों ने हेतु का पक्षधर्मत्व रूप स्वीकार किया है। 'पक्ष' का प्रयोग प्रायः सभी दार्शनिकों ने किया है, बौद्ध लोग, जो पक्ष प्रतिपादक प्रतिज्ञा वाक्य को आवश्यक नहीं मानते, भी हेतु के 'पक्षधर्मत्व' रूप में पक्ष का उपन्यास करते हैं। प्राचीन न्याय, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में पक्ष और साध्य को प्रायः धर्म और धर्मी दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। पक्ष को धर्मी अथवा एकदेशी भी कहा गया है, क्योंकि साधन और साध्य रूप दो धर्म या एकदेश इसमें रहते हैं।

अनुमान का दूसरा आवश्यक पद है साध्य। लिङ्गी, साध्य, व्यापक, नियम्य, आपाद्य, गम्य, अप्रतिबद्ध आदि सभी पद एकार्थवाची हैं। प्राचीन न्याय ग्रन्थों एवं 'सांख्यकारिका' आदि में लिङ्ग-लिङ्गी के रूप में हेतु और साध्य को व्यक्त किया गया है। जिस वस्तु का ज्ञान लिङ्ग द्वारा होता है उसे लिङ्गी कहते हैं। "साध्य सिद्धिः साधनात्" अर्थात् साधन द्वारा जिस वस्तु की सिद्धि की जाती है, उसे साध्य कहते हैं। व्याप्य से अधिक देश में रहने के कारण इसको व्यापक कहा जाता है, व्याप्य का ज्ञान होने पर जिस वस्तु का बिना किसी अपवाद के ज्ञान होता है, उसे भी व्यापक कहते हैं। इसको 'नियम्य' कहने का तात्पर्य यह है कि हेतु और साध्य की नियम रूप व्याप्ति सम्बन्ध से नियामक द्वारा नियम्य अर्थ का नियमन होता है। जिस वस्तु का आपादक द्वारा व्यवस्थापन (आपादन) किया जाये, उसे 'आपाद्य' कहा जाता है। गमक द्वारा जिस अर्थ की सत्ता

ज्ञापित होती है, वही गम्य है या प्रमाणान्तर से असिद्ध होने के कारण भी इसे गम्य, बोध्य या अप्रतिबद्ध कहा जाता है ।

तृतीय अपरिहार्य पद हेतु कहलाता है। हेतु, लिङ्ग, साधन, व्याप्य, गमक, प्रतिबद्ध, नियामक एवं आपादक पद पर्यायवाची हैं। "हिनोतीति गमयति परोक्षमर्थमिति हेतुः" अर्थात् जो परोक्ष अर्थ (साध्य) का बोध कराता है, वही हेतु है। "परोक्षार्थो लिङ्गयते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर, जिससे परोक्ष अर्थ जाना जाय, उसको लिङ्ग कहते हैं, लिङ्ग का अर्थ है चिह्न, जो साध्य रूप अर्थ का द्योतक है। "साध्यतेऽनेनेति साधनम्" —जिसके द्वारा साध्य का साधन किया जाये, वह साधन है अथवा साध्य रूप परोक्ष अर्थ की स्थापना करने में साधन होने के नाते इसको साधक भी कहा जा सकता है। हेतु साध्य की व्याप्ति का आश्रय है अर्थात् अनुमान में उपयोगी व्याप्ति साधन में ही रहती है इसलिए इसको व्याप्य कहा जाता है। इसको गमक कहने का तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा परोक्ष अर्थ अवगम्य होता है अथवा प्रमाणान्तर से सिद्ध रहने के कारण भी इसे गमक, बोधक या प्रतिबद्ध कहा जा सकता है। कुमारिल ने 'नियामक' शब्द द्वारा भी हेतु को व्यक्त किया है। हेतु और साध्य के नियत व्याप्ति सम्बन्ध को ही उन्होंने नियम कहा है और यह नियम रूप सम्बन्ध जिसमें नियमित रूप से गृहीत होता है, उसको नियामक कहते हैं। 'आपादक' पद का प्रयोग विशेष रूप से गङ्गेश ने 'तर्क प्रकरण' में हेतु पद के लिए किया है। आपादक का अर्थ, अज्ञात वस्तु के आपादन या व्यवस्थापन का साधन है।

'न्यायप्रवेश' में साधन के रूप में पक्ष हेतु और दृष्टान्त को सम्मिलित किया गया है किन्तु यह मत अन्य दार्शनिकों को मान्य नहीं है। जैन तार्किकों ने 'व्याप्ति ग्रहण काल' में पक्ष, साध्य एवं हेतु तथा 'अनुमिति ग्रहण काल' में पक्ष और हेतु को ही अनुमान के लिये आवश्यक माना है। अन्तिम पक्ष में साध्य की परिभाषा 'साध्यविशिष्ट पक्ष' की जाने के कारण साध्य का वहीं बोध हो जाता है। शेष सभी दार्शनिक पक्ष, साध्य एवं हेतु को ही अनुमान के आवश्यक अनिवार्य पद स्वीकार करते हैं।

साध्य-अनुमेय

सर्वप्रथम वात्स्यायन ने ही साध्य के स्वरूप और लक्षण को निर्धारित किया है। उनके बाद प्रायः सभी ने इसका निरूपण किया है। यहाँ हम मुख्य रूप से साध्य के प्रसङ्ग में चार बातों पर विचार करेंगे–(१) स्वरूप, (२) लक्षण, (३) प्रयोग एवं (४) प्रकार।

स्वरूप

भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार साध्य के दो स्वरूप हो सकते हैं—(१) धर्म-विशिष्ट धर्मी और (२) धर्मिविशिष्ट धर्म।[1] यहाँ धर्म से साध्य और धर्मी से पक्ष अभिप्रेत है। "साध्यतेऽस्मिन् इति साध्यम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर पक्ष अर्थात् धर्मी भी साध्य कहा जाता है। भाष्यकार के उक्त दोनों स्वरूपों का भी यही अभिप्राय जान पड़ता है। धर्म और धर्मी में विशेष्य—विशेषण का अन्तर होने के कारण ही उक्त दोनों स्वरूप प्रस्फुटित हुए जान पड़ते हैं। प्रथम पक्ष में धर्मी विशेष्य है और धर्म विशेषण, द्वितीय पक्ष में धर्मविशेष्य है और धर्मी विशेषण। 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति स्थल में अग्नि रूप साध्य—धर्म से विशिष्ट धर्मी रूप पर्वत के रूप में प्रथम का प्रयोग होता है तथा "पर्वते वह्निः" यहाँ पर्वत रूप धर्मी से विशिष्ट अग्नि रूप धर्म के रूप में द्वितीय स्वरूप का प्रयोग किया गया है। भाष्यकार को प्रथम स्वरूप ही इष्ट जान पड़ता है, क्योंकि

प्रसङ्गवश दृष्टान्त व्याख्या में उन्होंने इन दो स्वरूपों के उदाहरणार्थ—"अनित्यः शब्द इति"—'शब्द अनित्य है' और "शब्दस्यानित्यत्वम्"—'शब्द में अनित्यता है' का प्रयोग किया है,[२] किन्तु प्रतिज्ञा सूत्र की व्याख्या में उन्होंने साध्य के स्वरूप में "धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य" इस रूप से धर्मविशिष्टधर्मी की ही स्थापना की है।[३]

दिङ्नाग ने इन स्वरूपों का विस्तार कर तीन कल्पों द्वारा साध्य के स्वरूप का निर्धारण किया है—(१) केवल धर्म, (२) धर्म-धर्मिसंबन्ध और (३) धर्मविशिष्टधर्मी। 'न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका' में 'प्रमाणसमुच्चय' की कुछ कारिकाएँ उद्धृत की गयी हैं, जिनमें दिङ्नाग ने प्रथम दो का खण्डन करके अन्त में वात्स्यायन की तरह तृतीय स्वरुप ही स्थिर किया है। इस प्रसङ्ग में वार्तिककार ने दिङ्नाग का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनके पूर्वपक्ष में दिङ्नाग समर्थित स्वरूप खण्डन का ही प्रयोजन प्रतीत होता है। वे कारिकाएँ इस प्रकार है—लिङ्ग के अव्यभिचरित सम्बन्ध द्वारा कुछ लोग अन्य धर्म अर्थात् साध्य का अनुमान स्वीकार करते हैं, इनके अनुसार साध्य ही अनुमेय है। साध्य रूप धर्म और पक्ष रूप धर्मी के पहले से पृथक्-पृथक् ज्ञात होने से उन दोनों के सम्बन्ध को कुछ लोग अनुमेय कहते हैं, किन्तु ये दोनों ही कल्प ठीक नहीं हैं। प्रथम कल्प के उचित न होने का कारण यह है कि साध्य में लिङ्ग पहले से ही ज्ञात रहता है, इस कारण उसे अनुमेय नहीं कहा जा सकता। यदि धर्मी में साध्य की प्रसिद्धि होने के कारण उसको अनुमेय माना जाये तो साध्य धर्म से युक्त धर्मी को अनुमेय मानने में क्या आपत्ति है? द्वितीय कल्प में धर्म-धर्मी का सम्बन्ध भी अनुमेय नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा हो तो 'पर्वतस्य अग्निः' इत्यादि ही अनुमान के आकार सुने जाते। लिङ्ग के साथ सम्बन्ध होने पर भी साध्य को अनुमेय नहीं कहा जा सकता, कारण वक्ता को सम्बन्ध का संकेत करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह कथन में ही निहित है। लिङ्ग का साध्य के साथ अव्यभिचार अन्यत्र (दृष्टान्त महानस आदि में) में दृष्टिगोचर होता है। अतः वहाँ दृष्ट होने के नाते धर्म से युक्त धर्मी ही अनुमेय है।[४]

बौद्ध मत की आलोचना करते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि हेतु से किसका अनुमान होता है, इस प्रसङ्ग में 'धूम' हेतु को दृष्टान्त मानकर वार्तिककार ने जिन चार कल्पों का उपक्रम किया है वे इस प्रकार हैं—(१) क्या अग्नि अनुमेय है, (२) क्या अग्नि के अधिकरणीभूत पर्वतदेश का अनुमान होता है, (३) क्या पर्वत में अग्नि की सत्ता का अनुमान होता है एवं (४) क्या अग्निविशिष्ट पर्वत रूप देश का अनुमान होता है? इनका खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है कि धूम से वह्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक दूसरे में धर्म-धर्मी भाव संभव नहीं है अर्थात् न तो धूम अग्नि का धर्म है और न अग्नि धूम का। दूसरी बात यह भी है कि अग्नि पहले से ही ज्ञात रहती है, इसलिये वह अनुमेय नहीं कही जा सकती। इसी युक्ति के द्वारा अग्नि की सत्ता और देश के अनुमेय होने का भी निरास हो जाता है, क्योंकि अग्नि की सत्ता और देश पहले से ज्ञात रहते हैं। इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि अग्नि और देश दोनों अलग-अलग पहले से ज्ञात होने पर भी अग्निमान् देश अर्थात् अग्निविशिष्ट पर्वत पहले से जाना हुआ नहीं है, अतः वह अनुमेय हो सकता है। यह बात युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि अनुमेय को पक्ष का धर्म होना चाहिये परन्तु अग्निमान् प्रदेश का धर्म अग्नि ही होगा, धूम नहीं। बौद्धों द्वारा यदि यह कहा जाय कि धूम में वह्नि का अविनाभाव रूप सम्बन्ध है, अतः धूम

के ज्ञान से वह्नि का अनुमान होता है, तो यह भी उचित नहीं है। "अग्निधूमयोरविनाभाव इति" इसका अर्थ क्या है ? क्या अग्नि और धूम में कार्य कारण, सम्बन्ध ही अविनाभाव है अथवा दोनों में एकार्थ-समवाय सम्बन्ध है या अग्नि और धूम का सम्बन्ध मात्र है ? कार्य-कारण भाव माना नहीं जा सकता, क्योंकि दोनों के उपादान कारण भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए न तो धूम ही अग्नि में रहता है और न अग्नि ही धूम में वृत्ति है। इसी प्रकार अग्नि और धूम के भिन्न द्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण उनमें एकार्थ-समवाय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, क्योंकि एक पदार्थ में ही समवाय सम्बन्ध से रहने वाले दो पदार्थों का सम्बन्ध एकार्थ-समवाय है। भिन्न जातीय दो पदार्थों से किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि यह कहा जाये कि अग्नि और धूम अन्यत्र किसी पदार्थ में विद्यमान रहते हैं, तो यह भी युक्त नहीं है, कारण दोनों अपने-अपने उपादान कारणों से ही उत्पन्न होते हैं। अतः अविनाभाव सम्बन्ध को एकार्थ-समवाय सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। यदि सम्बन्ध मात्र को ही कारण माना जाये अर्थात् अव्यभिचरित सम्बन्ध को ही धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध कहा जाये, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इससे अनुमान शक्य ही नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि जब कोई व्यक्ति पर्वत पर उठती हुई धूम रेखा को देखता है तो वहाँ वह अग्नि का दर्शन नहीं करता। रूप और स्पर्श की भाँति इनमें साहचर्य अवश्य है परन्तु साहचर्य मात्र से ही अव्यभिचरित सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अग्नि के बिना भी धूम आकाश में दिखाई देता है और धूम के बिना भी अग्नि अयोगोलक आदि में परिलक्षित होती है। इसलिए जब दोनों का व्यभिचार देखा जाता है, तब दोनों में अव्यभिचरित सम्बन्ध की कल्पना कैसे की जा सकती है ? निष्कर्ष यह है कि धूम से अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता।[५] किन्तु धूम से अग्नि का अनुमान यदि न माना जाये तो लोक विरोध की आपत्ति होगी। इस आक्षेप का निराकरण करते हुए वार्तिककार ने लिखा है "नास्ति विरोधः धूमविशेषेण अग्निविशेषणस्य धूमस्य प्रतिपाद्यत्वात्" अर्थात् कोई लोक विरोध नहीं है, क्योंकि धूम में विशेषण रूप से अग्नि का ज्ञान ही 'धूम' से 'अग्नि ज्ञान' शब्द के द्वारा व्यवहृत होता है। फलतः धूम से 'अग्निमान् अयं धूमः' इस प्रकार का अनुमान होता है। ज्ञान में धूम विशेषण रूप से गुणभूत होकर भासित होता है। अतः इनके मत में 'साध्यविशिष्ट हेतु' ही अनुमेय है। इसी असाधारण धूम विशेष से अनुमान होता है। अनुमान काल में हम धूम एवं तद्गत अविच्छिन्नमूला ऊर्ध्वगति रूप विशेष धर्म का प्रत्यक्ष करते हैं और इस धूम वृत्ति धूमत्व से अप्रसिद्ध धूम रूप धर्म का अनुमान किया जाता है अर्थात् दृष्ट धूम एवं उसकी विशेष ऊर्ध्वगति के द्वारा अदृष्ट अग्निविशिष्ट धूम का अनुमान होता है। किन्तु सभी अनुमानों में अनुमेय का निर्धारण इस प्रकार से नहीं किया जाता, जैसे,—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है' इस अनुमान में शब्द की सत्ता तथा उसका कृतकत्व दोनों ज्ञात रहते हैं किन्तु अनित्यता अज्ञात रहती है, इसलिए विशेषण रूप से उसका अनुमान किया जाता है। तात्पर्य यह कि अनित्यत्वविशिष्ट शब्द ही यहाँ अनुमेय होगा। अनुमेय ऐसा होना चाहिये जिसमें हेतु और साध्य रूप दोनों धर्म आवश्यक नियत सम्बन्ध द्वारा रहें। इसलिए धूम से अग्नि के अनुमान में अग्निविशिष्ट पर्वत अनुमेय नहीं है क्योंकि हेतु, अग्निमान् पर्वत का आवश्यक धर्म नहीं है। अतः यहाँ अग्निमान् हेतु ही अनुमेय होगा कारण कि विशेषण रूप से यहाँ पर अग्नि का अनुमान धूम में सम्पन्न हो जाता है। किन्तु "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" रूप अनुमिति स्थल में 'अनित्यवान् कृतक' अनुमेय नहीं होगा अपितु 'अनित्यवान् शब्द' ही होगा क्योंकि शब्द में

कृतकत्व धर्म आवश्यक रूप से सम्बन्धित है।[६] इस मान्यता के मूल में उनका लिङ्ग परामर्श को ही अनुमिति करण मानना जान पड़ता है, व्याप्ति ज्ञान नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध व्याप्ति खण्डन के लिये ही उन्होंने उक्त साध्य स्वरूप अपनाया है अन्यथा उनको सिद्धान्त रूप से धर्म विशिष्ट धर्मी ही अनुमेय के रूप में अभिप्रेत है, क्योंकि प्रतिज्ञा लक्षण में भाष्यकार के साथ सम्मति बताते हुए उन्होंने उनके द्वितीय स्वरूप का सबल युक्तियों द्वारा समर्थन किया है।[७] प्रकृत द्वितीय उदाहरण में भी उन्होंने भाष्यकार का ही लक्षण अपनाया है। वाचस्पति मिश्र[८] और जयन्तभट्ट[९] ने भी 'साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी' को ही अनुमेय-स्वरूप स्वीकार किया है।

दिङ्नाग और उद्योतकर के विवेचन को स्पष्ट रूप से समझने के लिए इस विषय में कुमारिल के सिद्धान्त को समझ लेना आवश्यक है। उपर्युक्त सभी मतों की समीक्षा उन्होंने इस प्रकार की है—केवल धर्म अथवा केवल धर्मी पृथक्-पृथक् रूप से या समष्टि रूप से, तथा उनके सम्बन्ध को अनुमेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धर्म रूप अग्नि सम्बन्ध ग्रहण-काल में सिद्ध हो जाती है तथा धर्मी रूप पर्वत भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञात रहता है। अतः ज्ञात रहने पर भी यदि कोई व्यक्ति इनको अनुमेय मानने का आग्रह करता है तो अनुमान नहीं हो पायेगा, क्योंकि, सिद्धान्ततः प्रमाण होने के नाते अनुमान, नवीन अर्थ का ज्ञापक होना चाहिये। इसलिए केवल धर्म और केवल धर्मी पृथक्-पृथक् रूप से अनुमेय नहीं हो सकते। दोनों समस्त रूप से भी अनुमेय नहीं बन सकते, क्योंकि जिस लिङ्ग के द्वारा अनुमेय का ज्ञान होता है, वह केवल धर्मी का ही धर्म होता है, न कि दोनों का अर्थात् धूम केवल पर्वत का ही धर्म है न कि अग्नि-पर्वत संयुक्त का। इस दोष के निराकरण के लिये यदि कोई साध्य साधन के सम्बन्ध का उपादान अनुमेय के रूप में करता है तो वह भी न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जाता, तो अनुमेय में सम्बन्ध का निर्देश अवश्य हुआ होता अर्थात् साधन वाक्य में 'षष्ठी विभक्ति' से अथवा 'प्रातिपादिक' द्वारा उसका व्यवहार किया जाता जैसे, "पर्वतस्याग्निरस्तीति"—'पर्वत की अग्नि है' या "अग्निपर्वतसंबन्धोऽस्तीति"—'अग्नि पर्वत सम्बन्ध है' किन्तु लोक में 'पर्वतो वह्निमान्' या "पर्वते वह्नि" ऐसा ही प्रयोग व्यवहृत होता है, उक्त प्रयोग कहीं नहीं होता। (दूसरी बात यह है कि) उदाहरण में भी लिङ्ग का सम्बन्ध के साथ अनुगम नहीं होता जैसे, जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है यथा महानस यहाँ धूम और अग्नि दोनों का संबन्ध ही ज्ञात होता है अर्थात् दृष्टान्त वाक्य दोनों के सम्बन्ध का ही द्योतक है, न कि स्वयं सम्बन्ध का। सम्बन्ध में व्याप्य-व्यापक भाव भी नहीं है। सम्बन्ध सत्ता मात्र को भी अनुमेय नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह सिद्ध है। सम्बन्ध धर्मी पर्वत रूप आश्रय की तरह साध्य-साधन दोनों को धारण नहीं कर सकता, यदि ऐसा होता तो सम्बन्ध को पक्ष बनाकर अग्नि आदि को साध्य बनाया जा सकता था किन्तु, सम्बन्ध मात्र अग्नि विशिष्ट नहीं हो सकता कारण कि सम्बन्ध विशेष अनुमान के पूर्व सिद्ध नहीं रहता, और न ही धूमवत्ता सिद्ध है अर्थात् धूमवान् होना सम्बन्ध का धर्म नहीं है। अतः इस प्रकार की कल्पना का कोई महत्व नहीं है। इसलिए साध्यविशिष्ट पक्ष ही अनुमेय है न कि दोनों का सम्बन्ध। साध्यविशिष्ट के ज्ञान होने पर सम्बन्ध अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि विशिष्टार्थ प्रतीति में सम्बन्ध नान्तरीयक होता है जैसे, दण्डी शब्द से स्वतंत्र रूप से सम्बन्ध का बोध नहीं होता, किन्तु दण्डविशिष्ट के बोध हो जाने पर सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है, सम्बन्ध का विचार अस्पष्ट रूप से दोनों के सम्बन्ध में निहित है। यद्यपि पूर्व में अज्ञात होने के नाते यह

महत्वपूर्ण घटक है किन्तु तार्किक पूर्व-कल्पना के रूप में इसकी स्पष्ट व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि सम्बन्ध मूर्त पदों के निर्देश के बिना निरर्थक है। साध्य के विषय में कुमारिल ने स्पष्ट कहा है कि अनुमेय एक पूर्ण इकाई है, जिसमें दो घटक पक्ष और साध्य विद्यमान रहते हैं। इसलिये केवल साध्य या केवल धर्मी अथवा साध्य साधन के सम्बन्ध को अनुमेय नहीं माना जा सकता, अपितु साध्य-धर्मविशिष्ट धर्मी को ही साध्य मानना चाहिये।[१०]

आगे उन्होंने कहा है कि अनुमेय के दो घटक---पक्ष तथा साध्य में से पक्ष विशेष्य है और साध्य विशेषण। कुछ विचारकों का ऐसा मत है कि दोनों घटक व्यतिहार्य हैं और अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार प्रयुक्त किये जा सकते हैं जैसे, 'शब्द अनित्य है' या 'अनित्यता शब्द में है' 'पर्वत वह्निमान् है' या 'वह्नि पर्वत में है' यहाँ प्रयोग-वैभिन्य अवश्य है, किन्तु अर्थतः कोई अन्तर नहीं होने के नाते अनुमान यथार्थ ही होगा। अतः दोनों परस्पर विनिमेय है।[११] कुमारिल ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि धर्मी को यदि विशेषण माना जाय, तो हेतु रूप धर्म के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि, विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जाने के कारण यह गौण हो जाता है और इसलिये प्रधान होने के नाते साध्य रूप धर्म के साथ ही उसका सम्बन्ध होगा। अतः धर्मी के साथ सम्बन्ध न होने से उसके साथ सम्बन्ध कल्पना उपयुक्त नहीं है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह उत्पत्तिशील है' यहाँ 'शब्द' रूप पक्ष विशेष्य है और 'अनित्यत्व' रूप साध्य विशेषण। 'अनित्यता शब्द में हैं, क्योंकि वह उत्पत्तिशील है' इस प्रयोग में पक्ष---'शब्द' विशेषण और साध्य 'अनित्यत्व' विशेष्य हो जाता है। द्वितीय प्रयोग का व्यवहार करने पर निगमन यह होगा---'अनित्यता शब्द में है' यहाँ 'शब्द' पद गौण होने के कारण 'उत्पत्तिमत्व' रूप हेतु के साथ उसका समझना दुरूह हो जाता है। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'उत्पत्तिमत्व' हेतु 'अनित्यत्व' का ग्राहक नहीं है, क्योंकि वह उसका धर्म नहीं है। उसका योग शब्द के साथ ही मिलता है, फिर चाहे वह विशेषण पदांश अर्थात् गौण ही क्यों न हो। इसलिए प्रयोग की सरलता होने से प्रथम प्रयोग ही उचित जान पड़ता है। प्रथम प्रयोग व्यवहृत करने पर अर्थ ग्रहण में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसमें पक्ष पद की प्रधानता रहती है इसलिए 'शब्द' रूप पक्ष और साधन रूप 'उत्पत्तित्व' दोनों साथ-साथ ग्रहण हो जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रथम प्रयोग में पक्ष पद प्रधान होने के कारण उसका सम्बन्ध सीधे हेतु पद के साथ हो जाता है, क्योंकि हेतु पक्ष का धर्म होता है, किन्तु दूसरे प्रयोग में पक्ष पद गौण होने के कारण हेतु पद की व्याख्या आवश्यक हो जाती है कि वह किसका धर्म है। इसलिए पक्ष पद विशेषण नहीं हो सकता।[१२] इसी प्रकार साध्य पद भी विशेष्य नहीं हो सकता क्योंकि, अग्नि रूप साध्य देश से विशिष्ट नहीं हो सकता। यदि अग्नि को देशविशिष्ट (पक्षविशिष्ट) माना जाये तो वह पक्ष का लक्षण नहीं होगा। यदि अग्नि में देशविशिष्टता मानी जाये, तो निम्न आठ विकल्प हो सकते हैं---

१. सामान्य अग्नि सामान्य देश में है,
२. अग्नि जहाँ दृष्ट है वहाँ है,
३. पूर्व अनुभूत अग्नि देश सामान्य में है,
   (अर्थात् देश मात्र से सम्बद्ध है)
४. अग्नि इस देश से सम्बद्ध है,
५. पूर्व दृष्ट अग्नि इस देश से सम्बद्ध है,

६. यह अग्नि देश सामान्य से सम्बद्ध है,
७. यह अग्नि पूर्वदृष्ट देश से सम्बद्ध है,
८. यह अग्नि इस देश में है।[१३]

सामान्य और विशेष अग्नि तथा सामान्य और विशेष देश की प्रतीतियों से उक्त आठ विकल्प ही हो सकते हैं। प्रथम दो विकल्प सिद्ध साधन दोष से ग्रस्त होने के कारण अग्राह्य हैं। तृतीय पक्ष इसलिए निरर्थक है कि पूर्व दृष्ट अग्नि अर्थात् महानस, चत्वर आदि में देखी गई अग्नि सभी देशों के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकती। चतुर्थ पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि समस्त अग्नियां किसी देश विशेष से सम्बद्ध नहीं हो सकती। पञ्चम और सप्तम विकल्प इसलिए अयुक्त है कि न तो पूर्व दृष्ट अग्नि इस प्रदेश से सम्बद्ध हो सकती है और न यह अग्नि (विशेष) पूर्व दृष्ट देश में ही हो सकती है। पुनरुक्ति होने के कारण अंतिम विकल्प भी न्यायसंगत नहीं कहला सकता क्योंकि, अग्नि विशेष बिना देश निर्देश के 'यह' अग्नि नहीं कहला सकती और इसका अवधारण तब तक नहीं हो सकता, जब तक यह नहीं माना जाय कि इसकी सत्ता इस प्रदेश में है। इसलिए 'यह अग्नि इस प्रदेश में है', यह कथन, इस कथन—'जिस अग्नि की इस देश में सत्ता है वह इस स्थान से विशिष्ट है' के बराबर है। अतः 'पर्वतो वह्निमान्' प्रयोग ही युक्तिसंगत है।[१४]

अन्तिम श्लोक में किसी विद्वान् का मत प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है कि (अवस्था विशेष) में यदि 'साध्यविशिष्ट हेतु' — 'अग्निविशिष्ट धूम' को भी अनुमेय मान लिया जाये तो कोई हानि नहीं है। यद्यपि हेतु, पक्ष का एक देश होने के नाते ऐसी मान्यता में सन्देह होना स्वाभाविक है कि हेतु पक्ष है अथवा पक्ष का एकदेश? किन्तु यह आशंका सर्वथा अनुपयुक्त है, कारण प्रकृत में 'धूमत्व' सामान्य हेतु और अग्निविशिष्ट धूम—विशिष्ट धूम अनुमेय है। तात्पर्य यह कि यहाँ अनुमेय, सामान्य अथवा विशेष धूम नहीं, अपितु विशिष्ट धूम ही है। यद्यपि कि इसमें किसी आश्रय जैसे, पर्वत आदि का निर्देश नहीं हो पाया है। इस स्थल में भी पक्ष, साध्य एवं हेतु इन तीनों पदों का प्रयोग हुआ है। जैसे, 'अग्निविशिष्ट धूम' पक्ष, 'अग्नि' साध्य तथा धूमत्व सामान्य हेतु है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए उम्बेक भट्ट, सुचरित मिश्र, पार्थसारथि मिश्र आदि ने भी इस मत को उचित ठहराया है। प्रथम दोनों टीकाकारों ने इस प्रसङ्ग में किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्तिम ने नैयायिकों का स्पष्ट निर्देश किया है।[१५]

आगे चलकर प्रायः सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में वात्स्यायन प्रणीत धर्मविशिष्ट धर्मी को ही साध्य का स्वरूप बतलाया है।

लक्षण वात्स्यायन ने साध्य स्वरूप निर्णय के साथ-साथ उसका लक्षण भी दिया है। 'धर्मविशिष्ट धर्मी' को साध्य कहकर उन्होंने उसमें प्रज्ञापनीय विशेषण और जोड़ दिया है। इस प्रकार उनके अनुसार प्रज्ञापनीय धर्मविशिष्ट धर्मी ही साध्य है।[१६] अन्यत्र उन्होंने 'संदिग्ध' विशेषण की ओर भी संकेत किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि अनुमेय की प्रवृत्ति सर्वथा अज्ञात अथवा निर्णीत विषय में न होकर, संदिग्ध विषय में ही होती है।[१७] सारांशतः साध्य लक्षण में उन्होंने 'प्रज्ञापनीय' तथा 'संदिग्ध' विशेषणों का प्रयोग किया है। उद्योतकर ने प्रथम विशेषण की उपयोगिता सिद्ध करते हुए भाष्यकार के अभिप्राय को इस प्रकार व्यक्त किया है— ऐसी शंका की जा सकती है कि धर्मी और धर्म पहले से ज्ञात रहते हैं, ऐसी दशा में उक्त लक्षण को साध्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जिसका साधन

किया जाता है वही साध्य कहलाता है। यदि यह कहा जाय कि साध्य, प्रज्ञापनीय धर्म रूप विशेषण से विशिष्ट होने के कारण पूर्व में अवगम्य नहीं रहता, प्रत्युत उसकी सिद्धि अभी की जाता है, तो यह भी युक्त नहीं, क्योंकि, जिस धर्म का ज्ञान् अभी होना बाकी है, वह विशेषण नहीं बन सकता, और यदि उसे विशेषण मान भी लिया जाये तो वह ऐसी वस्तु नहीं हो सकता, जिसको अभी जानना है, क्योंकि असिद्ध वस्तु कदापि विशेषण नहीं बन सकती, और यदि वह सिद्ध है तो साध्य नहीं बन सकता। इस आक्षेप का समाधान देते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि यद्यपि यह सत्य है कि 'अनित्यत्व' रूप विशेषण सर्वथा प्रसिद्ध विशेषण है, अतः वह साध्य बनाने में उपयोगी नहीं हो सकता, किन्तु न्याय मत में केवल 'अनित्यत्व' को ही साध्य नहीं माना गया है, अपितु 'अनित्यत्व से विशिष्ट शब्द' को ही साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है।[१८]

बौद्धों के लक्षणों की आलोचना करते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि उनके लक्षण—"पक्षो यः साधयितुमिष्ट इति" में प्रयुक्त इष्ट पद निरर्थक है, क्योंकि, 'साधनीय रूप से जो इष्ट हो' इस लक्षण में प्रयुक्त 'साधयितुम्' पद से ही 'इष्ट' पद का कार्य निकल सकता है। यदि यह कहा जाये कि प्रत्यक्षादि–विरोध के निरास हेतु 'इष्ट' पद का उपादान किया गया है, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण, जो प्रत्यक्षादि–विरुद्ध होगा वह साधनीय नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति, जो वह चाहता है, उसकी ही सिद्धि करता है। किसी प्रकार के भय से यदि वह अनिच्छित वस्तु की सिद्धि में संलग्न हो भी जाये तो भी किसी न किसी रूप में उसकी इच्छा व्यक्त हो ही जाती है, अर्थात् उस समय वह अनिच्छित वस्तु को भी इच्छित के रूप में प्रकट करता है। इसलिए जब लक्षण में साधनीय पद दिया गया है तब इष्ट पद की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।[१९] इसी प्रकार जिन्होंने "साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष विरूद्धार्थानिराकृतः" ऐसा साध्य लक्षण मान्य किया है, वे भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ते, कारण इसमें भी 'विरूद्धार्था निराकृत' पद व्यर्थ है। इस लक्षण में पूर्वोक्त परिभाषा के 'इष्ट' पद के स्थान में 'ईप्सित' पद रखा गया है। यहाँ भी 'ईप्सित' पद का प्रयोग अनिच्छित पक्ष का निराकरण करने के लिए ही हुआ है। अतः द्वितीय विशेषण—'विरूद्ध अर्थ से बाधित न होने वाला' की उपादेयता लक्षण निष्ठ प्रथम विशेषण—'साध्यत्व रूप से जो ईप्सित (सिषाधयिषित) हो', के द्वारा ही निरस्त हो जाती है, क्योंकि, जो साध्यत्व रूप से इच्छित होगा वह विरुद्ध अर्थ से निराकृत हो ही नहीं सकता।[२०] कहीं-कहीं "स्वयं साध्यत्वेनेप्सित" या "स्वयं साधयितुमिष्टः" ऐसा भी लक्षण दिया गया है। यहाँ 'स्वयं' पद की सार्थकता सिद्ध करने के लिए वाद विधान टीकाकार ने लिखा है कि 'साधयति' शब्द द्विअर्थक है—(१) कर्ता किसी अर्थ को स्वयं सिद्ध करे या (२) उसको किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सिद्ध कराये। द्वितीय अर्थ की व्यावृत्ति के लिये ही लक्षण में 'स्वयं' पद का निवेश किया गया है। किन्तु यह भी ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि लक्षण सर्वदा स्पष्ट होना चाहिये द्विअर्थक नहीं। दूसरे द्विअर्थक होने पर भी 'स्वयं' पद अनावश्यक है, क्योंकि, 'तुमुन्' प्रत्यय 'साधयितुम्' में प्रयुक्त किया गया है, जो सर्वदा कर्ता की ओर ही निर्देश करता है, जैसे, 'मैं नहाने जा रहा हूं' यहाँ 'मैं' पद कर्ता की ओर ही संकेत करता है। फिर कोई भी यह नहीं कहता, "मैं स्वयं नहाने जा रहा हूं" इसलिए 'साधयितुम्' पद से कर्ता का ही ग्रहण होता है, न कि अन्य व्यक्ति का। अतः 'स्वयं' पद का प्रयोग निरर्थक है।[२१] सारांशतः न्यायवार्तिककार के अनुसार' साधनीय' विशेषण ही साध्य के लिए आवश्यक जान पड़ता है और साधनीय वही हो सकता है, जो

संदिग्ध हो; क्योंकि सर्वथा अनुपलब्ध अथवा निर्णीत अर्थ की सिद्धि नहीं की जाती।' 'तर्कभाषा' में भी संदिग्ध साध्य-धर्म से युक्त धर्मी (आश्रय) को पक्ष कहा गया है।[२२] शब्दान्तर से 'तर्कसंग्रह' में भी यही लक्षण स्वीकार किया गया है।[२३] पूर्व पक्ष में इस लक्षण का खण्डन करने के उपरांत गङ्गेश ने अपना सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार दिया है—"साध्य सिद्ध करने की इच्छा के अभाव से युक्त साध्य-निश्चय (सिद्धि) के विरह (अभाव) वाले अधिकरण को पक्ष कहा जाता है।[२४] प्रायः उत्तरवर्ती सभी नव्य नैयायिकों ने इसी लक्षण को मान्य किया है। इस लक्षण की, अगले अध्याय के पक्षता प्रकरण में विस्तृत रूप से व्याख्या की जायगी।

प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञा-लक्षण की व्याख्या करते हुए अनुमेय 'प्रतिपिपादयिषित' और 'अविरोधी' पदों का सन्निवेश करके धर्मविशिष्ट धर्मी को अनुमेय कहा है।[२५] इनका प्रथम 'प्रतिपिपादयिषित' पद वात्स्यायन के 'प्रज्ञापनीय' पद का पर्याय मात्र है। 'किरणावली'[२६] और 'न्यायकन्दली'[२७] में इसी लक्षण का समर्थन किया गया है, किन्तु शंकर[२८] मिश्र ने नव्य नैयायिकों की तरह प्राचीन नैयायिकों के साध्य लक्षणों का खण्डन करके गङ्गेश समर्थित लक्षण ही माना है 'सप्तपदार्थी' गत पक्ष-लक्षण 'तर्कभाषा' और तर्कसंग्रह' के समान ही है।[२९]

'शाबर भाष्य' में आए हुए 'असन्निकृष्ट' पद की व्याख्या करते हुए कुमारिल ने इस पद को साध्य का विशेषण बतलाया है। इस पद के द्वारा दो बातों का निर्देश किया गया है—(१) अनुमेय पूर्व में किसी प्रबल प्रमाण द्वारा ज्ञात न हो तथा (२) बाधित न हो।[३०] नारायण भट्ट ने जिज्ञासित धर्मविशिष्ट धर्मी को ही पक्ष के रूप में स्वीकार किया है।[३१] चिन्नस्वामी ने भी इसी लक्षण का समर्थन किया है।[३२]

सांख्य-योग और वेदान्त ग्रन्थों में अनुमेय लक्षण पर कोई विशेष विचार नहीं किया गया है।

'वादविधि' और 'वाद विधान टीका' के उक्त साध्य लक्षणों का ही उत्तरवर्ती बौद्ध ग्रन्थ जैसे, 'न्याय-प्रवेश'[३३] 'न्याय-विन्दु'[३४], 'न्याय-बिन्दु-टीका'[३५] आदि में समर्थन किया गया है।

जैन परम्परा में भी साध्य-लक्षण को सूचित करने के लिए वात्स्यायन, प्रशस्तपाद एवं धर्म कीर्ति की भाँति विशेषण पदों का प्रयोग किया गया है। जैसे, सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न होने वाले साध्य को स्वीकार करना पक्ष है।[३६] इस लक्षण में 'अनिराकृत' विशेषण पद का प्रयोग किया गया है। अकलङ्क ने 'अनिराकृत' पद के स्थान में 'शक्य' पद का प्रयोग करते हुए दो विशेषण पद—'अभिप्रेत' और 'अप्रसिद्ध' और भी दिये हैं। तदनुसार जिनका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से निराकरण न किया जा सके अर्थात् शक्य हो, जो वादी को सिद्ध करने के लिए अभिमत हो अर्थात् अभिप्रेत हो एवं जो संदेह आदि से युक्त होने के कारण अनिश्चित हो अर्थात् 'अप्रसिद्ध' हो, वही साध्य कहलाता है।[३७] अकलङ्क के इन विशेषणों के स्थान में, माणिक्यनन्दी[३८] ने इष्ट, अबाधित तथा असिद्ध, वादि देवसूरि[३९] ने अप्रतीत, अनिराकृत, अभीप्सित, हेमचन्द्र[४०] ने सिषाधयिषित असिद्ध और अबाध्य (अबाधित) एवं शांतिसूरी[४१] ने इष्ट, साधनीय तथा शक्य पदों का प्रयोग कर यही बात कही है। धर्मभूषण[४२] ने अकलङ्क के विशेषणों को ही दोहराया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुमेय लक्षण के प्रसङ्ग में प्रायः सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में वात्स्यायन के लक्षण को मान्य किया है। अनुमेय लक्षण के रूप में दार्शनिकों ने अधिकतर पक्ष लक्षण का ही निर्देश किया है। हेमचन्द्र ने स्पष्टतः पक्ष को साध्य का ही नामान्तर घोषित किया है।[४३] किन्तु कालान्तर में यह सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सका और आगे जाकर वात्स्यायन के 'धर्मविशिष्ट धर्मी' को पक्ष तथा 'प्रज्ञापनीय (साधनीय) धर्म' को साध्य कहा जाने लगा।

उपयोग–उपयोग के अनुसार साध्य का प्रयोग सर्वप्रथम धर्मोत्तर की टीका में ही दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने पक्षधर्मता ज्ञान, व्याप्ति ज्ञान एवं अनुमिति ज्ञान की अपेक्षा से तीन प्रकार से साध्य की उपयोगिता सिद्ध की है––(१) पक्षधर्मता निश्चय काल में 'धर्मी' ही साध्य होता है, क्योंकि पक्ष-धर्म हेतु का धर्मी में निश्चित रूप से रहना आवश्यक है। (२) व्याप्ति निर्धारण काल में 'धर्म' को ही साध्य के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है', इस रूप से अग्नि की ही उपादेयता है एवं (३) साध्य प्रतिपत्ति अर्थात् अनुमिति काल में धर्म-धर्मि-समुदाय अर्थात् धर्मविशिष्ट धर्मी ही साध्य होता है।[४४] जैन परम्परा में अन्तिम दोनों उपयोगों को माणिक्यनन्दी,[४५] वादि देवसूरि,[४६] हेमचन्द्र[४७] एवं धर्मभूषण[४८] द्वारा यथावत अपनाया गया है।

प्रकार–पक्ष के प्रकारों का विशेष निरूपण वैदिक और बौद्ध परम्परा में प्रायः नहीं के बराबर हुआ है, इसका सांगोपांग वर्णन जैन परम्परा में ही देखने को मिलता है। पक्ष के तीन प्रकार––(१) प्रमाण सिद्ध, (२) विकल्प सिद्ध और (३) उभयसिद्ध बतलाये गये हैं। अनुमान में धर्मी (पक्ष) सर्वदा प्रसिद्ध अर्थात् वास्तविक रूप से ज्ञात रहना आवश्यक है,[४९] अन्यथा पक्ष के अवास्तविक होने पर उसके आश्रयीभूत घटक––साध्य और साधन की यथार्थता भी स्थिर नहीं रह पाती। यह बात दूसरी है कि उसकी प्रसिद्धि कहीं पर 'प्रमाण' से, कहीं पर 'विकल्प' से एवं कहीं पर उभय––प्रमाण और विकल्प दोनों से होती है। जैसे, 'यह प्रदेश (पर्वत आदि) अग्नियुक्त है' यहाँ पक्ष––'देश' प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होने के कारण प्रमाण सिद्ध कहलाता है 'सर्वज्ञ है' और 'खर विषाण नहीं है' इस स्थल में पक्ष 'सर्वज्ञ' और 'खर विषाण' का निश्चय विकल्प द्वारा होता है, इसलिये इन्हें विकल्प सिद्ध कहा जाता है, कारण प्रथम का कोई सुनिश्चित बाधक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, इस कारण से उसकी सत्ता अवधारित की जाती है तथा द्वितीय प्राप्त होने योग्य होकर भी पाया नहीं जाता, इस कारण से उसकी असत्ता सिद्ध की जाती है। अन्तिम प्रमाण और विकल्प उभय से सिद्ध होने वाले धर्मी का उदाहरण इस प्रकार है––'शब्द परिणामी है' यहाँ पर पक्ष 'शब्द' नियत दिग्देशवर्ती वर्तमानकालीन शब्द की परिणमन-शीलता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है, किन्तु अनियत दिक्, देश, वर्तमान, भूत भविष्य-कालवर्ती शब्दों की परिणमनशीलता विकल्प से सिद्ध होती है, इसलिये शब्द को उभय सिद्ध धर्मी कहा जाता है।[५०] वादि देवसूरि,[५१] हेमचन्द्र[५२] एवं धर्मभूषण[५३] ने भी इस प्रसङ्ग में माणिक्यनन्दी का समर्थन करते हुए उक्त तीन प्रकारों का विवेचन किया है।

हेतु–दैनिक व्यवहार में प्रतिपन्न एवं अप्रतिपन्न सभी व्यक्ति हेतु का प्रयोग करते हैं, जैसे, किसी साधारण व्यक्ति से पूछा जाय कि 'आप भोजन क्यों करते हैं', तो वह तुरन्त उत्तर देगा––'भूख लग रही थी' या 'क्षुधा शान्त करने के लिए'। उसे हेतु क्या होता है,

इसका ज्ञान हो या न हो, पर वह प्रयोग अवश्य करता है। अनुमान में हेतु अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी यथार्थता और अयथार्थता पर ही अनुमान की सत्ता आधारित है। 'मीमांसा-सूत्र', 'वेदान्त-सूत्र' 'सांख्य-सूत्र' तथा 'योग-सूत्र' में यद्यपि हेतु का लक्षण नहीं दिया गया है, किन्तु उनमें पञ्चम्यन्त तथा तृतीयान्त हेतु का प्रयोग यत्र-तत्र अनेक बार हुआ है। 'वैशेषिक-सूत्र' और 'न्याय-सूत्र' में हेतु का स्पष्ट लक्षण दिया गया है, किन्तु सद्हेतु के पक्षधर्मत्व आदि रूपों का विवेचन 'प्रशस्तपाद भाष्य' में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। सद्हेतु के पक्षधर्मत्व आदि रूपों को प्रकट करने वाली मुख्य रूप से पाँच परम्पराएं उपलब्ध होती हैं—(१) पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों को मानने वाली वैशेषिक-सांख्य-बौद्ध परम्परा (२) इन तीनों के अतिरिक्त अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व जोड़कर पञ्च रूप स्वीकार करने वाली न्याय परम्परा (३) अन्यथानुपपन्नत्व एक रूप मान्य करने वाली जैन परम्परा (४) न्यायोक्त पञ्च लक्षणों के अतिरिक्त 'ज्ञातत्व' रूप स्वीकार करने वाली अज्ञात नामक परम्परा एवं (५) न्यायविनिश्चय विवरण में चतुर्थ परम्परा के अलावा अन्यथानुपपन्नत्व और जोड़कर सप्त लक्षणी परम्परा का भी उल्लेख मिलता है। इन परम्पराओं का विवेचन हेतु-लक्षण की पृष्ठभूमि में, यथा स्थान किया जायगा।

हेतु लक्षण

वैशेषिक मत—महर्षि कणाद ने हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण, करण आदि पर्यायों द्वारा हेतु को प्रकट किया है।[५४] अपदेश की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है कि प्रसिद्धि (व्याप्ति) पूर्वक अपदेश होता है।[५५] जो हेतु इस गुण से रहित होता है, वह अनपदेश (हेत्वाभास) हो जाता है।[५६] आत्मतत्त्व निरूपण के अवसर पर उन्होंने हेतु के लक्षण और गुणों का प्रतिपादन करते हुए आगे कहा है कि किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए जिस हेतु का प्रयोग किया जाता है वह उस वस्तु से पृथक् रहता है। अतः हेतु को साध्य से भिन्न होना चाहिये।[५७] सूत्र का आशय प्रकट करते हुए शंकर मिश्र ने बौद्धों के तादात्म्य संबन्ध वाले हेतु का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'साध्यात्मा' (साध्य से अभिन्न) होने के कारण तादात्म्य घटित हेतु अनपदेश है। जिस प्रकार धूम के साथ व्याप्ति संबन्ध होने पर अग्नि का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों का आत्मा के साथ न तो तादात्म्य संबन्ध संभावित है और न इन्द्रिय आदि उसका कार्य है, ऐसी दशा में उनके द्वारा अनुमान नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि आत्मा का तादात्म्य संबन्ध यदि इन्द्रियादि हेतु में पाया जाये तो वह हेतु नहीं कहला सकतीं, क्योंकि जो स्वयं ही अभी असिद्ध है वह दूसरे का निश्चय किस प्रकार कर सकेंगी। सारांशतः जो वस्तु के स्वरूप से भिन्न न होकर भेद प्रतीति का नियामक हो उसको तादात्म्य संबन्ध कहा जाता है। जो हेतु तादात्म्य संबन्ध वाला है वही सद्हेतु हो सकता है ऐसा बौद्ध सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि, तादात्म्य संबन्ध वाले को हेतु के रूप में स्वीकार कर लेने पर हेतु तथा साध्य का भेद नहीं रह सकता और ऐसी परिस्थिति में वह अपने साध्य का साधक नहीं बन सकता। इसलिए ऐसे हेतु को अपदेश नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार साध्य से अभिन्न हेतु नहीं हो सकता, उसी प्रकार साध्य से सर्वथा भिन्न रहने वाला भी अपदेश नहीं है।[५८] अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा है—"जो हेतु साध्य से अत्यन्त भिन्न हो वह भी साध्य का गमक नहीं

हो सकता ।"[५९] बौद्धों के तदुत्पत्ति सिद्धान्त का खण्डन करते हुए शंकर मिश्र ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि जिस हेतु का अपने साध्य के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध रहता है, वही हेतु हो सकता है। जिस प्रकार धूम और रासभ दो अत्यन्त भिन्न वस्तुएँ हैं उसी प्रकार अग्नि भी धूम से पृथक् अवश्य है, किन्तु अत्यन्त भिन्न नहीं। क्योंकि रासभ में अग्नि की स[illegible] को प्रकट करने की सामर्थ्य नहीं है, जबकि धूम अग्नि की सत्ता को ही प्रकट करता है। धूम का यह स्वभाव विशेष ही अग्नि का नियामक अर्थात् गमक होता है। अतः जिन पदार्थों में ऐसा सम्बन्ध हो उन्हीं को हेतु बनाकर अनुमान किया जा सकता है। यदि हेतु का कार्य से पृथक् दूसरी वस्तु के साथ भी स्वाभाविक सम्बन्ध स्थिर हो जाता है तो वह भी उसके अनुमान में हेतु हो सकता है, किन्तु जहाँ सम्बन्ध ही न हो वहाँ उसको निर्धारित करना युक्तिसंगत नहीं। अतः तादात्म्य और तदुत्पत्तिमूलक हेतु यथार्थ हेतु नहीं, अपितु व्याप्तिपूर्वक हेतु ही सद्हेतु है।[६०] काश्यप प्रणीत दो कारिकायें उद्धृत करते हुए प्रशस्तपाद ने लिखा है कि वही हेतु साध्य का ज्ञापक हो सकता है, जो अनुमेय के साथ सम्बद्ध हो (पक्षधर्मत्व), जो साध्य रूप धर्म से युक्त दृष्टान्त में यथार्थ रूप से विद्यमान रहे (सपक्षसत्त्व) तथा साध्य का अभाव जिसमें निश्चित हो ऐसे अधिकरणों में न उपलब्ध हो (विपक्षासत्त्व) सद्हेतु के लिए इन तीनों रूपों की निश्चित रूप से वृत्ति होनी चाहिये,[६१] क्योंकि इन तीनों में से यदि एक अथवा दो रूपों का अभाव हुआ तो वहाँ क्रमशः असिद्ध, विरुद्ध एवं संदिग्ध नामक हेत्वाभास उत्पन्न हो जाते हैं[६२]। 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' का तात्पर्य यह है कि साध्य के साथ किसी समय विशेष तथा देश विशेष में लिङ्ग सम्बद्ध रहे। 'प्रसिद्धं च तदन्विते' का अर्थ है कि अनुमेय रूप धर्म के किसी निश्चित अधिकरण (एकदेश) या सभी अधिकरणों में जिस हेतु की सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध रहे और 'तदभावे च नास्त्येव' पद का अभिप्राय यह है कि साध्य के अभाव वाले अधिकरण में जिस हेतु की असत्ता भी प्रमाण के द्वारा निश्चित हो, वही लिङ्ग अप्रसिद्ध साध्य का अनुमापक हो सकता है।[६३] कन्दलीकार ने भाष्यकार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अनुमेय का अर्थ वह धर्मी है, जिसमें अनुमान प्रयोक्ता को उसकी अभीष्ट वस्तु (साध्यरूपधर्म) का प्रतिपादन इष्ट हो। इस प्रकार 'अनुमेय' शब्द से यहाँ अभिलषित धर्मविशिष्ट धर्मी ही अभिप्रेत है। 'अनुमेयेन सम्बद्धम्' इस विशेषण की सार्थकता यह है कि इसके द्वारा पक्ष में कहीं भी न रहने वाला अथवा उसके एक देश में रहनेवाला हेतु यथार्थ हेतु नहीं कहलाता। अपितु स्वरूपासिद्ध एवं भागासिद्ध कहलाता है। इसी प्रकार द्वितीय विशेषण में प्रयुक्त 'तत्' शब्द से साध्य रूप धर्म ही गृहीत होता है। 'तदन्विते' शब्द का तात्पर्य यह है कि लिङ्ग साध्य रूप धर्म से युक्त होना चाहिये अर्थात् सपक्ष में भली प्रकार ज्ञात होना चाहिये। इस विशेषण के द्वारा हेतु के सपक्षवृत्तित्व रूप लक्षण से विरुद्ध और असाधारण नामक हेत्वाभासों का निराकरण किया गया है। 'विपक्षासत्त्व' रूप अन्तिम लक्षण में भी 'तत्' शब्द साध्य रूप धर्मपरक ही है। 'तदभावे च नास्त्येव' इस भाष्य घटक 'नास्त्येव' शब्द में 'एव' पद के द्वारा यह बतलाया गया है कि ऐसे किसी भी आश्रय में हेतु को न रहना चाहिये जिसमें साध्य का अभाव हो। इस विशेषण द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभास का व्यवच्छेद किया गया है अतः 'पक्षवृत्तित्व', 'सपक्षवृत्तित्व' एवं 'विपक्ष-अवृत्तित्व' रूप तीनों लक्षणों से जो लिङ्ग सम्पन्न होता है वही यथार्थ हेतु है।[६४]

नैयायिकों द्वारा समर्थित 'अबाधितत्व' और 'असत्प्रतिपक्षत्व' नामक हेतु के लक्षणों को कन्दलीकार ने अनावश्यक बतलाया है। 'वह्निरनुष्णों द्रव्यत्वात्'—'अग्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने से' इत्याकारक बाध स्थल में 'द्रव्यत्व' हेतु वह्नि में पाया जाने पर भी बाधित होने के कारण पक्षधर्म नहीं कहला सकता, क्योंकि, वह्नि की अनुष्णता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होती है। इसलिए प्रमाण द्वारा किसी सिद्ध वस्तु का विरुद्ध रूप से साधन करना संभव नहीं, अतः अबाधितत्व को अतिरिक्त लक्षण मानना अनावश्यक है। इसी प्रकार असत्प्रतिपक्षत्व भी अतिरिक्त लक्षण नहीं माना जा सकता। प्रथम रूप घटित 'पक्षवृत्तित्व' पद में घटकीभूत पक्ष और साध्य एकार्थकवाची हैं। साध्य वही हो सकता है जिसका साधन किया जाये, किन्तु 'नित्यःशब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' और 'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः' इत्याकारक प्रकरणसम स्थल में, जिस साध्य के प्रतिपक्ष की संभावना रहती है उसका साधन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तुओं के परस्पर विरुद्ध दो रूप नहीं हो सकते। अतः प्रकरणसम हेतु भी पक्षधर्म नहीं हो सकता अर्थात् साध्य से युक्त पक्ष रूप अनुमेय से अभिन्न साध्य के साथ सम्बद्ध नहीं है भाष्य में प्रयुक्त हेतु के 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' पद द्वारा निर्दिष्ट विशेषण कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरणसम हेत्वाभासों में नहीं पाया जाता। इसलिये इस पद के उपादान से दोनों हेत्वाभासों में हेतु लक्षण की अतिव्याप्ति व्यावृत हो जाने के कारण अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व रूपों को पृथक् रूप से मानना निष्प्रयोजक है।[६५]

'प्रकरणसम' और 'कालात्ययापदिष्टे' हेत्वाभासों में अतिव्याप्ति न होने पर भी हेतु का यह लक्षण 'तदभावे च नास्त्येव' तथा 'प्रसिद्धं च तदन्विते' इन विशेषणों के उपादान के कारण केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतुओं में अव्याप्त हो जाता है। 'विशेषोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् सामान्यवत्' इस अनुमान में प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी है। यहाँ पर पक्ष के अतिरिक्त जितने भी भाव और अभाव पदार्थ हैं, वे सभी सपक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि लोक में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी प्रमाता पुरुष के द्वारा प्रमित न हो और किसी प्रमाण का प्रमेय भी न हो। अतएव जितने भी सत्पदार्थ हैं वे सभी सपक्ष के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए कोई विपक्षभूत दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। यही कारण है कि विपक्षासत्त्व रूप हेतु लक्षण केवलान्वयी स्थल में अव्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्' इस केवल व्यतिरेकी अनुमान स्थल में पक्ष को छोड़कर अन्य सभी पदार्थ विपक्षान्तर्गत सन्निविष्ट हो जाते हैं। इसलिए यहाँ पर 'सपक्षसत्त्व' न मिलने के कारण और हेतु लक्षण में सपक्षसत्त्व विशेषण होने से हेतु केवलव्यतिरेकी अनुमान में अव्याप्त हो जाता है। इस अव्याप्ति का परिहार करने के लिये कन्दलीकार ने लिखा है कि इस दोष का समाधान कुछ लोगों के मतानुसार केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन दोनों हेतुओं में हेतुत्व का व्यवहार न्याय दर्शन के अनुसार समझना चाहिये। वैशेषिक मतानुसार भी प्रशस्तपाद द्वारा उद्धरित प्रथम श्लोकनिष्ठ पदों को ही सम्पूर्ण और खण्डशः दोनों प्रकारों से लक्षण का बोधक मानकर उक्त अव्याप्ति दोष का निराकरण किया जा सकता है। जैसे, सम्पूर्ण श्लोक अन्वयव्यतिरेकी हेतु का उदाहरण है, क्योंकि उसमें हेतु के तीनों लक्षण—(१) 'पक्षसत्त्व', (२) सपक्षसत्त्व एवं (३) विपक्षासत्त्व पाये जाते हैं। 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इस वाक्य को 'प्रसिद्धं च तदन्विते' के साथ जोड़कर केवलान्वयी हेतु में आयी हुई अव्याप्ति का निरास किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि जो पक्ष और सपक्ष में रहे वही केवलान्वयी हेतु है। हेतु के इस

लक्षण में 'तदभावे च नास्त्येव' इस अंश द्वारा कथित विपक्षावृत्तित्व का सन्निवेश न होने के कारण केवलान्वयी स्थल में विपक्ष की अप्रसिद्धि से हेतु लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। इसी प्रकार 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इस पद में 'तदभावे च नास्त्येव' यह पद जोड़ देने पर हेतु का लक्षण होगा—पक्ष में जिसकी वृत्ति और विपक्ष में अवृत्ति हो, वही हेतु है। केवलव्यतिरेकी हेतु का भी यही लक्षण है। हेतु के इस लक्षण में 'प्रसिद्धं च तदन्विते' इस अंश का सन्निवेश न होने से सपक्ष की अप्रसिद्धि हो जाने पर तथा पक्ष में हेतु की वृत्ति एवं विपक्ष में अवृत्ति होने से केवलव्यतिरेकी हेतु में आई हुई अव्याप्ति निरस्त हो जाती है।[६६] किरणावली[६७] में भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया गया है। अतः कन्दलीकार द्वारा प्रतिपादित मतों में से संभवतः सिद्धान्तमत उदयनाचार्य का ही हो। शंकर मिश्र ने नैयायिकों की तरह अन्वयव्यतिरेकी में पाँच तथा केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी में चार-चार रूपों को हेतु की गमकता में उपयोगी माना है।[६८] शिवादित्य ने भी इन्हीं का समर्थन किया है।[६९]

न्याय मत

न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने हेतु के दो भेद प्रदर्शित करते हुए उनके पृथक्-पृथक् लक्षण सूचित किये हैं अतः न्याय परम्परानिष्ठ हेतु के लक्षण और रूपों का विवेचन हेतु-भेद-निरूपण के अवसर पर किया जायगा।

मीमांसा मत

मीमांसा साहित्य में 'मीमांसा-सूत्र' तथा 'शाबर-भाष्य' में हेतु के लक्षण अथवा रूप की कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, किन्तु कुमारिल ने जिसमें साध्य की व्याप्ति रहती है, उसी हेतु को गमक, व्याप्य एवं नियामक कहा है।[७०] पार्थसारथि मिश्र, प्रभाकर, शालिकनाथ आदि ने भी इन्हीं का समर्थन किया है। इन उक्त दार्शनिकों के ग्रन्थों में हेतु-रूपों की चर्चा प्रायः नहीं के बराबर है, परन्तु मानमेयोदयकार नारायण भट्ट ने न्यायसम्मत पाँच रूपों का व्यवस्थापन सद्हेतु के लिए आवश्यक माना है।[७१] शालिकनाथ ने अन्य दार्शनिकों से भिन्न तीन लक्षण—नियतसम्बन्धैक दर्शन, सम्बन्ध-नियम स्मरण तथा अबाधितविषयत्व स्वीकार किये हैं।[७१/१]

सांख्य मत

सांख्य दर्शन में लिङ्ग को व्याप्य के रूप में ही परिभाषित किया गया है। हेतु के तीन रूपों—(१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व एवं (३) विपक्षासत्व का 'माठर वृत्ति' में केवल निर्देश किया गया है।[७२] शेष 'सांख्यकारिका', 'गौडपादभाष्य', 'सांख्य-तत्त्वकौमुदी', 'सांख्यसूत्र', 'सांख्य प्रवचन भाष्य' आदि ग्रन्थों में हेतु-रूप-विमर्श प्राप्त नहीं होता।

योग और वेदान्त

योग तथा वेदान्त ग्रन्थों में हेतु के लक्षण अथवा रूपों की स्पष्ट चर्चा का प्रायः अभाव पाया जाता है।

बौद्ध मत

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार, जो पक्ष का धर्म हो और उसके एक देश से व्याप्त रहे, उसे हेतु कहते हैं।[७३] मनोरथनन्दी ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा

है कि यद्यपि धर्मी और धर्म के समुदाय को पक्ष कहा जाता है, किन्तु यहाँ पक्ष के एक देश-धर्मी को उपचार से पक्ष कहा गया है। पक्ष में दो अंश होते हैं—धर्म और धर्मी। जिस गुण या लक्षण को प्रदर्शित करके अनुमेय वस्तु सिद्ध की जाती है उसे धर्म कहते हैं, तथा जिस अनुमेय वस्तु में वह धर्म रहता है धर्मी कहलाता है। इस दृष्टि से 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इस अनुमान में पर्वत पक्ष अर्थात् धर्मी है तथा वह्नि धर्म है। हेतु का पक्ष धर्म होना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत पक्ष के अंश साध्य के साथ उसे व्याप्त भी रहना चाहिये।[७४] अत: न्याय-प्रवेश-पञ्जिकाकार ने इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि पक्ष-धर्म के रूप में हेतु की पक्ष में उपस्थिति तथा साध्य के साथ उसकी व्याप्ति होना अनिवार्य है।[७५] वास्तव में देखा जाये तो हेतु के ये सभी लक्षण धर्मकीर्ति द्वारा दिये गये लक्षण की ही किसी न किसी रूप में व्याख्यायें हैं। बौद्ध न्याय ग्रन्थों में इसी लक्षण को शब्दान्तर से त्रैरूप्य द्वारा भी प्रतिपादित किया गया है। धर्मकीर्ति के अनुसार हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं असपक्षासत्त्व लिङ्ग के ये तीन रूप होना अत्यावश्यक है। इनमें से किसी एक अथवा दो का अभाव होने से हेतु, सद्हेतु न रहकर, असिद्ध, विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है।[७६] 'न्यायबिन्दु' में भी हेतु लक्षण के लिए इन तीन रूपों को अनिवार्य बतलाया गया है।[७७] धर्मकीर्ति के उपर्युक्त प्रथम लक्षण में 'प्रयुक्त', 'पक्षधर्म' पद के द्वारा प्रथम रूप—'पक्षधर्मत्व' का ग्रहण किया गया है एवं 'तदंशेन व्याप्त:' पद के द्वारा अन्य दो रूपों—'सपक्षसत्त्व' और असपक्षासत्त्व' का।[७८] धर्मोत्तर[७९] तथा मोक्षाकर[८०] गुप्त ने भी हेतु लक्षण में इन्हीं तीन रूपों का उपन्यास किया है। शान्तरक्षित ने जैनों द्वारा त्रैरूप्यवाद के खण्डन की विशद रूप से आलोचना करते हुए हेतु की परिभाषा में त्रैरूप्य का होना अनिवार्य सिद्ध किया है।[८१] यद्यपि त्रैरूप्यवाद की चर्चा दिङ्नाग[८२] तथा उसके पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थों[८३] में भी पायी जाती है, किन्तु इसे वाद रूप में प्रसारित करने का श्रेय धर्मकीर्ति को ही है।

जैन मत

जैन परम्परा में हेतु-चर्चा यद्यपि आगम ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से पाई जाती है, ८३।१ किन्तु लक्षण और प्रकारों का वर्णन उत्तरकालीन ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। हेतु का लक्षण, त्रैरूप्यवाद का खण्डन करते हुए, पात्रस्वामी[८४] ने अन्यथानुपपन्नत्व ही स्वीकार किया है। साध्याभावीय स्थलों में हेतु का कदापि उपलब्ध न होना ही अन्यथा अनुपपन्नत्व है। उत्तरवर्ती सभी जैनाचार्यों ने इस लक्षण का समर्थन किया है।[८५] यद्यपि अविनाभावीय स्वरूप की विशिष्टता को बौद्धों[८६] और वैशेषिक[८७] नैयायिकों[८८] ने भी अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है और इसका पर्यवसान त्रिरूप और पञ्च-रूप-शाली हेतु में ही किया है, किन्तु प्राय: सभी जैन दार्शनिकों ने अविनाभावीय एक ही रूप मानकर त्रिरूपता और पञ्चरूपता को अनावश्यक और निरर्थक बतलाया है। पात्रस्वामी ने कहा है कि जहाँ अन्यथानुपपत्ति हो, वहाँ त्रैरूप्य मानने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि अविनाभावीय हेतु में ही अपने साध्य को सिद्ध करने की सामर्थ्य है तथा जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं हो, वहाँ त्रैरूप्य मानना व्यर्थ है, कारण अविनाभाव के अभाव में हेतु त्रिरूपता से सम्पन्न होने पर भी उसके द्वारा साध्य का निश्चय नहीं किया जा सकता।[८९] विद्यानन्द ने इसी कारिका की तरह एक कारिका की रचना कर न्यायोक्त पञ्चरूप्यवाद का खण्डन किया है।[९०] अन्य जैन दार्शनिकों ने भी इसी प्रकार खण्डन-मण्डन में भाग लिया है।[९१]

अर्चट मत

अंतिम परम्परा में अर्चट ने हेतु को षड्लक्षणी बतलाया है। नैयायिकों द्वारा मान्य पाँच रूपों के अतिरिक्त 'ज्ञातत्व' नामक एक और भी रूप है, जिसे उन्होंने नैयायिक और मीमांसक सम्मत बताया है। उपलब्ध न्याय-मीमांसा ग्रन्थों में कहीं भी इस प्रकार की चर्चा नहीं पायी जाती। विश्वनाथ ने ज्ञायमान लिङ्ग की विवेचना की है। संभवतः अर्चट के सामने ऐसी कोई भी परम्परा रही हो। ज्ञातत्व का अर्थ है ज्ञान का विषय होना अर्थात् अनुमान में हेतु को सर्वदा ज्ञात रहना चाहिये, क्योंकि अज्ञात हेतु द्वारा साध्य का निश्चय कदापि नहीं हो सकता। इसकी आलोचना करते हुए अर्चट ने लिखा है कि ज्ञातत्व हेतु का स्वाभाविक एवं अनिवार्य धर्म नहीं है, कारण ज्ञातत्व का अर्थ है ज्ञान, क्योंकि ज्ञान होने पर ही 'ज्ञात' ऐसा व्यवहार होता है और ज्ञान प्रतिपत्ता (प्रमाता) का धर्म है, न कि लिङ्ग का। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान का विषय होने के नाते हेतु-ज्ञान साध्य-सिद्धि में उपयोगी है, तो प्रमेय रूप अर्थ, संयोग, समवाय, आलोक आदि भी लिङ्ग-धर्म हो जायेंगे, क्योंकि, ज्ञान के विषय ये सब भी हैं। अतः 'ज्ञातत्व' को हेतु का अनिवार्य रूप नहीं माना जा सकता।

हेतु के रूपों का सामान्य परिचय

व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु को सद्हेतु तथा इनके अभाव से विशिष्ट हेतु को असद्हेतु कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सद्हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों पाये जाते हैं। किन्तु, असद्हेतु में न तो साध्य की व्याप्ति ही रहती है और न वह पक्ष में ही पाया जाता है। इस यथार्थता और अयथार्थता के मूल्यांकन के लिए ही हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व एवं असत्प्रतिपक्षत्व इन पाँच रूपों की कल्पना की गई है। उद्योतकर ने न्याय सूत्र---"--त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च" की व्याख्या करते हुए हेतु के विविध रूपों पर विचार किया है। उनकी 'त्रिविध' पद की व्याख्या के अनुसार 'पूर्ववत्' पद से हेतु में पक्षसत्त्व, 'शेषवत्' पद से सपक्षसत्त्व और 'सामान्यतोदृष्ट' पद से विपक्षासत्त्व अभिप्रेत हैं। सामान्यतोदृष्ट में 'अकार' का प्रश्लेष मानकर अर्थात् 'सामान्यतः अदृष्ट' अर्थ करके विपक्षावृत्तित्व का ग्रहण होता है। सूत्र में आये हुए 'च' पद से 'अबाधितत्व' को व्यक्त किया गया है। इस प्रकार हेतु के चार रूपों का निर्देश वार्तिककार ने स्पष्ट रूप से किया है। जैसा कि उन्होंने कहा है "च शब्दात् प्रत्यक्षआगमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पञ्चलक्षणमनुमानमिति"---अर्थात् 'च' शब्द से अनुमान का प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण से अविरुद्ध होना प्रदर्शित किया गया है और अनुमान चार लक्षण और पाँच लक्षणों से युक्त होता है। उनकी इस व्याख्या से हेतु के पाँचों रूपों की विवेचना हो जाती है।[९३] तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि वार्तिकनिष्ठ 'च' शब्द से असत्प्रतिपक्ष का भी संकेत किया गया है। इसलिये सूत्रस्थ 'च' शब्द से 'अबाधितत्व' और असत्प्रतिपक्षत्व' दोनों रूपों को ग्रहण करना चाहिये। हेतु के अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व धर्म सभी अनुमानों में आवश्यक है किन्तु प्रथम दो अर्थात् पूर्ववत् (अन्वयी) और शेषवत् (व्यतिरेकी) में चार-चार रूप ही अभिप्रेत हैं।[९४] उद्योतकर के बाद प्रायः सभी न्याय ग्रन्थों में हेतु के इन पाँच रूपों की चर्चा की गयी है। अब यहाँ हेतु के इन रूपों पर संक्षिप्त रूप से विचार कर लेना संदर्भ से विलग न होगा।

पक्षधर्मत्व–जिस हेतु में साध्य की व्याप्ति विद्यमान होने पर भी पक्षधर्मत्व न हो अर्थात् हेतु पक्ष में न रहता हो, उसे सद्हेतु नहीं माना जाता जैसे, 'सरोवर वह्निमान् है, धूम होने से' इस अनुमान में—'जो-जो धूमवान् होता है वह अग्निवाला भी होता है—इस रूप से व्याप्ति उपलब्ध हो जाती है। किन्तु, धूम सरोवर रूप पक्ष का धर्म नहीं है अर्थात् वह सरोवर में नहीं पाया जाता, इसलिये पक्षधर्मता के अभाव में इसे यथार्थ हेतु नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से' इस अनुमान में धूम पर्वत में पाया जाने के कारण पक्षधर्मत्व से युक्त है। यहाँ भी यदि पर्वत रूप पक्ष में हेतु धूम विद्यमान नहीं होता तो साध्य वह्नि का निश्चय नहीं किया जा सकता था। इसलिये पक्ष में लिङ्ग की उपस्थिति आवश्यक है। पक्ष में रहने वाले हेतु के धर्म को पक्षधर्मत्व कहा जाता है। इस धर्म के अभाव में असिद्ध हेत्वाभास होता है।[१५]

सपक्षसत्त्व–जिस प्रकार लिङ्ग का पक्ष में होना आवश्यक है, उसी प्रकार उसका सपक्ष में भी रहना आवश्यक है। जैसे—'शब्द नित्य है, कृतक होने से, घट की भांति इस अनुमान में कृतकत्व हेतु की नित्यत्वाभाव अर्थात् अनित्यत्व के साथ व्याप्ति पाई जाती है। तात्पर्य यह है कि जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, इस प्रकार घट के समान कृतकत्व हेतु अनित्यत्व की व्याप्ति का आश्रय है। इस रूप से जहाँ-जहाँ साध्य रहता है उन-उन स्थलों में लिङ्ग की उपस्थिति न होकर साध्याभावीय स्थलों में उसकी उपस्थिति होती है। अतः सपक्षों में इसका अभाव है। इसके विपरीत "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस अनुमान में धूम हेतु सपक्षभूत महानस आदि दृष्टान्तों में भी पाया जाता है। इसलिए प्रथम हेतु सद्हेतु नहीं है जबकि द्वितीय हेतु यथार्थ। सम्पूर्ण सपक्ष दृष्टान्तों अथवा कुछ सपक्ष दृष्टान्तों में हेतु का निश्चित रूप से पाया जाना ही सपक्ष-सत्त्व है। इस धर्म के अभाव में विरुद्ध हेत्वाभास होता है।[१६]

विपक्षासत्त्व–उक्त दोनों रूपों में हेतु का पक्ष और सपक्ष में रहना आवश्यक बतलाया गया है। किन्तु, यथार्थ हेतु के लिए केवल यही दो रूप आवश्यक नहीं है। इसके साथ ही विपक्ष में उसका असत्त्व (अभाव) भी आवश्यक है। प्रथम रूप में जिस प्रकार व्याप्ति के होने पर भी 'पक्षधर्मत्व' के अभाव में हेतु को असद्हेतु घोषित किया गया है, उसी प्रकार पक्षधर्मत्व रहने पर भी यदि हेतु में व्याप्ति नहीं हो तो वह हेतु भी सद्हेतु नहीं रहता। जैसे, 'अयो गोलक (तप्त लोह पिण्ड) धूमवान् है, अग्नि होने से'—इस अनुमान में प्रयुक्त अग्नि हेतु यथार्थ हेतु नहीं है, क्योंकि वह अयोगोलक रूप पक्ष में विद्यमान होते हुए भी नियत रूप से साध्य का व्याप्य नहीं है। नियमतः जहाँ-जहाँ साध्य नहीं पाया जाता वहाँ-वहाँ हेतु का भी अभाव होना चाहिये। किन्तु प्रकृत रूप में धूमाभाव वाले पदार्थ अयोगोलक में अग्नि का अभाव न होकर भाव ही है। व्याप्ति के विघटित हो जाने से इस हेतु को यथार्थ नहीं कहा जा सकता, इसके विपरीत 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इस अनुमान में हेतु धूम का व्यभिचार विपक्षभूत सरोवर में न पाये जाने से वह वह्नि का व्याप्य है। इसलिए साध्य के साथ हेतु में नियत साहचर्य रहना चाहिये। अतः सकल विपक्षों में न रहने वाले धर्म को विपक्षासत्त्व कहा जाता है। इस रूप के अभाव में अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।[१७]

अबाधितविषयत्व–इस रूप को समझने के लिए बाधित विषय को समझना आवश्यक है। 'विषय' पद से यहाँ साध्य अभिप्रेत है। अतः बाधित विषय का अर्थ होगा बाधित साध्य। जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्ष, आगम आदि किसी प्रबल प्रमाण से बाधित

है, उसे बाधित विषय कहते हैं। जैसे, वह्नि अनुष्ण है, कृतक होने से। इस अनुमान में 'अनुष्णत्व' रूप साध्य का अभाव अर्थात् 'उष्णत्व' वह्नि रूप पक्ष में 'त्वाच' प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इसलिये त्वाच प्रत्यक्ष रूप अन्य प्रबल प्रमाण द्वारा साध्य अनुष्णत्व का बोध हो जाने से कृतकत्व हेतु यथार्थ हेतु नहीं है। इसके विपरीत 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु धूम का साध्य वह्नि किसी प्रबल प्रमाण द्वारा बाधित नहीं है। अबाधितविषय रूप हेतु के धर्म को ही अबाधितविषयत्व कहते हैं। इस रूप के अभाव में बाधित हेत्वाभास होता है।[९८]

असत्प्रतिपक्षत्व

जिस हेतु का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी हेतु विद्यमान होता है, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है अनुमान में प्रयुक्त हेतु के विरोधी हेतु की सत्ता नहीं होना। जैसे, 'शब्द अनित्य है, नित्यधर्म उपलब्ध नहीं होने से' और 'शब्द नित्य है, अनित्य धर्म उपलब्ध नहीं होने से।' यहाँ दोनों हेतु समान बलवाले होने से विरोधी हैं। इसलिये इनमें से किसी के भी द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त धूम हेतु में इस प्रकार का कोई साध्य विपरीत साधक तुल्य विरोधी अन्य हेतु नहीं पाया जाता इसलिये वह सद्हेतु है, जबकि इस अनुमान में प्रयुक्त दोनों हेतु असद्हेतु हैं। जिस हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व धर्म पाया जाता है उसे असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं। इसके अभाव में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होता है।[९९] अर्चट ने इसी रूप को 'विवक्षितैक्यसंख्यत्व' के नाम से सूचित किया है।[१००]

न्यायकन्दलीकार के उक्त विवरण की भांति बौद्धाचार्य अर्चट ने भी उपर्युक्त प्रथम तीन रूपों को आवश्यक मानकर[१०१] शेष दो रूपों का खण्डन किया है।[१०२] सम्भवतः इन्हीं आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुए जयन्त भट्ट ने सबल युक्तियों द्वारा अन्तिम दोनों रूपों की सार्थकता सिद्ध की है।[१०३]

पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष

इन समस्त रूपों को भलीभांति समझने के लिये पक्ष सपक्ष एवं विपक्ष की व्याख्या करनी भी अत्यावश्यक है 'तर्कभाषा' में इन सब का विवेचन इस प्रकार किया गया है— 'संदिग्ध साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहा जाता है। जैसे, 'पर्वत अग्निमान् है' यहाँ पर्वत पक्ष है, क्योंकि उसमें धर्म रूप साध्य अग्नि है या नहीं इस प्रकार का सन्देह बना रहता है। इसलिये संदिग्ध साध्य वाला होने से पर्वत पक्ष कहलाता है।[१०४] किन्तु गङ्गेश ने प्राचीन नैयायिकों के इस पक्ष लक्षण का खण्डन करते हुए नवीन लक्षण की सर्जना की है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। निश्चित साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को सपक्ष कहा जाता है। जैसे पाकशाला में साध्य अग्नि निश्चित रूप से उपलब्ध होती है, इस कारण पाकशाला को सपक्ष कहा जाता है।[१०५] तथा निश्चित साध्याभाव से विशिष्ट धर्मी को विपक्ष के रूप में व्यक्त किया जाता है जैसे, जलाशय में साध्य अग्नि का अभाव निश्चित रूप से पाया जाता है, इसलिये जलाशय विपक्ष कहलाता है।[१०६] तात्पर्य यह कि धर्मी में साध्य की संदिग्ध, निश्चित तथा अभाव वाली स्थितियों के आधार पर पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष की व्याख्या की गयी है। 'न्यायसार',[१०७] 'तर्कसंग्रह',[१०८] 'सप्तपदार्थी',[१०९] 'मानमेयोदय',[११०] 'तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली',[१११] 'न्यायबिन्दु' आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार की चर्चा उपलब्ध होती है।[११२]

हेतु के भेद

हेतु-भेदों के ऐतिहासिक क्रम को देखते हुए महर्षि कणाद तथा महर्षि गौतम के नाम ही लिये जा सकते हैं। अन्य सूत्र ग्रन्थों में हेतु के भेदों का निर्वचन नहीं के बराबर है। इनमें से सांख्य, योग और वेदान्त दर्शनों के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी यह चर्चा नहीं हो पायी है। कुमारिल, प्रभाकर, शालिकनाथ तथा पार्थसारथि मिश्र आदि मीमांसकों ने भी इसका कोई विशेष वर्गीकरण नहीं दिया है। संभवतः कुमारिल को 'गमकता' रूप एक ही हेतु प्रकार इष्ट रहा हो।

'वैशेषिक-सूत्र' में कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, समवायी और एकार्थ समवायी रूप से छः प्रकार के हेतुओं का संकेत मिलता है। प्रशस्तपाद ने इन्हें केवल औपचारिक माना है। वास्तव में वे अविनाभावी रूप एक ही प्रकार का हेतु मानने के पक्ष में हैं। इसी का समर्थन 'किरणावली' 'न्यायकन्दली' आदि ग्रन्थों में किया गया है। किन्तु शंकर मिश्र ने सूत्र में आए हुए सभी प्रकारों का विशद विवेचन किया है।

न्याय परम्परा में महर्षि गौतम ने हेतु के साधर्म्य और वैधर्म्य ये दो भेद प्रदर्शित किये हैं, जिसका समर्थन वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र एवं जयन्त भट्ट आदि सभी दार्शनिकों ने किया है। उदयन ने, उद्योतकर प्रणीत अनुमान भेद निरूपण में प्रयुक्त हेतु के—अन्वयी, व्यतिरेकी एवं अन्वयव्यतिरेकी इन तीन भेदों को आधार मानकर इसके तीन भेद प्रस्तुत किये हैं—(१) केवलान्वयी हेतु, (२) केवलव्यतिरेकी हेतु तथा (३) अन्वयव्यतिरेकी हेतु। बाद के सभी नैयायिकों ने इनका ही अनुकरण किया है।

बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्ति ने तीन प्रकार के हेतुओं की ओर संकेत किया है—(१) स्वभाव, (२) कार्य और (३) अनुपलब्धि। इनमें से 'स्वभाव' और 'कार्य' तो असङ्ग के 'योगाचार भूमिशास्त्र' में भी पाये जाते हैं। 'प्रमाण वार्तिक' में अनुपलब्धि हेतु के चार किन्तु 'न्यायबिन्दु' में ग्यारह प्रकारों का वर्णन किया गया है। मनोरथनन्दी ने छः तथा मोक्षाकर गुप्त ने सोलह प्रकार की अनुपलब्धियों का विवेचन किया है। बौद्ध प्रणीत सभी अनुपलब्धियाँ निषेध साधक हैं, केवल 'स्वभाव हेतु' और कार्य हेतु को ही विधि साधक माना गया है।

यह बतलाया जा चुका है कि जैन परम्परा में त्रैरूप्यवाद का खण्डन करते हुए पात्रस्वामी ने हेतु को एक ही प्रकार का अन्यथा-अन-उपपति-मूलक सिद्ध करने का प्रयास किया है। सिद्धसेन दिवाकर ने उक्त हेतु के अतिरिक्त तथोपपत्तिमूलक हेतु को मानकर दो प्रकार के हेतुओं का विधान किया है। यद्यपि उपलब्धि और अनुपलब्धि के रूप में अनेक प्रकार के हेतुओं का वर्णन अकलंक ने किया है, फिर भी विधि-निषेध साधक रूप से हेतुओं का स्पष्ट रूप से विवेचन माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। देवसूरि तथा धर्मभूषण ने कुछ हेर फेर के साथ माणिक्यनन्दी का ही समर्थन किया है। हेमचन्द्र का वर्गीकरण 'वैशेषिकसूत्र' और धर्मकीर्ति के अनुपलब्धि भेदों का संकलन मात्र ही है। जैन वर्गीकरण में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ बौद्धों ने स्वभाव और कार्य हेतु को विधिसाधक तथा अनुपलब्धि को केवल निषेध साधक माना है, वहाँ जैनों ने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों प्रकार के हेतुओं को विधि-निषेध सापेक्ष माना है।

वैशेषिक मत

वैशेषिक सूत्रकार ने हेतु को छः प्रकार का माना है—(१) संयोगी, (२) समवायी, (३) एकार्थ समवायी, (४) विरोधी, (५) कार्य एवं (६) कारण।[११३] महर्षि कणाद ने इन प्रभेदों में से एकार्थ समवायी[११४] और विरोधी[११५] लिङ्ग के ही उदाहरण दिये हैं, किन्तु अन्य की न तो व्याख्या की है और न उदाहरण ही प्राप्त होते हैं। इन सभी का उदाहरण सहित विवेचन करते हुए शंकर मिश्र ने लिखा है— (१) 'शरीर त्वचा वाला है, शरीरत्व होने से' इस अनुमान स्थल में जैसे-जैसे शरीर बढ़ता है वैसे-वैसे त्वचा भी बढ़ती है तथा वैसे ही शरीर के घटने से त्वचा भी घटती है। यहाँ पर शरीर और त्वचा में कार्य-करण भाव सम्बन्ध नहीं है, किन्तु सह-उत्पत्तिक मात्र होने से वे नियत संयोग वाले हैं। अतः इन दोनों में परस्पर संयोग सम्बन्ध होने के कारण 'शरीरत्व' हेतु संयोगी लिङ्ग है। (२) जो लिङ्ग अपने आश्रय में समवेत होता हुआ अपने साध्य के निश्चय में कारण होता है, वह समवायी लिङ्ग होता है। जैसे, 'आकाश परिमाण वाला है, द्रव्य होने से, घट की तरह' यहाँ 'द्रव्यत्व' हेतु 'परिमाणत्व' साध्य की सिद्धि में समवायी लिङ्ग है। ऐसे ही गुण आदि हेतु से उनके आश्रय द्रव्य, शब्द आदि से आकाश तथा ज्ञान आदि से आत्मा की सिद्धि होती है। इस प्रकार द्रव्य, गुण शब्द तथा ज्ञान अपने-अपने आश्रय आकाश, द्रव्य, आकाश तथा आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इसलिये इनको समवायी लिङ्ग कहा जाता है। (३) एक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले को एकार्थ समवायी कहते हैं और वह अपने से भिन्न अन्य कार्य की सिद्धि में लिङ्ग होता है। जैसे, एक कार्य अन्य कार्य की सिद्धि में एकार्थ समवायी हेतु है—पृथ्वी में रहने वाले 'पाकज स्पर्श' के निश्चय में 'पाकज रूप' एकार्थ समवायी है। अतः पाकज रूप एक कार्य है, जो अन्य कार्य पाकज स्पर्श का हेतु है, क्योंकि दोनों ही पृथ्वी रूप अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इसी प्रकार एक अकार्य भी अन्य अकार्य का एकार्थ समवायी लिङ्ग हो सकता है जैसे, आकाश में रहने वाला 'एकत्व' आकाशवृत्ति 'एक पृथकत्व' तथा 'परम महत्परिमाण' की सिद्धि में एकार्थ समवायी लिङ्ग है, क्योंकि वह एक आकाश में समवेत तथा उत्पन्न न होने के कारण अकार्य हैं। (४) अभूत (अविद्यमान) पदार्थ, भूत (विद्यमान) अर्थ की सिद्धि में विरोधी लिङ्ग होता है। जैसे वायु-मेघ संयोग के विद्यमान रहने पर, उसकी सिद्धि के लिए अविद्यमान वृष्टि को लिङ्ग बनाया जाय तो यह विरोधी लिङ्ग का उदाहरण होगा। कारण वृष्टि के अभाव में वायु:मेघ के प्रतिकूल संयोग का अनुमान किया जाता है, क्योंकि उन दोनों के अनुकूल संयोग से वृष्टि होती है। इसलिये वृष्टि प्रतिबन्धक विजातीय संयोग की सिद्धि में, अविद्यमान वृष्टि विरोधी लिङ्ग है। इसी प्रकार अविद्यमान अनुत्पन्न स्फोट आदि, विद्यमान मंत्र पाठ में तथा अविद्यमान मंत्र पाठ विद्यमान स्फोट आदि में विरोधी लिङ्ग है। अविद्यमान विषय की सिद्धि यदि विद्यमान पदार्थ से की जाये तो वह भी विरोधी लिङ्ग का उदाहरण होगा। जैसे, विद्यमान स्फोट आदि से अविद्यमान मंत्र पाठ की सिद्धि करना विरोधी लिङ्ग है। उसी प्रकार विद्यमान वायुमेघ-संयोग, अविद्यमान वृष्टि के लिये तथा विद्यमान दहन, अविद्यमान मणि आदि के समवधान में विरोधी हेतु है। विद्यमान पदार्थ भी विद्यमान पदार्थ के निश्चय में विरोधी लिङ्ग होता है। जैसे, सर्प को विलक्षण रूप से फुँफकारता हुआ एवं झाड़ियों की ओर देखता हुआ देखकर वहाँ नकुल (नेवला) होने का अनुमान किया जाता है। यहाँ सर्प की विद्यमान

अवस्था को देखकर, नकुल की विद्यमानता का अनुमान किया गया है। इस प्रकार उक्त सर्प, नकुल-सिद्धि में विरोधी लिङ्ग है, क्योंकि दोनों विद्यमान है तथा उनका परस्पर विरोध भी स्वाभाविक है। (५) जहाँ कार्य द्वारा कारण का अनुमान हो वहाँ कार्य लिङ्ग होता है, जैसे, धूम व आलोक अग्नि के कार्य होने से अग्नि के अनुमान में कार्य लिङ्ग है। (६) तथा जहाँ कारण द्वारा कार्य का अनुमान किया जाता है वहाँ कारण लिङ्ग होता है जैसे, विधिपूर्वक वैदिक कर्म-अनुष्ठान से, भविष्यकालीन सुख (स्वर्ग आदि), मेघोन्नति देखकर भविष्य में वृष्टि होगी ऐसा अनुमान करना अथवा कारीरी याग से वृष्टि का अनुमान करना कारणलिङ्ग अनुमान हैं।[११६] भाष्यकार प्रशस्तपाद ने 'देशकालाविनाभूत' नामक एक ही प्रकार का हेतु स्वीकार किया है। जिस हेतु का देश के साथ अविनाभाव संबन्ध हो वह देश-अविनाभावी लिङ्ग तथा जिस हेतु का काल के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो वह काल—अविनाभावी लिङ्ग होता है। जैसे, 'ओमेति' इस प्रकार प्रणव का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु द्वारा व्यवहित (छिपे हुए) हवन कर्ता (होता) का अनुमान होता है। जिस पुरुष को, यह नियम की हवन करने वाले होता को ही अध्वर्यु 'ओंकार' का श्रवण करवाते हैं, अन्य को नहीं, ज्ञात है, वह अध्वर्यु द्वारा ओंकार का उच्चारण करते देखकर दीवार के पीछे छिपे रहने पर भी हवन कर्ता के होने का अनुमान कर लेता है। यहाँ अध्वर्यु हेतु, होता रूप साध्य का न कार्य है, न कारण, न संयोगी, न समवायी, न एकार्थ समवायी और न विरोधी ही, किन्तु वह अपने साध्य के साथ दैशिक व्याप्तिविशिष्ट होने के कारण साध्य का अनुमापक अवश्य है। इसी प्रकार चन्द्रमा के उदय होने से समुद्र वृद्धि और कुमुदनी विकास का तथा शारदीय सलिल की स्वच्छता से अगस्त्य नामक नक्षत्र के उदय होने का अनुमान भी किया जाता है। यहाँ भी चन्द्रोदय और शारदीय सलिल की स्वच्छता रूप हेतु कालिक व्याप्तिविशिष्ट होने के कारण सद्हेतु कहलाते हैं। यदि सूत्र घटित कार्य आदि मेघों में ही हेतु को सीमित रखा जाय तो उक्त रूप से व्यतिरेक व्यभिचार हो सकता है। अतः इस दोष का परिहार करने के लिये ही भाष्यकार ने यह नवीन विवेचना की है। भाष्यकार की उक्त विवेचना पर यह शंका उठाई जा सकती है कि सूत्रकार ने 'अस्येदं कार्यम्०' इत्यादि सूत्र से जिन सम्बन्धों का विधान किया है, उनके साथ विरोधाभास होगा। इसका समाधान देते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि विरोध इसलिये नहीं होगा कि सूत्रकार ने कार्य आदि सम्बन्धों का ग्रहण उदाहरण के लिये दिया है, न कि अवधारण के लिये। क्योंकि कथित कार्य आदि लिङ्गों के न रहने पर भी उक्त लिङ्गों द्वारा यथार्थ अनुमिति होती है।[११७] सूत्र और भाष्य की व्याख्या करते हुए श्रीधर ने लिखा है कि सूत्रकार के 'अस्येदम्' पद में व्याप्तिग्राहक कार्य आदि से अतिरिक्त उक्त अन्य सम्बन्ध भी संगृहीत कर लिये गये हैं अर्थात् सम्बन्ध मात्र का ग्रहण किया गया है। भाष्यकार के 'सर्वत्र देशकालाविनाभूत इतरस्य लिंङ्गम्' वाक्य में प्रयुक्त 'इतरस्य लिङ्गम्' पद में भी सूत्रकार का समर्थन ज्ञापित होता है। तात्पर्य यह कि जिसमें जिस अन्य वस्तु की दैशिक अथवा कालिक व्याप्ति पायी जाती है, वही उसका अनुमापक लिङ्ग है। इसके विपरीत जिसमें जिसका व्यभिचार होता है वह हेतु यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि साध्याभावीय स्थलों में भी उसका सद्भाव उपलब्ध होता है।[११८] उनके पूर्ववर्ती टीकाकार उदयनाचार्य[११९] तथा व्योमशिवाचार्य[१२०] ने भी यही बात कही है।

न्याय-प्राचीन मत

महर्षि गौतम ने हेतु का लक्षण सूत्र द्वारा इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—"उदाहरण के सादृश्य के आधार पर साध्य के प्रतिपादक वाक्य को साधर्म्य हेतु[१२१] और उदाहरण के वैसादृश्य से साध्य के साधक वचन को वैधर्म्य हेतु[१२२] कहते हैं। जैसे, पाकशाला आदि उदाहरण में अग्नि और धूम के साहचर्य को जिस व्यक्ति ने अधिगत कर लिया है, उस सादृश्य के आधार पर पर्वत में प्रत्यक्षतः धूम को देखकर वह व्यक्ति अग्नि के अस्तित्व का निश्चय करता है। इसलिये वह्नि रूप साध्य का साधक होने के नाते 'धूमात्'—'धूम होने से' इस वाक्य को हेतु कहा गया है। सूत्रकार द्वारा इनके उदाहरणों का उपन्यास नहीं हुआ है, किन्तु भाष्यकार के विवेचन में यह न्यूनता परिलक्षित नहीं होती। उन्होंने इनके उदाहरण देते हुए सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि दृष्टान्त तथा पक्ष में वृत्ति होने वाले साध्यरूप धर्म की समानता को अनुभव गम्य करके कथन किये हुए पक्षवर्ती साध्य के प्रतिपादक वचन को साधर्म्य हेतु कहा जाता है। जैसे, 'अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्'—'शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से' इस अनुमान में 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह वचन शब्दवृत्ति (शब्द में रहने वाले) 'अनित्यत्व' धर्म का प्रतिपादक होने से साधर्म्य हेतु कहलाता है, क्योंकि यह भी घट आदि दृष्टान्तों में होने वाले अनित्यत्व धर्म के समान ही शब्द रूप पक्ष में होने वाले अनित्यत्व धर्म का प्रतिपादक है।[१२३] अन्य शब्दों में, दृष्टान्तवर्ती धर्म के समान होने वाले साध्य के प्रतिपादक वचन को साधर्म्य हेतु कहा जाता है। उदाहरण के विपरीत धर्म के द्वारा जो साध्य का प्रतिपादक होता है, उसे वैधर्म्य हेतु कहा गया है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से, जो नित्य होता है वह उत्पत्तिधर्मक भी नहीं होता, यथा आत्मा। इस अनुमान में जिस प्रकार उत्पत्ति धर्मवाले न होने से आत्मा आदि द्रव्य नित्य हैं, उसी प्रकार शब्द नहीं। इसलिये उत्पत्ति धर्मवाला होने से वह अनित्य है। यहाँ पर आत्मा आदि के दृष्टान्त में होने वाले नित्यत्व रूप धर्म के विरुद्ध अनित्यत्व रूप साध्य की सिद्धि की गई है। अतः दृष्टान्त घटक नित्यत्व साध्य के वैधर्म्य अनित्यत्व रूप साध्य का बोधक 'उत्पत्तिधर्मक होने से' यह वचन वैधर्म्य हेतु कहलाता है।[१२४] इस प्रकार एक ही हेतु दृष्टान्त के साधर्म्य द्वारा साध्य का साधक होने से साधर्म्य हेतु और दृष्टान्त के वैधर्म्य द्वारा साध्य का अनुमापक होने के कारण वैधर्म्य हेतु कहलाता है। तात्पर्य यह है कि उदाहरण के साधर्म्य से ही हेतु साध्य का साधक नहीं होता, किन्तु उदाहरण के वैधर्म्य द्वारा भी होता है, जैसे, 'यो न वह्निमान् स न धूमवान् यथा ह्रदः' यहाँ पर यह व्यतिरेक व्याप्ति बन जाती है। वह्नयभाव के व्यापक धूमाभाव का प्रतियोगी धूम है, और वह धूमवत्ता जिस धर्मी में ज्ञात होगी या उस धर्मवत्ता का जिस धर्मी में ज्ञान होगा उस धर्मी में उस धूम के व्यापकीभूत वह्नि रूप साध्य का निश्चय हो जायगा, क्योंकि, व्यापक के निश्चय से व्यापक का निश्चय हो जाता है। हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक हुआ करता है। यहाँ भी 'वह्नयभाव व्यापकीभूताभाव प्रतियोगी धूमवान् पर्वतः' यह व्यतिरेक व्याप्ति घटित धूमवत्ता निश्चय उदाहरण के वैधर्म्य के आधार पर साध्य का साधक होता है। दृष्टान्त के साधर्म्य और वैधर्म्य पर यहाँ बल इसलिये दिया गया है कि जिस साध्य एवं साधन की व्याप्ति का निश्चय दृष्टान्त में किया जाता है, यदि हेतु में उससे विरुद्ध व्याप्ति पाई जाये तो वह हेतु सद्हेतु नहीं रहता। भाष्यकार की आलोचना करते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि उनके दोनों उदाहरणों में केवल प्रयोग भेद है,

अर्थ भेद नहीं । मात्र प्रयोग भेद से अर्थ भेद सिद्ध नहीं होता । दृष्टान्त भिन्न-भिन्न अवश्य हैं, किन्तु इससे दृष्टान्तों की भिन्नता ही लक्षित होती है । अतः मात्र उदाहरण-भेद से हेतु-भेद सिद्ध नहीं हो सकता । घट और आत्मा रूप उदाहरणों के साथ एक ही 'उत्पत्ति-धर्मकत्वात्' हेतु का प्रयोग हुआ है । यदि उदाहरण के भेद के आधार पर ही हेतु भेद सिद्ध किया जाये तो "तथा वैधर्म्यात्" यह सूत्र निरर्थक हो जायगा । इसलिये वार्तिककार ने इन भेदों को 'वीत' और अवीत भेद से व्यक्त किया है । वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञापन वीत हेतु द्वारा किया जाता है और अवीत हेतु द्वारा पर-पक्ष का निरास । तात्पर्य यह कि स्वरूप से अर्थपरिच्छेदक हेतु वीत है और पर-पक्ष-प्रतिषेध-प्रवर्तक हेतु अवीत । प्रथम विधिमूलक है, द्वितीय निषेधमूलक । अन्वय-व्यभिचार-शून्यता द्वारा वीत तथा व्यतिरेक-व्यभिचारराहित्य द्वारा अवीत हेतु का प्रतिपादन किया जाता है । अतः अव्यभिचारिता ही दोनों हेतुओं की निर्णायक कसौटी है । द्वितीय अवीत हेतु का सही उदाहरण इस प्रकार है—'जीवित शरीर आत्मा विहीन नहीं है, अप्राणादि युक्त न होने से ' यहाँ 'अप्राणादिप्रसङ्गत्व' हेतु अवीत हेतु कहलाता है । क्योंकि जो प्राण आदि से युक्त नहीं होते वे सब आत्माविहीन ही दृष्टिगोचर होते हैं तथा जो प्राणादिविशिष्ट होते हैं वे निरात्मक नहीं होते । इसलिये इसको अवीत कहना सार्थक है ।[१२५] वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है कि वैधर्म्य मात्र से हेतु में गमकता नहीं आ सकती वास्तव में व्यभिचारशून्यता ही गमकता का सूचक है ।[१२६] जयन्त ने भी अन्वयव्यतिरेकी और केवलव्यतिरेकी हेतुओं के रूप में इन्हीं भेदों का समर्थन किया है ।[१२७] जयन्त भट्ट[१२८] का समर्थन करते हुए केशव मिश्र ने हेतु सामान्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—"जो व्याप्ति-बल द्वारा (अपने साध्य रूप) अर्थ का बोधक होता है, उसे हेतु कहा जाता है ।[१२९]

न्याय-नव्य मत

गङ्गेश के अनुसार "अनुमिति के कारणीभूत लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक प्रतिज्ञा आदि पञ्च वाक्यों से उत्पन्न होने वाले शाब्द बोध के जनक साध्य-अविषयक शाब्द बोध (जिस शाब्द बोध का विषय साध्य न हो) के कारण हेतु के उत्तरकालीन विभक्ति वाले शब्द को हेतु वाक्य तथा शब्दत्व को हेतुत्व कहा जाता है ।[१३०] दिनकरीकार ने व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु को लिङ्ग कहा है ।[१३१]

व्याप्ति के आधार पर भी हेतु के तीन भेद—(१) अन्वयी हेतु, (२) व्यतिरेकी हेतु और (३) अन्वयव्यतिरेकी हेतु किये जाते हैं । यह प्रकार-भेद उक्त दो भेदों का सम्मिश्रण ही जान पड़ता है, साधर्म्य या वीत से अन्वयी, वैधर्म्य या अवीत से व्यतिरेकी तथा दोनों के मिला देने पर अन्वयव्यतिरेकी हेतु हो जाता है । गङ्गेश ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है—"अन्वय व्याप्ति के अवबोधक अवयव के अभिधान के प्रयोजक ज्ञान (हेतु वाक्य जन्य शाब्दबोधात्मक ज्ञान) के जनक हेतु का प्रतिपादन करने वाले विभक्ति-युक्त न्याय अवयव को अन्वयी हेतु कहा जाता है, इसी में व्यतिरेक व्याप्ति विधायक पद का प्रक्षेप कर देने से व्यतिरेकी हेतु भी बन जाता है । तथा अन्वय और व्यतिरेक उदाहरण की आकाङ्क्षा के प्रयोजक शाब्द ज्ञान के कारणीभूत हेतु प्रतिपादक विभक्तिवाले न्याय अवयव को अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहते हैं ।[१३२] इन्हीं भेदों को गङ्गेश ने प्रकारान्तर से इस प्रकार भी व्यक्त किया है—जिस हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व ये तीनों रूप रहते हैं, उस हेतु वाक्य को अन्वयव्यतिरेकी; अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य

के समान अधिकरण रूप पक्ष में जिस सद्हेतु का कथन किया जाय, उसे केवलान्वयी हेतु तथा अनुमिति के कारणीभूत परामर्श के प्रयोजक शाब्द ज्ञान के जनक साध्य---अविषयक शाब्द ज्ञान के कारणीभूत जिस हेतु वाक्य में साध्य की अन्वय व्याप्ति की प्रतीति न होती हो, उस प्रकार के साध्य का साधन वाचक जो हेतु---विभक्तियुक्त न्याय अवयव है, उसको व्यतिरेकी अथवा केवलव्यतिरेकी हेतु कहते हैं।[१३३] 'तर्कभाषा' में इन भेदों के लक्षण उदाहरण सहित इस प्रकार से स्पष्ट किये गये हैं---अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति के उदाहरण जिस हेतु में प्राप्त हो सकें, उसको अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं। जैसे, पर्वत वह्निमान् है, धूमयुक्त होने से। यहाँ पर धूम हेतु में दोनों प्रकार की व्याप्ति के उदाहरण मिल जाते हैं---जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है---जैसे, पाकशाला में। पाकशाला में धूम और अग्नि के सद्भाव होने से यहाँ धूम में अन्वयव्याप्ति गृहीत होती है। एवं जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता---जैसे, जलाशय में। जलाशय में अग्नि का अभाव होने के कारण धूम का भी अभाव पाया जाता है। इस कारण धूम हेतु व्यतिरेक व्याप्ति युक्त भी है। इस प्रकार धूम हेतु में अन्वय व्याप्ति से युक्त उदाहरण पाकशाला और व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त उदाहरण जलाशय मिल जाने से यह हेतु अन्वय-व्यतिरेकी कहलाता है। जिस हेतु में अन्वयव्याप्ति का उदाहरण न मिल सके, प्रत्युत केवल व्यतिरेक व्याप्ति के उदाहरण ही उपलब्ध हों, उसे केवलव्यतिरेकी हेतु कहते हैं जैसे, जीवित शरीर आत्मावाला है, प्राण आदि से विशिष्ट होने के कारण। यहाँ पर 'जो प्राणादियुक्त है वह आत्मा वाला भी है' इस प्रकार अन्वय-व्याप्तिमूलक कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संसार में जितने भी जीवित शरीर हैं, वे सब पक्षकोटि के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं, इसलिये यहाँ अन्वयव्याप्ति युक्त उदाहरण न मिलने के कारण व्यतिरेक व्याप्ति का ही आश्रय लेना होगा। जैसे, 'जो-जो आत्मावाला नहीं है, वह-वह प्राण आदि से युक्त भी नहीं है', जैसे, घट। घट में 'सात्मकत्वाभाव' और 'प्राणादिमत्वाभाव' दोनों होने से ही यह उदाहरण व्यतिरेक व्याप्तिमूलक है। अतः यहाँ 'प्राणादिमत्व' हेतु केवलव्यतिरेकी है। तथा जिसमें अन्वय व्याप्ति युक्त उदाहरण ही उपलब्ध हों, किन्तु व्यतिरेक व्याप्तिमूलक उदाहरण नहीं, उसको केवलान्वयी हेतु कहते हैं। जैसे, 'शब्द अभिधेय है, प्रमेय होने से। यहाँ पर जो-जो प्रमेय होता है वह-वह अभिधेय होता है जैसे, घट। इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति गृहीत होती है। किन्तु जो अभिधेय नहीं है वह प्रमेय भी नहीं है' इस प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति युक्त उदाहरण नहीं मिलते, क्योंकि सर्वत्र प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से गृहीत होने वाले जगत्निष्ठ किसी प्रामाणिक पदार्थ को ही दृष्टान्त के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। प्रायः जो वस्तु प्रमेय के अन्तर्गत आती हो उसका अभिधान अनिवार्यतः होता है। इसलिये व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण उपलब्ध न होने के कारण 'प्रमेयत्व' हेतु केवलान्वयी हेतु कहलाता है। इन भेदों को सुस्पष्ट रीति से समझाने के लिये उन्होंने और भी अनेक उदाहरण दिये हैं।[१३४] व्याप्ति के आधार पर उक्त तीन भेदों की व्याख्या करने के उपरान्त इन्होंने भी गङ्गेश की भांति हेतु के रूपों के अवलम्बन पर भी उक्त तीन भेदों का विवेचन किया है। जैसे जो हेतु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्त्व एवं सत्प्रतिपक्षत्व इन पाँच रूपों से सम्पन्न होता है, वह अन्वयव्यतिरेकी; विपक्षासत्त्व विहीन उक्त चार रूपों से विशिष्ट हेतु केवलान्वयी तथा सपक्षसत्त्व से रहित उपर्युक्त चार रूपों से युक्त हेतु केवलव्यतिरेकी कहलाता है।[१३५] 'तर्कामृत'[१३६] में गङ्गेश---केशव मिश्र

कृत द्वितीय व्याख्या एवं 'तर्कसंग्रह'[१३७] में प्रथम व्याख्या का समर्थन किया गया है। किन्तु इन भेदों के जन्मदाता के रूप में उद्योतकर का नाम ही परिगणित किया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने पञ्चम न्याय सूत्र की व्याख्या करते हुए 'त्रिविध' पद द्वारा हेतु के अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी भेदों का व्याख्यान किया है। इन्हीं भेदों को उदयनाचार्य ने केवलनान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी के रूप में विवेचित किया है। उनके बाद प्रायः सभी नैयायिकों ने उदयन समर्थित भेदों को अपनाया है।

बौद्ध मत

धर्मकीर्ति ने हेतु के तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं—(१) स्वभाव, (२) कार्य तथा (३) अनुपलब्धि।[१३८]

स्वभाव हेतु

जिस वस्तु की विद्यमानता अपने ही हेतु की सत्ता की अपेक्षा करती है तथा हेतु सत्ता से भिन्न किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखती, वह 'स्वसत्ता मात्र भावी' साध्य कहलाता है। ऐसे साध्य में रहने वाले हेतु को 'स्वभाव हेतु' कहा जाता है। जैसे, यह अग्नि है, उष्ण होने से। यहाँ साध्य 'अग्नि' अपने अस्तित्व के लिये हेतु 'उष्णत्व' मात्र की अपेक्षा रखती है। अपनी सत्ता को सिद्ध करने के लिये यहाँ किसी अन्य हेतु की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही उष्णत्व है।[१३९] अन्य उदाहरण द्वारा इसी बात को समझाते हुए धर्मकीर्ति की व्याख्या करते हुए धर्मोत्तर ने लिखा है, 'यह वृक्ष है, शिंशपा होने से' यहाँ भी शिशपाओं में वृक्ष का व्यवहार उसकी ऊँचाई या नीचाई आदि विशेष गुणों को देखकर नहीं किया जाता, किन्तु उसके स्वाभाविक गुण शिंशपात्व मात्र के द्वारा ही किया जाता है।[१४०]

कार्य हेतु

जो साध्य से उत्पन्न हो, उसे 'कार्य हेतु' कहा जाता है। जैसे 'यहाँ अग्नि है, धूम होने से'। यहाँ पर हेतु धूम कार्य हेतु है, क्योंकि वह साध्य अग्नि से उत्पन्न होता है।[१४१] कार्य-कारण-भाव की प्रतीति लोक में सर्वत्र उपलब्ध होती है। बौद्ध दार्शनिकों ने कार्य हेतु को ही सद्हेतु माना है, कारण हेतु को नहीं, क्योंकि जहाँ कार्य की सत्ता है वहाँ कारण की सत्ता सिद्ध है एवं जहाँ कारण की विकलता है वहाँ कार्य के अभाव की प्रतीति भी होती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जहाँ कारण हो वहाँ कार्य हो ही। इस सामान्य दृष्टि को सामने रखते हुए धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर दोनों ने कार्य हेतु का कोई लक्षण निर्दिष्ट नहीं किया, किन्तु दृष्टान्त द्वारा ही इसे समझाने का प्रयास किया है। उक्त दोनों हेतुओं के द्वारा वस्तु मात्र की सिद्धि की जाती है। अतः इन्हें विधि-साधक हेतु कहा जाता है।[१४२]

अनुपलब्धि हेतु

प्रतिशेध साधक अनुपलब्धि हेतु कहलाता है।[१४३] अनुपलब्धि हेतु वह है जिसके द्वारा किसी पदार्थ के अभाव का निश्चय करने के लिये उस पदार्थ की अनुपलब्धि या अभाव का बोध किया जाय। जैसे, 'इस प्रदेश विशेष में घट नहीं है', क्योंकि घट के उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने (प्रत्यक्षगम्य होने वाली कारण सामग्री प्राप्त होने पर) भी उसकी वहाँ उपलब्धि नहीं होती।[१४४] तात्पर्य यह कि हेतु प्रत्यक्ष सामग्री उपलब्ध होने पर भी उसका ज्ञान प्रमाता को नहीं हो पाता। अनुपलब्धि का साधारण अर्थ है—उपलब्धि का

अभाव, किन्तु इसके द्वारा प्रत्येक वस्तु के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, प्रत्युत उन्हीं वस्तुओं के अभाव की सिद्धि की जा सकती है जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त हों। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं---(१) उपलब्धि लक्षण प्राप्त तथा (२) अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त। उपलब्धि लक्षण प्राप्त जैसे, 'घट है'। यहाँ घट स्वभाव से ही विद्यमान है अतः उसकी सत्ता में स्वभाव से अतिरिक्त अन्य कोई कारण अपेक्षित नहीं है। यदि उपलब्धि के समस्त कारण विद्यमान हों, तो घट की प्राप्ति नियमितः होती ही है। घट में उपलब्ध होने की योग्यता है, इसलिये वह उपलब्धि लक्षण प्राप्त कहलाता है। इसके विपरीत उपलब्धि की सम्पूर्ण सामग्री के विद्यमान रहने पर भी जिन वस्तुओं में उपलब्ध होने की योग्यता नहीं होती, उन्हें अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं---(१) देश विप्रकृष्ट जैसे, स्वर्गलोक आदि, (२) काल विप्रकृष्ट जैसे, राम, रावण आदि, और (३) स्वभाव विप्रकृष्ट जैसे, परमाणु आदि। यद्यपि इन तीनों पदार्थों के अभाव को ज्ञात किया जा सकता है तथापि अनुपलब्धि के आधार पर इनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता।[१४५] मनोरथनन्दी,[१४६] धर्मोत्तर[१४७] तथा मोज्ञाकर,[१४८] गुप्त ने भी इसी बात की पुष्टि की है। अतः 'घटस्य अनुपलब्धे' इतना ही लक्षण पर्याप्त नहीं अपितु 'उपलब्धि लक्षण प्राप्त' इतना विशेषण और निवेश करना आवश्यक है। अनुपलब्धि हेतु का अपने साध्य के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनों प्रकार का सम्बन्ध होता है। जब उसका ग्रहण कर्म के धर्म के रूप में किया जाता है तब उसका साध्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है तथा जब वह कर्ता-धर्म के साथ सम्बद्ध किया जाता है तब साध्य के साथ उसका तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है।[१४९] अनुपलब्धि वर्तमान काल में सदैव प्रमाण रूप से ज्ञात होती है तथा विशिष्ट सद्भाव के कारण भूत काल में भी प्रमाण रूप मानी जा सकती है, किन्तु भविष्य काल में प्रमाण रूप कदापि नहीं।[१५०]

मूलतः स्वाभावानुपलब्धि नामक एक ही अनुपलब्धि होती है परन्तु प्रयोग भेद की अपेक्षा से इसके अनेक अवान्तर भेद भी किये गये हैं।[१५१] 'प्रमाणवार्तिक' में चार भेद---(१) विरुद्धोपलब्धि, (२) विरुद्धकार्योपलब्धि, (३) कारणानुपलब्धि एवं (४) स्वभावानुपलब्धि व्यक्त किये गये हैं,[१५२] किन्तु 'न्यायबिन्दु' में इनमें सात भेद और जोड़कर ग्यारह भेद किये गये हैं। वे सात इस प्रकार हैं---(१) स्वभावविरुद्धोपलब्धि, (२) कार्यानुपलब्धि, (३) विरुद्धव्याप्तोलब्धि (४) व्यापकविरुद्धोपलब्धि, (५) कारणविरुद्धोपलब्धि (६) कार्यविरुद्धोपलब्धि तथा (७) कारण विरुद्धकार्योपलब्धि।[१५३] अन्त में इन सभी का अन्तर्भाव स्वभावानुपलब्धि में ज्ञापित किया गया है।[१५४] मनोरथनन्दी ने धर्मकीर्ति प्रणीत उक्त चार भेदों को मुख्य मानकर दो भेद---(१) व्यापकविरुद्धोपलब्धि तथा (२) व्यापकानुपलब्धि और भी गौण रूप से दिये हैं।[१५५] मोक्षाकार गुप्त ने सभी सम्भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए व्यापक रूप से सोलह भेद मानकर पूर्वाचार्यों के समस्त भेदों को समाविष्ट करने का प्रयास किया है।[१५६] अतः उनके अनुसार ही अनुपलब्धि भेदों का विवेचन यहाँ किया जा रहा है :---

(१) स्वभावानुपलब्धि

'यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त धूम की अनुपलब्धि है।' यहाँ धूम प्रतिषेध्य है, उसके स्वभाव की यहाँ अनुपलब्धि होने से यह स्वभावानुपलब्धि कहलाती है।

(२) कार्यानुपलब्धि

'यहाँ धूमोत्पत्ति के अनुपहत (अप्रतिबद्ध) सामर्थ्य रखने वाले कारण नहीं हैं, क्योंकि यहाँ धूम का अभाव है'। यहाँ पर धूम के कारण प्रतिषेध्य हैं। उनका कार्य धूम है और उसकी यहाँ अनुपलब्धि है।

(३) कारणानुपलब्धि

'यहाँ धूम नहीं है, अग्नि का अभाव होने से'। यहाँ पर धूम प्रतिषेध्य है। उसका कारण अग्निहै, जिसकी यहाँ अनुपलब्धि है।

(४) व्यापकानुपलब्धि

'यहाँ शिंशपा नहीं है, क्योंकि वृक्ष का अभाव है'। यहाँ पर शिंशपा प्रतिषेध्य है। उसका व्यापक वृक्ष है, जिसकी यहाँ अनुपलब्धि है।

(५) स्वभावविरुद्धोपलब्धि

'यहाँ शीत स्पर्श नहीं है, वह्नि के होने से'। यहाँ शीत स्पर्श प्रतिषेध्य है। उसका विरुद्ध अग्नि है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(६) कार्यविरुद्धोपलब्धि

'यहाँ शीत-जनन के अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले कारण नहीं हैं, क्योंकि यहाँ वह्नि है'। यहाँ पर शीत कारण प्रतिषेध्य है। उसका कार्य शीत एवं उसका विरुद्ध वह्नि है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(७) कारणविरुद्धोपलब्धि

'यह पुरुष रोमहर्षादिविशेषयुक्त नहीं है, सन्निहित (पास में) अग्नि विशेष होने से'। यहाँ रोमहर्षादिविशेष प्रतिषेध्य है। उसका कारण शीत है। उसका विरुद्ध अग्नि है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(८) व्यापक विरुद्धोपलब्धि

'यहाँ हिम स्पर्श (तुषार स्पर्श) नहीं है, अग्नि होने से'। यहाँ तुषार स्पर्श प्रतिषेध्य है। उसका व्यापक शीत है। उसका विरुद्ध अग्नि है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(९) स्वभावविरुद्धकार्योपलब्धि

'यहाँ तुषार स्पर्श नहीं है, धूम होने से'। यहाँ पर तुषार स्पर्श प्रतिषेध्य है। उसका विरुद्ध (उष्ण स्पर्श वाली) वह्नि है। उसका कार्य धूम है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(१०) कार्यविरुद्धकार्योपलब्धि

'यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले शीत कारण नहीं हैं क्योंकि यहाँ धूम है'। यहाँ पर शीत कारण प्रतिषेध्य है। उसका कार्य शीत है। उसका विरुद्ध वह्नि है। उसका कार्य धूम है और उसकी यहाँ उपलब्धि है।

(११) कारणविरुद्धकार्योपलब्धि

'यह स्थान रोम हर्षादि युक्त पुरुष वाला नहीं है, क्योंकि यहाँ धूम है'। यहाँ पर रोम हर्ष विशेष प्रतिषेध्य है। उसका कारण शीत है। उसका विरुद्ध वह्नि है। उसका कार्य धूम है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(१२) व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धि

'यहाँ तुषार स्पर्श नहीं है, धूम होने से'। यहाँ तुषार स्पर्श प्रतिषेध्य है। उसका

व्यापक शीत है। उसका विरुद्ध वह्नि है। उसका कार्य धूम है और उसकी यहाँ उपलब्धि है।

(१३) स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धि

'यहाँ अग्नि नहीं है, तुषार स्पर्श होने से'। यहाँ अग्नि प्रतिषेध्य है। उसका विरुद्ध शीत है। उसका व्याप्त तुषार स्पर्श है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(१४) कार्यविरुद्धव्याप्तोपलब्धि

'यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले वह्नि कारण नहीं है, तुषार स्पर्श होने से'। 'यहाँ वह्नि कारण प्रतिषेध्य है। उसका कार्य वह्नि है। उसका विरुद्ध शीत है। उसका व्याप्त तुषार स्पर्श है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(१५) कारणविरुद्धव्याप्तोपलब्धि

'यहाँ धूम नहीं है, तुषार स्पर्श होने से'। यहाँ पर धूम प्रतिषेध्य है। उसका कारण वह्नि है। उसका विरुद्ध शीत है। उसका व्याप्त तुषार स्पर्श है, जिसकी यहाँ उपलब्धि है।

(१६) व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धि

'यह नित्य नहीं है, क्योंकि यह कभी कभी कार्य करता है'। यहाँ नित्यत्व प्रतिषेध्य है। उसका व्यापक निरतिशयत्व है। उसका विरुद्ध सातिशयत्व है। उसका व्याप्त कादाचित्ककार्यकारित्व है और उसकी यहाँ उपलब्धि है।[१५७]

इनमें से स्वाभावानुपलब्धि का साध्य, अभाव व्यवहार है न कि अभाव। शेष सभी का साध्य अभाव और अभाव व्यवहार दोनों है। केवल दो उदाहरणों—(१) विरुद्ध कार्योपलब्धि—'यहाँ शीत स्पर्श नहीं है, धूम होने से'। तथा (२) विरुद्धव्याप्तोपलब्धि—'उत्पन्न होने वाली वस्तु का विनश्वर स्वभाव ध्रुवभावी नहीं है, अन्य हेतु की अपेक्षा होने से' को छोड़कर मोक्षाकर गुप्त ने नाम और उदाहरण के सम्बन्ध में धर्मकीर्ति का अक्षरशः अनुसरण किया है। धर्मकीर्ति ने, जिसे 'विरुद्धकार्योपलब्धि' और 'विरुद्ध-व्याप्तोलब्धि' कहा है उन्हें मोक्षाकार गुप्त ने स्वभावविरुद्धकार्योपलब्धि' तथा स्वभाव-विरुद्धव्याप्तोपलब्धि के रूप में व्यक्त किया है। तार्किक दृष्टिकोण से मोक्षाकार गुप्त का नाम परिष्कार अधिक समीचीन जान पड़ता है। कहीं-कहीं शीत स्पर्श की अपेक्षा मोक्षाकार गुप्त ने तुषार स्पर्श का भी प्रयोग किया है, किन्तु तात्पर्य और निरूपण में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता।

जैन मत

जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार हेतु दो प्रकार का है—(१) तथोप-पत्तिमूलक (साध्य के होने पर ही होने वाला) और (२) अन्यथानुपपत्तिमूलक (साध्य के अभाव वाले स्थलों में कभी भी न पाया जाने वाला) इन दोनों हेतुओं में से किसी भी एक के द्वारा साध्य का अवधारण हो सकता है।[१५८] सिद्धसेन की कमी की पूर्ति करते हुए व्याख्याकार सिद्धर्षि गणि ने दोनों हेतुओं के उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—(१) यहाँ अग्नि है, धूम की अग्नि द्वारा ही उत्पत्ति होने से' तथा (२) 'यहाँ अग्नि है, अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति न होने से' प्रथम उदाहरण अन्वय या विधि-साधक है द्वितीय व्यतिरेक या प्रतिषेध-साधक[१५९]। अकलंक ने 'प्रमाण संग्रह' में हेतु को मुख्यतः अन्यथानुपपत्ति-मूलक[१६०]। प्रदर्शित करते हुए उसके अनेक अवान्तर भेद भी ज्ञापित किए हैं। यद्यपि उन्होंने विधि-निषेध रूप से हेतु को उपलब्धि और अनुपलब्धि दो भेदों में विभक्त

अवश्य किया है [१६१] और उपलब्धि के, (१) स्वभावोपलब्धि, (२) स्वभाव-कार्योपलब्धि, (३) स्वभावकारणोपलब्धि, (४) सहचरोपलब्धि, (५) सहचर-कार्योपलब्धि, (६) सहचरकारणोपलब्धि आदि छः भेद[१६२] तथा अनुपलब्धि के (१) स्वभावानुपलब्धि, (२) कार्यानुपलब्धि, (३) कारणानुपलब्धि, (४) स्वभाव-सहचरानुपलब्धि, (५) सहचर कारणानुपलब्धि, (६) सहचरकार्यानुपलब्धि आदि असद्व्यवहार साधक छः भेद[१६३] और (१) स्वभावविरुद्धोपलब्धि, (२) कार्यविरुद्धोपलब्धि, (३) कारणविरुद्धोपलब्धि आदि सद्व्यवहार निषेधक तीन भेद[१६४] परिगणित किये हैं, किन्तु इनका सुस्पष्ट एवं विशद विवेचन माणिक्यनन्दी ने ही किया है। अकलंक का अनुगमन करते हुए उन्होंने भी प्रथमतः हेतु के दो भेद—(१) उपलब्धि तथा (२) अनुपलब्धि के रूप में व्यक्त किये हैं।[१६५] पुनः प्रत्येक के दो-दो भेद करके उसके अवान्तर भेदों का सर्जन किया है। उपलब्धि दो प्रकार की है—(१) अविरुद्धोपलब्धि और (२) विरुद्धोपलब्धि। प्रथम विधि-साधक है द्वितीय प्रतिषेध-साधक। इसी प्रकार अनुपलब्धि भी दो प्रकार की है—(१) अविरुद्धानुपलब्धि और (२) विरुद्धानुपलब्धि। प्रथम प्रतिषेध-साधक है द्वितीय विधिसाधक।[१६६]

अविरुद्धोपलब्धि

अविरुद्धोपलब्धि छः प्रकार की है।[१६७] इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) अविरुद्धव्याप्योपलब्धि	— शब्द परिणामी है, कृतक होने से।
(२) अविरुद्धकार्योपलब्धि	— इस शरीरधारक (देही) प्राणी में बुद्धि है, बुद्धि के कार्य वचन आदि पाये जाने से।
(३) अविरुद्धकारणोपलब्धि	— यहाँ छाँया है, छत्र होने से।
(४) अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि	— एक मुहूर्त के पश्चात् शकट का उदय होगा, क्योंकि इस समय कृतिका का उदय हो रहा है।
(५) अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि	— भरणी का उदय एक मुहूर्त के पूर्व ही हो चुका है, कृतिका का उदय हो जाने से।
(६) अविरुद्धसहचरोपलब्धि	— मातुलिङ्ग (बिजौरा) रूपवान् है, रसवान होने से।[१६८]

यहाँ छठे उदाहरण में रूपवानसाध्य है, और उसका अविरोधी सहचर हेतु रसवान। अतः रसवान हेतु को अविरुद्धसहचरोपलब्धि हेतु कहा जाता है। अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार से समझना चाहिये।

विरुद्धोपलब्धि

निषेध-साधक विरुद्धोपलब्धि भी छः प्रकार की होती है,[१६९] जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) विरुद्धव्याप्योपलब्धि	— यहाँ शीतल स्पर्श नहीं है, उष्णता पायी जाने से।
(२) विरुद्धकार्योपलब्धि	— यहाँ शीतल स्पर्श नहीं है, धूम होने से।
(३) विरुद्धकारणोपलब्धि	— इस प्राणी में सुख नहीं है, हृदय में शल्य होने से।
(४) विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि	— एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी रेवती का उदय हो रहा है।

(५) विरुद्धउत्तरचरोलपब्धि — एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है, पुष्य का उदय हो जाने से ।

(६) विरुद्धसहचरोपलब्धि — इस दीवार में परभाग (उस ओर के विभाग) का अभाव नहीं है, अर्वाभाग (इस ओर का विभाग) दिखाई देने से ।[१७०]

अविरुद्धानुपलब्धि

उक्त दूसरे उदाहरण में प्रतिषेध योग्य 'साध्य' शीतल स्पर्श है उसका विरोधी है उष्ण स्पर्श, जो अग्नि में पाया जाता है, इसलिए उसके कार्य धूम हेतु को विरुद्धाकार्योपलब्धि हेतु कहा जाता है । अन्य सभी उदाहरणों की व्याख्या भी इसी प्रकार की जा सकती है ।

निषेध-साधक अविरुद्धानुपलब्धियाँ सात प्रकार की हैं ।[१७१] इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) **अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि** — इस भूतल पर घट नहीं है, उपलब्धि योग्य स्वभाव होने पर भी उसके अनुपलब्ध होने से ।

(२) **अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि** — यहाँ शिंशपा (शीशम) नहीं है, वृक्ष अनुपलब्ध होने से ।

(३) **अविरुद्धकार्यानुपलब्धि** — यहाँ पर अप्रतिबध्य सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है, धूम अनुपलब्ध होने से ।

(४) **अविरुद्धकारणानुपलब्धि** — यहाँ पर धूम नहीं है, अग्नि अनुपलब्ध होने से ।

(५) **अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि** — एक मुहूर्त पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा, कृतिका का उदय अनुपलब्ध होने से ।

(६) **अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि** — एक मुहूर्त के पूर्व भरणी का उदय नहीं हुआ है, कृतिका का उदय अनुपलब्ध होने से ।

(७) **अविरुद्धसहचरानुपलब्धि** — समान तोलने वाली इस तराजू का एक पलड़ा ऊँचा उठा हुआ नहीं है, क्योंकि दूसरा पलड़ा नीचा नहीं है ।[१७२]

उक्त द्वितीय उदाहरण में शिंशपात्व, वृक्षत्व के साथ व्याप्त है । शिंशपात्व व्याप्य और वृक्षत्व व्यापक है । जहाँ व्यापक वृक्षत्व का अभाव पाया जाता है, वहाँ उसके व्याप्य शिंशपात्व का अभाव भी निश्चित रूप से उपलब्ध होगा । अतः शिंशपा के अविरोधी वृक्ष के अनुपलब्ध होने से अर्थात् शिंशपात्व के व्यापक वृक्षत्व की अनुपलब्धि होने से वृक्षत्व हेतु अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि कहलाता है । इसी रीति से अन्य सभी उदाहरणों का भी विवेचन किया जा सकता है ।

विरुद्धानुपलब्धि

विरुद्धानुपलब्धियाँ तीन प्रकार की है ।[१७३] इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) **विरुद्धकार्यानुपलब्धि** — यह प्राणी व्याधि विशेष से ग्रस्त है, क्योंकि इसमें निरामय (रोग रहित या नीरोग जैसी) चेष्टा नहीं पाई जाती ।

(२) विरुद्धकारणानुपलब्धि — इस प्राणी में दुःख है, इष्ट संयोग का अभाव होने से।

(३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि — वस्तु अनेकान्तात्मक है, एकान्त स्वरूप उपलब्ध न होने से।[१७४]

यहाँ पर प्रथम उदाहरण में साध्य से विरुद्ध पदार्थ के कार्य का न पाया जाना ही विरुद्धकार्यानुपलब्धि है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों की भी व्याख्या की जा सकती है।

विभिन्न उदाहरणों द्वारा हेतु भेद के प्रसङ्ग में वादि देवसूरि ने माणिक्यनन्दी का ही समर्थन किया है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ द्वितीय ने विरुद्धोपलब्धि के छः तथा विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद ज्ञापित किये हैं, वहाँ प्रथम ने विरुद्धोपलब्धि का एक अतिरिक्त भेद—'स्वभावविरुद्धोपलब्धि'—'सर्वथा एकान्त नहीं है, अनैकान्त की उपलब्धि होने से' तथा 'विरुद्धानुपलब्धि' के दो पृथक् भेद—'विरुद्धव्यापकानुपलब्धि'—यहाँ पर छाँया है, उष्णता न होने से' और विरुद्धसहचरानुपलब्धि—'इस पुरुष को मिथ्या ज्ञान है, क्योंकि उसमें सम्यक् दर्शन उपलब्ध नहीं होता' और भी ज्ञापित किये हैं।[१७५] यशोविजय ने उदाहरण वैभिन्य से वादि देवसूरि समर्थित सभी भेदों का निर्वचन किया है।[१७६] धर्मभूषण ने माणिक्यनन्दी का अनुसरण करते हुए अविरुद्धोपलब्धि के ही अवान्तर भेद विवेचित किये हैं, शेष सभी के एक-एक अथवा दो-दो उदाहरण दिये हैं।[१७७]

उपलब्धि-अनुपलब्धि अर्थात् विधि-निषेध साधक इस व्यवस्था का प्रवर्तक सिद्ध सेन दिवाकर, अकलंक आदि को नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस प्रकार की हेतु चर्चा आगम ग्रन्थों में भी पाई जाती है जैसे, 'स्थानांग सूत्र' में इसकी व्याख्या इस प्रकार से की गई है—

(१) विधि-विधि — ऐसा विधि मूलक हेतु जिसका साध्य विधानात्मक हो।
(२) विधि-निषेध — ऐसा विधि मूलक हेतु जिसका साध्य प्रतिषेधात्मक हो।
(३) निषेध-विधि —ऐसा निषेध मूलक हेतु जिसका साध्य विधानात्मक हो।
(४) निषेध-निषेध — ऐसा निषेध मूलक हेतु जिसका साध्य प्रतिषेधात्मक हो।

यह व्यवस्था 'वैशेषिकसूत्र' से प्रभावित जान पड़ती है,[१७८] क्योंकि महर्षि कणाद ने भी इसी तरह 'भूत-भूत', 'भूत-अभूत' 'अभूत-भूत' रूप से लिङ्ग व्याख्या की है।[१७९] उन्होंने अन्तिम भेद को 'अभूत-अभूत' न कहकर 'कारणाभावात् कार्याभावः' के रूप में प्रकट किया है।[१८०] उत्तरवर्ती जैन दार्शनिक विद्यानन्द ने भी इसी पद्धति से अपना हेतु भेद विवेचित किया है। अन्तर इतना है कि उन्होंने प्रथम तीन में प्रतिषेध-प्रतिषेध या अभूत-अभूत और जोड़कर उक्त आगमिक परम्परा का अनुसरण किया है। पूर्वाचार्यों द्वारा समर्थित उपलब्धियों तथा अनुपलब्धियों में और भी अनेक अवान्तर भेद जोड़ते हुए उन्होंने सभी भेदों को संक्षिप्तः भूत आदि चार भेदों अथवा अत्यन्त संक्षेप से उतलम्भ और अनुपलम्भ (विधिमूलक व निषेधमूलक) इन दो भेदों में समाविष्ट किया है।[१८१] हेमचन्द्र ने वैशेषिक[१८२] सूत्रों में वर्णित सभी हेतु प्रकारों को स्वीकार किया है, अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ वैशेषिकसूत्र' में संयोगी और समवायी लिङ्ग की व्याख्या की गई है, वहाँ उन्होंने इन दोनों के स्थान पर स्वभावलिङ्ग को अपनाया है।

अन्य जैनाचार्यों से पृथक् मत सम्पादित करते हुए उन्होंने चार अनुपलब्धियाँ भी धर्मकीर्ति की तरह निषेधमूलक ही मानी है ।[१८३]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि प्रायः सभी दार्शनिकों ने हेतु के लक्षण और प्रकारों के विषय में न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का ही किसी न किही रूप में समर्थन किया है । महर्षि कणाद और गौतम की विधि-निषेध-परक पद्धति को उत्तरवर्ती नैयायिकों ने 'केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी', बौद्धों ने 'स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि' तथा जैनों ने 'उपलब्धि और अनुपलब्धि' भेदों में परिणत किया है । बौद्ध समर्थित निषेधसाधक मात्र अनेक अनुपलब्धियाँ निरर्थक सी जान पड़ती हैं । इसी प्रकार जैनों द्वारा मण्डित अनेक अनुपलब्धियाँ और उपलब्धियाँ भी निष्प्रयोजक ही हैं । यद्यपि जैन दार्शनिकों के अनुपलब्धि-भेद बौद्धों से काफी प्रभावित जान पड़ते हैं, फिर भी विधि-निषेध साधक दोनों प्रकार की व्यवस्था पाई जाने से जैन विवेचना अधिक उपयुक्त जान पड़ती है । इसी प्रकार अन्यथानुपपन्नत्व रूप हेतु का प्रवर्तक भी जैनाचार्यों को नहीं माना जा सकता, क्योंकि महर्षि कणाद के 'प्रसिद्धिपूर्वक' हेतु तथा प्रशस्तपाद के 'देशकाला-विनाभूत लिङ्ग' में उक्त रूप का ही उपन्यास किया गया है । फिर भी इस रूप से, लिङ्ग का विवेचन करने में, जैसा विकास और परिष्कार जैन ग्रन्थों में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं । वस्तुतः यह शबरस्वामी के अर्थापत्ति लक्षण में अभिव्यक्त 'अन्यथा नोपपद्यते' पद का अवान्तर रूप है ।[१८३]

परिणामतः प्रत्येक अनुमान में हेतु साध्य एवं पक्ष ये तीन घटक होना अनिवार्य है । इन तीनों में से किसी भी अङ्ग का वैकल्य (अभाव) होने पर कोई भी अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता । क्योंकि साध्य धर्म का ज्ञापक होने के नाते, हेतु गमक रूप से; हेतु द्वारा साधनीय धर्म को अवगम्य करने के कारण, साध्य गम्य रूप से एवं हेतु और साध्य दोनों का आधार होने के नाते पक्ष अधिकरण रूप से अनुमान के अपरिहार्य अङ्ग है । साध्य-निश्चय के लिये मैत्रेयनाथ ने, 'योगाचार्य सप्तदशभूमिशास्त्र' में, (१) सिद्धान्त, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) साधर्म्य, (५) वैधर्म्य, (६) प्रत्यक्ष, (७) अनुमान, एवं (८) आगम इन आठ साधनों का विधान किया है ।[१८४] असङ्ग ने 'योगाचारभूमिशास्त्र' में इन्हीं आठ साधनों का समर्थन किया है ।[१८५] किन्तु 'महायान अभिधर्म संयुक्त संगीतिशास्त्र' में उन्होंने, (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय, (५) निगमन, (६) प्रत्यक्ष, (७) उपमान एवं (८) आगम इन आठ साधनों का उपन्यास किया है ।[१८६] इन सबका परिष्कार करते हुए दिग्नाग ने 'न्यायप्रवेश' में साधनांग के रूप में पक्ष हेतु और दृष्टान्त इन तीन आवश्यक अङ्गों को ही समाविष्ट किया है ।[१८७] एक दृष्टि से दिङ्नाग कृत परिष्कार उचित भी जान पड़ता है, क्योंकि हेतु और उदाहरण को छोड़कर शेष सभी साधन अनुमान के आवश्यक अंग नहीं कहे जा सकते । दिङ्नाग के पक्ष पद से साध्य और धर्मी दोनों का बोध हो जाता है, क्योंकि साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को ही उन्होंने पक्ष कहा है । किन्तु उनके दृष्टान्त को अनुमान का आवश्यक अङ्ग नहीं माना जा सकता, कारण कि साध्य और साधन की व्याप्ति का प्रदर्शन करना ही दृष्टान्त का एकमात्र प्रयोजन है, अतः साध्य साधन एवं पक्ष की भांति, स्वतंत्र रूप से प्रयोजक न होने के कारण दृष्टान्त को अनुमान का अपरिहार्य अङ्ग नहीं माना जा सकता । इसलिये हेतु, साध्य और पक्ष इन तीन अनिवार्य अङ्गों को ही अनुमान के मौलिक घटकों में समाविष्ट किया जा सकता है ।

सन्दर्भ-निर्देश

१. साध्यं च द्विविधं धर्मिविशिष्टो वा धर्मः शब्दस्यानित्यत्वम्, धर्मविशिष्टो वा धर्मी अनित्यः शब्द इति । न्या० भा० पृ० ३०८ । २. वही पृ० ३०८, न्या० वा० पृ० ३०८ । ३. वही पृ० २७२ । ४. उद्धृत—न्या० वा० ता० टी० पृ० १५२; प्र० स० अध्याय २— । Hil. F. No. 1. p. 281-82; FFD. Fragment G. p. 18-19. ५. न्या० वा० पृ० १५३-५४ । ६. वही पृ० १५५ । ७. वही प० २७२, ३०८-३०९ । ८. न्या वा० ता० टी० पृ० २७२-७३, ३०८-९ । ९. न्या० मं० २ पृ० १३२ । १०. श्लो० वा० अनुमान श्लो० २८-३३ । ११. वही श्लो० ३४-३५ । १२. वही श्लो० ३६-३८ । १३. वही श्लो० ३९-४२ । १४. वही श्लो० ४२-५० । १५. वही श्लो० ५०-५१ एवं इस पर ता० टी०, काशिका एवं न्या० र० । १६. न्या० भा० पृ० २७२ । १७. तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे । न्या० भा० पृ० ३५ । १८. न्या० वा० पृ० २७२-७३ । १९. वही पृ० २७७ । २०. वही पृ० २८१; न्या० वा० ता० टी० । पृ० २८१ । २१. न्या० वा० पृ० २८१-८२ । २. संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः त० भा० पृ० ९० । २३. संदिग्धसाध्यवान् पक्षः त० सं० पृ० ४३ । २४. त० चि० पृ० १०९२ । २५. तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा । प्र० भा० पृ० ३३५ । २६. कि० पृ० ३३५ । २७. न्या० कं० पृ० ५६५-६९ । २८. उ० पृ० २१५-१६ । २९. संदिग्धसाध्यधर्मवत्वेनोपात्तत्वं पक्षत्वम् । स० प० १५२ । ३०. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ५५-५७ । ३१. जिज्ञासितधर्मविशिष्टश्च पक्ष इत्युक्तम् । मा० मे० पृ० ६६ । ३२. जिज्ञासितसाध्यवान् पक्षः त० सि० र० पृ० ५९ । ३३. न्या० प्र० पृ० १ । ३४. न्या० बि० २।६,—३।३७-४७ । ३५. न्या० बि० टी० पृ० ९७, १७६-१७१ । ३६. न्या० व० का० १४ । ३७. न्या० वि० का० १७२, प्र० सं० का० २० । ३८. प० मु० सू० ३।१६ । ३९. प्र० म० त० ३।१४ । ४०. प्र० मी० १।२।१३ । ४१. न्या० दी० पृ० ६९ । ४२. न्या० व० वा० २।५० । ४३ 'पक्षः' इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत् प्र० मी० वृ० पृ० ४५ । ४४. न्या० बि० टी० पृ० ९७ । ४५. प० मु० सू० ३।२१-२२, ३।२८-२९; प्र० र० मा० पृ० १५२-१५३, १६०-१६१ । ४६. प्र० न० त० ३।१८-२०, । ४७. प्र० मी० १।२।१५, वृत्ति पृ० ४६ । ४८. न्या० दी० पृ० ७२-७३ । ४९. प० मु० सू० ३।२३, प्र० र० मा० पृ० १५४-१५५ । ५०. वही ३।२४-२७, प्र० र० मा० पृ० १५५-१६० । ५१. प्र० न० त० ३।२१-२२ । ५२. प्र० मी० १।२।१६-१७ वृत्ति पृ० ४६-४७ । ५३. न्या० दी० पृ० ७३ । ५३।१. न्या० वि० वि० २।१५५ पृ० १७८-८० । ५४. हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् । वै० सू० ९।२।४ । ५५. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य । वही ३।१।१४ । ५६. अप्रसिद्धोऽनपदेशः——वही ३।१।१५ । ५७. अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः । वही ३।१।७ । ५८. उ० पृ० ८७ । ५९. अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः वै० सू० ३।१।८ । ६०. उ० पृ० ८७ । ६१. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ।। प्र० भा० पृ० २९० । ६२. विपरीतमतो यत्स्यात् एकेन द्वितयेन

वा । विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत ।। वही पृ० २९० । ६३. वही पृ० २९२-९३ । ६४. न्या० कं० पृ० ४७८-८० । ६५. वही पृ० ४८५ । ६६. वही पृ० ४८६-८९ । ६७. तस्मात् सुष्ठूक्त———————समस्तं त्वन्वयव्यतिरेकिण: । कि० पृ० २९५ । ६८. केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी । अस्य च पक्षसत्व-———यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि———उ० पृ० ९७ । ६९. स० त० १५१ । ७०. श्लो० वा० श्लो० ३-११ । ७१. मा० मे० पृ० ५८-५९ । ७१।१. प्र० पं० पृ० २१२ । ७२. मा० वृ० पृ० १२-१३ । ७३. प्र० वा० ३।१ । ७४. म० वृ० पृ० २८२ । ७५. न्या० प्र० पं० पृ० ४० । ७६. प्र० वा० ३।१४ । ७७. न्या० बि० २१५-१० । ७८. म० वृ० पृ० २८७ । ७९. न्या० बि० टी० पृ० ९१-१०० । ८०. बौ० त० भा० पृ० १ । ८१. तत्त्व० सं० १३६२-६३, १३६४-७९, १३८०-१४२९ । ८२. अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति । प्र० स० अध्याय २; हे० बि० टी० पृ० २२२-२२३; उद्धृत–न्याय० वा० पृ० १६३ । ८३. त० शा० पृ०; BLBD. p. 479; BL. Vol. 1. p. 243. । ८३।१. षट-खण्डागम ५।५।१; स्थानांग सूत्र पृ० ३०९-१० । ८४. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम ।। उद्धृत——न्याय० वि० का० ३२३; प्रमाण० प० पृ० ७२; प्र० मी० पृ० ४०; तत्त्व० सं० का० १३६९ इस कारिका के रचियता के विषय में पर्याप्ति मतभेद है । पं० दरबारीलाल कोठिया ने सारगर्भित युक्तियों द्वारा इसे पात्रस्वामी कृत मण्डित किया है——न्या० दी० प्रस्तावना पृ० ५४-५७ । ८५. न्या० व० का० २२; प्र० सं० का० २१; प० मु० सू० ३।११; त० श्लो० वा० १।१३।१२१; प्र० न० त० ३।११; प्र० मी० वृ० पृ० ३९ । ८६. अवि-नाभावनियमात् प्र० वा० ३।१ । ८७. प्र० भा० पृ० ३०२-३; कि० पृ० ३०३; न्या० कं० पृ० ५०३-५ । ८८. सि० मु० पृ० २१६ । ८९. देखिये पूर्व संकेत क्रमांक ८४ । ९०. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं पंचभिः कृतम् । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं पंचभिः कृतम् ।। प्र० प० पृ० ७२ । ९१. ल० का० १४; न्या० कु० चं० पृ० ४४०; त० श्लो० वा० पृ० २००-२०२; स० टी० पृ० ५९१; जैं० त० भा० पृ० १२; न्या० व० टी० पृ० ३५; प्र० सं० पृ० १०४; प्रमाण० प० पृ० ७१; जै० त० वा० पृ० १४०; न्या० दी० पृ० ८४; प्र० क० मा० पृ० ३५५, ३५८-५९ । ९२. हे० बि० टी० पृ० २०६, २२१-२२ । ९३. न्या० वा० पृ० १४४-१४५, १५१ । ९४. न्या० वा० ता० टी० पृ० १४६ । ९५. न्या० मं० १ पृ० १०१; त० भा० पृ० ८७; न्या० सा० पृ० २८ । ९६. न्या० मं० १ पृ० १०१; त० भा० पृ० ८७; न्या० मा० पृ० २८ । ९७. न्या० मं० १ पृ० १०१; त० भा० पृ० ८७; न्या० सा० पृ० २९ । ९८. न्या० मं० १ पृ० १०१; त० भा० पृ० ८७; न्या० सा० पृ० २९ । ९९. न्याय मं० १ पृ० १०१; त० भा० पृ० ८७; न्या० सा० पृ० २८ । १००. हे० बि० टी० पृ० २०५-६ । १०१. वही पृ० २०४ । १०२. वही पृ० २०५-२१३, २१३-२२० । १०३. न्या० मं० १ पृ० १०१-१०३ । १०४. संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः । यथा धूमानुमाने पर्वतः पक्षः । त० भा० पृ० ९० । १०५. सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी । यथा महानसो धूमानुमाने । वही पृ० ९० । १०६. विपक्षस्तु निश्चित-साध्याभाववान् धर्मी । यथा तत्रैव महाह्रद इति । वही पृ० ९० ।

१०७. न्या० सा० पृ० २८-२९। १०८. त० सं० पृ० ४३-४४। १०९. स० प० १५२-१५३। ११०. मा० मे० पृ० ५९। १११. त० सि० र० पृ० ५९। ११२. न्या० बि० २।६-९। ११३. वै० सू० ३।१।९, ९।२।१। ११४. वही ३।१।१०। ११५. वही ३।१।११-१३। ११६. उ० पृ० ८७-८९। ११७. प्र० भा० पृ० ३०२-४। ११८. न्या० कं० पृ० ५०३-५०७। ११९. कि० पृ० ३०३-३०४। १२०. व्यो० पृ० ५७२-७४। १२१. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः न्या० सू० १।१।३४। १२२. तथा वैधर्म्यात्। न्या० सू० १।१।३५। १२३. न्या० भा० पृ० २८३-८८। १२४. वही पृ० २९०। १२५. न्या० वा० पृ० २९०-९२। १२६. न वैधर्म्यमात्रेण गमकत्वम्; अपि त्वव्यभिचारिणा——न्या० वा० ता० टी० पृ० २९४। १२७. न्या० मं० २ पृ० १३४-३८। १२८. साध्यसाधनग्रहणमेव प्रतिबन्धसूचकं सामान्यलक्षणं भविष्यति——वही पृ० १३५। १२९. व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्। त० भा० पृ० ७२। १३०. हेतुत्वंचानुमितिकारणीभूतलिंगपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकसाध्याविषयक—शाब्दधीजनकहेतुविभक्तिमच्छब्दत्वम्। त० चि० पृ० १५३५। १३१. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताविशिष्टहेतुलिङ्गम्। दि० पृ० २११। १३२. त० चि० पृ० १५४५। १३३. वही पृ० १५४५-४६। १३४. त० भा० पृ० ८२-८५। १३५. वही पृ० ८६-८९। १३६. त० पृ० १६। १३७. त० सं० पृ० ४०। १३८. प्र० वा० ३।२; न्या० बि० २।१०-११; हे० बि० पृ० ५४। १३९. न्या० बि० २।१५; म० वृ० पृ० २८४। १४०. न्या० बि० २।१६; न्या० बि० टी० पृ० १०६। १४१. न्या० बि० २।१७; न्या० बि० टी० पृ० १०७। १४२. अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ।——न्या० बि० २।१८; न्या० बि० टी० पृ० १०८। १४३. एकः प्रतिषेधः न्या० बि० २।१८; न्या० बि० टी० पृ० १०८। १४४. न्या० बि० २।१२। १४५. न्या० बि० २।२५-२७। १४६. म० वृ० पृ०२८५। १४७. न्या० बि० टी० पृ० ११६-११७। १४८. बौ० त० भा० पृ० १५-१६। १४९. वही पृ० १६। १५०. न्या० बि० २।२८-२९; न्या० बि० टी० पृ० ११८-१२३। १५१. न्या० बि० २।४२, २।३०। १५२. प्र० वा० ३।३। १५३. न्या० बि० ३।३०-४१। १५४. न्या० बि० २।४२-४४। १५५. म० वृ० पृ० २८६। १५६. बौ० त० भा० पृ० १६। १५७. वही पृ० १६-१८। १५८. हेतोस्तथोपपत्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा। द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति॥ न्या० व० का० १७। १५९. न्या० व० टी० पृ० ७०। १६०. प्र० सं० का० २०। १६१. वही का० २९-३०। १६२. प्र० सं० वृ०पृ० १०४। १६३. वही पृ० १०५। १६४. वही पृ० १०५। १६५. प० मु० सू० ३।५३। १६६. प० मु० सू० ३।५४। १६७. वही ३।५५। १६८. वही ३।६१-६६। १६९. वही ३।६७। १७०. वही ३।६८-७३। १७१. वही ३।७४। १७२. वही ३।७५-८१। १७३. वही ३।८२। १७४. वही ३।८३-८५। १७५. प्र० न० त० ३।५४-५६, ६७, ६८-६९, ७७-८२, ८३-८५, ८६, ८७-९२ ९३, ९४-९५, ९६-१०२, १०३-१०४, १०५-१०९। १७६. जै० त० भा० पृ० १६-१८। १७७. न्या० दी० पृ० ९५-९९। १७८. स्या० सू० पृ० ३०९-१०-उद्धृत-न्या० व० वा० वृ० प्रस्तावना पृ० ७८। १७९. वै० सू० ३।१।११-१३। १८०. वही १।२।१। १८१. प्रमाण प० पृ० ७२-७५। १८२. वै० सू० ३।१।९, ९।२।१। १८३. प्र०

मी० १।२।१२ एवं वृत्ति पृ० ४२-४५ । १८४. HIL. p. 264; JRAS. 1929 Prof. Tucci's article Buddhist Logic before Diñnāga p. 461-62. १८५. JRAS. 1929 Prof. Tucci's same article p. 461-62; बौ० द० पृ० ११६-११९ । १८६. HIL. p. 266; JRAS 1929. Prof. Tucci's same article p. 461-62. १८७. न्या० प्र० पृ० १ ।

३ अनुमान के आधारभूत तत्त्व

पिछले अध्याय में व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मता-ज्ञान को ही अनुमान का यथार्थ लक्षण बतलाया गया है। अनुमान वस्तुतः व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान पर अवलम्बित है, अतः इन दोनों को भलीभांति समझ लेना आवश्यक है। हेतु और साध्य के नियत पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान को व्याप्ति तथा पक्ष और हेतु के सामञ्जस्य को पक्षधर्मता ज्ञान कहा जाता है। किसी भी अनुमान में व्याप्ति स्मरण होने पर ही पक्ष में हेतु के दर्शन से अनुमेय का ज्ञान निष्पन्न होता है। अतः अनुमान के लिये दोनों यथार्थ ज्ञान होना अनिवार्य हैं।

तार्किक आधार व्याप्ति—

व्युत्पत्ति के आधार पर व्याप्ति शब्द वि + आप्ति के योग से निष्पन्न होता है अर्थात् विशेष रूप से आप्ति या सम्बन्ध। दो वस्तुओं का सर्वदा नियत रूप से एक साथ रहना ही विशेष सम्बन्ध है। दो सहचारियों का केवल साथ-साथ रहना ही व्याप्ति नहीं है, जैसे, मेंढक और जल में साहचर्य तो है, किन्तु ऐसा नहीं है कि मेंढक बिना जल के और जल बिना मेंढक के पाया ही न जाय। इसलिये उनके साहचर्य सम्बन्ध को नियत नहीं कहा जा सकता, अपितु व्यभिचारयुक्त ही कहा जायगा। व्याप्ति वही अटल-अच्छेद्य साहचर्य सम्बन्ध हो सकता है जो किसी अपवाद अथवा व्यभिचार से सर्वथा शून्य हो, जैसे, सूर्य और उसकी किरणें तथा धूम और अग्नि में अव्यभिचरित व्याप्ति सम्बन्ध पाया जाता है। सूर्य की किरणें तथा धूम कभी भी सूर्य तथा अग्नि के अभाव में उपलब्ध नहीं होते। इस तरह सूर्य और उसकी किरणें तथा धूम और अग्नि में किसी प्रकार का व्यभिचार भी दृष्टिगत नहीं होता। इसी व्यभिचार शून्य हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है।

पक्षधर्मता ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति ज्ञान न हो तो अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता। जैसे 'पर्वत धूमयुक्त है, वह्नि होने से'। वह्नि, पक्ष पर्वत में पाई जाने के कारण यहाँ पक्षधर्मता ज्ञान सिद्ध हो जाता है, किन्तु वह्नि की धूम के साथ नियत व्याप्ति न होने के कारण, सद् अनुमान नहीं होता अपितु व्याप्यत्वासिद्ध नामक असिद्ध हेत्वाभास ही होता है।

व्याप्य और व्यापक—

यह विशेष सम्बन्ध हेतु और साध्य दोनों में अथवा दोनों में से किसी एक का भी हो सकता है। जिस प्रकार संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित रहने वाले दो सम्बन्धी च और छ अनियत रूप से अनुयोगी और प्रतियोगी हो सकते हैं, उसी प्रकार व्याप्ति संबन्ध के दो सम्बन्धी, हेतु और साध्य, अनियत रूप से हेतु और साध्य हो सकते हैं अथवा नहीं, अर्थात् इनमें से अमुक ही गमक और गम्य अथवा व्याप्य और व्यापक क्यों हो? इस बात को

समझ लेने के लिये व्याप्य-व्यापक भाव को हृदयङ्गम करना आवश्यक है। व्युत्पत्ति के अनुसार 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु से कर्म अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय करने पर व्याप्य तथा कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्' प्रत्यय करने पर व्यापक शब्द सिद्ध होता है। व्याप्ति क्रिया द्वारा जिस विषय की सिद्धि की जाती है, वह व्याप्य और जिसके द्वारा उसको व्याप्त किया जाता है, उसे व्यापक कहा जाता है। जैसे, धूम से, अग्नि को सिद्ध करने के लिये, जब अनुमान किया जाता है, तब यह बात आवश्यक रूप से देखी जाती है कि, धूम में, अग्नि के साथ अटल सम्बन्ध है या नहीं, क्योंकि, जब तक निश्चित रूप से यह जान नहीं लिया जाता कि, धूम अग्नि के बिना कहीं भी नहीं पाया जाता, तब ही इस प्रकार की व्याप्ति' जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है', बनाई जा सकती है। जिससे किसी वस्तु को सिद्ध किया जाता है, उसका उस वस्तु से अविच्छेद्य सम्बन्ध होना चाहिये। इसके विपरीत जो वस्तु सिद्ध की जाती है, उसका इस प्रकार का सम्बन्ध हो अथवा न हो, यह प्रतिबन्धक नहीं। जैसे, अग्नि को सिद्ध करते समय, यह आवश्यक नहीं है कि, उसका धूम के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो ही, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम भी होता है' इस प्रकार व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती, कारण अग्नि धूम के अभाव में भी जलते हुए अङ्गारे में पाई जाती है। तात्पर्य यह कि धूम के निखिल प्रदेश में अग्नि अनिवार्यतः पाई जाती है, ऐसा कोई भी धूम-स्थल नहीं हो सकता जहाँ अग्नि की सत्ता न हो। धूम में एकान्तिकता (एकनिष्ठता) होने के कारण ही उसमें अग्नि की व्याप्ति रहती है। इसके विपरीत अखिल अग्नि प्रदेश में धूम आवश्यक रूप से उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि, अग्नि निर्धूम प्रदेश में भी पाई जाती है। अतः न्यूनदेशवर्ती होने के कारण हेतु धूम ही व्याप्य अथवा गमक कहलाता है और अधिकदेशवर्तिनी होने के नाते साध्य अग्नि व्यापक या गम्य। नियमतः जिसकी व्याप्ति रहती है, वह व्यापक तथा जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। व्याप्य कभी भी व्यापक के क्षेत्र से अतिरिक्त प्रदेश में नहीं रहता, किन्तु व्यापक के लिये ऐसा कोई प्रतिबन्धन निर्दिष्ट नहीं रहता, वह व्याप्य के क्षेत्र से अतिरिक्त प्रदेश में भी रह सकता है। नव्य न्याय की भाषा में इन पदों को इस प्रकार समझा जा सकता है—'स्वाभाववत् अवृत्तित्वं व्याप्यत्वम्'—साध्य के अभाव वाले अधिकरण में हेतु का न रहना ही व्याप्यत्व है। जैसे, 'पर्वत वह्नियुक्त है, धूम होने से', इस अनुमान में अग्नि के अभाव वाले अधिकरण होंगे—जलाशय आदि, उन सभी में धूम का अभाव निश्चित रूप से पाया जाता है, इसी कारण, धूम को व्याप्य कहा जाता है। इसी प्रकार 'तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं व्यापकत्वम्' इस स्थल में वह्नि धूम की व्यापक है। तद्वत् निष्ठ—धूम वाले अधिकरण होंगे—पर्वत आदि उनमें घट-पट आदि का अत्यन्ताभाव ही पाया जाता है, वह्नि आदि का नहीं। अतः घट-पट आदि पदार्थ ही उसके प्रतियोगी होंगे और वह्नि अप्रतियोगी। हेतु के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की इसी अप्रतियोगिता को ही व्यापकता कहा जाता है। वह्नि को ही व्यापक एवं धूम को व्याप्य क्यों कहा जाय, इस बात को समझने के लिये 'पर्वत धूमयुक्त है, वह्नि होने से', इस व्यभिचारी स्थल को लिया जा सकता है। यहाँ धूम को वह्नि का व्यापक नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि तद्वत्—वह्निमत् होंगे, अयोगोलक आदि, उनमें, जिस प्रकार घट-पट आदि का अत्यन्ताभाव रहता है, उसी प्रकार धूम का भी अत्यन्ताभाव है। ऐसी स्थिति में उसकी प्रतियोगिता ही धूम में आयगी, अप्रतियोगिता नहीं। इसलिये धूम वह्नि का व्यापक नहीं,

प्रत्युत व्याप्य ही कहला सकता है। अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि साधन और साध्य में साधन का ही साध्य के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध होना चाहिये। साध्य का साधन के साथ ऐसा सम्बन्ध हो या न हो दोनों अवस्थाओं में अनुमान यथार्थ ही होगा। सम व्याप्ति वाले स्थलों में जहाँ साध्य और साधन दोनों का एक दूसरे से नियत साहचर्य रहता है वहाँ भी अनुमान प्रयुक्त व्याप्ति साधन में ही रहती है साध्य में नहीं।

अनुमान में व्याप्ति की अनिवार्यता को प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने माना है परन्तु इसके लक्षण तथा ग्रहण के साधन की समस्या को लेकर उनमें मतैक्य नहीं है। सभी अनुमानवादियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याप्ति के विभिन्न लक्षण और साधन प्रयुक्त किये हैं।

व्याप्ति लक्षण—

न्याय-वैशेषिक-प्राचीन मत—उपलब्ध दार्शनिक साहित्य में व्याप्ति का स्पष्टतम संकेत 'वैशेषिक सूत्र' में ही प्राप्त होता है। यथार्थ हेतु विवेचन के प्रसङ्ग में महर्षि ने लिखा है कि जो हेतु साध्य से सर्वथा अभिन्न अथवा भिन्न सम्बन्ध वाला होता है वह अपदेश (हेतु) नहीं हो सकता,[१] अपितु जो हेतु प्रसिद्धिपूर्वक (व्याप्तियुक्त) होता है, वही सद्हेतु कहला सकता है।[२] इसलिये लिङ्ग का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के आधार पर ही होता है। प्रसिद्धि ज्ञान के बिना लिङ्ग ज्ञान अनुमिति प्रमा का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसिद्धि के अभाव में, हेतु सद्हेतु न रहकर अनपदेश अर्थात् हेत्वाभास हो जाता है।[३] प्रसिद्धि ज्ञान को व्यक्त करने के लिये महर्षि ने अनेक प्रकार के—संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी, विरोधी तथा कार्य, कारण-हेतुओं का उपन्यास किया है,[४] जिनका विशद विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। त्रिरूप-लिङ्ग-धर्मों की व्याख्या करने के उपरान्त, प्रसङ्गवश अनुमिति-उत्पत्ति की रीति समझाते हुए, प्रशस्तपाद ने, अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियों का उल्लेख भी किया है। महर्षि कणाद ने उक्त रीति के अनुसार 'प्रसिद्धि' पद से व्याप्ति का केवल संकेत ही किया है, किन्तु प्रशस्तपाद ने इसको 'समय' और 'साहचर्य' पदोंद्वारा अभिव्यक्त करते हुए दोनों व्याप्तियों के उदाहरण भी दिये हैं जो इस प्रकार हैं—'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी होती है' (अन्वय व्याप्ति) तथा 'जहाँ अग्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का भी अभाव होता है' (व्यतिरेक व्याप्ति)। उक्त अन्वय और व्यतिरेक रीति से 'प्रसिद्ध समय' अर्थात् व्याप्ति का निश्चित ज्ञान जिस पुरुष को होता है, उसी को धूम के असंदिग्ध (यह धूम ही है, वाष्प आदि नहीं' इत्याकारक संदेहरहित निश्चित ज्ञान) से 'साहचर्य' (धूम और वह्नि का सामानाधिकरण्य) अनुस्मरण होने के पश्चात् अग्नि का अनुमिति रूप निश्चयात्मक ज्ञान होता है।[५] व्याप्ति निरूपण के प्रसङ्ग में उन्होंने आगे लिखा है कि जिस हेतु में अपने साध्य के साथ सर्वत्र दैशिक तथा कालिक व्याप्ति पाई जाती है, वही अपने साध्य का अनुमापक होने के कारण यथार्थ हेतु कहलाता है।[६] सूत्रकार से संगति रखते हुए उन्होंने कहा है कि सूत्र[७] में व्याप्ति के लिये, 'कार्य कारणभाव, संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय एवं विरोध सम्बन्धों का जो निर्देश किया है वह केवल उदाहरण प्रदर्शन के लिये ही है, अवधारण के लिये नहीं। क्योंकि उक्त सम्बन्धों में से किसी के न रहने पर भी दैशिक व कालिक व्याप्ति से विशिष्ट अविनाभूत लिङ्गों द्वारा यथार्थ अनुमिति होती है।[८] देशाविनाभूत तथा कालाविनाभूत यथार्थ लिङ्गों को समझाने के लिये उन्होंने कुछ उदाहरण भी दिये हैं, जैसे, 'ओमेति' इस प्रणव का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु समूह द्वारा व्यवहित हवनकर्ता रूप साध्य के अनुमान में 'अध्वर्यु समूह' देशा-

विनाभूत लिङ्ग है। तदनुसार दैशिक व्याप्ति का स्वरूप—'जहाँ-जहाँ 'ओमेति' प्रणव का उच्चारण अध्वर्यु समूह द्वारा किया जाता है वहाँ-वहाँ व्यवहित होने पर भी हवनकर्ता का बोध अवश्य होता है,' इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। एवं 'समुद्र-वृद्धि' और 'कुमुद-विकास' रूप साध्यों के अनुमान में 'चन्द्रोदय' कालाविनाभूत लिङ्ग है। तदनुसार कालिक अविनाभाव के स्वरूप को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है—'जब-जब चन्द्रमा का उदय होता है तब-तब समुद्र में तूफान आने लगता है तथा कुमुदिनी खिलने लगती है।' इसी प्रकार 'शरदकालीन सलिल की स्वच्छता से अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने' का उदाहरण भी कालाविनाभूत लिङ्ग तथा कालिक व्याप्ति के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। लिङ्ग, देश के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने पर 'देशाविनाभूत' तथा काल के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने पर 'कालाविनाभूत' कहलाता है। इन दैशिक और कालिक व्याप्ति से विशिष्ट लिङ्गों में उक्त कार्यत्व आदि सम्बन्धों का व्यतिरेक व्यभिचार उपलब्ध होता है, क्योंकि चन्द्रोदय आदि लिङ्ग, कुमुद-विकास तथा समुद्र-वृद्धि के न तो कार्य हैं, न कारण, न संयोगी, न समवायी, न एकार्थसमवायी एवं न विरोधी ही। अतः कार्य-कारणभाव, संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय एवं विरोध सम्बन्ध द्वारा उक्त देशकालाविनाभूत लिङ्गों का अवधारण नहीं किया जा सकता। ऐसा मानने पर भी 'अस्य इदम्०' इत्यादि सूत्र में वर्णित कार्यत्वादि सम्बन्धों से कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि कार्यत्व आदि सम्बन्धों से अतिरिक्त जो भी सम्बन्ध व्याप्ति के प्रयोजक हो सकते हैं, उन सभी को सूत्रकार ने 'अस्येदम्' पद द्वारा संकलित कर लिया है।[९] इस प्रकार सूत्रकार से सामञ्जस्य रखते हुए प्रशस्तपाद ने व्याप्ति को 'समय', 'साहचर्य', 'अविनाभाव' आदि पदों से व्यक्त किया है।

प्रो. कीथ के मत का निराकरण—

प्रोफेसर कीथ का मत है कि इस अविनाभाव सिद्धान्त का प्रवर्तन दिङ्नाग द्वारा हुआ है और उन्हीं से प्रभावित होकर प्रशस्तपाद ने इसका विवेचन किया है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने 'न्यायवार्तिक' और 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के कुछ उद्धरण भी दिये हैं, जिनमें अविनाभाव सिद्धान्त का दिङ्नाग के नाम से खण्डन किया गया है।[१०] किन्तु यह मत समीचीन और युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि, व्याप्ति सिद्धान्त, दिङ्नाग के सैकड़ों वर्ष पूर्व भी विद्यमान था, जिसका विवेचन महर्षि कणाद के व्याप्ति निरूपण में किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग द्वारा प्रतिपादित किसी विशेष अविनाभाव लक्षण का ही खण्डन किया हो। इतने मात्र से ही वे व्याप्ति सिद्धान्त के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते। प्रशस्तपाद के सामने 'वैशेषिकसूत्र' के अतिरिक्त 'न्यायसूत्र' और 'न्यायभाष्य' भी विद्यमान थे, जिनमें व्याप्ति सिद्धान्त स्पष्ट रूप से निहित है। यद्यपि महर्षि गौतम ने अनुमान सूत्र (१।१।५) में व्याप्ति का स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें व्याप्ति सिद्धान्त अवगत ही न था। अनुमान परीक्षण काल में उन्होंने लिखा है कि 'रोध', 'उपघात' तथा 'सादृश्य' से व्यभिचरित होने के कारण अनुमान के अप्रामाण्य की जो आपत्ति दी गई है, वह एकदेशीय होने के कारण मान्य नहीं की जा सकती।[११] इस प्रकार सार्वदेशिक–सार्वकालिक स्वाभाविक सम्बन्ध के रूप में उन्होंने व्याप्ति का निबन्धन किया है। इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि यह संभव है, कि किसी देश या काल विशेष में बांध आदि टूट जाने से, नदी में बाढ़

आ सकती है, बिल के पदाक्रान्त होने से, कुछ चींटियों का आवागमन हो सकता है तथा मानवीय प्रयास से, मयूर की आवाज का अनुकरण किया जा सकता है। किन्तु सर्वत्र यह विशिष्टता नहीं देखी जाती। अतः नदी के फेन-फल-पत्र-काष्ठ परिप्लावित वेगमय विशिष्ट प्रवाह, चींटियों के अनेक झुण्डों का अण्डे बच्चे सहित विशिष्ट संचरण एवं मयूर की नैसर्गिक आवाज के स्वाभाविक कारण क्रमशः 'ऊपरि प्रदेश में होने वाली वृष्टि', 'भावी वर्षा' तथा 'मयूर' ही हो सकते हैं। इसलिये सार्वदेशिक, सार्वकालिक स्वाभाविक सम्बन्ध से युक्त न होने के कारण रोध, उपघात अथवा सादृश्य से व्यभिचार की आपत्ति नहीं दी जा सकती।[१२] सूत्रकार गौतम के साधर्म्य और वैधर्म्य उदाहरण—लक्षणों की व्याख्या में अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियां निहित हैं। उनके मतानुसार हर कोई दृष्टान्त उदाहरण नहीं बनाया जा सकता, किन्तु ऐसे ही दृष्टान्त को उदाहरण कहा जा सकता है जिसमें साध्य धर्म हेतु, साध्य की समानता से तथा साध्य के विपर्यय (अभाव) से साध्य धर्म–हेतु की समानता तथा विपरीतता विद्यमान हो।[१३] इनकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि साधर्म्य उदाहरण में साध्य-साधनभाव तथा वैधर्म्य उदाहरण में साध्याभाव-साधनाभाव निश्चित एवं व्यवस्थित रूप से पाया जाता है। प्रथम दृष्टान्त में साध्य-साधनभाव को व्यवस्थित देखकर ही पक्ष में भी साध्य-साधनभाव का अनुमान किया जाता है तथा द्वितीय में एक के अभाव में दूसरे अभाव को देखकर पक्ष में भी एक के अभाव से दूसरे के अभाव का अनुमान किया जाता है। इस व्याख्या से यह भली भांति निर्णय हो जाता है कि अनुमान में 'साध्य-साधनभाव' अथवा 'साध्यभाव-साधनभाव' का व्यवस्थित होना अत्यावश्यक है।[१४] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वात्स्यायन ने इन पदों से अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति का ही ग्रहण किया है। व्याप्तियुक्त होने के कारण ही सूत्रकार ने साधर्म्य अथवा वैधर्म्य उदाहरण से विशिष्ट होने पर हेतु को अपने साध्य की सिद्धि में साधक माना है।[१५] इन सूत्रों की व्याख्या में भाष्यकार ने स्पष्टतः 'जो उत्पत्तिधर्मक होता है वह अनित्य देखा गया है' इस रूप से अन्वय व्याप्ति तथा 'जो नित्य है वह अनुत्पत्तिधर्मक है' इस रूप व्यतिरेक व्याप्ति सूचित की है।[१६] व्याप्तिविशिष्ट होने के कारण ही दोनों प्रकार के उपनयों में भी उदाहरण की अपेक्षा सिद्ध की गई है।[१७] उदाहरण की प्रयोजकता सिद्ध करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि साध्य और साधन धर्मों में जो साध्य-साधनभाव रूप सम्बन्ध पाया जाता है उसका एक अधिकरण में प्रदर्शन करना ही उदाहरण का प्रयोजन है।[१८] हेतु और उदाहरण का यदि विशुद्ध रूप से प्रयोग किया जाये तो प्रतिवादी केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के आधार पर अनेक प्रकार की जाति और निग्रहस्थान आदि दोषों का आरोपण नहीं कर पाता। उदाहरण में दोनों धर्मों का साध्य-साधनभाव अव्यवस्थित होने पर ही उक्त दोषों को आरोपित किया जा सकता है। यदि दोनों धर्मों के, साध्य-साधनभाव को दृष्टान्त में व्यवस्थित रूप से गृहीत करते हुए साधनभूत धर्म का, हेतुत्व रूप से, उपादान किया जाय और हेतु का दृष्टान्त में निर्धारण, केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य के आधार पर न किया जाय तो प्रतिवादी के उक्त दोषों को अवकाश नहीं रहता।[१९] अतः उक्त विवरण के अनुसार व्यवस्थित साध्य-साधनभाव से विशिष्ट होकर ही हेतु सद्हेतु का परिचायक हो सकता है। 'अनित्यसम' जाति का खण्डन करते हुए सूत्रकार ने भी यही बात प्रतिपादित की है—दृष्टान्त में जो धर्म साध्य-साधनभाव से ज्ञात होता है वह हेतु कहलाता है और वह दो प्रकार का होने के कारण अविशेष नहीं है।[२०] इसको स्पष्ट करते हुए भाष्यकार

ने लिखा है कि किसी के साथ उसका सम्बन्ध समान होता है, किसी के साथ विशेष। सामान्य से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य की उत्पत्ति होती है। केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य आश्रय लेकर किसी तथ्य का प्रतिपादन अथवा खण्डन उचित नहीं जान पड़ता। अतएव अनित्य धर्म के साधर्म्य से शब्द की अनित्यता सिद्ध होने पर प्रतिवादी द्वारा, सत्ताशील घट के साथ सभी सत्ताशील पदार्थों का साधर्म्य होने से सभी पदार्थों की अनित्यता सिद्ध करना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह केवल साधर्म्य पर ही आधारित है।[२१] इस प्रकार व्यवस्थित साध्य साधनभाव के रूप में महर्षि गौतम और वात्स्यायन ने व्याप्ति सम्बन्ध को ही उपनिबद्ध किया है। और इसी व्याप्ति विशिष्ट हेतु के आधार पर होने वाले अनुमान को यथार्थ माना है। केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य के आधार पर, जिन 'साधर्म्यसम' आदि चौबीस जातियों में, व्यवस्थापन और प्रतिषेध के माध्यम से, जो अनुमान किये जाते हैं, वे सभी अनेकान्तिक आदि दोष से ग्रसित होने के कारण यथार्थ अनुमान नहीं कहला सकते।[२२] यदि प्रोफेसर कीथ के अनुसार व्याप्ति सिद्धान्त का प्रवर्तक आचार्य दिङ्नाग को ही माना जाय तो 'न्यायसूत्र' निष्ठ व्याप्ति के सुदृढ़ आधार को समझाने के लिए पञ्चम अध्याय के प्रथम आह्निक में साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम आदि चौबीस जातियों तथा द्वितीय आह्निक में हेत्वन्तर', 'अर्थान्तर', 'अपार्थक', 'निरर्थक', मतानुज्ञा' आदि निग्रहस्थानों का जो विवेचन किया है, वह सर्वथा निरर्थक, असम्बद्ध और निष्प्रयोजक ही सिद्ध होगा। यही नहीं प्रमाण परीक्षण काल में प्रत्यक्ष उपमान तथा शब्द का अनुमान से पार्थक्य भी साध्य-साधनभाव विशिष्टता के आधार पर ही किया जाता है। जैसे, प्रतिवादी यह आशंका करता है कि इन्द्रिय-अर्थ-संयोग से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण भी अनुमान ही है, क्योंकि जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, वैसे ही वृक्ष के किसी एक भाग को देखकर सम्पूर्ण वृक्ष का भी ज्ञान हो जाता है। इसलिये प्रत्यक्ष को स्वतंत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता ही नहीं है।[२३] सूत्रकार के समर्थन में इसका खण्डन करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है। परस्पर सम्बन्धयुक्त अग्नि और धूम को प्रत्यक्षतः देखकर ही धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जाता है। यदि लिङ्ग-लिङ्गी की पारस्परिक सम्बद्धता का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा पाकशाला आदि दृष्टान्त में न हो, तो केवल धूम के दर्शन से ही अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता। और जब प्रत्यक्ष की सत्ता ही न मानी जाये, तो अनुमान की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान के कारण—व्याप्ति का जब ज्ञान ही न होगा तब कार्य अनुमान की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? इसलिए इन्द्रिय अर्थ के संयोग से, होने वाले वृक्ष के ज्ञान को, प्रत्यक्ष ही माना जा सकता है, क्योंकि अनुमान में अनुमेय के साथ ऐसे इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं रहती।[२४] व्याप्तिज्ञान की विशिष्टता के आधार पर, ही यहाँ प्रत्यक्ष को अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण माना गया है। इसी प्रकार उपमान का स्वतन्त्र प्रामाण्य स्थापित करते हुए सूत्रकार के अभिप्राय को वात्स्यायन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि अनुमान में, जिस प्रकार साध्य-साधनभाव का ज्ञान होना आवश्यक है, उस प्रकार उपमान में, उपमेय और उपमान का ज्ञान होना आवश्यक नहीं, क्योंकि उपमान, प्रसिद्ध धर्म की समानता से होने वाले साध्य उपमेय का ज्ञान होने के नाते, 'तथा इति'—'वैसा ही गवय होता है'—इस प्रकार से समान धर्म के उपसंहार से ही सिद्ध हो जाता है[२५]। इसी तरह शब्द को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करने के लिये सूत्रकार

ने उसकी अनुमान से विलक्षणता सूचित करते हुए अनुमान के लिये सम्बन्ध' पद का प्रयोग किया है । अनुमाननिष्ठ लिङ्ग और लिङ्गी में जैसा सम्बन्ध पाया जाता है, वैसा शब्द प्रमाण गत शब्द और अर्थ में नहीं पाया जाता । इसलिये शब्द और अर्थ में इस सम्बन्ध का अभाव है । यदि ऐसा न माना जाये तो 'अन्न', 'अग्नि' तथा 'असि' शब्द का उच्चारण करते ही मुख (पूरण) भर जाता, (प्रदाह) जलने लग जाता, तथा (पाटन) कटने लग जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि शब्द और अर्थ की जो नियत व्यवस्था देखी जाती है, उसका कारण वाच्यवाचकभाव रूप सामयिक (सांकेतिक) सम्बन्ध ही है, स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं । जाति विशेष में भी इसका कोई नियम नहीं है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का ही वाचक हो । जैसे, तैजस के प्रकाश से, रूप का प्रकाशन सर्वत्र स्वाभाविक रूप से होता है, अर्थात् सूर्य, प्रदीप आदि के प्रकाश से, वस्तुओं के रूप का प्रकाशन समस्त जातियों और व्यक्तियों में एक-सा होता है और देशकृत या कालकृत कोई भेद उपलक्षित नहीं होता, उस प्रकार शब्द से, अर्थ का प्रकाशन समस्त जातियों में तो क्या एक जाति में भी समान रूप से नहीं हो पाता । इसका कारण यह है कि ऋषि और म्लेच्छ अपनी-अपनी सुविधानुसार सामयिक सम्बन्ध द्वारा शब्द विनियोग से अर्थ प्रत्यायन करते हैं।[२६] तात्पर्य यह कि भाषा प्रवर्तक देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिभाषा के रूप में जिस शब्द का जो अर्थ नियत करते हैं वह अपनी-अपनी परिधि में प्रचलित रहता है, सीमा के बाहर उसका प्रचलन नहीं होता । इसलिये संकेत व्यवस्था पर, अवलम्बित होने के कारण, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एकदेशीय तथा काल्पनिक होने के नाते, लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध की तरह, नित्य एवं स्वाभाविक नहीं हो सकता । उक्त प्रकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महर्षि गौतम और भाष्यकार वात्स्यायन ने लिङ्ग-लिङ्गी के साध्य-साधनभाव रूप स्वाभाविक सम्बन्ध के आधार पर अनुमान-प्रामाणिकता तथा अन्य प्रमाणों से विलक्षणता ज्ञापित की है । वात्स्यायन ने अनुमान सूत्र की व्याख्या में अनुमान लक्षण अभिव्यक्त करते हुए लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध की स्पष्टत: चर्चा की है[२७] 'न्यायसूत्र' तथा 'न्यायभाष्य' के अतिरिक्त दिङ्नाग पूर्व अन्य ग्रन्थों जैसे, 'शाबरभाष्य' में भी न्यायभाष्य की तरह अनुमान लक्षण में सम्बन्ध पद प्रयुक्त किया गया है[२८] । यद्यपि उक्त दोनों भाष्यों में अनुमान लक्षण सूचित करते समय 'सम्बन्ध' पद का लक्षण नहीं दिया गया है, किन्तु 'योगभाष्य' में ऐसी न्यूनता परिलक्षित नहीं होती । उन्होंने सम्बन्ध पद का लक्षण देते हुए इसी आधार पर अनुमान लक्षण व्यक्त किया है[२९] । यही नहीं महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि भी व्याप्ति सम्बन्ध से अवगत थे[३०] ।

इसके अतिरिक्त जिस 'अविनाभाव' पद की शाब्दिक साम्यता के आधार पर प्रो० कीथ ने दिङ्नाग को अविनाभाव सिद्धान्त का प्रवर्तक माना है वह अविनाभाव पद अनेक स्थलों में व्यात्स्यायन भाष्य में ज्यों का त्यों व्यवहृत हुआ है[३१] । 'न्यायभाष्य' में 'सामानाधिकरण्य', 'व्यधिकरण', 'अधिकरण', 'सहचरण' तथा 'सहचरित' आदि पदों का भी उपयोग किया गया है, जिनके आधार पर आगे जाकर व्याप्ति लक्षणों को व्यक्त किया गया है[३२] । यही नहीं समन्तभद्र[३२/१] की 'आप्तमीमांसा'[३२/२] में भी अविनाभाव पद व्यवहृत हुआ है, किन्तु उक्त प्रमाणों के आधार पर समन्तभद्र भी अविनाभाव सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक नहीं जान पड़ते, जैसा कि डॉ० दरबारीलाल कोठिया[३२/३] का मत है ।

लिङ्ग परामर्श को आग्रह पूर्वक अनुमितिकरण मानते हुए उद्योतकर ने व्याप्ति सम्बन्ध का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है, किन्तु उनके वीत और अवीत हेतु की विवेचना

में व्याप्ति लक्षण निहित जान पड़ता है। वीत—अन्वयी हेतु में अन्वय सम्बन्ध का अव्यभिचार होना चाहिये और अवीत-व्यतिरेकी हेतु में व्यतिरेक-व्यभिचार का अभाव। वीत हेतु उसी दशा में अव्यभिचारी कहला सकता है, जब अव्यभिचरित रूप से एक धर्म (साधन) के देखने से दूसरे धर्म (साध्य) का अनुमान हो सके। इसी प्रकार अवीत हेतु में एक धर्म (साध्याभाव) के अभाव को देखकर दूसरे धर्म (साधनाभाव) का अनुमान किया जाता है। इस तरह वे अव्यभिचरित सम्बन्ध को ही व्याप्ति लक्षण मानते प्रतीत होते हैं[३३]।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार नियत स्वाभाविक सम्बन्ध को ही व्याप्ति माना गया है। इसी सम्बन्ध से साधन में गमकता आ सकती है और साध्य की सिद्धि की जा सकती है। जैसे, धूम और अग्नि में नियत स्वाभाविक सम्बन्ध पाया जाता है, क्योंकि धूम, सर्वत्र अग्नि के साथ ही पाया जाता है। किन्तु अग्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक स्थान पर अग्नि के साथ धूम का पाया जाना आवश्यक नहीं जैसे, अयोगोलक में अग्नि रहती है, पर धूम नहीं रहता। अग्नि के साथ, जो धूम दिखाई देता है, वह गीले ईंधन के कारण ही दिखाई देता है। इसलिये अग्नि में धूम का होना, आर्द्र ईंधन के संयोग की अपेक्षा रखता है। यह सम्बन्ध आर्द्रेन्धन उपाधि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं, क्योंकि उपाधि–गीले ईंधन के अभाव में धूम का भी अभाव दृष्टिगोचर होता है। अत: अग्नि और धूम का सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, वरन् औपाधिक ही है : क्योंकि अग्नि के साथ धूम का सहभाव तभी देखा जाता है, जब उसमें उपाधि-गीले ईंधन का संयोग हो जाता है। इसलिये इसको नियत सम्बन्ध भी नहीं कहा जा सकता। केवल स्वाभाविक नियत सम्बन्ध ही अनुमान का अङ्ग हो सकता है[३४]। वाचस्पति मिश्र का समर्थन करते हुए उदयन ने भी स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है।[३५] और अनौपाधिक सम्बन्ध को ही स्वाभाविक सम्बन्ध बतलाया है[३६]।

उपाधि लक्षण:–

इस व्याप्ति को समझने के लिये उपाधि वस्तुत: क्या है, इसको जानना भी आवश्यक है। क्योंकि परकीय हेतु में व्याप्ति निश्चय का प्रतिबन्ध करने के लिये उपाधि का उद्भावन किया जाता है जैसा कि अन्नम भट्ट ने कहा है—'सोपाधिकोहेतुर्व्याप्यत्वासिद्ध:[३७]' और अपने हेतु में व्याप्ति का निश्चय करने के लिये उपाधि का निरास किया जाता है, इस प्रकार उपाधि का उद्भावन तथा उसका निरास दोनों उसके ज्ञान के बिना संभावित नहीं है। सद्अनुमान में सर्वदा व्याप्य अपरोक्ष हेतु द्वारा, व्यापकीभूत परोक्ष साध्य का निश्चय किया जाता है, किन्तु असद् अनुमान में इसके विपरीत व्यापक हेतु द्वारा व्याप्यीभूत साध्य का निश्चय किया जाता है। व्यापक हेतु व्यभिचारी होता है, कारण उसमें सदैव उपाधि का सम्बन्ध रहता है। गंङ्गेश ने भी कहा है कि उपाधि ज्ञान से व्यभिचार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके विद्यमान रहते हुए व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता, इसलिये उपाधि का आवश्यक रूप से निरूपण किया जाता है[३८]। साध्य की व्यापक होते हुए भी जो साधन की व्यापक न हो, उसे उपाधि कहा जाता है[३९]। उदयन के इस लक्षण को गंङ्गेश ने इस प्रकार से पर्यवसित किया है—जो साध्यत्व रूप से अभिमत की व्यापक और साधनत्व रूप से अभिमत की अव्यापक हो वही उपाधि है[४०]। जो साध्य के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी न होते हुए साधन के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी हो, उसे उपाधि कहा जाता है[४१]। जैसे, पर्वत

धूमयुक्त है, वह्नि होने से। यहाँ गीले ईंधन का संयोग उपाधि है। यह उपाधि साध्यत्व रूप से अभिमत धूम की व्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ सर्वत्र गीले ईंधन का संयोग पाया जाता है और साधनत्व रूप से अभिमत वह्नि की अव्यापक भी है, कारण, जलते हुए अंगारे या तपे हुए लोह-खण्ड में वह्नि है, किन्तु गीले ईंधन का संयोग नहीं। मथुरानाथ के लक्षण का भी भाव यही है---साध्य धूम के अधिकरण, पर्वत आदि में रहने वाले घट-पट आदि के अत्यन्ताभाव की आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधि अप्रतियोगी है और साधन वह्नि के अधिकरण तपे हुए लोह खण्ड में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी। वास्तव में इस द्वितीय लक्षण में व्यापकत्व और अव्यापकत्व का ही परिष्कार किया गया है, अर्थातः कोई अन्तर नहीं है। इनकी आलोचना करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि साधनधर्मावच्छिन व्यापक एवं पक्षधर्मावच्छिन व्यापक उपाधियों में लक्षण अव्याप्त होने के कारण ये लक्षण समीचीन नहीं हैं[४२]। जैसे, 'वह श्याम (काला) है, मित्रा-पुत्र होने से',---इस अनुमान में 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि है। उक्त लक्षण के अनुसार यह उपाधि नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि साध्य-श्यामत्व, घट-पट आदि पदार्थों में भी उपलब्ध होता है, किन्तु वहाँ शाकपाकजत्यत्व उपाधि नहीं पायी जाती। इसलिए 'जहाँ-जहाँ श्यामत्व है वहाँ-वहाँ शाकपाकजन्यत्व है, ऐसी व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती। इसलिये प्रथम में उक्त लक्षण की व्याप्ति स्पष्टतः अंकित होती है। इसी प्रकार पक्षधर्मावच्छिन्न व्यापक उपाधि में भी यह लक्षण घटित नहीं होता जैसे, 'वायु का प्रत्यक्ष होता है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होने से।' इस अनुमान में 'उद्भूत रूप' उपाधि है, किन्तु यह उपाधि नहीं हो सकती, क्योंकि यह साध्य प्रत्यक्षगम्यता की व्यापक नहीं है, कारण आत्मा आदि प्रत्यक्षगम्य है, परन्तु उनमें उद्भूत रूप उपाधि नहीं है। इसलिये ऐसी व्याप्ति---'जहाँ-जहाँ प्रत्यक्ष है वहाँ-वहाँ उद्भूत रूप उपाधि है', नहीं बनायी जा सकती। इस अव्याप्ति दोष का परिहार करते हुए गङ्गेश ने उक्त लक्षण का परिष्कार इस प्रकार किया है कि जिस धर्म से विशिष्ट होकर साध्य प्रसिद्ध है, उसी धर्म से अवच्छिन्न होकर उसका पर्यवसान होना चाहिये[४३]। अब 'वह श्याम है, मित्रा पुत्र होने से, इस अनुमान में, मित्रा तनयत्व रूप धर्म से विशिष्ट साध्य-श्यामत्व की उपाधि---शाकपाकजन्यत्व व्यापक हो जाती है क्योंकि 'मित्रातनयत्व' से अविच्छिन्न श्यामत्व, अन्यत्र घट-पट आदि पदार्थों में उपलब्ध नहीं है, वरन् मित्रा के श्याम पुत्र में ही रहता है। इसलिये ऐसी व्याप्ति जहाँ-जहाँ मित्रातनयत्व धर्म का सहचारी श्यामत्व है वहाँ-वहाँ शाकपाकजन्यत्व (शाकपाक से उत्पन्न होने वाला विशेष धर्म) उपाधि भी है। साधन 'मित्रातनयत्व' मित्रा के गौरवर्णीय पुत्रों में भी है, किन्तु वहाँ शाकपाकजन्यत्व उपाधि नहीं है, अतः यह साधन की अव्यापक भी है। इसी प्रकार, 'वायु का प्रत्यक्ष होता है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होने से,' इस अनुमान में वायु रूप पक्ष का धर्म 'बहिर्द्रव्यत्व रूप धर्म' से विशिष्ट साध्य 'प्रत्यक्षत्व' की उद्भूतरूपात्मक उपाधि व्यापक हो जाती है, क्योंकि बहिर्द्रव्यत्व से अवच्छिन्न साध्य 'प्रत्यक्षत्व' बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य घट-पट आदि पदार्थों में ही रहता है और वहाँ उद्भूत रूप उपाधि भी रहती है। अतः ऐसी व्याप्ति---'जहाँ-जहाँ बाह्य द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है वहाँ-वहाँ उद्भूत रूप भी होता है' और 'प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्व' साधन की अव्यापक इसलिये है कि जो प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय हो, वह उद्भूत-रूपयुक्त हो ही, यह नियम नहीं है, क्योंकि वायु में प्रत्यक्ष स्पर्श होने पर भी, उद्भूत रूप का अभाव है। निष्कर्षतः 'शाकपाकजन्यत्व' तथा उद्भूत रूप उपाधियां मित्रातनयत्व धर्म से विशिष्ट:

साध्य 'श्यामत्व' और बहिर्द्रव्यत्व धर्म से विशिष्ट साध्य प्रत्यक्षत्व की व्यापक है, केवल श्यामत्व अथवा प्रत्यक्षत्व की नहीं। विश्वनाथ ने 'कारिकावली[४४]' में उदयन के लक्षण का उपन्यास किया है किन्तु उसका तात्पर्य प्रदर्शित करते हुए 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में उक्त लक्षण की आलोचना[४५] कर सिद्धान्त लक्षण—"जो, जिस धर्म से विशिष्ट साध्य की व्यापक होते हुए उसी धर्म से विशिष्ट साधन की अव्यापक हो," उसे उपाधि के रूप में व्यक्त कर गङ्गेश का ही समर्थन किया जान पड़ता है[४६]। इसी प्रकार अन्नम भट्ट ने भी प्रथमतः उदयन के लक्षण का समर्थन किया है[४७] किन्तु अन्त में उन्होंने 'साध्यव्यापकता' और 'साधन अव्यापकता' का परिष्कार मथुरानाथ की तरह ही किया है[४८]।

साध्य की व्यापक होने के कारण सभी उपाधियां साध्य की नियमतः सहचारी होती हैं। अर्थात् साध्य के समान अधिकरण में रहती है। उपाधियुक्त साध्य का हेतु के अधिकरण में अवश्यमेव व्यभिचार होता है। तात्पर्य यह है कि हेतु के अधिकरण में उपाधि तथा उसके साध्य का व्यभिचार नियत रूप से होता है जैसे,—पर्वत धूमवान् है, अग्नि होने से—इस अनुमान में हेतु अग्नि के अधिकरण अयोगोलक में न तो उपाधि आर्द्रेन्धन संयोग है, और न साध्य धूम ही[४९]।

उपाधि का प्रयोजन:–

साध्य व्यभिचार के अनुमान द्वारा, व्याप्ति ज्ञान का प्रतिबन्धक होना, उपाधि का मुख्य प्रयोजन है। जहाँ उपाधि केवल साध्य की व्याप्य होती है, वहाँ केवल उपाधि के व्यभिचार द्वारा साध्य के व्यभिचार का अनुमान होता है। नियमतः जो जिसके व्यापक का व्यभिचारी होता है, वह उसके व्याप्य का भी व्यभिचारी होता है। इस नियम के अनुसार 'पर्वत धूमयुक्त है, अग्नि होने से', इस अनुमान में हेतु 'अग्नि', साध्य 'धूम' की व्यापक उपाधि आर्द्रेन्धन संयोग का व्यभिचारी होने के कारण, उसके व्याप्य 'धूम' का भी व्यभिचारी है क्योंकि जैसे, धूम की व्यापक 'आर्द्रेन्धन संयोग' उपाधि वह्नि के अभाव में भी तप्त-लोह-पिण्ड में विद्यमान रहती है, वैसे ही उसके व्याप्य धूम के बिना भी वहाँ अवस्थित रहती है। इसलिये 'जहाँ वह्नि है वहाँ धूम भी है', इत्याकारक व्याप्ति न होने के कारण प्रकृत अनुमान में साध्य धूम के साथ हेतु वह्नि का व्यभिचार स्पष्टतः अंकित हो जाता है। जहाँ उपाधि 'किंचित-धर्मावच्छिन्न' अर्थात् किसी एक धर्म के सहचारी साध्य की व्यापक होती है, वहाँ उसी धर्म के सहित उपाधि व्यभिचार द्वारा साध्य-व्यभिचार का अनुमान निष्पन्न होता है। जैसे, 'वह श्याम है, मित्रा पुत्र होने से' यहाँ 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि साध्य' 'केवल श्यामत्व' की व्यापक नहीं, प्रत्युत 'मित्रातनयत्वावच्छिन्न श्यामत्व' की ही व्यापक होगी, यह पूर्व में बतलाया जा चुका है। इस अनुमान में मित्रा के गौरवर्णीय पुत्र में 'शाकपाकजन्यत्व' के न होने से, 'मित्रातनयत्व' हेतु मित्रातनयत्व धर्म सहित शाकपाकजन्यत्व उपाधि का व्यभिचारी है, इसलिये 'जो मित्रा का पुत्र है, वह श्याम है,' ऐसी व्याप्ति न होने से प्रकृत अनुमान में साध्य 'मित्रातनयत्वधर्म-विशिष्ट श्यामत्व' के साथ हेतु 'मित्रातनयत्व' का व्यभिचार है, क्योंकि मित्रा के 'गौरवर्णीय पुत्र में' 'मित्रातनयत्व' के होने पर भी श्यामत्व नही है। उक्त रीति से व्यभिचार का आपादन करना ही आर्द्रेन्धन संयोग तथा शाकपाकजन्यत्व उपाधियों का प्रयोजन है[५०]। विश्वनाथ के उक्त उपाधि प्रयोजन विवेचन में गङ्गेश के इस सिद्धान्त—जिसके

व्यभिचार के साध्य के साथ साधन के व्यभिचार का ज्ञान हो, उसे उपाधि कहा जाता है[५१]—का ही समर्थन जान पड़ता है ।

उपाधि लक्षण व प्रयोजन समझ लेने के पश्चात् अनौपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति को सरलता से समझा जा सकता है । साध्य के निश्चय के लिये, साध्य तभी उपयुक्त होता है, जब साधन में, साध्य की व्याप्ति प्रतिपादित की जा चुकी हो । 'पर्वत धूमयुक्त है, अग्नि होने से', इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु 'अग्नि' में साध्य 'धूम' व्यापक नहीं है, क्योंकि अग्नि के साथ सर्वत्र धूम का होना निरपेक्ष नहीं है, कारण आर्द्रेन्धन-संयोग-सापेक्ष होने के कारण वह उपाधि ग्रस्त है । उपाधि के अभाव में धूम का भी अभाव दृष्टिगोचर होता है । इसलिए धूम अग्नि में व्यापक नहीं है । इस प्रकार जब अग्नि में धूम की व्याप्ति ही नहीं है, तब उसके द्वारा धूम की सिद्धि किस प्रकार की जा सकती है ? परन्तु 'पर्वत अग्नियुक्त है, धूम होने से', इस अनुमान में हेतु 'धूम' के साथ अग्नि का सम्बन्ध किसी उपाधि की अपेक्षा नहीं रखता । धूम के साथ अग्नि का होना अवश्यम्भावी है । इसलिये 'जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि भी रहती है', ऐसी निर्दुष्ट व्याप्ति हो सकती है कारण, अग्नि के बिना कहीं भी धूम की उपलब्धि संभावित नहीं होती । अतएव अग्नि धूम में व्यापक है । सारांशतः उपाधि, जिस भी हेतु को ग्रसित कर लेती है, उस हेतु में साध्य की व्याप्ति का निश्चय नहीं हो पाता, क्योंकि हेतु, साध्य की व्यापक उपाधि का जब व्यापक हो जाता है, तब साध्य का व्यापक भी सुतराम् बन जाता है और नियमतः जो हेतु साध्य का व्यापक होता है, वह साध्य का व्यभिचारी अवश्य होता है । व्यभिचारी हेतु अपने साध्य का साधक नहीं होता, अपितु उपाधि शून्य हेतु द्वारा ही साध्य का निश्चय किया जा सकता है । क्योंकि साध्य का व्याप्य हेतु ही साध्य का साधक हो सकता है । इसीलिये माधव[५२] ने भी शंकित और निश्चित[५३] दोनों प्रकार की उपाधियों से रहित सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है ।

वाचस्पति मिश्र समर्थित स्वाभाविक सम्बन्ध की आलोचना करते हुए चित्सुखाचार्य ने लिखा है कि स्वाभाविक शब्द का निर्वचन ही नहीं हो सकता । स्वभाव शब्द से क्या (१) सम्बन्धीस्वभाव-जन्यत्व या (२) सम्बन्धिस्वभावाश्रितत्व या (३) संबन्धिस्वभाव-प्रयुक्तत्व या (४) सम्बन्धिस्वभाव-व्याप्यत्व या (५) सम्बन्धिस्वभाव से अनतिरिक्तत्व अभिप्रेत है । इनमें से प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि रूप से रस का अनुमान करने में, एकार्थसमवाय को ही व्याप्ति सम्बन्ध माना जाता है, किन्तु उसमें 'सम्बन्धिस्वभाव-जन्यत्व' न पाया जाने के कारण अव्याप्ति दोष होगा । इसी प्रकार घट-पट आदि व्यभिचारी पदार्थों में रहने वाले संयोग सम्बन्ध में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि यह संयोग सम्बन्धि-स्वरूप से उत्पन्न होने पर भी व्याप्ति नहीं माना जा सकता । द्वितीय पक्ष भी 'संयोगी-स्वरूप' घट-पट आदि पदार्थों के आश्रित रहने वाले संयोग सम्बन्ध में अतिव्याप्त होने के कारण न्यायसंगत नहीं है । इसी प्रकार तृतीय विकल्प में उद्दिष्ट 'प्रयुक्तत्व' शब्द से जन्यत्व विवक्षित होने के कारण पुनः संयोग में अतिव्याप्ति होगी । चतुर्थ कल्प में, व्याप्यत्व की विवक्षा होने पर, व्याप्ति निरूपण में, व्याप्ति की अपेक्षा होने के कारण, आत्माश्रय दोष होगा । दूसरी बात यह भी है कि सम्बन्ध को यदि व्याप्य माना जाय, तो उसके व्यापक रूप में सम्बन्धियों का ग्रहण किया जा सकता है । किन्तु व्यापक सर्वदा व्याप्य की अपेक्षा अधिक देश काल में रहता है, अतः बिना सम्बन्ध के भी सम्बन्धियों की स्थिति संभावित हो सकती है । ऐसी स्थिति में सम्बन्ध शून्य एक पदार्थ को देखकर अन्य

पदार्थ का अनुभाव कैसे हो सकता है ? अतः चतुर्थ पक्ष भी समीचीन नहीं जान पड़ता । अंतिम कल्प भी भूतल और घटाभाव के विशेषणता-विशेष्य सम्बन्ध में अतिव्याप्त होने के कारण युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि नैयायिक उसे 'सम्बन्धि-स्वभाव' से अतिरिक्त नहीं मानते । इसी प्रकार समवाय और समवाय-आश्रय के स्वरूप में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह 'सम्बन्धि-स्वरूप' से अतिरिक्त नहीं माना जाता । तीसरे, रस से रूप के अनुमान में अपेक्षित एकार्थसमवाय में भी इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योंकि वह 'सम्बन्धिस्वरूप' से अतिरिक्त भी है और व्याप्ति लक्षण का भी लक्ष्य भी[५४] । शंकर मिश्र ने भी इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि स्वाभाविक शब्द का वास्तविक अर्थ क्या—'स्वस्यभाव'—स्व का भाव या 'स्वमेवभाव'—स्व ही भावरूप अर्थात् धर्म रूप हो जाना है । स्वाभाविक शब्द में प्रयुक्त 'इक्' प्रत्यय का अर्थ यदि जन्यत्व अभीप्सित समझा जाय, तो उक्त विवेचना के अनुसार समुदितार्थ होंगे—(१) स्व के भाव से उत्पन्न होने वाला संबन्ध और (२) स्वात्मक भाव से उत्पन्न होने वाला संबन्ध । जन्यत्व रूप तद्धितार्थ-घटित यह स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति, समवाय सम्बन्ध रूप व्याप्ति में, अव्याप्त होने के कारण, न्यायसम्मत नहीं जान पड़ती, क्योंकि 'सत्तावान् जातेः' इस अनुमान में साध्य सत्ता की, स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति, जाति में है, परन्तु वह समवाय सम्बन्ध के नित्य होने के कारण जन्य नहीं है । यदि 'तद्धित' का जन्यत्व' अर्थ न करके 'आश्रितत्व' अर्थ किया जाय, तब भी समवाय में अव्याप्ति होगी क्योंकि समवाय, समवाय सम्बन्ध से किसी भी पदार्थ के आश्रित नहीं रहता, कारण अवृत्ति रूप होने से वह किसी में वृत्ति नहीं हो सकता । दूसरी बात यह है कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्', इस अनुमान में धूम और वह्नि के संयोगात्मक स्वाभाविक सम्बन्ध को लेकर भी दोषोद्भावन किया जा सकता है, क्योंकि संयोग, धूमात्मक हेतु के भावभूत धर्म 'धूमत्व' के न तो आश्रित है और न उससे जन्य ही । इसलिये यह व्याप्ति ठीक नहीं है ।[५५]

इसी प्रकार अनौपपाधिक सम्बन्ध को भी निर्दुष्ट व्याप्ति लक्षण नहीं माना जा सकता । विधि का निश्चय हो जाने के पश्चात् ही उसके निषेध का निश्चय होता है । इसलिये उपाधि ज्ञान हो जाने पर ही उसके अभाव से युक्त सम्बन्ध वाली व्याप्ति का ज्ञान हो सकता है । दूसरी ओर उपाधि का ज्ञान भी व्याप्ति ज्ञान पर अवलम्बित है, क्योंकि साधन की अव्यापक और साध्य की व्यापक को ही उपाधि कहा जाता है । इस प्रकार व्याप्ति सिद्ध होने पर उपाधि की सिद्धि और उपाधि की सिद्धि होने पर उपाधि रहित व्याप्ति की सिद्धि होगी । इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष रूपी वज्र प्रहार, वज्रलेप के समान दृढ़ हो जाता है[५६] यदि यह कहा जाय कि 'साध्यव्यापकत्व' से केवल इतना ही विवक्षित है कि 'उपाधि के साथ साध्य का व्यभिचार नहीं देखा गया है', न कि उपाधि में साध्य व्याप्ति निरूपकत्व, अतः कोई अन्योन्याश्रयता दोष नहीं है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार जिस धर्म के वस्तुतः व्यभिचारी साध्य में भी आपाततः व्यभिचार का अदर्शन संभावित है, वह धर्म भी उपाधि कहलाने लगेगा । यदि यह कहा जाये कि, जिस धर्म के साथ, साध्य-व्यभिचार का दर्शन, कभी और कहीं भी संभावित नहीं हो, उस धर्म को उपाधि माना जा सकता है, किन्तु किसी भी धर्म के विषय में ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता कि उसके साथ देशान्तर, कालान्तर अथवा पुरुषान्तर में साध्य का व्यभिचार न देखा जाय । दूसरी बात यह भी है कि, व्याप्ति ग्रहण काल में, अग्निमत्व आदि, सिद्ध हो जाने के कारण, साध्य नहीं रह जाते, अतः उपाधि में साध्य-

व्यापकत्व का निश्चय होना भी संभव नहीं। इसी प्रकार 'साध्य' पद से व्यापक की विवक्षा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि व्याप्ति ज्ञान न होने पर व्यापकत्व का निर्वचन ही नहीं हो सकेगा।[५७] शंकर मिश्र ने भी लिखा है कि सर्वप्रथम उपाधि का निर्वचन होना ही दुष्कर है और यदि निर्वचन किसी प्रकार हो भी जाय, तो उसका ज्ञान नहीं हो पायगा। एवं ज्ञान होने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि जो साध्य की व्यापक होती हुई साधन की अव्यापक हो, वही उपाधि है। इसलिये यह उपाधि व्याप्य-व्यापकभाव घटित होने के नाते व्याप्ति ग्रहण के अधीन है और व्याप्ति उपाधि घटित होने के कारण उपाधिग्रह की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार दोनों, एक दूसरे पर आश्रित होने के कारण, अन्योन्याश्रय दोष से आक्रान्त हो जाते हैं। इस कारण से यह लक्षण समीचीन नहीं जान पड़ता।[५८]

उदयन समर्थित अनौपाधिक सम्बन्ध की आलोचना के उपरान्त शंकर मिश्र ने भी सिद्धान्त पक्ष स्थापित करते हुये अनौपाधिक सम्बन्ध को ही व्याप्ति के रूप में प्रतिपादित किया है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से, इस अनुमान में धूमात्मक हेतु में, साध्य वह्नि का अनौपाधिक सम्बन्ध, 'धूम' में होने के कारण, लक्षण समन्वित हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह अनौपाधिकता वस्तुतः क्या है ? इसका निर्वचन उन्होंने अनेक प्रकार से किया है—उदाहरणार्थ यावत् हेतुओं के, व्यभिचारी के व्यभिचारी साध्य का सामानाधिकरण्य ही अनौपाधिकत्व है। जैसे, यावत् धूमात्मक हेतुओं के व्यभिचारी मीन, शैवाल आदि का व्यभिचारी साध्य वह्नि है उसका सामानाधिकरण्य धूम में है या यावत् (सकल) स्व-समान-अधिकरण-निष्ठ-अत्यन्ताभावों के प्रतियोगी और ये अत्यन्ताभाव जिसके प्रतियोगी हैं, ऐसे अत्यन्ताभाव के समान अधिकरण वाले साध्य का सामानाधिकरण्य ही अनौपाधिकत्व है। यहाँ 'स्व' पद हेतु परक है जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से।' यहाँ 'यावत् हेतु-समान-अधिकरण' अत्यन्ताभावों के रूप में 'घटोनास्ति', 'पटोनास्ति'—घट नहीं है, पट नहीं है, इत्यादि सभी अभाव उपलब्ध हो सकते हैं, उनके प्रतियोगी होंगे घट-पट आदि, तादृश घट-पट प्रतियोगिक अत्यन्ताभाव के रूप में वही 'घटोनास्ति' आदि अत्यन्ताभाव होंगे, उन घटादि-अत्यन्ताभाव के समान-अधिकरण में रहने वाला साध्य वह्नि ही होगा और उसका सामानाधिकरण्य धूम में है। अथवा यावत् साधनों के अव्यापक के अव्याप्य साध्य का हेतु में सामानाधिकरण्य होना ही अनौपाधिकत्व है। जैसे, पूर्वोक्त स्थल में यावत् साधनों के अव्यापक 'मीन, शैवाल आदि पदार्थों' का, अव्याप्य साध्य' 'वह्नि' होगा और उसका सामानाधिकरण्य हेतु 'धूम' में है। या जो साध्य हेतु के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं है, उसके साथ हेतु का, एक अधिकरण में वृत्ति रहना ही 'अनौपाधिकत्व' है। जैसे, उक्त स्थल में हेतु धूम के, समान अधिकरण 'पर्वत' तथा 'पाकशाला' आदि में, साध्य 'वह्नि' के विद्यमान होने से, उसका अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता, किन्तु घट का अत्यन्ताभाव है और वह हेतु 'धूम' के अधिकरण 'पर्वत' में वृत्ति रहने के कारण हेतु समानाधिकरण भी है। उक्त अभाव का प्रतियोगी घट और अप्रतियोगी साध्य 'वह्नि' होगा। उसके साथ हेतु धूम का सामानाधिकरण्य (अर्थात् एक अधिकरण में वर्तमान रहना) है। यही धूम में अनौपाधिकत्व है। यहाँ पर यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि अनौपाधिकत्व वास्तव में उपाधि के अभाव को ही कहा जाता है और वह दुर्ग्रह होने के कारण अनिर्वचनीय है। इसका समाधान देते हुए उन्होंने कहा है कि यह आक्षेप न्यायसंगत नहीं जान

पड़ता, क्योंकि उपाधि,––'साध्य की व्यापक होती हुई साधन की अव्यापक होती है, इस रूप में भली प्रकार ज्ञेय है और ज्ञेय होने के नाते उसका निर्वचन भी किया जा सकता है। इसलिये यह न तो दुर्ग्रह है और न अनिर्वचनीय ही। इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष का भी उद्‌भावन नहीं किया जा सकता, कारण उपाधि के लक्षण में, व्याप्ति का सन्निवेश नहीं है। अभिप्राय यह कि व्यभिचार ज्ञान की जननी होने के नाते उपाधि व्याप्ति ज्ञान की प्रतिबन्धक मानी जाती है, इसलिये व्यभिचारविहीन अनौपाधिक व्याप्ति सम्बन्ध को भलिभांति अवगम करने के लिये उपाधि का समझना अत्यावश्यक है, किन्तु उपाधि के लिये, व्याप्ति का ज्ञान होना अपेक्षित नहीं है। इसलिये अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति का निर्दुष्ट लक्षण स्वीकार किया जा सकता है।[५९] इस प्रकार शंकर मिश्र ने 'अनौपाधिकत्व', की व्याख्या करते हुए गङ्गेश के 'विशेष व्याप्ति'[६०] लक्षणों का ही विस्तारपूर्वक समर्थन किया है।

भासर्वज्ञ के अनुसार, साध्य के साथ साधन के स्वाभाविक व्याप्ति सम्बन्ध को अविनाभाव कहा गया है।[६१] साध्याभावीय स्थलों में साधन का सर्वदा अभाव पाया जाना ही अविनाभाव है। 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थलों में लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये ही 'स्वभावतः' पद का उपादार किया गया है।[६२] इस प्रकार अविनाभाव रूप व्याप्ति लक्षण के रूप में उन्होंने वाचस्पति मिश्र के लक्षण की पुष्टि की है।

व्याप्ति लक्षण की व्याख्या करते हुए श्रीधर ने लिखा है कि, किसी एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ स्वभावतः जो सम्बन्ध अवधारित किया जाता है वही उपाधि-शून्य व नियत होने के कारण 'नियम' अर्थात् व्याप्ति कहलाता है। आकस्मिक होने के कारण उपाधियुक्त सम्बन्ध ही, उपाधि-निवृत्त हो जाने पर व्यवच्छिन्न हो जाता है, स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं। वाचस्पति मिश्र, उदयन, भासर्वज्ञ प्रभृति आचार्यों के उक्त व्याप्ति लक्षणों में उपाधि के सर्वथा अभाव को ही व्याप्ति का प्रयोजक बतलाया गया है। किन्तु अखिल देश, काल अथवा पुरुषों में उपाधि ज्ञान के सर्वथा अभाव की उपलब्धि होना असंभव है। इस आक्षेप का निराकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि उपलब्ध होनेवाली वस्तुओं के सम्बन्ध की उपाधियां नियमतः अनुपलभ्य ही हों, इसमें कोई विनिगमक प्रमाण नहीं है, कारण 'पर्वतो धूमवान् वन्हेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थलों में बार-बार उपलब्ध होने वाले वह्नि और धूम के सम्बन्ध का ज्ञान (उपलब्धि) तो हो, किन्तु उसकी प्रयोजिका उपाधि की उपलब्धि न हो, यह आवश्यक नहीं। अपनी-अपनी स्वरूपसत्ता के कारण ही यदि ये उपाधियां अपने-अपने उपधेयों––'साध्य-साधनों' के सम्बन्ध की भी कारण मानी जाये, परिणामस्वरूप नित्य समझी जाय, तो भी व्याप्ति का निश्चय अवश्यंभावी है, कारण यह कि औपाधिक सम्बन्ध उपधेय रूप सम्बन्धियों की सत्ता तक ही विद्यमान रहता है। यदि इनको आगन्तुक समझा जाय, तो कारणों से उत्पन्न होने के नाते उनके कारणों की प्रतीति होना भी आवश्यक है। यदि उपाधियां और उनके कारण सभी अतीन्द्रिय माने जाये तो गौरव दोष होगा। जिन हेतुओं में उपाधि नहीं होती, वे साध्य-सम्बन्ध के बिना भी कभी-कभी स्वतंत्र रूप से उपलब्ध होते हैं। किन्तु उपाधि-विरहित हेतु 'धूम' की, कोई भी प्रतीति साध्य वह्नि-सम्बन्ध के अभाव में, स्वतंत्र रूप से नहीं होती। इसके विपरीत उपाधिमूलक सम्बन्ध की योग्यता से सम्पन्न अग्नि जब सूखे ईंधन से उत्पन्न होती है, तब वह साध्य धूम-सम्बन्ध के अभाव में (जलते हुए अंगारों में) भी दृष्टिगोचर होती

है और वही जब गीले ईंधन से उत्पादित की जाती है, तब भी उसमें धूम के उपाधिमूलक सम्बन्ध की योग्यता रहती है। इसलिये जिन उपाधियों में उपलब्ध होने की योग्यता है, उनकी अनुपब्धि द्वारा ही उनके अभाव का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार उपाधि के अभाव की निश्चित रूप से प्रतीति हो जाने पर, आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधि से विशिष्ट हेतु 'वह्नि' में, बारम्बार साध्य 'धूम' का व्यभिचार अवलोकित होने पर हेतु 'वह्नि' में अहेतुता (हेत्वाभासता) का अवधारण हो जाता है। अतः निखिल देश काल आदि में उपाधि के अभाव की उपलब्धि न हो सकने की जो आपत्ति दी गयी थी वह निरस्त हो जाती है। अतः धूम सामान्य में वह्नि सामान्य का जो स्वाभाविक सहभाव है (सामानाधिकरण्य साहचर्य) है, उसके निश्चय से ही 'यह धूम इस वह्नि से नियत है' इत्याकारक नियम का ज्ञान होता है।[६३]

उपाधिग्रह के इस चक्रव्यूह का भेदन करने के लिये संभवतः न्यायलीलावतीकार ने व्याप्ति का स्वतंत्र लक्षण अङ्कित करते हुए, कार्त्स्न्य (सम्पूर्ण) रूप से साधन में रहने वाले साध्य के साहित्य अर्थात् साहचर्य अथवा सामानाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहा है।[६४] यदि 'कार्त्स्न्येन' पद की विवक्षा—'यावत्साधनाश्रयाश्रितसाध्यसम्बन्धः' अर्थात् 'सकल साधनों के अधिकरण में आश्रित रहने वाले सम्बन्ध' के रूप में की जाय, तो समीचीन नहीं है, क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में धूम के सकल आश्रयीभूत अधिकरणों के अन्तर्गत आकाश-मण्डल भी उपलब्ध होता है परन्तु वहाँ साध्य 'वह्नि' का सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। इस अव्याप्ति दोष को हटाने के लिये वर्धमान के अनुसार 'साधनसमानाधिकरणयावत्धर्मसमानाधिकरणसाध्यसमानाधिकरण्यं तदर्थः' अर्थात साधन के समान अधिकरण में रहने वाले धर्म के समान अधिकरण में विद्यमान रहने वाले साध्य का हेतु में जो समानाधिकरण्य सम्बन्ध है, उसी को यदि कार्त्स्न्येन सम्बन्ध कहा जाये, उदाहरणार्थ—उक्त स्थल में 'धूमात्मक साधन के अधिकरण में रहने वाले, पर्वतत्व, महानसत्व, चत्वरत्व आदि जो यावत् (सकल) धर्म हैं, उनके समान अधिकरण में रहने वाले, साध्य 'वह्नि' के साथ, हेतु 'धूम' का एक अधिकरण में वृत्ति रहना' ही उक्त पद से अभिप्रेत समझा जाये, तो भी युक्त नहीं, कारण ऐसा मानने पर अप्रसिद्धि दोष हो जाता है, क्योंकि धूमात्मक साधन का समानाधिकरण 'यावत् धर्म' ही अप्रसिद्ध है, जैसे, धूम अधिकरण पर्वत' में पर्वतत्व धर्म के रहने पर भी महानसत्व, चत्वरत्व आदि धर्मों की स्थिति नहीं है, इसी प्रकार धूमाधिकरण महानस अथवा चत्वर में पर्वतत्व, चत्वरत्व या पर्वतत्व, महानसत्व आदि धर्म नहीं रहते। इस प्रकार साधन-समानाधिकरण निष्ठ यावत्धर्म अप्रसिद्ध होने के नाते उक्त परिष्कार भी निरर्थक-सा ही प्रतीत होता है। इसलिये इस अप्रसिद्धि दोष का निराकरण करने के लिये सैद्धान्तिक रूप से—'यत्संबन्धितावच्छेदकरूपवत्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः' अर्थात् 'साध्य के सम्बन्धी में रहने वाला सम्बन्धितावच्छेदक रूप साध्य का, हेतु में जो सम्बन्ध है, वही 'कार्त्स्न्येन सम्बन्ध', व्याप्ति माना गया है। जैसे, उक्त स्थल में साध्य वह्नि का सम्बन्धी धूम और सम्बन्धितावच्छेदक धूमत्व होगा, उस धूमत्व का धूमात्मक हेतु तथा समस्त धूमों में सम्बन्ध है। अतः यह साध्यनिरूपित व्याप्ति समस्त धूमात्मक हेतुओं में समन्वित एवं संघटित हो जाती है।[६५]

गङ्गेश ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि कार्त्स्न्येन साधन का साध्य के साथ जो सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है, उसको विषम-व्याप्तिविशिष्ट स्थलों में अव्याप्त होने के कारण, व्याप्ति नहीं माना जा सकता।[६६] गङ्गेश की व्याख्या करते

हुए मथुरानाथ ने लिखा है कि 'कात्स्न्येंन सम्बन्ध' में प्रयुक्त 'कात्स्न्यं' पद से क्या— '(१) साध्य का, (२) साधन का, (३) साधन के आश्रय का अथवा (४) साधन के समान अधिकरण में रहने वाले धर्म' का, सम्बन्ध विवक्षित है । यह साध्य का सम्बन्ध इसलिये नहीं हो सकता कि यह व्याप्ति, जहाँ साध्य केवल कोई एक व्यक्ति विशेष ही रहता है, वहाँ घटित नहीं होती, क्योंकि वहाँ कात्स्न्यंत्व अर्थात् सम्पूर्णता का अभाव रहता है । बिना किसी अपवाद के जिसमें सभी विशेष व्यक्ति समाहित हो सकें उस ही सम्पूर्णता कहा जा सकता है । इसी प्रकार यह साधन का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ धूम से सकल धूम व्यक्तियों का भान होता है, वहाँ किसी एक अग्नि व्यक्ति विशेष जैसे, पर्वतीय अग्नि का सकल धूम से सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्ति, हेतु और साध्य का सर्वत्र पाया जाने वाला नियमित साहचर्य सम्बन्ध है । जहाँ हेतु में साध्य की व्यापकता नहीं होती, वहाँ वह साध्य के साथ संपूर्ण रूप से सहचरित नहीं माना जा सकता । जैसे, धूम अग्नि से अल्प विस्तारवाला होने के कारण सकल अग्नि से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि अग्नि और धूम का संबन्ध तपे हुए लौह खण्ड में नहीं रहता । इसी प्रकार साध्य का सकल हेतुओं के समान अधिकरण में सहचरित रहना भी कात्स्न्येंन सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह व्याप्ति वहाँ कार्यकारी नहीं होती, जहाँ हेतु कोई व्यक्ति विशेष ही रहता है, जैसे 'यह गुण युक्त है क्योंकि उसमें द्रव्यत्व पाया जाता है, 'यह गन्धयुक्त है, क्योंकि उसमें पृथ्वीत्व पाया जाता है,' दोनों अनुमान यथार्थ हैं, किन्तु उक्त लक्षण के अनुसार इनमें व्याप्ति नहीं है, क्योंकि दोनों हेतु—'द्रव्यत्व' और 'पृथ्वीत्व' एक हैं । इसी प्रकार हेतु के समस्त आश्रयों में साध्य का रहना भी व्याप्ति नहीं कहला सकता, क्योंकि यह लक्षण जहाँ हेतु केवल एक ही आश्रय में विद्यमान रहता है वहाँ अव्याप्त हो जाता है । जैसे, 'आकाश द्रव्य है, क्योंकि उसमें शब्द हैं', यह यथार्थ अनुमान उक्त लक्षण के अनुसार निष्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द केवल एक ही आश्रय आकाश में वृत्ति है । इसी प्रकार यह समान अधिकरण धर्म का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि धूमाधिकरण' पाकशाला में रहने वाले धर्म 'पाकशालात्व' का सहचार, धूम के साथ, पाकशालीय अग्नि के साथ होने पर भी, उसका सहचार उस धूम के साथ नहीं है, जो पर्वतीय धूम से सहचरित हैं ।[१७] शंकर मिश्र ने भी गङ्गेश का समर्थन करते हुए उक्त लक्षण का खण्डन इस प्रकार किया है—यदि कात्स्न्येंन सम्बन्ध अर्थात् सर्वांश में साध्य के साथ जो हेतु का सम्बन्ध है उसी को यदि व्याप्ति कहा जाय, तो उचित नहीं, कारण 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से' यहाँ विषम व्याप्त धूम में उक्त व्याप्ति का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है अर्थात् धूम में यह व्याप्ति समन्वित नहीं होने पाती, क्योंकि प्रभा मण्डलरूप ऊपरिप्रदेश-निष्ठ धूम के साथ वह्नि का सम्बन्ध नहीं है । यदि इसका यह अर्थ किया जाय कि सम्पूर्ण साधनों का साध्य के साथ सम्बन्ध होना ही व्याप्ति है, तो भी तर्कसंगत नहीं, कारण एक साध्य का सम्पूर्ण साधनों के साथ सम्बन्ध न होने से यह अर्थ भी उत्पन्न नहीं होने पाता जैसे, पर्वतीय वह्नि का सम्पूर्ण धूमों के साथ सम्बन्ध नहीं है । उसका सम्बन्ध केवल पर्वतीय धूम से ही है, महानसीय, चत्वरीय धूमों से नहीं । यदि समस्त साध्यों का समस्त हेतुओं के साथ सम्बन्ध ही यह सम्बन्ध माना जाय तो भी युक्तिपूर्ण नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण हेतुओं के साथ सम्पूर्ण साध्यों का सम्बन्ध कहीं भी संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक साध्य का अपने साधन के साथ ही सम्बन्ध हुआ करता है जैसे, पर्वतीय वह्नि का पर्वतीय धूम तथा महानसीय वह्नि का महानसीय धूम के साथ सम्बन्ध होता है, न कि सबका सबके साथ । अतः विषम व्याप्तिक

स्थलों में अव्याप्त होने के कारण इस लक्षण को भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता।[६८]

इसी प्रकार जो तार्किक सम्बन्ध मात्र को ही व्याप्ति स्वीकार करते हैं वे भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि जो व्यभिचारी हेतु का साध्य के साथ सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है, वह यथार्थ अनुमान का आधार न होते हुए भी उक्त लक्षण के अनुसार व्याप्ति माना जा सकता है। अतः व्यभिचारी सम्बन्ध में अतिव्याप्त होने के कारण यह लक्षण समीचीन नहीं जान पड़ता।[६९] शंकर मिश्र ने भी लिखा है कि व्यभिचारी सम्बन्ध देश तथा काल विशेष से घटित होने के नाते व्याप्ति रूप हो जाता है किन्तु उसका ज्ञान अनुमिति में अप्रयोजक है। इसलिये अनुमिति के कारणीभूत ज्ञान के विषय को लेकर ही व्याप्ति का निरूपण करना उचित है।[७०]

न्याय-नव्य मत

गङ्गेश ने अनुमिति लक्षण के निरूपण के पश्चात् व्याप्ति लक्षण की विवेचना करने के प्रसङ्ग में संगति दिखलाते हुए 'व्याप्ति पञ्चक प्रकरण' के आदि में लिखा है, 'नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः[७१]' अर्थात् अनुमिति को जानने के लिये जिस व्याप्ति ज्ञान की अत्यन्त अपेक्षा है, वह व्याप्ति कौनसी वस्तु है ? इसी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए ही उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय चिन्तन धारा के अनुसार अपने सिद्धान्त पक्ष को स्थापित करने के पूर्व, पूर्वपक्षीय व्याप्तियों का निरूपण किया है। इनमें से प्रथम पाँच को 'व्याप्ति पञ्चक', दो को 'सिंह और व्याघ्र' एवं अन्य चउदह को 'पारिभाषिक अथवा व्यधिकरण' के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर इतनी व्याप्तियों के उल्लेख होने पर, ऐसी शंका होना स्वाभाविक है कि आचार्य ने एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार अनेक व्याप्तियों का निरूपण करके, क्या स्वयं ने ही कुछ लक्षणों के माध्यम से अपने सूक्ष्मतम सिद्धान्त की सिद्धि की है अथवा उनके समय में प्रचलित, आचार्यों के मत-मतान्तर में प्रसिद्ध कुछ व्याप्तियों का उल्लेख किया है, और अपने सिद्धान्त के अनुरूप न होने पर, उनका खण्डन। दूसरा पक्ष ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। वास्तव में इन व्याप्तियों के मानने वाले पूर्वाचार्य ही रहे होंगे। क्रमशः इन सभी व्याप्तियों का विवेचन यहाँ संक्षिप्त रूप से किया जा रहा है।

व्याप्ति पञ्चक—

'व्याप्ति पञ्चक प्रकरण' में, अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत, पाँच व्याप्तियों का उल्लेख कर खण्डन किया गया है। इन व्याप्तियों के माननेवाले मूलतः 'हेतु में साध्य का व्यभिचार न रहने' को ही व्याप्ति का निर्दुष्ट लक्षण मानते थे। इस प्रकार 'अव्यभिचरितत्वं व्याप्तिः' यही उन सभी के द्वारा स्वीकृत व्याप्ति का लक्षण है। किन्तु व्यभिचार के स्वरूप के प्रसंङ्ग में उनमें मत वैभिन्य था, तदनुसार उन सभी के मतों में व्यभिचार के पृथक्-पृथक् लक्षणों का होना भी अपरिहार्य था, इसीलिए भिन्न-भिन्न पाँच रूपों में व्याप्ति के इन लक्षणों को व्यक्त किया गया है।

प्रथम व्याप्ति का लक्षण गङ्गेश द्वारा इस प्रकार से किया गया है—

'साध्याभाववदवृत्तित्वम्[७२]'

साध्य शून्य स्थानों में अर्थात् साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का रहना ही इस मत में व्यभिचार माना गया है अतः साध्य शून्य स्थानों में अर्थात् साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की अवृत्ति (न रहना) रहना ही व्याप्ति है। सद्हेतु स्थल में हेतु के सभी आश्रयों में हेतु की वृत्तिता आवश्यक है। जो हेतु, साध्ययुक्त कुछ स्थानों में रहते हुए, साध्य शून्य

कुछ स्थानों में भी विद्यमान रहता हो, वह हेतु व्यभिचारी कहलाता है। इसमें प्रथम हेतु ही व्याप्ति लक्षण का लक्ष्य हो सकता है, दूसरा नहीं, क्योंकि वह व्यभिचारी है। इस व्याप्ति का समन्वय 'वह्निमान् धूमात्' इस प्रसिद्ध स्थल में किया जा सकता है। इस अनुमान में साध्य वह्नि है, उसका अभाव वह्नि का अभाव होगा। जिसके आश्रय जलाशय आदि ही हैं, पर्वत आदि नहीं। यहाँ 'साध्यवत्' का तात्पर्य है साध्य का आश्रय अथवा अधिकरण। साध्याभावीय इन आश्रयों में धूम कभी भी नहीं रह सकता। इस प्रकार साध्याभावीय अधिकरण जलाशय आदि में हेतु की वृत्तिता का अभाव धूम में विद्यमान है। इसी प्रकार प्रसिद्ध 'धूमवान् वह्नेः' असद् हेतु स्थल में भी इसका समन्वय किया जा सकता है। यहाँ साध्य 'धूम' है, उसका अभाव 'धूमाभाव' होगा। साध्य 'धूम' के अभाव का अधिकरण जलाशय आदि के समान अयोगोलक (तप्त लोह पिण्ड) आदि भी है, वहाँ पर हेतु 'वह्नि' की सत्ता ही है, असत्ता नहीं। अतः दोनों स्थलों में लक्षण पूर्णतः घटित हो जाता है।

किन्तु यह लक्षण 'कपिसंयोगी, एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादि अव्याप्यवृत्ति साध्यक स्थलों में अव्याप्य होने के कारण युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। इस आक्षेप को भली भांति समझने के लिये 'अव्याप्यवृत्ति' वस्तुतः क्या है, यह जानना भी आवश्यक है। किसी वस्तु का एक देश अथवा एक काल में विद्यमान रहना अव्याप्यवृत्ति तथा सर्व देश अथवा सर्वकाल में वृत्ति रहना व्याप्यवृत्ति कहलाता है। देशकृत अव्याप्यवृत्ति तथा काल-कृत अव्याप्यवृत्ति भेद से अव्याप्यवृत्ति दो प्रकार की होती है। जिस पदार्थ की सत्ता किसी एक देश में हो और किसी एक देश में न हो, उसे देशकृत अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। इसी प्रकार जो पदार्थ किसी काल में विद्यमान हो और किसी काल में न हो, उसे कालकृत अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। जिसमें जो पदार्थ कदाचित् हो और कदाचित् न हो, उसमें उसकी अधिकरणता सर्वदा बनी रहती है, इसलिये पदार्थ की अधिकरणता सर्वदा व्याप्यवृत्ति होती है, अव्याप्यवृत्ति नहीं। अव्याप्यवृत्ति पदार्थ का अधिकरण सर्वदा व्याप्यवृत्ति पदार्थ ही होता है। जैसे दण्ड और पुरुष का संयोग अव्याप्यवृत्ति है। कारण पुरुष के सारे शरीर में दण्ड का संयोग नहीं होता, अपितु किसी एक अङ्ग विशेष के साथ ही होता है। परन्तु संयोग की अधिकरणता पुरुष के सारे शरीर में रहती है। तात्पर्य यह कि पुरुष का शरीर मात्र दण्ड का आश्रय होता है, इसीलिये 'दण्डी पुरुषः'—'पुरुष दण्ड वाला है', ऐसा व्यवहार होता है। यदि पुरुष के किसी एक अङ्ग रूप देश को ही दण्ड का आश्रय मान लिया जाय, तो उक्त व्यवहार न होकर 'दण्डी पुरुषैक देशः'—'पुरुष का एक देश दण्ड वाला है', ऐसा व्यवहार होता, परन्तु ऐसा व्यवहार नहीं होता। इस-लिये संयोग आदि देशकृत अव्याप्यवृत्ति पदार्थों की अधिकरणता व्याप्यवृत्ति ही होती है। इसी प्रकार गन्ध आदि गुण भी उत्पत्ति के प्रथम चरण में न होने के कारण कालकृत अव्याप्यवृत्ति पदार्थ है, किन्तु उनकी अधिकरणता पृथ्वी आदि पदार्थों में सर्वदा बनी रहती है। अभिप्राय यह कि उत्पत्ति क्षण में गन्ध के विद्यमान न रहने पर भी उसका पृथ्वी रूप अधिकरण विद्यमान रहता है। इसलिये पृथ्वी आदि पदार्थ की अधिकरणता व्याप्तवृत्ति होती है। इस प्रकार 'अव्याप्यवृत्ति' पद की समुचित व्याख्या हो जाने के पश्चात् उक्त आपत्ति को सरलता से समझा जा सकता है। प्रकृत में 'कपिसंयोग' साध्य तथा 'एतद्वृक्षत्व' हेतु है। यहाँ वृक्ष के शाखा भाग में कपिसंयोग पाया जाता है, मूल भाग में नहीं। अतः साध्याभावीय 'वृक्ष के मूल भाग' रूप अधिकरण में हेतु 'एतद्वृक्षत्व'

की वृत्ति होने के कारण यह लक्षण दोषहीन नहीं है। इस अव्याप्ति दोष के निवारण के लिये द्वितीय लक्षण का उद्भावन किया गया है[७३]।

द्वितीय लक्षण इस प्रकार है—

'साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वम्[७४]'

इस लक्षण में 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' इतने अंश की व्याख्या पूर्व लक्षण के अनुसार ही समझना चाहिये। 'साध्यवद्भिन्नत्व' पद 'साध्याभाववत्' में विशेषण है। साध्य के अधिकरण से भिन्न साध्याभाव के अधिकरण से निरूपित वृत्तित्व का अभाव ही इस लक्षण द्वारा प्रतिपादित किया गया है। 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में कोई विशेष बात नहीं है, क्योंकि जो वह्न्यभाव के अधिकरण होंगे वे अवश्य ही साध्यवद्भिन्न होंगे, कारण वह्न्यभाव के अधिकरण में वह्निमत्ता का सर्वदा अभाव रहेगा। पर 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में ऐसी बात नहीं, क्योंकि, इस स्थल में कपिसंयोगाभाव के दो प्रकार के अधिकरण होते हैं। एक तो है 'एतद्वृक्ष' जिसमें कपिसंयोगाभाववत्ता के साथ कपिसंयोगवत्ता भी है। अतः इस अधिकरण में साध्याभाववत्ता के रहते हुए भी साध्यवद्भिन्नत्व नहीं है। किन्तु कपिसंयोगाभाव के द्वितीय अधिकरण जो गुण आदि हैं, उनमें कपिसंयोगाभाव के साथ-साथ कपिसंयोगवद्भिन्नत्व भी है, क्योंकि गुण आदि कभी भी कपिसंयोग रूप साध्य के अधिकरण नहीं हो सकते, कारण गुण में गुण नहीं रहता। इस प्रकार 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादि स्थलों में साध्यवद्भिन्न साध्याभाव के अधिकरण के अधिकरण गुण आदि ही होंगे, एतद्वृक्ष नहीं। इस प्रकार साध्याभावीय अधिकरण गुण आदि में 'एतद्वृक्षत्व' रूप हेतु कभी भी विद्यमान नहीं रहेगा। अतः उक्त स्थल में व्याप्ति लक्षण की अनुपपत्ति नहीं है। इसका समन्वय 'वह्निमान् धूमात्' स्थल में इस प्रकार होगा। साध्यवत् होंगे पर्वत आदि और साध्यवद्भिन्न जलाशय आदि। वे जलाशय आदि वह्न्यभाव के अधिकरण भी हैं। उनमें धूम की वृत्तिता नहीं है। अतः वृत्तित्वाभाव धूम में है। इसी प्रकार 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थल में इसका समन्वय किया जा सकता है। यहाँ साध्यवद्भिन्न होंगे अयोगोलक आदि, उनमें साध्याभाव की अधिकरणता निश्चित रूप से है अर्थात् धूमाभाव के आश्रय अयोगोलक आदि धूमवद्भिन्न भी है, वहाँ वह्नि रूप हेतु की वृत्तिता ही है, अवृत्तिता नहीं। अतः लक्षण समन्वित हो जाता है।

'साध्यवद् भेद' को लक्षण में प्रथमतः प्रयुक्त कर जो यह लक्षण प्रणीत किया गया है उसमें 'साध्याभाववत्' इतने अंश का कोई उपयोग नहीं। कारण, साध्याभाव के अधिकरण के लिये 'साध्यवद्भिन्न' जो विशेषण प्रयुक्त किया गया है, वह अनावश्यक है, क्योंकि 'साध्यवद्भिन्न अवृत्तित्वम्' इतने ही लक्षण से कार्य चल सकता है। 'साध्यवद्भिन्नत्व' और 'साध्याभावाधिकरणत्व' समनियत है ('व्याप्यत्वे सति व्यापकत्वम्'—'जो व्याप्य होते हुए व्यापक भी है' उसे समनियत कहते हैं) अतः 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति वारण करने के लिये इतनी लम्बी चौड़ी व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं अपितु 'साध्यवद्भिन्न अवृत्तित्वम्' इतने मात्र से ही अव्याप्ति का निरास हो जाता है: इस स्थल में साध्यवत् होंगे 'एतद्वृक्ष' उससे भिन्न एतद्वृक्ष को नहीं मान सकते कारण स्व में स्व का भेद नहीं रह सकता। इसलिये साध्यवद्भिन्न होंगे गुण आदि। वहाँ 'एतद्वृक्षत्व' रूप की आवृत्ति ही है अतः अव्याप्ति नहीं होगी। मथुरानाथ ने भी यही मत व्यक्त किया है[७५]।

पूर्वोक्त प्रकरण को दृष्टि में रखते हुए ही गङ्गेश ने तृतीय लक्षण इस प्रकार दिया है—

'साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यम्[७६]'

साध्यवत् है प्रतियोगी जिस अन्योन्याभाव का, वही अन्योन्याभाव साध्यवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव और भेद दोनों शब्द पर्यायवाची है। 'असामानाधिकरण्य' पद में प्रयुक्त 'सामानाधिकरण्य' शब्द का अर्थ है अधिकरण निरूपित वृत्तिता अर्थात् एक ही अधिकरण में वर्तमान रहता। उस वृत्तिता के साथ अभावार्थक 'अ' शब्द का अन्वय है। एवं उक्त साध्यवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव या साध्यवत् प्रतियोगी भेद का अन्वय अधिकरण शब्द के साथ है। तदनुसार 'साध्यवत् प्रतियोगिक भेद के अधिकरण से निरूपित वृत्तित्व का अभाव ही व्याप्ति है 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में इसका समन्वय इस प्रकार होगा—साध्य है 'वह्नि', 'तदवत्' पर्वत आदि होंगे। तत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का आकार होगा—'साध्यवान् न'। यह अन्योन्याभाव जलाशय आदि में ही रहेगा, पर्वत आदि में नहीं। जलाशय आदि में धूम की सत्ता नहीं रहती। इसलिये अन्योन्याभाव का सामानाधिकरण्य धूम आदि सद्हेतु स्थलों में कभी भी नहीं रहेगा। अतः सद्हेतु स्थल में अव्याप्ति की संभावना नहीं होगी। 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस अव्याप्य वृत्ति साध्यक स्थल में भी अव्याप्ति दोष नहीं है, क्योंकि 'कपिसंयोगवान न'—(यह) कपिसंयोगवान् नहीं है यही तत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का आकार होगा और वहाँ एतद्वृक्ष के किसी अंश में कपिसंयोगाभाव के रहते हुए भी 'कपिसंयोगवान् न' इस भेद की सत्ता नहीं है। इस भेद की सत्ता गुण आदि में ही है, जिनमें 'एतद्वृक्षत्व' नहीं है। इसी प्रकार 'संयोगी द्रव्यत्वात्' इस स्थल में भी संयोगवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के अधिकरण होंगे गुण आदि, उनमें द्रव्यत्व हेतु की अवृत्तिता ही है। 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि असद्हेतु स्थलों में भी यह लक्षण अति-व्याप्ति दोष से आक्रान्त नहीं है। इस स्थल में साध्य है, 'धूम' तद्वत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का आकार होगा 'धूमवान् न'—'धूमवान् नहीं है' इत्याकारक इस अन्योन्याभाव का अधिकरण अयोगोलक होगा, जो वह्नि रूप हेतु का भी अधिकरण है। इस प्रकार वह्नि रूप हेतु में साध्यवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का सामानाधिकरण्य ही है, असामानाधिकरण्य नहीं। मथुरानाथ ने भी यही बात कही है[७७]।

उपर्युक्त सभी व्याप्तियां 'यत्र यत्र हेतुः तत्र तत्र साध्यम्'—'जहाँ-जहाँ हेतु होता है वहाँ-वहाँ साध्य भी होता है', इस दृष्टि से विवेचित हुई है। परन्तु व्याप्ति का चौथा लक्षण 'यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र हेत्वाभावः—'जहाँ-जहाँ साध्य का अभाव पाया जाता है वहाँ-वहाँ हेतु का भी अभाव पाया जाता है', इस निश्चय को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। व्याप्ति, सर्वदा हेतु में ही रहना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से आगे 'तत्प्रतियोगित्व' पद भी जोड़ दिया गया है। चतुर्थ लक्षण इस प्रकार है—

'सकलसाध्याभाववन्निष्टाभावप्रतियोगित्वम्[७८]'

निखिल साध्याभावीय अधिकरणों में विद्यमान रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता ही व्याप्ति है। 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थल में सभी वह्नियों के अभाव का आकार होगा—'वह्निर्नास्ति'। इस आकार के, वह्नि सामान्यभाव के, जितने भी अधिकरण होंगे, उनमें से किसी भी अधिकरण में धूमाभाव की असत्ता ज्ञापित नहीं होगी, अपितु सभी अधिकरणों में धूमाभाव की सत्ता ही होगी। इस प्रकार 'सकलसाध्याभाववन्निष्ठ

अभाव' पद से प्रकृत में धूमाभाव ही अभिप्रेत है तत्प्रतियोगित्व (उस अभाव की प्रतियोगिता) धूम हेतु में है। अतः इस लक्षण में कोई दोष नहीं है 'वह्निमान् धूमात्' स्थल में इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है। अखिल वह्नियों के अभाव वाले अधिकरण होंगे, 'जलाशय आदि,' उनमें विद्यमान रहने वाला जो धूम का अभाव है उसकी प्रतियोगिता धूम में ही रहेगी, क्योंकि नियम है, 'यस्याभावः स प्रतियोगी' —'जिसका अभाव होता है, वही प्रतियोगी होता है', इसलिये धूमाभाव का प्रतियोगी धूम होने के कारण लक्षण समन्वित हो जाता है। इसी प्रकार 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि असद् हेतु स्थलों में भी अतिव्याप्ति की संभावना नहीं है। सभी धूमों के अभाव वाले जितने भी अधिकरण होंगे उनमें एक अयोगोलक भी है। उसमें विद्यमान रहने वाला जो अभाव है, वह वह्नि रूप हेतु का अभाव नहीं है। इसलिए उसकी प्रतियोगिता भी हेतु वह्नि में नहीं रहेगी। इस लक्षण में 'सकल' पद साध्याभाववत् में विशेषण है। इसी बात को मथुरानाथ ने भी व्यक्त किया है[७९]।

व्याप्ति का पाँचवा लक्षण गङ्गेश द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

'साध्यवदन्याऽवृत्तित्वम्[८०]'

इसे स्पष्ट करते हुए मथुरानाथ ने लिखा है—'हेतौ साध्यवदन्यवृत्तित्वाभाव इत्यर्थः[८१]।' यह लक्षण भी तीसरी व्याप्ति के समान ही है। साध्यवत् का अर्थ है साध्य के अधिकरण जैसे पर्वत आदि, उससे अन्य होंगे जलाशय आदि उनमें, हेतु की अवृत्तिता ही व्याप्ति है अर्थात् साध्य के अधिकरण से अन्य अधिकरणों में हेतु का न रहना ही व्याप्ति है। यद्यपि तीसरे और पाँचवें लक्षण में, अर्थतः कोई मौलिक अन्तर नहीं है, किन्तु दोनों में वर्णित पदार्थ विभिन्न शब्दों के द्वारा विभिन्न विशेष्य-विशेषण के रूप में, अभिव्यक्त किये गये हैं। मूलतः एक होते हुए भी अभिव्यक्ति की शाब्दिक रीति में अन्तर है। तृतीय लक्षण में साध्यवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के सामानाधिकरण्य का अभाव हेतु में व्यक्त किया गया है और इस लक्षण में वही 'असामानाधिकरण्य' विभिन्न रूप में शब्दान्तर से 'अवृत्तित्व' रूप से कहा गया है। इस लक्षण का समन्वय 'वह्निमान् धूमात्' स्थल में इस प्रकार समझना चाहिए—साध्य है वह्नि, तदधिकरण होंगे पर्वत आदि, तदन्य होंगे जलाशय आदि, उनमें हेतु धूम की सत्ता कदापि नहीं रह सकती। इस प्रकार सद्हेतु में 'साध्यवदन्य-निरूपित-वृत्तिता कभी भी नहीं रहेगी। इसी प्रकार धूमवान् वह्नेः इत्यादि व्यभिचारी स्थल में भी यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता, क्योंकि साध्य है धूम, तद्वत् हैं पर्वत आदि, तदन्य है अयोगोलक आदि, उसमें वह्नि रूप हेतु विद्यमान ही है।

ये पाँचों लक्षण वास्तविक रूप से एक ही 'अव्यभिचरितत्व' शब्द के बोधक हैं। वस्तुतः इन पाँचों व्याप्तियों के मानने वाले आचार्यों का यही मत है कि 'अव्यभिचरितत्व' ही व्याप्ति है। अव्यभिचरितत्व तत्त्वतः व्यभिचार शून्यता अर्थात् व्यभिचार का न रहना ही है। फलतः इन आचार्यों के मत से हेतु में साध्य के व्यभिचार का न रहना ही व्याप्ति है। इस प्रसङ्ग में इन पाँचों व्याप्तियों के विधायकों का ऐकमत्य है। किन्तु व्यभिचार लक्षण के प्रसंङ्ग में सब के मत अलग-अलग हैं, जिसके कारण व्यभिचाराभाव रूप व्याप्ति का लक्षण भी पृथक्-पृथक् हो गया है। जैसे, साध्य जहाँ पर न रहे वहाँ पर हेतु का रहना व्यभिचार है अर्थात् साध्याभाव के अधिकरण में—'साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्व' ही व्यभिचार है और फलतः इस वृत्तित्व का अभाव ही व्याप्ति है।

इसी प्रकार ' साध्यवद्‌भिन्न साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्व' ही द्वितीय लक्षण में व्यभिचार माना गया है अतः इस वृत्तित्व का अभाव ही दूसरी व्याप्ति है। तथा 'साध्यवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के सामानाधिकरण्य को' जो व्यभिचार मानते हैं, उनके मत से साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का असामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है। एवं जिस मत में सकल साध्याभावीय अधिकरणों में रहने वाले अभाव की अप्रतियोगिता ही व्यभिचार है, उनके मत में सकल साध्याभाववन्निष्ट अभाव का प्रतियोगित्व ही व्याप्ति होगी। एवं जो कोई साध्यवदन्य निरूपित वृत्तिता को ही व्यभिचार मानते हैं, उनके मत में 'साध्यवदन्यावृत्तित्व' ही व्याप्ति है।

परन्तु ऐसे भी अनेक उदाहरण है, जिनमें साध्य का, संसार की सभी वस्तुओं में केवल अन्वय अर्थात् सत्ता ही मिलती है, कहीं भी उनका व्यतिरेक अर्थात् अभाव नहीं उपलब्ध होता। इस प्रकार के पदार्थ जहाँ साध्य है, उन साध्यों के साधक सद्‌हेतुओं में इन सभी लक्षणों की अव्याप्ति होगी, क्योंकि, प्रथम द्वितीय एवं चतुर्थ लक्षण साध्याभाव घटित हैं। इसलिये उक्त केवलान्वयि साध्य का अभाव, कहीं भी न रहने के कारण, ये तीनों ही लक्षण 'इदंवाच्यंज्ञेयत्वात्' इत्यादि स्थलों में घटित नहीं हो पाते अर्थात् अव्याप्य होंगे। तृतीय एवं पञ्चम लक्षण साध्यवत् भेद घटित हैं। अतः उक्त स्थल में यह भेद अप्रसिद्ध हो जायगा, क्योंकि, संसार के सभी पदार्थ साध्यवत् ही होंगे। साध्यवत् से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं मिलेगा। जहाँ पर साध्याभाव और साध्यवत् अन्य ही अप्रसिद्ध है वहाँ पर साध्यवदन्यधिकरण, तन्निरूपित वृत्तित्व और उसका अभाव आदि सभी अप्रसिद्ध ही हो जायेंगे। जैसे, बिना किसी संख्या के शून्य कितने ही बढ़ाये जांय, वे मूल्यहीन और निरर्थक हो सिद्ध होंगे। इसीलिये गङ्गेश ने एक ही वाक्य से इन सभी व्याप्तियों का खण्डन कर दिया है—

'केवलान्वयिन्यभावात्[८५]'

'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' यह केवलान्वयि साध्यक सद्‌हेतु स्थल है। इस स्थल में साध्य है वाच्यत्व, उसका अभाव वाच्यत्वाभाव ही होगा, उसका अधिकरण कोई भी नहीं है, क्योंकि विश्व के सभी पदार्थ किसी न किसी शब्द के वाच्य हैं। इसलिये साध्याभाव घटित जितने भी लक्षण हैं उनमें से कोई भी लक्षण इस स्थल को निर्दुष्ट नहीं बना सकेंगे। अर्थात् अव्याप्त को नहीं हटा सकेंगे। साध्यवदन्यत्व घटित जितने भी लक्षण हैं उनमें से भी कोई यहाँ नहीं लग सकेगा क्योंकि साध्य वाच्यत्व है और तद्‌वत् संसार के सभी पदार्थ हैं अतः 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस प्रकार का भेद कहीं भी लक्षित नहीं होगा।' 'साध्यवत् प्रतियोगिक अन्योन्याभाव' या 'साध्यवदन्यत्व' दोनों ही यहाँ अप्रसिद्ध हैं। अतः इन दोनों में से कोई भी लक्षण यहाँ घटित नहीं हो सकता। इसी का समर्थन मथुरानाथ ने भी किया है।[८३] गङ्गेश की भांति अव्यभिचारी सम्बन्ध की समीक्षा करते हुए शंकर मिश्र ने भी लिखा है कि अव्यभिचार वस्तुतः क्या है? इससे यदि 'साध्य के अत्यन्ताभाव के सामानाधिकरण्य का अनधिकरणत्व', यह अर्थ अभीष्ट समझा जाय तो 'वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में इस लक्षण के तात्पर्य को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—वह्‌न्यभाव रूप साध्याभाव का मीन, शैवाल आदि में रहने वाले सामानाधिकरण्य की अनधिकरणता हेतु धूम में है। इसी अव्यभिचारी सम्बन्ध को साध्य की हेतु में व्याप्ति मानी गई है। किन्तु इसे व्याप्ति का निर्दुष्ट लक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इत्याकारक केवलान्वयी अनुमान में वाच्यत्वाभाव

रूप साध्याभाव के अप्रसिद्ध होने के नाते, यह समस्त व्याप्ति अप्रसिद्ध हो जाती है। यदि साध्य के अनधिकरण की अनधिकरणता को अव्यभिचार कहा जाये तो भी उचित नहीं, क्योंकि साध्य का अनधिकरण ही जब अप्रसिद्ध है तब इसकी अनधिकरणता का प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्वोक्त केवलान्वयी स्थल में अव्याप्त होने के कारण यह विकल्प भी युक्त नहीं। दूसरी बात यह भी है कि प्रकृत अनुमान निष्ठ, हेतु धूम में, महानसीय वह्नि रूप साध्य के अनधिकरण जो पर्वत आदि है, उनमें हेतु धूम की अधिकरणता ही है, अनधिकरणता नहीं। इसलिये अव्यभिचारी सम्बन्ध को व्याप्ति नहीं माना जा सकता।[८४]

सिंह-व्याघ्र व्याप्ति

व्याप्ति पञ्चक की व्याप्तियों के निरूपण के अनन्तर गङ्गेश ने दो लक्षण और भी प्रस्तुत किये हैं, जो 'सिंह-व्याघ्र' लक्षण के नाम से प्रचलित हैं। इनमें से प्रथम लक्षण इस प्रकार है—

'नापि साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वम्'[८५]

इस लक्षण में 'साध्यासामानाधिकरण्य' पद का विग्रह आदि, 'साध्यस्य असामानाधिकरण्य' अर्थात् 'साध्य का असामानाधिकरण्य' किया जाय, तो यह साध्य असामानाधिकरण्य, 'साध्याधिकरणवृत्तित्वाभाव' नहीं होगा। इसलिये 'द्रव्यं सत्त्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि यहाँ साध्य है 'द्रव्यत्व', तदधिकरणवृत्तित्वाभाव' का अनधिकरणत्व सत्ता में रहेगा। द्रव्यत्व के अधिकरण होंगे घट-पट आदि पदार्थ, तन्निरूपित वृत्तिता ही सत्ता में आ जायगी। इसलिये 'द्रव्यत्वाधिकरणवृत्तित्वाभावानधिकरणत्व' सत्ता में आ जाने के कारण ऐसा अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि 'साध्यासामानाधिकरण्य' पद का अर्थ 'साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व' किया जाय तब द्वितीय 'सिंह-व्याघ्र' लक्षण के साथ इसका भेद हो जायगा। इसलिए ऐसा अर्थ भी अभीष्ट नहीं है। इसलिये अभीप्सित अर्थ होगा 'साध्याधिकरणात्वाभाववद्वृत्तित्व'। अर्थात् साध्य के अधिकरण तादृश अधिकरणत्वाभाववत् (अधिकरणता के अभाव वाले अधिकरण) में वृत्तिता होना ही 'साध्यासामानाधिकरण्य' का सही अर्थ होगा। आगे के 'अनधिकरणत्व' पद का अर्थ है तद्वद्भिन्नत्व अर्थात् वृत्तिभिन्नत्व। इस प्रकार से सम्पूर्ण लक्षण का तात्पर्य यह होगा—साध्याधिकरणत्वाभाववत् वृत्तिभिन्नत्व अर्थात् साध्य की अधिकरणता के अभाव वाले अधिकरण में वृत्तिभिन्नता होना ही अव्यभिचरितत्व है। 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि सद्हेतु स्थलों में समन्वय इस रीति से होगा—साध्य होगी वह्नि, उसके अधिकरण होंगे पर्वत आदि, अधिकरणता पर्वत आदि में रहेगी और उस अधिकरणता के अभाव वाले अधिकरण होंगे, जल, जलाशय आदि, तन्निरूपित वृत्तिता मीन शैवाल आदि में होगी, तद्वृत्तिभिन्नत्व हेतु धूम में आयेगा। इसलिये लक्षण समन्वय में कोई दोष नहीं होगा। 'धूमवान् वह्नेः' में इसका समन्वय इस प्रकार से होगा—साध्य 'धूम' के अधिकरण होंगे पर्वत आदि उसके अभाव वाले अधिकरण होंगे अयोगोलक आदि, तन्निरूपित वृत्तिता ही हेतु वह्नि में रहेगी, तद्वृत्तिभिन्नत्व नहीं। इसलिये कोई दोष नहीं है।

द्वितीय लक्षण इस प्रकार है—

'साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वम्'[८६]

'साध्यवैयधिकरण्य' पद का अर्थ है 'साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व' तदनुसार साध्य के

अधिकरण से भिन्न अधिकरण में वृत्तिभिन्नत्व ही व्याप्ति है। इसका समन्वय 'वह्निमान धूमात्' स्थल में इस प्रकार से होगा—'वह्निमान् न्' यह भेद साध्य वह्नि के अधिकरण से भिन्न अधिकरण जलाशय आदि में ही रहेगा, तन्निरूपित वृत्तिभिन्नत्व धूम में आ जायगा। अतः लक्षण का समन्वय हो जायगा। एवं 'धूमवान् वह्नेः' स्थल में 'धूमवान् न्' इस भेद के अधिकरण, पर्वत, पाकशाला आदि नहीं होंगे, किन्तु उनसे भिन्न अयोगोलक आदि ही होंगे, क्योंकि, अयोगोलक धूमवाला नहीं है, तन्निरूपित वृत्तिता ही हेतु 'वह्नि' में रहती है, वृत्तिभिन्नत्व नहीं। इसलिये लक्षण सुगमतापूर्वक घटित हो जाता है।

इन दोनों लक्षणों का एक साथ खण्डन करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि साध्य के अनधिकरण में हेतु की वृत्तिभिन्नता को व्याप्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी केवलान्वयी तथा यत्किञ्चित् साध्यक स्थलों में अप्रसिद्धि[87] है। यहाँ साध्यानधिकरण, 'अनधिकरणत्वम्' का नियत व्याप्य है अर्थात् 'साध्यानधिकरण अवृत्तिता का व्याप्य है। तथा 'साध्य-अनधिकरणावृत्तित्व' व्यापक होगा। यह केवलान्वयी साध्यक स्थलों में अप्रसिद्ध है, क्योंकि, साध्यानधिकरणत्व का अर्थ है 'साध्यानधिकरणत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद।' यह भेद केवलान्वयी साध्यक स्थलों में अप्रसिद्ध है, क्योंकि सभी पदार्थ केवलान्वयी साध्य के अनधिकरण नहीं होते इसलिये अनधिकरणता सिद्ध नहीं की जा सकती। इस दोष के निराकरण के लिये यह कहा जा सकता है कि उक्त कथित अर्थ स्वीकार न करते हुए उसका भिन्न प्रकार से भी अर्थ लगाया जा सकता है। अर्थात् 'अधिकरणत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद' की अपेक्षा 'अधिकरण प्रतियोगिताक भेद' ही लिया जा सकता है। परन्तु ऐसा अर्थ करने से भी दोषों से सर्वथा मुक्ति नहीं मिल पाती, कारण इस प्रकार अर्थ लगानें पर यत्किञ्चित् साध्यक स्थल में अव्याप्ति होगी। जैसे, 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थल में यत्किञ्चित् पर्वतीय वह्नि रूप साध्य के अनधिकरण (अधिकरण पर्वत से भिन्न अधिकरण) पाकशाला, चत्वर आदि भी होंगे, जिनमें धूम की वृत्तिता ही पायी जाती है, अवृत्तिता नहीं। इसलिये ऐसा अर्थ भी नहीं लगाया जा सकता। शंकर मिश्र ने भी लिखा है कि साध्य के वैयधिकरण्य की अनधिकरणता को व्याप्ति नहीं माना जा सकता जैसे, 'वह्निमान् धूमात्' यहाँ मीन, शैवाल आदि में रहने वाले साध्य वह्नि के वैयधिकरण का अनधिकरण धूम है, परन्तु यह व्याप्ति उचित नहीं क्योंकि 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस केवलान्वयी स्थल में साध्य वाच्यत्व का वैयधिकरण ही अप्रसिद्ध है।[88]

व्याधिकरण व्याप्ति

आचार्य सौन्दड़ के अनुसार प्रतियोगिता के अधिकरण में न रहने वाला धर्म (अर्थात् व्यधिकरण धर्म) भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो सकता है, क्योंकि, 'घटत्वेन घटोनास्ति'—'घटत्व रूप से घट नहीं है, इत्यादि प्रतीतियों की तरह 'पटत्वेन घटोनास्ति'—पटत्व रूप से घट नहीं है, इत्याकारक प्रतीतियाँ भी होती है। उनके इसी मत के अनुसार ही व्याप्ति के अनेक लक्षण किये गये हैं। इन सभी मतों का उल्लेख चिन्तामणि के 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव प्रकरण' की अपनी दीधिति टीका में श्री रघुनाथ शिरोमणि ने किया है। इस मत को मानने वालों की दृष्टि है कि पूर्वोक्त 'व्याप्ति पञ्चक प्रकरण' में व्याप्ति के जिन लक्षणों का उल्लेख किया गया है, उन सभी लक्षणों में केवलान्वयी स्थलों में अव्याप्ति रूप जो दोषोद्भावन किया गया है, उसका मूल है, वाच्यत्व आदि केवलान्वयी साध्यों के अभाव की अप्रसिद्धि। अर्थात् प्रकृत स्थल में साध्य

वाच्यत्व है, उसका अभाव कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि वाच्यत्व वाले (साध्य वाले) ही जगत् के समस्त पदार्थ होंगे, तब साध्यवद् अन्य (साध्य वाले पदार्थों से अतिरिक्त) पदार्थों की प्रसिद्धि होगी ही नहीं। इस अव्याप्ति दोष को 'व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव' मानकर हटाया जा सकता है। चिन्तामणिकार ने कहा है कि 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस स्थल में 'वाच्यत्वेन वाच्यत्वाभाव' की प्रसिद्धि न होने पर भी 'समवायित्वेन-वाच्यत्वाभाव' घट आदि में प्रसिद्ध हो जायगा, क्योंकि व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव' सर्वत्र रहेगा।[८९]

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) अभाव सकल प्रदेशों में कैसे रहेगा? (अर्थात् नहीं रहेगा) क्योंकि प्रतियोगी के साथ अत्यन्ताभाव का विरोध हुआ करता है उदाहरणार्थ जहाँ वाच्यत्व रहेगा, वहाँ वाच्यत्वा-भाव नहीं रह सकता। परन्तु यह आशंका उपयुक्त नहीं है। क्योंकि, प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त जो प्रतियोगी होता है उसके साथ ही अत्यन्ताभाव का विरोध हुआ करता है। केवल प्रतियोगी के साथ अत्यन्ताभाव का विरोध नहीं होता। जैसे, घटत्वावच्छिन्न (घटत्वयुक्त) घट जहाँ होगा वहाँ शुद्ध घटाभाव कदापि प्रसक्त नहीं होगा, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक 'घटत्व' से युक्त घट के साथ, उसके अत्यन्ताभाव का विरोध माना गया है। परन्तु इसी स्थल में 'पटत्वेन घटाभाव'—'पटत्व रूप से घट का अभाव' ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं है। ठीक इसी प्रकार वाच्यत्वत्व से युक्त वाच्यत्व जहाँ है, वहाँ वाच्यत्वत्वेन (वाच्यत्वत्व धर्म से युक्त) वाच्यत्वात्यन्ताभाव भले ही न रहे, किन्तु जैसे उक्त स्थल में पटत्वेन घट कहीं भी विद्यमान नहीं है, इसलिये उसका अभाव सर्वत्र स्वीकार किया जा सकता है, वैसे ही समवायित्वेन वाच्यत्व कहीं भी उपलब्ध नहीं होगा, अतः व्यधिकरण धर्म होने के नाते वाच्यत्वाभाव सर्वत्र रहने में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार जहाँ प्रतियोगी विद्यमान रहता है, वहाँ भी उसका अत्यन्ताभाव रहने में कोई प्रतिबन्धक उपस्थित नहीं होता।

'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' आदि व्याप्ति लक्षणों में साध्याभाव पद से यदि साध्य का 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव' गृहीत किया जाय, तो सभी सद्हेतुओं में अव्याप्ति हो जायगी फलतः यह लक्षण असंभूत हो जायगा, क्योंकि 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में साध्याभाव पद से 'घटत्वेन वह्न्यभाव' को भी लिया जा सकता है। घटत्वेन वह्नि की सत्ता कहीं भी नहीं है, अतः घटत्वेन वह्न्यभाव का अस्तित्व सर्वत्र उपलब्ध हो सकता है।' इस प्रकार हेतु के अधिकरण पर्वत आदि में भी जहाँ साध्याभाव की सत्ता रहती है, वहाँ हेतु भी विद्यमान रह सकता है। इसलिये 'व्यधिकरणधर्मा-वच्छिन्नाभाव' मत को मानने वाले इन आचार्यों का कथन है कि इस प्रकरण में व्यभिचार तो 'साध्याभाववद्वृत्तित्व' रूप से ही इष्ट है, किन्तु व्याप्ति शब्द का 'साध्याभाववद् अवृत्तित्व' रूप यौगिक अर्थ नहीं है, वरन् पारिभाषिक है। इसलिये इन व्याप्तियों को पारिभाषिक व्याप्तियों के नाम से भी पुकारा जाता है। जैसा कि दीधितिकार ने कहा है, 'ननु पारिभाषिकमेवाव्यभिचरितत्त्वम्।'[९०]

दीधितिकार ने प्रथम दो लक्षण आचार्य सौन्दड़ के अनुसार प्रतिपादित किये हैं शेष बारह लक्षणों में इन्हीं का परिष्कार झलकता है। इनमें से, चक्रवर्ती, प्रगल्भ मिश्र, पक्षधर मिश्र, एवं सार्वभौम के नाम से तीन-तीन लक्षण उल्लिखित किये गये हैं।

आचार्य सौन्दड का प्रथम लक्षण इस प्रकार है—

> यत्समानाधिकरणाः साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदक
> प्रतियोगिताका यावन्तोऽभावाः प्रतियोगिसमानाधिकरणास्तत्त्वम्[११]

इस लक्षण का मूल रूप 'यत्समानाधिकरणाभावाः प्रतियोगिसमानाधिकरणा तत्त्वं व्याप्तिः' इतना ही है। यत्समानाधिकरण अभाव में 'साध्य-व्यापकतावच्छेदक-प्रतियोगिताकत्व' और 'यावत्' ये दो विशेषण और हैं। इस प्रकार (१) यत्समानाधिकरण (२) साध्यव्यापकतावच्छेदकप्रतियोगिताकत्व और (३) यावत् इन तीन विशेषणों से युक्त अभाव में 'प्रतियोगिसामानाधिकरण्य' का यहाँ विधान किया गया है। इसमें यत्' पद से हेतु विवक्षित है, अतः अंतिम 'तत्त्वम्' पद से बोध्य जो तत्त्व है वह भी हेतु में ही रहेगा। लक्षण का अर्थ होगा 'हेतु के समान अधिकरण में रहने वाले अभाव को' 'साध्यव्यापकततावच्छेदक-प्रतियोगिताक' और 'यावत्' अन्तर्गत होना चाहिये।'

'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि सद्हेतु स्थल में इसका समन्वय इस प्रकार से होगा—सद्हेतुओं में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकसाध्याभाव' को ही लेना अभीष्ट है। तदनुसार प्रकृत स्थल में 'घटत्वेन वह्न्यभाव' को लेकर ही लक्षण समन्वय होगा। 'घटत्वेन वह्न्यभाव', हेतु समानाधिकरण इसलिये है कि वह केवलान्वयी है एवं वह साध्य-व्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिताक भी है, क्योंकि साध्य है वह्नि, तदधिकरण होंगे पर्वत आदि, उनमें रहने वाला अभाव 'घटत्वावच्छिन्न वह्निनिष्ठ प्रतियोगितावान् नास्ति' यह अभाव नहीं रहेगा, क्योंकि 'घटत्वावच्छिन्न वह्नि निष्ठ प्रतियोगिता' वह्नि में है। इसलिये तादृश प्रतियोगितावत् का अभाव कभी भी वह्न्यधिकरण में नहीं रहेगा, क्योंकि वह 'वह्निर्नास्ति' इस अभाव के समान है। अतः अभाव शब्द से 'घटत्वावच्छिन्न घट निष्ठ प्रतियोगितावान् नास्ति' यही अभाव लेना होगा, जिससे प्रतियोगितावच्छेदकता घट निष्ठ प्रतियोगिता में जायगी और वह्नि निष्ठ प्रतियोगिता अनवच्छेदक होगी। इस प्रकार 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' यह अभाव साध्यव्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिताक भी है और 'केवलान्वयी होने से, उसमें 'प्रतियोगिसामानाधिकरण्य' विद्यमान ही है। सारांशतः धूमाधिकरण (धूम समानाधिकरण) जो पर्वत आदि हैं, उनमें वह्नि रूप साध्यव्यापकतावच्छेदक प्रतियोगितावाला जो अभाव है, वह 'घटत्वेन वह्न्यभाव' ही होगा। घटत्व रूप से वह्नि की सत्ता कहीं भी विद्यमान नहीं है अतः उसका अभाव सर्वत्र उपलब्ध होगा। इसलिये यहाँ वह्नि रूप प्रतियोगी के अधिकरण पर्वत आदि में वह्न्यभाव रहेगा, क्योंकि यह अभाव केवलान्वयी है। 'तत्त्व धूम में जायगा' इसलिये कोई दोष नहीं है।

'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस केवलान्वयी स्थल में 'ज्ञेयत्व' हेतु है, तदधिकरण होंगे घट आदि, उनमें रहने वाले वाच्यत्व रूप साध्य की व्यापकतावच्छेदक जो प्रतियोगिता है, उसका अभाव 'समवायित्वेन वाच्यत्वाभाव' रूप से मिलेगा। यह अभाव वाच्यत्वात्मक स्वप्रतियोगी अधिकरण में रहेगा। क्योंकि समवायित्वेन वाच्यत्व कहीं भी नहीं रहता अर्थात् उसका अभाव सर्वत्र प्रसक्त होगा। अतः कोई दोष नहीं।

'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि असद्हेतु स्थान में 'धूमवत्त्वेन धूमोनास्ति' धूम का यह सामान्याभाव भी यत्समानाधिकरण एवं साध्यव्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिताक है। इसमें धूम रूप प्रतियोगी का सामानाधिकरण्य नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी

क्योंकि, वह्न्यात्मक हेतु के अधिकरण होंगे, अयोगोलक आदि उनमें वर्तमान यावत् अभाव के अन्तर्गत 'धूम व्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिताक धूम सामान्याभाव' भी आ जायगा। धूम सामान्याभाव स्वप्रतियोगिअधिकरण पर्वत आदि में नहीं रहेगा। अतः पर्वतादि में न रहने के कारण कोई दोष (अतिव्याप्ति) नहीं होगा। यहाँ यावत् अभाव स्वप्रतियोगि अधिकरण में वृत्ति होना ही इष्ट है, और धूम सामान्याभाव स्वप्रतियोगि अधिकरण में वृत्ति नहीं है।

यहाँ पर 'व्यधिकरण किसको कहते हैं'—इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। जिस व्यक्ति में जो धर्म नहीं रहता, उसको व्यधिकरण धर्म कहते हैं, जैसे, घट व्यक्ति में घटत्व-धर्म तो रहता है परन्तु पटत्व धर्म नहीं, अतः घट रूप व्यक्ति में पटत्व न रहने के कारण उसका वह व्यधिकरण धर्म होगा। जिस सम्बन्ध से जिस व्यक्ति में जो धर्म रहता है, उसी व्यक्ति में उस सम्बन्ध से जो धर्म नहीं रहता, उस धर्म को उस व्यक्ति का व्यधिकरण धर्म कहते हैं। इसीलिए प्रकृत स्थल में भी प्रतियोगिता में न रहने वाले धर्म के अभाव को ही 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव' रूप में व्यक्त किया गया है। यहाँ अभाव के निरूपक व्यधिकरण धर्म को सिद्ध किया गया है।

'व्यधिकरण प्रकरण' में व्याप्ति के जितने भी लक्षण दिये गये हैं, उनका सद्हेतुओं में, 'व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव' को लेकर ही समन्वय करना चाहिये। दूसरे अभावों को लेकर यदि लक्षण समन्वय हो भी जाता है, तो वह प्रकृत में इष्ट नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण में 'प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदक'—अर्थात् प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म कभी प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो ही नहीं सकता—इस संदर्भ के द्वारा चिन्तामणिकार का खण्डन असंगत हो जायगा।

प्रकृत प्रथम लक्षण में 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में 'वह्नि धूम उभयत्वेन वह्निर्नास्ति'—'वह्नि धूम उपयत्व रूप से वह्नि नहीं है', इस प्रकार के विशेष रूप से सामान्याभाव के द्वारा लक्षण समन्वय हो जायगा। यह अभाव उभयाभाव होने के कारण प्रतियोगिसमानाधिकरण भी है और वह्नि-धूम इन दोनों में रहने वाली प्रतियोगिता, साध्यव्यापकता की अवच्छेदिका भी है, क्योंकि साध्य के अधिकरण पर्वत आदि में, इस अभाव की प्रतियोगिता, तदाश्रयीभूत जो वह्नि-धूम हैं, उन दोनों में से किसी में भी नहीं है। इस प्रकार 'वह्नि धूम उभयत्वेन वह्निर्नास्ति' इस अभावीय प्रतियोगितावत् का अभाव साध्याधिकरण में नहीं लिया जा सकता। अतः यह प्रतियोगिता, साध्य व्यापकता की अवच्छेदिका भी है। इसलिये व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव के बिना ही प्रथम लक्षण का समन्वय हो जाता है। 'जगदीश ने इसी बात को व्यक्त करते हुए कहा है कि व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव के बिना भी 'गगनवाच्यत्व' उभयाभाव एवं गगनत्वादिविशिष्ट वाच्यत्वाभाव को लेकर सभी स्थलों में समन्वय हो जायगा। 'वह्निमान् धूमात्' में लक्षण समन्वय इस प्रकार होगा—गगन की सर्वत्र अवृत्तिता होने के कारण गगनवाच्यत्व उभयाभाव केवलान्वयी है तथा हेतु समानाधिकरण 'यावत् अभाव' के अन्तर्गत यह अभाव भी समाविष्ट है और वह अभाव पर्वतादि अवच्छेदेन प्रतियोगी वाच्यत्व के साथ सामानाधिकरण्य भी है। लक्षण के इस प्रकार से समन्वय हो जाने के कारण, चिन्तामणिकार, के, 'प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो०' इत्यादि ग्रन्थ की असंगति हो जायगी।[९२]

संभवतः इसी असंगति दोष का निवारण करने के लिये दीधितिकार ने आचार्य सौन्दड के द्वितीय लक्षण का अनुसरण किया है, जो इस प्रकार है---

यत्समानाधिकरणानां साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां यावदभावानां प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं तत्त्वं वा तत्[९३]।

इस लक्षण में 'साध्यतावच्छेदक' रूप से 'अन्य' का अभाव लक्षण सम्बन्ध का प्रयोजक है। 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'---घटत्व रूप से वह्नि नहीं है। यह अभाव ही लक्षण समन्वय का प्रयोजक है। यह अभाव केवलान्वयी है, अतः हेतु समानाधिकरण एवं प्रतियोगिसमानाधिकरण दोनों ही है। एवं इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक 'वह्नित्व' साध्य व्यापकता का अवच्छेदक भी है। अतः इस अभाव की प्रतियोगिता साध्यव्यापकतावच्छेदक रूप से अवच्छिन्न भी है। निष्कृष्ट लक्षण यह होगा---(यत्समानाधिकरण) हेतु समानाधिकरण अर्थात् हेतु के अधिकरण में साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न की व्यापकतावच्छेदक रूप से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता है, तादृश प्रतियोगिता निरूपक यावत् अभावों का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म से युक्त सामानाधिकरण्य रहना चाहिये। 'वह्निमान् धूमात्' में इसका समन्वय इस प्रकार होगा---यत्समानाधिकरण अर्थात् हेत्वधिकरण हैं पर्वत आदि, उनमें साध्यतावच्छेदक होगा 'वह्नित्व', तदवच्छिन्न 'वह्नि' होगी। उसके व्यापकतावच्छेदक रूप वह्नित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव 'वह्नित्वेन घटाभाव' ही होगा और वह प्रतियोगिता अवच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न जो वह्नि है उसके समानाधिकरण (उसके अधिकरण में) में है। 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि स्थल में 'धूमत्वेन धूमोनास्ति' यह धूम सामान्याभाव, हेतु समानाधिकरण (अयोगोलक आदि) निष्ठ सभी अभावों के अन्तर्गत है। और इसका प्रतियोगितावच्छेदक 'धूमत्व' साध्यव्यापकता का अवच्छेदक भी है, किन्तु यह अभाव अपने प्रतियोगी धूम के अधिकरण में नहीं है। अतः प्रतियोगी समानाधिकरण न रहने के कारण अतिव्याप्ति की संभावना नहीं है।

इस द्वितीय लक्षण द्वारा प्रथम लक्षण में 'वह्नि धूम उभयत्वेन वह्निर्नास्ति' इस अभाव को लेकर, लक्षण समन्वय में जो ग्रन्थ असंगति संभावित थी, उसका भी निवारण हो जाता है क्योंकि, 'वह्नि धूम उभयत्व' वह्नि का व्यापकता-अवच्छेदक, नहीं है। अतः यह अभाव हेतु समानाधिकरण 'होते हुए भी' साध्यव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्न-प्रतियोगिताक नहीं है अर्थात् इस अभाव की प्रतियोगिता 'साध्यव्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न' नहीं है।

'व्याप्ति पञ्चक' में जिस 'अव्यभिचरितत्व' रूप व्याप्ति का प्रथमतः उपन्यास किया गया है, उसी व्याप्ति की परम्परा में यह व्यधिकरण प्रकरण भी है, जो 'ननु पारिभाषिक मेवा व्यभिचरितत्वम्' इस दीधिति वाक्य द्वारा प्रकट हुआ है। इस वाक्य के 'एव' शब्द से यह अभिप्राय निकलता है कि 'साध्याभाववद् वृत्तित्व' रूप व्यभिचार का लक्षण ज्यों का त्यों बना रहे (अर्थात् इसमें कोई परिवर्तन नहीं होने पाये) और व्याप्ति शब्द ही यौगिक अर्थ त्यागकर पारिभाषिक अर्थ के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। जिससे 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इत्यादि केवलान्वयी स्थलों में साध्याभाव की अप्रसिद्धि के कारण अव्याप्ति दोष नहीं आने पाये। व्यभिचार अगर 'साध्याभाववद् वृत्तित्व' रूप ही रहे और पारिभाषिक ऐसी व्याप्ति की कल्पना की जाय जिसका व्यभिचार ज्ञान से

प्रतिरोध न होने पाये, वह व्याप्ति ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं हो सकता। इस तथ्य को न्याय के सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है, । प्रकृत में व्यभिचार यदि 'साध्याभाववद् वृत्तित्व' रूप ही रहे और व्याप्ति एतद्रूप (उपर्युक्त दोनों लक्षणों के अनुरूप) ही रहे तो फिर यह (दोनों) व्याप्ति ज्ञान उक्त व्यभिचार ज्ञान के अप्रतिबध्य होने के कारण अनुमिति के लिये अनुपयोगी ही हो जायेंगे। इसी दृष्टिकोण को अपनाते हुए रघुनाथ शिरोमणि ने चक्रवर्ती मतानुसार अन्य तीन लक्षणों का उल्लेख किया है, जिनमें लक्षण समन्वय तो 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव प्रतियोगिताक अभाव' लेकर ही हो, ताकि 'प्रतियोग्यवृतिश्च धर्मो०' इत्यादि 'चिन्तामणि' के खण्डन ग्रन्थ से असंगति न होने पाये। किन्तु व्याप्ति के इन लक्षणों को उलट देने से व्यभिचार लक्षण हो जाये जिससे, व्याप्ति को व्यभिचार ज्ञान की आवश्यक प्रतिबध्यता बनी रहे।

चक्रवर्ती के प्रथम लक्षण का प्रतिपादन करते हुए दीधितिकार ने लिखा है—

> व्याप्यवृत्तेर्हेतुसमानाधिकरणस्य साध्याभावस्य प्रतियोगिताया अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकंतदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः[१४]।

"व्याप्यवृत्ति हेतु के समान अधिकरण में रहनेवाली साध्याभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक (अवच्छेदक से भिन्न) जो साध्यतावच्छेदक है, उससे अवच्छिन्न (उससे युक्त) सामानाधिकरण्य हेतु में होना ही व्याप्ति है"। 'वह्निमान् धूमात्' में इसका समन्वय इस प्रकार से होगा—हेतु से धूम, उसके अधिकरण होंगे पर्वत आदि तद्वृत्ति अभाव करके 'वह्नित्वेन वह्निर्नास्ति' यह वह्नि का सामान्याभाव नहीं लिया जा सकता, इसलिये 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' यह अभाव ही लेना होगा। यह अभाव हेतु के समान अधिकरण में व्याप्यवृत्ति है अर्थात् समानाधिकरण का व्याप्य है। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक 'घटत्व' होगा और अनवच्छेदक 'वह्नित्व तदवच्छिन्न सामानाधिकरण्य धूम में विद्यमान है—'धूमवान् वन्हेः' में हेतु समानाधिकरण व्याप्यवृत्ति अभाव 'धूमाभाव' है, उसका प्रतियोगितावच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक 'धूमत्व' हो जायगा। इसलिये कोई दोष नहीं होगा।

इस लक्षण में 'व्याप्यवृत्ति' पद यदि नहीं दिया जाय, तो 'कपिसंयोगी एतदवृक्षत्वात्' अव्याप्यवृत्तिसाध्यक स्थलों में अव्याप्ति होने के कारण, लक्षण समन्वय नहीं हो सकेगा। कपिसंयोगाभाव अव्याप्यवृत्ति होने के कारण हेतु समानाधिकरण होगा। 'कपि-संयोगत्व' रूप साध्यतावच्छेदक हेतु समानाधिकरण इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक ही होगा, अनवच्छेदक नहीं। अतः लक्षण में व्याप्यवृत्ति पद दिया गया है। कपिसंयोग सामान्याभाव अव्याप्यवृत्ति है, अतः हेतु समानाधिकरण होने पर भी इसे नहीं दिया जा सकता। इसलिये, हेतु समानाधिकरण अभाव पद से 'घटत्वेन कपिसंयोगोनास्ति' यही अभाव लेना अभीष्ट होगा। यह अभाव केवलान्वयी होने के नाते व्याप्तवृत्ति भी है। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व होगा और साध्यतावच्छेदकभूत 'कपि-संयोगत्व' उस प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जायगा। इसलिये कोई दोष नहीं होगा।

इस लक्षण में जो 'अनवच्छेदक' शब्द प्रयुक्त किया गया है उसमें जो न पद है उसको यदि निकाल दिया जाय तो व्यभिचार का लक्षण बन जायगा अर्थात् "व्याप्यवृत्तिः हेतु समानाधिकरण अभाव प्रतियोगितावच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्यभिचारः", व्यभिचार का यह लक्षण 'धूमवान् वन्हेः' इत्यादि स्थल के व्यभिचारी हेतु में संघटित हो जाता है। जैसे, हेतु है वह्नि, तदधिकरण होगा अयोगोलक, तद्वृत्ति

जो अभाव 'धूमत्वेन धूम सामान्याभाव, इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक' धूमत्व है, जो साध्यतावच्छेदक भी है, तदवच्छिन्न सामानाधिकरण्य धूम में है। इस प्रकार इस लक्षण में व्याभिचार शब्द को योगिक और अव्यभिचार शब्द को पारिभाषिक मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

परन्तु यह लक्षण दोष शून्य नहीं कहा जा सकता। समनियत अभाव एक हुआ करते हैं। जिस प्रकार 'घटत्वेन वह्न्यभाव' हेत्वधिकरण में व्याप्यवृत्ति लिया जाता है, उसी प्रकार 'वह्नित्वेन घटाभाव' भी लिया जा सकता है। यह दोनों अभाव समनियत होने के कारण एक हो जायेंगे अर्थात् 'घटत्वेन वह्न्यभाव' और 'वह्नित्वेन घटाभाव' इन दोनों का 'वह्नित्वेन घटाभाव' स्वरूप स्वीकार करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। इसलिये एतादृश अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्व ही हो जायगा अतः अव्याप्ति होगी। इसलिये इस दोष के निराकरण के लिये उन्होंने द्वितीय लक्षण का आश्रयण लिया है।

> हेतुसमानाधिकरण्यस्य व्याप्यवृत्तेरभावस्य प्रतियोगितायाः
> सामानाधिकरण्येनाऽनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं
> तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः[९५]।

'हेतुसमानाधिकरण व्याप्यवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का सामानाधिकरण्येन (समानाधिकरण्य रूप से) जो अनवच्छेदक होगा उससे अवच्छिन्न ही सामानाधिकरण्य व्याप्ति होगी 'ऐसा लक्षण करने से, उपर्युक्त समनियत अभाव की एकता को लेकर, जो दोष आ रहा था, उसका प्रतिवारण हो सकता है। समनियत अभाव एक होने पर भी वह्नित्व आदि रूप साध्यतावच्छेदक सामान्याधिकरण्य रूप से प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जायगा। अतः लक्षण में 'सामानाधिकरण्येन' पद का निवेश कर देने पर कोई दोष नहीं होगा।

यह लक्षण भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'प्रतियोगि' अंश में प्रकारीभूत धर्म से विशिष्ट जो प्रतियोगितावच्छेदक में अवच्छिन्न होता है, उसके साथ अभाव का विरोध हुआ करता है। जैसे, जहाँ घट की सत्ता है, वहाँ 'घटोनास्ति' यह प्रतीति नहीं हुआ करती, क्योंकि उसका प्रतियोगी 'घट' तथा उसका प्रकारीभूत धर्म 'घटत्व' होगा, उससे विशिष्ट घट प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न हो जायगा, इसलिये वहाँ घटाभाव की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार अभाव का प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न के साथ यदि विरोध माना जाय, तो सामान्य रूप से विशेषाभाव का लोप ही हो जायगा, परन्तु यह प्रतीति होती अवश्य है अर्थात् सामान्य रूप से विशेषाभाव माना जाता है। इस प्रकार उक्त लक्षण मानने से हेतु अधिकरण में 'वह्नित्वेन महानसीय वह्न्यभाव' लेकर प्रतियोगितावच्छेदक 'वह्नित्व' हो जायगा, अनवच्छेदक नहीं होगा, अतः अव्याप्ति हो जायगी। इसीलिए आचार्य चक्रवर्ती ने इस दोष के निरासनार्थ तृतीय लक्षण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

> हेतुसमानाधिकरणस्य व्याप्यवृत्तेः प्रतियोगिव्यधिकरणस्य वा अभावस्य
> प्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येनाऽनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं
> तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।[९६]

'हेतु के समानाधिकरण व्याप्यवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का, प्रतियोगी व्यधिकरण रूप से, जो अनवच्छेदक होगा, तदवच्छिन्न ही सामान्याधिकरण्य रूप व्याप्ति होगी।' इस लक्षण में प्रतियोगी व्यधिकरण पद का निवेश कर देने से उपर्युक्त अव्याप्ति

दोष का वारण सुगमता से हो जाता है क्योंकि, 'वह्नित्वेन महानसीय वह्न्यभाव' प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं है, इसलिये उसका लक्षण में निवेश नहीं किया जा सकता एवं 'घटत्वेन वह्न्यभाव' को लेकर ही लक्षण समन्वय हो सकता है।

उक्त प्रथम और द्वितीय लक्षणों में केवल 'सामानाधिकरण्येन' एवं 'प्रतियोगिव्यधिकरण्येन' पद विशेष रूप से प्रयुक्त किये गये हैं। अतः लक्षण समन्वय पहले की तरह ही इन पदों को प्रयुक्त करके किया जा सकता है।

प्रगल्भ मिश्र के तीन लक्षणों में से प्रथम का उल्लेख दीधितिकार ने इस प्रकार किया है—

> 'साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकस्वसमानाधिकरण-साध्याभावकत्वम् ।'[९७]

'साध्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न साध्यसामानाधिकरण्य के अवच्छेदक हेतु के समान अधिकरण में जो साध्याभावत्व है तद्वत्त्व ही व्याप्ति है।' इस लक्षण के मूल में यह दृष्टि है कि 'यत्' पद से अभिप्रेत 'हेतु' के अधिकरण में विद्यमान रहनेवाला जो अभाव है, उसे साध्य के अधिकरण में भी रहना चाहिये। यहाँ 'स्व' पद हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेतुपरक और 'अवच्छेदकत्व' अनतिरिक्त-वृत्तित्व रूप से अभीप्सित है। इस प्रकार दीधितिकार के लक्षण को गदाधर भट्टाचार्य के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—'साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्यसामानाधिकरण्य का अनतिरिक्त वृत्ति हेतुतावच्छेदक धर्म से युक्त हेतु के समानाधिकरण में जो साध्याभावत्व है तद्-धर्मवत्त्व ही व्याप्ति है।[९८] जगदीश ने भी इस लक्षण का तात्पर्य कथन करते हुये लिखा है कि 'यद्धर्म' पद से हेतुतावच्छेदक धर्म अभिप्रेत है। आगे का तद्धर्म पद भी हेतुतावच्छेदक का ही द्योतक है। 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में हेतुतावच्छेदक 'धूमत्व' होगा, तद्धर्मावच्छिन्न समानाधिकरण, जो साध्याभाव होगा वह वह्नि सामान्याभाव ही होगा। घटत्वादि वह्नि निष्ठ प्रतियोगिता के जितने भी घटत्वादि व्यधिकरण धर्म हैं, तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही हेतु समानाधिकरण साध्याभाव होंगे। तादृश साध्यत्वाभावत्वावच्छेदेन अर्थात् उन सभी साध्याभावों में साध्य का समानाधिकरण अवश्य रहेगा, क्योंकि वह केवलान्वयी है। इस प्रकार का तद्धर्म धूमत्व है और यह तद्धर्मता धूम में होना ही व्याप्ति है।[९९] गदाधर के उक्त लक्षण में जगदीश का ही समर्थन प्रतीत होता है। 'वह्निमान् धूमात्' में लक्षण समन्वय इस प्रकार से होगा—धूमत्वावच्छिन्न हेतुसमानाधिकरण जो पर्वत आदि हैं उसमें जो 'घटत्वेन वह्न्यभावत्व है, वह वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि के अधिकरण पर्वत आदि से निरूपित वृत्तिता का अनतिरिक्त-वृत्ति है, तदवत्त्व धूम में प्रविष्ट होगा। इस 'घटत्वेन वह्न्यभाव' में हेतु समानाधिकरण और साध्य समानाधिकरण दोनों विद्यमान होने से लक्षण समन्वय में कोई दोष नहीं आ पायगा। 'धूमवान् वन्हेः' में भी अतिव्याप्ति की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि हेतुभूत वह्न्यधिकरण अयोगोलक में (वृत्ति) रहने वाला धूम का सामान्याभाव भी होगा वह धूमाधिकरण (साध्याधिकरण) में कदापि नहीं रहेगा। इसलिये कोई दोष नहीं होगा। अभिप्राय यह है कि वह्नित्वावच्छिन्न अर्थात् हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न के अधिकरणीभूत अयोगोलक में वृत्ति जो धूमाभावत्व है, वह धूमत्वावच्छिन्न धूम के अधिकरण पर्वत आदि से निरूपित वृत्तिता से अतिरिक्त वृत्ति है। इसलिये अतिव्याप्ति की कोई आशंका नहीं है।

इस लक्षण में 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न' पद का निवेश कर देने से 'विशिष्ट सत्तावान् जातेः' इस स्थल में भी अतिव्याप्ति का वारण सहज ही हो जाता है। अन्यथा जाति समानाधिकरण विशिष्ट सत्ताभाव का जो गुणात्मक अधिकरण है, उसमें विशिष्ट सत्ता, शुद्ध सत्ता से अतिरिक्त नहीं मानी जा सकती, क्योंकि नियम है—'विशिष्टं शुद्धात् नातिरिच्यते'—'विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता'। इस नियम के अनुसार सत्ता रूप साध्यसामानाधिकरण्य रह जायगा और विशिष्टसत्ताभाववत्त्व में सत्तात्मक साध्य के समानाधिकरण से निरूपित अनतिरिक्त वृत्तिता आ जायगी अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। इसलिये ही 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न' पद का निवेश किया गया है। इससे 'विशिष्ट सत्ताभाव' गुणादिक में ही रहेगा और वहाँ विशिष्ट सत्तात्वावच्छिन्न अधिकरण नहीं है अर्थात् सामानाधिकरण्य नहीं है। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं होगी।

परन्तु ऐसा निवेश करने पर भी यह लक्षण सर्वथा दोष रहित नहीं कहा जा सकता। सामानाधिकरण्य को यदि अव्याप्यवृत्ति माना जाय तो 'कपिसंयोगी एत˘वृक्ष-त्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि कपिसंयोगाभाव में साध्यसामानाधि-करण्याभाव भी रह जायगा, इसलिये 'कपिसंयोगी सामानाधिकरण्य' में 'कपिसंयोगा-भावत्व' की व्यापकता आ जायगी। अतः अव्याप्ति दोष से यह लक्षण आक्रान्त हो जायगा। इसी अव्याप्ति दोष से मुक्ति पाने के लिये द्वितीय लक्षण का अवलम्बन लिया गया है, जो इस प्रकार है—

> 'यत्समानाधिकरणसाध्याभावप्रमायां साध्यवत्ताज्ञानप्रतिबन्धकत्वं नास्ति तत्त्वं व्याप्तिरिति।[१००]

'हेतु के समान अधिकरण में रहनेवाली जो साध्याभावीय प्रमा साध्यवत्ता ज्ञान की प्रतिबन्धक नहीं होती तादृश हेतुमत्त्व ही व्याप्ति है'। 'वह्निमान् धूमात्' में इसका लक्षण समन्वय इस प्रकार होगा—हेतु है धूम, तद्वत् होगा पर्वत, तन्निष्ट अर्थात् उसमें रहने वाला जो साध्याभाव है, वह वह्नित्वेन वह्नि का सामान्याभाव नहीं हो सकता, किन्तु वह्नि का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही होगा। उसकी प्रमा—'धूमवान् घटत्वेन वह्न्यभाववान्' अर्थात् 'धूम का अधिकरण घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव से युक्त है' इत्याकारक यथार्थज्ञान, साध्यवता ज्ञान का अर्थात् 'पर्वतोवह्निमान्' इस ज्ञान का विरोधी नहीं है। इस प्रकार 'तत्' पद से हेतु धूम ही अभिप्रेत है उसका असाधारण धर्म धूमत्व धूम में है। इसलिये लक्षण समन्वय में कोई दोष नहीं आ पायगा। सारांश यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को गृहीत करने पर, 'पर्वतोवह्नित्वेन घटाभाववान्' इत्याकारक प्रमात्मक ज्ञान, 'पर्वतोवह्निमान्' रूप साध्यवता ज्ञान में प्रतिबन्धक नहीं होता। 'पर्वतोवह्निमान' यह ज्ञान 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इत्याकारक ज्ञान से ही प्रतिबध्य होगा' पर्वतोवह्नित्वेन घटा-भाववान्' इत्याकारक प्रमा ज्ञान से नहीं।' तादृश हेतुमत्त्व धूम में होने से लक्षण समन्वय हो जायगा। 'धूमवान् वह्नेः' में 'अयोगोलक धूमाभाववत्' इत्याकारक प्रमा ज्ञान, 'अयोगोलक धूमवत्' इस साध्यवत्ता ज्ञान में प्रतिबन्धक हो जाने से अप्रतिबन्धकता नहीं आ पाती इसलिये कोई दोष नहीं होता। किन्तु इस व्यभिचारी स्थल में अतिव्याप्ति हो सकती है, कारण यहाँ हेतु पद से वह्नि को लिया गया है उसके अधिकरण अयोगोलक आदि भी होंगे। उसमें रहने वाले साध्य के दोनों ही अभाव होंगे, अर्थात् 'वह्नित्वेन वह्न्यभाव' रूप साध्यसामान्याभाव और 'घटत्वेन वह्न्यभाव' रूप व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न

प्रतियोगिताक अभाव दोनों ही साध्याभाव उसमें रहेंगे । 'यद्वृत्ति साध्याभाव' प्रमा शब्द से, सामान्याभाव 'धूमत्वेन धूमाभाव' प्रमा की तरह ही 'घटत्वेन धूमाभाव' की प्रमा भी ली जा सकती है । इस प्रमा में साध्यवत्ताज्ञान की प्रतिबन्धकता नहीं है । इस प्रकार सभी व्यभिचारी हेतु स्थलों में लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा । सारांश यह है कि 'अयोगोलक धूमवत्वेन घटाभाववत् है' इत्याकारक प्रमा ज्ञान में 'अयोगोलक धूम वाला है' यह जो साध्यवत्ता ज्ञान है, उसकी प्रतिबन्धकता 'धूमवत्वेन अयोगोलक घटाभाव वाला है' इसमें नहीं आयगी । तत्त्व वह्नि में निविष्ट हो जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी ।

इस अतिव्याप्ति दोष का वारण करने के लिये जगदीश ने साध्याभावीय प्रमा का अर्थ 'साध्याभावीय प्रमा सामान्य' किया है [१०१] ऐसी साध्याभावीय प्रमा सामान्य में साध्यवता ज्ञान की प्रतिबन्धकता का हेतु में रहना ही व्याप्ति है । ऐसा करने से हेत्वधिकरण निष्ठ साध्याभाव प्रमा सामान्य के अन्तर्गत धूम सामान्याभाव रूपी प्रमा भी मिल जाती है उसमें 'अयोगोलक धूम वाला है' इस ज्ञान की प्रतिबन्धकता ही रहेगी । अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी । तात्पर्य यह है कि यद्वृत्ति साध्याभाव की सभी प्रमाओं में साध्यता ज्ञान की प्रतिबन्धकता का अभाव ही लक्षण का प्रयोजक है । अगर उक्त एक भी प्रमा ज्ञान में प्रतिबन्धकता रह जाती है, तो सभी प्रमा ज्ञानों में प्रतिबन्धकत्वाभाव की सत्ता विघटित हो जाती है । प्रकृत में यद्वृत्ति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रमा में प्रतिबन्धकत्वाभाव के रहते हुए भी यद्वृत्तिसाध्यसमान्याभाव की प्रमा में प्रतिबन्धकता है अर्थात् प्रतिबन्धकता का अभाव नहीं है । अतः अतिव्याप्ति वारित हो जाती है ।

जगदीश के इस परिष्कार को मान लेने पर, 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस अव्याप्यवृत्ति स्थल को लेकर पूर्व में जो अव्याप्ति दोष दिया गया था उसका भी वारण हो जाता है । साध्याभावीय प्रभा का विशेषण ही 'यत्समानाधिकरण' पद है । यद्धर्मावच्छिन्नवत् विशेष्यक साध्याभावीय प्रमा सामान्य में यत्समानाधिकरण का अर्थ है यद्धर्मावच्छिन्न विशेष्यवत् । यद्धर्म पद हेतुतावच्छेदक परक है । 'साध्याभावप्रमा' यह विशेष्य दल है । इसलिये 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि, 'वृक्षः संयोगाभाववान्' यह जो साध्याभाव प्रमा सामान्य है, वह हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नवत् विशेष्यक नहीं है अर्थात् हेतुतावच्छेदक से अवच्छिन्न अधिकरण में वृत्ति नहीं है । इसलिये अव्याप्ति नहीं होगी ।

इन दोनों लक्षणों की समीक्षा करते हुए दीधितिकार ने लिखा है, 'तु न युक्तं सर्वत्र साध्याभावपदवैयर्थ्यात्' [१०२] 'साध्याभाव' पद सभी स्थलों में निष्प्रयोजक होने से उक्त दोनों लक्षण न्यायसंगत नहीं है । प्रथम लक्षण का यदि साध्याभाव को छोड़कर 'साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदक स्वसमानाधिकरणत्वकत्वं' ऐसा ही लक्षण किया जाय तो भी कोई हानि नहीं है । 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में, साध्यसमानाधिकरण का अवच्छेदक हेतु समानाधिकरणत्व होगा, क्योंकि सभी सद्हेतु स्थलों में, जो साध्य समानाधिकरण होगा, वह अवश्य ही हेतु समानाधिकरण भी होगा । व्यभिचारी स्थलों में, साध्यसमानाधिकरण्य का अवच्छेदक हेतु समानाधिकरणत्व नहीं होगा । अतः साध्याभाव पद देने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । इस प्रकार द्वितीय लक्षण में मात्र इतना ही—'यत्समानाधिकरण प्रमासामान्येसाध्यवत्ताज्ञान प्रतिबन्धकत्व नास्ति तत्वं व्याप्ति' लक्षण पर्याप्त है । इसके द्वारा लक्षण का समन्वय हो जायगा

और अतिव्याप्ति का वारण भी। क्योंकि सद्हेतु स्थल में यत्समानाधिकरण प्रमा सामान्य के अन्तर्गत कभी भी, साध्यसमानाधिकरण की प्रमा, हेतु समानाधिकरण नहीं बनेगी। कारण कि सद्हेतु स्थल में साध्यसामान्याभाव का अधिकरण कभी भी हेत्वधिकरण नहीं हो सकता। जो कोई भी होगा, वह चाहे यत्समानाधिकरण घटाभाव की प्रमा हो या 'घटत्वेन वह्न्यभाव' की प्रमा हो, उसमें साध्यवत्ता ज्ञान की प्रतिबन्धकता नहीं जायगी। इस प्रकार बिना साध्याभाव पद के भी लक्षण समन्वय हो सकता है। व्यभिचारी स्थलों में, हेत्वधिकरण जो अयोगोलक आदि हैं, तद्विशेष्यक प्रमा सामान्य के अन्तर्गत अयोगोलक धूमाभाववत्' अर्थात् 'अयोगोलक धूमाभाव वाला है' इस प्रकार की साध्य सामान्याभाव की प्रमा भी होगी। उसमें साध्यवत्ता ज्ञान की प्रतिबन्धकता आजायगी, प्रतिबन्धकता का अभाव नहीं। अतः लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा।

आचार्य प्रगल्भ के अनुसार ही 'यत्तु' संदर्भ से दीधितिकार ने निम्न लक्षण का और भी उल्लेख किया है—

'यत्तु साध्याभाववति यद्वृत्तौ प्रकृतानुमितिविरोधित्वं
नास्ति तत्वं व्याप्ति इति।'

'यन्निष्ठसाध्याभाववद्वृत्तित्व सामान्य में प्रकृत अनुमिति की प्रतिबन्धकता (विरोधिता) का हेतु में न रहना ही व्याप्ति है'। इसका, 'वह्निमान् धूमात्' में समन्वय इस रीति से होगा—'यत्' पद से हेतु धूम अभिप्रेत है। सद्हेतु स्थल में 'साध्यसामान्याभाववद्वृत्तित्व' कभी भी नहीं रहेगा, क्योंकि साध्याभाव के अधिकरण में रहने वाला हेतु कभी सद्हेतु नहीं हो सकता। अतः 'यन्निष्ठसाध्याभाववद्वृत्तित्व' पद से, सद्हेतु स्थल में, व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव से विशिष्ट 'धूमनिष्ठ' घटत्वेन वह्न्यभाववद्वृत्तित्व' को ही लेना पड़ेगा, उसमें अनुमिति की प्रतिबन्धकता नहीं है क्योंकि, हेतु में साध्यसामान्याभाववद्वृत्तिता' ही अनुमिति की विरोधिनी होती है। तात्पर्य यह कि धूमनिष्ठ जो 'वह्नित्वेन घटाभाव' की वृत्तिता है, उसमें 'पर्वतो वह्निमान्' रूप प्रकृतानुमिति की प्रतिबन्धकता नहीं है। तत्त्व, हेतु धूम परक है। 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थलों में वह्निनिष्ठ धूम सामान्याभाव की वृत्तिता में 'अयोगोलक धूमवत्' इस अनुमिति की प्रतिबन्धकता है। अतः कोई अतिव्याप्ति नहीं होगी। अभिप्राय यह है कि व्यभिचारी स्थलीय हेतु में 'साध्याभाववद्वृत्तित्व भी रहता है और इस वृत्तिता में अनुमिति की विरोधिता विद्यमान ही है अतः कोई दोष नहीं होगा।

इस लक्षण में 'यदवृत्तौ' पद से 'वृत्तित्वसामान्य' अर्थ ही विवक्षित है अन्यथा 'धूमवान् वह्नेः' में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि, 'धूमत्वेन घटाभाव' की वृत्तिता में 'अयोगोलकं धूमवत्' इस अनुमिति की विरोधिता नहीं आ पायेगी, अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। इसलिये वृत्तित्व सामान्य अर्थ ही प्रयोजक है। वृत्तित्व सामान्य के अन्तर्गत वह्नि निष्ठ धूम सामान्याभाव-वृत्तिता का भी ग्रहण हो जायगा। उसके अन्दर जो धूम साध्यक अनुमिति है उसकी प्रतिबन्धकता है, इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होगी।

परन्तु दीधितिकार ने इस मत को असमीचीन बतलाते हुए कहा है कि उक्त लक्षण के अनुसार अनुमिति अविरोधी ज्ञान ही अनुमिति का कारण और व्यभिचार ज्ञान अनुमिति का विरोधी माना जाता है। परन्तु व्यभिचार ज्ञान अनुमिति में साक्षात् प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि वह व्याप्ति ज्ञान का ही विरोधी है और इस प्रकार व्याप्ति

ज्ञान को प्रतिबद्ध करता हुआ वह अनुमिति का भी प्रतिरोधक होता है। 'साध्याभाववद्-वृत्तित्व' रूप व्यभिचार ज्ञान इसलिये अनुमिति का साक्षात् प्रतिबन्धक नहीं है। उसमें अनुमिति विरोधिता का व्यवहार भर होता है। अतः व्यभिचारी स्थलों में उपलब्ध होने वाला हेतु में जो साध्याभाववद्वृत्तित्व रूप व्यभिचार है, उसमें अनुमिति की विरोधिता नहीं है। इस प्रकार सभी व्यभिचारी हेतुओं में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।[१०३]

आचार्य प्रगल्भ द्वारा प्रतिपादित सभी लक्षणों का खण्डन करने के उपरान्त दीधितिकार ने पक्षधर मिश्र के तीन लक्षणों का विवेचन किया है, जिनमें से प्रथम इस प्रकार है—

यावन्तः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्तत्सजातीया ये
तत्तदधिकरणवृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं तत्त्वम्।[१०४]

इस लक्षण में भी साध्याभाव का अर्थ पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार साध्यव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव ही समझना चाहिये। साध्याभावीय अधिकरण निष्ठ (निरूपित) वृत्तित्वाभाव में, साध्याभाव की सजातीयता (साजात्य) 'समान अधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व और 'असमानाधिकरण (व्यधिकरण) धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व' इन दोनों धर्मों में से किसी एक रूप से ग्रहण करना चाहिये। इस लक्षण के अनुसार सकल साध्याभावों के सजातीय प्रत्येक तत् तत् अधिकरण से निरूपित वृत्तित्वाभाव का हेतु में आना ही व्याप्ति है। 'वह्निमान् धूमात्' में इसका लक्षण समन्वय इस प्रकार होगा—'साध्याभाव' पद से उपर्युक्त रीति के अनुसार 'वह्नित्वेन वह्निर्नास्ति' यह 'साध्य सामान्याभाव' और 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' 'इत्याकारक' व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव' दोनों ही विवक्षित हैं। यहाँ भी 'तत्' पद हेतु धूमपरक है और साध्य वह्निपरक। यदि साध्याभाव पद से 'वह्नित्वेन वह्निर्नास्ति 'इत्याकारक वह्नि सामान्याभाव' का ग्रहण किया जाय तो उसके अधिकरण जल, जलाशय आदि ही होंगे, इनसे निरूपित वृत्तित्वाभाव धूम में आ जायगा (वृत्ति होगा) वृत्तिता का यह सामान्याभाव साध्यसामान्याभाव का सजातीय भी है, क्योंकि दोनों की प्रतियोगिताएँ समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न हैं। द्वितीय कल्प में 'साध्याभाव' पद से यदि 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' यह 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव' गृहीत किया जाय तो उसके अधिकरण पर्वत, पाकशाला आदि होंगे, उनसे निरुपित, घटत्व रूप से महानस आदि में रहने वाला वृत्तिता का अभाव धूम में भी ग्रहण करना अभीष्ट है। ऐसा मानने पर कोई दोष भी नहीं होगा, क्योंकि वृत्तिता वृत्तितात्व रूप से ही रहती है घटत्व रूप से नहीं।

यहाँ 'साजात्य' का ग्रहण समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व तथा असमान-अधिकरण (व्यधिकरण) धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व अन्यतर (दोनों में से एक) रूप से लेना चाहिये अन्यथा 'धूमवान् वह्नेः इस व्यभिचारी स्थल में अतिव्याप्ति होगी। धूम-सामान्याभाव यावत् साध्याभावों के अन्तर्गत समाविष्ट है और उसका सजातीय अभावत्व रूप से, घटत्वेन धूम सामान्याभाव के अधिकरण से निरुपित वृत्तित्वाभाव भी होगा। और व्यधिकरण धर्म होने के नाते हेतु वह्नि में सन्निविष्ट होगा इसलिये अतिव्याप्ति होगी। साजात्य के उपर्युक्त परिष्कार को स्वीकार कर लेने पैर अतिव्याप्ति

नहीं होगी। धूमाभाव का सजातीय जो सामान्याभाव-अधिकरण-निरूपित-वृत्तित्वाभाव है वह समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपक ही लेना चाहिये, क्योंकि धूम सामान्याभाव समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव भी है। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि वह हेतु वह्नि में धूम सामान्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव नहीं है।

'द्रव्यं विशिष्ट सत्सात्' स्थल में अव्याप्ति हो जाने के कारण इस लक्षण को निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। यावत् साध्याभावों के अन्तर्गत द्रव्यत्वाभाव भी आ जाता है। यहाँ साध्य-'द्रव्यत्व' है इसलिए साध्याभाव द्रव्यत्वाभाव ही होगा। तदधिकरण होंगे गुण आदि, उनमें शुद्ध सत्ता मिल जायगी।' विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इस नियम के अनुसार शुद्ध सत्ता और विशिष्ट सत्ता एक ही वस्तु है। अतः इस नियम के अनुसार द्रव्यत्व सामान्याभावाधिकरण जो गुण आदि है, तन्निरूपित वृत्तित्वाभाव शुद्ध सत्ता में नहीं आयेगा, अतः हेतु में उक्त अभाव न आने के कारण अव्याप्ति हो जायगी। इसीलिये उन्होंने निम्न द्वितीय लक्षण अपना कर इस दोष का वारण करने का प्रयास किया है—

> 'यद्वा यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तेषां सजातीयस्य
> व्यापकीभूतस्य व्याप्यवृत्तेरभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन धर्मेण
> यद्यपावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वमवच्छिद्रूते तद्रूपवत्त्वं तत्वम्।[१०५]

'निखिल साध्यव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावों अर्थात् साध्याभावों का प्रत्येक जो तत्सजातीय, व्यापकीभूत अभाव है, उसको प्रतियोगितावच्छेदक हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक होना चाहिये। 'तद्रूपवत्त्वं' अर्थात् हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नवत्त्वं ही व्याप्ति है। इस लक्षण में साध्याभाव के, सजातीय, व्यापकीभूत एवं व्याप्यवृत्ति अभाव तीन विशेषणों को प्रयुक्त किया गया है। 'वह्निमान् धूमात्' में लक्षण समन्वय इस प्रकार होगा—साध्याभाव पद से यदि वह्नि सामान्याभाव अभिप्रेत हो तब उसका व्यापकीभूत, सजातीय एवं व्याप्यवृत्ति वह्नि सामान्याभाव ही होगा 'स्व', स्व का व्यापक 'स्व' स्व का व्याप्य एवं 'स्व', स्व का सजातीय भी होता है। इसलिये वह्नि सामान्याभाव इस अभाव का ही मिलेगा और प्रतियोगितावच्छेदक होगा वह्नित्व, वह हेतुतावच्छेदककीभूत धूमत्व, तदवच्छिन्न धूम का व्यापकतावच्छेदक है, तद्वत्त्व धूम में जायगा, इसलिये कोई दोष नहीं होगा। यदि साध्याभाव पद से 'घटत्वेन वह्न्यभाव' का ग्रहण करते हैं, तब इसका व्यापकीभूत, सजातीय एवं व्याप्यवृत्ति 'घटत्वेन वह्न्यभाव' ही होगा। उसका प्रतियोगितावच्छेदक होगा वह्नित्व, वह हेतुतावच्छेदक धूमत्व तदवच्छिन्न धूम का व्यापकतावच्छेदक भी है। तत्त्व धूम में जायगा, लक्षण समन्वय सहज ही हो जायगा। व्यभिचारी स्थल में यद्यपि सद्हेतु स्थल के समान ही साध्य के समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव अर्थात् साध्य सामान्याभाव एवं साध्यतावच्छेदक रूप से घटादि अन्य वस्तुओं के अभाव ये दोनों ही साध्याभाव पद से गृहीत किये जा सकते हैं किन्तु साध्यावच्छेदक रूप से अन्य का अभाव रूप जो साध्याभाव अर्थात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव है उसका व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वेन सजातीय जो वृत्तित्वभाव होगा वह 'घटत्वेन तादृश वृत्तित्वं नास्ति' इस आकार का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव होगा। यह अभाव केवलान्वयी होने से व्यभिचारी हेतु में भी रहेगा, किन्तु यावत् अन्तर्गत जो साध्य का

सामान्याभाव है, उसका समानाधिकरणधर्माविच्छिन्नत्वेन' सजातीय जो वृत्तित्वाभाव होगा वह 'तादृश वृत्तितात्वेनतदधिकरण निरूपित वृत्तित्वं नास्ति' यह सामान्याभाव ही होगा। किन्तु वह सामान्याभाव किसी भी व्यभिचारी हेतु में नहीं रह सकता क्योंकि हेतु तभी व्यभिचारी कहलाता है जब वह साध्याभाव के अधिकरण में विद्यमान रहता है।

'साजात्य' पद की व्याख्या करते हुए दीधितिकार ने कहा है कि 'समानाधिकरण-धर्माविच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व' तथा 'व्यधिकरणधर्माविच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व' को अन्यतर रूप से (दोनों में से एक रूप से) ग्रहण करना ही साजात्य है। यदि इस रूप में इसका ग्रहण नहीं किया जाय तो 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी। धूम सामान्याभाव यावत् साध्याभावों के अन्तर्गत आ ही जाता है। तत्सजातीय अभावत्व रूप से 'घटत्वेन धूम सामान्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव' लिया जाय तो वह व्यधिकरण धर्म होने के कारण हेतु वह्नि में आ जायगा, अतिव्याप्ति हो जायगी। इसीलिये 'साजात्य' का उपर्युक्त परिष्कार किया गया है इस परिष्कार को स्वीकार करने से 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि धूमाभाव का सजातीय, जो धूम 'सामान्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव' है वह समानाधिकरणधर्माविच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक लेना चाहिये, क्योंकि धूम सामान्याभाव, समानाधिकरणधर्माविच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव भी है। इसलिये यहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी। कारण यह कि वह्नि में धूम सामान्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव नहीं है। इसलिये कोई दोष नहीं होगा।

'धूमवान वह्नेः' में यावत् अभावों के अन्तर्गत धूम सामान्याभाव भी समाविष्ट है। उसका व्यापकीभूत, सजातीय एवं व्याप्यवृत्ति धूम सामान्याभाव ही होगा। उस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धूमत्व होगा और वह वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि का व्यापकतावच्छेदक नहीं है। इसलिये कोई दोष नहीं। 'द्रव्यं विशिष्ट सत्त्वात्' यहाँ भी अव्याप्ति नहीं है। यावत् अभावों के अन्तर्गत द्रव्यत्व सामान्याभाव भी उपलब्ध होता है तत्व्यापकीभूत आदि विशेषणों से युक्त द्रव्यत्वाभाव ही होगा, उसका प्रतियोगिता-वच्छेदक 'द्रव्यत्व' होगा और वह हेतुतावच्छेदक से अवच्छिन्न अर्थात् विशिष्ट सत्तात्वा-वच्छिन्न विशिष्ट सत्ता का व्यापकतावच्छेदक हो जायगा। तत्त्व हेतु परक है। इसलिये कोई दोष नहीं है।

यदि 'यावन्तःसाध्याभावाः प्रत्येकं तत्तत्सजातीय तद्व्यापकीभूतादि अभाव प्रतियोगित्व' को ही व्याप्ति माना जाय तो 'द्रव्यं सत्त्वात्' इस स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी—क्योंकि, साध्याभाव होगा द्रव्यत्वाभाव तत्सजातीय एवं व्यापकीभूत अभाव के रूप में 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताभाव' लिया जा सकता है, तत्प्रतियोगित्व शुद्ध सत्ता में भी आ जायगा, इसलिये अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि इसका वारण करने के लिये 'यावत् तादृशसाध्याभावव्यापकीभूताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक जो हेतुतावच्छेदक धर्म है तद्धर्मवत्त्व' ही को व्याप्ति माना जाय तो 'द्रव्यं सत्त्वात्' में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि, विशिष्टसत्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्टसत्तात्व ही होगा और वह हेतुतावच्छेदक नहीं है। परन्तु ऐसा मानने से 'ज्ञेयं प्रमेयत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी। यहाँ साध्याभाव के रूप में 'ज्ञेयत्वेन घटाभाव' को लिया जा सकता है, तत्सजातीय एवं व्या कीभूत वही अभाव होगा, तत्प्रतियोगितावच्छेदकीभूत जो 'ज्ञेयत्व'

है, वह हेतुतावच्छेदकीभूत जो प्रमेयत्व है उसके तद्रूप नहीं होगा अतः अव्याप्ति हो जायगी। यदि 'प्रमेयत्वेन घटाभाव' को भी व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न साध्याभाव का सजातीय मान लिया जाय, तो हेतुता प्रमेयत्व में तादृश अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्व आ जायगा और अव्याप्ति का वारण हो जायगा। किन्तु यह बात संभव नहीं है, क्योंकि 'प्रमेयत्व' प्रमेयत्वेन घटाभाव का व्यधिकरण धर्म नहीं है अपितु समानाधिकरण धर्म ही है। इसलिये साध्याभाव का सजातीय यह अभाव नहीं हो सकता। यदि सामान्य रूप से विशेषाभाव लेकर अर्थात् 'प्रमेयत्वेन गगनाभाव' लें तब तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्व प्रमेयत्वत्व में आ जायगा अव्याप्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में 'धूमवान् वह्नेः' में अति-व्याप्ति हो जायगी। साध्याभाव होगा धूम सामान्याभाव तत्सजातीय एवं व्यापकीभूत 'वह्नित्वेन महानसीय वह्न्यभाव' लिया जा सकता है उसकी प्रतियोगितावच्छेदकता वह्नित्व में आयेगी। इसलिये अतिव्याप्ति हो जायगी। इसका निरास करने के लिये प्रतियोगिता में, प्रतियोगिता से अधिक देश में रहने वाले धर्म अनवच्छिन्नत्व का निवेश कर देने पर धर्म वह्नित्व प्रतियोगिता के अधिक देश में वृत्ति होगा क्योंकि प्रतियोगिता केवल महानसीन वह्नि में ही रहेगी और वह्नित्व चत्वरीय, गोष्ठीय आदि वह्नि में भी रहेगा। तदनवच्छिन्नत्व प्रतियोगिता में नहीं है अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। परन्तु ऐसा मानने से 'ज्ञेयं प्रमेयत्वात्' में फिर से अव्याप्ति हो जायगी, यहाँ 'प्रमेयत्वेन गगनाभाव' लक्षण घटक नहीं होगा, क्योंकि, प्रमेयत्व, गगन निष्ठ प्रतियोगिता से अधिक देश में रहने वाला धर्म है। तदनवच्छिन्न यह प्रतियोगिता नहीं होगी इसलिये इस अभाव को नहीं लिया जा सकता। नव्य मत का आश्रयण लेते हुए जगदीश ने इस आपत्ति का समा-धान देते हुए लिखा है कि—'यावत् साध्याभावों के प्रत्येक तत्तत्सजातीय और तत्तद् समानाधिकरण व्याप्यवृत्ति जो अभाव है, उनकी प्रतियोगिता हेतु में रहना ही व्याप्ति है।[१०६] ऐसा लक्षण करने से 'ज्ञेयं प्रमेयात्' इस स्थल में जो अव्याप्ति आ गई थी उसका वारण हो जायगा। क्योंकि ज्ञेयत्वेन जो घटाभाव है, उसका सजातीय, समानाधिकरण एवं व्याप्यवृत्ति जो अभाव होगा वह घटत्व-पटत्व दोनों से युक्त प्रमेयाभाव के रूप में गृहीत करने पर तत्प्रतियोगित्व प्रमेय हेतु में हो रहेगा इसलिये कोई दोष नहीं होगा।

इतना सब होने पर भी यह लक्षण गौरव दोष से दूषित है, क्योंकि इसमें सध्याभाय के विशेषण के रूप में अनेक सजातीय, व्यापकीभूत एवं व्याप्यवृत्ति अभाव विशेषणों का निवेश किया गया है। इसी दृष्टि से आचार्य ने इस संदर्भ में एक लाघवयुक्त लक्षण और भी दिया है जो इस प्रकार है—

> यद्वा यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्प्रतियोगितावच्छेदकेन धर्मेण यद्रूपावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वमवच्छिद्यते तद्रूपवत्त्वं वा तत्वमित्याहुः[१०७]।

'सकल साध्याभावों के जो प्रत्येक तत्तत्साध्याभावीय प्रतियोगितावच्छेदक रूप हैं, उनको हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक होना चाहिये, तद्रूपवत्त्व अर्थात् हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नत्व हेतु में प्रविष्ट होना ही व्याप्ति है। इस लक्षण में लाघव है, क्योंकि उक्त दोनों लक्षणों की भांति इसमें व्यापकीभूत, सजातीय एवं व्याप्यवृत्ति अभाव विशेषणों का निवेश नहीं किया गया है। इसका समन्वय 'वह्निमान् धूमात्' में इस प्रकार से होगा—यावत् साध्याभावों के अन्तर्गत 'वह्नि सामान्याभाव' एवं 'घटत्वेन वह्न्यभाव' दोनों ही उपलब्ध होंगे। तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्व वह्नित्व में आ जायगा और वह

धूमत्वावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक भी है। तद्रूपवत्त्व धूम हेतु में चला जायगा, इसी प्रकार 'धूमवान् वह्नेः' में यावत् साध्याभावों के अन्तर्गत धूम सामान्याभाव भी आ जाता है। तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्व धूमत्व में चला जायगा और वह वह्नित्वावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक नहीं है। अतः लक्षण समन्वय में कोई दोष नहीं होगा।

आचार्य सौन्दड़, चक्रवर्ती, प्रगल्भ मिश्र एवं पक्षधर मिश्र के अनुसार व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव रूप लक्षणों का प्रतिपादन एवं खण्डन करने के पश्चात् अन्त में दीधितिकार ने सार्वभौम मतानुसार तीन लक्षणों का विवेचन किया है। इनमें से प्रथम लक्षण इस प्रकार है—

'परेतु वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभाववद्वृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं व्याप्तिः१०८।'

'वृत्तिमत् (वृत्तिमान् या वृत्तिवाले) में वृत्ति रहने वाला जो यावत् साध्याभाववद्वृत्तित्व (रूप व्यभिचार) है, उसका अभाव हेतु में रहना ही व्याप्ति है।' सार्वभौम का यह लक्षण कूटाघटित कहलाता है। 'वह्निमान् धूमात्' में इसका समन्वय इस प्रकार होगा—साध्याभाव पद से 'घटत्वेन वह्न्यभाव' लिया जा सकता है, तदधिकरण होंगे पर्वत आदि, तन्निरूपित वृत्तिता यद्यपि हेतु में है तथापि वह वृत्तितात्वेन वृत्तिता है, न कि घटत्वेन वृत्तिता। अतः घटत्वेन तादृश वृत्तित्वाभाव धूम में आ जायगा। यदि साध्याभाव पद से वह्नि सामान्याभाव ही अभिप्रेत हो तब साध्याभाव होगा वह्नि सामान्याभाव, तदधिकरण होंगे, जल, जलाशय आदि, तन्निरूपित वृत्तित्वाभाव धूम में आ जायगा। अतः लक्षण समन्वित होगा। 'धूमवान् वह्नेः' में 'धूम सामान्याभाववद्वृत्तित्वसामान्याभाव' भी यावत् अभावान्तर्गत आ जाता है, और वह हेतु वह्नि में नहीं रहेगा, क्योंकि वह्नि में, धूम सामान्याभाववत् जो अयोगोलक आदि है, तन्निरूपित वृत्तिता ही है। अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यहाँ पर एक शंका उपस्थित होती है कि इस कूट अघटित लक्षण में जो वृत्तित्वाभाव है उसमें 'वृत्तिमद्वृत्तित्व' पद निरर्थक है। पर यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि इस पद को न देने से 'वह्निमान् धूमात्' और 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' दोनों स्थलों में अव्याप्ति हो जायगी। अतः 'वृत्तिमद्वृत्तित्व' को भी थोड़ा समझ लेना आवश्यक होगा। उक्त प्रथम स्थल में 'घटत्वेन वह्न्यभाव' के रूप में साध्याभाव को लेने पर, तदधिकरण होंगे पर्वत, महानस आदि, तन्निरूपित संयोग सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता ही धूम में रहेगी, अतः यावत् अन्तर्गत पर्वत आदि निरूपित संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न वृत्तिता का अभाव हेतु में नहीं आयेगा, अव्याप्ति हो जायगी। द्वितीय 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' स्थल में घटत्वेन वाच्यत्वाभाव' रूप साध्याभाव लिया जा सकता है। तदधिकरण होंगे घट आदि, तन्निरूपित यावत् अन्तर्गत वृत्तित्व सामान्याभाव ज्ञेयत्व हेतु में नहीं है। अतः अव्याप्ति हो जायगी। यदि जब तादृश वृत्तित्वाभाव (साध्याभाववद् वृत्तित्वाभाव) में 'वृत्तिमद्वृत्तित्व' विशेषण का निवेश कर दिया जाय तो उक्त स्थलों में आए हुए दोषों का सरलता से वारण हो सकता है। संयोग सम्बन्ध से वृत्तिमान् जो मीन शैवाल आदि हैं, उनमें 'घटत्वेन वह्न्यभाववद्' जो जलाशय आदि में है उनमें तन्निरूपित संयोग सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता ही रहेगी, तादृश वृत्तित्व सामान्याभाव हेतुतावच्छेदकीभूत संयोग सम्बन्ध से वृत्तिमत् मीन, शैवाल आदि में वृत्ति नहीं होगा। इसलिए यावत् अन्तर्गत यह वृत्तित्वाभाव नहीं आयगा। किन्तु एतादृश वृत्तिता का घटत्व रूप से अभाव ही यावत्

अन्तर्गत वृत्तिमत् वृत्ति हो जायगा और वह वृत्तित्वाभाव धूम हेतु में है इसलिये अव्याप्ति नहीं होगी । इसी प्रकार 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' में भी समन्वय हो जायगा । दीधितिकार ने भी कहा है कि 'जिस सम्बन्ध में हेतुता है, उसी सम्बन्ध से वृत्तिमत्वृत्ति भी रहना चाहिये इसी रूप में वृत्तिमत्व पद को ग्रहण करना आवश्यक है ।[109] यदि ऐसा नहीं किया गया तो 'वह्निमान् धूमात्' में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि 'घटत्वेन वह्न्यभाव' रूप से साध्याभाव का ग्रहण किया जायगा, तद्वत् होंगे पर्वत, पाकशाला आदि, तन्निरूपित संयुक्तत्वाभाव भी वृत्तिमत् जो जाति आदि पदार्थ है, उनमें रह जायगा और यावत् अन्तर्गत भी समाविष्ट होगा । यह संयुक्तत्वाभाव धूम में नहीं रहेगा, अतः अव्याप्ति हो जायगी । उसके निरासनार्थ यदि उक्त पद का निवेश किया जाय, तो तादृश संयुक्तत्व सामान्याभाव जाति आदि पदार्थों में रहने पर भी जाति आदि में हेतुतावच्छेदकीभूत-संयोग सम्बन्ध द्वारा वृत्तिमत्व नहीं आ पायगा, क्योंकि उनमें समवाय संबन्ध से ही वृत्तिता है । इसलिये उसका ग्रहण वृत्तिमत्त्व शब्द से कदापि नहीं हो सकता । अतः अव्याप्ति भी नहीं होगी । यदि वृत्तित्वाभाव में यावत् पद का निवेश नहीं किया जाय, तो 'धूमवान् वह्नेः' में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि, घटत्वेन धूमाभाववद्वृत्तित्वाभाव' वह्नि हेतु में आ जायगा और अतिव्याप्ति हो जायगी । यावत् पद का निवेश करने पर धूम सामान्याभाववद्वृत्तित्वाभाव हेतु में नहीं आ पायेगा, इसलिये अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

परन्तु इस कूटाघटित लक्षण की 'वह्निमान् धूमात्' स्थल में महानसीय वह्न्यभाव को लेकर अव्याप्ति हो जायगी इसलिये यह लक्षण न्यायसंगत नहीं है क्योंकि, महानसीय वह्न्यभाव के अधिकरण जो पर्वत आदि हैं उनसे निरूपित वृत्तित्वाभाव धूम में नहीं आ पायगा । इस पर साध्यतावच्छेदकमात्रावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाव का ग्रहण कर इस दोष का निवारण किया जा सकता है, किन्तु यह ठीक नहीं, कारण महानसीय वह्न्यभावीय जो प्रतियोगिता है, वह वह्नित्व और महानसीयत्व उभयधर्म से युक्त (अवच्छिन्न) है, केवल वह्नित्व रूप से अवच्छिन्न नहीं । इसलिये इस अभाव को नहीं लिया जा सकता तथा 'सर्वं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस स्थल को लेकर भी अव्याप्ति हो सकती है, कारण, केवलान्वयी स्थल होने के कारण इसमें साध्याभाव प्रसिद्ध नहीं होगा । इसी प्रकार यह लक्षण 'प्रमेय वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में भी दूषित होगा, क्योंकि गुरु-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता को सर्वत्र दोष माना गया है, किन्तु उसका लक्षण में, 'साध्य-तावच्छेदकमात्रावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाव' के रूप में प्रवेश किया गया है । इसमें वह्नि निष्ठ प्रतियोगिता, वह्नित्व और प्रमेयत्व दोनों से अवच्छिन्न होने के कारण, गौरव दोष से आक्रान्त हो रही है । इन्हीं दोषों का निराकरण करने के लिये सार्वभौम ने निम्नलिखित कूटघटित लक्षण की रचना की है—

> 'अन्येतु वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभावसमुदायाधिकरणवृत्तित्वा-भावास्तद्वत्त्वम्' ।[110]

'वृत्तिमत् वृत्ति यावत्साध्याभाव समुदाय के अधिकरण में स्थित वृत्तित्वाभावों का हेतु में रहना ही व्याप्ति है ।' 'वह्निमान् धूमात्' में समन्वय इस प्रकार होगा—यहाँ 'घटत्वेन वह्न्यभाव' रूप साध्याभाव समुदाय के अधिकरण होंगे पर्वत, पाकशाला आदि, तन्निरूपित वृत्तित्व भाव घटत्व रूप से धूम में है इसलिये लक्षण समन्वय में कोई बाधा नहीं है । 'धूमवान् वह्नेः' में साध्यभाव रूप 'धूमाभाव' समुदाय के अधिकरण से

निरूपित वृत्तित्वाभाव हेतु वह्नि में नहीं है, इसलिये लक्षण समन्वय में कोई दोष नहीं होगा। इस लक्षण को मान लेने पर 'सर्वं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' स्थल में भी अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि, 'घटत्वेन वाच्यत्वाभाव' रूप साध्याभाव ही यहाँ अभिप्रेत है, उसके समुदायाधिकरण होंगे, घट, पट आदि पदार्थ, तन्निरूपित वृत्तित्वाभाव वृत्तिमत् घट, पट आदि पदार्थों में वृत्ति नहीं है। इसलिये यह अभाव यावत् अन्तर्गत समाहित नहीं होगा। अतः वहाँ घटत्वेन तादृश वृत्तित्व सामान्याभाव ही गृहीत करना होगा और उसके ज्ञेयत्व हेतु में रहने के कारण कोई दोष नहीं होगा।

सार्वभौम के इसी लक्षण को कूटघटित अर्थात् समुदाय घटित कहते हैं। इस समुदाय का वस्तुतः क्या प्रयोजन हो सकता है, इस पर संक्षिप्त रूप से विचार करना उचित होगा। साध्याभावाधिकरण वृत्तितात्व की व्यापक प्रतियोगिता का निरूपक जो अभाव है, वही वृत्तित्व सामान्याभाव कहलाता है। सद्हेतु स्थलों में, यह वृत्तित्व सामान्याभाव, वृत्तिमत् पदार्थों में, तभी विद्यमान रहेगा जब व्यधिकरण धर्म से उस अभाव का ग्रहण किया जाय अर्थात् 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' इत्यादि रूप से ही तादृश वृत्तित्व सामान्याभाव सद्हेतु स्थल में ग्रहण किया जाता है। परन्तु ऐसा करने से 'धूमवान् वह्नेः' आदि व्यभिचारी स्थलों में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि लक्षण में यदि कूट (समुदाय) पद का निवेश नहीं किया जाय तो 'घटत्वेन धूमाभाव' भी साध्याभाव माना जायगा और घटत्वावच्छिन्न धूमाधिकरण वृत्तित्व सामान्याभाव, वृत्तिमत् वृत्ति नहीं होगा। इसलिये यहाँ वृत्तित्वाभाव भी 'घटत्वेन धूमोनास्ति', इत्यादि व्यधिकरण रूप से लेना आवश्यक है। अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। उसका वारण करने के लिये ही कूट पद का निवेश, लक्षण में किया गया है। कूट के अन्तर्गत धूम सामान्याभाव वृत्तित्वाभाव भी आ जायगा, वह हेतु में नहीं है इसलिये अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी बात का समर्थन दीधितिकार ने भी किया है।[१११]

'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इत्यादि केवलान्वयी स्थलों में लक्षण की अव्याप्ति हो जाने के कारण सार्वभौम का यह कूट घटित लक्षण भी युक्त नहीं जान पड़ता। पूर्व लक्षणों में साध्याभाव का अर्थ 'साध्यतावच्छेदकसमनियत प्रतियोगिताक अभाव' व्यक्त किया जा चुका है। प्रकृत में घट वृत्तित्वविशिष्ट वाच्यत्वाभाव और घटान्यवृत्तित्वविशिष्टवाच्यत्वाभाव ये दोनों अभाव साध्यतावच्छेदकीभूत जो वाच्यत्वत्व है उसके समनियत प्रतियोगिताक अभाव है। और एतादृश साध्याभाव कूट (यावत् साध्याभाव) का अधिकरण ही अप्रसिद्ध है, क्योंकि जिस अधिकरण में घटवृत्तित्वविशिष्टवाच्यत्वाभाव रहेगा वहाँ घटान्यवृत्तित्वविशिष्टवाच्यत्वाभाव कैसे रहेगा? इसलिये यह द्वितीय लक्षण भी निष्प्रयोजक ही है।

दीधितिकार ने सार्वभौम के इस द्वितीय लक्षण में आये हुए दोष का अतिक्रमण करने के लिये, उनके मतानुसार उनके लक्षण को परिष्कृत कर अन्तिम व्यधिकरण लक्षण को इस प्रकार सूचित किया है—

> 'एतेन साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकव्याप्यवृत्तिस्वसमानाधिकरणयावदभावाधिकरणवृत्तित्वाभावा यावन्तो वृत्तिमद्वृत्तस्तद्वत्त्वं व्याप्तिः[११२]।'

'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न के व्यापकतावच्छेदक रूप से अवच्छिन्न प्रतियोगिता

के निरूपक हेतु समानाधिकरण यावत् अभावों का, व्याप्यवृत्ति वृत्तिमद्वृत्ति यावत् साध्याभावों के अधिकरण में रहने वाले वृत्तित्वाभाव का हेतु में रहना ही व्याप्ति है। 'वह्निमान् धूमात्' में इसका समन्वय इस प्रकार होगा---साध्याभाव रूप से 'घटत्वेन वह्न्यभाव' लिया जायगा। उसके अधिकरण पर्वत आदि से निरूपित वृत्तित्वाभाव घटत्वेन वह्न्यभाव रूप से अर्थात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न वृत्तित्वाभाव धूम हेतु में विद्यमान है अतः लक्षण का समन्वय हो जायगा। 'धूमवान् वह्नेः' में धूम सामान्याभाव भी यावत् अन्तर्गत ही आ जाता है। तद्धिकरण जो अयोगोलक है तन्निरूपित वृत्तित्व सामान्याभाव वह्नि हेतु में नहीं है, इसलिये कोई दोष नहीं होगा। वाच्यं ज्ञेयत्वात्' स्थल में जो अव्याप्ति आ रही थी, वह भी इस लक्षण द्वारा वारित हो जाती है। घटवृत्तित्वविशिष्टवाच्यत्वाभाव एवं घटान्यवृत्तित्वविशिष्टवाच्यत्वाभाव यह दोनों अभाव यावत् अभावों के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं किये जा सकते, क्योंकि ये दोनों अभाव 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न व्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक नहीं है। साध्य का व्यापकतावच्छेदक रूप 'वाच्यत्वत्व' होगा न कि 'घटवृत्तिविशिष्ट वाच्यत्व' या घटान्यवृत्तित्वविशिष्टवाच्यत्व'। इसलिये दोनों अभाव शुद्ध वाच्यत्वत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक नहीं हैं। अतएव इनका यावत् अभावों के अन्दर समावेश नहीं किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में 'घटत्वेन वाच्यत्वाभाव' को लेकर ही साध्याभाव का निवेश करना होगा और उस साध्याभाव के अधिकरण से निरूपित घटत्व रूप से, अर्थात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न वत्तित्वाभाव रूप से ज्ञेयत्व हेतु में आ जायगा, इसलिये अव्याप्ति नहीं होगी।

'व्याप्ति पञ्चक' और 'सिंह-व्याघ्र' की व्याप्तियों के खण्डन की भांति इन सभी व्यधिकरण व्याप्ति लक्षणों का भी चिन्तामणिकार ने एक ही वाक्य 'प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः'[११३] द्वारा खण्डन कर दिया है। सामान्य खण्डन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उपर्युक्त वाक्य के लिये अनुकूल तर्क भी प्रतिपादित किया है। अभाव बुद्धि में प्रतियोगितावच्छेदक प्रकारक प्रतियोगी ज्ञान को ही कारण माना गया है। जैसे, 'घटोनास्ति' इस बुद्धि के प्रतियोगितावच्छेदक प्रकारक अर्थात् 'घटत्व' प्रकारक प्रतियोगी घट ज्ञान, 'घट नहीं है' इस बुद्धि का जनक है। यही उपर्युक्त खण्डन वाक्य में अनुकूल तर्क है। इसी अभिप्राय से गङ्गेश ने कहा है---'तद्विशिष्टज्ञानस्याभावधीहेतुत्वात्'[११४] अर्थात् प्रतियोगितावच्छेदक (विशेषणतावच्छेदक) विशिष्ट जो प्रतियोगी ज्ञान (विशेषण ज्ञान) है वही उस विशिष्ट ज्ञान का अर्थ है और वही अभाव बुद्धि में कारण होता है। अभाव प्रत्यय जो भी होता है, वह घटत्वादि विशिष्ट जो घटीय प्रतियोगिता है, उसका ग्रहण करते हुए, उसमें रहने वाले विशेषणीभूत घटत्व का भी अवगाहन करता है। स्वतंत्र रूप से कहीं भी अभाव की प्रतीति नहीं होती। इसलिये 'घटोनास्ति' यह जो बुद्धि (ज्ञान) होगी वह घट एवं घटत्व इन दोनों का बोध करते हुए ही सम्पन्न होगी अर्थात् 'घट नहीं है' इस अभावीय ज्ञान का प्रतियोगी जो घट है, उसमें जैसे, प्रतियोगिता का भान होता है, वैसे ही प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व का भी बोध होता है, और घट स्वयं अभाव में विशेषण है, इसलिये घटाभाव का अर्थ 'घटवान् अभावः' यह प्रतीति होती है। इसलिये 'घटत्वावच्छिन्न घटोनास्ति' अथवा 'घटत्वेन घटोनास्ति' यही बुद्धि प्रामाणिक मानी जाती है न कि 'पटत्वेन घटोनास्ति'[११५]। यदि इस नियम को अङ्गीकृत नहीं किया जाये, तो 'नहीं है' इस निर्विकल्पकि बुद्धि से भी घटाभाव की प्रतीति होने लगेगी और

गाय में शशश्रृंगाभाव की प्रतीति भी असिद्ध हो जायगी।[११६] किन्तु यह प्रतीति होती तो है, परन्तु उक्त लक्षण को स्वीकार कर लेने पर नहीं होगी, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्ट जो प्रतियोगिता ज्ञान है, उसको अभावीय ज्ञान (बुद्धि) में यदि कारण न माना जाय, तो शशश्रृंग अभाव वाली बुद्धि का प्रतियोगितावच्छेदक शशीयत्वविशिष्ट श्रृंगत्व हो जायगा और तद्विशिष्ट कारण यहाँ इष्ट नहीं है। परन्तु उसका भान जब प्रसिद्ध हो तभी तो 'उसका अभाव गाय में है' ऐसा कहा जा सकता है। उसका ज्ञान ही जब नहीं है, तब 'गाय में खरगोश-सींग नहीं है' इस प्रतीति का भी अपलाप होने लगेगा। इसलिये विशेषणतावच्छेदक प्रकारक जो विशेषण बुद्धि अर्थात् प्रतियोगी ज्ञान है, वही अभाव बुद्धि में कारण मानना उचित है। दीधितिकार ने भी कहा है कि इतना होने पर भी यदि उक्त मतानुसार लोक में अनुभव होने लगे अर्थात् 'घटत्वरूप से पट नहीं है' इत्याकारक व्यधिकरण धर्म से युक्त प्रतीतियाँ होने लगे तो उसका निवारण सम्भव नहीं है।[११७] निष्कर्षत: प्रतियोगी में न रहने वाले धर्म को प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जाने के कारण 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव' प्रकरण में विवेचित सभी व्याप्तियाँ निर्दुष्ट प्रतीन नहीं होती।

सिद्धान्त व्याप्ति—

उपर्युक्त सभी व्याप्तियों का उल्लेख और खण्डन करने के उपरान्त गङ्गेश ने अपना सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

> प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:[११८]

'जो साध्य हेतु के प्रतियोगी व्यधिकरण तथा समान अधिकरण में विद्यमान रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न नहीं हो, उसके साथ हेतु का सामानाधिकरण्य होना ही व्याप्ति है।' इस सिद्धान्त व्याप्ति लक्षण के पूर्व गङ्गेश द्वारा जितने भी लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं, उनमें प्राय: 'व्याप्यत्व' का ही परिष्कृत एवं परिशोधित स्वरूप उपलब्ध होता है, किन्तु इस सिद्धान्तलक्षण में 'व्यापकत्व' का सूक्ष्म परिष्कार दृष्टिगोचर होता है। इसीलिये इसको व्यापकत्व घटित लक्षण कहा जाता है। इस व्याप्ति का मूल 'हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:' केवल इतना ही अंश है। अर्थात् हेतु और उसके व्यापक साध्य का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है। लक्षण में आये हुए 'हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति' इस वाक्यांश में व्यापकत्व का ही परिष्कार झलकता है। व्यापक साध्य का तात्पर्य उस साध्य से है जो हेतु के अधिकरण में वर्तमान रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न न हो अर्थात् प्रतियोगी न हो। सरल शब्दों में हेतु के साथ (हेतु के समस्त आश्रयों में) जिस साध्य का अभाव कदापि उपलब्ध न होता हो, वही साध्य हेतु का व्यापक कहा जा सकता है। व्याप्य हेतु के समान अधिकरण में ऐसे व्यापक साध्य की सहवर्त्तिता ही व्याप्ति है।' 'प्रतियोगिव्यधिकरण' आदि विशेषण, लक्षण को सर्वथा निर्दुष्ट बनाने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। 'पर्वतोवह्निमान्-धूमात्' में इसका समन्वय इस प्रकार होगा—यहाँ हेतु धूम के अधिकरण होंगे पर्वत, महानस आदि, उनमें साध्यीभूत वह्नि का अभाव कदापि नहीं रहेगा, अपितु उदासीन घट आदि का अभाव ही रहेगा। उसके प्रतियोगी होंगे 'घट आदि', प्रतियोगितावच्छेदक

धर्म' घटत्व आदि एवं उनसे अवच्छिन्न घट आदि होंगे। इसलिये उसकी प्रतियोगिता घट में और अप्रतियोगिता साध्य वह्नि में रहेगी। इस अप्रतियोगिभूत साध्य वह्नि का सामानाधिकरण्य हेतु धूम में है। इसी प्रकार 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थलों में भी अतिव्याप्ति की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि हेत्वधिकरणीभूत अयोगोलक आदि में, साध्य धूम का अभाव, निश्चित रूप से उपलब्ध होने के कारण, साध्य में अप्रतियोगिता प्रविष्ट नहीं होने पाती। अतः केवल साध्य का हेतु में सामानाधिकरण्य होने पर भी अप्रतियोगिता से युक्त साध्य का सामानाधिकरण्य हेतु में नही रहता। अतः दोनों स्थलों में लक्षण समन्वित हो जाता है। 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस केवलान्वयी स्थल में भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। यहाँ हेतु 'ज्ञेयत्व' का अधिकरण होगा जगत्, उसमें वृत्ति रहने वाला अत्यन्ताभाव घटाभाव ही होगा, उसका प्रतियोगी घट तथा अप्रतियोगी साध्य 'वाच्यत्व' होगा और उसका सामानाधिकरण्य हेतु ज्ञेयत्व में है। इसी प्रकार 'सत्तावान् जातेः' इस स्थल में भी लक्षण सुगमतापूर्वक घटित हो जाता है। यहाँ हेतु जाति के अधिकरण होंगे द्रव्य, गुण, कर्म आदि, उनमें वर्तमान रहने वाला अत्यन्ताभाव 'सत्तानास्ति'—'सत्ता नहीं है' यह अभाव नहीं होगा प्रत्युत 'घटोनास्ति' 'घट नहीं है' इत्याकारक अभाव ही होगा। इस अभाव के प्रतियोगी घट आदि और अप्रतियोगी साध्य 'सत्ता' होगी। साध्य सत्ता के साथ, हेतु के अधिकरण द्रव्य में, हेतु जाति का सामानाधिकरण्य है, क्योंकि द्रव्य में साध्य सत्ता और हेतु जाति दोनों विद्यमान रहते हैं। अतः उक्त सभी स्थलों में लक्षण सुगमतापूर्वक समन्वित हो जाता है।

इतना होने पर भी 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में जहाँ अनेक वह्नि व्यक्तियाँ साध्य हो सकती हैं, वहाँ इस लक्षण की अव्याप्ति होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि हेत्वधिकरणीभूत तत्तद् व्यक्तियों में अर्थात् हेतु के अधिकरण बननेवाली विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न साध्यक व्यक्तियों का अभाव सुलभ हो जायगा, जैसे प्रकृत स्थल में जहाँ पर्वत आदि को हेतु का अधिकरण माना जाता है, वहीं पाकशालीय वह्नि का अभाव, पाकशाला आदि को हेत्वधिकरण स्वीकार कर लेने पर पर्वतीय वह्नि का अभाव एवं इसी प्रकार चत्वर, गोष्ठ आदि हेतु अधिकरणों में तत्तद् वह्नियों का अभाव 'चालनीय न्याय' से प्रसक्त होता है। इसलिये उन-उन अभावों की प्रतियोगी पर्वतीय वह्नि आदि चारों वह्नियाँ होंगी, किन्तु चारों में से कोई एक वह्नि ही साध्य रूप में अभिमत हो सकती है, अतः साध्य वह्नि अप्रतियोगी न होने के कारण अव्याप्ति होगी। यदि इस दोष के निवारण के लिये यह कहा जाय कि समानाधिकरण वह्नि और धूम की ही व्याप्ति होती है अर्थात् पर्वतीय धूम के साथ पर्वतीय अग्नि की एवं पाकशालीय धूम के साथ पाकशालीय अग्नि की व्याप्ति होती है, क्योंकि दोनों के साथ (पर्वतीय पाकशालीय धूम) दोनों का (पर्वतीय-पाकशालीय अग्नि) सामानाधिकरण्य है। ऐसा मानने पर अव्याप्ति का निराकरण हो सकता है, क्योंकि हेतु होगा पर्वतीय धूम, उसके अधिकरण पर्वत में तत्तद् वह्नियों के अभाव लेने पर भी लक्षण समन्वय हो जायगा, कारण, उस अभाव की प्रतियोगी होगी पाकशालीय अग्नि, उससे भिन्न अर्थात् अप्रतियोगी होगी] साध्य पर्वतीय वह्नि, जिसका सामानाधिकरण्य पर्वतीय धूम के साथ है, परन्तु इतना स्वीकार कर लेने पर भी अव्याप्ति का पूर्ण रूप से निरास नहीं होने पाता, क्योंकि 'एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति'—'एक के होने पर दोनों का अभाव होता है' इस नियम के अनुसार हेतु के अधि-

कारण पर्वत में, पर्वतीय वह्नि के सद्भाव होने पर भी तद्वह्नि (पर्वतीय वह्नि) घटोभयं नास्ति' इस प्रकार का अभाव मिल सकता है। इस अभाव का प्रतियोगी जिस प्रकार घट होगा, वैसे ही पर्वतीय वह्नि भी। प्रकृत में पर्वतीय वह्नि ही साध्य रूप में इष्ट है, इस कारण साध्य अप्रतियोगी न होगा। अतः अव्याप्ति दोष पुनः स्थिर हो जाता है। यदि इसके निराकरण के लिये हेत्वधिकरण में रहने वाली (अभावीय) प्रतियोगिता में 'व्यासज्यवृत्ति धर्मानवच्छिन्नत्व' विशेषण का निवेश कर दिया जाय तो उक्त स्थल में दोष वारित हो सकता है, क्योंकि हेत्वधिकरण पर्वतवृत्ति जो तद्वह्नि-घटोभयाभाव है—उस उभयाभाव की प्रतियोगिता व्यासज्यवृत्ति धर्म 'उभयत्व' से अवच्छिन्ना ही है, अनवच्छिन्ना नहीं। व्यासज्यवृत्तिधर्म से इस अभाव की प्रतियोगिता अवच्छिन्ना होने के कारण ऐसा हेत्वधिकरण वृत्ति अभाव के रूप में घटाभाव को लेकर लक्षण समन्वय किया जा सकता है, इसलिये उक्त स्थल में कोई अव्याप्ति नहीं होगी, । किन्तु इतना होने पर भी अन्य स्थल जैसे 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' इत्यादि स्थलों में पुनः अव्याप्ति होगी, क्योंकि जहाँ, हेतु द्रव्यत्व का अधिकरण शुक्ल घट है वहाँ उसमें वृत्ति रहने वाले अभाव अर्थात् शुक्ल गुण के अभाव का परित्याग करके अन्य नील, पीतादि गुणों का अभाव मिल सकता है। इसी प्रकार नील घट रूप हेत्वधिकरण में शुक्ल, पीतादि गुणों का अभाव भी उपलब्ध हो सकता है। अतः 'चालनीय न्याय' से सब गुणों को अभाव प्रसक्त होने के कारण, अभाव के प्रतियोगी ही सब गुण हो जायेंगे और गुण ही प्रकृत में साध्य है, अतः वह अप्रतियोगी नहीं होगा। अतः लक्षण इस स्थल में अव्याप्त हो जायगा।[११९]

इन दोषों के निराकरण के लिये दीधितिकार ने उक्त गङ्गेश-लक्षण वाक्य को भाव-प्रधान निर्देशपक्ष मानकर उसकी व्याख्या प्रकारान्तर से इस प्रकार की है—'जो साध्य, हेतु के प्रतियोगी-असमानाधिकरण एवं समानाधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होता है, उस धर्म से अवच्छिन्न साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य होना ही व्याप्ति है।[१२०] 'इस परिष्कृत लक्षण को मान लेने पर उक्त स्थलों में आए हुए दोषों का निराकरण किया जा सकता है। जैसे, 'वह्निमान् धूमात्' स्थल में, हेत्वधिकरण अभाव के रूप में 'तत्तद् वह्निर्नास्ति'—'तत् तत् वह्नियों का अभाव', यह अभाव गृहीत किया जा सकता है। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म होगा 'तत्तद् वह्नित्व', (जैसे, पर्वतीय वह्नित्व, पाकशालीय वह्नित्व आदि) उससे भिन्न साध्यतावच्छेदक धर्म (अनवच्छेदक धर्म) होगा शुद्ध वह्नित्व, जिससे साध्य वह्नि अवच्छिन्न ही है एवं उसका सामानाधिकरण्य हेतु धूम है, क्योंकि धूम और वह्नि दोनों पर्वत में विद्यमान हैं। इसलिये पर्वत रूप समान अधिकरण में धूम और वह्नि दोनों रहने के नाते एकाधिकरणवृत्तित्व रूप सामानाधिकरण्य धूम में सिद्ध हो जाता है। इसलिये इस स्थल में कोई दोष नहीं होगा। द्वितीय स्थल 'घटःगुणवान् द्रव्यत्वात्' में तत्तद्गुणाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक तत्तद्गुणत्व होगा। तद्भिन्न साध्यतावच्छेदक शुद्ध गुणत्व, उससे अवच्छिन्न साध्य होगा गुण, उसका सामानाधिकरण्य घटनिष्ठ (घटान्तर्भाविण) द्रव्यत्व हेतु में है, क्योंकि, पक्ष-भूत घट में गुण भी है और द्रव्य भी। अतः यहाँ भी लक्षण समन्वय में कोई अवरोध उपस्थित नहीं होता[१२१]। इस अनवच्छेदकत्व घटित लक्षण से उक्त स्थलीय दोषों का परिहार हो जाता है, किन्तु ऐसे भी अनेक स्थल है जहाँ अव्याप्ति दोष आक्रान्त हो जाता है, जैसे, 'घटः रूपत्वव्याप्य जातिमद्वान् पृथिवीत्वात्' यहाँ पर

'घट' पक्ष, 'रूपत्वव्याप्य जातिमद्' साध्य और 'पृथिवीत्व' हेतु है। पक्ष-भूत घट में रूपत्वव्याप्य जो सातों रूपों में पृथक्-पृथक् रहने वाली नीलत्व, पीतत्व आदि जातियाँ हैं, उन जातिमान् नील, पीत आदि सप्तविध रूपों में रहने वाली ये नीलत्व-पीतत्व आदि जातियाँ साध्यता की अवच्छेदिका होंगी। ऐसी परिस्थिति में पृथिवीत्व हेतु के अधिकरण के रूप में यदि शुक्ल घट का ग्रहण करते हैं, तो उसमें रहने वाला अभाव, शुक्ल रूप अभाव को छोड़कर, नील, पीत आदि सभी रूपों का अभाव मिल जायगा। इसी प्रकार हेत्वधिकरण नील घट में, शुक्ल रूप का भी अभाव उपलब्ध हो सकता है। पुनः 'चालनीय न्याय' से हेत्वधिकरण वृत्ति जो नीलाभाव, पीताभाव आदि सप्तविधरूपाभाव हैं, उन अभावों की प्रतियोगिता की अवच्छेदिका नीलत्व, पीतत्व आदि सप्त जातियाँ हो जायगी। एवं पूर्वोक्त रीति के अनुसार वे साध्यता की अवच्छेदिका भी हैं। अतः प्रतियोगितावच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक होगा न कि प्रतियोगितानवच्छेदक। इसलिये अव्याप्ति हो जायगी। समाधान देते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि परम्परा सम्बन्ध से 'रूपत्वव्याप्य जातित्व' आदि को साध्यतावच्छेदक बनाया जा सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि साध्य में रहने वाला धर्म ही साध्यतावच्छेदक हो सकता है, जैसे, 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ पर वह्नि साध्य में वृत्ति रहनेवाला 'वह्नित्व' धर्म ही साध्यावच्छेदक है, तथापि स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से रूपत्व व्याप्य जातित्व भी तादृश जातिमत् साध्य में रहने के नाते साध्यतावच्छेदक हो सकता है। अतः इस रूप से स्वपद से रूपत्व व्याप्य जातित्व को लिया जा सकता है, उसका आश्रय तादृश जाति और उसके आश्रय होंगे रूपत्वव्याप्य जातिमान् शुक्ल, पीतादि रूप। वे ही साध्य भी हैं। अतः इस परम्परा सम्बन्ध से तादृश जातित्व भी साध्य वृत्ति होने के नाते साध्यतावच्छेदक हो सकता है। अब इस अवस्था में नीलाभाव, पीताभाव आदि हेत्वधिकरण वृत्ति अभावों की प्रतियोगितावच्छेदिका नीलत्व, पीतत्व आदि जातियाँ ही होंगी, उनसे भिन्न साध्यतावच्छेदक होगा रूपत्वव्याप्य जातित्व। अतः दोष निरस्त हो जाता है। किन्तु रूपत्वव्याप्य जातित्व को साध्यतावच्छेदक मान लेने पर भी अव्याप्ति हो सकती है, कारण हेत्वधिकरणवृत्ति अभाव के रूप में 'रूपत्वव्याप्यजातित्वावच्छिन्नाभाव' को गृहीत करने पर उसका प्रतियोगी 'रूपत्वव्याप्यजातित्व' होगा और वह परम्परा सम्बन्ध से साध्यतावच्छेदक भी है। अतः प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न साध्यतावच्छेदक अर्थात् साध्यता-अनवच्छेदक नहीं होगा। इस आक्षेप का समाधान देते हुए सिद्धान्तमुक्तावलीकार ने लिखा है 'न हि तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः क्वापि पृथिव्यामस्ति' अर्थात् रूपत्वव्याप्य जाति में विद्यमान रहने वाला रूपत्वव्याप्यजातित्व धर्म, से अवच्छिन्न अभाव किसी भी पृथिवी में उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परा सम्बन्ध द्वारा रूपत्वव्याप्य जातित्व से अवच्छिन्न शुक्ल, नील आदि सातों रूप होंगे, इन समस्त रूपों में से कोई न कोई रूप हेतु के अधिकरण पृथिवी में अनिवार्यतः रहता है, कारण कोई भी पृथिवी नीरूप नहीं होती। अतः 'रूपत्वव्याप्य जातित्वावच्छिन्नो नास्ति' इत्याकारक बुद्धि की आपत्ति लग जाने के कारण हेत्वधिकरण पृथिवी में वृत्ति रहने वाले अभाव के रूप में उक्त 'रूपत्वव्याप्य जातित्वावच्छिन्न अभाव' गृहीत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार विश्वनाथ ने दीधितिकार के आशय को विभिन्न उदाहरण के माध्यम से समझाया है,[१२१] तदुपरान्त उन्होंने उनके उदाहरण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इसी

प्रकार जहाँ 'दण्डी' आदि पद को साध्य बनाया जाता है, यथा, 'मठो दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्'—'मठ दण्डीयुक्त है, दण्डिसंयोग होने से, 'इस स्थल में हेतु दण्डिसंयोग का अधिकरण जो भूतल है, उसमें वर्तमान रहने वाले अभाव के रूप में 'तद्दण्डी नास्ति' इत्याकारक अभाव लिया जा सकता है। इस अभाव का प्रतियोगी 'तद्दण्डी' और प्रतियोगितावच्छेदक दो धर्म—'तत्त्व' और 'दण्ड' होंगे। इन द्विविध धर्मों में से प्रतियोगितावच्छेदक धर्म के रूप में 'दण्ड' का ग्रहण किया जा सकता है और वह साध्यतावच्छेदक होने के कारण प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न साध्यतावच्छेदक नहीं होगा अतः अव्याप्ति हो जायगी। यहाँ भी पहले की भांति स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परा सम्बन्ध द्वारा 'दण्डत्व' को साध्यतावच्छेदक बना देने पर उक्त अव्याप्ति दोष का वारण किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर प्रतियोगितावच्छेदक होगा दण्ड उससे भिन्न साध्यतावच्छेदक 'दण्डत्व' से, परम्परा संबन्ध द्वारा साध्य दण्डी अवच्छिन्न होगा, जिसका सामानाधिकरण्य भूतलनिष्ठ (भूतलान्तर्भाविण) दण्डि संयोग में है, क्योंकि साध्य दण्डि और हेतु दण्डि संयोग दोनों भूतल में विद्यमान हैं [१२३]।

जो दार्शनिक परम्परा सम्बन्ध को वृत्यनियामक होने के कारण सर्वथा अनुपादेय मानते हैं, उनके अनुसार साध्य-साधन (साध्य-साध्यतावच्छेदक तथा साधन-साधनतावच्छेदक) से व्याप्ति भेद मानकर उक्त दोषो को वारित किया जा सकता है[१२४]। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि उक्त सिद्धान्त को मान लेने पर 'रूपत्वव्याप्य जातिमद्वान् पृथिवीत्वात्' आदि स्थलों में अव्याप्ति नहीं होगी, कारण, इस स्थल में हेत्वधिकरणवृत्ति–अभाव के रूप में पूर्व के समान शुक्लाभाव, नीलाभाव आदि अभाव लिये जा सकते हैं। इनके प्रतियोगि 'शुक्ल', 'नील' आदि रूप तथा प्रतियोगितावच्छेक 'शुक्लत्व' 'नीलत्व' आदि होंगे। एवं प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक होंगे 'शुक्लत्वत्व' 'नीलत्वत्व'। इन से भिन्न साध्यतावच्छेदकतावच्छेदक जातित्व होगा, कारण प्रकृत में साध्य है 'जातिमद्', साध्यतावच्छेदक 'जाति' तथा साध्यतावच्छेदकतावच्छेदक 'जातित्व' होगा, उस जातित्व से अवच्छिन्न होने वाली रूपत्वव्याप्य जाति से अवच्छिन्न होगा साध्य रूपत्वव्याप्य जातिमद् शुक्ल, नील आदि सँप्तविध रूप, उनका सामानाधिकरण्य पृथिवीत्व हेतु में है। अतः लक्षण समन्वित हो जाता है। इसी प्रकार 'दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' स्थल में भी अव्याप्ति का निरास किया जा सकता है[१२५]। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' स्थल में तत्तद् वह्नि विशेष को लेकर भी अव्याप्ति दोष उत्थापित नहीं किया जा सकता, कारण हेत्वधिकरण वृत्ति अभाव के रूप में यहाँ पाकशालीय, वह्नि आदि के अभाव गृहीत किये जा सकते हैं। इसकी प्रतियोगी होगी 'पाकशालीय अग्नि' तथा प्रतियोगितावच्छेदक 'पाकशालीय अग्नित्व'। एवं प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक' पाकशालीय अग्नित्व' होगा। इनसे भिन्न साध्यतावच्छेदकतावच्छेदक होगा 'अगिन्त्वत्व' कारण प्रकृत में साध्य है 'अग्नि', साध्यातावच्छेदक 'अग्नित्व' एवं साध्यतावच्छेदकतावच्छेदक 'अग्नित्वत्व' होगा, इस अग्नित्वत्व से अवच्छिन्न होने वाले अग्नित्व से अवच्छिन्न अग्नि है, उसका सामानाधिकरण्य हेतु धूम में है।

तात्पर्य यह कि साध्य पद को यदि साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न रूप से स्वीकार किया जाय, तो 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' स्थल में पर्वत पर तत्तद्.वह्नि अर्थात्

पाकशालीय अग्नि विशेष का अभाव होने के कारण जो अव्याप्ति दोष दिया गया था वह निरस्त हो जाता है, कारण हेतु धूम में अधिकरण पर्वत पर अग्नि सामान्य का ही अनुमान किया जाता है, पाकशालीय विशिष्ट अग्नि का नहीं। यहाँ विशुद्ध अग्नित्व धर्म को लेकर ही साध्य का निश्चय किया जाता है। अतएव प्रकृत में जो अग्नित्व धर्म है, वही साध्यता का परिचायक है। इसीलिये अग्नित्व धर्म को साध्यता का अवच्छेदक या नियामक धर्म कहते हैं। हेत्वधिकरण पर्वत पर जिस साध्य अग्नि का अनुमान किया जाता है वह इसी साध्यतावच्छेदक धर्म अग्नित्व से अवच्छिन्न (युक्त या नियम्य) है। अतः साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न का तात्पर्य है विशुद्ध अग्नित्व से विशिष्ट अग्नि। इस विशिष्ट अग्नि का अभाव धूम के किसी भी अधिकरण में नहीं पाया जाता। अतः यह साध्यतावच्छेदक धर्म प्रतियोगितावच्छेदक धर्म से भिन्न अर्थात् अनवच्छेदक होने के नाते लक्षण में कोई दोष नहीं है। साध्य पद का साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न अथवा साध्याभाव का, 'साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक' रूप से यदि ग्रहण किया जाये तो पाकशालीय वह्नि के अभाव की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदक धर्म 'वह्नित्व' से भिन्न प्रतियोगितावच्छेदक धर्म 'पाकशालीयवह्नित्व' से अवच्छिन्न ही रहेगी, अनवच्छिन्न नहीं। अतः कोई दोष नहीं होगा। इसी प्रकार लक्षण में साध्य पद साध्यतावच्छेकसम्बन्धावच्छिन्न रूप से गृहीत करना आवश्यक है, अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस सद्हेतु स्थल में लक्षण समन्वित नहीं हो सकेगा, क्योंकि हेतु धूम के अधिकरण पर्वत में साध्य अग्नि का पर्वत के साथ संयोग सम्बन्ध ही पाया जाता है, समवाय सम्बन्ध नहीं। अतः केवल संयोग सम्बन्ध से, अग्नि की, पर्वत में स्थिति होने तथा समवाय सम्बन्ध से स्थिति न होने के कारण वहाँ साध्य का अभाव सिद्ध किया जा सकता है। अतः साध्याभावीय अधिकरणों में हेतु की स्थिति पायी जाने के नाते हेतु और साध्य का सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि 'समवायेन वह्निर्नास्ति' 'समवाय सम्बन्ध से वह्नि नहीं है', इत्याकारक अभाव पर्वत में उपलब्ध हो सकता है। इस अभाव का साध्यतावच्छेदक धर्म 'वह्नित्व' अवच्छेदक ही होगा, अनवच्छेदक नहीं। यदि साध्य पद 'साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न अथवा साध्याभाव पद' साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक रूप से गृहीत किया जाय, तो उक्त आपत्तियों का निराकरण हो जाता है क्योंकि पर्वत पर अग्नि का संयोग सम्बन्ध सिद्ध करना ही अभीष्टदायक है, समवाय सम्बन्ध नहीं, पर्वत और अग्नि का समवाय सम्बन्ध होना असंभव है, कारण समवाय सम्बन्ध में अङ्गाङ्गी भाव होना आवश्यक है। पर्वत और अग्नि में इस प्रकार का अङ्गाङ्गी भाव नहीं होता अपितु संयोग सम्बन्ध ही होता है अतएव पर्वत निष्ठ अग्नि की साध्यता संयोग सम्बन्ध को लेकर ही गृहीत की जा सकती है। इसलिये यहाँ साध्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध संयोग ही होगा, समवाय सम्बन्ध नहीं। 'साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न' पद का तात्पर्य है संयोग सम्बन्ध विशिष्ट साध्यतावच्छेदकीभूत अग्नि। इस सम्बन्ध से विशिष्ट होने के कारण पर्वत अथवा धूम के किसी अन्य अधिकरण में भी साध्य वह्नि का अभाव उपलब्ध नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि संयोग सम्बन्ध से प्रकृत स्थल में हेतु धूम का अधिकरण है पर्वत, उसमें समवाय सम्बन्ध से पाया जाने वाला साध्याभाव वह्न्यभाव होगा, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से वह्नि अपने अवयवों में ही रहेगी, उस वह्न्यभाव की प्रतियोगी वह्नि एवं प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्व होगा। यह वह्नित्व,

साध्यतावच्छेदक होने के कारण, पूर्व में साध्यतावच्छेदक के अनवच्छेदक नहीं होने की जो आपत्ति दी गई है वह, प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न विशेषण प्रयुक्त करने पर निराकृत हो जाती है। क्योंकि साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध होगा संयोग सम्बन्ध, संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न वह्नि पर्वत में विद्यमान है। अतएव हेतु के अधिकरण में वर्तमान रहने वाले साध्याभाव के रूप में वह्न्यभाव प्रसक्त नहीं हो सकता, इसलिये उदासीन घट, पट आदि का अभाव ही मिलेगा तदनुसार हेत्वधिकरण वृत्ति अभाव के रूप में घटाभाव को गृहीत करने पर प्रतियोगिता घट में रहेगी, प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व तथा उससे भिन्न साध्यतावच्छेदक (अनवच्छेदक) वह्नित्व होगा, जिससे अवच्छिन्न साध्य वह्नि का सामानाधिकरण्य हेतु धूम में है। अतः प्रतियोगिता में 'साध्यतावच्छेदक सम्बन्धाभावच्छिन्न' विशेषण का सन्निवेश कर देने पर 'समवायेन वह्निर्नास्ति' यह अभाव नहीं लिया जा सकता, कारण, इस अभाव की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदकभूत संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं है।

लक्षण में प्रयुक्त 'यत्समानाधिकरणात्यन्ताभाव' अर्थात् 'हेत्वधिकरण में वृत्ति रहने वाला अत्यन्ताभाव' पद में प्रयुक्त 'हेत्वधिकरण' हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न तथा हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न विशिष्ट अधिकरण ही गृहीत करना अपरिहार्य है अन्यथा घटो द्रव्यं (द्रव्यत्ववत्), गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्वात्' तथा 'वह्निमान् धूमात्' स्थलों में अव्याप्ति हो जायगी। प्रथम स्थल में 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते'—विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता' इस नियम से हेतु पद द्वारा शुद्ध सत्ता का ग्रहण किया जा सकता है। उसके अधिकरण गुण, कर्म आदि होंगे, उनमें विद्यमान रहने वाला अभाव द्रव्यत्वाभाव होगा। इस अभाव का प्रतियोगी द्रव्यत्व होगा और वही साध्य होने के कारण प्रतियोगी से भिन्न साध्य नहीं होगा। अथवा अनवच्छेदकत्व घटित लक्षण के अनुसार, हेत्वधिकरण वृत्ति द्रव्यत्वाभाव का प्रतियोगी 'द्रव्यत्व', प्रतियोगितावच्छेदक द्रव्यत्वत्व' होगा, वही साध्यतावच्छेदक भी है, इसलिये प्रतियोगितानवच्छेदक न होने के कारण अव्याप्ति होगी। यदि हेत्वधिकरण का, उपादान 'हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न' रूप से किया जाय तो अव्याप्ति अपास्त हो जाती है, क्योंकि, हेतुतावच्छेदक होगा विशिष्ट सत्तात्व, उससे अवच्छिन्न होने वाली विशिष्ट सत्ता होगी, उसके अधिकरण द्रव्य में वर्तमान रहने वाला अभाव द्रव्यत्वाभाव नहीं, प्रत्युत घटाभाव ही होगा। घटाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म घटत्व तथा उससे भिन्न साध्यतावच्छेदक द्रव्यत्वत्व होगा उससे साध्य द्रव्यत्व अवच्छिन्न ही है, एवं उसका सामानाधिकरण्य हेतु 'विशिष्ट सत्ता' में है। द्वितीय स्थल में हेतु धूम का अधिकरण समवाय सम्बन्ध से धूम-अवयव ही होंगे, क्योंकि अवयव-अवयवी का समवाय सम्बन्ध होता है। उन धूमावयवों में वृत्ति रहने वाला अभाव वह्न्यभाव भी होगा, उसका प्रतियोगितावच्छेदक धर्म 'वह्नित्व' साध्यतावच्छेदक भी है। अतः अनवच्छेदक न होने के कारण अव्याप्ति होगी। यदि हेत्वधिकरण को हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न रूप से गृहीत किया जाय तो अव्याप्ति नहीं होगी, कारण, हेतु अपने अधिकरण में जिस सम्बन्ध से रहता है, वही हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। इस स्थल में, हेतु धूम, अपने अधिकरण पर्वत आदि में संयोग सम्बन्ध से रहता है, अतः हेतुतावच्छेदक संयोग सम्बन्ध से हेतु धूम के अधिकरण पर्वत आदि में वर्तमान रहने वाला अभाव वह्न्यभाव नहीं, अपितु घटाभाव ही होगा, क्योंकि, वह्न्यभाव का प्रतियोगी वह्नि संयोग सम्बन्ध

से पर्वत में विद्यमान रहता है। घटाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म घटत्व, उससे भिन्न साध्यतावच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न साध्य वह्नि का सामानाधिकरण्य हेतु धूम में है, अतः कोई अव्याप्ति नहीं होगी। इसलिए हेत्वधिकरण, हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न तथा हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न दोनों विशेषणों से युक्त होना आवश्यक है[१२६]।

अभाव में 'हेतुसामानाधिकरण्य' पद निवेश यदि नहीं किया जाय, तो किसी भी सद्हेतु स्थल में लक्षण का समन्वय संभावित नहीं हो सकता, क्योंकि, उक्त पद के अभाव में जिस किसी भी अभाव शब्द से सर्वत्र साध्याभाव का ग्रहण करना संभव हो सकता है, जिससे सभी साध्यतावच्छेदक धर्म प्रतियोगितावच्छेदक धर्मी ही हो जायेंगे। अतः 'हेतुसामानाधिकरण्य' पद देना अनिवार्य है। इस विशेषण के निवेश से सद्हेतु स्थलों में साध्याभाव को कदापि गृहीत नहीं किया जा सकता, कारण, हेतु सद्हेतु भी हो और उसके अधिकरण में साध्य का अभाव भी रहे, यह संभव नहीं है।

इसी प्रकार हेतु के अधिकरण में वृत्ति रहने वाले अभाव में 'प्रतियोगि-व्यधिकरण' विशेषण भी देना आवश्यक है। न देने पर 'अयंवृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादि स्थलों में अव्याप्ति होगी। यहाँ हेतु 'एतद्वृक्षत्व' का अधिकरण 'एतद्वृक्ष' होगा, उसमें विद्यमान रहने वाला अभाव मूलावच्छेदेन (मूल भाग में रहने वाला) कपिसंयोगाभाव होगा, क्योंकि कपि वृक्ष के शाखा भाग पर ही बैठता है, मूल भाग पर नहीं। इसलिये कपि-संयोग शाखावच्छेदेन ही वृक्ष में है, मूलावच्छेदेन नहीं। कपि-संयोग के अभाव का प्रतियोगी कपिसंयोग होगा, वही साध्य भी है, अतः वह साध्य का अप्रतियोगी नहीं होगा। इसी प्रकार कपिसंयोगत्व रूप साध्यतावच्छेदक हेतु के समान अधिकरण में रहने वाले अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक हो जाने के कारण अव्याप्ति होगी, क्योंकि अव्याप्य वृत्ति होने के नाते एतद्वृक्ष में कपिसंयोग तथा उसका अभाव दोनों रहेंगे। यदि 'प्रतियोगिव्यधिकरण' का लक्षण में सन्निवेश कर दिया जाय तो अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं है अपितु प्रतियोगि-समानाधिकरण ही है। एतद्वक्ष में कपिसंयोगाभाव और उसका प्रतियोगी कपिसंयोग दोनों है, इसलिये एतद्वृक्ष में रहने वाला कपिसंयोगाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं, प्रत्युत प्रतियोगिसमानाधिकरण ही होगा, अतः प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव घटाभाव होगा, उसका प्रतियोगी होगा घट, उससे भिन्न साध्य कपिसंयोग का सामानाधिकरण्य हेतु एतद्वृक्षत्व में है, अतः अव्याप्ति नहीं होगी।[१२७]

लक्षण में जो 'प्रतियोगिव्यधिकरण' पद सन्निविष्ट किया गया है, उस पर भी थोड़ा यह विचार कर लेना उचित होगा कि 'प्रतियोगिव्यधिकरण' किसको कहते हैं? 'प्रतियोगिव्यधिकरण' को समझने के पूर्व 'प्रतियोगिसमानाधिकरण' को जान लेना आवश्यक है। प्रतियोगी और प्रतियोगी का अभाव, ये दोनों यदि एक ही अधिकरण में रहें तो वह अभाव 'प्रतियोगिसमानाधिकरण' कहलायगा। जैसे, कपिसंयोगाभाव और उसका प्रतियोगी कपिसंयोग दोनों एक ही अधिकरण वृक्ष में रहते हैं। इसलिये दोनों को प्रतियोगी-समानाधिकरण' समझना चाहिये। परन्तु प्रतियोगी व्यधिकरण की प्रक्रिया इतनी सरल नहीं है। यदि 'प्रतियोगिव्यधिकरणत्व' शब्द का अर्थ—'प्रतियोग्यनधिकरण वृत्तित्व'—प्रतियोगी के अनधिकरण में 'वर्तमान रहनेवाला अभाव' अथवा 'प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व',—'प्रतियोगी के अधिकरण में' अविद्यमान रहने वाला अभाव, ही अभिप्रेत

समझा जाय तो ठीक नहीं, कारण यदि प्रथम अर्थ विवक्षित समझा जाय तो 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति होगी, क्योंकि, कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगी होगा कपिसंयोग, उसके अनधिकरण होंगे गुण आदि, उनमें वर्तमान रहने वाला अभाव कपिसंयोगाभाव होगा, जो हेत्वधिकरण 'एतद्वृक्ष' में 'मूलावच्छेदेन' अर्थात् मूल भाग में विद्यमान है। अतः कपिसंयोगाभाव 'हेत्वधिकरण वृत्तिअभाव' ' प्रतियोगिव्यधिकरण वृत्ति अभाव होगा, उस अभाव का प्रतियोगी होगा कपिसंयोग जो साध्य भी है, अतः साध्य अप्रतियोगी नहीं होगा। दूसरी बात यह भी है कि कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक होगा कपिसंयोगत्व, वही साध्यतावच्छेदक भी है, इसलिये साध्यतावच्छेदक अनवच्छेदक नहीं होगा। अतः अव्याप्ति हो जायगी। इसी प्रकार द्वितीय अर्थ ग्रहण कर इसका लक्षण 'प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व' ऐसा अर्थ गृहीत किया जाय तो वह भी न्यायसंगत नहीं, कारण, 'घटःसंयोगी, सत्त्वात्' इस असद्हेतु स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी। यहाँ हेतु होगा 'सत्ता', उसके अधिकरण होंगे गुण आदि, उनमें वृत्ति संयोगाभाव अपने प्रतियोगी संयोग के अधिकरण द्रव्य में भी विद्यमान रहने के कारण 'प्रतियोगिसमानाधिकरण' ही है। अतः इस स्थल में 'प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव' घटाभाव ही लिया जा सकता है, उसका प्रतियोगी घट और अप्रतियोगी होगा साध्य संयोग, उसका सामानाधिकरण्य घटनिष्ठ (घटान्तर्भाविण) हेतु सत्ता में है। इसलिये 'अलक्ष्य में लक्षण गमन रूप अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः ये दोनों लक्षण दूषित हैं। इसलिये इसका कोई अन्य लक्षण करना आवश्यक है वह है—'हेत्वाधिकरणे प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्व विशिष्टस्य अभावस्य विवक्षितत्वात्'। यहाँ 'हेत्वधिकरण' शब्द में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति का अर्थ 'अवच्छेदेन' विवक्षित है। इस प्रकार 'हेत्वधिकरणावच्छेदेन' प्रतियोगी के अनधिकरण में वृत्ति रहने वाला जो अभाव है, वही 'प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव' होता है अर्थात् प्रतियोगी के अनधिकरण, हेतु के समस्त अधिकरणों में विद्यमान रहने वाला जो अभाव है, वही प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव होता है। इसी को निष्कृष्ट रूप से 'स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणवृत्यभाव' प्रकट किया गया है। इस लक्षण द्वारा 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि, अब हेत्वधिकरण होगा एतद्वृक्ष, तद्वृत्ति अभाव घटाभाव ही लिया जावेगा, कपिसंयोगाभाव नहीं, क्योंकि कपिसंयोगाभाव के प्रतियोगी कपिसंयोग का, अनधिकरण, हेत्वधिकरण 'एतद्वृक्ष' नहीं है। अतः घटाभाव को लेकर लक्षण समन्वय हो जायगा। 'घटः संयोगी सत्त्वात्' स्थल में साध्याभाव 'संयोगाभाव' ही 'प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव' हो जायगा क्योंकि, संयोगाभाव के प्रतियोगी संयोग, के अनधिकरण, हेत्वधिकरण गुण, कर्म आदि होंगे एवं संयोगाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म संयोगत्व होगा, वही साध्यतावच्छेदक भी है। अतः वह प्रतियोगिता का अनवच्छेदक नहीं होगा। यह लक्षण अलक्ष्य हेतु (सत्ता) में नहीं जाता इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होगी [१२८]।

पुनः सम्पूर्ण लक्षण की 'कालो घटवान् महाकालत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति होगी। काल, महाकाल सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों का आधार है। अतः कोई भी अभाव वहाँ प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं होगा, क्योंकि, सभी प्रतियोगी महाकाल में विद्यमान हैं। इसलिये इस स्थल में प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव ही, अप्रसिद्ध हो जायगा, जिससे अप्रसिद्धि निबन्धन अव्याप्ति होगी। 'सिद्धान्तमुक्तावली' में भी आया है—

'कालो घटवान् महाकालपरिमाणात्' इस स्थल में साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध कालिक सम्बन्ध है, क्योंकि पक्ष 'काल' में साध्य 'घट' कालिक सम्बन्ध से ही विद्यमान है और हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। इसलिये प्रकृत स्थल में प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव अप्रसिद्ध है, क्योंकि, हेतुता-अवच्छेदक समवाय सम्बन्ध से, काल परिमाण हेतु का, अधिकरण होगा महाकाल और वह जगत् का (आधार) आश्रय होने से, हेत्वधिकरण वृत्ति जो भी अभाव होंगे, वे सब अभाव प्रगियोगितावच्छेदकावच्छिन्न (अर्थात् प्रतियोगी) के अधिकरण महाकाल में वृत्ति ही होंगे। अतः यहाँ प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव के अप्रसिद्धिनिबन्धन होने से अव्याप्ति हो जाती है। इसी प्रसङ्ग में कुछ विद्वानों का कहना है कि यहाँ महाकाल भेद विशिष्ट घटाभाव प्रतियोग्यव्यधिकरण अभाव प्रसिद्ध है, क्योंकि हेतु का अधिकरण महाकाल घट का आधार होने पर भी महाकाल भेद विशिष्ट घट का अनाधार अर्थात् अनाश्रय ही है। नियम है कि स्व में स्व का भेद कदापि नहीं रहता। अतः इसी नियम के अनुसार महाकाल में महाकाल का भेद नहीं रहेगा। ऐसा मानने पर अब 'कालो घटवान् महाकालपरिमाणात्' यहाँ नैयायिक एकदेशी के मतानुसार महाकाल भेद विशिष्ट घटाभाव को लेकर प्रतियोगिव्यधिकरणाभाव की अप्रसिद्धि वारित हो जाती है, किन्तु महाकाल में जगदाधार होने के नाते, महाकालभेदविशिष्टघटात्मक प्रतियोगी का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर भी महाकालभेदविशिष्टघटाभाव, प्रतियोगि-समानाधिकरण ही होगा। अतः प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव की पुनः असिद्धि रह जाती है, अतः उक्त एकदेशीय मत समीचीन नहीं जान पड़ता [१२९]।

इस अव्याप्ति के वारण के लिये दीधितिकार ने प्रतियोगी अधिकरण अभाव का पारिभाषिक अर्थ किया है जो न्याय साहित्य में 'सम्बन्ध धर्मिक उभयाभाव' के नाम से प्रख्यात है। वह इस प्रकार है, प्रकृत प्रतियोगिप्रतियोगिकत्व तथा 'हेत्वधिकरणीभूत यत्किञ्चित् व्यक्ति अनुयोगिकत्व' एतद् उभयाभाव रहे वही अभाव प्रतियोगी व्यधि-करण अभाव है,' एतादृश अभाव का प्रतियोगितानवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक है, तदवच्छिन्न सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।[१३०]

ऐसा लक्षण मान लेने पर उक्त 'वह्निमान् धूमात्' एवं 'कालो घटवान् महा-कालत्वात्' दोनों में आई हुई अव्याप्ति का परिहार सुगमता से हो जाता है। दोनों स्थलों में लक्षण समन्वय इस प्रकार से होगा—'वह्निमान् धूमात्' में हेत्वधिकरण होगा पर्वत, उसमें रहने वाला अभाव (प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव) संयोग रूप से घटाभाव ही लिया जा सकता है। इसका प्रतियोगितावच्छेदक हुआ संयोग सम्बन्ध। उस संयोग सम्बन्ध से वह्न्यभाव को नहीं लिया जा सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से वह्नि पर्वत में विद्यमान है। इसलिये साध्यतावच्छेदकीभूत संयोग सम्बन्ध का वही प्रतियोगी होगा जो वह्न्यभाव का भी प्रतियोगी हो एवं हेत्वधिकरणीभूत पर्वत उसका अनुयोगी भी है। अतः संयोग सम्बन्ध से वह्न्यभाव प्रतियोगिकत्व और हेत्वधिकरणीभूत पर्वतानुयोगिकत्व यह दोनों ही रहेंगे, इन दोनों का अभाव अर्थात् उभयाभाव नहीं क्योंकि, साध्यतावच्छेदकीभूत कोई भी ऐसा संयोग सम्बन्ध नहीं है जिसका प्रतियोगी घट हो और अनुयोगी हेत्वधिकरणी-भूत पर्वत हो। इस प्रकार जिस संयोग सम्बन्ध में पर्वतानुयोगिकत्व रहेगा उसमें घट प्रतियोगिकत्व रह ही नहीं सकता, क्योंकि, संयोग सम्बन्ध से घट पर्वत में नहीं रहता। अतः साध्यतावच्छेदकीभूत संयोग सम्बन्ध में कथित उभयाभाव अवश्य रहेगा। तादृश

अभाव के रूप में घटाभाव को ही लिया जा सकता है, जिससे उसकी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक वह्नित्व हो जायगा—तात्पर्य यह है कि इस स्थल में हेत्वधिकरण पर्वत में वृत्ति जो अभाव है वह 'संयोगेन घटाभाव' ही होगा और उसका प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध। उस संयोग सम्बन्ध से प्रतियोगी अर्थात् घटाभाव के प्रतियोगी घट का अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण पर्वत होगा और तद्वृत्ति अभाव घटाभाव। उसकी प्रतियोगिता घट में रहेगी। उस प्रतियोगिता सामान्य में यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व अर्थात् साध्यतावच्छेदक संयोग सम्बन्धावच्छिन्नत्व है किन्तु यद्धर्मावच्छिन्नत्व अर्थात् साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्व नहीं है। अतः 'एकसत्वेऽपि द्वयं नास्ति' इस नियम के अनुसार उभयाभाव गृहीत हो जायगा। उस सम्बन्ध से साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध अर्थात् संयोग सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न—साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न अर्थात् वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि, हेतु धूम का व्यापक है और व्यापक वह्नि का सामानाधिकरण्य पर्वतनिष्ठ (पर्वताद्यन्तर्भाविण) हेतु धूम में है। अतः यह लक्षण समन्वय सुलभ हो जायगा। 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थल में यादृशाभाव पद से साध्य का अभाव लिया जा सकता है क्योंकि, हेत्वधिकरणीभूत व्यक्तियों के अन्तर्गत एक व्यक्ति अयोगोलक भी है। ऐसा कोई भी संयोग सम्बन्ध नहीं है, जो धूम प्रतियोगी भी हो और अयोगोलकानुयोगी भी। अतः जो भी कोई संयोग सम्बन्ध होगा उसमें धूमप्रतियोगिकत्व और अयोगोलकानुयोगिकत्व इन दोनों में से एक का अभाव अवश्य रहेगा। अतः 'एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति' इस न्याय से उभयाभाव भी रहेगा। इसलिए यादृशाभाव पद से धूमाभावादि साध्याभावों को लिया जा सकता है। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक होगा, अनवच्छेदक नहीं। अतः यहाँ भी लक्षण समन्वय होगा।

अब रही बात 'कालो घटवान् महाकालत्वात्' की तो इस स्थल में यादशाभाव पद से गगनाभाव को लेना इष्ट है। महाकाल में कालिक सम्बन्ध से गगन की सत्ता नहीं है। अतः कोई भी ऐसा कालिक सम्बन्ध नहीं होता जिसका प्रतियोगी गगन हो और अनुयोगी महाकाल हो। फलतः कालिक सम्बन्ध में गगनाभाव प्रतियोगिकत्व और हेत्वधिकरणीभूत महाकालानुयोगिकत्व इन दोनों में से एक का अभाव अवश्य रहेगा। इसलिये यादृशाभाव पद से गगनाभाव को लिया जा सकता है। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म 'गगनत्व' होगा और घटत्व रूप साध्यतावच्छेदक अभावीय प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जायगा।

किन्तु इस लक्षण का समन्वय इस बात पर अवलम्बित है कि कालिक सम्बन्ध से महाकाल में गगनादिकों की सत्ता स्वीकार न की जाये। यदि कालिक सम्बन्ध से गगन की सत्ता महाकाल में मानली जाय तो यादृशाभाव पद से गगनाभाव को भी नहीं लिया जा सकता, क्योंकि महाकाल में गगन की सत्ता का नियामक जो भी कालिक सम्बन्ध होगा उसमें 'गगन प्रतियोगिकत्व' और 'महाकाल अनुयोगिकत्व' यह दोनों ही रहेंगे। इस प्रकार महाकाल में गगन की सत्ता को अङ्गीकृत कर लेने पर सम्बन्ध धर्मिक उभयाभाव की कल्पना ही निरस्त हो जायगी। इसलिये दीधितिकार ने महाकाल में गगन की सत्ता मानकर भी जो 'प्रतियोगिता धर्मिक उभयाभाव' नामक कल्प अपनाया है, वह इस प्रकार है—'हेतु समानाधिकरणाभाव प्रतियोगिता सामान्य में यद्धर्मावच्छिन्नत्व यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व एतद् उभयाभाव' रहे तद्धर्म ही कथित प्रतियोगिव्यधिकरण हेतु सामाना-

धिकरण्य अभाव प्रतियोगितावच्छेदक धर्म शब्द से अभिप्रेत है।[131] इस लक्षण में सद्हेतु स्थल में साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध के द्वारा साध्य का अभाव और साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध द्वारा साध्य से भिन्न वस्तु का अभाव ये दोनों ही लक्षण समन्वय के लिये उपयोगी हो सकते हैं। जैसे 'वह्निमान धूमात्' में 'समवायेन वह्निर्नास्ति' और 'संयोगेन घटोनास्ति' यह दोनों अभाव हेतु समानाधिकरण है। प्रथम, साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से भिन्न जो समवाय सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध से साध्य का अभाव अभिप्रेत है। द्वितीय, साध्य से भिन्न जो घट है उसका साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से अभाव है। दोनों ही हेतु समानाधिकरण हैं। आद्य अभाव की प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकीभूत वह्नित्वावच्छिन्नत्व है तो साध्यतावच्छेदकीभूत सम्बन्धावच्छिन्नत्व नहीं है। दूसरे अभाव की प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्व है तो यद्धर्म रूप वह्नित्वावच्छिन्नत्व नहीं है। इस प्रकार दोनों ही अभावों के द्वारा यद्धर्म पद से वह्नित्व को लिया जा सकता है।

'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि स्थलों में, यद्धर्म पद से धूमत्व नहीं लिया जा सकता, क्योंकि 'संयोगेन धूमोनास्ति' यह अभाव भी हेतु समानाधिकरण है। इस अभाव की प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकीभूत धूमत्वावच्छिन्नत्व और साध्यतावच्छेदकभूत संयोग सम्बन्धावच्छिन्नत्व ये दोनों ही हैं। अतः उभयाभाव नहीं रह सकता। इसलिये धूमत्व को व्यापकतावच्छेदक नहीं कहा जा सकता है।

इस विशिष्ट लक्षण का अनुसरण करने पर 'कालो घटवान् महाकालत्वात्' इस स्थल में भी लक्षण समन्वय बड़ी सुगमता से हो जायगा। यहाँ 'समवायेन घटो नास्ति' यह अभाव लक्षण समन्वय में प्रयोजक होगा, क्योंकि, यह अभाव हेतु समानाधिकरण भी है और इस अभाव की प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकीभूत घटत्वावच्छिन्नत्व के रहने पर भी साध्यतावच्छेदकीभूत कालिक सम्बन्धावच्छिन्नत्व नहीं है, कारण यह प्रतियोगिता समवाय सम्बन्धावच्छिन्न तो है, किन्तु कालिक सम्बन्धावच्छिन्न नहीं। इस प्रकार 'एक के होने पर दोनों नहीं होते' इस न्याय के अनुसार घटत्वरूप' यद्धर्मघटित उभयाभाव' उक्त प्रतियोगिता में विद्यमान है। इसके कारण व्यापकतावच्छेदकीभूत तद्धर्म शब्द से घटत्वरूप साध्यताअवच्छेदक को सुगमता से लिया जा सकता है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है। सिद्धान्तमुक्तावलीकार ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रकृत स्थल में हेत्वधिकरण होगा महाकाल, उसमें समवाय रूप से घटाभाव ही वृत्ति होगा, क्योंकि समवाय सम्बन्ध द्वारा अवयवि अपने अवयव में ही रहता है। अतः यहाँ भी घट अपने अवयवों में रहेगा। प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध अर्थात् समवाय सम्बन्ध से प्रतियोगी हुआ घट, उसका अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण होगा महाकाल, तदवृत्ति अभाव के रूप में 'समवायेन घटाभाव' ही लिया जायगा। उसकी प्रतियोगिता घटनिष्ठा प्रतियोगिता होगी। उस प्रतियोगिता सामान्य में यद्धर्मावच्छिन्नत्व—'साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्व' अर्थात् घटत्वावच्छिन्नत्व है परन्तु साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व अर्थात् कालिक सम्बन्धावच्छिन्नत्व नहीं है, अतः उभयाभाव अवश्य रहेगा। उस सम्बन्ध अर्थात् कालिक सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न अर्थात् घटत्वावच्छिन्न घट, हेतु 'काल परिमाण' का व्यापक होगा और व्यापक घट का सामानाधिकरण्य कालपरिमाण रूप हेतु में विद्यमान है, क्योंकि घट साध्य भी कालिक सम्बन्ध से महाकाल में अपनी सत्ता को अवस्थित किये

हुए है और कालपरिमाण रूप हेतु भी समवाय सम्बन्ध से महाकाल में विद्यमान है। अतः प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव के रूप में 'समवायेन घटाभाव' प्रसिद्ध हो जाने के नाते उक्त प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिनिबन्धन रूप अव्याप्ति दोष परिहारित हो जाता है।[१३२] इस प्रकार व्याप्ति का सिद्धान्त लक्षण प्रतिपादित करते हुए विश्वनाथ ने गङ्गेश और दीधितिकार का अक्षरशः समर्थन किया है [१३३] 'तर्कामृत' में भी गङ्गेश-लक्षण का समर्थन किया गया है।[१३४]

केशव मिश्र[१३५] का अक्षरशः अनुसरण करते हुए 'तर्कसंग्रह' में अन्नम भट्ट ने 'जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि भी रहती है' इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहा है।[१३६] नियमित रूप से एक साथ रहना ही साहचर्य नियम है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में हेतु धूम अपवाद रहित सर्वदा अग्नि के साथ नियमित रूप से पाया जाता है। अतः इन दोनों में व्याप्ति सम्बन्ध है। इसके विपरीत 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान में हेतु वह्नि साध्य के साथ सहचरित नहीं है, क्योंकि वह्नि धूमाभावीय स्थलों जैसे जलते हुए अंगारों आदि में भी उपलब्ध होती है। इसलिए इन दोनों में नियत साहचर्य नहीं हो सकता। 'तर्कसंग्रह दीपिका' में उन्होंने साहचर्य का अर्थ 'सामानाधिकरण्य' किया है। हेतु और साध्य का एक अधिकरण में रहना ही सामानाधिकरण्य कहलाता है। यह सामानाधिकरण्य भी नियमित होना चाहिये[१३७] अन्यथा यदि केवल साहचर्य अथवा सामान्याधिकरण्य को ही व्याप्ति का लक्षण माना जाय, तो पर्वतो धूमवान् वह्नेः' स्थल में, आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधिविशिष्ट हेतु 'वह्नि' और उसके साध्य धूम का, साहचर्य अथवा सामानाधिकरण्य, पर्वत, पाकशाला आदि में, दृष्टिगोचर होने के कारण सोपाधिक हेतु 'वह्नि' को भी व्यापकता की आपत्ति हो सकती है। किन्तु सोपाधिक हेतु को सिद्धान्ततः सद्हेतु नहीं, प्रत्युत व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास ही माना गया है।[१३८] अतः साहचर्य अथवा सामानाधिकरण्य के साथ नियम पद का निवेश करना भी आवश्यक है। किन्तु नियम पद का अर्थ ही व्याप्ति है और वह स्वयं अपने से घटित हो रही है अर्थात् साहचर्य अथवा सामानाधिकरण्य नियम रूप व्याप्ति स्वयं नियम शब्दार्थ व्याप्ति से घटित होने के नाते आत्माश्रय दोष से ग्रसित है। संभवतः इसी दोष को दृष्टि में रखते हुए उनके पूर्वाचार्य जयन्त भट्ट ने 'नित्य साहचर्य' अर्थात् (स्वस्थिति काल पर्यन्त) साध्य और हेतु का सर्वदा और सर्वत्र एक साथ रहने को ही व्याप्ति माना है।[१३९] इसी प्रकार केशव मिश्र ने भी अन्यत्र व्याप्ति सम्बन्ध को उपाधि रहित स्वाभाविक सम्बन्ध बतलाया है[१४०] जिसका समर्थन तार्किक रक्षा में भी पाया जाता है।[१४१] 'तर्कसंग्रह दीपिका' में भी उक्त आत्माश्रय दोष का निराकरण करने के लिये ही संभवतः अन्नम भट्ट ने गङ्गेश कृत लक्षण स्वीकार किया है।[१४२] अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें 'प्रतियोगिव्यधिकरण' रूप विशेष का निवेश नहीं किया गया है। न्यायबोधिनिकार ने अन्नम भट्ट के लक्षणों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'साहचर्य नियम' अर्थात् नियत साहचर्य ही व्याप्ति है। नियतता को व्यापकता और साहचर्य को सामानाधिकरण्य कहा जाता है। अतः 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में हेतु धूम और उसके व्यापक साध्य वह्नि का पर्वत आदि एक अधिकरण में विद्यमान रहना ही व्याप्ति है। 'तर्कसंग्रह दीपिका' में गङ्गेश समर्थित व्यापकता के, 'हेतु-समानाधिकरणात्यन्ताभावा-प्रतियोगि' इत्याकारक परिष्कार से युक्त 'साध्यसामानाधिकरण्य' को ही व्याप्ति कहा गया है। किन्तु व्यापकता

का इतना परिष्कार ही पर्याप्त नहीं है, कारण ऐसा लक्षण मानने पर पहले की भांति 'सत्तद् वह्नि साध्यक' स्थलों में अव्याप्ति हो जाती है। अतः इस दोष को वारित करने के लिये ही गोवर्धन भट्ट ने अन्त में दीधितिकार के अनवच्छेदक युक्त व्यापकता के परिष्कार को स्वीकार किया है। तदनुसार उनके मत में हेतु धूम के समान अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्म से युक्त साध्य वह्नि का हेतु धूम के साथ सामानाधिकरण्य होना ही व्याप्ति है। अन्नम भट्ट की भांति इस लक्षण में भी 'प्रतियोगिव्यधिकरण' रूप विशेषण का उपादान नहीं किया गया है।[१४३] 'तर्ककौमुदी' में अव्यभिचरित साध्य के साथ हेतु के सामानाधिकरण्य को व्याप्ति कहा गया है। जैसे, पर्वतो वह्निमान् धूमात्' सद्हेतु स्थल में जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य पायी जाती है', इत्याकारक व्याप्ति नियमित रूप से पायी जाती है; इसके विपरीत 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस व्यभिचारी स्थल में, जहाँ-जहाँ वह्नि रहती है वहाँ-वहाँ धूम भी होता है, इत्याकारक नियम रूप व्याप्ति का सत्त्व नहीं पाया जाता, क्योंकि तप्तपिण्ड में वह्नि होते हुए भी धूम की सत्ता नहीं पाई जाती।[१४४] 'न्यायसिद्धान्तमञ्जरी' में भी गङ्गेश-लक्षण को ही शब्दान्तर से सूचित किया गया है।[१४५]

मीमांसा भाट्टमत

'मीमांसासूत्र' में व्याप्ति निरूपण स्पष्टतया उपलब्ध नहीं होता, किन्तु भाष्यकार शबर स्वामी व्याप्ति-सिद्धान्त से अवश्य ही अवगत थे। इसीलिये उन्होंने अपने अनुमान लक्षण में 'ज्ञात सम्बन्धस्य' पद का आवश्यक रूप से सन्निवेश किया है।[१४६] कुमारिल और प्रभाकर दोनों ने इस पद से नियम रूप साहचर्य सम्बन्ध का ग्रहण किया है। कुमारिल के अनुसार लिङ्ग के साथ लिङ्गी की जो व्याप्ति रहती है वही सम्बन्ध है। व्याप्य गमक तथा व्यापक गम्य होता है। जो समान अथवा न्यून देश-काल की अपेक्षा रखता है, वह व्याप्य तथा जो समान अथवा अधिक देशकाल में विद्यमान रहता है, उसे व्यापक कहा जाता है। व्याप्य के गृहीत हो जाने से व्यापक का ग्रहण नियमतः होता है, किन्तु इसके विपरीत व्यापक से व्याप्य का ग्रहण नहीं होता। तात्पर्य यह कि व्याप्य हेतु में रहने वाली व्याप्ति ही उपयोगी होती है, व्यापक में रहने वाली नहीं। एक ही व्याप्ति संयोग सम्बन्ध की तरह व्यापक और व्याप्य अपने दोनों एक देशों (सम्बन्धियों) में व्याप्त होकर रहने वाली वस्तु नहीं है, क्योंकि साध्य-व्यापक में हेतु व्याप्य की व्याप्ति आवश्यक रूप से नहीं भी रहती है, कारण साध्य का अस्तित्व हेतु विहीन स्थलों में भी उपलब्ध होता है। समान व्याप्ति वाले (जहाँ साध्य और हेतु समान अधिकरणों में रहते हैं अर्थात् साध्य का अधिकरण हेतु के अधिकरण से अधिक व्यापक न हो) स्थलों में जैसे 'घट अनित्य है, कृतक होने से' इस अनुमान स्थल में 'कृतकत्व' हेतु में व्याप्यता की भांति साध्य की व्यापकता भी है क्योंकि दोनों समान व्याप्ति वाले हैं, फिर भी कृतकत्व हेतु में अनित्यत्व साध्य की व्याप्ति होने से ही, उसमें गमकता आ सकती है एवं उसे साध्य का व्याप्य कहा जा सकता है, साध्य का व्यापक होने से नहीं। अन्यथा साध्य के व्यापक होने के कारण ही हेतु में यदि अनुमापकता मान ली जाय, तो 'पर्वत धूमयुक्त है, अग्नि होने से' इत्याकारक व्यभिचारी स्थलों में विद्यमान अग्नि आदि हेतुओं में भी साध्य धूम की व्याप्ति स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि व्याप्ति की प्रयोजिका—साध्य की व्यापकता यहाँ विद्यमान है, कारण वह्नि धूम की व्यापक ही मानी जाती है। अतः व्याप्य हेतु में साध्य की व्यापकता

वस्तुतः रहने पर भी, वह हेतु व्यापक होने के नाते गमक नहीं कहला सकता, क्योंकि साध्य की व्यापकता केवल सम-व्याप्ति विशिष्ट हेतु में ही नहीं रहती, अपितु साध्य से अधिक देश में रहने वाले व्यभिचारी हेतु में भी रहती है जैसे अग्नि हेतु की सत्ता साध्य-धूम विहीन अयोगोलक में भी पाई जाती है।[१४७] व्याप्य और व्यापक की विशिष्ठ स्थिति के आधार पर ही अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियों की व्यवस्था की जाती है। जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है', इस प्रकार से जहाँ व्याप्य से व्यापक का ग्रहण किया जाता है, उसे अन्वय व्याप्ति कहा जाता है। इस व्याप्ति में साध्य का हेतु से व्यापक तथा हेतु का साध्य से व्याप्त होना ही उपयोगी है।' जो-जो अनित्य नहीं है वह-वह कृतक भी नहीं है' इस प्रकार से जहाँ साध्य के अभाव से साधन का अभाव व्यक्त किया जाता है उसे व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्ति में व्याप्य-व्यापक की अवस्थिति अन्वय व्याप्ति के ठीक विपरीत रहती है। इस व्याप्ति में भी हेतु के अभाव द्वारा साध्य के अभाव का व्यापक होना तथा साध्य के अभाव से हेतु के अभाव का व्याप्त (व्याप्य) होना ही अभीष्ट प्रदायक है। कुमारिल ने कहा भी है—"भाव (सत्ता-शील) पदार्थों में साधन (कृतकत्व) व्याप्य तथा साध्य (अनित्यत्व) व्यापक होता है तथा उनके अभाव का इससे ठीक विपरीत क्रम—साध्य-अभाव व्याप्य तथा साधन-अभाव व्यापक होता है। अन्वय व्याप्ति में साधन व्याप्य तथा साध्य व्यापक एवं व्यतिरेक व्याप्ति में साध्याभाव व्याप्य तथा साधनाभाव व्यापक होता है। व्याप्ति प्रदर्शन वेला में 'व्याप्य' को सर्वदा जहाँ-जहाँ के साथ पहले और उसके पश्चात् 'व्यापक' को 'वहाँ-वहाँ' के साथ प्रदर्शित करना आवश्यक है। इस रीति के अनुसार भली प्रकार परीक्षित हुई व्याप्ति तत्त्वतः स्पष्ट हो जाती है। इसलिये नियमतः व्याप्य और व्यापक का प्रयोग करना ही व्याप्ति है।[१४८] पार्थसारथि मिश्र के अनुसार—"जो पदार्थ यादृश (जिस प्रकार) यावत् देशकालवर्ती पदार्थ के साथ संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय, कार्य-कारणभाव आदि किसी भी सम्बन्ध से साक्षात् अथवा परम्परया नियमतः दृष्टान्तधर्मी में सहचरित या निश्चित होता है और उसी प्रकार दूसरे धर्मी में उपलभ्यमान् (उपलब्ध होने की योग्यता रखता हो) होता है तो वहाँ पर तादृश तद्देशवृत्ति तथा तत्काल वृत्ति पूर्वोक्त के सम्बन्धी का अनुमान कराता है, जैसे, आकाशवृत्ति ऊर्ध्वगमनशील धूम अतिदूर-वर्ती वह्नि से नियत होने पर उसी प्रकार से उसका बोधक होता है, इसी तरह नदी की बाढ़ अथवा उसका जल इस काल और इस देश में होने वाली अतिदूरवर्ती तथा भूतकाल में होने वाली वृष्टि का एवं इसी प्रकार चन्द्र का उदय तात्कालिक समुद्रवृद्धि (तूफान) का अनुमापक होता है—व्याप्ति नियम रूप सम्बन्ध ही है जिसमें संयोग आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध निहित है।"[१४९] नारायण भट्ट ने (साध्य और साधन) के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है। स्वाभाविकता उपाधिशून्यत्व ही है।[१५०] इस प्रकार उन्होंने इस प्रसङ्ग में उदयन का अक्षरशः अनुसरण किया है। मीमांसक पूर्वाचार्यों से अपने लक्षण की संगति दिखलाने हेतु उन्होंने व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध, अव्यभिचार तथा अविनाभाव इन सभी को पर्यायवाची बतलाया है।[१५१] चित्र स्वामी के अनुसार नियम रूप सम्बन्ध ही व्याप्ति है। दृश्यमान् देशकाल आदि में जो हेतु का साध्य के साथ सहभाव परिलक्षित होता है, वह ही नियम है। उनके इस लक्षण तथा आगे की व्याख्या में पार्थसारथि मिश्र का ही समर्थन जान पड़ता है।[१५२]

मीमांसा-प्रभाकर मत

प्रभाकर मतानुसार व्याप्ति लक्षण सूचित करते हुए शालिकनाथ ने लिखा है कि जिसका जिसके साथ अव्यभिचरित तथा नियत कार्य-कारण-भाव आदि सम्बन्ध हो वही सद्हेतु हो सकता है तथा इस प्रकार का नियत तथा अव्यभिचरित कार्य-कारण-भाव आदि सम्बन्ध ही व्याप्ति कहलाता है। इसी बात को अभिव्यक्त करने के लिये अनुमान लक्षण में 'ज्ञात सम्बन्ध नियमस्य' पद का उपादान किया गया है जैसे कार्य-धूम का कारण अग्नि के साथ कार्य-कारण-भाव, रस का रूप के साथ एकार्थसमवाय, तथा गन्ध का पृथ्वी के साथ समवाय सम्बन्ध नियत और अव्यभिचरित सम्बन्ध है। इसके विपरीत कार्य अग्नि का कारण धूम के साथ, रूप का रस के साथ एवं पृथ्वी का गन्ध के साथ यदि कार्य-कारण-भाव, एकार्थ-समवाय तथा समवाय सम्बन्ध स्थापित किया जाये तो वह अनियत और व्यभिचरित सम्बन्ध ही होगा।[१५३]

परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि भाट्ट मीमांसकों द्वारा समर्थित व्याप्ति लक्षण निर्दुष्ट नहीं हैं। कुमारिल, पार्थसारथि मिश्र एवं चिन्न स्वामी द्वारा प्रतिपादित लक्षण नियम घटित होने के कारण पूर्वोक्त दोष से युक्त होंगे। नारायण भट्ट द्वारा समर्थित स्वाभाविक अनौपाधिक सम्बन्ध भी पूर्व कथित दोषों के कारण युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार प्रभाकर समर्थित व्याप्ति लक्षण में 'नियत' तथा 'अव्यभिचरित' दो विशेषणों का प्रयोग निरर्थक एवं निष्प्रयोजक ही जान पड़ता है। अव्यभिचरित सम्बन्ध ही नियत सम्बन्ध होता है क्योंकि नियमित सम्बन्ध के अभाव में ही व्यभिचार होता है, इसीलिये व्यभिचरित सम्बन्ध को किसी भी दार्शनिक ने यथार्थ सम्बन्ध नहीं माना है। केवल अव्यभिचरित सम्बन्ध से नियतता का कार्य भी सम्पन्न किया जा सकता है, अतः लक्षण में दोनों विशेषणों का उपादान गौरवमय होगा। दूसरे, अव्यभिचरित सम्बन्ध मानने पर पूर्वोक्त सभी दोष होंगे, फलतः यह लक्षण भी समीचीन नहीं जान पड़ता। ये सभी दोष होते हुए भी मीमांसक कुमारिल के लक्षण में अपेक्षाकृत सारल्य अधिक है। उनके इस कथन की व्याप्य और व्यापक का नियमित प्रयोग ही व्याप्ति है का खण्डन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता, किन्तु व्याप्य और व्यापक पदों का सूक्ष्म परिष्कार उनके अथवा किसी भी मीमांसक आचार्य द्वारा उतना नहीं हुआ है जितना नव्य न्याय दार्शनिकों द्वारा निष्पन्न हुआ है।

सांख्य मत

सांख्यदर्शन में व्याप्ति सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन 'सांख्यकारिका' तथा उसकी टीका—'माठर-वृत्ति' 'गौडपाद-भाष्य' एवं 'सांख्य-तत्त्व-कौमुदि' आदि में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु 'सांख्यसूत्र' और 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' में इसका विस्तृत, सूक्ष्म एवं सार-गर्भित विवरण दिया गया है। महर्षि कपिल ने सत्त्व, रज, तम आदि गुणों को स्वरूपतः अविनश्वर सिद्ध करने के प्रसङ्ग में 'पञ्चावयवी अनुमान का प्रयोग किया है[१५४] और अनुमान व्याप्ति ज्ञान के बिना सर्वथा असंभव है, इसीलिये उन्होंने व्याप्ति लक्षण इस प्रकार सूचित किया है—"दोनों अथवा एक का नियत धर्म साहचर्य ही व्याप्ति है।"[१५५] अर्थात् साध्य के साथ, साध्य-साधन दोनों का अथवा साधन मात्र का जो नियत व्यभिचार-शून्य साहचर्य है उसी को व्याप्ति कहा जाता है।[१५६] सूत्रकार के 'उभय' पद से सम-व्याप्ति तथा 'एकतरस्य' पद से विषम व्याप्ति का बोध होता है। जहाँ साध्य और साधन

दोनों में समान रूप से परस्पर नियत धर्म सहचार पाया जाय वहाँ समव्याप्ति होती है जैसे---'जहाँ-जहाँ पृथ्वी होगी वहाँ-वहाँ गन्ध भी अवश्य होगी' तथा जहाँ-जहाँ गन्ध होगी वहाँ-वहाँ पृथ्वी भी अवश्य होगी' इन दोनों में से एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं रहती, क्योंकि दोनों में नियत धर्म साहचर्य है। जहाँ नियत धर्म साहचर्य केवल साधन में ही पाया जाता है, वहाँ विषम व्याप्ति होती है। जैसे, जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी होती है।' यहाँ धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति है, क्योंकि धूम अग्नि के अभाव में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, किन्तु अग्नि की सत्ता धूमशून्य अयोगोलक आदि में भी पायी जाती है । इसलिये धूम का अग्नि के साथ रहना ही नियत धर्म साहित्य है, अग्नि का धूम के साथ रहना नहीं। 'नियतधर्मसाहचर्य' से भिन्न कोई व्वस्तु व्याप्ति नहीं हो सकती, अन्यथा व्याप्ति के आश्रय जो भी पदार्थ होंगे, उनकी कल्पना का प्रसङ्ग होने लगेगा। अतः केवल सिद्ध वस्तु की ही व्याप्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।[१५७] 'यदि किन्हीं दो पदार्थों या धर्मों का नियत धर्म साहित्य उनसे अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व नहीं है तो वस्तुतः वह क्या है ? इसका समाधान देते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि---"अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रकट होना ही पदार्थों की व्याप्ति है।'[१५८] 'किसी पदार्थ अथवा धर्म में यह सहज स्वाभाविक, सामर्थ्य रहता है, कि वह किसी का कारण अथवा कार्य या प्रयोजक अथवा प्रयोज्य हो। इस प्रकार का सम्बन्ध कृत्रिम अर्थात् बनाने से निर्मित नहीं होता, वरन् यह वस्तुओं का अपना स्वभाव ही है। इसी वस्तु के स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव को नियत अव्यभिचारी सम्बन्ध कहा गया है। क्योंकि कोई भी कार्य अथवा प्रयोज्य अपने कारण अथवा प्रयोजक की उपेक्षा करके अपने अस्तित्व को जीवित नहीं रख सकता। इसी सम्बन्ध द्वारा एक ज्ञात वस्तु से दूसरी अज्ञात वस्तु का अनुमान किया जाता है। सार यह है कि व्याप्य-व्यापक-भाव द्वारा जिन दो पदार्थों में (धर्मों में) परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है, उनमें से व्याप्य की स्वाभाविक शक्ति के उद्भव को ही व्याप्ति कहा जाता है। जैसे, वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में साधन धूम को व्याप्य और साध्य अग्नि को व्यापक कहा जाता है। इन दोनों में से, व्यापक अग्नि का व्याप्य धूम, एक प्रकार की स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न है। इस शक्ति के प्रकटीकरण को ही व्याप्ति कहा जाता है, क्योंकि, धूम अग्नि का कार्य है और कोई भी कार्य कारण के बिना अपने अस्तित्व का लाभ नहीं कर सकता। इस प्रकार, धूम का, अग्नि के साथ जो नियत अव्यभिचरित साहचर्य अभिव्यक्त किया जाता है, वह धूम की अपनी सहज स्वाभाविक कार्य रूप शक्ति से भिन्न और कोई अपर वस्तु नहीं है। 'अनिरुद्धवृत्ति'[१५९] में इस मत को 'स्वमत' अर्थात् सूत्रकार का ही मत माना गया है, किन्तु 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य'[१६०] में इस मत को पर मत अर्थात् किसी अन्य आचार्य का मत मानते हुए खण्डन किया गया है। परन्तु अन्तिम सूत्र 'आधेयशक्ति सिद्धौ निजशक्ति योगः समानन्यायात्'[१६१] में, सूत्रकार द्वारा द्विविध मतों का जो समन्वय किया गया है, उससे अनिरुद्ध मत ही समीचीन जान पड़ता है। पञ्चशिख का मत प्रतिपादित करते हुए सूत्रकार ने आगे लिखा है कि व्याप्ति व्याप्य की स्वाभाविक शक्ति का उद्भव नहीं, प्रत्युत आधेय शक्ति सम्बन्ध है।[१६२] जैसे प्रकृति आदि का बुद्धि आदि में व्यापक तथा बुद्धि आदि के व्याप्य होने के व्यवहार से प्रकृति आदि की आधारता शक्ति व्यापकता व बुद्धि आदि आधेयताशक्ति व्याप्यता कहलाती है और इसी आधेय शक्ति के योग को व्याप्ति कहा जाता है,[१६३] उसी प्रकार

आधार अग्नि में आधेय धूम होने की शक्ति का सम्बन्ध भी व्याप्ति कहलाता है। अभिप्राय यह है कि धूम की उक्त कार्यता स्वाभाविक शक्ति नहीं वरन् आधेय शक्ति हो है क्योंकि, व्युत्पादन द्वारा ही इस शक्ति का आधान किया जाता है। जब तक धूम आदि में किसी व्यक्ति को इस आधेय शक्ति का बोध नहीं कराया जाये तब तक उसमें अग्नि की अनुमापकता नहीं आ पाती अन्यथा अव्युत्पन्न (जिसे व्याप्तिज्ञान नहीं हुआ है) व्यक्ति भी स्वाभाविक शक्ति सम्बन्ध द्वारा अनुमान करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु ऐसा व्यवहार सिद्ध नहीं है। अतः धूम में यह शक्ति सहज स्वाभाविक नहीं किन्तु आधेय है जो उद्‌बोधन द्वारा उपस्थापित कराई जाती है। यह व्याप्य है, यह व्यापक है इस प्रकार के सांकेतिक व्यवहार से होने वाली शक्ति का नाम ही आधेय शक्ति है तथा उसके अव्यभिचारी सम्बन्ध को ही व्याप्ति कहा जाता है। यदि व्याप्य की, आधेय शक्ति को, व्याप्ति न मानकर, स्वरूप शक्ति को नियम अर्थात् व्याप्ति माना जाये, तो क्या हानि है? प्रतिवादी की इस आशंका का निराकरण करने के लिए ही सूत्रकार ने आगामी तीन सूत्रों की रचना की है। उक्त आरोप इसलिये न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता कि, वह्नि की धूम में व्याप्ति धूम का स्वरूप ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'घट कलश है' ऐसा कहने के समान स्वरूप शक्ति कथन में व्याप्य और उसके स्वरूप में अर्थतः कोई भेद प्रसक्त नहीं होता, इसलिये पुनरुक्ति होगी। क्योंकि ऐसा मानने पर दोनों का एक ही अर्थ होगा। जैसे 'अग्नि की धूम में व्याप्ति है' इस कथन में 'धूम में व्याप्ति' यह पुनरुक्त होगा क्योंकि जो धूम है, वही तो व्याप्ति है। इसी प्रकार 'धूम में धूम है', 'व्याप्ति में व्याप्ति है' अथवा 'धूम में व्याप्ति है' इस पुनर्वादपूर्ण अनर्गल प्रलाप से कोई अर्थ सिद्धि की संभावना नहीं हो सकती।[१६४] दूसरी बात यह भी है कि, जब व्याप्य धूम ही व्याप्ति का स्वरूप माना जाय, तब उसके साथ विशेषण रूप से उसका कथन करना निरर्थक होगा। जैसे 'धूम वह्नि का व्याप्य है' यहाँ जब व्याप्ति को धूम का स्वरूप ही माना जाये, तो व्याप्ति को धूम के विशेषण के रूप में व्यक्त करना अर्थविहीन ही होगा।[१६५] तीसरे पल्लव आदि में भी कथित लक्षण की अनुपपत्ति पायी जाती है। जैसे पल्लव आदि (पत्ते आदि) 'वृक्ष आदि के व्याप्य है' यहाँ पल्लव व्याप्य और वृक्ष व्यापक है। पल्लव आदि को देखकर दूरस्थ मनुष्य भी वृक्ष का अनुमान कर लेता है। किन्तु स्वरूप शक्ति युक्त पल्लवों में वृक्ष की अनुमापकता की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि जब पत्ते डाल से टूटकर छिन्न-विछिन्न हो अलग गिर जाते हैं तब उन पत्तों से वहाँ विद्यमान वृक्ष का अनुमान होना संभव नहीं है। किन्तु आधार में रहने वाली आधेय शक्ति को व्याप्ति मानने पर दोष नहीं होगा, क्योंकि पत्तों के वृक्ष रूप आधार से अलग हो जाने पर आधेय शक्ति भी विनष्ट हो जाती है अतः वहाँ अनुमानापत्ति नहीं हो सकती।[१६६] विभिन्न उदाहरणों द्वारा 'अनिरुद्ध वृत्ति'[१६७] में इन्हीं तीन युक्तियों का प्रतिपादन किया गया है। साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि कपिल और उनके शिष्य पञ्चशिख के व्याप्ति लक्षणों में मतवैभिन्य है, किन्तु वास्तव में ऐसा कोई भेद नहीं है, क्योंकि अन्तिम सूत्र में दोनों मतों का सामञ्जस्य स्थापित करते हुए महर्षि ने लिखा है—'आधेय शक्ति का निश्चय हो जाने पर समान न्याय (यथार्थ अनुमान प्रयोग) से स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव रूप सम्बन्ध की भी सिद्धि हो जाती है।[१६८] किसी भी अनुमान में, साधन और साध्य के व्याप्य-व्यापक-भाव का ग्रहण जब तक किसी व्यक्ति को नहीं हो जाता, तब तक अनुमान होना

संभव नहीं। जैसे, 'धूम अग्नि का व्याप्य अथवा कार्यत्व या उत्पत्तिधर्मकत्व अनित्य का व्याप्य है', जब यह बोध हो जाता है तभी व्याप्य धूम से व्यापक अग्नि का अथवा व्याप्य कार्यत्व या उत्पत्तिधर्मकत्व से व्यापक अनित्यत्व का अनुमान निष्पन्न होता है। इस प्रकार हेतु में साध्य की व्याप्ति को अवगम कर लेना ही आधेय शक्ति (संकेत) है। इसका भली भांति निश्चय हो जाने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याप्ति वस्तुतः हेतु की निजी अर्थात् सहज स्वाभाविक शक्ति ही है। हेतु में अनुमापकता का निश्चय केवल हमारे जान लेने मात्र से हो जाता हो, ऐसी बात नहीं, वरन् वह उसमें स्वतः विद्यमान है। उसका जान लेना व्यवहार में इसलिए उपयोगी होता है कि, उसके द्वारा अनुमान-प्रयोग किया जाता है। समान न्याय' का तात्पर्य है यथार्थ अनुमान प्रयोग। अतः आधेय शक्ति का निश्चय हो जाने पर समान न्याय से यह स्पष्ट हो जाता है कि निजी शक्ति का उद्भव ही व्याप्ति है। व्याप्तिविषयक ज्ञान यथार्थ अनुमान के प्रयोग में उपयोगी है इसलिये वह आवश्यक है परन्तु व्याप्ति का स्वरूप हेतु का सहज धर्म ही है। ऐसा समझ लेने के पश्चात् परस्पर कोई विरोध अथवा असामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता। पूर्व सूत्र 'निज शक्त्युद्भवम् इति आचार्याः' में भी सूत्रकार ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वहाँ 'उद्भव' पद का निवेश किया गया है। हेतु की साहचर्य अथवा अनुमापकता रूप निजी शक्ति का उद्भव (प्रकाशन) व्युत्पादन द्वारा ही होता है इसलिये पञ्चशिख के लक्षण का अभिप्राय भी इसी में अन्तर्निहित है।

विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रकार द्वारा समन्वित हो जाने पर भी पञ्चशिख द्वारा प्रतिपादित आधेय शक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि भ्रांतिवश यदि कहीं असद्हेतु में व्युत्पादन द्वारा अनुमापकता का आधार कर दिया जाये तो आधेय शक्ति सम्बन्ध रूप व्याप्ति होने पर भी यथार्थ अनुमिति नहीं हो पायेगी। जैसे, व्याप्ति का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जाये—'जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम भी होता है' यहाँ पर अग्नि में आधेय शक्ति विद्यमान होने पर भी धूम का अनुमान कराने के लिये उसमें स्वाभाविक सामर्थ्य नहीं है, अतः केवल आधेय शक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति मान लेने पर सर्वत्र भ्रान्तिस्थलों में असद्हेतु में हेतुता की प्रसक्ति होने लगेगी एवं असद्हेतु में सद्हेतु की आपत्ति लग जायगी अर्थात् वह भी सद्हेतु माना जाने लगेगा। अतः यह लक्षण समीचीन नहीं जान पड़ता। सूत्रकार के व्याप्ति लक्षण में कुमारिल और वाचस्पति मिश्र का ही समन्वय जान पड़ता है।

योग मत

सांख्यसूत्रों की तरह योग सूत्र में भी व्याप्तिचर्चा उपलब्ध नहीं होती, किन्तु भाष्यकार व्यास ने सम्बन्ध के रूप में व्याप्ति लक्षण का विन्यास इस प्रकार किया है— 'जो अनुमेय के साथ समान जातीय पदार्थों में अनुवृत्त (युक्त) एवं भिन्न जातीय पदार्थों से व्यावृत्त—(पृथक् कराने वाला हो) हो, उसे सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे 'चन्द्र, तारागण आदि गतिशील है, देशान्तर की व्याप्ति होने से, चैत्र की तरह'। इस अनुमान में 'जो-जो देशान्तर प्रांत वाला होता है वह-वह गतिशील होता है 'ऐसी व्याप्ति बनायी जा सकती है, क्योंकि यह साध्य 'गतिशीलता' के साथ समान जातीय चैत्र से अनुवृत्त है, कारण कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच सकने की योग्यता रखने के कारण चैत्र गतिशील माना जाता है। तथा यह असमान अर्थात् भिन्न जातीय विन्ध्याचल से व्यावृत्त

है, क्योंकि एक देश विशेष में ही स्थायी रूप से ठहरा रहने अर्थात् अवस्थित रहने के कारण उसमें गतिशीलता का अभाव है अतः अनुमेय के साथ समान जातियों में युक्त तथा भिन्न जातियों से पृथक् कराने वाला जो सम्बन्ध है वही यहाँ व्याप्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[१६९] तत्त्ववैशारदी में भी इसी का समर्थन किया गया है।[१७०]

किन्तु सम्बन्ध मात्र को उक्त दोषों के कारण व्याप्ति नहीं माना जा सकता।

वेदान्त मत

वेदान्त दर्शन में, खण्डनकार ने, व्याप्ति के, 'अविनाभाव', साध्य साधन के 'विपक्ष वृत्तित्व' (साध्याभावाधिकरण वृत्तित्व) में बाधक होने वाले दोनों के अन्वय, एवं 'स्वाभाविक सम्बन्ध' आदि लक्षणों का, व्याप्ति ग्रहण साधनों की पृष्ठभूमि में खण्डन किया है।[१७१] किन्तु चित्सुखाचार्य ने व्याप्ति के, 'अविनाभाव' 'स्वाभाविक सम्बन्ध' एवं 'निरुपाधिक संबन्ध' आदि लक्षणों का पृथक्-पृथक् विशद रूप से खण्डन किया है[१७२] दोनों का लक्ष्य प्रचलित व्याप्ति लक्षणों की आलोचना तक ही सीमित रहा है, इसीलिए इन्होंने कोई सिद्धान्त लक्षण प्रतिपादित नहीं किया। 'वेदान्त परिभाषा' तथा उसकी टीकाओं में ऐसी न्यूनता प्परिलक्षित नहीं होती। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार 'अशेष (सकल) साधनों के अधिकरण में रहने वाले साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।'[१७३] इसी को परिष्कृत करते हुए अर्थदीपिकाकार ने लिखा है—साधनतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साधन के अधिकरण में रहने वाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साध्य का हेतु के समान अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है।[१७४] 'शिखामणि'[१७५] और 'मणिप्रभा'[१७६] में भी थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ यही लक्षण व्यक्त किया गया है। 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से' इस अनुमान में उक्त परिष्कृत लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा—साधन धूम के अवच्छेदक धर्म धूमत्व से विशिष्ट धूम के अधिकरण पर्वत में रहने वाले साध्य वह्नि के अवच्छेदक धर्म वह्नित्व से विशिष्ट वह्नि का हेतु धूम के साथ सामानाधिकरण्य अर्थात् एक अधिकरण पर्वत में वृत्ति रहना ही व्याप्ति है। 'पर्वत धूमवान् है' वह्नि होने से' इस व्यभिचारी स्थल में भी लक्षण अतिव्याप्त नहीं है जैसे, साधन वह्नि के अवच्छेदक धर्म वह्नित्व से अवच्छिन्न वह्नि का अधिकरण पर्वत की भांति अयोगोलक भी है, उसमें साध्यतावच्छेदक धूमत्व से अविच्छिन्न धूम की सत्ता नहीं है।

गम्भीरता से विचार करने पर विदित होगा कि वेदान्त परिभाषाकार का यह लक्षण गङ्गेश के सिद्धान्त लक्षण—'हेतु व्यापक साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः 'तथा वर्धमान के' यावत् साधनाश्रयाश्रित साध्य सम्बन्धः', कार्त्स्न्येन सम्बन्धः व्याप्तिः' इस लक्षण का शब्दान्तर से निर्वचन मात्र है। 'व्याप्ति-पञ्चक' के चतुर्थ लक्षण में 'सकल' पद का अर्थ 'अशेष' भी किया गया है जैसा कि कहा गया है—"सकल पदं अशेष परं न तु अनेक परम्"। 'अशेष' का अर्थ है व्यापकत्व इसलिये 'अशेष साधनाश्रयाश्रित' पद में प्रयुक्त अशेष पद का अर्थ भी व्यापकत्व ही होगा। साधनाश्रयाश्रित का तात्पर्य है 'साधन के अधिकरण में रहने वाला' तदनुसार 'हेत्वधिकरणवृत्यभावाप्रतियोगि साध्य समानाधिकरण्यं व्याप्तिः' यह सिद्धान्त व्याप्ति ही प्रतिफलित होती है। यदि 'अशेष' पद का अर्थ 'अनेक' लिया जाय तो भी 'व्यापक सामानाधिकरण्यं' अर्थ ही सिद्ध होता है, क्योंकि साधन के यावत् अधिकरणों में साध्य की सत्ता का प्रतिपादन करने से व्यापकत्व की सिद्धि हो जाती है। ऐसा लक्षण स्वीकार कर लेने पर पूर्वोक्त वे सभी दोष होंगे जिनका दीधितिकार

ने परिष्कार किया है। परिभाषाकार के लक्षण में यत्किञ्चित् व्यक्ति साध्यक तथा घटो द्रव्यं गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्त्वात्' आदि स्थलों को लेकर अव्याप्ति न हो, इसीलिये अर्थदीपिकाकार ने साध्यपद को साध्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न तथा हेतु पद को हेतुतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट गृहीत किया है, किन्तु, 'शिखामणि' एवं 'मणिप्रभा' में केवल प्रथम परिष्कार ही प्रतिपादित किया गया है, उनके लक्षण में 'साधनतावच्छेदकावच्छिन्न' पद का निवेश नहीं किया गया है। इतना होने पर भी समवाय सम्बन्ध को लेकर लक्षण में अव्याप्ति हो सकती है अतः पूर्व की भांति साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न तथा हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न के साथ साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न तथा साधनतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न का उपादान करना भी आवश्यक है। इसलिए उक्त सभी लक्षण नैयायिकों से पर्याप्त रूप से प्रभावित जान पड़ते हैं। दूसरी बात यह भी है कि कार्त्स्न्येन पद की भांति अशेष पद मानने पर भी पूर्वकथित सभी आरोप उपस्थापित होंगे। पुनः लक्षण इसलिए भी समीचीन नहीं जान पड़ते कि इनमें 'प्रतियोग्यव्यधिकरण' विशेषण का उपादान नहीं किया गया है। अतः अव्याप्य वृत्ति—'अयं वृक्ष कपिसंयोगी, एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादि स्थलों में अव्याप्ति होगी।

बौद्ध मत

बौद्ध दर्शन के सद्हेतु विवेचन के प्रसङ्ग में यह बतलाया जा चुका है कि यथार्थता दो बातों पर निर्भर रहती है—हेतु को पक्ष का धर्म तथा पक्ष के एक अंश साध्य से व्याप्त होना।[१७७] दिङ्नाग के इसी कथन में व्याप्ति सिद्धान्त निहित है, जिसको आगे जाकर उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्यों ने पल्लवित किया है। उनके पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थों में व्याप्ति का स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं होता। 'प्रमाणसमुच्चय' की इस अपूर्ण उद्धरित पंक्ति का ठीक-ठीक आशय तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक वह पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो जाती। धर्मकीर्ति ने सद्हेतु[१७८] लक्षण के विषय में आचार्य दिङ्नाग का अक्षरशः अनुसरण किया है। कर्णकगोमिने व्याप्ति लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है—"कार्य स्वभाव आदि लिङ्गों का साध्य धर्म के अभाव में न पाया जाना ही अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति है।"[१७९] व्युत्पत्ति के अनुसार 'अ+विना+भाव' साध्य के (विना) अभावीय स्थलों में हेतु की (भाव)—सत्ता (अ) न होना। आपाततः यह शब्दार्थ-विन्यास व्यतिरेक व्याप्ति तक ही सीमित जान पड़ता है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि 'साध्य के बिना हेतु का न होने' का अर्थ है साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव होना। अविनाभाव उन दो वस्तुओं का नियत सम्बन्ध है, जहाँ एक वस्तु अपर वस्तु के विरह में कदापि उपलब्ध नहीं होती जैसे, स्वभाव हेतु शिंशपात्व साध्य वृक्षत्व तथाकार्य 'धूमवत्त्व' साध्य वह्नित्व के बिना कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि हेतु शिंशपात्व और धूमवत्त्व का साध्य वृक्षत्व और वह्नित्व से अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। 'न्यायबिन्दु' में इस अविनाभाव सम्बन्ध को 'स्वभाव-प्रतिबन्ध' के रूप में सूचित किया गया है। इस सम्बन्ध में होने पर भी साधन अर्थ से साध्य अर्थ को अवगम किया जा सकता है। जो वस्तु स्वभाव से प्रदिबद्ध नहीं होती, उसका उस अप्रतिबद्ध विषय में अव्यभिचार नियम नहीं पाया जाता है। और यह स्वभाव प्रतिबन्ध साध्य अर्थ में लिङ्ग का होता है।[१८०] धर्मकीर्ति के तात्पर्य को धर्मोत्तर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"लिङ्ग परायत (पराधीन) तथा साध्य अपरायत होने के कारण प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध कहलाते हैं।

जो प्रतिबद्ध होता है वह गमक तथा जो प्रतिबन्ध का विषय होता है वह गम्य कहा जाता है। जो जहाँ स्वभावतः प्रतिबद्ध नहीं होता, उसका अपने अप्रतिबद्ध विषय के साथ वहाँ अव्यभिचार नियम नहीं पाया जाता, किन्तु जो हेतु अप्रतिबद्ध नहीं होता, उसका अप्रतिबद्ध विषय के साथ कोई व्यभिचार न होने के कारण अव्यभिचार नियम पाया जाता है। इसी अव्यभिचार नियम को अविनाभाव कहा जाता है। और इसी नियम के बल पर साध्य और साधन में गम्य-गमक-भाव की निष्पत्ति होती है। अविनाभाव नियम के अभाव में गम्य-गमक-भाव नहीं बन पाता, कारण लिङ्ग अपनी योग्यता के बल पर, प्रदीप की भांति वस्तुओं को प्रकाशित करने वाला निमित्त नहीं है। उसका निश्चय अव्यभिचारिता पर ही अवलम्बित है। अतः स्वभाव प्रतिबन्ध होने पर अविनाभाव और अविनाभाव होने पर गम्य-गमक-भाव निष्पन्न हो सकता है। इसी स्वभाव प्रतिबन्ध के आधार पर ही एक अर्थ दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है, अन्य प्रकार से नहीं।"[181] व्याप्य और व्यापक दोनों का धर्म होने के नाते व्याप्ति दो प्रकार से व्यक्त की जाती है—व्याप्य के होने पर व्यापक का होना अवश्यंभावी है और व्यापक के होने पर ही व्याप्य हो सकता है, अन्यथा नहीं। इन्हीं दोनों धर्मों को क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक कहा जाता है।[182] इसी की व्याख्या अर्चट ने इस प्रकार की है—"व्यापक धर्म के रूप में जिस धर्मी में व्याप्य विद्यमान है वहाँ सर्वत्र व्यापक का सद्भाव ही होगा। व्याप्ति में इसी को व्यापकधर्मता कहा जाता है। इसीलिये व्यापक की अपेक्षा से व्याप्य में व्याप्यता की प्रतीति होती है। व्याप्य धर्म के रूप में जब व्याप्ति विवक्षित होती है तब व्यापक के होने पर ही व्याप्य का सद्भाव पाया जाता है अर्थात् जिस धर्मी में व्यापक रहता है, उसी धर्मी में व्याप्य भी पाया जाता है, व्यापक के अभाव में नहीं। व्याप्ति में व्याप्य और व्यापक की धर्मता का वर्णन इसलिये किया जाता है कि, दोनों का समान धर्म होने से उसकी एकाकार प्रतीति न हो। जैसे 'व्यापकस्य तत्र भावएव'—व्यापक की वहाँ सत्ता ही है—इस स्थल में अयोग का व्यवच्छेद करके निश्चय किया गया है। 'व्याप्य के होने पर व्यापक होगा ही।' यहाँ अयोग व्यवच्छेदक इसलिये है व्याप्य के होने पर व्यापक का अयोग हो ही नहीं सकता। जैसे, 'चैत्र धनुर्धर है' ऐसा कथन करने पर कोई व्यक्ति ऐसी आशंका करता है कि चैत्र में धनुर्धरत्व है या नहीं, तब उक्त वक्तव्य द्वारा 'चैत्र धनुर्धर नहीं है' इस आयोग का निराकरण हो जाता है। एवं व्यापक के होने पर ही व्याप्य का सद्भाव होता है, अन्यथा नहीं। यहाँ अन्ययोग व्यवच्छेद द्वारा अवधारण किया गया है। जैसे 'पार्थ धनुर्धर है' पार्थ में धनुर्धरत्व सर्वप्रसिद्ध है, किन्तु किसी अन्य व्यक्ति में भी इस प्रकार का विशिष्ट धनुर्धरत्व है अथवा नहीं, ऐसी शंका उपस्थित होने पर 'पार्थ धनुर्धर है' इस कथन द्वारा अन्ययोग व्यवच्छेद अर्थात् किसी अन्य पुरुष में विशिष्ट धनुर्धरत्व का अभाव सिद्ध हो जाता है। कहा भी गया है, 'लिङ्ग के होने पर लिङ्गी होता ही है तथा लिङ्गी के होने पर ही लिङ्ग होता है अन्यथा नहीं। इस नियम का विपर्यास हो जाने पर लिङ्ग और लिङ्गी में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।'[183] सारांशतः साध्य का साध्य में नियतत्व का व्यवस्थापन तथा साध्याभाव में साधना भाव की नियतता का प्रदर्शन करना ही अविनाभाव है। हेतु के साधर्म्य प्रयोग में साधन व्याप्य और साध्य व्यापक तथा वैधर्म्य प्रयोग में साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है। जैसे, जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है एवं जहाँ

अग्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का अभाव भी अवश्यंभावी है। इस प्रकार एक के (साधर्म्य) प्रयोग करने पर अर्थापत्ति द्वारा अन्य दूसरे (वैधर्म्य) की भी सिद्धि हो जाती है।[१८४]

गङ्गेश ने बौद्धाभिमत अविनाभाव का खण्डन करते हुए लिखा है कि साध्य के अभाव में साधन का न होना अथवा साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का अभाव पाया जाना रूप अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केवलान्वयी अनुमान में जहाँ कोई विपक्षभूत दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं होता वहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी।[१८५] 'चित्सुखी' में भी आया है—"यह अविनाभाव वस्तुतः क्या है—(१) साधन के होने से साध्य का होना अथवा (२) साध्य के बिना साधन का न होना या (३) अथवा दोनों। प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि केवल व्यतिरेकी हेतु में जहाँ-जहाँ साधन होता है वहाँ-वहाँ साध्य भी होता है' इत्याकारक अन्वय व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती। यदि पक्ष से अतिरिक्त अन्यत्र कहीं हेतु का सद्भाव माना जाय, तो हेतु की केवल व्यतिरेकिता स्थिर नहीं रह सकती। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसमें 'जहाँ-जहाँ सांध्याभाव है वहाँ-वहाँ साधनाभाव भी है' इस प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति का निर्देश किया गया है जो केवलान्वयी हेतु में नहीं पायी जाती। अन्तिम कल्प अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति स्वरूप है जो अन्वयव्यतिरेकी हेतु में रहने पर भी केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओं में नहीं है।'[१८६] इस लक्षण की आलोचना करते हुए शंकर मिश्र ने भी लिखा है कि अविनाभाव का अर्थ क्या 'साध्य के बिना हेतु का अभाव होना अथवा 'साध्य सम्बन्ध के बिना हेतु का अस्तित्व न होना' है ? द्वितीय पक्ष को इसलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता कि, 'पर्वतो वह्निमान् है, धूम होने से' इस अनुमान में उक्त अर्थ के अनुसार यदि कहीं पर रासभ के बिना भी धूम का अभाव देखा जाता है तो जिस प्रकार धूम को वह्नि का व्याप्य कहा जाता है, उसी प्रकार रासभ को भी वह्नि का व्याप्य मानना होगा। इसी प्रकार प्रथम पक्ष में जहाँ कहीं रासभ न होने पर धूम का अस्तित्व भी दृष्टिगोचर होता है वहाँ भी उक्त आपत्ति होगी। नियत व्यतिरेक एवं अन्वय न होने के कारण उक्त दोनों अर्थों को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों स्थलों में धूम में रासभ की व्याप्यता ही आपत्ति लग जाती है।[१८७]

जैन मत

जैन दार्शनिकों ने भी प्राचीन न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दार्शनिकों की भांति अविनाभाव को ही व्याप्ति माना है। माणिक्यनन्दी के अनुसार सहभाव-नियम और क्रमभाव-नियम ही अविनाभाव है।[१८८] सहचारी और व्याप्य-व्यापक भूत पदार्थों में सहभाव नियम[१८९] तथा पूर्वचर, उत्तरचर और कार्य-कारण भूत पदार्थों में क्रमभाव नियम पाया जाता है।[१९०] इसकी व्याख्या करते हुए अनन्तवीर्य ने लिखा है कि सहचारी रूप, रस आदि में तथा वृक्षत्व शिंशपात्व आदि व्याप्य-व्यापक-भाव वाले पदार्थों में सहभाव नियम पाया जाता है। जैसे, 'संतरा रूप वाला है, रस होने से।' यहाँ जहाँ-जहाँ रस होता है वहाँ-वहाँ रूप भी होता है' ऐसी व्याप्ति बनाई जा सकती है, क्योंकि हेतु 'रस' साध्य 'रूप' के अभाव में कहीं भी नहीं पाया जाता। इसके विपरीत यदि 'संतरा रस वाला है, रूप होने से, इस अनुमान का उत्थापन किया जाय तो अनुमान यथार्थ नहीं होगा, क्योंकि हेतु रूप साध्य रस के अभाव वाले पदार्थ तेज रूप अग्नि में भी पाया जाता है।

अतः 'जहाँ-जहाँ रस रहता है वहाँ-वहाँ रूप भी रहता है' इस प्रकार सहचारियों का ज्ञापन करना ही सहभाव नियम है। इसी प्रकार 'यह वृक्ष है, शिशपा होने से' इस अनुमान में साध्य वृक्षत्व के बिना हेतु शिशपात्व के न पाये जाने से शिशपात्व व्याप्य तथा हेतु शिशपात्व के बिना भी आम्र आदि में साध्य वृक्षत्व पाया जाने से व्यापक कहलाता है। यहाँ 'जो शिशपा है वह वृक्ष है' यही व्याप्य-व्यापक-भाव सहभाव नियम है 'जो वृक्ष है वह शिशपा है' यह नहीं। नियत पूर्ववर्ती कृत्तिकोदय और उत्तरवर्ती शकटोदय में तथा धूम और अग्नि में कार्यकारण भाव होने से क्रमभाव नियम पाया जाता है। कृतिकोदय और शकटोदय में क्रमभाव नियम इसलिये है कि व्योम में कृतिका नक्षत्र का उदय शकट नक्षत्र के एक मुहूर्त्त पहिले हो जाता है और शकट नक्षत्र का उदय, कृतिका नक्षत्र का उदय हो जाने के एक मुहूर्त पश्चात् होता है अतः नियत रूप से पूर्व और पश्चात् उदय होने की अपेक्षा से इन दोनों नक्षत्रों में क्रमभाव नियम पाया जाता है। इसी प्रकार धूम, अग्नि से उत्पन्न होने के कारण अग्नि का कार्य कहलाता है और अग्नि कारण। अतः नियत कार्य-कारण-भाव होने के नाते 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' ऐसी व्याप्ति बनाई जा सकती है, क्योंकि यहाँ कार्य धूम की सत्ता कारण अग्नि के अभाव में उपलब्ध ही नहीं होती। इसके विपरीत 'जहाँ-जहाँ अग्नि पाई जाती है वहाँ-वहाँ धूम भी होता है' यह व्याप्ति कार्यकारण भाव अनियत होने के कारण युक्त नहीं, क्योंकि कार्य अग्नि, कारण धूम के अभाव में भी जलते हुए अंगारों में याई जाती है।[१९१] अनन्तवीर्य की 'प्रमेयरत्नमाला' में प्रभाचन्द्र का अक्षरशः अनुसरण पाया जाता है।[१९२] हेमचन्द्र के अविनाभाव लक्षण विवेचन में दोनों-माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र के विचारों का समन्वय किया गया है। सूत्र रचना, की शैली वही है जो माणिक्यनन्दी ने अपनाई है, किन्तु हेमचन्द्र ने एक ही सूत्र सर्जन कर, उसकी वृत्ति में वे सभी तथ्य समाविष्ट कर दिये हैं, जिनके लिये माणिक्यनन्दी को अन्य दो सूत्रों की रचना करनी पड़ी और उदाहरण विन्यास के लिये प्रभाचन्द्र की टीका प्रतिफलित हुई।[१९३] दूसरी बात यह भी है कि, बौद्ध आचार्य अर्चट का अनुगमन करते हुए उन्होंने व्याप्ति को व्याप्य धर्म एवं व्यापक धर्म के रूप में भी उपन्यस्त किया है।[१९४] रत्नप्रभाचार्य के अनुसार साध्य साधन के गम्य-गमक-भाव सम्बन्ध को ही अविनाभाव रूप व्याप्ति कहा गया है।[१९५] इन्हीं का समर्थन करते हुए धर्म भूषण ने, साध्य और साधन में गम्य-गमक-भाव का साधक एवं व्यभिचार की गन्ध से रहित जो सम्बन्ध विशेष है, उसी को व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव कहा है।[१९६]

जैन तार्किकों द्वारा समर्थित अविनाभाव पक्ष में भी वे सभी दोष होंगे जिनका निरूपण बौद्ध व्याप्ति खण्डन-प्रसङ्ग में किया गया है। माणिक्यनन्दी प्रभाचन्द्र अनन्त-वीर्य तथा हेमचन्द्र समर्थित सहक्रमभाव नियम रूप अविनाभाव में भी कोई नवीनता परिलक्षित नहीं होती, क्योंकि इन दोनों का विवरण प्रशस्तपादभाष्य में दैशिक व्याप्ति और कालिक व्याप्ति में किया जा चुका है जिनको शब्दान्तर रूप से यहाँ सूचित किया गया है। सहभाव और क्रमभाव नियम के चारों उदाहरणों को व्याप्य-व्यापक-भाव के रूप में सन्निविष्ट किया जा सकता है। संभवतः इसी कारण रत्नप्रभाचार्य ने गम्य-गमकभाव सम्बन्ध को ही अविनाभाव के रूप में गृहीत किया है और इसी में 'व्यभिचार-शून्यता' विशेषण जोड़कर धर्मभूषण ने अभिनीत किया है। उक्त दोनों आचार्यों के लक्षण पर्याप्त रूप से नैयायिक, मीमांसक एवं बौद्ध तार्किकों द्वारा प्रभावित जान पड़ते हैं। अतः

व्याप्य-व्यापक-भाव या गम्य-गमकभाव के परिप्रेक्ष्य में माणिक्यनन्दी प्रणीत सहचारी-भाव, व्याप्य-व्यापक-भाव, पूर्व-उत्तरचारीभाव तथा कार्यकारणभाव ये चारों सन्निविष्ट हो जाने के कारण निष्प्रयोजक एवं निरर्थक से जान पड़ते हैं।

उक्त सभी मतों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि तार्किकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार व्याप्ति के रूप में साध्य और हेतु का ऐसा सम्बन्ध प्रस्थापित करने का प्रयास किया है, जिसके द्वारा यथार्थ अनुमान निष्पन्न हो सके। साध्य साधन के इसी सम्बन्ध को 'प्रसिद्धि', 'नियम', 'साध्यसाधनभाव', 'समय', 'साहचर्य', 'अविनाभाव', 'स्वाभाविक सम्बन्ध', 'अनौपाधिक सम्बन्ध', 'नित्य साहचर्य', 'कात्स्र्न्येन सम्बन्ध', 'अव्यभिचरित सम्बन्ध', 'व्याप्ति', 'सम्बन्धनियम', 'स्वभाव प्रतिबन्ध', 'नियत धर्म साहित्य', 'आधेयशक्ति योग', 'सम्बन्ध' आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। प्राचीन न्याय-वैशेषिक-मीमांसा, सांख्य-योग, बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों ने अपने-अपने लक्षणों द्वारा साध्य और साधन के यथार्थ सम्बन्ध को सूचित करने के लिए हेतु की अव्यभिचारता पर ही अधिक बल दिया है। वस्तुतः इन सभी ने व्याप्यत्व का ही परिष्कार किया है। गङ्गेश और उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस परिष्कार को पूर्वपक्ष में रखकर सिद्धान्त लक्षण में व्यापकत्व का भी परिष्कार किया है एवं व्याप्ति, व्याप्य और व्यापक दोनों का धर्म है, इसलिये उन्होंने दोनों का समन्वय करते हुए दोनों को समान अधिकरण में गृहीत होना भी आवश्यक बतलाया है। दीधितिकार का उभयाभाव घटित लक्षण ही परिष्कृत होने के कारण अधिक समीचीन जान पड़ता है। अन्य सभी लक्षण किसी न किसी रूप में दूषित हैं, जिनका खण्डन-मण्डन यथा स्थान किया गया है।

व्याप्ति-ग्रहण के साधन

व्याप्ति के विभिन्न लक्षणों का विवेचन हो जाने के उपरान्त यह प्रश्न होना स्वभाविक है कि साध्य और साधन के यथार्थ व्याप्ति सम्बन्ध को किस प्रकार गृहीत किया जाये, क्योंकि, यही वह मूल धुरा है जिसके आधार पर अनुमान का चक्र अनवरत घूमता रहता है। साधन धूम को देखकर साध्य अग्नि का देशान्तरीय व कालान्तरीय अनुमान तभी किया जा सकता है, जब यह अटूट विश्वास हो जाय कि, अग्नि के विरह में धूम की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती और उनके नियत साहचर्य में किसी प्रकार का कोई अपवाद पाया ही न जाये। अपवाद विहीन इस नियत सम्बन्ध के अन्वेषण के लिये ही तार्किकों ने 'अन्वय-व्यतिरेक सहचार', 'सकृद्दर्शन', 'भूयोदर्शन', 'व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन', आदि साधनों की अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार कल्पना की है, जिनके माध्यम से उन्होंने साध्य-साधन के यथार्थ सम्बन्ध को अवगम करने का प्रयास किया है। इन साधनों के प्रसङ्ग में भी व्याप्ति लक्षणों की भांति पर्याप्त मत वैभिन्य परिलक्षित होते हैं।

न्याय-वैशेषिक मत—अन्वय, व्यतिरेक तथा अन्वय-व्यतिरेक-सहचार

ऐतिहासिक दृष्टि से महर्षि कणाद व्याप्ति ग्राहक उपायों के प्रथम प्रवर्तक जान पड़ते हैं। उन्होंने प्रसिद्धियुक्त कार्य, कारण, संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी एवं विरोधी लिङ्गों के विवेचन में कार्यकारणभाव, संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय तथा विरोध सम्बन्धों का उपन्यास किया है। उक्त पाँच सम्बन्धों से सम्पन्न हेतु ही सद्हेतु हो सकता है। अतः प्रसिद्धि रूप व्याप्ति के साधन भी ये ही सम्बन्ध होंगे।[१९७] किन्तु व्याप्ति

ग्राहक माध्यमों को केवल उक्त सम्बन्धों की परिधि में ही प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता। केवल कार्यकारणभाव आदि को यदि प्रसिद्धि का ग्राहक माना जाये तो कृत्तिका के उदय होने से रोहिणी के उदय होने का, तथा चन्द्रमा के उदय होने से, समुद्र वृद्धि का अनुमान नहीं हो सकेगा, क्योंकि, इन दोनों यथार्थ अनुमानों में उक्त कोई भी सम्बन्ध नहीं पाया जाता। सूत्रघटक 'सम्बन्ध' पद का अर्थ यदि सभी सम्बन्धों का संग्राहक अभीप्सित समझा जाये तो भी युक्त नहीं, क्योंकि वह संयोग समवाय परक है। दूसरी बात यह भी है कि यदि सम्बन्ध पद को सभी सम्बन्धों का ग्रहणकर्ता माना जाय तो कार्य-कारण आदि का पृथक् से ग्रहण करना व्यर्थ हो जायगा। फिर कार्य-कारणभाव से ही यदि अनुमान निष्पन्न होने लगे, तो वह्नि से ही धूम का अनुमान हो जाना चाहिये, क्योंकि वह्नि धूम का कारण और धूम वह्नि का कार्य ही है। किन्तु ऐसा अनुभवगम्य नहीं, कारण वह्नि और धूम में ही गम्यगमक-भाव पाया जाता है, विपरीत नहीं। इसी प्रकार वृक्षत्व से शिंशपात्व का अनुमान भी होना चाहिये क्योंकि इन दोनों में एकार्थसमवाय सम्बन्ध पाया जाता है,[१९८] किन्तु रूप से होने वाले रस के अनुमान की तरह यहाँ भी गम्यगमकभाव निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि वृक्षत्व, शिंशपात्व के अभाव में आम्र आदि तथा रूप, रस के अनधिकरण तेज आदि में भी पाया जाता है। अतः इस सम्बन्ध को भी व्याप्ति ग्राहक प्रमाण नहीं माना जा सकता। संयोग सम्बन्ध में भी यही दोष है। जैसे, 'यह छत्र वाला है, कमन्डल होने से,' यहाँ छत्र के अभाव में भी कमन्डल उपलब्ध होता है। समवाय और विरोध सम्बन्ध भी प्रसिद्धि साधक माध्यम नहीं बन सकते, क्योंकि यह पृथ्वी है रूप होने से' यहाँ रूपत्व हेतु पृथ्वी भिन्न जल आदि में भी रहता है तथा भूतकालिक वर्षण क्रिया के द्वारा अभूतकालिक वायुअभ्र संयोग का अनुमान और भूतकालिक वर्षण क्रिया से भूतकालिक वायुअभ्र संयोग का यथार्थ अनुमान इसलिये होता है कि यहाँ भाव और अभाव में गम्य-गमक-भाव है, किन्तु इनमें विरोध नहीं है। इसलिये इन सम्बन्धों को व्याप्ति का ग्राहक नहीं माना जा सकता।[१९९] पार्थसारथि और शालिकनाथ की इस आलोचना में वाचस्पति मिश्र का ही समर्थन प्रतीत होता है।[२००]

संभवतः इन्हीं दोषों को दृष्टि में रखते हुए प्रशस्तपाद ने इन आलोचकों के कई वर्ष पूर्व उद्घोष कर दिया था कि महर्षि द्वारा प्रदर्शित किये गये सभी सम्बन्ध निदर्शन के लिए हैं, अवधारण के लिये नहीं।[२०१] अतः उक्त आलोचनाओं में कोई नवीन तथ्य उद्भावित नहीं होता। इसीलिये उन्होंने विधि के रूप में 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी होती है' तथा 'जहाँ अग्नि का अभाव पाया जाता है वहाँ धूम का अभाव पाया जाता है' अन्वय-व्यतिरेक को ही समय अर्थात् व्याप्त का ग्राहक बतलाया है। किन्तु 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्' रूप अन्वय सहचार तथा 'यदभावे यदभावः' रूप व्यतिरेक सहचार को भी व्याप्ति ग्रहण करने का उपाय नहीं माना जा सकता, क्योंकि ईंट के भट्टे आदि के पास अग्नि और रासभ साथ-साथ पाये जाने, तथा पाकशाला आदि में न पाये जाने से अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक दोनों सहचार होने पर भी अग्नि और रासभ में व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता। कारण दोनों ही एक दूसरे के व्यभिचारी हैं। गङ्गेश[२०२] और सांख्यसूत्रकार[२०३] ने इसीलिए आलोचना करते हुए लिखा है कि सकृद् दर्शन अर्थात् मात्र अन्वय-व्यतिरेक सहचार से व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता।

भूयो दर्शन

उक्त आक्षेप का निराकरण करते हुए उदयन ने भाष्यकार की व्याख्या इस प्रकार की है—भाष्यघटक 'विधि' पद अविनाभाव ग्रहण तथा 'तु' पद बौद्ध समर्थित तादात्म्य और तदुत्पत्ति का निरास करने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। अन्वय-व्यतिरेक रूप भूयोदर्शन सहचार अर्थात् बार-बार सहचार दर्शन को ही व्याप्ति ग्रहण का उपाय माना गया है। यद्यपि प्रथमतः जब धूम और वह्नि साथ-साथ देखे जाते हैं, तब भी दोनों की व्याप्ति गृहीत रहती है, किन्तु उक्त सहचार में शंका उपस्थित हो जाने के कारण बार-बार अवलोकन द्वारा, उसका निरास किया जाता है उपाधि रहित हेतु में ही गमकता रहती है। इसलिये प्रथम सहचार दर्शन में व्याप्ति गृहीत होने पर भी, उसके नियम का ग्रहण नहीं होने पाता, अपितु बार-बार साध्य और हेतु को साथ-साथ देखने पर ही उपाधि के अभाव का निश्चय किया जाता है। इसी भूयः सूक्ष्म परीक्षण से उक्त काकतालीय (आकस्मिक) रासभ और वह्नि के सहचार की आपत्ति का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि बार-बार अवलोकन करने पर यह भलीभांति ज्ञात हो जाता है कि, रासभ वह्नि-शून्य स्थल गर्दभशाला तथा वह्नि रासभ विहीन स्थल पाकशाला आदि में व्यभिचरित है, किन्तु ऊर्ध्वगमनशील धूम विशेष को सतत अग्नि के साथ अग्नि के अभाव में न देखने से उपाधि रहित नियत व्याप्ति का निश्चय हो जाता है। नियमतः उक्त प्रमाण द्वारा सम्बन्ध का निश्चय हो जाने के नाते वार-संख्या नियम का आग्रह यहाँ उपयोगी नहीं है। अतः अन्वय-व्यतिरेक सहचार के भूयः अवलोकन को ही व्याप्ति निश्चय के प्रति कारणीभूत उपाय माना जा सकता है।[२०४] किन्तु ध्यान देने से देखने पर यह मत भी युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि भूयोदर्शन से उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं हो सकता। जैसे, 'जहाँ-जहाँ वह्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम रहता है' इस प्रकार का अन्वय सहचार पर्वत, पाकशाला, चत्वर, फेक्टरी आदि में तथा 'जहाँ-जहाँ धूम नहीं है वहाँ-वहाँ अग्नि भी नहीं है' इत्याकारक व्यतिरेक सहचार तालाब, कूप, झील, समुद्र आदि में सैकड़ों बार अवलोक कर भी वह्नि का धूम के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि हेतु वह्नि का व्यभिचार साध्यविहन अधिकरण जलते हुए अंगारे, अयोगोलक आदि में देखा जाता है। आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि से दूषित होने के कारण यह सम्बन्ध औपाधिक कहलाता है, स्वाभाविक नहीं। अतः भूयःसहचार दर्शन से कहीं स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय होना संभावित भी हो सकता है, किन्तु जहाँ एक भी स्थान में उनके सहचार का अभाव अथवा व्यभिचार का आविर्भाव हो जाता है, वहाँ यह साधन निष्प्रयोजक ही सिद्ध होता है। केशव मिश्र ने उक्त उदाहरण के अतिरिक्त 'हिंसात्व' और अधर्मसाधनत्व तथा मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व के उदाहरणों द्वारा भी यही बात कही है।[२०५] इसकी आलोचना करते हुए गङ्गेश ने भी लिखा है कि साध्य और साधन के सहचार का भूयः दर्शन, क्रमिक अथवा सामूहिक रूप से व्याप्ति ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि क्रमिक दर्शनों (प्रत्यक्ष) का विनाश शीघ्रता से हो जाता है, परिणामतः सामूहिक रूप से भी व्याप्ति ज्ञान को उत्पन्न करने की इसमें क्षमता नहीं पाई जाती। इन दर्शनों के संस्कार भी व्याप्ति ग्राहक कारण नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्ष की सहायता से पूर्व अनुभूत दो वस्तुओं की व्याप्ति की स्मृति में ही कारण माने जा सकते हैं। फिर एक पदार्थ का संस्कार दूसरे पदार्थ का स्मरण

नहीं करा सकता, अन्यथा घट के संस्कार से पट की स्मृति भी होगी, जो युक्तिविहीन बात है। 'भूयोदर्शन' पद अनेकार्थक एवं संदिग्ध है। वस्तुतः इसका क्या अर्थ है:—(१) यह एक ही दर्शन का अनेक बार अवलोकन है अथवा (२) साध्य और हेतु के अनेक दृष्टान्तों का निरीक्षण है अथवा (३) उनके सहचार को अनेक अधिकरणों में ही देखा जाना है ? प्रथम पक्ष इसलिए युक्त नहीं है कि, साध्य और साधन के एक बार के नियत सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का निश्चय हो सकता है, अतः उसके बार-बार अवलोकन की आवश्यकता नहीं है। अन्तिम दोनों पक्ष भी निष्प्रयोजक ही हैं, क्योंकि 'यह रसवान् है, रूपवान् होने से' यहाँ साध्य रूप और हेतु रस को अनेक दृष्टान्तों अथवा अधिकरणों में अनेक बार सहचरित देखने पर भी स्वाभाविक व्याप्ति सम्बन्ध का निर्धारण नहीं हो सकता, क्योंकि रूप रस के अभावीय तेज वाले दृष्टान्तों तथा अधिकरणों में भी पाया जाता है। अतः साध्य और हेतु के नियत सम्बन्ध का अवधारण सामयिक परिगणन के आधार पर नहीं किया जा सकता।[२०६] गङ्गेश का समर्थन करते हुए रघुनाथ शिरोमणि[२०७], गदाधर भट्टाचार्य[२०८], विश्वनाथ,,[२०९] अन्नमभट्ट[२१०] तथा नीलकण्ठ[२११] ने भी भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण नहीं माना है। इतना होते हुए भी यह नितान्त अनुपयोगी नहीं है। यद्यपि इसे कारण नहीं माना जा सकता, किन्तु उपयोगी तो माना ही जा सकता है। कारण व्यभिचार शंकाओं का व्यवच्छेदन करने के लिए यह भी एक घटक है। उपयोगी और कारण में अन्तर यह है कि उपयोगी वह वस्तु भी कहलाती है, जो परम्परा क्रम से निर्धारित हुई है अथवा किसी वस्तु के उत्पादन से किसी समय उसकी सहायता भी अपेक्षित समझी गयी हो। जैसे, घट के निर्माण काल में रासभ की उपयोगिता भी स्वीकार की जाती है, क्योंकि उस पर किसी काल में मिट्टी लाद कर लायी गयी थी, जिसके द्वारा घट का निर्माण हुआ है। किन्तु रासभ को घट के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि, 'कारण' अन्यथा सिद्धिशून्य वह पदार्थ है, जो नियत रूप से कार्य उत्पत्ति क्षण के अव्यवहित पूर्वक्षण में सर्वदा विद्यमान रहता है।[२१२] इसीलिये दीधितिकार ने रासभ को घट आदि कार्य के प्रति पञ्चम अन्यथा सिद्ध बतलाया है। क्योंकि रासभ घट का नियत आवश्यक पूर्वाभावी नहीं है। और दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल, मृतिका आदि नियत, आवश्यक एवं पूर्वभावी होने के नाते कारण माने जाते हैं।[२१३] विश्वनाथ ने भी दीधितिकार के इसी भाव को कारिका में उपनिबद्ध किया है।[२१४] अतः भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्रहण का साधन नहीं माना जा सकता।

प्रतिपक्ष-शंका-विरहित अन्तिम प्रत्यक्ष

उपर्युक्त आक्षेपों से त्राण पाने के लिये ही संभवतः श्रीधर ने व्याप्तिग्राहक साधन की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार व्याप्ति का निश्चय, प्रतिपक्ष-शंका-विरहित उस अन्तिम प्रत्यक्ष से होता है, जिसमें उसे सहभाव विषयक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाले संस्कार की सहायता भी अपेक्षित रहती है। प्रथमतः जब धूम और अग्नि साथ-साथ सहचरित देखे जाते हैं, तब भी दोनों का सामानाधिकरण्य गृहीत रहता है, फिर भी उसके द्वारा व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि, उपाधि शून्य सहभाव से ही व्याप्ति का ग्रहण होता है और बार-बार साध्य हेतु के साहचर्य अवलोकन से उपाधि-विरह का निश्चय होता है। अतः भूयः सामानाधिकरण्य के दर्शन द्वारा बल प्राप्त व्याप्ति विषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। यहाँ यह

शंका करना समीचीन नहीं है कि प्रत्यक्ष द्वारा केवल वर्तमानकालीन वस्तुओं का ही ग्रहण किया जा सकता है, अतः इसके द्वारा अतीत और भविष्यत्कालीन अनन्त धूम व्यक्तियों में साध्य वह्नि के समानाधिकरण्य का निश्चय नहीं हो सकेगा। इसका समाधान यह है कि विशेष व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् व्याप्ति गृहीत नहीं होती, प्रत्युत सिद्धान्ततः केवल हेतु सामान्य में साध्य सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार कर लेने पर समस्त हेतुओं में व्याप्ति का शंका-शून्य निश्चय हो जाता है, क्योंकि सामान्यमुखी व्याप्ति समान रूप से सभी व्यक्तियों में रहती है। 'व्याप्ति सामान्य विषयक ही है, विशेष विषयक नहीं', इसका तात्पर्य यह नहीं कि, व्याप्तिग्रहण वेला में व्यक्तियों का सन्निवेश ही नहीं होता, बल्कि इतना ही है कि, व्याप्ति ज्ञान में विशेष भी सामान्य रूप से ही भासित होते हैं, अपने असाधारण तत् तत् व्यक्तित्व आदि रूपों से नहीं अतएव धूम के ज्ञान से वह्नि सामान्य की अनुमिति द्वारा अनुमाता वह्नि सामान्य का ही अनुसंधान करता है, किसी विशेष प्रकार की वह्नि का नहीं। इसलिए यह शंका निर्मूल और सारविहीन जान पड़ती है।[२१५] किन्तु प्रत्यक्ष द्वारा व्यभिचार शंकाओं का पूर्णतः निर्मूलन न होने के नाते यह मत भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। इस मत की समालोचना प्रसंगवश आगे की जायगी।

तर्क-सहकृत भूयो दर्शन–

'न्यायसूत्र' 'न्यायभाष्य' तथा 'न्यायवार्तिक' में व्याप्ति ग्राहक साधनों का, कोई विशुद्ध विवरण प्राप्त नहीं होता, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका' में इनका विस्तृत रूप से विवेचन किया है। इनके अनुसार व्याप्ति का निश्चय तर्क सहकृत भूयः दर्शन से होता है। व्याप्ति उपाधिविहीन स्वाभाविक सम्बन्ध है। समस्त उपाधियों से विहीन व्याप्ति सम्बन्ध का निश्चय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष अथवा भूयोदर्शन सहकृत मानस प्रत्यक्ष द्वारा संभावित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमानकालीन सम्बद्ध पदार्थों तक ही सीमित है, मानस प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय निरपेक्ष नहीं है, अतः इन दोनों से सार्वकालिक व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता और इन्द्रिय सापेक्ष. होने के कारण भूयः दर्शन युक्त मानस प्रत्यक्ष भी निरर्थक-सा ही है, क्योंकि मन की बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए बार-बार देखने से भी कोई लाभ नहीं। यह बतलाया जा चुका है कि भूयःदर्शन आदि से सकल उपाधियों का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। अतः इस हेतु नवीन उपकरण ही अन्वेषित करना होगा। वह उपकरण तर्क है। धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है। बार-बार उनको एक दूसरे के साथ सहचरित देखकर यह सम्बन्ध और भी दृढ़ हो जाता है, किन्तु यदि उनके व्यभिचार की शंका उपस्थित हो जाय, तो तर्क द्वारा इस प्रकार निरास करना चाहिये। धूम यदि अग्नि का व्यभिचारी होता, तो अग्नि के अभाव में भी पाया जाता, किन्तु धूम अग्नि से अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि वह अग्नि से ही उत्पन्न होता है। अतः वह उसके अभाव में नहीं पाया जाता। इसके विपरीत अग्नि का धूम के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि तर्क द्वारा यह बात प्रतिपादित हो जाती है कि अग्नि धूम की व्यभिचारी है, क्योंकि धूम के अभाव में भी वह अयोगोलक आदि में पाई जाती है। अग्नि के साथ गीले ईंधन के संयोग होने पर ही, उसमें धूम दिखाई देता है अन्यथा नहीं। अतः तर्क की सहायता से भूयःदर्शन ही व्याप्ति ग्रहण में साधन हो सकता है।[२१६] परन्तु यह मत भी तर्कसम्मतन हीं दिखाई पड़ता। गङ्गेश ने इस सिद्धान्त

की समीक्षा करते हुए लिखा है कि, तर्क सहकृत भूय:दर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना जाये और भूयोदर्शन को प्रयोजन शून्य समझा जाये, इसमें कोई विनिगमक युक्ति नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भूयोदर्शन के बिना तर्क का ज्ञान संभावित नहीं हो सकता, क्योंकि, कोई भी व्यक्ति एक बार ही व्याप्ति ज्ञान अर्जित कर तर्क-बोध कर सकता है। यदि तर्क को व्याप्ति ज्ञान का आधार माना जाये, तो अन्वस्था दोष होगा, क्योंकि एक व्याप्ति ज्ञान में व्यभिचार शंका होने पर तर्क की आवश्यकता होगी और उसके ज्ञान होने पर अन्य तर्क की। इस प्रकार कहीं समाप्त न होने वाली श्रृंखला उपस्थित हो जाती है। फिर जिस व्यक्ति को एक बार के सहचार ज्ञान से ही यथार्थ व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है, उसे भूयोदर्शन और उपाधि-निरास सहायक तर्क की अपेक्षा नहीं होती। अत: ऐसी परिस्थिति में व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की कारणता का व्यभिचार होने पर उसे कारण नहीं माना जा सकता।[२१७]

नियत सहचार दर्शन

इसी आपत्ति को ध्यान में रखते हुए जयन्त भट्ट ने 'उसके होने पर ही होना और उसके न होने पर कभी न होना' इस नियमित सहचार को ही व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना है। तात्पर्य यह है कि साध्य के होने ही पर हेतु-सद्भाव तथा साध्याभाव में हेतु का अभाव जहाँ नियमित रूप से गृहीत किया जाये, वहाँ व्यभिचार होने के कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। जैसे, धूम का अग्नि के साथ नियत सहचार ज्ञात होने पर, उनके नित्य-साहचर्य का ज्ञान किया जा सकता है। इसके विपरीत अग्नि का धूम के साथ नियत साहचर्य नहीं है, क्योंकि अग्नि धूम के साथ नियम से नहीं पायी जाती। इसीलिये उन्होंने भूयोदर्शन, प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष, आदि साधनों की आलोचना करते हुए सिद्धान्त रूप से नियमित सहचार को ही व्याप्ति निश्चय का कारणीभूत उपाय माना है।[२१८] यह मत समीचीन इसलिये नहीं है कि, नियत सहचार द्वारा अतीत और वर्तमान अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, धूम का अग्नि के साथ नित्य साहचर्य है, क्योंकि इसमें कोई व्यतिक्रम नहीं पाया गया है। परन्तु इसकी क्या प्रत्याभूति है कि यह सम्बन्ध देशान्तर तथा भविष्य के लिए भी कार्यकारी सिद्ध होगा और कालान्तर तथा देशान्तर में व्यभिचार होगा ही नहीं। इस शंका का निरास करने के लिये सहचार नियम क्षमताशील नहीं है। अतः समस्त उपाधियों का निराकरण इस माध्यम द्वारा नहीं किया जा सकता।

व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन

उक्त सभी आक्षेपों का निवारण करते हुए गङ्गेश ने अपने सिद्धान्त लक्षण का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचारदर्शन ही व्याप्ति ग्राहक साधन है। एवं व्यभिचार शंकाओं का निरास विपक्ष बाधक तर्क द्वारा सम्पन्न होता है।[२१९] जैसे, धूम का अग्नि के साथ पाकशाला, चत्वर आदि स्थलों में सर्वत्र नियत साहचर्य उपलब्ध होता है क्योंकि धूम का अग्नि के साथ कहीं भी कोई व्यभिचार प्रतिलक्षित नहीं होता अर्थात् सरोवर, झील आदि स्थलों में जहाँ साध्य का अभाव पाया जाता है वहाँ धूम का भी नियमित रूप से अभाव उपलब्ध होता है। यदि किसी प्रकार की व्यभिचार शंका उपस्थित हो जाय तो उसका निराकरण तर्क से हो जाता है। व्यभिचार-निश्चय हेतु में होने वाली साध्य की व्याप्ति के प्रति प्रतिबन्धक

माना जाता है। इसलिए सहचार निश्चय के साथ-साथ प्रतिबन्धक के अभाव के रूप में व्यभिचार निश्चय के अभाव को भी कारण माना गया है, क्योंकि, प्रतिबन्धक के विद्यमान रहने पर कारण सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न नहीं कर पाती। जैसे, चन्द्रकान्त मणि के सन्निधान में अग्नि अपने ज्वलन कार्य को निष्पादित नहीं कर पाती। दीधितिकार ने संशय और व्यतिरेक निश्चय दोनों को प्रतिबन्धक माना है।[२२०] जैसे, भूतल में घट के अभाव का निश्चय, जहाँ जिस काल में ज्ञापित रहता है, वहाँ उस काल में घट का निश्चय नहीं होने पाता। किन्तु संशय की प्रतिबन्धकता मणिमंत्र न्याय से ही मानी जाती है। मणि प्रतिबन्धकता का उदाहरण आगे विवेचित किया जायगा। इसी प्रकार मंत्रज्ञ भी अपनी मंत्र शक्ति से तत् तत् कार्यों का प्रतिबन्ध करने में समर्थ होते हैं। जैसे, मंत्र द्वारा यदि अग्नि को बाँध दिया जाय, तो वह अपनी ज्वलन क्रिया से अवरूद्ध हो जाती है। अतः मणि-मंत्रों में रहने वाली यह प्रतिबन्धकता व्यतिरेक निश्चय से सर्वथा भिन्न और विजातीय है। कुछ विद्वानों ने संशयात्मक ज्ञान को मणिमंत्र आदि न्याय से प्रतिबन्धक न मानकर उसे ज्ञानत्व रूप से ही प्रतिबन्धक स्वीकार किया है---अर्थात्, संशयात्मक ज्ञान अपने अन्तःपाति अभावांश के ज्ञान द्वारा तद्वता बुद्धि के प्रति प्रतिबन्धक होता है। अतः जिस प्रकार अनुमिति के प्रति व्याप्ति का संशय तथा व्याप्ति के अभाव का निश्चय प्रतिबन्धक तथा व्याप्ति का निश्चय कारण माना जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति के कारणीभूत इष्टसाधनता और कृतिसाध्यता ज्ञान में 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा' इत्याकारक प्रामाण्य-संशय तथा 'इदं ज्ञानं अप्रमा' इत्याकारक प्रामाण्य-व्यतिरेक-निश्चय होने पर कार्य में प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध हो जाता है। व्यतिरेक-निश्चय की प्रतिबन्धकता को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, किन्तु संशय की प्रतिबन्धकता विवादास्पद है। संशयात्मक ज्ञान उपस्थित होने पर, कुछ लोग प्रवृतिशील बनते हैं एवं कुछ उसकी उपेक्षा कर उस पर ध्यान ही नहीं देते। इसीलिये संशयात्मक ज्ञान को, कुछ लोगों ने प्रतिबन्धक माना है, कुछ ने नहीं। इस प्रकार इस व्याप्ति ज्ञान के आधार पर ये अनुमान 'अनुमिति व्याप्ति निश्चय से उत्पन्न होती है, व्याप्ति संशय तथा व्याप्ति व्यतिरेक निश्चय से प्रतिबध्य होने से 'अथवा' प्रवृत्ति अपने कारणीभूत इष्ट साधनता आदि ज्ञान में होने वाले प्रामाण्य निश्चय से उत्पन्न होती है, इष्ट साधनता आदि ज्ञान में प्रामाण्य संशय और प्रामाण्य व्यतिरेक निश्चय के प्रतिबध्य होने से 'निष्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार 'धूमो वह्नि व्याप्यः इदं ज्ञानं प्रमा न वा' तथा 'धूमो वह्नि व्याप्यः इदं ज्ञानं अप्रमा' इत्याकारक प्रामाण्य संशय तथा प्रामाण्य व्यतिरेक निश्चय अनुमिति का प्रतिबन्ध करते हैं और 'धूमो वह्नि व्याप्यः इदं ज्ञानं प्रमा' यह व्याप्ति निश्चय अनुमिति के प्रति कारण होता है।[२२१] यहाँ यह आशंका की जाती है कि, यदि संशय और व्यतिरेक निश्चय दोनों को प्रतिबन्धक माना जाय, तो प्रतिबन्धकता के अवच्छेदक धर्म भी दो ही होंगे। जैसे, संशय में रहने वाली प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक धर्म 'संशयत्व' और व्यतिरेक निश्चय में रहने वाली प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक धर्म 'व्यतिरेक-निश्चयत्व' होगा। इसलिए 'यो धर्मोयस्याः अवच्छेदकः सा तद्धर्मावच्छिन्ना भवति'—अर्थात् जो धर्म जिसका अवच्छेदक होता है, वह उससे युक्त होता है---इस नियम के अनुसार संशय में रहने वाली प्रतिबन्धकता संशयत्व से अवच्छिन्न तथा व्यतिरेक निश्चय में रहने वाली प्रतिबन्धकता व्यतिरेक-निश्चयत्व से अवच्छिन्न होगी। अतः यहाँ गौरव होगा, इस आक्षेप का निरास

करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि 'यस्य संशय व्यतिरेक निश्चयौ' इस चिन्तामणि वाक्य में 'व्यतिरेक' पद 'निश्चय' पद के पूर्व से हटाकर 'संशय' पद के पूर्व व्यवस्थित कर दिया जाये और 'संशय' तथा 'निश्चय' के स्थान पर ज्ञान पद को अवस्थित कर दिया जाये, तो व्यतिरेक ज्ञान में प्रतिबन्धकता का लाभ हो जाता है। कारण संशय और निश्चय दोनों ज्ञान ही हैं। इसलिये ज्ञानत्व रूप सामान्य धर्म के द्वारा ज्ञान मात्र में प्रतिबन्धकता का निवेश हो जाता है क्योंकि संशयात्मक तथा निश्चयात्मक दोनों ज्ञान प्रतिबन्धक माने जाते हैं, अतः प्रतिबन्धकता दोनों में समान रूप से विद्यमान रहेगी। उक्त परिष्कार के मान लेने पर प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक, धर्म एक ही 'व्यतिरेक ज्ञानत्व' धर्म होगा। इसलिए दोनों प्रतिबन्धकता एक मात्र ज्ञानत्वावच्छिन्न हो जाती है। अतः कोई गौरव नहीं होगा। अब उक्त अनुमानों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—'प्रवृत्ति इष्टसाधनता ज्ञानधर्मिक प्रामाण्यनिश्चयत्व से अवच्छिन्न कारणता से उत्पन्न होने वाली है, इष्टसाधनता ज्ञानधर्मिक प्रामाण्यव्यतिरेकज्ञानत्व से युक्त प्रतिबन्धकता से प्रतिबध्य होने से अथवा 'अनुमिति व्याप्तिनिश्चयत्व से अवच्छिन्न कारणता से उत्पन्न होने वाली है, व्याप्ति व्यतिरेकज्ञानत्व से युक्त प्रतिबन्धकता से प्रतिबध्य होने से'। दीधितिकार के परिष्कृत 'व्यतिरेकज्ञानत्व' पद में व्यतिरेक पद का उपादान सकल विशेषों को ग्रहण करने के लिए किया गया है। अतः ऐसी आशंका करना कि, व्याप्ति संशय से 'व्याप्तिमान् न वा' अर्थात् 'धूमो वह्निनिरूपित व्याप्तिमान् न वा' इत्याकारक संशय को ही लिया जा सकता है, 'व्याप्त्यभाववान् न वा' अथवा 'व्याप्त्यभाववद्भेदवान् न वा' इत्याकारक संशयों को नहीं, समीचीन नहीं जान पड़ता क्योंकि, 'व्यतिरेक ज्ञान' पद से जितने भी संशय हो सकते हैं, उन सबका ग्रहण हो जाता है, कारण उक्त दोनों भी व्याप्ति संशय ही हैं। जैसे, 'व्याप्त्यभावाभाव' व्याप्ति स्वरूप है वैसे ही 'व्याप्त्यभाववद्भेद' भी व्याप्ति रूप ही है। अतः इनके संशय को भी व्याप्ति संशय के रूप में गृहीत किया जा सकता है। इसीलिये 'निश्चयत्वघटक तदभावाप्रकारकत्व' अंश का निष्काशन करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि, व्यतिरेक पद का व्यत्यास कर देने पर व्यतिरेक ज्ञान को प्रतिबन्धकता का लाभ हो जाता है।[२२२] अतः व्यतिरेक ज्ञान से सम्पूर्ण संशयात्मक तथा व्यतिरेकनिश्चयात्मक ज्ञानों को गृहीत किया जा सकता है। वस्तुतः संशय और निश्चय पदों का उपादान निरर्थक नहीं है, किन्तु फलमुखी गौरव न होने से दूषित हैं। इसी प्रसङ्ग में कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत है कि, यदि व्यतिरेक पद का निवेश न करके, व्यतिरेक ज्ञान सामान्य में प्रतिबन्धकता अभीप्सित नहीं समझी जाय, तो मणिकार के 'यस्य संशय व्यतिरेक निश्चयौ' इस मूल पद में प्रयुक्त 'यत्' पद से उत्तर षष्ठि विभक्ति के 'विषयत्व' और 'प्रतियोगित्व' दो अर्थ करने आवश्यक होंगे। इनमें से प्रथम का संशय तथा द्वितीय का व्यतिरेक निश्चय के साथ अन्वय होगा। व्यतिरेक पद दे देने पर षष्ठि के इस प्रकार दो अर्थ व्यक्त करने की अपेक्षा नहीं होती अपितु प्रतियोगिता रूप एक की ही एकमात्र कल्पना करना पड़ती है और उसका व्यतिरेक पदार्थ के साथ अन्वय हो जाता है। आशय यह कि संशय-निश्चय साधारण ज्ञान ही प्रतिबन्धक है, अतः व्यभिचार ज्ञान को ही व्याप्ति ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक माना जा सकता है, व्यभिचार निश्चय को नहीं, क्योंकि, निश्चयत्व उभय साधारण धर्म नहीं है। इसलिए व्यभिचार संशय तथा व्यभिचार निश्चय इन दोनों ज्ञानों में रहने वाले धर्म 'व्यभिचारज्ञानत्व'

से अवच्छिन्न व्यभिचार ज्ञान को ही व्याप्ति ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धकत्व मानकर उसके अभाव को प्रतिबन्धक अभाव के रूप में कारण मानना होगा। विलासिनी टीकाकार ने भी यही बात कही है।[२२३]

इस प्रकार सहचार दर्शन के साथ-साथ व्यभिचार ज्ञान के अभाव को भी प्रतिबन्धक अभाव के रूप में व्याप्ति निश्चय का कारणीभूत उपाय माना गया है क्योंकि, केवल सहचार ग्रहण से (चाहे वह सकृद् सहचार अथवा भूयः सहचार दर्शन हो) व्यभिचार विहीन व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता। जैसे, शतशः बार पार्थिव पदार्थों पर लोह सूचिका द्वारा अंकन होना देखकर, यह व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती कि 'जहाँ-जहाँ पार्थिवत्त्व है वहाँ-वहाँ लोह लेख्यत्व भी है' क्योंकि, इसका व्यभिचार हीरे अथवा काँच में देखा जाता है कारण, हीरे काँच आदि पार्थिव होने पर भी, उन पर लोह सूचिका द्वारा अंकन नहीं किया जा सकता। अतः सहचार के साथ व्यभिचार शून्यता को भी मानना आवश्यक है। सहचार दर्शन के साथ-साथ व्यभिचार अदर्शन विशेषण और मान लेने पर उक्त व्यभिचार की आपत्ति नहीं हो सकती।[२२४] इसी प्रकार 'अन्वय-सहचार' और 'व्यतिरेक-सहचार' दोनों को 'सहचार' पद से गृहीत किया गया है 'सहचार ग्रहण के अभाव में व्यभिचार ज्ञान विरह' यह प्रथम विशेषण निष्प्रयोजक हो जाता है, क्योंकि व्यभिचार का ज्ञान सहचार के बिना हो ही नहीं सकता। तब उसके अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः व्याप्ति निश्चय में दोनों ही कारण आवश्यक है।[२२५] इस प्रकार विश्वनाथ ने भी गङ्गेश का समर्थन किया है। केशव मिश्र तथा अन्नम भट्ट ने प्रथमतः भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्रहक साधन माना है,[२२६] किन्तु अन्त में उन्होंने गङ्गेश समर्थित लक्षण का ही विन्यास किया है।[२२७]

तर्क–

उक्त गङ्गेश समर्थित लक्षण में व्यभिचार शंकाओं का निवर्तक तर्क को बतलाया गया है। अतः यहाँ संक्षिप्त रूप से तर्क को समझ लेना भी आवश्यक है। महर्षि गौतम के अनुसार 'जिस पदार्थ का तत्त्व ज्ञात नहीं है, उसका तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) प्राप्त करने के लिए, कारण के उपपादन द्वारा जो ऊहा की जाती है, वही तर्क है।[२२८] इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि, जिस वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं है, उस विषय को यथार्थतः अवगम करने के लिए स्वाभाविक रूप से जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसे जिज्ञासा कहा जाता है। जिज्ञासा के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि इसका कारण यह है या यह? इस प्रकार परस्पर विभिन्न दो कोटियाँ उपस्थित हो जाती है। तदनन्तर उनमें से कौनसी ठीक है, यह संदेह उत्पन्न होता है। इसी को संशय या विमर्श कहा जाता है। किन्तु परस्पर विरोधी दो धर्मों का एक साथ रहना असंभव है, इसलिये दोनों कोटियों में से एक का परित्याग कर, दूसरी का ग्रहण करना अपरिहार्य है। दोनों में से यथार्थ तत्त्व जानने के लिए एवं उक्त संशयावस्था से मुक्ति पाने हेतु उक्त संदिग्ध पक्षों में जिस ओर भी कारण की उपपत्ति दृष्टिगोचर होती है, उसी संभावना को तर्क कहा जाता है।[२२९] आगे उन्होंने लिखा है कि यह एक अनिश्चित ज्ञान है, इसके द्वारा कारण की उपपत्ति संशयित दो धर्मों में से एक को मान लिया जाता है, किन्तु किसी वस्तु का अवधारण या व्यवस्थित या निश्चित ज्ञान उत्पन्न नहीं होने पाता कि वह ऐसी ही है।[२३०] इसीलिए इनको न्याय सम्मत प्रमाणों में संगृहीत एवं पृथक प्रमाण न मानते हुए, प्रमाणों

का सहायक या अनुग्राहक ही माना गया है ।[२३१] भाष्यकार का समर्थन करते हुए उद्योतकर ने भी कहा है कि तर्क न तो प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर ही, क्योंकि यह अर्थ का परिच्छेदक नहीं है । परिच्छेदक प्रमाणों का विभाजक अर्थात् युक्त-अयुक्त विचारक होने के कारण उनका सहकारी ही है ।[२३२] वाचस्पति मिश्र[२३३] तथा उदयन[२३४] ने भी यही बात कही है । सूत्रकार की व्याख्या करते हुए जयन्त ने लिखा है कि सूत्रघटक 'तत्त्व' पद से तर्क में धर्मविशिष्टधर्मी का सामान्य ज्ञान और 'कारणापपत्ति' पद से संशय विषयक दोनों पक्षों में से एक पक्ष-विषयक कारण की संभावना को सूचित किया गया है । जिज्ञासा और संशय में अतिव्याप्ति न हो इसीलिए उक्त दोनों पक्षों का सन्निवेश किया गया है क्योंकि, जिज्ञासा में धर्मी का सामान्य ज्ञान तथा संशय में एक पक्ष-विषयक कारण की उत्पत्ति नहीं होती । तर्क प्रमाण नहीं है, प्रत्युत प्रमाण अनुग्राहक है, इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए 'तत्त्वज्ञानार्थ' पद का उपादान किया गया है । अतः सामान्य रूप से ज्ञात धर्मी में एक पक्ष की निर्बलता सिद्ध करते हुए, दूसरे पक्ष मेंकारण उपपादन से, तत्त्वज्ञान के उत्पादक प्रमाणों का सहकारी, 'ऐसा ही होना चाहिए' इत्याकारक जो संभावनामूलक ज्ञान होता है, वही तर्क है । जैसे घुड़दौड़ आदि में ऊर्ध्वत्वविशिष्ट धर्मी (चेष्टायुक्त ऊँचे पदार्थ विशेष) को दूर से देखकर यह संभावना-मूलक ज्ञान होता है कि यह पुरुष होगा । यहाँ पर यह संदेह हो सकता है कि उक्त ज्ञान में धर्मी के विशेष रूप का साक्षात्कार है अथवा नहीं ? प्रथम पक्ष मान लेने पर तो यह ज्ञान निर्णय तथा द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर, यह ज्ञान संशय रूप होगा, क्योंकि, धर्मी का विशेष ज्ञान निर्णय में और सामान्य तथा विशेष रूप से होने वाला अज्ञान संशय में कारण माना जाता है । इस तरह निर्णय और संशय के अन्तरालवर्ती (मध्य में होने वाला) तर्क कोई पृथक् प्रमेय ही नहीं, तब उसको प्रमाणों का सहकारी मानने का प्रश्न दूर निरस्त हो जाता है । इसके समाधान में तर्क की पुष्टि करते हुए न्यायमञ्जरीकार ने आगे लिखा है कि संशय में दोनों पक्षों की समान प्रतीति होती है और निर्णय में एक पक्ष को सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया जाता है, किन्तु तर्क में एक पक्ष विषयक कारण की उपपत्ति द्वारा संभावना मात्र होती है । इस प्रकार तीनों की प्रतीतियों में पर्याप्त अन्तर लक्षित होता है—जैसे 'यह स्तंभ है या पुरुष' यह प्रतीति उभय पक्ष अवगाहिनी (दोनों पक्षों में समान रूप से होने वाली) होने के कारण, संशय, 'यह पुरुष ही है' इस प्रकार 'एव' शब्दार्थ को विषय करती हुई एक पक्ष में निश्चित रूप से सिद्धान्त का बोधन करने वाली प्रतीति निर्णय तथा 'यह पुरुष होगा' या यह पुरुष हो सकता है' यह 'एव' शब्द से विहीन कारण की उपपत्ति द्वारा एक पक्ष का बोधन करती हुई संशय तथा निर्णय के मध्य में होने वाली संभावनामूलक प्रतीति तर्क कहलाती है । अतः उक्त प्रतीतियों में स्पष्टतः पारस्परिक भेद ज्ञापित होने से तर्क को निर्णय और संशय के मध्यवर्ती पृथक् प्रमेय मानने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।[२३५]

उदयन ने तर्क को व्याप्तिज्ञान का सहकारी माना है । जैसे, तत् तत् महानस आदि देश तथा तत् तत् काल में धूम आदि हेतुओं का वह्नि आदि साध्यों के साथ कोई व्यभिचार परिलक्षित न होने पर भी देशान्तरीय, कालान्तरीय, भूत, भविष्यत् धूम की वह्नि के साथ व्यभिचार संभावना तो हो ही सकती है । अतः संभावना या शंका रूप प्रतिबन्धक होने पर, व्याप्ति ज्ञान का निश्चय नहीं किया जा सकता । इसका समाधान

यह है कि उक्त शंका विषयक देशान्तरीय, कालान्तरीय वह्नि आदि साध्य का ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा न होकर, अनुमान द्वारा ही होता है। तथा अनुमानोत्तर काल में होने वाली शंका––'हेतुरस्तु साध्यं माभूत्' अर्थात् 'सरोवर आदि विपक्ष में बाधक युक्ति के न पाये जाने से पक्ष पर्वत वृत्ति हेतु धूम के होने पर भी साध्य वह्नि न रहे', की जा सकती है। ऐसी शंका की निवृत्ति सहकारी तर्क द्वारा इस प्रकार होगी––जहाँ सरोवर आदि विपक्ष में वह्नि का अभाव है, वहाँ धूम का अभाव भी पाया जाता है, क्योंकि वह्न्यभाव, धूमाभाव का कारण है। इसलिये, 'पर्वते वह्निर्नस्यात् धूमोऽपि न स्यात्' अर्थात् 'पर्वत में (सरोवर की भांति) वह्नि का अभाव होता, तो धूम का अभाव भी अवश्य रहता, परिणाम स्वरूप यदि वह्नि धूम का परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं होता, तो वह्नि के बिना भी धूम की उपलब्धि हुई होती, किन्तु होती नहीं, इसलिये उक्त आशंका निर्मूल जान पड़ती है। इस प्रकार 'धूम हेतु होने से, पर्वत वह्निमान् है' इत्याकारक अनुमान द्वारा वह्नि का निश्चय हो जाने पर भी यदि प्रतिवादी की उक्त आशंका से वह्नि का यथार्थ अनुमान न हो तो उसकी निष्पत्ति के लिए 'न स्यात्'– 'न स्यात्' इन शब्दों द्वारा साध्याभाव की कल्पना द्वारा साधनाभाव की कल्पना की जाती है। क्योंकि यह नियम है, 'जब तक शंका होती रहेगी तब तक तर्क भी होता रहेगा, अतः उदयन ने तर्क को शंका की अवधि बतलाया है। यदि दुराग्रहवश तर्क के अनन्तर पुनः व्याप्तिबाधक शंका उपस्थित की जाय तो उसका परिहार व्याघात द्वारा होगा। जैसे, 'मम मुखे जिह्वा नास्ति'–– 'मेरे मुँह में जीभ नहीं है', अथवा 'ममे मातावन्ध्याः'––मेरी माता वन्ध्या है', इस प्रकार के कथन व्याघातमय हैं। इस प्रकार कार्य धूम को कारण अग्नि के बिना उपपन्न मानकर, शंका करना भी व्याघातदोष की उत्थापना है। अतः व्याघात होने से प्रतिवादी की शंका निर्मूल सिद्ध हो जाती है। व्याघात के अनन्तर पुनः कोई शंका नहीं की जा सकती है। इस प्रकार शंका रूत प्रतिबन्धक का निर्वतक होने के कारण तर्क व्याप्तिज्ञान का सहकारी सिद्ध हो जाता है।[२३१]

उदयन की तरह गङ्गेश ने भी तर्क को व्याप्ति ज्ञान का सहकारी माना है।' 'भूयो-दर्शन' अथवा 'व्यभिचार' अदर्शन सहित सहचार दर्शन' आदि साधनों के आधार पर धूम में साध्य की व्याप्ति का निश्चय यदि हो भी जाये और उसके द्वारा अनुमिति निष्पन्न होने के उपरान्त भी, यदि वहाँ व्यभिचार शंका उपस्थित हो जाये, जैसे 'वह्नि व्याप्यो धूमः' इस व्याप्ति निश्चय के आधार पर 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति हो जाने के अनन्तर यदि कोई अन्य व्यक्ति यह व्यभिचार शंका करता है 'पर्वतेधूमः अस्तु वह्निर्मा-स्तु' अर्थात् पर्वत में धूम की सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि, उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा है, किन्तु वहाँ वह्नि होगी ही इसकी कोई प्रत्याभूति नहीं है कारण, धूम की तरह प्रत्यक्ष द्वारा उसका दर्शन नहीं हो पाता, इसलिये वह्नि की सत्ता वहाँ नहीं मानी जा सकती। इस शंका का निवारण तर्क द्वारा होता है। जैसे, 'पर्वते वह्निर्नस्यात् तर्हि धूमोऽपिनस्यात्' या 'धूमो यदि वह्नि व्यभिचारीस्यात् तदा वह्नि जन्योनस्यात्' पर्वत में यदि वह्नि नहीं होती, तो धूम भी नहीं होता' या 'धूम यदि वह्नि का व्याभिचारी होता, तो वह्नि से उत्पन्न न होता', क्योंकि जो जिसके बिना होता है, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे, धूम के अभाव में अयोगोलक आदि में भी वह्नि पायी जाने से वह्नि धूम से उत्पन्न होने वाली वस्तु नहीं है, परन्तु धूम के बारे में यह बात सही नहीं है, क्योंकि धूम

सर्वदा अग्नि के होने पर ही होता है, उसके अभाव में कदापि नहीं। इस तर्क में आपाद्य (साध्य) के अभाव को हेतु बनाकर आपादक (साधन) के अभाव की सिद्धि की गयी है। इस तरह आपाद्य का अभाव आपादक के अभाव का साधक और आपादक का अभाव स्वयं साध्य बन जाता है। यह पूर्व में बतलाया जा चुका है कि, सर्वदा साध्य व्यापक और हेतु व्याप्य होता है, किन्तु अभाव में इनका उलटा ही क्रम रहता है, यानी साध्य का अभाव व्याप्य और साधन का अभाव व्यापक हो जाता है। प्रकृत में 'वह्नि जन्यत्व' अभाव आपाद्य और 'वह्नि व्यभिचारित्व' आपादक है। अतः यहाँ भी आपाद्याभाव साधन द्वारा आपादकाभाव साध्य की सिद्धि होने पर यह अनुमान धूम वह्नि का व्यभिचारी नहीं है, वह्नि द्वारा उत्पन्न न होने से—निष्पन्न हो जाता है। यही तर्क, पूर्व में की गयी व्यभिचार शंका का निरास करता हुआ वह्नि और धूम के व्याप्ति निश्चिय के प्रति उपयोगी अर्थात् सहकारी बनता है, क्योंकि, यहाँ हेतु—'वह्निजन्यत्व अभाव' रूप आपाद्याभाव के द्वारा साध्य–'वह्नि व्यभिचारित्व अभाव' रूप आपादकाभाव की धूमात्मक पक्ष में सिद्ध की गयी है।' "सिद्धस्य साधनत्वं असिद्धस्य च साध्यत्वम्' इस नियम के अनुसार साधन वह कहलाता है, जो पक्ष में पहले से निश्चित रहता हो और साध्य वह है, जिसका अनुमान के पूर्व पक्ष में कोई निश्चय न हो। किन्तु, 'धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी न होता तो वह वह्नि से उत्पन्न भी नहीं होता' इस तर्क में जो वह्नि जन्यत्वाभाव के द्वारा वह्नि व्यभिचारित्वाभाव की सिद्धि की गयी है, वह समीचीन नहीं जान पड़ती क्योंकि, उक्त नियम के अनुसार साधन 'वह्निजन्यत्वाभाव की सिद्धि अभी तक न हो पाने से, अर्थात् प्रसिद्ध होने के कारण, साध्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिए गङ्गेश ने इस तर्क—धूमो यदि वह्न्यसमवहिताजन्यत्वेसति, वह्निसमवहिताजन्यः स्यात् नोत्पन्नस्यात्—'धूम यदि वह्नि के असमवधान में उत्पन्न न होता हुआ वह्नि के समवधान में भी उत्पन्न न हो, तो वह उससे उत्पन्न नहीं होगा'—अर्थात् 'धूमो यदि वह्न्य समवहित अन्य भिन्नत्वविशिष्ट वह्निसमवहितजन्य भिन्नत्ववान् स्यात्—' धूम यदि वह्नि के असमवधान में उत्पन्न भेदविशिष्ट वह्नि के समवधान में उत्पन्न भेदवाला हो तो भी वह उत्पन्नत्वाभाव वाला होगा'— के अवलम्बन द्वारा किया है।[१३७] इस तर्क में आपाद्य उत्पन्नत्वाभाव और आपाद्य का अभाव उत्पन्नत्वाभाव का अभाव अर्थात् उत्पन्नत्व होगा और आपादकाभाव विशिष्टाभाव—वह्न्यसमवहित जन्य भिन्नत्वविशिष्ट वह्निसमवहितजन्य भिन्नत्वाभाव है। अतः साधन उत्पन्नत्वाभावाभाव रूप उत्पन्नत्व के द्वारा साध्य वह्न्यसमवहितजन्य भिन्नत्वविशिष्ट वह्निसमवहित जन्य भिन्नत्वाभाव रूप वह्निसमवहितजन्यत्व की सिद्धि हो जाती है। विशिष्टाभाव विशेषणाभाव तथा विशेष्याभाव प्रयुक्त होता है। प्रकृत में विशिष्टाभाव को विशेष्याभाव के रूप में गृहीत किया गया है और यह विशेष्याभाव वह्निसमवहितजन्य भिन्नत्वाभाव अर्थात् वह्निसमवहितजन्यत्व रूप है। वह्निसमवहितजन्यत्व वह्निजन्यत्व रूप है। इस प्रकार से उत्पन्नत्वाभावाभाव रूप उत्पन्नत्व अर्थात् आपाद्याभाव रूप हेतु के द्वारा वह्निजन्यत्व में पर्यवसान होने वाले विशिष्टाभाव रूप आपादकाभाव अर्थात् हेत्वभाव की सिद्धि हो जाती है। अतः साधन असिद्ध नहीं होगा और 'धूमो वह्निजन्यः उत्पन्नत्वात्' अनुमान निष्पन्न हो जाने में कोई बाधा नहीं है।[१३८]

ऐसा मानने पर भी पुनः शंका हो सकती है कि धूम यदि वह्नि के समवधान

अथवा असमवधान दोनों में उत्पन्न न हो, तो उस धूम को, 'अवह्निक', या 'वह्नि के बिना उत्पन्न होने वाला' या 'सर्वथा अहेतुक' ही कहा जाये। इन तीन शंकाओं के, उक्त तर्क की, प्रतिबन्धक होने से धूम में वह्निजन्यत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।[१३९] समाधान देते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि सर्वत्र स्वक्रिया का व्याघात होने से ऐसा नहीं कहा जा सकता।[१४०] अभिप्राय यह है कि उक्त तर्क प्रयुक्त करने के पूर्व तर्क प्रयोग करने वाला व्यक्ति धूम में वह्निजन्यत्व का निश्चय कर चुका होता है, क्योंकि, उसे धूम में वह्नि के अन्वय—'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है', और व्यतिरेक—'जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है', के अनुविधान का निश्चय पूर्व में ही हुआ रहता है। इस निश्चय के उपरान्त ही वह उक्त तर्क प्रस्थापित करने का प्रयास करता है। जैसा कि मथुरानाथ ने कहा है कि लोक में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—वह्नि के असमवधान में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ जैसे, पट आदि और वह्नि के समवधान में उत्पन्न होने वाली जैसे, धूमादि ऐसी परिस्थिति में धूम को यदि वह्नि के समवधान तथा असमवधान दोनों में उत्पन्न होने वाला न माना जाये तो उसमें उत्पन्नत्व का अभाव ही सिद्ध होगा।[१४१] इसी अभिप्राय को दृष्टि में रखते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि धूम में 'अवह्निकत्व' या वह्नि के बिना 'उत्पद्यमानत्व' या सर्वथा अहेतुकत्व की आशंका यदि की जाये तो धूम में होने वाली वह्नि के अन्वय-व्यतिरेक अनुविधायित्व रूप ज्ञान क्रिया का व्याघात होगा, जो व्यक्ति धूम के साथ वह्नि के अन्वय और व्यतिरेक के अनुविधान का निश्चय पूर्व में कर चुका है वह व्यक्ति धूम के प्रति होने वाली अवह्निकता या क्वचित् वह्नि के बिना उत्पद्यमानता अथवा सर्वथा अहेतुकता की व्यभिचार शंकाओं को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि यदि कारण के बिना भी कार्य की सत्ता मान ली जाये तो क्या हानि है? इसका समाधान यह है—कारण के बिना कार्य की सत्ता मानने पर प्रत्येक जीव की प्रवृत्ति के नियम का दृष्ट विरोध होगा। कारण के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति थोड़ी देर के लिए मान भी ली जाये, तो क्षुधा निवृत्ति और तृप्ति रूप कार्य के लिए भोजन के अथवा पिपासा शांत करने के लिए जल के उपादान की प्रवृत्ति न होती। इसी प्रकार अपना अभिप्राय दूसरों को समझाने के लिये शब्द का प्रयोग भी नियमित रूप से न किया जाता, क्योंकि उन-उन कारणों के बिना भी वे-वे कार्य हो सकते थे। किन्तु यह आशंका सर्वथा अनुभव विरुद्ध है, क्योंकि, सदैव ऐसा ही देखा जाता है कि, जो जिसका कारण है, उसके आधार पर ही उस कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे, भोजन के बिना क्षुधा निवृत्ति व तृप्ति, जल के बिना पिपासा शांति अथवा शब्द के बिना किसी अन्य व्यक्ति को शब्दबोध नहीं होता। परिणामस्वरूप समस्त कार्य अपने-अपने कारणों से ही उत्पन्न होते हैं और इसीलिये उनको निष्पन्न करने के लिए उनके कारणों के उपादान हेतु प्राणियों में प्रवृत्ति पायी जाती है। अतः धूम के लिए उसके कारण वह्नि के आनयन में जो नियमित प्रवृत्ति दिखाई देती है, वही उक्त तीनों शंकाओं को समाप्त कर देती है। इसीलिए गङ्गेश ने भी कहा है 'तत् तत् कार्यों के प्रति तत् तत् कारणों का उपादान ही उन शंकाओं का प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि शंका होने पर उन कारणों का नियत उपादान नहीं हो सकता और नियत उपादान हो जाने पर, शंकाओं का रहना असम्भव है।[१४२] यहाँ वह्नि का धूम के साथ जो अन्वय-व्यतिरेक अनुविधायित्व-निश्चय है, वह वह्निजन्यत्व शंका के प्रति साक्षात् रूप से प्रतिबन्धक नहीं है अपितु निश्चय विशिष्ट

निश्चय द्वारा ही है। जैसे, 'जो जलयुक्त होता है, वह वह्नि के अभाव से भी युक्त होता है' और सरोवर जलयुक्त है। यहाँ द्वितीय निश्चय के द्वारा सरोवर में जलवता का निश्चय हो जाने से वह्न्यभाववत्ता भी उसमें सिद्ध हो जाती है। कारण प्रथम निश्चय, जो जल-युक्त होता है, वह वह्न्यभाव युक्त भी होता है, द्वारा यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि जो जलयुक्त होगा वह वह्न्यभाव वाला भी अवश्य होगा। इसलिये 'जलवान् वह्न्य-भाववान् जलवांश्चह्रदः' यह निश्चय विशिष्ट निश्चय 'ह्रदो वह्निमान्' इस अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक माना जाता है। इसी प्रकार इस निश्चय विशिष्ट निश्चय 'जो-जो वह्नि के अन्वय-व्यतिरेक अनुविधान वाला होता है, वह-वह वह्निजन्यत्व युक्त होता है' और 'धूम वह्नि के अन्वय व्यतिरेक-अनुविधान वाला है', से धूम, वह्नि के अन्वय व्यति-रेकानुविधान युक्त होने से वह्निजन्यत्व वाला सिद्ध हो जाता है। अतः धूम में, 'धूम वह्निजन्यत्व युक्त है' यह निश्चय वह्निजन्यत्व शंका का प्रतिबन्धक हो जाता है, कारण, संशय एक धर्मी में भाव-अभाव रूप से दो कोटियों का अनिश्चयात्मक ज्ञान है, इनमें से एक भी कोटि का यदि निश्चयात्मक ज्ञान हो जाये, तो वह निश्चय इन दो कोटियों के अवगाहन करने वाले संशयात्मक ज्ञान का प्रतिबन्धक हो जाता है। प्रकृत में 'धूमी वह्निजन्योनवा' का अर्थ 'धूम वह्निजन्यत्ववान् वह्निजन्यत्वाभाववान् वा' है। इसलिए एक कोटि 'वह्निजन्यत्व' का धूम में निश्चय हो जाने से उक्त शंका का वह निश्चय प्रतिबन्धक हो जाता है।[२४३] यहाँ पुनः शंका होती है कि, इस निश्चय विशिष्ट निश्चय से जब 'धूमो वह्निजन्यो न वा' इस शंका का प्रतिबन्धन हो जाता है। तब पूर्वोक्त 'धूमो वह्न्यसमवहितजन्य भिन्नत्व विशिष्ट वह्निसमवहितजन्य भिन्नत्ववान् स्यात् तर्हि उत्पन्नत्वाभाववान् स्यात्' इस तर्क द्वारा धूम में हेतु आपाद्याभाव 'उत्पन्नत्वाभावा-भाव उत्पन्नत्व' के द्वारा जो साध्य-आपादकाभाव वह्निसमवहितजन्य भिन्नत्वाभाव' की सिद्धि की गयी थी और जिस आपादकभाव का पर्यवसान वह्निजन्यत्व में होकर उसके निश्चय (वह्निजन्यत्व रूप आपादकाभाव निश्चय) द्वारा इस तर्क को 'धूमो वह्निजन्यो न वा' इस शंका का जो प्रतिबन्धक माना गया था, वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। इसका समाधान देते हुए मथुरानाथ ने कहा है कि एक उपाय अन्य उपाय का दूषक नहीं हो सकता[२४४] आशय यह है कि एक कारण में दूसरे कारण की कारणता का खण्डन नहीं किया जा सकता। जैसे, घट को उत्पन्न करने वाले कारणों में जिस प्रकार कुम्हार और मिट्टी अथवा कपाल और कपालद्वयसंयोग कारण है, उसी प्रकार दण्ड-चक्र-चीवर भी कारण माने जा सकते हैं। अतः निश्चय विशिष्ट निश्चय और तर्क दोनों में कारणता को मण्डित किया जा सकता है।

'वह्निजन्यो न वा' अथवा 'वह्निसमवहितोजन्यो न वा' इन संशयों की अन्वय-व्यतिरेक अनुविधायित्व निश्चय रूप प्रतिबन्धकता से निवृत्ति हो जाने पर, उससे उत्पन्न होने वाले व्याप्ति निश्चय में या व्याप्ति निश्चय जन्य अनुमान में पुनः व्यभिचार संशय उत्पन्न हो जाये, तो उस व्यभिचार संशय के निराकरण के लिए पुनः दूसरे तर्क की आव-श्यकता प्रतीत होगी और दूसरे अनुमान में इसी प्रकार तीसरे तर्क की। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[२४५] उदयन से अपनी संगति स्थापित करते हुए इसका समाधान गङ्गेश ने इस प्रकार किया है—आशंका वहीं तक होनी चाहिए, जिससे आशंका के होने पर तर्क प्रयोक्ता की अन्वय-व्यतिरेक अनुविधायित्व ज्ञान रूप का क्रिया व्याघात न हो।

धूम आदि कार्य को सम्पन्न करने के लिए नियमित रूप से वह्नि आदि कारण का उपादान भी किया जाय और 'वह्नि धूम का कारण है अथवा नहीं' ऐसी आशंका भी की जाये, यह परस्पर विरोधी तथ्य कदापि संभावित नहीं हो सकते। 'स्वक्रियाव्याघातो न भवति' इस मूल वाक्य में प्रयुक्त 'व्याघात' पद का अर्थ है विरोध और वह 'सहनवस्थान नियम' अर्थात्—नियम से एक साथ न रहना) रूप है। नियम पद से यहाँ व्याप्ति अभीप्सित है। इस व्याप्ति में पुनः व्यभिचार शंका हो जाये, तो उसकी निवृत्ति के लिए दूसरे तर्क की आवश्यकता होगी और दूसरे अनुमान में तीसरे तर्क की और तीसरे अनुमान में चौथे तर्क की। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। किन्तु अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्व ज्ञान रूप क्रिया को यदि व्यभिचार शंका का प्रतिबन्धक मान लिया जाय, तो इस ज्ञान की तर्क से पूर्व ही निष्पत्ति हो जाने पर, उसके रहते हुए, व्यभिचार शंका कदापि नहीं हो सकती। इसलिए व्यभिचार शंका की निवृत्ति के लिए तर्कान्तर की अपेक्षा करना सर्वथा निर्मूल है।[२४६] इसी दृष्टि से व्याघात को प्रतिबन्धक मानकर उदयनाचार्य ने व्यभिचार शंका का पूर्व में निवारण किया है। इस पर आपत्ति उठाते हुए उदयन की कारिका में कुछ परिवर्तन कर खण्डनकार ने लिखा है—व्याघात यदि प्रामाणिक है, तो शंका भी अवश्य होगी, कारण, शंका होने पर ही, व्याघात होता है एवं यदि व्याघात नहीं है, तो प्रतिबन्धक के न होने पर अवश्यमेव शंका होती है। अतः शंका की अवधि व्याघात और तर्क को शंका की अवधि नहीं माना जा सकता।[२४७] अभिप्राय यह कि व्याघात, शंका का अभाव है और यह बिना शंका के निष्पन्न नहीं हो सकता। कारण अभाव ज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान को ही कारण माना जाता है। अतः वह अभाव भी अप्रसिद्ध होगा, जिसका कि प्रतियोगी अप्रसिद्ध है। जैसे, शशशृंग का अभाव, वन्ध्यापुत्र का अभाव अथवा गगन कुसुम का अभाव आदि ये सभी अलीक प्रतियोगी होने के नाते सर्वथा अप्रसिद्ध माने जाते हैं। इसलिए जब क्रिया का व्याघात होता है, तब व्यभिचार शंका भी अवश्य होती है और जब व्याघात न हो, तब व्यभिचार शंका सुतराम् होगी क्योंकि, शंका व्याघात से प्रतिबध्य है। ऐसी दशा में जब शंका ही व्याघात से प्रतिबध्य हो जाती है तब तर्क शंका से कैसे प्रतिबध्य हो सकता है।[२४८] खण्डनकार का खण्डन करते हुए गङ्गेश ने कहा है कि व्याघात शंका का अभाव नहीं है, अतः उसे शंका का प्रतिबन्धक मानने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। किन्तु तर्क प्रयोक्ता पुरुष की जो अन्वयव्यतिरेक अनुविधायित्व ज्ञान किया है वही शंका की प्रतिबन्धक है। अतः कोई दोष नहीं होगा।[२४९]

तर्क को ही यदि व्याप्ति निश्चय का कारण मान लिया जाय तो 'भूयोदर्शनात् व्याप्तिग्रहो भवति'—बार-बार के सहचार दर्शन से व्याप्ति निश्चय होता है, यह प्राचीन सिद्धांत असंगत हो जायगा। इसलिए प्राचीन नैयायिकों से अपनी संगति प्रदर्शित करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि, तर्क का अवतरण भूयोदर्शन के बिना नहीं होता, इसलिये परम्परा से भूयोदर्शन को भी व्याप्ति-निश्चय के प्रति कारण माना जाता है। किन्तु भूयोदर्शन, व्याप्ति निश्चय का साक्षात् कारण नहीं है, कारण, अनुभवात्मक ज्ञान होने के नाते भूयोदर्शन में जो संस्कार उत्पन्न होता है उससे तर्क की उत्पत्ति होती है और इस तर्क के द्वारा मध्यवर्ती उत्पन्न होने वाली व्यभिचार शंकाओं का निरास होकर व्याप्ति निश्चय होता है। अतः भूयःदर्शन परम्परीय कारण ही है।[२५०]

मीमांसकों का मत है कि अनुकूल तर्क के बिना भी केवल व्यभिचार निश्चया-

भाव तथा सहचार निश्चय से व्याप्ति का निश्चय हो सकता है। तर्क न तो व्याप्ति निश्चय के प्रति कारण है और न हेतु में होने वाले अनौपाधिकत्व-निश्चय के प्रति ही।[२५१] इसकी समीक्षा करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि यदि तर्क को अनौपाधिकत्व निश्चय के प्रति कारण नहीं माना जाय, तो सर्वत्र सद्हेतु मात्र में पक्षेतरत्व उपाधि की आपत्ति होगी। जैसे, 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ पक्षेतरत्व उपाधि साध्य वह्नि की व्यापक है, क्योंकि, पाकशाला में साध्य वह्नि और पक्षेतरत्व दोनों निश्चित रूप से विद्यमान हैं एवं वह हेतु धूम की अव्यापक है क्योंकि, हेतु धूम पर्वत में विद्यमान है, और वहाँ पक्षेतरत्व उपाधि नहीं है। किन्तु पक्षेतरत्व के उपाधि मानने पर अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा। अभिप्राय यह कि पक्षतेरत्व उपाधि साध्य की व्यापक और साधन की अव्यापक होने के नाते सभी अनुमानों में लग सकती है। इसलिए सद्हेतु मात्र में पक्षेतरत्व उपाधि लग जाने से अनुमान मात्र का विलोप प्रसङ्ग होने लगेगा। अतः इसके निरास के लिए तर्क को अनौपाधिकत्व निश्चय का प्रयोजक मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि व्यभिचार निश्चयाभाव तथा सहचार दर्शन को ही केवल व्याप्ति ग्राहक साधन माना जाये, तो जहाँ 'धूम वह्नि व्यभिचारी न वा', यह व्यभिचार संशय विद्यमान है अर्थात् धूम वह्नि का व्यभिचारी है अथवा नहीं; इस प्रकार से धूम में वह्नि के व्यभिचार का जहाँ संशय उपस्थित हो जाता है, वहाँ भी धूम से वह्नि का 'धूमो वह्नि व्याप्यः' इत्याकारक निश्चय होना चाहिये, क्योंकि वहाँ व्यभिचार निश्चयाभाव और सहचार दोनों ही विद्यमान हैं। किन्तु व्यभिचार शंका होने पर, यह निश्चय कदापि नहीं किया जा सकता। अतः व्यभिचार शंकाओं की निवृत्ति के लिए तर्क की प्रयोजकता स्वीकार करना आवश्यक है।[२५२]

व्याप्तिनिश्चय के प्रति व्यभिचार संशयाभाव और तर्क दोनों स्वरूप सत् होकर ही कारण है, न कि इन दोनों का ज्ञान। व्यभिचारी स्थलों में स्वरूप सत् होकर, इन दोनों की उत्पत्ति नहीं हो पाती। जैसे, शुक्ति में रजत अथवा रजतत्व, रज्जू में सर्प अथवा सर्पत्व आदि स्वरूपतः विद्यमान नहीं है, उनका ज्ञान भले ही है। इसलिए उनके ज्ञान को व्याप्तिग्राहक प्रमाण नहीं माना जा सकता।[२५३] तर्क व्यभिचार शंकाओं का प्रतिबन्धक होने के नाते व्याप्ति निश्चय के प्रति प्रयोजक है। संभावनामूलक अनिश्चित ज्ञान होने के नाते यह, स्वयं प्रमाण नहीं वरन् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का सहकारी है। यदि व्याप्ति निश्चय के प्रति इसे ही केवल साधक प्रमाण माना जाय तो युक्त नहीं, कारण, जहाँ पर अनवस्था दोष के भय से तर्क के बिना ही व्याघात द्वारा व्यभिचार संशय नहीं हो पाता, वहाँ पर होने वाले व्याप्ति निश्चय के प्रति तर्क का व्यभिचार देखने में आता है। इसलिए गङ्गेश ने भी प्राचीन नैयायिकों की तरह इसे प्रमाणों का अनुग्राहक ही माना है, प्रमाण नहीं।[२५४] विश्वनाथ ने, 'न्यायसूत्रवृत्ति' में अज्ञात वस्तु को यथार्थ रूप से जानने के लिए कारण के आरोप द्वारा जो कार्य का आरोप किया जाता है, उसे ही तर्क कहा है अर्थात् व्याप्य साध्याभाव की कल्पना द्वारा व्यापक साधनाभाव की कल्पना का नाम ही तर्क है। इस व्याख्या में तथा 'सिद्धान्तमुक्तावली' में तर्क का निरूमण करते हुए उन्होंने गङ्गेश का समर्थन किया है।[२५५] गङ्गेश के विवेचन से अन्नम भट्ट की दीपिका भी पर्याप्त रूप से प्रभावित जान पड़ती है।[२५६]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार

दर्शन ही व्याप्ति ग्राहक प्रमाण है, जिसमें व्यभिचार शंकाओं की निवृत्ति के लिए तर्क की सहायता भी अपेक्षित है। इस मत को गङ्गेश और उनके उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने मान्य किया है।

सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति

परन्तु उक्त साधन को व्याप्तिनिश्चय ग्राहक प्रमाण मान लेने पर और उसमें होने वाली समस्त व्यभिचार शंकाओं का, विपक्ष बाधक तर्क द्वारा पूर्ण रूप से व्यवच्छेद हो जाने पर भी, समस्त साध्य-साधनों की सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक व्याप्ति का ग्रहण होना दुष्कर है।[२५७] कारण, साधारण व्यक्ति द्वारा, अनन्त धूम और अनन्त वह्नियों का व्यक्तिशः ग्रहण करना सर्वथा असंभव है और यदि संभव हो भी जाय, तो यह सामान्य नियम निर्धारण नहीं किया जा सकता कि, निखिल साध्य-साधनों में सर्वत्र नियत साहचर्य ही पाया जाये क्योंकि, किसी काल अथवा देश विशेष जैसे पाकशाला, चत्वर आदि में धूम और अग्नि के साहचर्य को उक्त साधन द्वारा गृहीत कर, केवल यही अवधारण हो सकता है कि, पाकशालीय वह्नि अथवा चत्वरीय वह्नि के साथ पाकशालीय धूम अथवा चत्वरीय धूम का साहचर्य है। किन्तु केवल एक-दो स्थानों में, इस प्रकार का व्यभिचार-विहीन साहचर्य देखकर यह सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता कि, समस्त धूमों का समस्त वह्नियों के साथ सर्वत्र एवं सर्वदा सहचार पाया जाये। इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए ही न्याय दर्शन में सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति नामक अलौकिक सन्निकर्ष का अवलम्बन लिया गया है। इसके द्वारा एक वस्तु को देखने पर उसके समान सभी वस्तुओं का बोध हो जाता है। जैसे, पाकशाला में वह्नि के स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा उसकी उष्णता का बोध हो जाने पर 'सभी वह्नियाँ उष्ण होती हैं', ऐसा ज्ञान होता है। अतः धूम को देखकर धूमत्वेन सकल धूमों का तथा वह्नि को देखकर वह्नित्वेन सकल वह्नियों का ज्ञान हो जाता है! इन दोनों को पाकशाला आदि किसी स्थान में नियत रूप से सहचरित देखकर, सर्वत्र उनके नियत सहचार का ज्ञापन किया जा सकता है क्योंकि, नियत वही वस्तु होती है जो सर्वदा अपवादविहीन हो जैसे, धूम का अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध है और इसका अपवाद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत वह्नि का धूम के साथ जो सम्बन्ध है, वह नियत नहीं है क्योंकि, नियम से वह्नि सर्वदा धूम के साथ नहीं पायी जाती, अपितु वह धूम के अभाव में अयोगोलक आदि में भी पायी जाती है। अतः नियत व्याप्ति सम्बन्ध साध्य और साधन के समस्त उदाहरणों को समाविष्ट करता है। इसीलिये गङ्गेश ने भी कहा है कि सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा निखिल धूम वह्नि की व्याप्ति गृहीत होती है अन्यथा यदि सकल धूमों का अग्नि के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो, तो पर्वतीय अग्नि की धूम दर्शन से अनुमिति कदापि नहीं हो सकती।[२५८] 'तर्कसंग्रह-दीपिका' में भी कहा गया है—"वह्नित्व धूमत्व रूप से सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा सकल वह्नि धूम का ज्ञान होना संभव है।"[२५९]

सामान्य लक्षणा वस्तुतः क्या है इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना संदर्भ से विलग न होगा इसका स्वरूप निर्धारित करते हुए गङ्गेश ने लिखा नहै कि सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणता रूप है अथवा उससे अतिरिक्त अर्थात् ज्ञान रूप है।[२६०] उद्योतकर प्रभृति प्राचीन नैयायिकों द्वारा सन्निकर्ष केवल छः प्रकार से माने गये हैं[२६१] उनमें कथित सामान्य लक्षण सन्निकर्ष की कोई चर्चा नहीं की गयी है अतः

इसे मानने पर असंगति होगी, यह शंका लक्षण घटक 'विशेषणता' पद के उपादान से निरस्त हो जाती है, क्योंकि उद्योतकार के अंतिम सन्निकर्षविशेषण-विशेष्य भाव में सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष विशेषणता रूप से अन्तर्भूत हो जाता है। अतः 'उक्त सन्निकर्ष को मानने में कोई असंगति नहीं होगी। अथवा जगदीश तर्कालंकार के अनुसार यह समाधान भी दिया जा सकता है कि, प्राचीन नैयायिकों के छः सन्निकर्षों का परिगणन लौकिक सन्निकर्ष के रूप में ही किया गया है, अलौकिक सन्निकर्ष के रूप में नहीं। इसलिये प्रकृत लक्षण को, अलौकिक सन्निकर्ष होने के कारण पृथक् रूप से माना गया है। गङ्गेश के 'अतिरिक्तैव वा' पद से भी यही प्रतिध्वनित होता है कि सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष उन छः प्रकार के सन्निकर्षों से अतिरिक्त है।[१६२] जगदीश की व्याख्या के अनुसार गङ्गेश ही अलौकिक सन्निकर्षों के प्रवर्तक जान पड़ते हैं। ये तीन प्रकार के हैं—१. सामान्यलक्षणा, २. ज्ञानलक्षणा और ३. योगज।[१६३]

व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्यलक्षणा दो प्रकार से निष्पन्न हो सकती है—'सामान्यलक्षणां स्वरूपं यस्याः सा सामान्यलक्षणा.'—'जिसका स्वरूप सामान्य हो', अथवा 'सामान्यलक्षणं विषयो यस्याः सा सामान्यलक्षणा.'—जो सामान्य रूप विषयवाला हो', वही सामान्यलक्षणा है। स्वरूप अर्थ में सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष का अर्थ होगा, चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ संयोग आदि लौकिक सम्बन्ध युक्त पदार्थ जिस ज्ञान का विशेष्य हो, ऐसे चक्षु आदि से होने वाले ज्ञान में विशेषण होने वाली जाति ही सामान्य लक्षण सन्निकर्ष है। इस प्रकार यह सन्निकर्ष घटत्व आदि सामान्य (जाति) का बोधक है। जैसे, घट के साथ चक्षु का संयोग होने के बाद 'घटघटत्वे' इत्याकारक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, तत्पश्चात् 'अयं घटः' इत्याकारक सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। इस चाक्षुष ज्ञान का चक्षु इन्द्रिय-संयुक्त घट विशेष्य और घट वृत्ति घटत्व जाति विशेषण है, इस प्रकार 'अयं धूमः' इस धूम विशेष्यक प्रत्यक्ष ज्ञान में विशेषणीभूत धूमत्व जाति ही सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष है 'अयं धूमः' इस चाक्षुष प्रत्यक्ष के उपरान्त धूमत्व रूप सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष के द्वारा 'सर्वेधूमाः' इत्याकारक सकल धूम विषयक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। लाघव की दृष्टि में यदि 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानविशेषणीभूतसामान्य'*की अपेक्षा 'इन्द्रियसम्बद्धवृत्तित्व' अर्थ ही ग्रहण किया जाय तो न्यायसंगत नहीं होगा, कारण, भ्रमवश जिस व्यक्ति ने, वाष्प को ही धूम समझ रखा हो वहाँ धूमत्व रूप सामान्यलक्षणा के द्वारा वाष्प का ज्ञान होकर सकल धूम विषयक 'सर्वेधूमाः' इत्याकारक अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि वह धूमत्व इन्द्रियसम्बद्ध वाष्प में विद्यमान नहीं है। किन्तु उक्त लक्षण के अनुसार इन्द्रियसम्बद्ध होगा वाष्प, तद्विशेष्यक ज्ञान (वह जिसमें विशेष्य है) 'अयं धूमः' इत्याकारक ज्ञान होगा उसमें प्रकारीभूत सामान्य धूमत्व ही सकल धूमों के प्रत्यक्ष में सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष होगा। अतः इन्द्रियसम्बन्ध विशेषणता का अर्थ 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान प्रकारीभूत सामान्य' ही उचित जान पड़ता है। इसी बात को व्यक्त करते हुए दीधितिकार ने कहा है कि इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता में प्रयुक्त भावार्थक जो 'तल्' प्रत्यय है, उसके अर्थ की विवक्षा नहीं की गयी है।[१६४] इसलिये विशेषण वृत्तिधर्म का ग्रहण नहीं किया जा सकता। अपितु जिस प्रकार 'देव एवं देवता'—देवता का अर्थ देव ही माना जाता है, उसी प्रकार 'विशेषण मेव विशेषणता' द्वारा विशेषणता का अर्थ विशेषण ही यहाँ विवक्षित है। यहाँ इन्द्रिय से बाह्य इन्द्रियों का ही ग्रहण किया गया है

और इन्द्रिय सम्बन्ध के रूप में लौकिक सम्बन्ध तथा ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अभिप्रेत है।[२६५] अतः बाह्य इन्द्रिय के लौकिक सम्बन्ध द्वारा होने वाले बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रकारीभूत धर्म को ही प्रत्यासत्ति रूप से कारण माना जाता है। सामान्यलक्षणा से यहाँ एक मात्र जाति रूप सामान्य की विवक्षा नहीं है कारण, जहाँ, सर्वप्रथम घट और भूतल के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है, उसके पश्चात् घट और भूतल का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तत्पश्चात् 'घटवत् भूतलम्' इत्याकारक सविकल्पक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और उसके अनन्तर उस ज्ञान में प्रकारीभूत धर्म—घट के द्वारा घटविशिष्ट सकल भूतलों का 'घटवन्तिभूतलानि' इत्याकारक अलौकिक ज्ञान होता है, वहाँ उन समस्त भूतलों के अलौकिक प्रत्यक्ष का कारणीभूत सामान्यलक्षणा रूप अलौकिक सन्निकर्ष घट ही माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञान प्रकारीभूत सामान्य के रूप में यदि जाति रूप सामान्य का ही ग्रहण किया जाये, तो घट जाति न होने के कारण घटविशिष्ट निखिल भूतलों के प्रत्यक्ष में घट-सामान्यलक्षणा रूप अलौकिक सन्निकर्ष उत्पन्न नहीं हो सकेगा। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि सामान्य सखण्ड (अनित्य) तथा अखण्ड (नित्य) भेद के दो प्रकार का होता है। सामान्य पद का अर्थ केवल धर्म ही है। जहाँ सखण्ड सामान्य (घट) को अलौकिक प्रत्यक्ष में कारणीभूत सामान्यलक्षणात्मक अलौकिक सन्निकर्ष माना जाता है, वहाँ भी स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परा सम्बन्ध के द्वारा घटत्व रूप अखण्ड सामान्य को ही अलौकिक सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष माना गया है।[२६६] अन्यथा जहाँ, संयोगेन घट-वद्भूतलम्' इत्याकारक भूतल में संयोग सम्बन्ध द्वारा घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उसके बाद किसी कारणवश उस घट का विनाश हो जाता है, वहाँ उस घट के विनष्ट हो जाने के पश्चात् पूर्वोक्त चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक अनुभव से उत्पन्न होने वाले संस्कार के बल पर 'भूतलं तद् घटवत' इत्याकारक स्मरण होने के अनन्तर सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा उस घटवाले समस्त भूतलों का 'तद्घटवन्ति भूतलानि' इत्याकारक जो अलौकिक सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष होता है, वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि, उसका कारणी-भूत सामान्य वह घट नष्ट हो चुका है। परम्परा सम्बन्ध के द्वारा यदि अखण्ड सामान्य स्वरूप घटत्व को सम्बन्ध मान लिया जाय, तो वह घटत्व जाति स्वरूप होने के नाते नित्य होने से सर्वदा विद्यमान रहेगा। अतः घट रूप सखण्ड सामान्य को सामान्यलक्षणात्मक सन्निकर्ष के रूप में अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानने पर भी घटत्व को ही अलौकिक सन्निकर्ष मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि, यदि ज्ञायमान सामान्य को ही सामान्य-लक्षणा प्रत्यासत्ति माना जाय, तो चक्षु इन्द्रिय का घट के साथ संयोग होने पर 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान आज होता है, उसमें प्रकारीभूत घटत्व नित्य होने के कारण सर्वदा विद्यमान रहेगा, इसलिए वह दूसरे दिन भी रहेगा। अतः ऐसी परिस्थिति में घट के साथ दूसरे दिन चक्षु इन्द्रिय का संयोग न होने पर भी घटत्व जाति के विद्यमान होने से सकल घटों का अलौकिक सन्निकर्ष होना चाहिए, किन्तु होता नहीं। इसीलिए उक्त व्यतिरेक व्यभिचार को दृष्टि से रखते हुए गङ्गेश ने लक्षण में 'अतिरिक्तैव वा' पद का विन्यास किया है, जिसके अनुसार दूसरी व्युत्पत्ति का निरूपक अर्थ में आविर्भाव हुआ। इस व्युत्पत्ति के अनुसार धूमत्व आदि जाति के ज्ञान को ही सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति कहा गया है।[२६७] सामान्य ज्ञान को प्रत्यासत्ति मान लेने पर पूर्वोक्त दोषों का वारण इस

प्रकार किया जा सकता है—प्रथम पक्ष में घट का नाश होने पर भी घट का ज्ञान तो वहाँ विद्यमान ही रहेगा एवं द्वितीय पक्ष में सामान्य-घटत्व के नित्य होने पर भी इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना उसका ज्ञान होना सर्वथा असंभव है। अतः सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से सामान्य विषय के निरूपक सामान्यविषयक ज्ञान का ही ग्रहण करना तर्क सम्मत ज्ञात पाता है।

उक्त रीति से सामान्यविषयक ज्ञान को ही सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति कहा गया है और ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति भी ज्ञान रूप ही है। अतः दोनों ज्ञान रूप होने के नाते उनमें कोई भेद परिलक्षित नहीं होता। इसलिए दोनों को पृथक्-पृथक् मानना निरर्थक जान पड़ता है। इन दोनों में परस्पर भेद ज्ञापित करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि, प्रथम अपने समस्त आश्रयों के प्रत्यक्ष का एवं द्वितीय जिसका ज्ञान होता है उसी के प्रत्यक्ष का कारण है। जैसे, घटत्व ज्ञान रूप सामान्यलक्षणा द्वारा घटत्व के आश्रयभूत व्यवहित-विप्रकृष्ट या अतीत-अनागत-वर्तमान सम्पूर्ण घटों का 'सर्वेघटाः' इत्याकारक अलौकिक सन्निकर्ष होता है। किन्तु ज्ञानलक्षणा द्वारा जिसका ज्ञान होता है, उसी के साथ सन्निकर्ष होता है, जैसे, 'सुरभिचन्दनम्' इस प्रतीति में साक्षात् सौरभ के साथ ही ज्ञान-लक्षणा प्रत्यासति द्वारा चक्षु सन्निकर्ष होता है, सौरभ के आश्रय चन्दन के साथ नहीं। और यदि सौरभ का ज्ञान सौरभत्व रूप सामान्यलक्षणा के द्वारा कदाचित स्वीकार कर लिया जाय, तब सौरभत्व के प्रत्यक्ष के लिये सोरभत्वज्ञान रूप ज्ञानलक्षणा ही स्वीकार की जायेगी। अतः परस्पर विभिन्न प्रकार के ज्ञान की उत्पादक होने के नाते दोनों में पर्याप्त अन्तर है।[२६८] ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति की अपेक्षा 'सुरभिचन्दनम्' इस चाक्षुष प्रत्यक्ष में जिस प्रकार चन्दन का चाक्षुष प्रत्यक्ष मामा जाता है, उसी प्रकार सौरभ और सौरभत्व इन दोनों का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष मान लिया जाय तो क्या हानि है? ऐसा संभव नहीं है। जगदीश ने कहा है—चक्षुइन्द्रिय, बाह्य इन्द्रिय होने के नाते, अपने अयोग्य पदार्थ के ज्ञान करने में समर्थ नहीं हो सकती। प्रकृत में 'सुरभिचन्दनम्' यहाँ सौरभ और उसमें रहने वाली सौरभत्व जाति का प्रत्यक्ष चक्षुइन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए सौरभत्व के भान के लिये ज्ञानलक्षणा को पृथक् प्रत्यासत्ति माना जाता है।[२६९]

सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष की आवश्यकता पर विचार करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि 'वह्नि व्याप्य धूमवान् पर्वतः' इस परामर्श ज्ञान की उपपत्ति सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकती क्योंकि, परामर्श में दो अंश होते हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। प्रथम में पर्वतवृत्ति धर्म के रूप में पर्वतीय धूम की पक्षधर्मता तथा द्वितीय में 'हेतु व्यापक साध्यसामानाधिकरण्य' यह व्याप्ति भासित होती है। सामान्यलक्षणा न मानने पर इन दोनों में एकवाक्यता स्थिर नहीं की जा सकती, कारण, जिस धूम में व्याप्ति निश्चय (महानसीय वह्नि के साथ महानसीय धूम का साहचर्य निश्चय) होता है, उसमें पक्ष धर्म नहीं है और जिस पर्वतीय धूम में पक्षधर्मता का भान होता है, उसमें साध्य की व्याप्ति का निश्चय अभी तक नहीं हो पाया है। अतः दोनों अंश विश्रङ्खलित हो जाते हैं। उक्त सन्निकर्ष मान लेने पर ऐसी कठिनाई उपस्थित नहीं होती क्योंकि, धूमत्व रूप सामान्यलक्षणा से सकल धूमों में वह्नित्व रूप सामान्यलक्षणा द्वारा सकल वह्नियों की व्याप्ति का निर्धारण हो जाने के उपरान्त पर्वतीय धूम को देखकर भी यह व्याप्ति निश्चय सम्पन्न हो जायगा। इससे 'वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः'

यह परामर्शात्मक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[२७०] विश्वनाथ ने भी कहा है कि सामान्य-लक्षणा के बिना धूमत्वेन सकल धूमों का तथा वह्नित्वेन समस्त वह्नियों का भान नहीं हो सकता, इसीलिये सामान्यलक्षणा को स्वीकार करना आवश्यक है।[२७१] वाचस्पति मिश्र[२७२] का समर्थन करते हुए जयन्त भट्ट ने भी कहा है कि यत्र-यत्र पद से सामान्य धूम की ही विवक्षा की जाती है पर्वतीय, आरण्यक आदि कतिपय धूम व्यक्तियों की नहीं। सामान्यों में व्याप्ति गृहीत करने की अपेक्षा कतिपय व्यक्तियों में ग्रहण करना वैसा ही है जैसा कि कोई मुग्धा स्त्री नपुंसक से विवाह कर पुत्र की कामना करे।[२७३] प्राचीनों के इन्हीं विचारों को संकलित करने के लिये संभवतः नव्य नैयायिकों ने सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति की कल्पना की है।

मीमांसक जो परामर्श की अपेक्षा व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमितिकरण मानते हैं, उन्होंने सामान्यलक्षणा की आलोचना करते हुए लिखा है कि, ज्ञान दो प्रकार के होते हैं—विशिष्ट बुद्धिरूप और विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही बुद्धि रूप। जैसे 'अयं घटः' यह ज्ञान विशिष्ट बुद्धि रूप तथा 'घटवद् भूतलम्' यह ज्ञान विशिष्टवैशिष्टयावगाही बुद्धि रूप है कारण घटत्व धर्म से विशिष्ट घट ही होगा और घट के सम्बन्ध का अवगाहन भूतल में हो रहा है। प्रथम ज्ञान के प्रति विशेषण ज्ञान तथा द्वितीय के प्रति विशेषणतावच्छेदक प्रकार ज्ञान को कारण माना गया है। इस प्रकार 'वह्निमान् अयं' यह अनुमिति रूप पक्ष का ज्ञान द्वितीय विशिष्ट वैशिष्टयावगाही बुद्धि रूप ज्ञान है। अतः यहाँ पर विशेषणताव-च्छेदकीभूत वह्नित्व प्रकार से, वह्नि का ज्ञान ही कारण होगा। ऐसी दशा में जब वह्नित्व रूप से समस्त वह्नियों का ज्ञान हो जाता है, तब पर्वतीय वह्नि का ज्ञान भी इसी रूप से हो जायगा। इसलिए सामान्यलक्षणा को मानना सर्वथा व्यर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि सामान्यलक्षणा को स्वीकार कर लेने पर जिस प्रकार घटत्व अथवा घटत्व ज्ञान रूप सामान्यलक्षणा द्वारा समस्त घटों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार से प्रमयेत्व रूप से समस्त प्रमेयात्मक जगत् का ज्ञान हो जाना चाहिये। इससे न्यायमत में सर्वज्ञता की आपत्ति होगी और यदि नैयायिक इस आपत्ति को स्वीकार करते हैं, तो अनुभव विरोध और स्वशास्त्र विरोध होगा, क्योंकि स्वयं नैयायिकों ने भी ईश्वर को ही सर्वज्ञ माना है, अल्पज्ञ होने से जीव को नहीं। तीसरे यदि सर्वज्ञता को स्वीकार कर लिया जाये, तो अन्य व्यक्ति के ज्ञान के विषयीभूत पदार्थों में जो संशय उत्पन्न होता है (अर्थात् वह घट को जानता हुआ घटत्व को भी जानता है अथवा नहीं ?) वह नहीं होना चाहिये, क्योंकि, प्रमेयत्व रूप सामान्यलक्षणा के द्वारा प्रमेयभूत सम्पूर्ण जगत् को जिस व्यक्ति ने सर्वज्ञ होने के नाते जान लिया है, तब वह संशय निष्ठ भासमान भाव-अभाव रूप दोनों कोटियों का अथवा दोनों में से एक कोटि का निश्चय भी, सुगमतापूर्वक कर सकता है। यदि निश्चय हो जाता है, तब संशय नहीं हो सकता और यदि निश्चय न हो, तब कहना होगा कि वह, प्रमेयत्व रूप सामान्यलक्षणा द्वारा प्रमेयभूत सकल पदार्थों को नहीं जान पाया। परन्तु यह कथन समीचीन नहीं जान पाता क्योंकि, जिस प्रकार घटत्व रूप सामान्य-लक्षणा द्वारा घटत्व के आश्रयभूत सकल घटों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार प्रमेयत्व के आश्रयभूत समस्त पदार्थों का ज्ञान भी अवश्यमेव होगा। यदि यह कहा जाये कि प्रमेयत्व रूप से संशय के विषयीभूत घट का ज्ञान तो उसे हो जाता है किन्तु उसमें प्रकारी-भूत घटत्व तथा घटत्वाभाव रूप दोनों धर्मों का ज्ञान उसे नहीं हो पाता। परन्तु यह

कथन भी उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि, घटत्व और घटत्वाभाव भी प्रमेय ही है। अतः प्रमेयत्व रूप सामान्यलक्षणा द्वारा जब समस्त प्रमेयों का ज्ञान निष्पन्न हो जाता है तब उनमें रहने वाले धर्म अथवा अभाव का अथवा दोनों में से एक का निश्चय होना सर्वदा संभव है।[२७४] सर्वज्ञता को लेकर सामान्यलक्षणा पर भी इसी प्रकार के प्रहार श्रीहर्ष ने भी किये हैं।[२७५] उक्त सभी आक्षेप तर्क सम्मत नहीं जान पड़ते। न्याय मत द्वारा इनके समाधान इस प्रकार दिये जा सकते हैं—सामान्यलक्षणा स्वीकार किये बिना अनुकूल तर्क आदि के अभाव में धूमादि में 'धूमो वह्निव्यभिचारि न वा' अथवा 'धूमो वह्नि व्याप्यो न वा' इत्यादि रूप से व्यभिचार अथवा व्याप्ति का संशय नहीं बन सकेगा, कारण, पर्वतीय, पाकशालीय आदि प्रसिद्ध धूमों में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय रहता ही है और इनसे अतिरिक्त जो कालान्तरीय-देशान्तरीय अप्रसिद्ध धूम हैं, उनका अस्तित्व ही ज्ञात नहीं रहता। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त सार्वजनीन संशय उपपन्न नहीं हो सकता। कारण जिन धूमों का ज्ञान है, उनमें व्याप्ति निश्चय है ही और जिनका ज्ञान नहीं, उनकी उपस्थिति नहीं हो पाती। सामान्यलक्षणा मान लेने पर प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध समस्त धूमों की उपस्थिति हो जाने के कारण संशय निर्विवाद रूप से उपपन्न हो जाता है। प्रसिद्ध पर्वतीय, महानसीय आदि धूमों में व्याप्ति का निश्चय रहता है और अप्रसिद्ध कालान्तरीय-देशान्तरीय धूमों में नहीं, इस प्रकार भाव और अभाव दो कोटियों के होने पर यह संशय 'सकल धूम वह्नि के व्यभिचारी अथवा व्याप्य है या नहीं', उपपन्न हो जाता है, क्योंकि, प्रसिद्ध धूमों में विशेष दर्शन होने पर भी अप्रसिद्ध कालान्तरीय-देशान्तरीय धूमों में विशेष दर्शन न होने के कारण उक्त संशय बनने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार सर्वज्ञता की आपत्ति भी सुषिर ही जान पड़ती है, क्योंकि सर्वज्ञ उसे ही कहा जा सकता है, जो सामान्य और विशेष दोनों धर्मों द्वारा समस्त पदार्थों को अधिगम कर सके। प्रकृत में यह बात है ही नहीं क्योंकि, प्रमेयत्व रूप सामान्यलक्षणा के द्वारा लोकनिष्ठ प्रमेयभूत घट-पट आदि सकल पदार्थों का सामान्य ज्ञान कर लेने पर भी उनके घटत्व, पटत्व आदि विशेष धर्मों का ज्ञान करना लौकिक अल्पज्ञ मानव के लिए असंभव है। जिन युक्त और युञ्जान योगियों को जो सामान्य और विशेष धर्मों का ज्ञान होता है, वे लौकिक नहीं हैं। क्योंकि मिथ्या ज्ञान जन्य सांसारिक वासनाएँ उनके अन्तःकरण को स्पर्श नहीं कर पाती। फिर भी योग जन्य होने के कारण उनके ज्ञान को नित्य नहीं कहा जा सकता। अतः उत्पाद-विनाश रहित और सम्पूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल समग्र पदार्थों को नित्य रूप से युगपत् जानने वाला ईश्वर ही सर्वज्ञ कहला सकता है, लौकिक जीव या विशिष्ट योगी नहीं। इसलिये सामान्यलक्षणा को मान लेने पर भी सर्वज्ञता की आपत्ति नहीं दी जा सकती। दूसरे मीमांसक आदि ने जो विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही बुद्धि के प्रति विशेषणतावच्छेदक अथवा धर्मितावच्छेदक प्रकारक ज्ञान को कारण माना है, उसी के द्वारा सामान्यलक्षणा की सिद्धि निर्विवाद हो जाती है क्योंकि, तद्धर्म प्रकारक ज्ञान को ही तद्धर्म आश्रय के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष माना गया है। आश्रय के प्रत्यक्ष का कारणीभूत वह तद्धर्म प्रकारक ज्ञान अर्थात् धर्मितावच्छेदक प्रकारक ज्ञान तथा विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान ही सामान्यलक्षणा अलौकिक सन्निकर्ष है। अतः न चाहते हुए भी उनको सामान्यलक्षणा इस रूप से स्वीकार करना पड़ती है। इसके अतिरिक्त अभाव के प्रत्यक्ष को उपपन्न करने के लिये सर्वत्र प्रतियोगी ज्ञान की आवश्यकता होती है।

अतः 'घटोनास्ति' इस घट के सामान्य अभाव का ज्ञान निष्पादित करने के लिए घट सामान्य का ज्ञान आवश्यक है। इस घट सामान्य का ज्ञान घटत्व अथवा घटत्व ज्ञान रूप सामान्यलक्षणा के बिना नहीं हो सकता। अतः वह्नि सामान्याभाव से धूम सामान्याभाव की व्याप्ति गृहीत करने के लिए भी सामान्यलक्षणा मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार 'घटो भविष्यति' इस प्रागभाव के प्रत्यक्ष के लिये भी प्रतियोगी ज्ञान आवश्यक है। इसका प्रतियोगी भावी घट ही हो सकता है। इस भावी घट का ज्ञान भी सामान्यलक्षणा के बिना नहीं हो सकता।[२७६] अतः सामान्यलक्षणा को मानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना धूमत्व रूप से सकल धूमों में वह्नित्वेन रूप से सकल वह्नियों की अथवा अग्नि सामान्याभाव से धूम सामान्याभाव की व्याप्ति होना असंभव है।

भूयोदर्शन

मीमांसा मत

मीमांसा दर्शन में 'मीमांसासूत्र' तथा 'शाबरभाष्य' में इस महत्वपूर्ण समस्या पर कोई विचार नहीं किया गया है, किन्तु कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर दोनों ने इस पर विशद प्रकाश डाला है। कुमारिल के अनुसार वह्नित्व धर्म से युक्त सकल वह्नियों की धूमत्व विशिष्ट सकल धूमों से होने वाली सामान्यमुखी तथा नक्षत्र विशेष कृतिका के उदय होने से नक्षत्र विशेष 'रोहिणी का उदय ज्ञापित करने वाली विशेषमुखी व्याप्ति का निश्चय पुनः-पुनः धूम और अग्नि तथा कृतिका और रोहिणी के साहचर्य दर्शन से ही होता है।[२७७] कुमारिल के इस विवादास्पद श्लोक की व्याख्या उनके टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार से की है। पार्थसारथि मिश्र ने प्रायः सभी मतों का विवेचन और खण्डन अपनी 'न्यायरत्नमाला' में किया है।

प्रत्यक्ष–

कुछ विद्वानों का मत है कि व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि अनेकबार अग्नि के अधिकरण में धूम के दर्शन और उसके अनधिकरण में अदर्शन से 'धूम अग्नि के साथ नियत रूप से सहचरित रहता है', ऐसी प्रतीति प्रायः सभी को सर्वदा होती है। यह प्रतीति अनुमान आदि अन्य प्रमाणों में अन्तर्भूत नहीं हो सकती, प्रत्युत प्रत्यक्षगम्य ही है। इस प्रतीतिका जनक अनुमान इसलिए नहीं हो सकता कि, वह स्वयं व्याप्ति निश्चय के अधीन है। इसे शब्द भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि, यह उसके द्वारा उत्पन्न नहीं होती। सादृश्य विषयक न होने से यह प्रतीति उपमान में भी समाविष्ट नहीं की जा सकती। इसी प्रकार इसको अर्थापत्ति भी नहीं कहा जा सकता, कारण नियम के बिना अर्थापत्ति होना संभावित नहीं तथा इसे अभावमूलक भी नहीं माना जा सकता क्योंकि, अभाव की भाव पदार्थों में प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि यह कहा जाये कि यह विपक्ष व्यावृत्ति रूप अभाव ही है, तो ऐसा कथन युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि व्यावृत्ति मात्र ही नियम नहीं होता। अतः परिशेषतः यह प्रत्यक्षगम्य ही है। यदि यह कहा जाये कि, प्रत्यक्ष केवल वर्तमान विषयक ही होता है, इसलिये उसके द्वारा देशान्तर-कालान्तर सम्बन्ध रूप नियम का ग्रहण कैसे होगा, तो यह आशंका सुषिर ही जान पड़ती है, क्योंकि देशान्तर-कालान्तर आदि सम्बन्ध नियम नहीं है अपितु धूम आदि का स्वरूप ही नियम है और वह वर्तमान होने से प्रत्यक्ष ग्राह्य हो सकता है, कारण, नियम ग्रहण करने के लिये देशान्तर आदि का ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। अतः नियम का

ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है।[१७८] यद्यपि पार्थसारथि मिश्र ने इस मत के प्रस्थापक का नाम निर्देशित नहीं किया है, किन्तु सुचरित मिश्र की व्याख्या का परिशीलन करने के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि वे ही इस मत के प्रवर्तक थे।[१७९] परन्तु यह मत तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। व्याप्ति को प्रत्यक्षगम्य ही मानने वालों से यह पूछा जा सकता है कि प्रत्यक्ष सभी विद्यमान विषयक होते हैं अथवा अविद्यमान विषयक? प्रत्यक्ष को अविद्यमान विषयक इसलिये नहीं कहा जा सकता कि वह इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता और इन्द्रिय सम्बन्ध विद्यमान विषय के बिना नहीं हो सकता। अतः केवल विद्यमान विषयक होने के नाते प्रत्यक्ष नियम ग्राहक प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि, वह सर्व देश-काल व्यापी नहीं है और नियम सर्वदा सर्वदेशकाल व्यापी ही होता है। अखिल धूमों के देशकाल में अग्नि की व्यापकता (व्यापित्व) होना ही अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति कहलाती है। जैसा कि कुमारिल ने कहा है—जो जिसके देशकाल में समान अथवा कम हो, वह व्याप्त तथा समान अथवा अधिक देशकाल में रहता हो, वह व्यापक होता है।[१८०] 'हेतु स्वरूप ही नियम होता है', यह कथन थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाये तो धूम स्वरूप भी अग्नि सम्बन्ध के अव्यभिचार रूप से अतिरिक्त नहीं हो सकता और अव्यभिचार यावत् धूमों के देशकाल में अग्नि के सम्बन्ध का स्वभाव ही है, उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। अतः उसको यदि प्रत्यक्षगम्य माना जाय तो देशान्तर आदि का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा जो अनुभव सिद्ध नहीं है।[१८१] प्रत्यक्ष से निखिल व्यक्तियों का जब तक ग्रहण नहीं हो जाता, तब तक उनमें अन्वय-व्यतिरेक का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि उक्त मतानुसार थोड़ी देर के लिए समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण स्वीकार कर भी लिया जाये, तो पर्वत में रहनेवाली अग्नि का भी निश्चय हो जाने से अनुमान मानना निष्प्रयोजक हो जायगा।[१८२] चार्वाक मत प्रतिपादित करते हुए माधव ने भी लिखा है कि बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति ज्ञान का निश्चय नहीं किया जा सकता। बाह्य इन्द्रियों द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष से सम्बद्ध विषयों का ही ज्ञान हो सकता है क्योंकि, बाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध केवल वर्तमानकालीन वस्तुओं के साथ ही रहता है। अतएव इस प्रकार का ज्ञान भले ही वर्तमानकालीन वस्तुओं का ज्ञान कराने की सामर्थ्य रखता हो, किन्तु उसके द्वारा भूतकालीन और भविष्यकालीन वस्तुओं का ज्ञान निष्पादित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत व्याप्ति का क्षेत्र केवल वर्तमान-काल तक ही सीमित नहीं रहता वरन् वह तीनों कालों की संग्राहिका है। अतः बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति ज्ञान होना दुष्कर है।[१८३] उपर्युक्त सभी आलोचनाओं में वाचस्पति मिश्र के, प्रत्यक्ष को व्याप्ति ग्राहक साधन मानने के खण्डन का समर्थन जान पाता है।[१८४] निष्कर्षतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष चाहे कितना भी निर्णयात्मक क्यों न हो, उसके द्वारा लोक में जितने भी धूम हैं, वे सब अग्नि द्वारा ही उत्पन्न होने के नाते अग्नि होने के पर ही होते हैं तथा अनग्निजन्य न होने के कारण अग्नि के अभाव वाले आश्रयों में कदापि नहीं रहते, ऐसी सार्वकालिक और सार्वदेशिक व्याप्ति का निश्चय प्रत्यक्ष की क्षमता के बाहर की वस्तु है।

मानस प्रत्यक्ष

कुछ दार्शनिकों ने मानस प्रत्यक्ष से नियम का ग्रहण माना है किन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि, मन के विषय आत्मा और उसके सुख-दुःख आदि धर्म है एवं व्याप्ति आत्मा का

धर्म नहीं है, किन्तु दो वस्तुओं का नियत सम्बन्ध है। व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष से कदाचित गम्य भी हो सकता है लेकिन फिर भी वह बहिप्रत्यक्ष से ही संभव है, मानस प्रत्यक्ष से नहीं, क्योंकि, बाह्य विषय में मन स्वतंत्र नहीं है। मन शरीर में और पदार्थ बाहर स्थित रहते हैं, इसलिए उसके द्वारा बाह्य पदार्थों के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि, मन देह से बाहर नहीं आ सकता। केवल इन्द्रियजन्यत्व' ही प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं है, अन्यथा अनुमान आदि भी लिङ्ग आदि सहित मन रूप इन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष कहलाने लगेंगे। अतः 'इन्द्रियार्थ-संप्रयोग-जन्यत्व' ही प्रत्यक्ष का लक्षण है और संप्रयोग चार प्रकार का होता है—(१) संयोग, (२) संयुक्त समवाय, (३) संयुक्त समवेत समवाय एवं (४) तत्समवाय। प्रथम में द्रव्य का, द्वितीय से गुण, कर्म और सामान्य का, तृतीय से गुणत्व आदि एवं चतुर्थ से गुणत्वादिगत सत्ता का ग्रहण होता है। मन का, इन चारों प्रकार के संप्रयोगों का, बाह्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि देह से मन का बहिर्भाव नहीं होता। जो दार्शनिक मन को विभु मानते हैं, उनके मत में भी आकाश की भांति जिस प्रकार कर्णछिद्र-परिच्छिन्न आकाश ही शब्द का ग्राहक होता है, उसी प्रकार देहावच्छिन्न मन ही इन्द्रिय शब्द से कथित होगा। अतः बाह्य वस्तुओं के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता।[२८५] इसी बात की समीक्षा करते हुए शालिकनाथ ने भी लिखा है कि इन्द्रिय निरपेक्ष रूप से मन वस्तुओं का ज्ञान कराने में सक्षम नहीं है। यदि वह इस प्रकार से ज्ञान सम्पन्न कराता है, तब कोई भी मानव अज्ञ नहीं रहेगा प्रत्युत सभी सर्वज्ञ हो जायेंगे। किन्तु ऐसा होना संभव नहीं अतः मन को विभु मान लेने पर भी मानस प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि भूयोदर्शन सहकृत बाह्य विषय में मन की प्रवृत्ति हो सकती है और इससे व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, तो यह भी तर्क सम्मत नहीं क्योंकि, किसी वस्तु के ग्रहण में चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी मन के साथ संलग्न रहती है। चक्षु एक ओर द्रव्य के साथ संयुज्य होती है और दूसरी ओर उसका संयोग मन के साथ होता है। किन्तु व्याप्ति का इस प्रकार प्रत्यक्ष संभावित नहीं है क्योंकि वह किसी देशकाल से अवच्छिन्न होने वाला, घटादि के समान कोई पदार्थ नहीं है। भूयोदर्शन से केवल इतना ही ज्ञान हो पाता है कि धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है, किन्तु इसी को व्याप्ति नहीं कहते क्योंकि यह सार्वकालिक और सार्वदेशिक सम्बन्ध है। चक्षु का संयोग केवल वर्तमानकालीन पदार्थों से ही हो सकता है, अतीत और अनागत पदार्थों को वह अपना विषय नहीं बना सकती। फिर मन जिसका कार्य चक्षुरादि इन्द्रियों के अधीन है उससे कैसे सार्वदेशिक और सार्वकालिक व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाये कि, व्याप्ति ग्रहण में मन की सहायता अपेक्षित है फिर भी ऐसा मानने से यह नहीं माना जा सकता है कि वही उसका कारण भी है क्योंकि, मन तो साधारण कारण के रूप में सभी प्रमाणों में प्रवृत्त होता है। जैसे, बाह्य इन्द्रियों की सहायता से जब वह अर्थ ग्रहण करता है, तब वह प्रत्यक्ष प्रमाण में सहायक है, लिङ्ग ज्ञान की सहायता से जब वह बोध कराता है, तब वह अनुमान प्रमाण में सहकारी है एवं जब वह स्वयं अपने द्वारा ही सुख-दुःख आदि धर्मों का ग्रहण करता है, तब उसे स्वतंत्र रूप से मानस प्रत्यक्ष कहा जाता है। अतः व्याप्ति ज्ञान के विषय में मन बिना बाह्य इन्द्रियों की सहायता के अकार्यकारी है। लिङ्ग ज्ञान की सहायता से अथवा स्वतंत्र रूप से ही वह व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा

सकता। अतः मानस प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण करना कल्पना मात्र ही है।[२८६] उक्त विवेचन वाचस्पति मिश्र के मानस प्रत्यक्ष और भूयोदर्शन सहकृत मानस प्रत्यक्ष के खण्डन-मण्डन का ही समर्थन जान पड़ता है।[२८७] न्याय कन्दलीकार ने भी लिखा है कि मन को यदि बाह्य अर्थों से ग्रहण में स्वतंत्र अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों से निरपेक्ष मान लिया जाये तो लोक में कोई अंधा, गूँगा या बहरा न रह जायगा क्योंकि वे भी उक्त सिद्धान्तानुसार बाह्य अर्थ का मन द्वारा ग्रहण करने में समर्थ हो जायेंगे।[२८८] जयन्त और माधव ने भी इसी प्रकार इस साधन का खण्डन किया है।[२८९]

योगी प्रत्यक्ष

योगी प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति ग्रहण होने की संभावना पर यद्यपि पार्थसारथि मिश्र ने कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया फिर भी प्रसङ्गवश इस बिन्दु पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। योगी प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति ग्रहण का प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि, जो योगी है, उसे व्याप्ति ग्रहण करने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती क्योंकि, युक्त योगी को योगजधर्म की सहायता से युक्त मन के द्वारा आकाश, परमाणु आदि सकल पदार्थों का ज्ञान सर्वदा होता रहता है और युञ्जान योगी को उक्त समस्त पदार्थों का ज्ञान विशेष रूप से ध्यान करने पर हो जाता है।[२९०] अतः उसे अनुमेय अर्थ का भान योगज प्रत्यक्ष (अलौकिक सन्निकर्ष) द्वारा हो जाने से व्याप्ति ग्रहण की अपेक्षा ही नहीं रहती।[२९१] जयन्त भट्ट ने भी इसको व्याप्ति ग्राहक साधन मानने का खण्डन किया है।[२९२]

अर्थापति

किसी विद्वान् के अनुसार, सम्बन्ध नियम का अवधारण अर्थापति से ही हो सकता है। किसी पदार्थ से वह जिसके बिना नहीं होता उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना ही अर्थापत्ति है। सैकड़ों बार हम देखते हैं कि अग्नि के अधिकरण में धूम का दर्शन होता है, और अग्नि के अनधिकरण में धूम का अदर्शन। यह तथ्य अग्नि के साथ धूम के नियत सम्बन्ध के बिना अनुपपन्न है। यदि नियत सम्बन्ध नहीं होता तो किसी देश अथवा काल में धूम अग्नि के बिना भी देखा जाता। किन्तु हमारे अनुभव में ऐसी बात नहीं देखी जाती। अतः सम्बन्ध नियम को अर्थापत्ति-गम्य ही मानना चाहिये।[२९३] यद्यपि पार्थसारथि मिश्र ने इस बात के उत्थापक का नाम निर्देश नहीं किया है, फिर भी भट्ट उम्बेक की व्याख्या को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह मत उन्हीं का है।[२९४] पार्थसारथि मिश्र ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि अदर्शन तो अभाव प्रमाण से ही उपपन्न हो जाता है अर्थात् धूम और अग्नि के अभाव द्वारा यह सिद्धान्त भी ज्ञात हो सकता है कि अग्नि के बिना धूम का अदर्शन और सर्वत्र अग्नि के अनधिकरण में धूम नहीं है, इस बात का अवधारण अर्थापत्ति से कदापि नहीं किया जा सकता। अग्नि के अधिकरण में धूम का दर्शन भाव से उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि सैकड़ों बार यह देखा जाये कि अग्नि के अधिकरण में ही धूम रहता है, फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह भविष्य में भी रहेगा। अतः अग्नि के अधिकरण में सर्वत्र धूम होगा ही इस बात का निर्णय अर्थापत्ति द्वारा नहीं किया जा सकता।[२९५] शालिकनाथ ने भी इसका खण्डन करते हुए कहा है कि जहाँ पर जिस समय दर्शन अथवा अदर्शन होता है, वहाँ पर उस समय उससे सम्बन्ध का भाव और अभाव दोनों के द्वारा सम्बन्ध नियम की उपपत्ति हो जाती है। देशान्तर और कालान्तर में भाव और अभाव का

निश्चय नहीं हो सकता। इसलिए अर्थापत्ति से सम्बन्ध नियम का अवधारण नहीं हो सकता है।[२९६]

बहिरिन्द्रिय प्रत्यक्ष

प्रभाकर मत संपादित करते हुए शालिकनाथ ने लिखा है कि सम्बन्ध नियम का ग्रहण केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो सकता है। वह्नि-धूम की व्याप्ति देश-काल से अवच्छिन्न प्रत्यक्ष द्वारा ही अवगत होती है। तात्पर्य यह है कि वह्नि-धूम की व्याप्ति का ग्रहण दोनों को एक साथ नियत रूप से देखने मात्र से हो जाता है। दूसरी बार अथवा तीसरी बार के देखने पर अर्थात् भूयोदर्शन से यदि कोई उपाधि हुई, तो उसका निरास हो जाता है। यदि यह कहा जाये कि प्रत्यक्ष तो सन्निहित देशकाल विषयक होता है, इसलिये संयोग रूप सम्बन्ध देशकालावच्छिन्न ही होगा, किन्तु व्याप्ति सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होती है, अतः उसका ग्राहक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसका समाधान यह है 'देशकालावच्छेदक धर्म (देश और काल का धर्म) 'इदन्ता' रूप है। यह द्रव्य में ही अवगम्य होता है। यह संयोग का बोधक नहीं है। प्रतीति भी 'संयुक्तौ इमौ'—यह दोनों संयोग विशिष्ट हैं'—इसी प्रकार से होती है। 'न पुनः अनयोः अयं संयोग'—'इन दोनों का यह सम्बन्ध संयोग है' इस रूप से नहीं। इसलिये देशकाल तथा संयोग के द्वारा द्रव्य ही अवच्छेद्य होता है। देश तथा काल दोनों का संयोग रूप सम्बन्ध अवच्छेदक नहीं होता। इसलिये उनसे अनवच्छिन्न सम्बन्ध धूम मात्र से निश्चित होता है। इस तरह धूम सत्ता ही देशान्तर और कालान्तर में प्रमाण की अपेक्षा रखती है, अग्नि संयोग नहीं क्योंकि, वह पहिले ही अवगत है। धूम और अग्नि के संयोग का निश्चय एक बार के दर्शन से भी हो सकता है। यहाँ पर यह आशंका हो सकती है कि, अग्नि और धूम के संयोग के प्रत्यक्ष हो जाने पर भी पूर्वोक्त रीति से सम्बन्ध का अवधारण किया जा सकता है। किन्तु यह उचित नहीं क्योंकि, अग्नि और धूमवत्ता स्वाभाविक नहीं है, किन्तु औपधिक है अर्थात् आर्द्रेन्धन रूप उपाधि संयोग के कारण ही अग्नि में धूम उत्पन्न होता है, किन्तु आर्द्रेन्धन के अभाव में धूमवत्ता अग्नि में नहीं पायी जाती। इसके विपरीत धूम में सदैव अग्निमत्ता रहती है, वह बिना अग्नि के कभी भी अपनी सत्ता का लाभ नहीं कर सकता। इसलिये धूम संयुक्त अग्नि का भी कहीं व्यभिचार दर्शन से आर्द्रेन्धन संयोगादि रूप उपाधि प्रयुक्त धूमसंयोग होता है। किन्तु वह स्वाभाविक नहीं है और धूम का इस प्रकार की उपाधि से युक्त न होने से स्वाभाविक अग्नि सम्बन्धत्व निश्चित होता है। यहाँ पर स्वाभाविकत्व का व्यभिचार नहीं होता। इसलिये धूम अग्नि का संयोग व्याप्ति प्रयोजक है, क्योंकि उसका आगे बाध नहीं होता। अग्नि धूम का संयोग भी यद्यपि प्रथम दर्शन द्वारा ही पूर्व संयोग की तरह गृहीत होता है, किन्तु इसका आगे जाकर बाध हो जाता है इसलिये इसको व्याप्ति नहीं कहा जा सकता। अतः बहिरिन्द्रिय विषयक प्रत्यक्ष ही नियम का ग्राहक होता है।[२९७] पार्थसारथि मिश्र ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि प्रतीति ही इसकी बाधक है क्योंकि, प्रभाकरानुसार द्रव्य ही देशकाल से अवच्छिन्न होता है, संयोग नहीं, ऐसा अनुभव में कहीं भी देखने में नहीं आता। अनुभव में सर्वत्र ही, 'संयुक्तावेतौ वह्नि धूमौ संयुज्येते संयोक्ष्येते'—'वह्नि धूम संयुत थे, संयुक्त हैं—संयुक्त रहेंगे' इस रूप से प्रतीति होती है। इस प्रतीति से संयोग का ही कालचक्र अवच्छेदक सिद्ध होता है। इसलिए स्वप्रयुक्त बाण ही स्व सिद्धान्त पर प्रहार करता है। कारक

का व्यापार ही कालत्रय से अवच्छिन्न होता है न कि कारक। काल का निर्देश 'इदम्' शब्द से ही होता है यह बात भी नहीं है क्योंकि व्याकरण के अनुसार लडादि' ('है', 'था', 'होगा', 'होना चाहिये' इत्यादि) द्वारा काल का निर्देश अनायास रूप से ही सिद्ध हो जाता है। काल लडादि (लट् आदि १० लकार) के द्वारा क्रिया का ही अवच्छेदक होता है, द्रव्य का नहीं। यदि वह भी अवच्छेदक होता है, तब लडादि काल का सम्बन्ध, किसके साथ प्रतिपादित करेंगे? यदि थोड़ी देर के लिये 'तुष्यतु दुर्जन न्यायः' से यह मान भी लिया जाये कि देश व काल, संयोग के अवच्छेदक नहीं होते, तथापि स्वाभाविकत्व अप्रमाणिक ही है। अवच्छेदक के अनवगम मात्र से उसके स्वभाव का अवधारण नहीं होता है, क्योंकि, सत् वस्तु का भी अज्ञान संभावित है। यदि अवच्छेदकभाव अनिश्चित हो, तब स्वाभाविकत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता और सिद्ध भी यदि हो तो वर्तमानकालत्व भी स्वाभाविक सिद्ध होगा। जैसे, अग्नि संयोग, द्रव्य का विशेषण है, उसी प्रकार काल भी द्रव्य का विशेषण होगा। तब अग्नि संयोग की तरह स्वाभाविक 'एतत्काल सम्बन्धित्व' की भी आपत्ति होगी। वहाँ पर जैसे अग्नि संयोग रहित धूम का अवस्थान नहीं होता, उसी प्रकार से एतत् काल सम्बन्धिता को छोड़कर भी उसकी स्थिति सिद्ध नहीं हो सकती। तब प्रत्यक्ष से ही कालान्तर सम्बन्ध का व्युदास हो जाने से भाव पदार्थों में क्षणिकत्व की आपत्ति हो जायगी। किन्तु क्षणिकत्व-वाद स्वयं प्रभाकर को भी इष्ट नहीं है। यह सही है कि स्वाभाविक सम्बन्ध का कभी बाध नहीं होता। इसलिये धूम और अग्नि का संयोग एक बार के प्रत्यक्ष दर्शन से ही अवगत हो जाता है। किन्तु भविष्य में भी ऐसा होगा इसकी क्या प्रत्याभूति है? प्रत्यक्ष के द्वारा तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि, प्रत्यक्ष तो वर्तमानकाल से ही सम्बद्ध रहता है। अनुमान से भी यह संभावित नहीं है क्योंकि, अनुमान स्वयं व्याप्तिज्ञान पर आधारित है। अतः उपाधि की संभावना को निर्मूल करने के लिए भूयोदर्शन की आवश्यकता है। इसलिये सकृद्दर्शन से व्याप्ति का अवधारण नहीं हो सकता। पाकशाला में धूम और अग्नि का, जो संयोग प्रथम प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत हुआ है, वह अन्य देश काल के धूम अग्नि संयोग से भिन्न होगा। इसलिये जिस धूम का प्रत्यक्ष अभी पर्वत पर हो रहा है, वह पहले से गृहीत न होने के कारण अग्नि का लिङ्ग कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि 'धूमत्व' जाति ही लिङ्ग है, न कि विशेष धूम, तो यह तब तक संभव नहीं है, जब तक सामान्य धूम के साथ सामान्य अग्नि का सम्बन्ध गृहीत न हो। किन्तु देशकाल आदि तो द्रव्य के ही धर्म है, इसलिए दो जातियों में साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध परोक्ष रूप से धूम और अग्नि द्रव्यों के द्वारा संभव हो सकता है। किन्तु जिस धूम का प्रत्यक्ष पर्वत में इस काल में हो रहा है, वह पाकशाला में जिस धूम का प्रत्यक्ष किया गया था, उससे भिन्न है। दोनों एक ही नहीं हो सकते। इसलिये जब द्रव्य ही विभिन्न है, तब सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अतः पूर्व संयोग-दर्शन, वर्तमानकालीन अग्नि का पर्वत में अनुमान नहीं करा सकता। अतः दो सामान्यों में सम्बन्ध का अवधारण एक बार के प्रत्यक्ष दर्शन से नहीं हो सकता। इसलिये भूयोदर्शन की अपेक्षा होती है। अतः प्रभाकर सिद्धान्त ठीक नहीं दिखायी देता।[२१८]

व्यभिचार-विरहित सहचार दर्शन–

सिद्धान्त मत प्रतिपादित करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि 'भूयोदर्शन

गम्याहिं इस रूप से स्वयं वार्तिककार ने सुलभ प्रमाण प्रतिपादित किया है। अतः भाट्ट मीमांसा सिद्धान्त में भूयोदर्शन ही व्याप्ति ग्राहक प्रमाण है। भूयोदर्शन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि प्रत्यक्षादि अन्यतम प्रमाणों में से लिङ्ग का लिङ्गी के साथ जो भूयः साहित्य ज्ञात होता है, वही विपक्षादर्शन प्रमाण सहित नियत प्रमाण कहा जाता है। यहाँ पर यह आशंका होती है कि भूयोदर्शन से स्थल विशेष में ही साहित्य अवगत होता है, सर्वत्र नहीं, क्योंकि, सभी दर्शन अपने-अपने विषय में परिसमाप्त होते हैं। सर्वत्र साहित्य का निर्णय अनन्त प्रत्यक्ष से ही साध्य हो सकता है, जो किसी भी जीवधारी के लिये अशक्य है। इसी प्रकार विपक्ष में अदर्शन द्वारा भी प्रत्यासन्न विपक्षों में ही अभाव अवगत होता है, अतः सभी विपक्षों से व्यावृत्ति होना भी दुष्कर है क्योंकि, दृश्य के अदर्शन से अभाव का प्रत्यक्ष होता है, केवल अभाव मात्र से नहीं। अतः भूयोदर्शन के द्वारा सर्वदेश-कालिक व्याप्ति रूप नियम का अवधारण नहीं हो सकता। यह आशंका स्वयं आचार्य ने भी की है—'प्रत्येक व्याप्य के साथ व्यापक का सम्बन्ध दृष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनन्त प्रत्यक्षों से ही संभावित हो सकता है। किन्तु यह असंभव है। इसी तरह सन्निहित विपक्ष में हेतु के अभाव से सभी विपक्षों में हेतु का अभाव सिद्ध नहीं होता।' तब सम्बन्ध का निर्धारण कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि विपक्ष में अदर्शन मात्र से हेतु अपने सहचारी साध्य का गमक हो सकता है। तात्पर्य यह कि, सभी विपक्षों में लिङ्ग का अभाव भले ही सिद्ध न हो, किन्तु विपक्ष में लिङ्ग का अदर्शन तो मिल जायगा। इतने मात्र से ही दृष्ट सहचारी धूम आदि अदृष्ट सहचारी अग्नि आदि का गमक हो जाता है। इसी प्रकार, साहचर्य का दर्शन भी सर्वत्र दुर्लभ है 'इस आरोप का उत्तर स्वयं वार्तिककार ने इस प्रकार दिया है' सर्वत्र सहचार दर्शन न हो किन्तु दो तीन प्रदेशों में भी यदि सहचार दर्शन हो जाये, तो पर्याप्त है, इतने मात्र से ही व्यभिचार के दर्शन न रहने पर अनुमान निष्पन्न हो सकता है। यदि सकल देशकाल व्याप्ति रूप नियम को अनुमान के अङ्ग के रूप में स्वीकार किया जाता, तो उक्त दोष हो सकता है किन्तु यह मीमांसा सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि, 'जहाँ-जहाँ धूम आदि दृष्ट हैं', वहाँ-वहाँ अग्नि का साहित्य दर्शन' एवं अग्नि के अनधिकरण में धूम का अदर्शन' यही अनुमिति की उत्पत्ति में कारण है। इतने मात्र से ही लौकिक व्यक्तियों के लिये धूम अग्नि का गमक हो जाता है। सकल सपक्षों तथा विपक्षों में अन्वय-व्यतिरेक अवगति की अपेक्षा नहीं है, यदि उसकी अपेक्षा होती तो, प्रमाण दुर्लभ हो जाता। इसलिय सकल देशकाल की अपेक्षा करके नियम का अभिधान नहीं है। किन्तु दृश्यमान देश तथा काल में जो लिङ्ग का लिङ्गी के साथ साहित्य नियम है उसी को नियम कहते हैं। अतः व्यभिचारादर्शन सहकृत दृश्यमान देशकाल में लिङ्गी के साथ लिङ्ग का भूयोदर्शन ही नियम का गमक होता है। अतः लिङ्ग साहित्य नियम अप्रामाणिक है, यह नहीं कहा जा सकता। साहित्य दर्शन मात्र से ही लिङ्ग, लिङ्गी का गमक होता है। यहाँ पर यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि कितने साहित्य दर्शनों से अनुमान संपन्न होता है? इसका उत्तर यह है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अमुक साहित्य दर्शन से अनुमान होगा। किन्तु जिसको जितने दर्शन की अपेक्षा से अनुमिति उत्पन्न हो जाती हो, उसके लिए उतने ही दर्शन पर्याप्त हैं। परिगणन करके यह नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता कि इतने दर्शन के बाद अनुमान उत्पन्न होगा। फिर जो दार्शनिक भूयोदर्शन सहकृत प्रत्यक्ष से ही नियम का

ग्रहण मानते हैं एवं जो एक बार के दर्शन से ही नियम का ग्रहण मानते हैं तथा उपाधियों की आशंका के निराकरण के लिये भूयोदर्शन की सहायता अपेक्षित समझते हैं, वे भी परिगणता द्वारा यह नहीं बतलाते कि इतने बार का साहित्य (साहचर्य) दर्शन आवश्यक रूप से होना चाहिये। उसी प्रकार मीमांसा सिद्धान्त में भी संख्या परिगणन गौण रूप ही है। यहाँ यह आशंका होती है कि, अनुमान के इच्छुक (अनुमाता पुरुष) व्यक्ति को सकल धूम के देश तथा काल में अग्नि का व्याप्तित्व ज्ञेय है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि इस रूप में ज्ञेय नहीं है। जब ज्ञेय नहीं है, तब सामान्यतः अज्ञात सम्बन्ध पक्षैकदेशी होने से ज्ञात सम्बन्ध पद से कैसे अभिमत होगा? समाधान यह है कि ज्ञात सम्बन्ध पद से पक्षैकदेशी का अभिधान नहीं होता, किन्तु दृष्टान्तैकदेशी का ही अभिधान होता है। इसलिये 'ज्ञात सम्बन्धस्य एक देश दर्शनात्' इत्यादि भाष्य का यह अर्थ होगा—पक्ष से अन्य महानस आदि रूप एकदेशी में, धूम तथा अग्नि रूप एक देश के साथ सम्बन्ध ज्ञात होने पर ही, उसके एकदेश धूम को, अन्यत्र पर्वतादि में अथवा उसी पाकशाला में कालान्तर में देखकर अग्नि का अनुमान होता है। लोक में भी सर्वत्र इसी रूप से व्यवहार होता है। इस प्रकार 'ज्ञात सम्बन्ध' पद से ज्ञाता का निर्देश है, यह कहकर अथवा प्रमाता का नहीं है, किन्तु किसी प्रमेय का निर्देश है यह कहा गया है। किस प्रमेय का निर्देश है इस आकाङ्क्षा में दृष्टान्त एकदेश का निर्देश है यह भी विवेचित किया गया है। कहा भी है, यहाँ पर 'स वा ताभ्याँ' पद, कालान्तर के अभिप्राय से प्रकट हुआ है। इस प्रकार से ज्ञात सम्बन्ध पद से एकदेशी अन्य पदार्थ रूप पक्ष में दृष्टान्त एकदेशी का अधिधान होता है।' भाट्ट मीमांसा सिद्धान्तानुसार यथादृष्ट प्रदेशों में साहित्य-नियम से अनुमान होता है, यह बात मान भी ली जाये तो 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी है' इस प्रकार के भूयोदर्शन से, जो सामान्य व्याप्ति अवगत होती है, वह कैसे होगी? इसका न तो अपलाप ही किया जा सकता है और न इसे अप्रमाण ही घोषित किया जा सकता है क्योंकि, सभी व्यक्तियों को सभी काल में इस प्रकार का ज्ञान दृढ़ रूप से उत्पन्न होता है। तब इसको किस प्रमाण में अन्तर्भूत किया जाय? पार्थसारथि मिश्र ने इसके समाधान में अपने सिद्धान्त की रक्षा करते हुए कहा है कि, इसका अवगम आनुमानिक रूप से ही होगा क्योंकि, ज्ञात सम्बन्ध उपजायमान तथा परोक्षरूप है। वह प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो सकता कि, प्रत्यक्ष तो साक्षात्कारी प्रमा है। धूम के अनेक देशकालों में अग्नि के साहित्य को जिसने गृहीत किया है उसका अनुमान इस आकार का होगा—

'अन्य अतीत, अनागत तथा विप्रकृष्ट सभी धूम वाले पदार्थ अग्निविशिष्ट हैं',
'धूमविशिष्ट होने से, परिदृष्ट महानस की तरह'। —

इस तरह लोकानुकूल प्रमाण सामग्री के अनुसरण से दूसरे धर्मी में अवगत साहित्य नियम के द्वारा धर्म्यन्तर में अनुमान हो सकता है। वार्तिकाकार ने भी कहा है—'जिस पुरुष को यादृश देश या यादृश काल में जिसके साथ जिसकी व्याप्यता का अवधारण पूर्व में हुआ है, उस पुरुष को उस व्याप्य के द्वारा व्यापकांश का दूसरे धर्मों में भी प्रतिपादन होता है। पार्थसारथि मिश्र ने इसको स्फुट करते हुए कहा है कि 'यादृश' 'तादृश' शब्दों द्वारा दृष्टांत में दृष्ट रूप से, न्यून रूप का न तो लिङ्गत्व प्रदर्शित किया गया है और न लिङ्गित्व ही क्योंकि बिना धूमत्व के, पाण्डुरत्व (धूम के रंग) मात्र से कपोत आदि द्वारा अग्नि का अनुमान नहीं होता, अर्थात् केवल रंग मात्र से यदि अनुमान निष्पन्न हो जाये, तो कबूतर भी धूम के

रंग का होने के कारण, उससे भी अग्नि का अनुमान होना चाहिये। किन्तु यह संभव नहीं है। इसी प्रकार उष्ण वह्नि के नियत तृण का विकार भी हिम में दृष्ट होकर प्रत्यक्ष अवगत शैत्य के विरोध होने से, उष्णता का बाध होने के कारण, अनुष्ण वह्नि का अनुमापक नहीं हो सकता। इसलिए जिस प्रकार से लोक में प्रमाणों का अनुसरण दृष्ट है, उसी प्रकार से शास्त्रचिन्तकों को भी व्यवहार करना चाहिये। लोक विरुद्ध प्रमाणों का अनुसरण कदापि नहीं करना चाहिये। इस प्रकार सभी अप्रयोजक हेतुओं में हेत्वाभासत्व सिद्ध होता है। दृष्टान्त में परिदृष्ट रूप से न्यून हेतु अप्रयोजक कहा जाता है। पक्ष-सपक्ष का सम्बन्ध भेद तो सह्य होता है, क्योंकि, सभी अनुमानों में ऐसा देखा जाता है। इसके अतिरिक्त जितने भी दृष्टांत धर्मी रूप होते हैं वे सभी आवश्यक रूप से होने चाहिये। इसलिये निषिद्ध-त्व सहित हिंसात्व का, अधर्मत्व के साथ, ब्राह्मण हनन आदि में उपलब्ध साहित्य, निषिद्धत्व के बिना, हिंसात्व मात्र से अग्नीषोमीय आदि हिंसा में, हिंसात्व का अनुमापक नहीं हो सकता और निषिद्धत्व, बिना हिंसात्व के भी, गुरु-अंङ्गना-गमन आदि में अधर्मत्व के साहित्य के दृष्ट होने से, अधर्मत्व का अनुमापक हो सकता है। इसी तरह अध्ययन आदि कार्यों से युक्त शिष्य का, अनेक बार उपाध्याय के साहित्य अवगत होने पर, शिष्य मात्र से अध्यापक का अनुमान नहीं होता। इसी प्रकार से देवदत्त के पुत्रों के श्यामत्व का साहित्य, गर्भपरिणाम काल में, उपयुक्त अशित पीतादि। (खायापीया हुआ) विशेष के निमित्त होने से दृष्ट होने पर भी निमित्त विशेष के न रहने पर देवदत्त तनयत्व मात्र से दूसरे तनयों में श्यामत्व का अनुमान नहीं हो सकता। अतः दृष्टान्त धर्मी में जितने धर्म परिदृष्ट होते हैं, उतने ही धर्म यदि धर्म्यन्तर में नियत रूप से परिदृष्ट होते हैं तभी अनुमान हो सकता है। इसलिये भूयोदर्शन सहकृत व्यभिचारा दर्शन ही व्याप्ति ग्राहक प्रमाण है।[२९९] तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलीकार ने भी यही बात कही है।[३००] किन्तु तर्क के बिना व्यभिचार शंकाओं को अपास्त नहीं किया जा सकता, इसलिये इस पक्ष में भी पूर्वोक्त सभी दोष उत्थापित किये जा सकते हैं। अतः इस साधन को भी निर्दुष्ट नहीं समझा जा सकता। उक्त आक्षेपों का निराकरण करने के लिये ही संभवतः नारायण भट्ट ने व्याप्ति ग्राहक प्रमाण में भूयोदर्शन के साथ-साथ तर्क की आवश्यकता भी अपेक्षित समझी है। उनके अनुसार भूयोदर्शन दृश्य उपाधि का निराकरण करने में ही समर्थ है। उसके द्वारा अदृश्य उपाधि का निरास नहीं हो पाता। व्याप्ति सम्बन्ध को निरुपाधिक बनाने के लिये अदृश्य उपाधि का निराकरण होना भी आवश्यक है। इसलिये अदृश्य उपाधि का परिहार करने के लिये तर्क की सहायता अपेक्षित होती है, क्योंकि, अदृश्य उपाधि का निरास तर्क के द्वारा ही हो सकता है। अतः तर्क सहकृत भूयोदर्शन ही व्याप्ति ग्राहक साधन है।[३०१] इस प्रकार उन्होंने वाचस्पति मिश्र का अक्षरशः अनुगमन किया है।

सांख्य मत

'सांख्यकारिका' एवं उसकी 'माठरवृत्ति' 'गौडपादभाष्य' 'सांख्यतत्त्व कौमुदि' आदि, टीकाओं में व्याप्ति ग्राहक साधनों की चर्चा नहीं की गयी है किन्तु 'सांख्य-सूत्र' तथा उसकी टीकाओं में यह न्यूनता परिलक्षित नहीं होती। महर्षि कपिल ने लिखा है कि एकल सहचार दर्शन से सम्बन्ध रूप व्याप्ति का अवधारण नहीं होता,[३०२] अपितु नियत धर्म सहचार से ही साध्य-साधन दोनों में अथवा केवल साधन में व्याप्ति गृहीत होती है।[३०३] सूत्र की व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है सकृद् सहचार अथवा भूयः सहचार

ग्रहण से व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता, अपितु नियमित रूप से अनुकूल तर्क द्वारा ही इसका निश्चय होता है। उनके 'नियमवत्वानुकूलतर्केण ग्राह्य' पद का अभिप्राय भी नियत धर्म सहचार ही प्रतीत होता है, जैसा कि उन्होंने लिखा है, 'धर्म साहित्यं धर्मतायां साहित्यम्। सहचार इति यावत्'। अतः चार्वाकों की आशंका कि, व्याप्तिग्रह के अभाव में अनुमान की सिद्धि नहीं हो सकती, इस प्रकार से व्याप्तिग्रह संभावित होने पर, सुषिर जान पड़ती है।[304] अनिरुद्ध ने भी सूत्रकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि स्वप्रतीति विरोध होने के कारण, सकृद् दर्शन द्वारा, अनुमान होना संभावित नहीं है, वह्नि और रासभ के एकल सहचार दर्शन से अनुमान होना प्रतीति विरुद्ध है। अगले सूत्र की व्याख्या में उन्होंने 'नियतधर्मसाहित्य' इस अंश पर कोई टिप्पणी नहीं की, अपितु 'उभयोः एकतरस्य' पद की ही व्याख्या की है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें भी महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत 'नियत धर्म सहचार' रूप व्याप्ति ग्राहक प्रमाण इष्ट है।[305] प्रमथनाथ तर्कभूषण ने अपनी टीका में लिखा है कि धर्मों का एक बार अथवा अनेकबार गृहीत होना कोई विशेषता नहीं रखता कारण आद्य पक्ष में, वह्नि और रासभ को यदि (ईंट के भट्टे आदि के पास) सहचरित देखा जाये, तो इतने मात्र से ही व्याप्ति निश्चय नहीं हो जाता, क्योंकि वह्नि और रासभ दोनों एक दूसरे के अभाव में पाये जाते हैं। अतः यह सकल सहचार दर्शन रूप साधन व्यभिचारित सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी तर्कसम्मत नहीं जान पड़ता, क्योंकि शतशः बार पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व में सहचार ग्रहण करने पर भी हीरे आदि में व्यभिचार देखा जाने से भूयः सहचार दर्शन रूप साधन भी निर्दुष्ट नहीं जान पड़ता। अतः सकृद् अथवा भूयः सहचार दर्शन को व्याप्ति प्रमाण नहीं माना जा सकता, अपितु व्यभिचार के अदर्शन से ही व्याप्ति का निश्चय हो पाता है।[306] किन्तु इस मत में प्रयुक्त 'व्यभिचारादर्शन' सहकृत पद निरर्थक जान पड़ता है, क्योंकि जहाँ दो वस्तुओं का नियत सहचार पाया जाता है, वहाँ व्यभिचार के लिये अवकाश ही नहीं रहता कारण, जो नियत हो, वह व्यभिचार युक्त भी हो, यह सम्भव नहीं। किन्तु इतना होने पर भी दोनों साधनों द्वारा व्यभिचार शंकाओं का पूर्णतः उन्मूलन नहीं हो सकता अतः दोनों समीचीन नहीं जान पड़ते। ये दोनों मत न्याय-मीमांसा दार्शनिकों से प्रभावित जान पड़ते हैं।

योग मत–

'योग-भाष्य' के व्याप्ति विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अन्वय सहचार तथा व्यतिरेक सहचार रूप साधन ही प्रशस्तपाद की 'विधि' के समान व्याप्ति ग्राहक साधन इष्ट था।[307]

वेदान्त मत–

वेदान्त दर्शन में अनिर्वचनीयत्व सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण खण्डन के प्रसङ्ग में खण्डनकारका[308] समर्थन करते हुए चित्सुखीकार ने व्याप्ति निश्चय के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति, अभाव, आदि साधनों का खण्डन करने के उपरान्त, व्याप्ति निश्चय किसी भी प्रकार संभावित नहीं हो सकता,' यह सिद्धान्त स्थिर किया है। जैसे, प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का निश्चय इसलिये नहीं हो सकता कि, जब तक प्रत्यक्ष द्वारा समस्त साध्य-साधन व्यक्तियों का ग्रहण नहीं हो जाता, तब तक उनमें अन्वय-व्यतिरेक का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। यदि अन्वय सहचार—'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-

वहाँ अग्नि भी होती है' तथा व्यतिरेक सहचार—'जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता', द्वारा निखिल व्यक्तियों का ग्रहण मान भी लिया जाय, तो निखिल व्यक्तियों के अन्तर्गत पर्वतीय अग्नि भी गृहीत हो जाने से पर्वत पर धूम को देखकर वहाँ अग्नि का अनुमान करना निरर्थक ही होगा। अनुमान से भी व्याप्ति संभव नहीं, कारण व्याप्ति निश्चय हुए बिना अनुमान नहीं हो सकता। इसलिये अनुमान में अपेक्षित व्याप्ति का ग्रहण द्वितीय अनुमान से और द्वितीय अनुमान-उपयोगी व्याप्ति का निश्चय तृतीय अनुमान से, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। आगम प्रमाण द्वारा भी व्याप्ति का निश्चय नहीं होता क्योंकि, वैदिक अथवा लौकिक शब्द श्रवण किये बिना भी व्याप्ति दर्शन होता है। इसी प्रकार सादृश्य मात्र विषयक ज्ञान होने के नाते उपमान प्रमाण से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया जा सकता। अर्थापत्ति द्वारा भी यह संभव नहीं है कारण, वह अनुमान से अभिन्न ही है। यदि अनुमान से भिन्न ही अर्थापत्ति मानी जाये, तो अनुमेय अर्थ का निश्चय, उसी के द्वारा हो जायगा, तब अनुमान का मानना निष्फल होगा कारण, व्यापक के बिना व्याप्य की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति मान लेने पर, साध्य वह्नि का निश्चय हो जाने पर अनुमान की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अनुपलब्धि प्रमाण भी व्याप्ति ग्राहक नहीं कहा जा सकता क्योंकि, इस प्रकार की—'वह्नि का धर्म धूम, यदि वह्नि धर्म के बिना होता, तो वह्नि से व्यभिचरित होकर भी कहीं न कहीं उपलब्ध होता, किन्तु उपलब्ध नहीं होता इसलिये धूम वह्नि के बिना नहीं रहता'—अनुपलब्धि ही साधक हो सकती है। ऐसा मानने पर यह जिज्ञासा होती है कि, धूम और अग्नि का यह व्यभिचार-अनुपलंभ सकल पुरुषों का अथवा ज्ञाता मात्र का ही अपेक्षित है अथवा यह ज्ञाता का योग्य अनुपलम्भ है। प्रथम कल्प ठीक नहीं क्योंकि, समस्त पुरुषों के व्यभिचार अनुपलंभ का निश्चय होना दुष्कर है, इसलिये संशय बना ही रहेगा। द्वितीय पक्ष मानने पर व्यभिचार दोष होता है क्योंकि, किसी व्यक्ति को, किसी पदार्थ की अनुपलब्धि होने पर भी, उस वस्तु का, सर्वथा अभाव नहीं पाया जाता। जैसे किसी काल विशेष में, किसी व्यक्ति के पाकशाला आदि में, पुस्तक आदि न देखने पर पुस्तक का सर्वत्र अभाव नहीं पाया जाता क्योंकि, पुस्तकें, पुस्तकालय में निश्चित रूप से पायी जाती हैं। इसी प्रकार कोई नगरस्थ व्यक्ति गवय को नहीं देख पाता, इसलिये वन में भी उसका अभाव पाया जाये यह आवश्यक नहीं। अतः किसी व्यक्ति को वह्नि और धूम के व्यभिचार का अनुपलम्भ है, केवल इसी आधार पर उक्त रीति से उनमें व्यभिचार अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि सर्वदेशकालगत अनुपलम्भ संभव नहीं। जैसा कि न्यायलीलावतीकार ने कहा है, 'समस्त पुरुषों को व्यभिचार की अनुपलब्धि होती है, यह संदेहास्पद है। केवल ज्ञाता की अनुपलब्धि में व्यभिचार होने से व्यभिचार अभाव की अनुमापकता सिद्ध नहीं होती। योग्य अनुपलिब्धि न होने के कारण उसके द्वारा व्याप्ति का निश्चय कदापि नहीं किया जा सकता'। इसलिये प्रत्यक्ष आदि छः प्रमाणों द्वारा व्याप्ति निश्चय नहीं हो सकता।[३०१] उक्त प्रमाणों द्वारा व्याप्ति का निश्चय होने पर यदि विपक्ष में हेतु के वृत्तित्व का बाधक तर्क ही साधन माना जाय, तो भी ठीक नहीं क्योंकि साध्य-साधन की व्याप्ति को यदि तर्क का मूल माना जाये, तो उस मूल व्याप्ति में व्यभिचार-शंका होने पर अन्य तर्क का आश्रयण, लेना होगा एवं उस तर्क की मूल व्याप्ति में व्यभिचार शंका उपस्थित होने पर अन्य तर्क का अवलम्बन इस तरह कभी समाप्त न

होने वाला तर्क-शृंखला रूप अनवस्था दोष होगा अथवा व्याप्ति ज्ञान से तर्क की प्रवृत्ति एवं तर्क से व्याप्ति ज्ञान मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि साध्य-साधन की व्याप्ति को तर्क का मूल स्वीकार न किया जाये तो मूल शैथिल्य (तर्क में कोई मूल अर्थात् प्रमाण न होने से) होने से तर्काभास होगा। इन्हीं तथ्यों को प्रस्थापित करने के लिये खण्डनकार ने अनेक युक्तियाँ प्रतिपादित की है।[३१०] खण्डनकार का समर्थन करते हुए चित्सुखाचार्य ने लिखा है कि विपक्ष-बाधक तर्क को भी व्याप्ति ग्राहक साधन नहीं माना जा सकता, कारण तर्क को यदि व्याप्तिमूलक माना जाय, तो अनवस्था दोष यदि नहीं हो तब मूल-शैथिल्य होने के कारण तर्काभास होगा। धूम में अग्नि के व्यभिचार की शंका होने पर 'यदि धूम अग्नि का व्याभिचारी होता तो वह कारण रहित होने से नित्य होता अथवा नहीं होता, न कि कदाचित होता', इत्याकारक तर्क किया जा सकता है। व्याघात होने से कारण के बिना कार्य की आशंका कदापि नहीं होती क्योंकि वही कार्य कहलाता है, जो कारण के अधीन अपना स्वरूप लाभ करता है, अतः कार्य भी हो और कारण रहित भी' यह प्रतीति व्याहत है। वही आशंका उचित समझी जा सकती है, जिसके द्वारा स्वक्रिया का व्याघात न हो। अतः तर्क की मूलभूत व्याप्ति के निर्णय के लिये अन्य किसी तर्क की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु यह तर्क समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह तर्क भी व्याप्ति-मूलक है, इसलिये व्याप्ति का निश्चय न होने पर, इसकी सिद्धि भी कैसे की जा सकती है? तात्पर्य यह कि 'जो कार्य होता है, वह कारणपूर्वक होता है, इत्याकारक व्याप्ति के सिद्ध होने पर ही, 'जो अकारण होता है, वह नित्य होता है,' यह अतिप्रसङ्ग दिया जा सकता है. किन्तु वह व्याप्ति ही अभी तक सिद्ध नहीं हुई है, कारण सभी कार्य और कारण व्यक्तियों का ग्रहण होना सभव नहीं। कतिपय व्यक्तियों का ग्रहण होने पर, उसी प्रकार व्याप्ति का अवधारण नहीं होता, जिस प्रकार कि जिस व्यक्ति ने हीरे को नहीं देखा है, उसे पार्थिवत्व और लोह-लेख्यत्व की व्याप्ति का निश्चय नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि पार्थिवत्त्व और लोह-लेख्यत्व का स्तम्भ, कुम्भ आदि कतिपय व्यक्तियों में व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है, अतः वहाँ व्याप्ति का निश्चय नहीं होता। किन्तु जिन धर्मों का कतिपय व्यक्तियों में व्यभिचार नहीं देखा जाता, प्रत्युत उपाधि विहीन सहचार ही परिलक्षित होता है, उन धर्मों में व्याप्ति का निश्चय अवश्यंभावी है। ऐसा मान लेने पर वाचस्पति मिश्र ने जो (पूर्व में) उपालम्भन दिया है कि 'पाकशालीय धूम में व्याप्ति ग्रहण कर पर्वतीय धूम से, अनुमिति की कामना करना वैसा ही है जैसा कि किसी, मुग्धा स्त्री का नपुंसक से विवाह करके उससे पुत्रोत्पत्ति की प्रार्थना' वह भी दूर हो जाता है, क्योंकि व्याप्ति सर्वत्र एक ही है, जो कतिपय वह्नि, धूम आदि व्यक्तियों में ही गृहीत हो जाती है, उसी व्याप्ति से विशिष्ट पर्वतीय धूम रूप लिङ्ग की सामर्थ्य से ही संदिग्ध साध्य धर्मी पर्वत रूप पक्ष में व्यापक वह्नि की अनुमिति हो जाती है। किन्तु यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि व्याभिचार का अदर्शन और उपाधि का निरूपण संभव नहीं है। दोनों में न्याय लीलावतीकार-कथित 'सर्वादृष्टेश्च सन्देहात्' यह न्याय समान रूप से कार्यकारी है। उपाधि का निरूपण भी, व्याप्ति निरूपण के बिना संभावित नहीं है, यह पूर्व में बतलाया जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि यदि 'वह्नि के बिना भी धूम किसी अन्य हेतु से उत्पन्न होता है', यह शंका की जाये, तो इसका प्रतिकार क्या होगा? यदि यह कहा जाये कि विभिन्न सामग्री से उत्पन्न होने पर धूम में एकजातीयता नहीं रहेगी, तो भी समीचीन नहीं, क्योंकि,

इन्द्रिय और लिङ्ग आदि से उत्पन्न ज्ञान में एवं तृण, अरणि, मणि आदि से उत्पन्न ज्ञानों में जैसे एकजातीयता रहती है, वैसे ही प्रकृत में भी एकजातीयता क्यों न होगी ? अतः तर्क को भी व्याप्ति ग्राहक प्रमाण नहीं माना जा सकता ।[३११] शिखामणि[३१२] मणिप्रभा[३१३] तथा अर्थदीपिका[३१४] में भी तर्क का इसी प्रकार खण्डन किया गया है ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने व्याप्तिग्राहक प्रमाण की चर्चा करते हुए कहा है कि व्याप्ति का निश्चय व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन से ही होता है । चाहे यह निश्चय एक बार के देखने से हो अथवा बार-बार के अवलोकन से हो, इसका कोई आग्रह नहीं । किन्तु सहचार दर्शन होना प्राथमिक रूप से आवश्यक है । कारण जिन पदार्थों में सहचार नहीं देखा गया हो, उनमें व्याप्ति अथवा व्याभिचार दोनों का निश्चय नहीं किया जा सकता ।[३१५] 'शिखामणि',[३१६] 'मणिप्रभा',[३१७] तथा 'अर्थदीपिका'[३१८] में भी इसी बात का समर्थन किया गया है । किन्तु तर्क की सहायता के बिना 'व्यभिचार-अदर्शन' संभव नहीं, अतः केवल व्यभिचार शून्य सहचार दर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण मानने पर उक्त सभी दोष होगें । इसलिये यह विवेचन भी समीचीन जान नहीं पड़ता । वेदान्त परिभाषाकार की व्याख्या में पार्थसारथि मिश्र का ही समर्थन जान पड़ता है, अन्तर इतना ही है कि पार्थसारथि मिश्र ने जहाँ व्यभिचार के अदर्शन के साथ-साथ भूयः सहचार दर्शन को आवश्यक ठहराया है, वहाँ धर्मराजा ध्वरीन्द्र ने सहचार दर्शन मात्र को प्रयोजक सिद्ध किया है ।

बौद्ध मत

बौद्ध दर्शन में व्याप्ति-निश्चय हेतु साधनों की चर्चा, धर्मकीर्ति और उनके उत्तरवर्ती बौद्धाचार्यों की कृतियों में ही स्पष्टतः पायी जाती है । उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ प्रायः अनुपलब्ध होने के कारण उनके विचारों का संकलन करना दुष्कर है । इस प्रसंग में विचार करते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है कि, किसी हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति है, यह बात जानने के लिये, साध्य और साधन के स्वभाव प्रतिबन्ध का ज्ञान होना नितांत आवश्यक है । यह[३१९] स्वभाव प्रतिबन्ध दो प्रकार का होता है—तादात्म्य लक्षण और तदुत्पत्ति लक्षण ।[३२०] बौद्ध मत में इन्हीं सम्बन्धों के द्वारा हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति गृहीत की जाती है । साध्य के साथ, स्वभाव हेतु का तादात्म्य, तथा कार्य का तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है ।[३२१] तादात्म्य की व्याख्या करते हुए धर्मोत्तर ने लिखा है कि वह साध्य अर्थ जिसका आत्म स्वभाव होता है, वह तदात्मा और उसके भाव को तादात्म्य कहा जाता है । आशय यह कि जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की आत्मस्वरूप होती है, वह उसके बिना कदापि नहीं रह सकती । इसलिये तादात्म्य सम्बन्ध को अविनाभाव का नियामक कहा जाता है । जैसे, शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है । क्योंकि शिंशपात्व का वृक्ष के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिये साधन शिंशपात्व को वस्तुतः साध्य स्वभाव होने के कारण स्वभाव प्रतिबद्ध कहा जाता है । साध्य धर्म ही, जब साधन का स्वभाव मान लिया जाय, तब तादात्म्य होने के कारण उनमें अभेद की सिद्धि हो जाने पर, हेतु, प्रतिज्ञा अर्थ का, एक देश ही हो जायगा । किन्तु ऐसी आशंका नहीं की जा सकती क्योंकि,साध्य और साधन में जो अभेद ज्ञापित होता है, वह पारमार्थिक सत् के रूप में ही होता है । समारोपित रूप विकल्प विषय की अपेक्षा से उनमें भेद है अतः तदपेक्षया (समारोपित विकल्प विषय की अपेक्षा से) साध्य-साधन का भेद ज्ञापित किया जा सकता है । निश्चय की अपेक्षा से उनमें गम्य-गमकभाव है । दूसरी बात यह भी है कि धर्म और

धर्मी के समुदाय को ही प्रतिज्ञा कहा जाता है, किसी एक देश या भाग को नहीं। यदि प्रतिज्ञा के रूप में एक भाग धर्म अथवा धर्मी को ही हेतु बना दिया जाये, तो उसके द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। जैसे 'अग्नि उष्ण है, उष्ण होने से 'यहाँ हेतु उष्णत्व प्रतिज्ञार्थैकदेश कहला सकता है, किन्तु यह सद्हेतु नहीं है। अतः यह आशंका समीचीन नहीं जान पड़ती।[३२२] 'यह शिंशपा है, वृक्ष होने से' यहाँ शिंशपा और वृक्ष में जो तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है, उसका निश्चय समान अधिकरणता के आधार पर ही किया जाता है। जिन दो वस्तुओं में एक समान धर्म पाया जाता है, उन्ही में तादात्म्य सम्बन्ध होता है जैसे, वृक्षत्व रूप सामान्य धर्म में शिंशपा और वृक्ष दोनों सन्निविष्ट हो जाते हैं। शिंशपा और वृक्ष दोनों का अधिकरण होने के नाते वृक्षत्व को समान अधिकरण कहा जाता है। इसी सामानाधिकरण्य सम्बन्ध को ही तादात्म्य सम्बन्ध कहा जा सकता है इसके विपरीत जहाँ दो वस्तुओं में अत्यन्त अभेद पाया जाता है, वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता जैसे, 'यह घट है, कलश होने से' यहाँ घट और कलश पर्यायवाची होने के कारण उनमें किसी प्रकार का भेद ज्ञापित नहीं होता इसी प्रकार जिन पदार्थों में अत्यन्त भेद पाया जाता है, उनमें भी प्रकृत सम्बन्ध नहीं पाया जाता। जैसे 'यह गाय है, अश्व होने से' यहाँ गाय और अश्व अत्यन्त भिन्न प्राणी होने से, उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। अतः साध्य-साधन में जहाँ अत्यन्त अभेद अथवा अत्यन्त भेद प्रसक्त होता है, वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता अपितु उनमें सामानाधिकरण्य पाया जाना ही तादात्म्य सम्बन्ध है।[३२३] तादात्म्य सम्बन्ध ही केवल अविनाभाव का निश्चयक नहीं है, प्रत्युत साध्य अर्थ से जिस लिङ्ग की उत्पत्ति होती है वह तदुत्पत्ति सम्बन्ध अर्थात् कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध भी नियामक है। जैसे 'पर्वत अग्निमान् है धूम होने से' यहाँ साधन धूम साध्य अग्नि का कार्य है और अग्नि कारण। कारण के बिना कार्य की सत्ता नहीं होती, इसलिये कारण अग्नि के अभाव में, कार्य धूम के कहीं भी न पाये जाने से, उन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध का नियामक कार्य-कारणभाव को भी माना जाता है।[३२४] इन दोनों सम्बन्धों को ही धर्मकीर्ति ने अविनाभाव का नियामक माना है एवं जिसका वह स्वभाव न हो जिसकी उससे उत्पत्ति न हो (तादात्म्य और तदुत्पत्ति न हो) उनमें स्वभाव प्रतिबद्धता अर्थात् अविनाभाव नही रहता।[३२५] 'प्रमाण-वार्तिक' में इनकी चर्चा करते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है, 'साध्य और साधन में व्याप्ति या अविनाभाव केवल दो ही कार्य-कारणभाव अथवा तादात्म्य--सम्बन्ध से सिद्ध होती है। हेतु के सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन मात्र से उसकी सिद्धि नहीं होती'।[३२६] आशय यह कि सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन व्यभिचारी हेतु में भी संभावित है। अतः जो लोग इस अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर हेतु की यथार्थता को सिद्ध करने का साहस करते हैं वे स्वयं को ही धोका देते हैं, सद्हेतु का नियामक सपक्ष में दर्शन या विपक्ष में अदर्शन नहीं अपितु साधन का साध्य के साथ अव्यभिचारित्व नियम रूप अविनाभाव ही है।[३२७]

हेतु का विपक्ष में अदर्शन है, इतने मात्र से उस हेतु की साध्य के साथ, अव्यभिचारिता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, उसमें व्यभिचार की सम्भावना बनी रहती है। जिस हेतु का विपक्ष में केवल अदर्शन पाया जाता है, उसका जहाँ प्रयोग किया जाता है, वहाँ वह हेतु सद्हेतु न रहकर 'संदिग्ध-विपक्ष-व्यावृत्ति' नामक अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है। जैसे, वचन से राग का ...

व्यक्ति रागादिमान् है "क्योंकि यह वक्ता है ।" विपक्ष में अदर्शन देखकर यद्यपि यहाँ वचन की प्रवृत्ति वीतराग, पत्थर आदि में नहीं देखी गयी है, फिर भी किसी वीतराग पुरुष में वचन की निवृत्ति संदिग्ध ही है क्योंकि, राग और वचन में कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं है । वचन की प्रवृत्ति का हेतु वक्ता की इच्छा है । अतः वीतराग में भी करूणा के द्वारा वचन की प्रवृत्ति सम्भव है । इसी प्रकार उदासीन प्रस्तर में जो वचन की निवृत्ति देखी जाती है, वह राग के अभाव से नहीं है किन्तु वक्तुकामता (वक्ता की इच्छा) के अभाव से ही है । इसलिये वीतराग पुरुष में वचन की निवृत्ति संदिग्ध होने पर, उक्त हेतु सद्हेतु नहीं कहला सकता । अतः विपक्ष में अदर्शन मात्र से हेतु का व्यत्तिरेक प्रदर्शित करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि, वह संशय का कारण होने से, 'संदिग्ध-विपक्ष-व्यापक' नामक अनैकान्तिक हेत्वाभास है । इसी प्रकार शेषवत् अनुमान के 'स्थालीतन्दुल पाक' में भी व्यभिचार की सम्भावना बनी रहती है, क्योंकि एक चांवल को देखकर अवशेष सभी चांवलों को पका हुआ मानने में व्यभिचार की सर्वदैव शंका बनी ही रहती है ।[३२८] विपक्ष में अदर्शन मात्र से व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती, इसलिये जिसका साधन के साथ अविनाभाव है ऐसे व्यापक धर्म की जहां निवृत्ति होगी वहां व्याप्य धर्म की भी निवृत्ति होगी जैसे, वृक्षत्व की निवृत्ति में शिंशपात्व की निवृत्ति अवश्यंभावी है । इसी तरह अविनाभावी साधन से सम्बद्ध कारण की जहाँ निवृत्ति होगी, वहाँ कार्य की भी निवृत्ति होगी । जैसे, अग्नि का अभाव (निवृत्ति) होने पर धूम का अभाव होना भी अनिवार्य है, क्योंकि, बिना व्यापक के व्याप्य और बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता । अतः हेतु में व्याप्ति की प्रतिपत्ति के लिये, साध्य और साधन में तादात्म्य और तदुत्पत्ति का ज्ञान होना अत्यावश्यक है । एक की निवृत्ति से अन्य की निवृत्ति कैसे हो सकेगी ? किसी व्यक्ति के पास घोड़ा नहीं है, इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि, उसके पास गाय भी नहीं है । इसी प्रकार तादात्म्य और तदुत्पत्ति के अभाव में, एक की उपस्थिति में दूसरे की उपस्थिति कैसे संभव है ? "जैसे यह पुरुष गाय वाला है" इतने मात्र से ही यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उसके पास अश्व भी है ।[३२९] इसी प्रकार सपक्ष में दर्शन तथा विपक्ष में अदर्शन मात्र से अविनाभाव का निश्चय नहीं होता, अपितु तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति द्वारा ही होती है ।

व्याप्ति-निश्चय-साधक प्रमाणों की चर्चा करते हुए धर्मकीर्ती ने 'हेतु-बिन्दु' में भी लिखा है कि अन्वय या व्यतिरेक एवं पक्ष धर्म को ही व्याप्ति कहा जाता है तथा इन सबका निश्चय यथा योग्य प्रमाण द्वारा होता है ।[३३०] तात्पर्य यह कि जो जिसका आत्मीय प्रमाण के रूप में निश्चायक होता है, उसका उसके द्वारा ही निश्चय होता है ।[३३१] स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि इन तीनों हेतुओं में पक्षधर्मत्व का निश्चय समान रूप से ज्ञापित होता है । साध्य धर्मी (पक्ष) में पक्षधर्म की प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों द्वारा सिद्धि की जाति है जैसे, "पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से" यहाँ पक्ष पर्वत निष्ठ पक्ष धर्म धूम की सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा एवं "शब्द अनित्य है, कृतक होने से" यहाँ पक्ष शब्द में पक्ष-धर्म कृतकत्व का अवधारण अनुमान द्वारा किया जाता है ।[३३२]

स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि हेतुओं में अन्वय का निश्चय इस प्रकार किया

जा सकता है—प्रथम स्वभाव हेतु में, साधनधर्म साध्य धर्म का स्वभाव होता है। अन्य किसी कारण की अपेक्षा किये बिना, साध्य धर्म की, केवल साधन धर्म के होने से ही उसकी सत्ता का निश्चय किया जाता है, वही स्वभाव हेतु में अन्वय निश्चय कहलाता है। जैसे, जहाँ-जहाँ साधन धर्म का सद्भाव होता है, वहाँ-वहाँ किसी अन्य कारण की अपेक्षा किये बिना साध्य धर्म का भी सद्भाव होगा। इस निश्चय का अवधारण साध्य से विपरीत अर्थात् साध्याभावीय अधिकरण में, हेतु के वर्तमान रहने पर, बाधक प्रमाणों के उपलब्ध होने से होता है। जैसे, जो सत् है, वह क्षणिक है। यहाँ 'सत्त्व' हेतु स्वभाव हेतु है। उसका साध्य 'क्षणिकत्व' के साथ अन्वय-निश्चय, साध्य से विपरीत अक्षणिक पदार्थों में हेतु–'सत्त्व' के पाये जाने में बाधक प्रमाण मिलने के कारण होता है। वह इस प्रकार है—अक्षणिक पदार्थ दो प्रकार से ही अर्थक्रिया कर सकता है—युगपत् अथवा क्रमिक रूप से। युगपत् अर्थक्रिया करने पर समस्त कार्य एक ही समय में निष्पन्न हो जायेंगे, इसलिये आगामी काल में अर्थक्रियाकारी न होने के कारण वह अवस्तु ही हो जायगा। इसी प्रकार क्रम से अर्थक्रिया करने पर भी अनेक विप्रतिपत्तियां हो जाती है। जैसे, स्वयं समर्थ होने पर भी, नित्य पदार्थ के क्रम से अर्थक्रिया करने का क्या कारण है? यदि यह कहा जाय कि, सहकारी कारणों का योग होने पर ही वह अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है, तो ऐसी समस्या उठ सकती है कि, सहकारी कारणों ने उसमें कोई विशेषता उत्पन्न की अथवा नहीं। प्रथम पक्ष में, विशेषता उत्पन्न करने पर, उसमें अनित्यता की आपत्ति हो जायगी एवं द्वितीय कल्प में वह पहले की तरह अर्थक्रिया करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इस प्रकार साध्य से विपरीत अक्षणिक पदार्थों में सत्त्व के रहने में बाधक प्रमाणों के सद्भाव से अन्वय निश्चय का निर्धारण होता है।[३३३] कार्य हेतु में जो कार्य-कारणभाव का निश्चय किया जाता है, वही कार्य हेतु में अन्वय निश्चय है। कार्यकारणभाव का अवधारण प्रत्यक्ष और अनुपलंभ द्वारा होता है। जैसे, 'जहाँ धूम होता है वहाँ आग भी होती है' यह प्रत्यक्ष, तथा 'जहाँ अग्नि नहीं पायी जाती वहाँ धूम भी नहीं पाया जाता,' यह अनुपलम्भ, द्वारा निश्चयन है[३३४]। उपलब्धि लक्षण प्राप्त पदार्थ की अनुपलब्धि मात्र से असद्व्यवहार का अवधारण करना अनुपलब्धि हेतु में अन्वय-निश्चय है। अनुपलब्धि में जो असद्व्यवहार रूप साध्य की सिद्धि की जाती है, उसका कारण केवल उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि ही है अन्य कोई दूसरा निमित्त नहीं। अतः असद्व्यवहार में अन्वय दूसरे कारणों (निमित्तों) का अभाव उद्भावन करने से अन्वय निश्चय का अवधारण हो जाता है[३३५]। अर्चट ने भी इन दोनों की विस्तृत व्याख्या की है[३३६]। तीनों हेतुओं में अन्वय निश्चय की व्याख्या हो जाने के पश्चात् व्यतिरेक निश्चय का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—स्वभाव हेतु में व्यतिरेक का निश्चय, व्यापकानुलब्धि द्वारा निर्धारित किया जाता है। दो पदार्थों में व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध हो जाने पर व्यापक के अभाव में, जो व्याप्य का अभाव विज्ञापित किया जाता है वही व्यतिरेक निश्चय है। यहाँ व्यापक की अनुपलब्धि से, व्याप्य की अनुपलब्धि सिद्ध की जाती है तथा जिस व्यापक की अनुपलब्धि प्रदर्शित की जाय उसे उपलब्धि लक्षण प्राप्त होना चाहिये, अन्यथा उक्त व्यतिरेक निश्चय उपपन्न नहीं हो सकेगा। इसी तरह कार्य हेतु में व्यतिरेक-निश्चय कारणानुपलब्धि द्वारा होता है। दो पदार्थों में, कार्यकारणभाव का अवधारण हो जाने पर, कारण के

अभाव में, कार्य का अभाव ख्यापित करना, कार्य हेतु में व्यतिरेक निश्चय कहलाता है। यहाँ भी जिस कारण की अनुपलब्धि प्रदर्शित की जाती है, उसे उपलब्धि लक्षण प्राप्त होना चाहिये अन्यथा कारण के अभाव में कार्य का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। इसी प्रकार उपलब्धि लक्षण प्राप्त सत् पदार्थ से, अनुपलम्भ के अभाव का प्रदर्शन करना ही, अनुपलब्धि हेतु में व्यतिरेक का निश्चय है। जहाँ उपलब्धि लक्षण प्राप्त सत् पदार्थ विद्यमान है, वहाँ उसके अनुपलम्भ के अभाव का जो दर्शन होता है, उसी के द्वारा अनुपलब्धि में व्यतिरेक का निश्चय किया जाता है [३३७]। अन्वय निश्चय की भांति अर्चट ने इन तीन हेतुओं में व्यतिरेक निश्चय का विवेचन भी व्यापक रूप से प्रतिपादित किया है [३३८]। स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि हेतु में व्याप्ति निश्चय के प्रसंग में मोक्षाकर गुप्त ने 'हेतुबिन्दुकार' तथा अर्चट का ही समर्थन किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रत्येक हेतु में पक्ष-धर्म, अन्वय तथा व्यतिरेक निश्चय की विवेचना न करते हुए उन्होंने केवल प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ द्वारा तीनों हेतुओं में व्याप्ति का अवधारण प्रदर्शित किया है। फिर भी कार्य हेतु में व्याप्ति ग्रहण करने के लिए उन्होंने जिस पद्धति का अनुसरण किया है, वह उक्त दोनों आचार्यों से अधिक स्पष्ट, सूक्ष्म एवं विलक्षण है। उनके अनुसार, कार्य हेतु धूम आदि की साध्य वह्नि आदि के साथ व्याप्ति का ग्रहण पाकशाला आदि दृष्टान्त धर्मी में तीन प्रकार के अलावा पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा किया जाता है। [३३९] अभिप्राय यह कि कार्य-कारणभाव के निश्चायक अन्वय और व्यतिरेक होते हैं इनमें से अन्वय का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा व्यतिरेक का ज्ञान अनुपलम्भ के द्वारा होता है। यह अनुपलम्भ पूर्वापर काल-भेद से दो प्रकार का होता है—कार्य की उत्पत्ति के पहले और बाद में। अतः एक प्रत्यक्ष और दो अनुपलम्भ इन त्रिविध प्रत्यक्षानुपलम्भों द्वारा तदुत्पत्ति का निश्चय किया जाता है इसी को त्रिकारणी कहते हैं। जैसे, 'जब धूम होता है, तब वह्नि भी होती है' तथा 'जब वह्नि नहीं होती है, तब धूम भी नहीं होता।' इस प्रकार कालतः उपलम्भ तथा अनुपलम्भ से त्रैविध्य की सिद्धि होती है। इसी में देशकृत अनुपलम्भ मिला देने पर यह पंचकारणी हो जाती है, जिसमें दो प्रत्यक्ष और तीन अनुपलम्भों का समावेश रहता है। जैसे, 'जहाँ धूम होता है, वहाँ वह्नि भी होती है' तथा 'जहाँ वह्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता' इत्याकारक देशतः उपलम्भ तथा अनुपलम्भ त्रिविध उपलम्भानुपलम्भ में मिला देने पर पञ्चकारणी सिद्ध होती है।[३४०] इस तरह (१) उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अनुपलम्भ, (२) कारण का उपलम्भ होने पर, (३) कार्य का उपलम्भ इन तीनों कारणों से अथवा इसमें दो कारण और जोड़कर (४) कारण के अनुपलम्भ होने पर (५) कार्य का भी अनुपलम्भ हो जाता है—पाँच कारणों द्वारा तदुत्पत्ति का निश्चय किया जाता है। प्रकृत दृष्टान्त में इसका समन्वय इस प्रकार होगा—

(१) कार्य धूम का उत्पत्ति के पहले अनुपलम्भ— उत्पत्ति होने के पूर्व धूम की सत्ता का ज्ञान नहीं होता, उसके पश्चात्,

(२) कारण अग्नि का उपलम्भ— अग्नि की सत्ता का ज्ञान होने पर,

(३) कार्य धूम का उपलम्भ—धूम की सत्ता का भी ज्ञान होता है,

(४) कारण अग्नि का अनुपलम्भ—अग्नि की सत्ता न रहने पर,

(५) कार्य धूम का अनुपलम्भ—धूम की सत्ता भी नहीं रहती।

इस प्रकार कार्य की तीन प्रकार की उपलम्भ-अनुपलम्भ तथा कारण की दो प्रकार की उपलम्भ-अनुपलम्भ विशिष्ट स्थिति के द्वारा तदुत्पत्ति का निश्चय किया जाता है। इसी पद्धति द्वारा यह असंदिग्ध निश्चय होता है कि वह्नि के रहने पर ही धूम की सत्ता ज्ञापित होती है, न रहने पर नहीं। इसके विपरीत केवल सपक्ष-दर्शन तथा विपक्ष-अदर्शन द्वारा उक्त निश्चय नहीं होता, क्योंकि वह आकस्मिक सम्बन्ध है, जो कभी साध्य-साधन में पाया जाता है और कभी नहीं। इसलिये उनके (सपक्ष दर्शन तथा विपक्षादर्शन) रहने पर भी विपक्ष में व्यभिचार होने की सम्भावना, सर्वदा बनी रहती है। किन्तु जब यह निश्चय हो जाता है कि इस हेतु की उत्पत्ति उस साध्य से हुई है तब उक्त शंकाओं का अवकाश ही नहीं रहता, इसी प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा भी अविनाभाव का निश्चय होता है। यह कदापि संभव नहीं कि, वस्तुओं का स्वभाव उनमें कभी रहे और कभी न रहे। ऐसा मानने पर वस्तुओं का कोई स्वभाव ही निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि, जिस धर्म के बिना भी धर्मी रह सकता हो, वह उस धर्मी का स्वभाव नहीं हो सकता। विपक्ष में बाधक प्रमाण उपलब्ध होने से ही हेतु में साध्य का तादात्म्य निश्चय किया जाता है अन्यथा यदि विपक्ष में बाधक प्रमाण की यदि प्रवृत्ति न मानी जाये तो सैकड़ों स्थानों पर हेतु का सद्भाव होने पर साध्य का सद्भाव अथवा साध्याभाव में हेत्वाभाव का ज्ञान होने पर भी व्यभिचार शंकाओं का निराकरण नहीं किया जा सकता। अतः तादात्म्य और तदुत्पत्ति द्वारा ही व्याप्ति का निश्चय होता है।[३४१]

गम्भीर रूप से विचार करने पर बौद्ध विवेचना उपयुक्त नहीं जान पड़ती, क्योंकि अविनाभाव निश्चायक साधनों को केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति तक ही प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता। पार्थसारथि मिश्र ने इस मत की समीक्षा करते हुए लिखा है कि, जहाँ कार्यकारणभाव तथा तादात्म्य निश्चय दोनों नहीं है अथवा दोनों में से एक भी नहीं है वहाँ अनुमान नहीं होना चाहिए। किन्तु इन दोनों के अभाव में भी कृतिका नक्षत्र के उदय होने से अचिरोदित (समीप में उदय होने वाले) रोहिणी के उदय होने का यथार्थ अनुमान होता है। इसी प्रकार रस से रूप का अनुमान भी निष्पन्न होता है। फिर अविनाभाव भी एक प्रकार का नियम ही है और कार्यकारणभाव भी पौर्वापर्य रूप से नियम का ही भान कराता है। अतः नियम को ही नियम का ग्राहक प्रमाण माना जाय, तो आत्माश्रय दोष होगा। कार्यकारणभाव तथा तादात्म्य की प्रामाणिकता पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता, कारण प्रत्यक्ष द्वारा धूम अग्नि के साथ रहता है इत्याकारक साहित्य मात्र ही ज्ञात होता है, उसकी कार्यता अथवा स्वभावता का ज्ञान नहीं। यदि यह कहा जाय कि, अनेक बार अग्नि के अधिकरण में धूम के दर्शन से और अनधिकरण में अदर्शन से उन दोनों में कार्यकारणभाव स्थिर किया जाता है, तो भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि उक्त अन्वय-व्यतिरेक से केवल यही ज्ञात होता है कि, 'जहाँ पर धूम की सत्ता है वहाँ पर अग्नि की भी सत्ता है' और 'अग्नि की सत्ता के बिना धम की भी असत्ता है' इससे केवल सत्ता और असत्ता का ही भान होता है, न कि कार्य-कारणभाव का। और ऐसा मान लेने पर अन्वय-व्यतिरेक को ही स्वीकार करना है, जिसकी समीक्षा बौद्ध मतानुसार ऊपर की गई है। इसी तरह शिंशपा, वृक्ष स्वरूप से कहीं दृष्ट होने पर भी उसका स्वभाव से नियमन नहीं हो सकता, क्योंकि उसका स्वभाव शिंशपा मात्र तक ही सीमित है, किन्तु, वृक्षत्व का स्वभाव इस प्रकार प्रतिबन्धित नहीं। फिर कार्य-कारणभाव

अथवा तादात्म्य को ही केवल प्रमाण माना जाय, तो अग्नि से भी धूम का और वृक्षत्व से शिंशपा का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि, दोनों में कार्यकारणभाव तथा तादात्म्य सम्बन्ध विद्यमान है। किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह्नि धूम के अभाव में अयोगोलक आदि में तथा वृक्षत्व शिंशपात्व के अभाव में आम, नीम आदि वृक्षों में व्यभिचरित है, इसलिये उनको अनुमापक नहीं कहा जा सकता। शिंशपा के जान लेने के पश्चात् अनुमान द्वारा अवगम करने को कुछ शेष नहीं बचता। यह सही है कि वृक्षत्व, शिंशपा का स्वभाव है, किन्तु जब शिंशपा रूप विशेष वृक्ष को देखते हैं, तो उसके वृक्षत्व का भी भान हो जाता है।[३४२] बौद्ध मत में धूम और अग्नि के भावमूलक सम्बन्ध को ही अन्वय के रूप में व्यक्त किया गया है। पार्थसारथि मिश्र ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि अन्वय का वास्तविक अर्थ है अनुगति। यदि ऐसा न माना जाय तो ऊर्ध्वगमनशील व्योमस्थ धूम, भूमिस्थ वह्नि का अथवा भूमिस्थ शंकछाया का व्योमस्थ सूर्य अनुमापक अथवा अनुगमक नहीं बन सकेगा।[३४३] जयन्त ने भी खण्डन करते हुए लिखा है कि बौद्धों ने इस समस्या पर स्थूल दृष्टि से विचार किया है, सूक्ष्म दृष्टि से नहीं। हेतु में साध्य की जो ज्ञापकता रहती है, उसका प्रयोजक यदि तादात्म्य को ही माना जाय, तो हेतु और साध्य में ज्ञाप्य-ज्ञापक-भाव का उपपादन अवधारित नहीं हो सकेगा। कारण, केवल हेतु द्वारा ही साध्य की प्रतीति उत्पन्न नहीं होती, वरन् वह अपने ज्ञान के द्वारा ही साध्य ज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार हेतु और साध्य में यदि तादात्म्य माना जाय, तो साध्य ज्ञान के लिए प्रयुक्त लिङ्ग ज्ञान से, लिङ्ग के समान ही लिङ्ग से अभिन्न साध्य भी प्रतीत हो जायगा। इस तरह साध्य, पहले से ज्ञात होने के कारण अनुमिति में भासित होने के अयोग्य ही सिद्ध होगा। फिर जिस प्रमाता को शिंशपात्व का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है, उसे शिंशपा का वृक्ष होना भी ज्ञात रहता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि, साध्य स्वरूपतः लिङ्ग से अभिन्न होने के कारण यद्यपि पहले से ज्ञात है, किन्तु अनुमान केवल साध्य ज्ञान के लिए ही वस्तुतः प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत विपरीत समारोप की जो संभावना रहती है, उसके निराकरण के लिए ही किया जाता है। परन्तु यह कथन, यथार्थता से परे होने के कारण, स्वीकार्य नहीं हो सकता, कारण साध्य जब निश्चित रूप से स्वरूपतः ज्ञात हो जाता है, तब उसमें विपरीत धर्मों के आरोपण की संभावनाओं का अवकाश ही नहीं रहता। जैसे, सिर, हाथ, पैर आदि विशेष धर्मों का, अवधारण हो जाने के पश्चात्, पुरुष में, स्तम्भ का समारोप, कदापि नहीं हो सकता। इसलिए वृक्षत्व और शिंशपात्व के अभिन्न होने से, शिंशपात्व के ग्रहण हो जाने के उपरान्त, वृक्ष से भिन्न अधिकरण में रहने वाले किसी धर्म का, उसमें समारोप होना संभव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि साध्य-साधन दोनों को यदि अभिन्न माना जाय, तो जैसे शिंशपात्व से वृक्षत्व का अनुमान किया जाता है, वैसे ही वृक्षत्व से यदि शिंशपात्व का अनुमान किया जाय, तो जहाँ प्रयत्न के बाद उत्पन्न होने के कारण अनित्यत्व का अनुमान किया जाता है, वहाँ उसी प्रकार अनित्यत्व से भी प्रयत्न के बाद उत्पन्न होने का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु यह संभव नहीं है, कारण विद्युत अनित्य है परन्तु प्रयत्न के बाद उत्पन्न नहीं होती।[३४४] इसलिये तादात्म्य सम्बन्ध को व्याप्ति का नियामक नहीं माना जा सकता। इस आलोचना में वाचस्पति मिश्र का ही व्यापक समर्थन जान पड़ता है।[३४५] इसी प्रकार तदुत्पत्ति द्वारा भी व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस प्रसङ्ग में, बौद्धों से पूछा जा सकता है कि, कार्य-कारणभाव दो क्षणों में विवक्षित है,

अथवा दो संतानों में ? क्षणों के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उनमें कार्यकारणभाव का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार संतानों—धूम संतान और अग्नि संतान— के अवास्तविक होने के नाते, उनमें भी कार्यकारणभाव संभावित नहीं। कार्य-कारणभाव संभावित न होने के कारण, उनकी सत्ता भी संभावित नहीं हो सकती, क्योंकि अर्थक्रिया-कारित्व ही बौद्धमत में वस्तुत्व माना गया है। दूसरी बात यह है कि अग्नि के द्वारा उत्पन्न होने के कारण ही यदि उसे अग्नि का ज्ञापक मान लिया जाय, तो धूमगत कटुता, मालिन्य एवं गगनवृत्तिता आदि धर्म भी वह्नि में ज्ञापक होंगे, कारण उन धर्मों के साथ भी वह्नि का अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है। इसलिये केवल धूमत्व को अग्नि का सहचारी मानने की अपेक्षा नियत सहचार को व्याप्ति का ग्राहक मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।[३४६] इसलिए यदि कार्य-कारणभाव और तादात्म्य की संकुचित परिधि में साधनों का आकलन किया जाय, तो इनके अभाव में नियत व्याप्ति सम्बन्ध युक्त जो 'सूर्यास्त द्वारा, तारकोदय का, 'चन्द्रोदय द्वारा, समुद्रवृद्धि का,' चिंटियों को अण्डे बच्चे ले जाते देखकर भविष्यकालीन वृष्टि' आदि के अनुमान किये जाते हैं, वे नहीं किये जा सकेंगे। और इन यथार्थ अनुमानों की व्याप्तियों में, यदि संदेह प्रकट किया जाय, तो उनके तदुत्पत्ति आदि सिद्धांतों में भी संशय का उत्थापन किया जा सकता है जैसे, अग्नि से ही धूम उत्पन्न क्यों हो, पानी से क्यों नहीं ? इसका समाधान यदि अबाधित अनुभव के रूप में दिया जाय, तो वह पहलू अन्वय और व्यतिरेक रूप नियत सहचार में भी उपलब्ध हो जाता है।[३४७]

बौद्धों के कार्य-कारणभाव व तादात्म्य सम्बन्धों की निष्पत्ति अन्वय-व्यतिरेक सहचार के बिना हो भी नहीं सकती। मोक्षाकार गुप्त का त्रिकारणी व पञ्चकारणी विवेचन भी उक्त सहचार पर ही आधारित है। उनके उपलम्भ व अनुपलम्भ की अपेक्षा, नैयायिकों का कार्य-कारणभाव विवेचन अधिक परिष्कृत, स्पष्ट एवं सूक्ष्म जान पड़ता है। अन्यथा सिद्धिशून्य पदार्थ का, नियमित रूप से, कार्य के पूर्व में रहना ही कारणता है तथा अनन्यथासिद्ध पदार्थ का, नियत रूप से, पश्चाद्भावी होना कार्यता है।[३४८] कारण और कार्य के इन लक्षणों में 'नियत' और 'अनन्यथासिद्ध' विशेषणों का उपादान किया गया है। इन विशेषणों का लक्षण में यदि विन्यास नहीं किया जाय, तो घट निर्माण काल में जो-जो वस्तुएँ उपस्थित होंगी, वे सभी पूर्वभावी अथवा पश्चाद्भावी होने से कारण अथवा कार्य कहलाने लगेंगी। जैसे, रासभ वहाँ उपस्थित हो जाता है, तो घट उत्पत्ति के पूर्व अथवा बाद में उसकी सत्ता होने से वह कारण अथवा कार्य कहलाता। अतः ये लक्षण रासभ में अतिव्याप्त हो जायेंगे। इसलिये इस आपत्ति का वारण करने के लिए 'नियत' पद का निवेश किया गया है। इससे रासभ की, घट उत्पत्ति के पूर्व अथवा बाद में सत्ता होने पर भी, अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्यों कि वह घट के साथ नियत रूप से नहीं पाया जाता। कारण और कार्य का नियत पूर्वभावी तथा निश्चित पश्चाद्-भावी होना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि जैसे, घट के प्रति दण्ड कारण माना जाता है, अतः जहाँ दण्ड रहेगा वहाँ उसमें रहने वाला धर्म दण्डत्व भी रहेगा। इसलिये दण्ड की भांति, नियत पूर्वभावी अथवा पश्चाद्भावी होने के कारण, दण्डत्व को भी घट के प्रति कारण अथवा कार्य माना जा सकता है। किन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि दण्डत्व दण्ड के प्रति कारण हो सकता है, घट के प्रति नहीं। इसलिए घट के प्रति कारण न होने से वह अन्यथासिद्ध कहलाता है। इसी अन्यथासिद्ध दोष के परिहार के लिए लक्षणों में

'अनन्यथासिद्ध' विशेषण दिया गया है। अतः जो नियत पूर्वभावी अथवा पश्चाद्भावी होने पर भी अन्यथा सिद्ध न हो, उसे कारण अथवा कार्य कहा जाता है।

कारण लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' विशेषण का विशेष महत्व है। विश्वनाथ ने पाँच प्रकार के अनन्यथासिद्ध बतलाये हैं—

(१) जिस धर्म के सहित कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव (कारणता) निश्चित होता है, वह धर्म कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। इसका उदाहरण ऊपर स्पष्टतः व्यक्त किया जा चुका है।

(२) जिसका कार्य के साथ स्वतंत्र अन्वय-व्यतिरेक न हो अपितु अपने कारण को लेकर ही जिसका अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय हो, वह भी अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे, घट के प्रति दण्ड का रूप। घट के प्रति दण्ड रूप का स्वतः अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन पाता, प्रत्युत अपने कारण दण्ड को लेकर ही बनता है। इसलिए दण्ड रूप भी घट के प्रति दण्डत्व की तरह अन्यथासिद्ध है, क्योंकि दण्ड का रूप, दण्ड से पृथक् नहीं किया जा सकता, जिससे कि वह घट के प्रति स्वतंत्र कारण बन सके।

(३) अन्य किसी कार्य के प्रति पूर्वभाव का निश्चय होने पर ही जिसका कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत हो सके, वह तृतीय अन्यथासिद्ध है। जैसे, घट के प्रति आकाश। नित्य और व्यापक होने के नाते आकाश कार्य मात्र के प्रति नियत पूर्ववर्ती है, इसलिये घट के प्रति भी होगा। किन्तु घट के प्रति उसकी कारणता आकाशत्व रूप से है। आकाश शब्द का समवायी कारण है। इस प्रकार आकाश की शब्द के प्रति कारणता का निश्चय करके ही कार्य-घट के प्रति कारणता का निश्चय किया जाता है। इसलिये आकाश, शब्द के प्रति कारण माना जायगा, घट के प्रति नहीं। अटः वह अन्यथासिद्ध है।

(४) जनक (कारण) के प्रति पूर्ववृत्तिता—(कारणता) के बिना जिसकी कार्य के प्रति कारणता गृहीत न हो, अर्थात् जो कारण का कारण हो, वह भी अन्यथा-सिद्ध कहलाता है जैसे, घट के जनक कुम्भकार के जनक कुम्भकार का पिता। कुम्भकार का पिता कुम्भकार के प्रति कारण है, घट के प्रति नहीं इसलिये कुम्भकार-पिता अन्यथा-सिद्ध है।

(५) नियत आवश्यक पूर्वभावी से अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सब पञ्चम अन्यथासिद्ध कहलाते हैं। जैसे, घट उत्पत्ति में रासभ। घट कार्य के प्रति, नियत आवश्यक एवं पूर्ववर्ती कारण, दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल, मृत्तिका-आदि ही हैं, रासभ नहीं। इसलिये उसे अन्यथासिद्ध कहा जाता है। इन पाँचों में से अन्तिम ही आवश्यक है, शेष सभी उसमें समाविष्ट किये जा सकते हैं।[३४९]

सम्भवतः इसी दृष्टि को सामने रखते हुए वाचस्पति मिश्र ने भी उपलम्भ और अनुपलम्भ से होने वाले तदुत्पत्ति सम्बन्ध की आलोचना करते हुए लिखा है कि धूम में जो वह्नि की व्याप्ति पायी जाती है, वह क्या वह्नि के बाद धूम की उपलब्धि होने से गृहीत होती है अर्थात् इसी कारण से व्याप्ति का ग्रहण माना जाय, तो समीचीन नहीं, कारण वह्नि के पश्चात्, रासभ आदि की यदि उपलब्धि होती है, तो रासभ आदि में भी वह्नि की व्याप्ति मानना होगी और धूम की तरह रासभ को भी वह्नि का अनुमापक मानकर, रासभ द्वारा वह्नि का अनुमान होना चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि, वह्नि

के बाद ही धूम की सत्ता होती है, इसलिये धूम में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञापन भी होता है, तो यह भी युक्तियुक्त नहीं, कारण रासभ के साथ यद्यपि धूम की सत्ता उपलब्ध होती है, परन्तु रासभ के बाद धूम की सत्ता नियमतः नहीं रहती, क्योंकि रासभ के रहने पर भी जहाँ अग्नि की सत्ता नहीं रहती, वहाँ धूम की सत्ता भी नहीं रहती एवं रासभ के न रहने पर भी वह्नि में यदि आर्द्र ईंधन का प्रयोग हो जाता है, तो धूम की सत्ता आवश्यक रूप से उपलब्ध होती है। इसलिये कार्य-कारणभाव रूप तदुत्पत्ति सम्बन्ध का अनुसरण करना व्यर्थ है।[३५०] श्रीधर ने भी इसी प्रकार तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति सिद्धांतों का विस्तृत खंडन किया है।[३५१] अतः तादात्म्य और तदुत्पत्ति द्वारा व्याप्ति का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

प्रो. कीथ के मत का निराकरण

तदुत्पत्ति अर्थात् कार्य-कारण-भाव, तादात्म्य तथा अनुपलम्भ साधनों को आग्रह पूर्वक व्याप्ति निर्धारक-साधन मानने पर भी बौद्ध धर्मकीर्ति को इनका प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि महर्षि कणाद् के सूत्रों तथा धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में ये सिद्धान्त स्पष्टतः निहित हैं। जैसे, "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायिचेति लैङ्गिकम्"[३५२] तथा "संयोगि समवायेकार्थसमवायि विरोधि च"[३५३] इन वैशेषिक सूत्रों में उक्त तीनों सम्बन्ध समाहित जान पड़ते हैं। 'कार्य-कारण-भाव' की व्याख्या, "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः",[३५४] "कारणाभावात् कार्याभावः",[३५५] न तु कार्याभावात् कारणाभावः"[३५६] आदि सूत्रों में की गयी है। संयोगि लिङ्ग के उदाहरण को यद्यपि, कार्य-कारण लिङ्गों की भांति सूत्रकार ने प्रदर्शित नहीं किया है, किन्तु उपस्कार में शंकर मिश्र ने इन सभी को उदाहरण सहित समझाया है।[३५७] सह-उत्पत्तिक मात्र, नियत संयोग विशिष्ट होने के कारण, संयोगि लिङ्ग के अवधारक संयोग सम्बन्ध को, केवल कार्य-कारण-भाव रूप बौद्ध तदुत्पत्ति सिद्धान्त द्वारा विवेचित न होने पर भी, 'तदुत्पत्ति' सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यापक रूप से समाविष्ट किया जा सकता है। समवाय तथा एकार्थसमवाय सम्बन्धों का सम्मिलित योग ही शब्दान्तर से तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है। बौद्ध दार्शनिकों ने, स्वभाव हेतु में, व्याप्ति ग्रहण के लिये, इसी सम्बन्ध का उपादान किया है। साध्य से, अभिन्न तथा भिन्न हेतु, साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता, सूत्रकार की इस आलोचना में तादात्म्य सम्बन्ध का खण्डन अभीष्ट जान पड़ता है।[३५८] महर्षि कणाद ने "कार्यं कार्यान्तिरस्य"[३५९] इस सूत्र द्वारा एकार्थसमवायि-लिङ्ग की ही व्याख्या की है। समवायि-लिङ्ग को प्रदर्शित करने के लिये उन्होंने कोई पृथक् रचना नहीं की किन्तु शंकर मिश्र ने अपनी टीका में इसके उदाहरण को भली प्रकार समझाया है।[३६०] इसी प्रकार विरोध सम्बन्ध के प्रतिपादक निषेध साधक लिङ्ग द्वारा, अनुपलम्भ सम्बन्ध का ही उपन्यास किया गया है।[३६१] अतः महर्षि कणाद के 'कार्य-कारण', 'संयोग', 'समवाय', 'एकार्थसमवाय' एवं विरोध सम्बन्धों में उक्त तदुत्पत्ति, तादात्म्य, अनुपलम्भ आदि सम्बन्ध भलिभांति अन्तर्विष्ट हो जाते हैं। धर्मकीर्ति के पूर्व भी आचार्य असङ्ग प्रणीत' योगाचार-भूमि-शास्त्र' के अनुमान-भेद-प्रकरण के स्वभाव, कार्य-कारण आदि अनुमान भेद निरूपण में कार्य तथा स्वभाव हेतुओं का विवेचन स्पष्टतः उपलब्ध होता है।[३६२] महापण्डित राहुल सांकृत्यान ने अपनी पाद टिप्पणि में लिखा है कि धर्मकीर्ति के कार्य-कारण-भाव रूप तदुत्पत्ति तथा तादात्म्य

सम्बन्धों की रचना का आधार यही विवेचन रहा है ।[३६३] धर्मकीर्ति के अनुपलम्भ सम्बन्ध की सर्जना का मूल भी संभवतः असङ्ग की निषेधमूलक दृष्टान्त व्याख्या रही हो। इस प्रकार धर्मकीर्ति के पूर्व भी, तदुत्पत्ति, तादात्म्य तथा अनुपलम्भ सम्बन्धों के बीज दृष्टिगोचर होते हैं, जोमहर्षि कणाद के विवेचन से पूर्णतः प्रभावित जान पड़ते हैं। अतः प्रो० कीथ आदि का यह कथन कि, बौद्ध दार्शनिक ही इन हेतुओं और सम्बन्धों के जन्मदाता थे, समीचीन नहीं जान पड़ता ।[३६४]

जैन मत—

जैन दर्शन में तर्क को ही एक मात्र व्याप्ति ग्राहक साधन माना गया है। सर्व-प्रथम जैन दार्शनिक परम्परा में तर्क के स्वरूप और विषय को स्थिर करने का श्रेय अकलंक को ही है। उन्होंने प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाले संभावनात्मक ज्ञान को तर्क कहा है ।[३६५] 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य' में तर्क का लक्षण इस प्रकार से व्यक्त किया गया है, 'साध्य और साधन के सम्बन्ध विषयक अज्ञान को निरस्त करने का, जो साधकतम उपाय है उसे ही तर्क कहा जाता है ।[३६६] माणिक्यनन्दी ने अकलंक का अनुगमन करते हुए तर्क का लक्षण इस प्रकार दिया है—'उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से जो व्याप्तिज्ञान होता है, उसे ऊह अर्थात् तर्क कहा जाता है' जैसे, 'साध्य अग्नि के होने पर ही साधन धूम का होना' इस उपलम्भ तथा 'अग्नि के अभाव में धूम का कदापि न होना' इस अनुपलम्भ का कारण व्याप्ति को सर्वोपसंहार रूप से जानना ही तर्क है ।[३६७] तात्पर्य यह कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी होती है' और 'जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता' इस तरह अनेक बार धूम के होने पर अग्नि की उपलब्धि और अग्नि के अभाव में धूम की अनुपलब्धि पायी जाने पर, सब जगह और सब काल में धूम अग्नि का व्यभि-चारी नहीं है, क्योंकि वह अग्नि का सद्भाव होने पर ही होता है, अभाव होने पर नहीं, क्योंकि वह अग्नि का सद्भाव होने पर ही होता है, अभाव होने पर नहीं। इस प्रकार के उपलम्भमूलक व्याप्ति सम्बन्ध को अर्थात् सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वव्यक्तिक अविनाभाव सम्बन्ध को सर्वोपसंहार रूप से ग्रहण करना ही तर्क है, यहाँ उपलम्भ और अनुपलम्भ पदों द्वारा प्रमाण मात्र का ग्रहण किया गया है। प्रत्यक्ष के विषय होने वाले साध्य और साधन ही नहीं अपितु अनुमान और आगम के विषयभूत पदार्थों में भी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अविनाभाव का निश्चय तर्क द्वारा होता है। इसलिए उपलम्भ और अनुपलम्भ पद से साध्य-साधन का सद्भावमूलक प्रत्यक्ष और अभावमूलक प्रत्यक्ष ही गृहीत नहीं किया जाता, अपितु साध्य-साधन का दृढ़तर उपलम्भ और अनुपलम्भ निश्चय का ग्रहण किया जाता है अन्यथा अतीन्द्रिय विषयों का यह साधन ग्राहक नहीं हो सकेगा ।[३६८] इसीलिए वादि देवसूरि ने अपने लक्षण में उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न होने वाला, तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान त्रैकालिक साध्य-साधन विषयक सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला जो—'यह पदार्थ इस पदार्थ के होने से ही होता है', इत्याकारक ज्ञान है, उसे ऊह या तर्क प्रमाण कहा है। जैसे, लोक में, 'जितने भी धूम होते हैं, वे सब अग्नि के होने से ही होते हैं, न होने से नहीं' उन सभी बातों को तर्क द्वारा समाविष्ट कर लिया जाता है ।[३६९] आचार्य हेमचन्द्र ने इस प्रसङ्ग में माणिक्यनन्दी का अक्षरशः अनुगमन किया है ।[३७०] उनकी 'स्वोपज्ञवृत्ति' और 'प्रमेय-रत्नमाला' में यथेष्ट साम्य दिखाई देता है ।[३७१] सिद्धर्षि गणि ने भी लिखा है कि, व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण ऊह प्रमाण द्वारा

होता है। यह प्रमाण अन्वयव्यतिरेक को क्रमशः ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के बाद में होता है, इसका विषय अव्यभिचरित त्रिकालव्यापी होता है एवं मतिज्ञान ही इसका जनक है।[३७२] सिद्धर्षिगणि,[३७३] प्रभाचन्द्र[३७४], अनन्तवीर्य[३७५], हेमचन्द्र[३७६] धर्मभूषण[३७७], यशोविजय[३७८] आदि जैनाचार्यों ने, इसी को व्याप्ति ग्रहण का साधकतम प्रमाण मानते हुए अन्य साधन 'बाह्य,' 'मानस' एवं 'योगि प्रत्यक्ष' 'सामान्य लक्षणा' 'प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प', 'अनुमान', 'शब्द' आदि साधनों का नैयायिको की भांति खण्डन किया है। इस प्रकार प्रायः सभी जैन तार्किकों ने तर्क को ही व्याप्ति निश्चायक साधन माना है। किन्तु तर्क द्वारा सार्वकालिक-सार्वदेशिक व्याप्ति का ग्रहण होना दुष्कर है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। तर्क को ही व्याप्ति साधन मानने पर पूवोक्त सभी दोष होंगे। तर्क के माध्यम से जैन दार्शनिकों ने बौद्ध दार्शनिकों का ही शब्दान्तर से समर्थन किया है, अतः इनके तर्क विवेचन में कोई नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती। संभावनामूलक अनिश्चित ज्ञान होने के नाते, उसे पृथक् प्रमाण भी नहीं माना जा सकता। व्यभिचार शंकाओं का व्यवच्छेदन ही एक मात्र तर्क का प्रयोजन है। इसीलिए न्याय तथा अन्य दार्शनिकों ने विपक्षबाधक सहकारी साधन के रूप में इसे प्रयुक्त किया है।

उपर्युक्त सभी मतों पर यदि विचार किया जाय, तो ज्ञात होगा कि व्याप्ति ग्रहण में अन्वय सहचार अथवा व्यतिरेक सहचार का होना अत्यन्त आवश्यक है। न्याय सूत्रकार की साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्तों की व्याख्या में न्याय भाष्यकार के साध्य-साधनभाव तथा साध्याभाव साधनाभाव तथा प्रशस्तपादभाष्य के 'विधि' निरूपण में ये दोनों सहचार निहित हैं। इन्हीं सहचारों को व्यभिचारविहीन बनाने के लिये इनमें विभिन्न विशेषणों का प्रयोग किया गया है। उदयन तथा कुमारिल ने भूयोदर्शन, वाचस्पति मिश्र तथा नारायण भट्ट ने तर्कसहकृत भूयोदर्शन, जयन्त ने नियत सहचार, प्रभाकर ने सकृद् सहचार दर्शन, कुछ ने प्रत्यक्ष अथवा मानस प्रत्यक्ष, बौद्धों ने तादात्म्य और तदुत्पत्ति, जैनों ने तर्क, श्रीधर ने उपाधिविहीन भूयोदर्शन सहकृत सहचार दर्शन, भट्ट उम्बेक ने अर्थापत्ति, पार्थसारथि और वेदान्त परिभाषाकार ने व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन एवं तर्क की सहायता से व्यभिचार शंकाओं का निरास करते हुए सामान्यलक्षणा अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा व्यभिचारविहीन सहचार दर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण मानते हुए गङ्गेश, दीधितिकार, केशव मिश्र, विश्वनाथ, अन्नमभट्ट आदि दार्शनिकों ने विभिन्न माध्यमों द्वारा अन्वय-व्यतिरेक सहचार को ही गृहीत करने का प्रयास किया है। इन विवेचनों को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि व्याप्ति ग्रहण के साधन के विषय में दी गई गङ्गेश की युक्तियां अधिक ठोस तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं।

व्याप्ति-ग्रहण-स्थल

पक्ष, सपक्ष तथा पक्ष-सपक्ष दोनों में

व्याप्ति के लक्षणों और साधनों का विवेचन हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि व्याप्ति रूप अविनाभाव का निश्चय कहाँ हो? इस समस्या को सुलझाने के लिए कुछ तार्किक ऐसा कहते हैं कि उसका ग्रहण सपक्ष में होता है, अन्य कुछ का मत है कि उसका निश्चय पक्ष में होता है। बौद्ध दर्शन में दोनों दृष्टिकोणों का आदर किया गया है। जैसा कि रत्नाकर शान्ति ने कहा है—व्याप्ति दृष्टान्तधर्मी (सपक्ष) अथवा साध्यधर्मी (पक्ष) दोनों में गृहीत हो सकती है। पक्ष में गृहीत होने वाली साध्य-

साधन की व्याप्ति को अन्तर्व्याप्ति तथा पक्ष के अतिरिक्त किसी दृष्टान्त में जिस व्याप्ति का ग्रहण किया जाय, उसे बहिर्व्याप्ति कहा जाता है।[३७९] धर्मकीर्ति ने अन्तःव्याप्ति पर ही अधिक बल दिया है, कारण उन्होंने हेतु के 'सपक्ष में होने' और 'असपक्ष में न होने' को उतना आवश्यक नहीं माना है, जितना कि उसका अविनाभाव से युक्त होना।[३८०] अविनाभावीय हेतु में ही अपने साध्य को सिद्ध करने का सामर्थ्य रहती है। इसीलिए उन्होंने विशिष्ट अधिकारी के लिए एक मात्र हेतु का प्रयोग ही स्वीकार किया है।[३८१] कुछ अनुमान ऐसे भी होते हैं, जिनमें संसार के समस्त पदार्थ पक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं और सपक्ष के लिए कोई दृष्टान्त अवशेष नहीं बचता। ऐसे स्थलों में व्याप्ति का ग्रहण दृष्टान्त धर्मी में होना संभावित नहीं है। अतः यहाँ पक्ष में व्याप्ति का ग्रहण कर लिया जाता है। जैसे, समस्त पदार्थ क्षणिक है, सत् होने से'। यहाँ 'सकल पदार्थ' पक्ष, 'क्षणिकत्व' साध्य और 'सत्त्व' हेतु है। यहाँ सकल पदार्थ के अन्तर्गत लोकगत सकल पदार्थों का ग्रहण हो जाने से सपक्षभूत कोई उदाहरण अवशेष नहीं रहता, जहाँ हेतु सत्त्व की साध्य क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति गृहीत की जा सके। अतः इस स्थल में व्याप्ति का ग्रहण पक्ष में ही होता है। जहाँ व्याप्ति का निश्चय विपक्ष में बाधक प्रमाण द्वारा किया जाता है। 'पर्वत वह्निमान् है धूम होने से' इस अनुमान में साध्यधर्मी पर्वत के अतिरिक्त दृष्टान्तधर्मी पाकशाला आदि स्थल में, साध्य अग्नि के साथ हेतु धूम की व्याप्ति गृहीत की जाती है किन्तु बहिर्व्याप्ति पाकशाला आदि दृष्टान्त स्थल की तरह पक्षातिरिक्त किसी अन्य दृष्टान्त में सत्त्व और क्षणिकत्व का सद्भाव नहीं पाया जाता। यहाँ केवल इसी आधार पर व्याप्ति गृहीत की जाती है कि, विपक्ष अक्षणिक वस्तुओं में सत्त्व के रहने में बाधक प्रमाण पाया जाता है। सत्त्व का अर्थ है अर्थक्रियाकारित्व। जो वस्तु क्रम से अथवा युगपत् रूप से अर्थक्रिया करने में समर्थ है, वही सत् कहलाती है। इस रीति से अक्षणिक वस्तुओं में अर्थक्रियाकारित्व न तो क्रम से पाया जाता है और न युगपत् रूप से ही। इस प्रकार अक्षणिक वस्तुओं में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव पाये जाने से, क्षणिक वस्तुओं में ही अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध हो जाता है। अतः जिस धर्मी में क्षणिकत्व से व्याप्त सत्त्व पाया जाय उसी धर्मी में वह क्षणिकत्व की सिद्धि भी करता है। इस तरह पक्ष में गृहीत होने वाली व्याप्ति को अन्तर्व्याप्ति कहा जाता है।[३८२] जिन लोगों का ऐसा आग्रह है कि, व्याप्ति का दृष्टान्त में गृहीत होना अनिवार्य है, वह युक्त नहीं, कारण उक्त स्थलों में वह संभव नहीं है। दृष्टान्त की अपेक्षा से ही जहाँ साधन का प्रयोग किया जाता है, वह अत्युत्पन्नमतियों के लिए ही किया जाता है, व्युत्पन्नमतियों के प्रति नहीं। इसलिये बहिर्व्याप्ति केवल अत्युत्पन्नों के लिए ही व्यवस्थापित की जाती है।[३८३] यदि पक्ष में व्याप्ति का ग्रहण हो, तो असाधारण, अनैकान्तिक आदि हेत्वाभासों का विवेचन बौद्ध मत में किस अभिप्राय से किया जाता है, क्योंकि वहाँ भी कोई दृष्टान्त धर्मी विद्यमान नहीं रहता। इसका समाधान देते हुए रत्नाकर शांति ने लिखा है कि बहिर्व्याप्ति की भांति इसका उद्भावन भी मूढ़मतियों की अपेक्षा से ही किया जाता है। 'शब्दः अनित्यः श्रावणत्वात्' इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग किसी मन्दमति द्वारा यदि कर दिया जाय, तो युक्त नहीं, क्योंकि श्रावणत्व और नित्यत्व में अविनाभाव नहीं है। इस पर भी शब्द रूप धर्मी में, अनित्यत्व की सिद्धि के लिए यदि श्रावणत्व हेतु का प्रयोग कर दिया जाय, तो वह हेत्वाभास ही होगा। इसलिये श्रावणत्व हेतु दृष्टान्त धर्मी का अभाव होने पर भी सद्हेतु नहीं कहलाता। इसी बात को ज्ञापित करने के लिए इसका प्रयोग अत्युत्पन्नों की अपेक्षा

से किया जाता है। इसके विपरीत श्रावणत्व हेतु की तरह, 'सत्त्व' हेतु, दृष्टान्त धर्मी के अभाव में भी असाधारण नहीं कहलाता, क्योंकि इसमें विपर्यय में बाधक प्रमाण के आधार पर सत्त्व की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति का ग्रहण किया गया है।[३८४]

अन्तर्व्याप्ति का समर्थन करते हुए हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व रूप त्रैरूप्य का समन्वय किस प्रकार सम्पन्न होगा? इसका समाधान यह है कि सद्हेतु में पक्ष धर्म, अन्वय और व्यतिरेक होना आवश्यक है। अन्वय-व्यतिरेक क्योंकि सापेक्ष हैं, इसलिये उन दोनों में से किसी एक का प्रयोग कर देने से भी कार्य चल सकता है। अन्वय को सपक्षसत्त्व और व्यतिरेक को विपक्ष व्यावृत्ति के रूप में व्यक्त किया जाता है। इसलिये परस्पर सापेक्ष होने के कारण एक का प्रयोग कर देने पर दूसरा स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए अविनाभाव के लिए पक्ष धर्म, अन्वय और व्यतिरेक तीनों का ग्रहण करना पूर्व में आवश्यक बतलाया गया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि, अन्वय दृष्टान्त में जो हेतु नहीं पाया जाता हो, तो उसका अन्वय भी नहीं है। अथवा व्यतिरेक दृष्टान्त में जिस हेतु का अदर्शन नहीं पाया जाता हो, तो उसका व्यतिरेक भी नहीं है। हेतु में इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक होना आवश्यक है, न कि अन्वय-व्यतिरेक दृष्टान्त में हेतु का दर्शन तथा अदर्शन। इसलिये सद्हेतु में पक्षधर्मत्व तथा विपक्षव्यावृत्ति ये दोनों धर्म नियम से पाये जाते हैं। इनके अभाव में कोई हेतु सद्हेतु नहीं कहला सकता। धर्मकीर्ति ने उदाहरण का प्रयोग मन्दमतियों के लिए ही स्वीकार किया है, इसलिये सपक्षसत्त्व की भी कल्पना की गई है। वैसे विपक्ष व्यावृत्ति रूप व्यतिरेक का प्रयोग हो जाने पर अन्वय रूप सपक्षसत्त्व संगृहीत हो ही जाता है। अतः अन्तः व्याप्ति मानने पर भी त्रैरूप्य वाद की मान्यता में कोई बाधा नहीं आती।[३८५] इसलिये बौद्ध मत में अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति दोनों का प्रयोग किया गया है।

जैन दार्शनिकों ने बौद्धों से एक कदम और आगे बढ़कर हेतु का अन्यथानुपत्तिमूलक एक ही रूप स्वीकार किया है। उनकी ऐसी मान्यता है कि जो हेतु अन्यथानुपपन्नत्व धर्म से युक्त है, उसमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीनों रूपों की अथवा इनमें अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दो धर्म और जोड़ देने से पंच रूपों का विन्यास करना व्यर्थ है और जिस हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है, वहाँ इन पाँच धर्मों के होने पर भी हेतु में गमकता नहीं आती।[३८६] जैसे 'गर्भस्थ मित्रा का पुत्र श्यामवर्णीय होगा, मित्रा पुत्र होने से, अन्य श्यामवर्णीय पुत्रों के समान', इस अनुमान में 'मित्रातनयत्व' हेतु गर्भस्थ पुत्र में हैं। इसलिए पक्षधर्मत्व है। वह सपक्षभूत अन्य पुत्रों में भी पाया जाता है, इसलिए सपक्षसत्त्व भी है। विपक्षभूत अगौरवर्णीय चित्रा के पुत्रों में नहीं पाया जाने के कारण विपक्ष व्यावृतत्व भी है। तथा मित्रा पुत्र के श्यामवर्णीय होने में कोई बाधा भी नहीं है और न कोई समान बल वाला प्रतिपक्षी हेतु ही विद्यमान है, इसलिये उसमें अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व भी है। अतः इस असद्हेतु में भी पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृतत्व ये तीन तथा उनमें अबाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व और जोड़ कर ये पाँच धर्म पाये जाते हैं। किन्तु 'मित्रातनयत्व' की श्यामत्व के साथ अन्यथानुपत्ति नहीं होने से यह हेतु सदहेतु नहीं कहलाता क्योंकि, अविनाभाव न होने पर वहाँ विपक्षभूत गौरत्व की संभावना की जा सकती है।[३८७] इसके विपरीत एक लक्षणी और द्विलक्षणी हेतु भी अविनाभाव से युक्त होकर अपने साध्य की सिद्धि कराने में सक्षम होते हैं। जैसे,

'भाव और अभाव कथञ्चित सदात्मक हैं, कथञ्चित उपलब्ध होने से', यहाँ भाव और अभाव रूप समस्त पदार्थों को पक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट होने जाने से कोई साधर्म्य अथवा वैधर्म्य दृष्टान्त शेष नहीं बचता'। इस हेतु में केवल पक्षधर्मत्व ही पाया जाता है, शेष अन्य रूप नहीं है। इसी प्रकार 'चन्द्र अचन्द्र नहीं है, चन्द्र शब्द का वाच्य होने से', तथा 'आत्मा, घट आदि सकल पदार्थ कथञ्चित असत्रूप हैं, कथञ्चित अनुपलब्ध होने से' इन अनुमानों में क्रमशः साधर्म्य दृष्टान्त न होने से, सपक्षसत्त्व नहीं होगा शेष पक्षधर्मत्व और विपक्ष-व्यावृतत्व उपलब्ध होंगे एवं घट आदि भाव रूप सकल पदार्थ पक्ष में समाविष्ट हो जाने से, कोई वैधर्म्य दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होगा, इसलिये यहाँ सपक्षसत्त्व और पक्षधर्मत्व ही उपलब्ध होंगे, विपक्षव्यावृतत्व नहीं। इसी प्रकार जहाँ चन्द्रोदय से समुद्रवृद्धि का और कृतिकोदय से रोहिणी के उदय का अनुमान किया जाता है। वहाँ पक्षधर्मत्व आदि कोई भी रूप न होने पर, उक्त अनुमानों की तरह अन्यथानुपपत्ति से सम्पन्न होने के कारण, सदनुमान होते हैं। इसलिये पक्षधर्मत्व आदि रूप साध्य प्रतिपत्ति में आवश्यक नहीं जान पड़ते।[३८८] वादीभसिंह ने भी लिखा है कि अन्यथानुपपन्नत्व ही अन्तर्व्याप्ति है और जहाँ पक्ष आदि के अभाव में साध्य-साधन का अविनाभाव माना जाता है, उसका नाम ही अन्तर्व्याप्ति है। अन्तर्व्याप्ति के अभाव में मित्रातनयत्व आदि हेतुओं में पक्षधर्मत्व आदि के रहने पर भी, उनमें गमकता नहीं आती एवं कृतिकोदय आदि हेतुओं में पक्षधर्मत्व आदि के अभाव में भी केवल अन्तर्व्याप्ति के रहने के कारण हेतु गमक माना जाता है। इसलिए साध्य और साधन में अन्तर्व्याप्ति होना ही आवश्यक है। साध्यधर्मी अथवा दृष्टान्त धर्मी में उनका ग्रहण करना सारविहीन है। इस अन्तर्व्याप्ति का निश्चय विपक्ष में बाधक प्रमाण तर्क द्वारा होता है।[३८९] सिद्धसेन दिवाकर ने भी लिखा है कि जब अविनाभाव स्मरित है, तब अन्तःव्याप्ति से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। इसलिये विवक्षित धर्मी से अन्यत्र दृष्टान्त धर्मी में बहिर्व्याप्ति के रूप में उसका ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि हेतु साध्य के साथ सहचरित है। तथा जब व्याप्ति गृहीत नहीं है, तब उसका ग्रहण दृष्टान्त में होकर भी अभीष्टदायक नहीं होगा। किन्तु उक्त यह विवेचन बौद्धों के अधिक समीप है, क्योंकि इसमें पक्ष में गृहीत होने वाली व्याप्ति को ही अन्तर्व्याप्ति कहा गया है।[३९०] व्याप्ति सार्वकालिक और सार्वदेशिक ही होती है, इसलिये दृष्टान्तधर्मी में उसका ग्रहण होना संभव नहीं, क्योंकि दृष्टान्त विशेष वस्तु तक ही सीमित रहते हैं। इसलिए इन्होंने भी बौद्धों की तरह दृष्टान्त को अनावश्यक बतलाया है जिसका वर्णन आगे पञ्चम अध्याय में भली प्रकार से किया जायगा। परिणामतः जैन दार्शनिकों को अन्तर्व्याप्ति ही इष्ट जान पड़ती है, जिसका पक्ष अथवा दृष्टान्त में ग्रहण करना आवश्यक नहीं। इस तरह पक्षधर्मता के अभाव में भी अन्तर्व्याप्ति होने पर, इनके मत में अनुमान हो सकता है।[३९१]

'पात्रस्वामी समर्थित हेतु के अन्यथानुपन्नत्वरूप लक्षण का निराकरण करते हुए एवं अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए शान्तरक्षित ने लिखा है कि हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव सामान्य से है या विशेष से; विशेष से, जिज्ञासित विशेष साध्यधर्मी अथवा दृष्टान्तधर्मी में अविनाभाव का ग्रहण करना अभीष्ट है। इस प्रकार यहाँ तीन कल्प उपस्थित किये गये हैं।[३९२] प्रथम कल्प मानने पर, चाक्षुषत्व हेतु भी, शब्द में, अनित्यत्व का गमक हो जायगा, क्योंकि चाक्षुषत्व हेतु का, अनित्यत्व साध्य के साथ,

घटादि पदार्थ में, अविनाभाव देखा जाता है । इसलिये सामान्य से अविनाभाव सिद्ध हो जाने पर चाक्षुषत्व हेतु शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि करा ही सकता है। लेकिन यह सर्वजन सिद्ध है कि चाक्षुषत्व सद्हेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास है । यदि उपर्युक्त दोष के निराकरण के लिए यह कहा जाय कि हेतु का साध्य धर्मी में सद्भाव होना चाहिए, तो हेतु के त्रिरूप लक्षणों को बलात् स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के द्वारा सपक्षसत्त्व और विपक्ष-व्यावृतत्व का ग्रहण किया गया है और साध्यधर्मी में, सद्भाव मानने से पक्षधर्मत्व भी सुतरां सिद्ध हो जाता है । पात्रस्वामी ने अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु का जो संक्षिप्त लक्षण बतलाया है, वह (दिङ्नाग समर्थित) धर्मकीर्ति के संक्षिप्त लक्षण, 'पक्ष धर्मतदंशेन व्याप्तः हेतुः' के रूप में उपदर्शित हुआ है ।[३९३] अतः पात्रस्वामी की उक्त कारिका में कोई नवीनता लक्षित नहीं होती । द्वितीय पक्ष में, यदि साध्य धर्मी में हेतु के अविनाभाव का ग्रहण किया जाय, तो साध्यधर्मी में जिस प्रमाण से हेतु साध्य का अविनाभावी सिद्ध होता है, उसी प्रमाण से साध्य भी सिद्ध हो सकता है । इस प्रकार के उपपादन से हेतु का उपादान अनुपयोगी (व्यर्थ) ही सिद्ध होगा । यदि कहा जाय कि, वहाँ साध्यसिद्ध नहीं है, तो हेतु भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि साध्यधर्मी में साध्य के साथ अविनाभाविता हेतु का लक्षण है और यह अविनाभाव साध्य की असिद्धि में सिद्ध नहीं हो सकता । इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है, क्योंकि यहाँ हेतु की सिद्धि होने पर, साध्य की सिद्धि और साध्य की सिद्धि होने पर, हेतु के निश्चय की कल्पना की गई है ।[३९४] तृतीय पक्ष में दृष्टान्त धर्मी में अविनाभाव की सिद्धि मानने पर साध्य धर्मी (पक्ष) में, साध्य का ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि सर्वोपसंहार करने हेतु साध्य के साथ व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया गया है ।[३९५] पक्षधर्मत्व रूप एक लक्षण वाले हेतु के समर्थन में, साध्य सिद्धि के लिए जिस हेतु का प्रयोग किया गया है, उसका साध्य संदिग्ध न होने से वह निष्प्रयोजक है, क्योंकि हेतु का उद्भावन संदिग्ध साध्य के लिए ही किया जाता है न कि सिद्ध साध्य के लिए; कारण यह सभी लोग निश्चित रूप से जानते हैं कि भाव और अभाव रूप पदार्थ कथंचित सत् होते हैं ।[३९६] साधर्म्य दृष्टान्त रहित द्विरूप हेतु के समर्थन के लिए जो अनुमान प्रयोग ऊपर दर्शित किया गया है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पक्ष का सद्भाव दृष्टिगोचर होता है । जैसे किसी माणवक में (पुरुष) अथवा कपूर, रजतादि में भी चन्द्र शब्द का व्यवहार किया जाता है ।[३९७] यहाँ माणवक में जो चन्द्र का व्यवहार प्रदर्शित किया गया है वह चन्द्रमा की सोलह कला रूप लड़ियों से युक्त हार की उपमा के कारण भी प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि माणवक के अनेक अर्थों में से एक अर्थ, सौलह (या बीस) लड़ियों का मुक्ता हार भी है ।[३९८] वैधर्म्य दृष्टान्त के बिना द्विरूप हेतु के समर्थन में, जिस अनुमान का प्रयोग किया गया है वह भी निरर्थक है क्योंकि, उक्त अनुमान में संदिग्ध साध्य के न होने से, हेतु का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता ।[३९९] 'गर्भस्थ मैत्र पुत्र श्याम होगा, मैत्र तनय होने से',—इस अनुमान में जो त्रैरूप्य का सद्भाव बताया गया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि तत्पुत्रत्व हेतु में विपक्ष व्यावृत्ति निश्चित न होने से, वहाँ त्रैरूप्य का सद्भाव ही नहीं है । यह भी संभव है कि मैत्र का पुत्र होने पर भी, वह अश्याम हो । यहाँ ऐसा कोई बाधक प्रमाण नहीं है कि, मैत्र का पुत्र होने पर अश्यामता की उसमें सिद्धि नहीं की जा सके । तात्पर्य यह है कि श्यामत्व अथवा अश्यामत्व का हेतु तत्पुत्रत्व नहीं है, अपितु, कर्म, आहार आदि ही है ।

अतः 'जहाँ जैसा कारण का सद्भाव होगा, वहाँ उसी के अनुसार श्यामत्व या अश्यामत्व होगा। इस प्रकार तत्पुत्रत्व हेतु में विपक्ष-व्यावृत्ति संदिग्ध होने से त्रिरूप का सद्भाव नहीं हो पाता। अतः उक्त अनुमानगत 'तत्पुत्रत्व' हेतु में त्रिरूप का सद्भाव बतलाकर जिन जैन दार्शनिकों ने त्रिरूप को सदोष हेतु का लक्षण घोषित किया है, उनका उस प्रकार से बतलाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।[४००] चन्द्रमा के उदय से जो कुमुद विकास और समुद्र की वृद्धि का अनुमान किया जाता है, वह इस प्रकार से होता है—चन्द्रोदय का और कुमुद विकास तथा समुद्रवृद्धि का समान काल है, चन्द्रोदय का जो कारण है वह कुमुदबोध आदि का सहकारी कारण होता है; अतः चन्द्रोदय से साक्षात् तो स्वकारण का ही अनुमान किया जाता है, किन्तु परम्परा समानकालभावी कुमुद बोध आदि का भी अनुमान किया जाता है। इस प्रकार चन्द्रोदय से कुमुदविकास आदि का अनुमान कार्य हेतु में ही अन्तर्भावित हो जाता है। कृतिका नक्षत्र के उदय से जो रोहिणी के उदय का अनुमान किया जाता है, वह भी इस प्रकार से होता है—जो प्रभञ्जन (वायु-विशेष) कृतिका के उदय का कारण होता है, वही रोहिणी के उदय का भी कारण होता है। इस प्रकार यहाँ दोनों नक्षत्रों के उदय होने की सामग्री एक है। अतः रस से रूप के अनुमान की तरह, कृतिका के उदय से रोहिणी के उदय का अनुमान भी कार्य हेतु में सन्निविष्ट हो जाता है।[४०१] अतः एकाङ्गी आग्रह होने के कारण जैन अन्तःव्याप्ति सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

जयन्त भट्ट ने भी इस प्रश्न का विचार करते हुए लिखा है कि व्याप्ति सामान्य द्वारा ही गृहीत होती है किन्तु जब किसी जिज्ञासित धर्म विशिष्ट धर्मी के साथ वह सम्बद्ध होती है तब उसको अन्तः व्याप्ति कहा जाता है। जैसे, पर्वत में अग्नि का अनुमान पर्वत से अतिरिक्त वन आदि में साध्य साधन की व्याप्ति को गृहीत करने के पश्चात् उसके आधार पर किया जाता है तो वह बहिर्व्याप्ति एवं कुछ काल कवलित हो जाने के पश्चात् जब व्याप्ति का ग्रहण उसी वन में किया जाय तो वह अन्तः व्याप्ति कहलायेगी। इस प्रकार साध्य धर्मी (पक्ष) तथा दृष्टान्त धर्मी दोनों में व्याप्ति का ग्रहण किया जा सकता है।[४०२] यही मत समीचीन जान पड़ता है।

व्याप्ति के भेद

अन्वय-व्यतिरेक, दैशिक-कालिक, सम-विषम, सामान्य-विशेष, अन्तर्व्याप्ति-बहिर्व्याप्ति-साकल्य, सह-क्रम-भाव आदि अनेक व्याप्ति भेद दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन सबको इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति

ऐतिहासिक दृष्टि से महर्षि गौतम के द्विविध-साधर्म्य तथा वैधर्म्य उदाहरण विवेचन में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्तियाँ निहित हैं।[४०३] वात्स्यायन ने इन सूत्रों की व्याख्या में साध्य-साधनभाव तथा साध्याभाव-साधनाभाव रूप में इन व्याप्तियों को स्पष्टतः अंकित किया है।[४०४] उद्योतकर ने वीत और अवीत हेतु विवेचन में उक्त दोनों व्याप्तियों का विन्यास किया है।[४०५] वाचस्पति मिश्र[४०६] तथा जयन्त भट्ट[४०७] की उदाहरणसूत्र की टीकाओं में भी वात्स्यायन का समर्थन किया गया है। तात्पर्य यह है कि साधन के सद्भाव में जहाँ साध्य का सद्भाव नियमित रूप से पाया जाता हो, उसे अन्वय व्याप्ति तथा साध्य के अभाव में जहाँ साधन का अभाव नियमतः उपलब्ध

होता है, वहाँ व्यतिरेक व्याप्ति होती है। जैसे जो-जो कृतक होता है, वह-वह अनित्य होता है' तथा जो-जो अनित्य नहीं होता, वह-वह कृतक भी नहीं होता। वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि साधर्म्य अर्थात् अन्वय के कथन से ही वैधर्म्य अर्थात् व्यतिरेक की भी सिद्धि हो जाती है। अतः ऋजुमार्ग का अनुसरण करते हुए जब प्रथम से ही अर्थ निश्चय हो जाता है तब उसके लिए वक्र एवं कठिन मार्ग का अवलम्बन लेना अनावश्यक है।[४०८] कहा भी गया है—'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्'—अर्क में ही जब शहद की प्राप्ति हो जाय, तो उसकी प्राप्ति के लिए पर्वत पर जाना निष्प्रयोजक है। वाचस्पति मिश्र का समर्थन करते हुए जयन्त भट्ट ने भी लिखा है कि एक ही व्याप्ति का प्रदर्शन होने पर अन्य का भी कार्य निष्पादित हो सकता है, किन्तु व्याप्ति सौष्ठव के प्रदर्शन के लिए दोनों व्याप्तियों का प्रयोग किया जाता है।[४०९] भासर्वज्ञ ने भी अन्वय-व्यतिरेक भेद से व्याप्ति दो प्रकार की मानी है। साध्य सामान्य के साथ साधन सामान्य की व्याप्ति अन्वय व्याप्ति तथा साधन सामान्य के अभाव के साथ साध्य सामान्य के अभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक व्याप्ति कहा जाता है।[४१०] नव्य न्याय की शब्दावली में 'हेतु-समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्य' को अन्वय व्याप्ति कहते हैं, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। गङ्गेश के अनुसार व्यतिरेक व्याप्ति का लक्षण इस प्रकार है 'साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वम्'—अर्थात् साध्याभाव के व्यापक अभाव के प्रतियोगित्व को ही व्यतिरेक व्याप्ति कहा जाता है। जैसे, 'जहाँ वह्नि का अभाव पाया जाता है, वहाँ धूम का भी अभाव पाया जाता जाता है' इस नियम से, वह्नि का अभाव व्याप्य तथा धूम का अभाव व्यापक होता है, इसलिये साध्य वह्नि के अभाव के व्यापक हेतु के अभाव का प्रतियोगी होना ही व्यतिरेक व्याप्ति है।[४११] उत्तरवर्ती प्रायः सभी नैयायिकों ने गङ्गेश का समर्थन किया है। महर्षि कणाद के 'कारण गुण पुर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' तथा 'कारणाभावात्कार्याभावः' इन सूत्रों में दोनों अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति निहित है।[४१२] प्रशस्तपाद ने यद्यपि अन्वयव्यतिरेक भेद से व्याप्ति के भेद प्रतिपादित नहीं किये हैं, किन्तु उनके 'विधि' पद के विवेचन से यही दोनों व्याप्तियाँ अभिप्रेत हैं।[४१३] व्योमशिवाचार्य, उदयनाचार्य तभा श्रीधर की व्याख्याओं में भी यही बात कही गयी है।[४१४] मीमांसक भाट्ट कुमारिल ने व्याप्य-व्यापकभाव निर्णय के लिये दोनों व्याप्तियों का समर्थन बड़े व्यापक रूप से किया है, जिसका विवेचन मीमांसा-व्याप्ति -लक्षण के प्रसङ्ग के पूर्व में किया जा चुका है एवं उत्तरवर्ती सभी भाट्ट मीमांसकों ने इसका समर्थन किया है।[४१५] किन्तु प्रभाकर मत संपादित करते हुए शालिकनाथ ने अन्वय व्याप्ति को ही प्रयोजक माना है। व्यतिरेक व्याप्ति अन्वय व्याप्ति को स्वीकार लेने पर अपने आप सिद्ध हो जाती है। यह सिद्धान्त उनके उदाहरण विवेचन में पूर्णतः प्रतिफलित हुआ है।[४१६] साख्यतत्त्वकौमुदीकार के वीत और अवीत अनुमान भेदों में भी ये दोनों व्याप्तियां सूचित की गयी हैं।[४१७] योगभाष्यकार के अनुमान-विवेचन-निष्ठ सम्बन्ध की व्याख्या में इन व्याप्तियों का निर्देशन अभीप्सित है।[४१८] बौद्ध दर्शन में भी धर्मकीर्ति एवं उनके टीकाकार कर्णकगोमि, मनोरथनन्दी, धर्मोत्तर आदि ने इन व्याप्तियों का विशद विवेचन किया है।[४१९] जैन दार्शनिक सिद्ध-सेन दिवाकर ने तथोपपत्तिमूलक तथा अन्यथानुपपत्तिमूलक हेतु की व्याख्या में तथोपपत्ति तथा अन्यथानुपपत्ति के रूप में अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियों की ही स्थापना की है,[४२०] जिसका समर्थन सिद्धर्षिगणि एवं प्रभाचन्द दोनों ने किया है।[४२१] व्याप्तिग्राहक साधन

'तर्क' की व्याख्या करते हुए माणिक्यनन्दी, वादि देवसूरि, धर्मभूषण, यशोविजय आदि ने भी अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियों की चर्चा की है।[४२२] हेमचन्द्र ने भी 'हेतु-बिन्दु-टीका'[४२३] से एक श्लोक उद्धृत करते हुए इन्हीं दोनों व्याप्तियों का उपन्यास किया है।[४२४]

इस प्रकार महर्षि कणाद और गौतम के सूत्रों में बीज रूप से ये दोनों व्याप्तियां पायी जाती हैं। व्यास, वात्स्यायन एवं पशस्तपाद ने इन्हीं विचारों को पल्लवित एवं विकसित किया है, किन्तु इन्हें ठोस, सूक्ष्म एवं परिष्कृत लक्षण प्रदान करने का श्रेय कुमारिल भट्ट को ही दिया जा सकता है, जिसका समर्थन उत्तरवर्ती प्रायः सभी दार्शनिक कृतियों में पाया जाता है। नव्य न्याय में भी इन्हीं लक्षणों का चरम परिष्कार प्रस्फुटित हुआ है।

(२) दैशिक-कालिक व्याप्ति

वैशेषिक व्याप्ति विवेचन में इन दोनों व्याप्तियों का विवेचन किया जा चुका है। प्रशस्तपाद[४२५] और उनके टीकाकारों ने,[४२६] इन दोनों व्याप्तियों को विभिन्न उदाहरणों द्वारा समझाया है, किन्तु यह दोनों व्याप्तियां भाष्यकार एवं उनके व्याख्याताओं तक ही सीमित रहीं, अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में इस भेद को प्रश्रय नहीं मिल सका। फिर भी जैन दार्शनिकों के सह-क्रमभाव में, शब्दान्तर से यही भेद प्रस्फुटित हुआ जान पड़ता है।

(३) सम-विषय व्याप्ति

जब साध्य और साधन के नियत साहचर्य को अन्वय-व्यतिरेक द्वारा समान रूप में प्रकट किया जा सकता हो, तब उन व्याप्य-व्यापक में समव्याप्ति पायी जाती है। इसके विपरीत जहाँ व्याप्य-व्यापक में इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक न पाया जाय, वहाँ विषम व्याप्ति होती है। दोनों स्थलों में व्याप्ति हेतु में ही रहती है, इसलिये हेतु को व्याप्य या गमक एवं साध्य को व्यापक या गम्य कहा जाता है। कुमारिल के व्याप्य व्यापक भाव के विवेचन[४२७] में तथा सांख्य व्याप्ति विवेचन[४२८] में इन व्याप्तियों पर विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। अन्य दार्शनिकों ने इस प्रसङ्ग में कुमारिल का ही अनुगमन किया है।

(४) सामान्य-विशेष व्याप्ति

जब दो सामान्य पदार्थों में व्याप्ति उपलब्ध हो, तो उसे सामान्य व्याप्ति तथा विशेष पदार्थों में व्याप्ति गृहीत होने पर उसे विशेष व्याप्ति कहा जाता है। इसका विवेचन भाट्ट मिमांसा व्याप्ति ग्रहण साधनों के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। अनुमान द्वारा सामान्य वस्तुओं का ही ग्रहण होता है, विशेष वस्तुओं का नहीं,[४२९] इसलिये बौद्ध सामान्य विषयों में ही व्याप्ति मानते हैं, विशेष वस्तुओं में नहीं।[४३०] किन्तु यह मत एकाङ्गी होने के कारण न्यायसंगत नहीं जान पड़ता इसीलिये उद्योतकर[४३१] और वाचस्पति मिश्र[४३२] एवं कुमारिल भट्ट[४३३] और उनके टीकाकारों[४३४] ने बौद्धों के इस अभ्युपगम को सारहीन बतलाते करते हुए विशेष पदार्थों में भी व्याप्ति-ग्रहण सिद्ध किया है। वस्तुस्थिति को देखते हुए दोनों में व्याप्ति मानना ही युक्तिपूर्ण दिखाई देता है। बाकी सभी दार्शनिकों को न्याय-मीमांसा सिद्धांत को मान्य किया है।

(५) अतः, बहिः एवं साकल्य व्याप्ति

जब पक्ष में व्याप्य-व्यापक-भाव को नियत रूप से ग्रहण किया जाता है तो उसे अन्तर्व्याप्ति कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत्' इस अनुमान में पर्वत में ही धूम और वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण करके अनुमान किया जाये, तो वह अन्तर्व्याप्ति कहलाती है। किन्तु जैन दार्शनिक वादीभसिंह ने व्याप्ति के नियत रूप से ग्रहण होने को ही अन्तर्व्याप्ति कहा है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि व्याप्ति पक्ष अथवा सपक्ष में ग्रहण की जाये [४३५] किन्तु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि व्याप्ति को कहीं न कहीं ग्रहण करना अपरिहार्य है। जहाँ पर सपक्ष में व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है उसे बहिर्व्याप्ति कहा जाता है। जैसे, प्रकृत अनुमान में धूम और आग के नियत व्याप्ति सम्बन्ध को महानस आदिसपक्ष में गृहीत कर जो अनुमान किया जाता है उसे बहिर्व्याप्ति द्वारा गृहीत अनुमान कहते हैं। जहाँ पक्ष और सपक्ष दोनों में व्याप्ति गृहीत करके अनुमान किया जाये उसे साकल्य व्याप्ति कहा जाता है। व्याप्ति-ग्रहण-स्थल निरूपण में प्रथम दोनों व्याप्तियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है एवं अन्तिम व्याप्ति प्रथम दोनों का सम्मिलित योग ही है। डा० महेन्द्रकुमार जैन ने तीनों व्याप्तियों का निर्देश किया है।[४३६]

(६) सह-क्रम व्याप्ति

इन व्याप्तियों का विवेचन माणिक्यनन्दी से लेकर यशोविजय तक प्रायः सभी जैन ग्रन्थों में पाया जाता है। जैन-व्याप्ति लक्षण निरूपण के प्रसङ्ग में इन दोनों पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। वैशेषिक दैशिक तथा कालिक व्याप्तियों की तरह यह भेद भी जैन दर्शन तक ही सीमित रहा है, अन्य दार्शनिकों की कृतियों में यह भेद प्रायः उपलब्ध नहीं होता।

सारांशतः व्याप्य-व्यापक की विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही उक्त सभी भेद ज्ञापित किये गये हैं। जैसे, व्याप्य-व्यापक के, सद्भाव और असद्भाव होने पर अन्वय-व्यतिरेक; इनकी दैशिक और कालिक सम्बन्धों से विशिष्ट उपलब्धि होने पर, दैशिक-कालिक; सम और विषम स्थलों में प्रयुक्त होने पर, सम-विषम; सामान्य और विशेष पदार्थों में तथा पक्ष, सपक्ष या दोनों में व्याप्ति गृहीत होने पर, सामान्य-विशेष तथा अन्तः बहिः एवं सकलः एवं सहभाव और क्रम भाव की प्रसक्ति होने पर सहक्रम व्याप्ति भेद प्रचिलित हुए हैं।

पक्ष धर्मता मनोवैज्ञानिक आधार

अनुमान के एक आधार स्तम्भ व्याप्तिज्ञान द्वारा साध्य और साधन की परस्पर नियत सम्बद्धता का निरूपण किया जा चुका है। किन्तु 'पर्वतोअग्निमान् धूमात्' इस अनुमान में व्याप्ति ज्ञान द्वारा केवल इतना ही बोध हो पाता है कि, 'जहाँ-जहाँ साधन धूम रहता है, वहाँ-वहाँ साध्य अग्नि भी पायी जाती है' अथवा 'साध्य अग्नि के अभाव वाले स्थलों में साधन धूम का अभाव भी नियमित रूप से ज्ञात होता है। केवल इसी ज्ञान के अवलम्बन पर 'पर्वत अग्नि युक्त है' यह निगमन निगमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह ज्ञान न हो जाय कि 'पर्वत पर धूम उठ रहा है' तब तक साधन धूम द्वारा साध्य अग्नि के अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पर्वत पर अग्नि की सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि, वहाँ अग्नि सूचक

धूम की सत्ता भी अनिवार्यतः ज्ञात रहे। यदि पर्वत पर धूम न दिखाई दे तो व्याप्ति ज्ञान होने पर भी अग्नि के सम्बन्ध में कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता। यही नहीं, धूम दर्शन के पश्चात् ही व्याप्ति ज्ञान का स्मरण होता है। इसलिए पक्ष पर्वत तथा साधन धूम के पारस्परिक सामञ्जस्य स्थापन के लिए, पक्षधर्मता ज्ञान की भी अनुमिति ज्ञान में आवश्कता प्रतीत होती है। कहा भी गया है, 'साध्य अग्नि की पक्षधर्मता हेतु धूम की पक्षधर्मता के आधार पर सिद्ध होती है।' व्याप्ति ज्ञान द्वारा साध्य सामान्य का ही निश्चय किया जाता है, किन्तु पक्षधर्मता ज्ञान के आधार पर साध्य के पक्षसम्बद्धता रूप विशेष की सिद्धि की जाती है अर्थात् पक्ष धर्म, पर्वत में रहने वाले धूम, से अग्नि भी पर्वत सम्बद्ध हो अनुमित होती है अन्यथा पक्षधर्मता ज्ञान के अभाव में साध्य सामान्य की व्याप्ति ग्रहण आदि से सिद्धि हो जाने पर अनुमान की आवश्यकता ही प्रतीत न होती।[४३७] पक्षधर्मता का अर्थ है पक्ष रूप आश्रय विशेष में व्याप्य अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट हेतु का विद्यमान रहना।[४३८] तात्पर्य यह कि हेतु स्वरूपतः साध्य निश्चय में प्रयोजक नहीं है प्रत्युत् साध्य के साथ नियमित रूप से सहचरित होने पर ही वह उपयोगी हो सकता है। इसलिए साध्य-साधन की व्याप्ति का निरूपण होने के पश्चात् ही व्याप्ति-विशिष्ट हेतु की पक्ष में विद्यमानता प्रदर्शित करने के लिए पक्षधर्मता का विवेचन किया जाता है।[४३९] न्याय-वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों के सम्मिश्रण से जो विशिष्ट लिङ्ग परामर्श ज्ञान उत्पन्न होता है, वही पक्षधर्मता के रूप में व्यवहृत किया जाता है। अन्य दार्शनिक जिन्होंने लिङ्ग परामर्शात्मक ज्ञान को अनुमिति का चरम कारण नहीं माना है उन्होंने भी व्याप्ति स्मरण अथवा व्याप्तिसंस्कार को जाग्रत करने के लिए पर्वत पर धूम दर्शन को अर्थात् पर्वत रूप पक्ष में धूम हेतु की वृत्तिता प्रदर्शित करने के लिए पक्षधर्मता ज्ञान को आवश्यक माना है। जिस प्रकार साध्य-साधन के नियत साहचर्य पर अनुमान का प्रामाण्य अवलम्बित है, उसी प्रकार अनुमिति ज्ञान की संभावना के लिए पक्ष में हेतु की उपस्थिति रूप पक्षधर्मता ज्ञान भी आवश्यक है। डा० एस० सी० चटर्जी ने भी कहा है, 'अनुमान की, प्रामाणिकता व्याप्ति ज्ञान पर और सम्भावना पक्षता (पक्षधर्मता ज्ञान) पर निर्भर है, क्योंकि अनुमान वहीं निष्पन्न हो सकता है, जहाँ कोई पक्ष विद्यमान हो और वह तभी प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है, जब कि वह हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध पर आश्रित हो। अतः व्याप्तिज्ञान अनुमान का तार्किक आधार है और पक्षता (पक्षधर्मता ज्ञान) मनोवैज्ञानिक आधार।"[४४०]

जैन दार्शनिकों के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिकों ने, हेतु में पक्षधर्मत्व की विद्यमानता को आवश्यक एवं अनिवार्य बतलाया है। साध्य-निश्चय के लिए, पक्ष प्रयोग की उपयोगिता को अपरिहार्य बतलाते हुए भी, जैन दार्शनिकों ने जो पक्षधर्मत्व की आलोचना की है, वह विस्मयकारक ही प्रतीत होती है। उनके अनुसार केवल अविनाभाव के अवलम्बन पर ही हेतु अपने साध्य का निश्चायक हो सकता है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि पक्षधर्मता के अभाव में, हेतु में अविनाभाव रहने पर भी अनुमिति नहीं हो सकती। जैसे, 'जलाशय अग्नियुक्त है, धूम होने से' इस अनुमान में हेतु धूम में साध्य अग्नि की, 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी होती है' तथा 'जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं पायी जाती, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं पाया जाता' इत्याकारक नियत व्याप्ति उपलब्ध होने पर भी, हेतु धूम, पक्ष जलाशय का धर्म न होने के नाते सद्हेतु नहीं, प्रत्युत

स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही कहलाता है। अतः व्याप्ति के साथ-साथ पक्षधर्मता को भी आवश्यक रूप से मानना अनिवार्य है। इस अध्याय के व्याप्ति-ग्रहण-स्थल निरूपण तथा द्वितीय अध्याय के हेतु-रूप-प्रकरण के प्रसङ्ग में पक्षधर्मता की आवश्यकता पर यथेष्ट विचार-विमर्श किया गया है। इसी प्रकार उक्त युक्तियों के आधार पर, 'खण्डनखण्डखाद्य'[४४१] तथा 'तत्त्वप्रदीपिका'[४४२] में जो पक्षधर्मता का खण्डन किया गया है, वह भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थ केवल खण्डन-मण्डन की परिधि में ही परिवेष्ठित होने के कारण विषय-निर्वचन के प्रसङ्ग में सुषिर जान पड़ते हैं। वेदान्त परिभाषा[४४३] तथा उनके टीकाकारों[४४४] ने न्याय-मीमांसा दार्शनिकों की भांति व्याप्ति संस्कार के उद्‌बोध के लिए पक्षधर्मता की उपादेयता को आवश्यक बतलाया है।

पक्षता

इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान की तरह पक्षधर्मता को भी प्रायः सभी दार्शनिकों ने अनुमान के लिए उपयोगी व आवश्यक माना है। किन्तु पक्षधर्मता को समझने के लिए पक्ष को समझना परमावश्यक है। ज्ञानों के केवल विशेष्य होने से ही कोई आश्रय, पक्ष नहीं कहलाता, अपितु विशेष प्रकार के विशेष्य को ही पक्ष कहा जाता है। पक्ष का यह विशेष प्रकार ही पक्षता शब्द से न्याय शास्त्र के ग्रन्थों में प्रयुक्त किया जाता है। फलतः पक्ष में रहने वाला विशेष धर्म ही पक्षता है। यह विशेष धर्म, किसी के मत में 'साध्यसंशय' रूप है, अन्य विद्वानों के अनुसार 'संशय योग्यता' रूप है, कुछ के मतानुसार अनुमित्सा योग्यता' है, किसी के अनुसार सिद्धयभाव रूप है और तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश के अनुसार सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धयभाव रूप है। यहाँ इस प्रकार की शंका होना स्वाभाविक है कि, ये सभी पक्ष के असाधारण धर्म किस प्रकार हो सकते हैं ? क्योंकि ज्ञान रूप होने के कारण प्रायः सभी स्वभावतः आत्मा के ही धर्म हो सकते हैं। इसका समाधान यह है कि ज्ञान आदि जितने भी धर्म हैं, वे सभी यद्यपि समवाय सम्बन्ध से, आत्मा में रहते हैं, फिर भी अपने-अपने विषयों के साथ भी उनका कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहता है। उक्त 'साध्य संशय' और 'सिद्धयभाव' रूप पक्षता दोनों की पक्षवृत्तिता समझने से यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। जैसे, 'साध्यसंशय' शब्द से प्रकृत में पक्ष-विशेष्यक साध्यप्रकारक तथा साध्याभाव प्रकारक संशय ही अभिप्रेत है। यह संशय जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से आत्मा में विद्यमान है, उसी प्रकार विषयता सम्बन्ध से, अपने विषयों में भी रहता है। इस प्रकार प्रकारता, विषयता सम्बन्ध से साध्य तथा साध्याभाव रूप प्रकारों में, तथा विशेष्यता, विषयता सम्बन्ध से विशेष्य में रहती है। अतः विशेष्यता रूप विषयता सम्बन्ध से, उक्त संशय भी पक्ष में रहने वाला धर्म हो सकता है। इसी रीति से अनुमित्सा आदि भी समझी जा सकती है। पक्ष-विशेष्यक साध्य-प्रकारक निश्चय को सिद्धि कहा जाता है; और इस सिद्धि के अभाव को ही पक्षता। यह सिद्धि समवाय सम्बन्ध से जिस प्रकार आत्मा में रहती है, उसी प्रकार विशेष्यता सम्बन्ध से पक्ष में भी रहती है। जिस क्षण में समवाय सम्बन्ध से आत्मा में सिद्धि का अभाव रहता है, उस क्षण में विशेष्यता सम्बन्ध से पक्ष में भी सिद्धि का अभाव ही रहेगा। परिणामस्वरूप उस क्षण में सिद्धि का अभाव विशेष्यता सम्बन्ध से पक्ष का धर्म हो सकता है। इसीलिये सिद्धयभाव को पक्षता रूप से अन्वित किया गया है।

पक्षता की उपयोगिता

बौद्धों को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान को त्रिक्षणिक माना है। प्रथम क्षण में ज्ञान उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में उसकी स्थिति होकर तृतीय क्षण में उसका विनाश हो जाता है। परामर्शात्मक ज्ञान को प्रायः सभी नैयायिकों ने अनुमिति का चरम कारण माना है, अतः परामर्श ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् अनुमिति के लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। एक प्रकार का ज्ञान होने के नाते परामर्श भी द्विक्षण स्थायी होगा। ऐसी स्थिति में एक शंका उपस्थित होती है कि परामर्श, अपने प्रथम उत्पत्ति क्षण के अव्यवहित द्वितीय उत्तर क्षण में, जिस आकार-प्रकार की अनुमिति को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार, उस अनुमिति के अगले क्षण में भी, उसी विषय की, उसी आकार-प्रकार की, दूसरी अनुमिति को वह उत्पन्न क्यों नहीं करता? क्योंकि कथित द्वितीय अनुमिति के अव्यवहित पूर्व क्षण में अर्थात् प्रथम अनुमिति के उत्पत्ति क्षण में परामर्श की सत्ता रहती ही है, परन्तु अनुमान वादी प्रायः सभी दार्शनिक, (चाहे वे परामर्श को अनुमितिकरण मानते हों अथवा नहीं) एक प्रकार की अनुमिति के विद्यमान रहते हुए, उसी आकार प्रकार की द्वितीय अनुमिति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, पर किसी की स्वीकृति अथवा प्रतिषेध मात्र के आधार पर किसी वस्तु की सामर्थ्य को अन्यथा नहीं समझा जा सकता। अतः इस आपत्ति—'एक अनुमिति का निश्चय रहते हुए, परामर्श ज्ञान के रहने पर भी दूसरी अनुमिति उत्पादित न हो सके' का वारण करने के लिए परामर्श के समान अनुमिति का एक और भी साक्षात् कारण माना जाता है, जिसे पक्षता कहा जाता है। पक्षता का स्वरूप या लक्षण इस प्रकार से निश्चित किया जाना चाहिए कि एक अनुमिति अथवा अन्य किसी प्रकार की सिद्धि के रहने पर, दूसरी अनुमिति की आपत्ति न दी जा सके। इसी प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए गङ्गेश ने कुछ पक्षता लक्षणों को पूर्वपक्ष में वर्णित कर उनका खण्डन करते हुए अपना सिद्धान्त लक्षण प्रतिपादित किया है। उनके सिद्धान्त लक्षण को परिष्कृत करते हुए पक्षधर मिश्र, सार्वभौम तथा यज्ञोपति उपाध्याय ने अपने-अपने लक्षणों की सर्जना की है, जिनका खण्डन-मण्डन दीधितिकार तथा उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया है। गङ्गेश-पूर्व न्याय ग्रन्थों में पक्षता का साङ्गोपाङ्ग निरूपण उपलब्ध नहीं होता फिर भी उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार पक्ष के स्वरूप अथवा लक्षण को निर्धारित करने का प्रयास किया है, जिसका विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है।

पक्षता-लक्षण

पक्षता के लक्षणों को समझने के पूर्व सिद्धि, प्रतिबन्धकता तथा अनुमित्सा आदि पदों का ज्ञान होना आवश्यक है। सिद्धि का अर्थ है साध्य-निश्चय। 'पर्वतो अग्निमान्' इस अनुमान में साध्य अग्नि का निश्चय यदि प्रत्यक्षतः पूर्व ही ज्ञात हो जाय, तो उक्त आकार की अनुमिति नहीं होती, क्योंकि पक्ष में होने वाले साध्य निश्चय को ही अनुमिति कहा जाता है और साध्य का ज्ञान यदि प्रत्यक्षात्मक रूप से अवगम हो जाय तो पक्ष में होने वाले साध्य निश्चय रूप अनुमिति ज्ञान की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। इसीलिए अनुमिति मात्र के प्रति सिद्धि प्रतिबन्धक मानी गयी है। कारण सामग्री के समवधान होने पर भी, जिसके सानिध्य से कार्य का अभाव अर्थात् निश्चय न हो पाता हो, उसे प्रतिबन्धक कहा जाता है। प्रतिबन्धक की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है—

'कारणीभूताभाव प्रतियोगित्वम्' तथा 'प्रयोजकीभूताभाव-प्रतियोगित्वम्'। 'ह्रदो वह्निमान्'—'जलाशय अग्नियुक्त है' इस अनुमित के प्रति 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' यह बाध निश्चय प्रतिबन्धक होने के कारण बाधनिश्चयाभाव इस अनुमिति के प्रति कारण माना जाता है। अतः कारणीभूत अभाव पद से यहाँ बाधनिश्चयाभाव ही अभिप्रेत है और बाधनिश्चयाभाव का प्रतियोगी बाध निश्चय होने से प्रथम लक्षण बाधनिश्चय में समन्वित हो जाता है। द्वितीय लक्षण का समन्वय चन्द्रकान्तमणि आदि में किया जा सकता है। जैसे, दाह के प्रति चन्द्रकान्तमणि प्रतिबन्धक है। चन्द्रकान्तमणि का अभाव, दाह के प्रति कारण नहीं अपितु प्रयोजक ही है। जो साक्षात् कारण न होने पर भी परम्परया कारण हो, उसे प्रयोजक कहा जाता है। प्रयोजकीभूत अभाव 'चन्द्रकान्तमणि का अभाव' होने पर, अग्नि में दाहकत्व शक्ति जाग्रत होती है और तब दाह रूप कार्य सम्पन्न होता है। इस तरह दाह के प्रति चन्द्रकान्तमणि का अभाव परम्परीय कारण है, साक्षात् कारण नहीं। इस अभाव का प्रतियोगी चन्द्रकान्तमणि का समवधान होगा, जिसके होने पर दाह रूप कार्य निष्पन्न नहीं हो सकता, अतः यह लक्षण चन्द्रकान्तमणि में समन्वित हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृत स्थल में सिद्धि भी प्रतिबन्धक मानी जाती है। यह प्रतिबन्धक कारणीभूताभाव प्रतियोगित्व रूप है। अनुमित्यात्मक साध्यनिश्चय परोक्षात्मक होता है और सिद्धि रूप साध्य निश्चय अपरोक्षात्मक। साध्यनिश्चय दोनों में समान है, अतः सिद्धि के रहने पर एक बात और भी आवश्यक है जिसे अनुमित्सा, सिषाधयिषा अथवा अनुमिति-इच्छा कहा जाता है। अनुमित्सा को उत्तेजक माना जाता है 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में साध्य वह्नि का निश्चय प्रतिबन्धक तथा उसका अभाव (सिद्ध्यभाव) कारण होता है। सिद्धि रहने पर भी यदि 'पर्वते वह्न्यनुमितिर्जायताम्'—'पर्वत में वह्नि की अनुमिति हो' ऐसी सिषाधयिषा उत्पन्न हो जाय, तो 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति अवश्य होगी, क्योंकि सिषाधयिषा वहाँ उत्तेजक के रूप में विद्यमान है। इसीलिये सिषाधयिषा का उपादान उत्तेजक के रूप में किया जाता है। प्रतिबन्धक रहने पर भी जिसके सानिध्य से कार्य पुनः उत्पन्न होता है उसे उत्तेजक कहा जाता है। जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि स्वरूप प्रतिबन्धक होने पर भी यदि वहाँ सूर्यकान्तमणि रख दी जाय, तो वहाँ उत्तेजक का समवधान होने के कारण दाह रूप कार्य सम्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में सिद्धि रूप प्रतिबन्धक विद्यमान रहने पर भी, यदि अनुमित्सा रूप उत्तेजक वहाँ उपस्थित हो जाय, तो कार्य-अनुमिति अवश्य निष्पन्न हो जाती है।

साध्य संशय

इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए कुछ प्राचीन नैयायिकों ने साध्य संदेह को पक्षता माना है। न्याय भाष्यकार ने लिखा है—"सर्वथा अज्ञात तथा निश्चित अर्थ में न्याय (अर्थात् अनुमान) की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु संदिग्ध विषय में ही होती है।'[४४५]" संभवतः भाष्यकार के इसी मत को प्रस्थापित करने के लिए गङ्गेश ने 'संदिग्ध साध्य-धर्मत्वंपक्षत्वम्' इस लक्षण का उल्लेख किया हो।[४४६] व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार संदेह विषयीभूत साध्य अधिकरणता को पक्षता कहा जा सकता है। 'गङ्गा टीका' में इस लक्षण को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"जिस विशेष्य में संदिग्ध साध्य धर्म अर्थात् संशयविषयताविशिष्ट साध्य धर्म रहता है, उस विशेष्य में रहने वाले धर्म को पक्षता कहा

जाता है।"[४४७] इस लक्षण की समीक्षा करते हुए जागदीशीकार ने लिखा है कि, 'साध्य-
संदेह' रूप पक्षता लक्षण में प्रयुक्त 'साध्यसंदेह' पद का वास्तविक अर्थ क्या है? यदि
इसको साध्य-प्रकारक-संदेह माना जाय, तो पर्वत में साध्य अग्नि है या नहीं, यह संशय
पक्षता नहीं बन पायगा, क्योंकि यहाँ प्रकार पर्वत ही है। उक्त लक्षण के अनुसार पक्षता
यहाँ भी अभीष्ट है, किन्तु लक्षण उसमें घटित न होने के कारण अव्याप्ति होगी, इसके
वारण के लिये साध्य संदेह का ऐसा अर्थ कि, 'पक्ष' संदेह' अथवा साध्य संदेह दोनों में से
किसी का भी संदेह' ग्रहण किया जाय, तो भी युक्त नहीं, कारण, ऐसा लक्षण मानने पर
अग्नि पर्वतनिष्ठ अभाव की प्रतियोगिनी है अथवा नहीं' इत्याकारक संशय को पक्षता नहीं
बनाया जा सकता, क्योंकि यहाँ न तो पक्ष संदेह है और न साध्य का संशय ही। दूसरी बात
यह भी है कि यहाँ प्रतियोगिता का संशय ही वह्नि में हो रहा है वह्नि अर्थात् साध्य का
संशय नहीं। किन्तु उक्त लक्षण के अनुसार पक्षता यहाँ भी मानी ज्ञा सकती है, पर
लक्षण उसमें समन्वित नहीं होता, अतः अव्याप्ति होगी। इन अव्याप्तियों के अतिरिक्त
साध्य संदेह' को पक्षता मानने से 'ह्रदो वह्निमान्' इत्यादि स्थलों में भी अव्याप्ति होगी,
क्योंकि वहाँ संदेह विषयीभूत वह्नि आदि रूप साध्य अधिकरणता प्रसिद्ध नहीं है।[४४८]
अतः इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को छोड़कर समान विषयक प्रतिबन्धकता को स्वीकार
करते हुए उक्त लक्षण को अन्य लक्षण द्वारा अंकित किया जा सकता है—'जिस सम्बन्ध
द्वारा साध्य के अवगाही निश्चय से संशय में प्रतिबध्यता स्वीकार की जाती है, वह संशय
उसी सम्बन्ध में साध्य की अनुमिति में पक्षता माना जाता है।[४४९] दीधितिकार
के इस लक्षण का परिष्कार करते हुए जागदीशीकार ने लिखा है कि, जिस
धर्मी में, जिस सम्बन्ध द्वारा, जिस साध्य के निश्चय से, जिस संशय के प्रति
प्रतिबध्यता है, वह संशय, उस धर्मी में, उस सम्बन्ध से उस साध्य की अनुमिति
में, कारणीभूत पक्षता कहा जाता है।[४५०] इस लक्षण को स्वीकार कर लेने
पर उक्त 'पक्षसाध्य अन्यतरकोटिकसाध्यसंदेह' का ग्रहण नहीं किया जा सकता,
क्योंकि इस लक्षण द्वारा पक्ष-विशेष्यक साध्य-प्रकारक साध्य संदेह का ही निश्चित
रूप से ग्रहण होता है, पक्षसंदेह का नहीं। शेष दोनों में लक्षण का समन्वय इस
प्रकार होगा—प्रथम 'पर्वतो वह्निमान्नवा' इत्याकारक संशय को लेकर लक्षण समन्वय
इस प्रकार किया जा सकता है—'यद्धर्मिक'—पर्वतधर्मिक; 'यत्सम्बन्धावच्छिन्न' संयोग
सम्बन्ध से अवच्छिन्न; 'यत्प्रकारक निश्चयत्वेन'—साध्य वह्नि प्रकारक निश्चय से
'पर्वतोवह्निमान्' इस निश्चय को; 'यत्संशयप्रति'—'पर्वतो वह्निमान्नवा' इस संशय
के प्रति; 'निर्वत्तकत्व'—प्रतिबन्धकता है; 'स-संदेहः;—वह संशय; 'तत्पक्षक'—
पर्वतपक्षक; 'तत्सम्बन्धावच्छिन्न'—संयोग सम्बन्ध विशिष्ट; 'तत्विधेयकानुमितौ'—
वह्नि रूप साध्य की अनुमिति में; 'हेतुभूता'—कारणीभूत पक्षता है। इस प्रकार पर्वत
धर्मिक, संयोग सम्बन्ध से युक्त साध्य वह्नि प्रकारक निश्चय से, पर्वत अग्नियुक्त है इस
निश्चय को, 'पर्वत अग्नियुक्त है या नहीं' इत्याकारक संशय के प्रति प्रतिबन्धकता है,
इसलिए वह संशय पर्वत पक्षक संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न—साध्य वह्नि की अनुमिति
में कारणीभूत पक्षता बन जाता है। अतः 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में 'पर्वतो
वह्निमान्नवा' (अथवा पर्वते वह्निर्नवा) इत्यादि संशय में पक्षता लक्षण उपपन्न हो सकता
है। इसी प्रकार द्वितीय 'ह्रदो वह्निमान्' इस स्थल निष्ठ 'ह्रदो वह्निमान्नवा' इत्यादि
संशयों में भी लक्षण समन्वित हो सकता है, क्योंकि 'ह्रदो वह्निमान्' इत्याकारक जो पक्ष

विशेष्यक साध्य प्रकारक निश्चय है, उससे 'ह्रदो वह्निमान्न वा' इत्यादि संशय प्रतिबध्य हो जाते हैं।, अतः इस प्रकार के संशयों में लक्षण का समन्वय हो जाने से, पक्ष विशेष्यक साध्य प्रकारक निश्चय से प्रतिबध्य संशय ही पक्षता माना जा सकता है।[४५१]

किन्तु यह मत युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। इसीलिये गङ्गेश ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि संदेह को अनुमिति में विशेषण अर्थात् साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमान प्रक्रिया में प्रथम क्षण में धूम-दर्शन, द्वितीय क्षण में 'पर्वतो अग्निमान्नवा' इत्याकारक संशय उत्पन्न होता है, तृतीय क्षण में व्याप्तिस्मरण, चतुर्थ क्षण में परामर्श होकर पञ्चम क्षण में अनुमिति होती है। अतः द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाला संशय अनुमिति क्षण तक अवस्थित नहीं रह सकता, क्योंकि परामर्श से पहले होने वाले लिङ्ग दर्शन तथा व्याप्तिस्मरण आदि से, उसका नाश हो जाता है। जो कार्य के अव्यवहित प्राक्क्षण-वृत्ति रहता है, उसे ही साक्षात् कारण माना जा सकता है। इसलिये परामर्श को ही साक्षात् कारण माना जा सकता है, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में अनुमिति होती है, संशय को नहीं। इसी प्रकार संशय को उपलक्षण अर्थात् परम्परीय कारण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्धिकाल में भी, अनुमिति की आपत्ति दी जा सकती है, कारण परम्परीय कारणता सिद्धिकाल में भी विद्यमान रहती है। इसलिये संदेह विशेषण अथवा उपलक्षण किसी भी प्रकार से अन्वित नहीं हो सकता।[४५२] दूसरी बात यह भी है कि साध्य संदेह के बिना भी घन गर्जन से 'गगन मेघयुक्त है, घन गर्जन होने से' यह अनुमिति घर बैठे हुए व्यक्ति को होती है। इसलिये साध्य संदेह को पक्षता नहीं कहा जा सकता।[४५३]

संशय योग्यता--

इस आपत्ति का वारण करने के लिए कुछ विद्वानों ने संशय योग्यता को पक्षता माना है। साध्य निश्चय और बाध निश्चय के अभाव को संशय योग्यता कहा जाता है।[४५४] जहाँ घन गर्जन आदि स्थल में साध्य संदेह नहीं है, वहाँ संशय योग्यता को लेकर लक्षण का समन्वय किया जा सकता है, क्योंकि 'गगनं मेघवत्' इस प्रकार का साध्यवत्ता निश्चय तथा 'गगनं मेघाभाववत्' इत्याकारक बाधनिश्चय नहीं रहने से और योग्यता रहने के कारण अनुमिति उपपन्न हो जाती है। किन्तु यह मत भी न्यायसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि साध्यवत्ता निश्चय तथा बाध निश्चय दोनों के अभाव को यदि पक्षता कहा जाय, तो 'एक सत्वेऽपिद्वयंनास्ति' इस नियम से एक के रहने पर भी उभय का अभाव हो सकता है। इसलिये सिद्धि अथवा बाध काल में अनुमिति की आपत्ति दी जा सकती है। यदि अभाव द्वय को पक्षता कहा जाय, तो उक्त दोष का वारण किया जा सकता है, परन्तु ऐसी स्थिति में बाध-निश्चयाभाव का निवेश करना निरर्थक होगा, क्योंकि जलाशय आदि पक्षक स्थल में बाध और हेतु की असिद्धि आवश्यक रूप से रहने के नाते, उसी से, अनुमिति की अनुत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है अर्थात् अनुमिति उत्पन्न नहीं होती। अभाव द्वय का तात्पर्य है--पक्षविशेष्यक साध्यनिश्चय का अभाव और पक्षविशेष्यक बाधनिश्चय का अभाव। यदि साध्यवत्ता निश्चय अर्थात् सिद्धि के अभाव को संशय योग्यता कहा जाय, तो भी युक्तिसंगत नहीं, कारण 'श्रोतव्यः मन्तव्यः०' (बृह० उ० ४/५-६) इत्यादि श्रुति के अनुरोध से समान विषयक श्रवण के बाद मननात्मक अनुमान सिद्ध किया जाता है। तात्पर्य यह कि श्रोतव्यः—श्रुति अर्थात् शाब्दबोध द्वारा आत्मा

के इतरभेद प्रकारक बोध हो जाने के पश्चात् भी मन्तव्यः अर्थात् मनन द्वारा आत्मा की इतरभेद-साध्यक अनुमिति होती है। इसी प्रकार प्रात्यक्षिक सिद्धि के अभाव को भी योग्यता नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्षदृष्ट विषय की भी अनुमान द्वारा सिद्धि की जा सकती है। जैसे 'आत्मा वा रे दृष्टव्यः मन्तव्यः' अर्थात् आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होने पर भी मनन द्वारा उसका अनुमान किया जाता है। अभिप्राय यह कि एक हेतु के द्वारा किसी साध्य की अनुमति हो जाने पर भी, अन्य हेतु द्वारा उसी ज्ञात साध्य की पुनः अनुमिति की जा सकती है, जैसे 'पर्वतो अग्निमान्' यह अनुमिति धूम हेतु से निष्पन्न होने पर भी अन्य आलोक हेतु से भी हो सकती है। अतः साध्यवता निश्चय के अभाव को किसी भी प्रकार से संशय योग्यता नहीं कहा जा सकता।

सिषाधयिषा तथा सिषाधयिषा योग्यता

उक्त आक्षेप का परिहार करने के लिए कुछ विद्वानों ने सिषाधयिषा को भी पक्षता माना है, क्योंकि सिद्धि रहने पर भी सिषाधयिषा जाग्रत होने पर अनुमिति होती है। जैसे, मुमुक्षु को आत्मा का उक्त श्रुति के आधार पर शाब्द बोध द्वारा अवगमन हो जाने पर भी अर्थात् आत्मा की सिद्धि हो जाने पर भी, मनन द्वारा सिषाधयिषा होने पर, आत्मा की अनुमिति होती है, क्योंकि मनन को भी मोक्ष प्राप्त करने का साधन माना गया है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर वाचस्पति मिश्र के 'प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित किये गये अर्थ को भी तार्किक लोग अनुमान प्रमाण द्वारा जानने की इच्छा रखते हैं' तथा 'प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हाथी को देखकर चीत्कार द्वारा उसकी अनुमिति नहीं होती', इन कथनों से कोई विरोध लक्षित नहीं होता, क्योंकि अनुमित्सा विद्यमान रहने पर ही अनुमिति हो सकती है, अन्यत्र उसका अभाव होने पर नहीं। इसलिये सिषाधयिषित साध्यधर्म से युक्त धर्मी को पक्ष तथा उसमें रहने वाले धर्म सिषाधयिषा को पक्षता मानना समीचीन जान पड़ता है।[४४५] किन्तु यह मत भी साध्य संदेह की भांति असंगत होने के कारण निरसनीय है, क्योंकि सिषाधयिषा विशेषण अथवा उपलक्षण होने योग्य वस्तु नहीं है। परामर्श के पहले लिङ्ग दर्शन तथा व्याप्ति-स्मरण आदि से सिषाधयिषा का नाश हो जाता है, इसलिये इसको विशेषण नहीं कहा जा सकता। इसको उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि परम्परीय कारण होने के नाते, सिद्धि रहने पर तथा सिषाधयिषा न रहने पर भी, अनुमिति की आपत्ति हो सकती है। यदि सिषाधयिषा की योग्यता को ही पक्षता माना जाय, तो भी संगत नहीं, क्योंकि उक्त युक्तियों के आधार पर योग्यता का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि लिङ्ग दर्शन, व्याप्तिस्मरण तथा परामर्श होने पर सिषाधयिषा के नाश हो जाने से उसको विशेषण न भी माना जाय, तो भी पुनः दूसरी सिषाधयिषा एवं दूसरे परामर्श की उत्पत्ति मानकर सिषाधयिषा को विशेषण बनाया जा सकता है। इसलिए सिषाधयिषा को पक्षता मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु इतना होने पर भी धन गर्जन स्थल में व्यभिचार दोष अवश्य रहेगा, क्योंकि अनुमित्सा के अभाव में भी घर में बैठे हुए व्यक्ति को धन गर्जन से 'आकाश मेघ-युक्त है' ऐसी अनुमिति होती है।[४४६] इसलिए यह मत युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। विश्वनाथ ने भी सिषाधियिषा का मेघानुमिति दोष द्वारा इसी प्रकार खण्डन किया है।[४४७]

अनुमितिजनक इच्छा—

मेघानुमिति व्यभिचार दोष का वारण करते हुए पक्षधर मिश्र ने उक्त मत का परिष्कार करते हुए लिखा है कि अनुमितिजनक इच्छा ही पक्षता है यह इच्छा कहीं आत्मनिष्ठ (पुरुषनिष्ठ) और कहीं ईश्वरनिष्ठ होती है, इसलिए उक्त स्थलीय व्यभिचार की संभावना नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मनिष्ठ (गृहनिष्ठ पुरुष) सिषाधयिषा के अभाव में भी ईश्वरीय इच्छा विद्यमान रहने पर व्यभिचार का वारण हो जाता है। किन्तु यह मत भी न्यायसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि ईश्वरीयइच्छा नित्य होने के नाते सर्वदा रहेगी, अतः सिद्धि-काल में भी अनुमिति की आपत्ति लग सकती है। यदि यह कहा जाय कि, इस समय उस इच्छा में अनुमिति जनकता नहीं है, तो ऐसी स्थिति में दो विकल्प उपस्थित हो सकते हैं कि वह अनुमिति जनकता स्वरूप योग्यता रूप है अथवा फल उपदायक योग्यता स्वरूप? उसे स्वरूप योग्यता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके सदैव विद्यमान होने के नाते, सिद्धिकाल में भी अनुमिति हो सकती है। इसे फलोपदालक योग्यता भी नहीं कहा जा सकता, कारण यह योग्यता जिसमें रहती है, वह कार्य उत्पत्ति के पहिले, अव्यवहित प्राक्क्षण में विद्यमान रहता है, जैसे, घट के प्रति कुलाल का दण्ड। परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनुमिति कार्य के अव्यवहित प्राक्क्षण में परामर्श रहता है, अनुमिति जनक इच्छा नहीं। इसलिए अनुमिति जनक इच्छा, अनुमिति से पूर्व कहीं भी विद्यमान न होने के कारण, फलोपदायक नहीं कही जा सकती। यदि यह कहा जाय कि, अनुमिति जनक सामग्री का समवधान ही जनकता है, तो कारण मात्र का पक्षता कुक्षि में (लक्षण में) सन्निवेश हो जाने के कारण, 'इच्छा' अंश देना भी व्यर्थ हो जायगा तथा जिसके अभाव से सामग्री का विरह होता है, उस अभाव को भी प्रतियोगी होने के नाते, कारण मानना होगा। इसलिए अनुमितिजनका इच्छा को भी पक्षता नहीं कहा जा सकता।[४५८]

सिषाधयिषाविशिष्ट सिध्यभाव

न्यायभाष्यकार ने संशयित अर्थ में ही न्याय अर्थात् अनुमान की प्रवृत्ति स्वीकार की है, सर्वथा अज्ञात अथवा निर्णीत अर्थ में न्याय अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है परन्तु श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराण आदि में अनेक बार और अनेक प्रकार से परमात्मा का श्रवण करने के अनन्तर भी मनन किया जाता है और मनन-अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि की जाती है। कुसमाञ्जलिकार उदयन ने भी कहा है कि ईश्वर की इस न्याय (अनुमान आदि द्वारा) चर्चा के रूप में श्रवण के पश्चात् मनन रूप उपासना की जाती है।[४५९] जहाँ शब्द प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि हो चुकी है, तब इस शाब्द सिद्धि के रहते हुए, अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि सिद्धि अर्थात् साध्य का ज्ञान न तो स्वयं अपना विरोधी है कि एक बार साध्य-ज्ञान हो जाने के उपरान्त पुनः फिर उस साध्य का ज्ञान न हो सके, कारण धारावाहिक बुद्धि स्थल में एक ज्ञान ही अनेक बार होता है। अतएव एक बार साध्य-ज्ञान हो जाने पर भी प्रकारान्तर से उसका फिर से ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। और न ही साध्य-ज्ञान अनुमिति का साक्षात् विरोधी (प्रबन्धक) है, क्योंकि शब्द आदि अन्य प्रमाणों से अधिगत होने वाले अर्थ का भी अनुमान प्रमाण द्वारा बोध होता है। इसलिए साध्य-संदेह को ही केवल पक्षता नहीं माना जा सकता, अपितु उक्त प्रकरण को ध्यान में रखते हुए उसमें सिषाधयिषा को भी

जोड़ना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः जिसमें साध्य-संदेह (साध्यसिद्धि का अभाव) हो और सिषाधयिषा (साध्य सिद्ध करने की इच्छा) दोनों हो, वहाँ अनुमान हो सकता है। इसलिए 'साध्य संदेह पक्षता' की अपेक्षा 'सिषाधयिषाविशिष्टसिद्धयभाववान् पक्षः' ऐसा पक्ष—लक्षण करना उचित होगा। यह लक्षण पूर्व दो लक्षणों 'संदिग्धसाध्य-धर्मत्वम्' तथा 'सिषाधयिषितसाध्यधर्मधर्मी' का योग है। परन्तु ऐसा लक्षण मानना भी ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि घर में बैठे हुए व्यक्ति को घन गर्जना से मेघानुमिति होती है। इस स्थल में उस व्यक्ति को, न तो मेघ के अस्तित्व का ज्ञान है, और न सिषाध-यिषा अर्थात् उसके सिद्ध करने की इच्छा ही। वह व्यक्ति अपने कार्य में रत रहता है कि अचानक मेघ गर्जना उसे सुनाई पड़ती है, जिसको सुनकर वह मेघों का अनुमान करता है। यहाँ अनुमान की संभावना पूर्णरूप से है, अतः पक्षता भी होनी चाहिए। पक्ष का लक्षण, यदि 'सिषाधयिषाविशिष्ट सिद्धयभाववान् पक्षः' अथवा 'सिषाधयिषितसाध्य-धर्मा धर्मी पक्षः' इतना ही माना जाय, तो प्रकृत स्थल में सिषाधयिषा नहीं होने के कारण, पक्ष का लक्षण निर्दुष्ट नहीं बन सकता और पक्ष के न बनने से अनुमिति भी प्रतिरुद्ध हो जायगी। संभवतः इस व्याप्ति दोष का वारण करने के लिए ही गङ्गेश उपाध्याय ने प्राचीन नैयायिकों द्वारा प्रणीत, उक्त दोनों लक्षणों का परित्याग करके पक्षता के लक्षण का परिमार्जन इस प्रकार से किया है। (सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धयभावः पक्षता'। इस लक्षण से उपर्युक्त दोष का परिहार किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि इस लक्षण में विशेषण और विशेष्य दो भाग है।' 'सिषाधयिषाविरह', विशेषण अंश है और 'सिद्धयभाव' विशेष्य। जहाँ इन दोनों अंशों से युक्त विशिष्ट सामग्री पायी जाती है, वहाँ अनुमान की प्रवृत्ति हो सकती है और जिस स्थल में यह विशिष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं होती (अर्थात् इसका अभाव रहता है) वहाँ अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता। घन गर्जन के उक्त दृष्टान्त में 'सिषाधयिषाविरह' और 'सिद्धयभाव' दोनों 'विशेषण व विशेष्य' अंश होने के कारण वहाँ अनुमान हो सकता है। इस प्रकार 'सिषाधयिषाविशिष्टसिद्धय-भावनान् पक्षः इस लक्षण को स्वीकार कर लेने पर घन गर्जन आदि उदाहरण में जो अनुमान की अप्रवृत्तिरूप दोष आ गया था, उसका गङ्गेश-लक्षण से वारण हो जाता है।

विशिष्ट भाव—

आचार्य गङ्गेश के लक्षण में 'विशिष्टाभाव' पद का भी निवेश हुआ है। अतः इस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक होगा। विशिष्टाभाव तीन प्रकार से उत्पन्न हो सकता है—प्रथम जहाँ विशेषण न हो, केवल विशेष्य हो, वहाँ विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव होता है। जैसे, 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट प्रतीति है। इसमें 'दण्ड' विशेषण और पुरुष विशेष्य है। जहाँ केवल विशेष्य 'पुरुष' हो, और 'दण्ड' विशेषण न हो, वहाँ 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट प्रतीति नहीं होती। इस स्थल में इसलिए 'विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव माना जाता है। द्वितीय विशिष्टाभाव वहाँ होता है, जहाँ केवल विशेषण 'दण्ड' हो और विशेष्य 'पुरुष' न हो, वहाँ भी 'दण्डी पुरुषः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। ऐसे स्थल में विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव समझना चाहिये एवं तृतीय विशिष्टाभाव वहाँ होता है, जहाँ विशेषण 'दण्ड' और विशेष्य 'पुरुष' दोनों का अभाव पाया जाय, वहाँ भी 'दण्डी पुरुषः' यह प्रतीति नहीं हो सकती। ऐसे स्थल पर उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव होता है। विशिष्ट प्रतीति का अभाव पाया जाने के कारण उक्त तीनों

प्रतीतियां विशिष्टाभाव की प्रयोजिका हैं। इस प्रकार की विशिष्ट प्रतीति केवल वहीं हो सकती है, जहाँ विशेषण 'दण्ड' और विशेष्य 'पुरुष' दोनों की सत्ता हो। तात्पर्य यह कि जहाँ विशिष्टाभाव का अभाव नहीं रहता, वहीं 'दण्डी पुरुषः' इत्याकारक विशिष्ट प्रतीति हो सकती है।

इसी प्रकार पक्ष लक्षण में भी जहाँ विशिष्टाभाव रहता है (अर्थात् उक्त तीन अवस्थाओं में यह रहता है) वहीं पक्षता रहती है। शेष चौथी अवस्था में विशिष्टाभाव नहीं रहता, इसलिए पक्षता भी नहीं रहती। अतः अनुमान की प्रवर्तक केवल प्रथम तीन अवस्थाएँ ही हैं, चौथी अवस्था में विशिष्टाभाव का अभाव रहता है, एतदर्थ पक्षता न बनने के कारण वहाँ अनुमान की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। इन चारों अवस्थाओं को इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

(१) जहाँ सिषाधयिषा और सिद्धि दोनों हैं, वहाँ विशेषण अंश 'सिषाधयिषा-विरह' न होने तथा विशेष्य अंश 'सिद्धि' के रहते हुए भी सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव रूप विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव बन जाने से पक्षता बन जाती है इसलिए अनुमान की प्रवृत्ति हो सकती है, क्योंकि यह सिद्धि सिषाधयिषा से विशिष्ट ही है सिषाधयिषाविरहविशिष्ट नहीं। अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो भी सिद्धियां होंगी उनका यहाँ अभाव ही रहेगा। इसलिए, विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव निष्पन्न हो जाने के कारण, पक्षता की उत्पत्ति द्वारा अनुमिति भी उत्पन्न हो जाती है।

(२) जहाँ विशेषण अंश 'सिषाधयिषा-विरह' और विशेष्य अंश 'सिद्धि' दोनों का अभाव हो, ऐसे स्थल में उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव होने से अनुमान की प्रवृत्ति होती है। आशय यह कि जहाँ 'सिद्धि' नहीं है और 'सिषाधयिषा' है, तो पक्षता बन जायगी, क्योंकि वहाँ उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप पक्षता सम्पन्न हो जाती है। यहाँ पर सिषाधयिषा के होने पर भी 'सिषाधयिषाविरह' विशेषण नहीं है, अतः विशेषणाभाव भी है और विशेष्य अंश 'सिद्धि' का अभाव होने के नाते विशेष्याभाव भी। अतः उभया-भाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप पक्षता यहाँ बन जाती है।

(३) जहाँ सिषाधयिषा और सिद्धि दोनों का अभाव हो, वहाँ सिषाधयिषाविरह रूप विशेषण अंश के रहते हुए भी 'सिद्धि' विशेष्य अंश के न होने से, विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव बन जाता है। यहाँ सिषाधयिषा के न होने से 'सिषाधयिषाविरह' विशेषण की सत्ता तो है, परन्तु विशेष्य 'सिद्धि' की सत्ता न होने से विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टा-भाव बन जायगा। अतः पक्षता की उपपत्ति से अनुमिति भी निष्पन्न हो जायगी।

(४) जहाँ विशेषण अंश 'सिषाधयिषाविरह' और विशेष्य अंश 'सिद्धि' दोनों हों अर्थात् जहाँ साध्य की सिद्धि हो और उसको प्रकारान्तर से अनुमान द्वारा सिद्ध करने की इच्छा भी न हो, वहाँ 'सिषाधयिषाविरह विशिष्ट सिद्धि' रूप विशिष्ट प्रतीति होती है। यहाँ विशिष्टाभाव का अभाव न होने से सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव रूप पक्षता नहीं बन सकती। अतएव ऐसे स्थलों में अनुमिति की उपपत्ति नहीं हो सकती है।

गङ्गेश का सिद्धान्त लक्षण–

इस प्रकार विशिष्टाभाव को भलीभांति समझ लेने के पश्चात् गङ्गेश का सिद्धांत लक्षण सुगमतापूर्वक अवगम हो सकता है। सिषाधयिषा के अभाव से युक्त साधक प्रमाण अर्थात् सिद्धि के अभाव को पक्षता तथा यह विशिष्ट अभाव रूप धर्म जिस अधिकरण

में रहता है उसे पक्ष कहा जाता है। जिस अधिकरण में सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धि विद्यमान रहती है उसे पक्ष नहीं कहा जा सकता। जहाँ सिद्धि और सिषाधयिषा दोनों रहें, सिद्धि का अभाव और सिषाधयिषा का भाव हो अथवा सिद्धि और सिषाधयिषा दोनों का अभाव हो उन सभी में पक्षता का लक्षण उपपन्न हो जाता है।[४६०] विश्वनाथ ने भी सिद्धान्त पक्षतालक्षण की इसी प्रकार व्याख्या की है।[४६१] जगदीश के 'तर्कामृत'[४६२] और 'तर्कसंग्रहदीपिका'[४६३] में भी यही लक्षण अक्षरशः प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार प्रायः सभी उत्तरवर्ती नैयायिकों ने गङ्गेश के सिद्धान्त लक्षण का समर्थन किया है।

गङ्गेश के सिद्धान्त लक्षण—'सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव पक्षता' में प्रयुक्त पदों की संक्षिप्त व्याख्या किये बिना इस लक्षण को समझना दुष्कर है। जैसे, इस लक्षण में 'सिषाधयिषाविरह' पद का निवेश किया गया है, अतः इसका क्या अर्थ हो सकता है, इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा। विरह का अर्थ है अभाव। अतः सिषाधयिषाविरह का तात्पर्य होगा सिषाधयिषा का अभाव। जैसे, घटाभाव कहने से बोध होता है—'घट प्रतियोगिताक अभाव' अर्थात् घट है प्रतियोगी जिस अभाव का उसको घटाभाव कहा जाता है। उसी प्रकार 'सिषाधयिषाविरह' का अर्थ होगा सिषाधयिषा है प्रतियोगी जिस अभाव की उसे 'सिषाधयिषा अभाव' कहते हैं। परन्तु सिषाधयिषा अभाव सामान्यतः नहीं लिया जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने से कालिक आदि सम्बन्ध से आत्मा में सदैव सिषाधयिषा का विरह रहेगा। नियम है 'नित्येषु कालिका योगात्' नित्य पदार्थ में कालिक सम्बन्ध से कोई वस्तु नहीं रहती, वैसे ही यहाँ भी कालिक सम्बन्ध से सिषाधयिषा आत्मा में नहीं रहेगी, किन्तु उसका विरह आत्मा में सर्वदा बना रहेगा। और यदि वहाँ सिद्धि सिद्यमान है, तो अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि 'सिषाधयिषाविरहसहकृत सिद्धि' ही वहाँ है, सिद्ध्यभाव नहीं। ऐसी अवस्था में पक्षता नहीं बनेगी। अतः पक्षता के अभाव में अनुमिति भी संभव नहीं होगी। इसलिये पक्षता सम्पन्न करने के लिए 'सिषाधयिषाप्रतियोगिताक अभाव' समवाय सम्बन्ध से लिया जाना आवश्यक है। इससे लाभ यह होगा कि जिस समय में, सिषाधयिषा और सिद्धि है, वहाँ समवायसम्बधावच्छिन्न (समवाय सम्बन्ध से युक्त) सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धि नहीं, बल्कि वहाँ समवाय सम्बन्ध से आत्मा में सिषाधयिषा की ही सत्ता है। अर्थात् 'समवायसम्बन्धावच्छिन्न सिषाधयिषाविरहसहकृत सिद्धि' नहीं होने के कारण उसका अभाव ही होगा, पक्षता सुतरां बन जायगी और अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं होगी।[४६४]

इसी प्रकार सिद्ध्यभाव अर्थात् सिद्धि (साध्यनिश्चय) प्रतियोगिताक अभाव भी 'समवायसम्बन्धावच्छिन्न' लेना चाहिए, अन्यथा जिस आत्मा में समवायसम्बन्धावच्छिन्न सिषाधयिषा विरह है वहाँ कालिक आदि सम्बन्ध से सिद्धि नहीं रह सकती है, प्रत्युत सम्बन्ध से ही रहेगी। यदि समवाय सम्बन्ध यहाँ अपेक्षित नहीं माना जाय, तो वहाँ पक्षता बन जायगी, क्योंकि कालिकादि सम्बन्ध से वहाँ सिद्धि का सत्त्व नहीं है अपितु उसका अभाव ही है इसलिये पक्षता सम्पन्न हो जाने के कारण अनुमिति होने लगेगी। परन्तु यह बात अनुभव विरुद्ध है। जहाँ सिषाधयिषा नहीं है और सिद्धि है, वहाँ पक्षता कदापि नहीं बन सकती। इसका प्रतिपादन पूर्व में किया जा चुका है। इस अनुमिति के वारण का एक मात्र उपाय यही है कि सिद्धि प्रतियोगिताक (प्रतियोगिता वाला) अभाव

भी समवाय सम्बन्ध से ही अभिप्रेत माना जाय। इससे लाभ यह होगा कि जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से सिषाधयिषा का विरह है और उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से सिद्धि विद्यमान है, तो ऐसे स्थल में समवाय सम्बन्धावच्छिन्न सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभाव नहीं होगा, इसलिये पक्षता के न होने से अनुमिति भी नहीं होगी।[४६५]

'सिषाधयिषाविरह' तथा 'सिद्ध्यभाव' में जो पारस्परिक सम्बन्ध है, वह 'एक क्षणावच्छिन्न एकात्मवृत्तित्व'—समसामयिक एक पुरुष-निष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। ऐसा न मानने पर दोनों में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। जैसे, सिषाधयिषाविरह बोध आज हो रहा है और सिद्ध्यभाव का ज्ञान कल हो अथवा राम को सिषाधयिषाविरह का ज्ञान है और कृष्ण को सिद्धि-अभाव का बोध हो, तो चाहने पर भी पक्षता लक्षण उपपन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'ययोरेव सामानाधिकरण्यं तयोरेव कार्य-कारणभावः'—'जिन-जिन वस्तुओं में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध पाया जाता है उन-उन वस्तुओं में कार्य कारणाभाव रहता है,' इस नियम के अनुसार उक्त स्थल में सामाना-धिकरण्य सम्बन्ध नहीं बन पाता। अतः पक्षता निष्पादित करने के लिए, उक्त सम्बन्ध ही ग्रहण करना होगा। जिस काल में राम को 'सिषाधयिषाविरह' का भान हो रहा है, उसी काल में उसी पुरुष (राम को) को सिद्ध्यभाव का ज्ञान भी होना चाहिए।[४६६]

दीधितिकार ने 'सिद्ध्यभाव' में सिषाधयिषाविरह' रूप विशेषण की सार्थकता इस प्रकार सिद्ध की है—जहाँ सिषाधयिषा के पश्चात् सिद्ध्यात्मक अथवा स्मरणात्मक परामर्श है, वहाँ अनुमिति होती है, किन्तु सिद्ध्यभाव में यदि उक्त विशेषण का सन्निवेश नहीं किया जाय, और केवल सिद्ध्यभाव को ही पक्षता माना जाय, तो सिद्धि का अभाव न होने के कारण पक्षता नहीं बन पायगी, परिणामस्वरूप अनुमिति भी नहीं होगी। इसी प्रकार 'वह्निव्याप्य-धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक इष्टसाधनता विषयक स्मरणा-त्मक परामर्श के पश्चात् जहाँ अनुमित्सा होती है, वहा भी इसके अनन्तर अनुमिति होती है। तथा इसी रीति से जहाँ अनुमित्सा काल में उत्पन्न होने वाले इन्द्रिय सन्निकर्ष तथा अनुमित्सा के पूर्व काल में उत्पन्न होने वाला विशेषण रूप स्मरण सहित साध्य और उसकी व्याप्ति से विशिष्ट पक्ष का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है, वहाँ भी इसके अनन्तर अनुमिति होती है। उक्त सभी स्थलों में सिषाधयिषाविरह' विशेषण सिद्ध्यभाव में दे देने पर विशेषणा-भाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव होने से 'सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभाव' रूप पक्षता बन जाती है अन्यथा उक्त तीनों स्थलों में सिद्धि का अभाव न होने से पक्षता ही नहीं बन पायेगी। इसलिये पक्षता तथा पक्षताहीन अनुमिति के उपपादन के लिए 'सिषाधयिषा-विरह' विशेषण सिद्धि के अभाव में देना आवश्यक और अनिवार्य है।[४६७] इसी बात को विशद रूप से समझाते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि जिस स्थल में अनुमिति का, कारण परामर्श, प्रतिबन्धिका सिद्धि एवं उसकी उत्तेजिका सिषाधयिषा तीनों विद्यमान हैं, वहाँ अनुमिति की उपपत्ति के लिए हीं 'सिषाधयिषाविरहशिविष्टत्व' विशेषण सिद्धि में दिया जाता है। यदि इस विशेषण का निवेश नहीं किया जाय और सिद्धि के अभाव मात्र को ही पक्षता कहा जाय तो पूर्वोक्त स्थल में, (जहाँ कारण, प्रतिबन्धक और उत्तेजक तीनों हैं) जहाँ सिद्धि रहने से, सिद्ध्यभाव नहीं है, वहाँ अनुमिति की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इन तीनों को शरीरावच्छिन्न एक आत्मा में एवं एक काल में ही रहना चाहिए अर्थात् एक पुरुष को यदि परामर्श और सिद्धि दोनों हैं, तो उसी व्यक्ति को सिषाधयिषा

होने पर अनुमिति होगी। अनुमिति की प्रतिबन्धक सिद्धि होने पर, अनुमिति तभी होगी, जब उस आत्मा में सिषाधयिषा भी उत्तेजिका बनकर विद्यमान हो अर्थात् जिस पुरुष की आत्मा में अनुमिति का कारण परामर्श और साथ ही साथ अनुमिति की प्रतिबन्धिका सिद्धि भी है, वहाँ प्रतिबन्धक के रहने पर अनुमिति तभी होगी, जबकि उत्तेजिका सिषाधयिषा भी उसी आत्मा (पुरुष) में रहे। तात्पर्य यह है कि परामर्श और सिषाधयिषाविरह आज है और सिद्धि कल होती है अथवा एक पुरुष को परामर्श और सिषाधयिषाविरह और अन्य पुरुष को सिद्धि है, और ऐसी स्थिति में पक्षता नहीं बन सकती। क्योंकि नियम है 'ययोरेवसामानाधिकरण्यं तयारेव कार्यकारणभावः'—जिन-जिन (वस्तुओं) का सामानाधिकरण्य होता है उन-उन (वस्तुओं) में कार्यकारणभाव होता है। यहाँ सामानाधिकरण्य ही नहीं बन पाता परन्तु कार्यकारणभाव पक्षता यहाँ इष्ट है। इस स्थल में पक्षता ही नहीं बन पा रही है क्योंकि परामर्श और सिषाधयिषाविरह एक में है और सिद्ध्यभाव अन्य में। इसलिए यहाँ पक्षता बनाने के लिए सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव' एकक्षणावच्छिन्न एकआत्मवृत्तित्व' सम्बन्ध से ही लेना चाहिए। इसलिए जिस समय में जिस पुरुष में सिषाधयिषाविरहसहकृत सिद्ध्यभाव होगा उस समय उसी पुरुष (उसी आत्मा) को पक्षता बन जाने से अनुमिति होने लगेगी। उक्त मत के अनुसार एक ही काल में एक ही आत्मा में तीनों परामर्श, सिद्धि और सिषाधयिषा की स्थिति अपेक्षित है परन्तु इन तीनों की स्थिति एक ही काल में नहीं बन सकती अतः 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व' पद का निवेश करना व्यर्थ है। इस शंका का समाधान करते हुए विश्वनाथ ने आगे लिखा है कि जहाँ परामर्श के बाद सिद्धि अवस्थित है अर्थात् प्रथम क्षण में परामर्श और द्वितीय लक्षण में सिद्धि है और तत्पश्चात् तृतीय क्षण में सिषाधयिषा है, ऐसे स्थल में सिषाधयिषा काल में अर्थात् तृतीय क्षण में परामर्श का नाश हो जाने से अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि उसका कारण परामर्श प्रथम क्षण में उत्पन्न होने के कारण तृतीय क्षण स्थायी नहीं रह सकता एवं जिस आत्मा में प्रथम क्षण में सिद्धि, द्वितीय क्षण में परामर्श और तृतीय क्षण में सिषाधयिषा है, वहाँ उस आत्मा में तृतीय क्षण (सिषाधयिषा क्षण) में सिद्धि का नाश हो जाने से अनुमिति हो जायगी, कारण वहाँ प्रतिबन्धक सिद्धि का अभाव और कारण परामर्श की सत्ता है। इसी प्रकार जिस आत्मा में क्रम से सिषाधयिषा सिद्धि तथा परामर्श है, उस आत्मा में परामर्श काल (तृतीय क्षण) तक सिषाधयिषा क्षणिक होने के कारण, नष्ट हो जाने से तथा प्रतिबन्धिका सिद्धि के विद्यमान होने के कारण अनुमिति नहीं होगी। यह प्रथम क्षण में सिषाधयिषा, द्वितीय क्षण में परामर्श हो और तृतीय क्षण में सिद्धि हो, ऐसी अवस्था में भी अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि उत्तेजिका सिषाधयिषा तृतीय क्षण-सिद्धि काल में जीवित नहीं रह सकती और प्रतिबन्धिका सिद्धि वहाँ विद्यमान ही है। ऐसे ही सिषाधयिषा, सिद्धि और परामर्श इस क्रम में भी उत्तेजिका सिषाधयिषा के न होने से अनुमिति नहीं होगी। परन्तु यदि परामर्श, सिद्धि और सिषाधयिषा इन तीनों में से दो को एक क्षण में रखें अथवा तीनों को एक क्षण में रखें तो कारण सामग्री का सम्बलन उचित रूप से सम्पन्न हो सकता है। क्योंकि इस अवस्था में अनुमिति के पूर्वक्षण में परामर्श भी है और पक्षता भी। इस स्थल में सिद्धि, सिषाधयिषा से विशिष्ठ ही होगी। सिषादयिषाविरहविशिष्ट जो कालान्तरीय और देशान्तरीय सिद्धि है, उसका अभाव यहाँ विद्यमान है। इसलिए (सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व' विशेषण पद का निवेश करना सार्थक है : अन्यथा जहाँ परामर्श, सिद्धि

एवं सिषाधयिषा हों, वहाँ पक्षता नहीं बन पायगी । इस शंका का समाधान करते हुए मुक्तावलीकार ने कहा है कि प्रत्यक्ष योग्य विभु अर्थात् आकाशात्मा के जो विशेष गुण इच्छादि हैं उनमें यौगपद्य अर्थात् एककालोत्पत्तिकत्व' का निषेध है-अर्थात् एक क्षण में दो विशेष गुण अथवा इनसे अधिक गुण उत्पन्न नही होते, प्रत्युत एक क्षण में एक ही गुण-विशेष उत्पन्न हो सकता है । अतः सिद्ध्यभाव मात्र को ही पक्षता मानना चाहिए । सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व सिद्धि का विशेषण देने में कोई सार नहीं है । पर यह युक्त नहीं कारण जिस आत्मा में 'वह्नि व्याप्य धूमवान् पर्वतो वह्निमान्'—'वह्नि व्याप्त धूमवाला पर्वत अग्निवाला है' इत्याकारक साध्यनिश्चय अर्थात् सिद्धि के सहित एक ही समूहालम्बनात्मक प्रत्यक्ष रूप अथवा स्मृति रूप परामर्श ज्ञान प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, उस स्थल में पक्षता सम्पत्ति के लिए 'सिषाधयिषा विरहविशिष्टत्व' साध्यनिश्चय-विशेषण सन्निविष्ट करना अपरिहार्य है । तात्पर्य यह है कि सिषाधयिषा के पूर्व क्षण में सिद्धिविशिष्ट परामर्शात्मक जो ज्ञान है , वही ज्ञान द्वितीय क्षण में सिषाधयिषा रूप उत्तेजक होने से अनुमिति का कारण हो जाता है और वही ज्ञान सिषाधयिषा के अभाव में सिद्धि रूप प्रतिबन्धक हो जाता है । अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व-विशेषण पद का इस अवस्था में यदि निवेश नहीं किया जाय, तो सिद्ध्यभाव मात्र पक्षता भी नहीं बन सकेगी, क्योंकि सिद्धि ही परामर्श के साथ है । अतः पक्षता निष्पन्न करने के लिए उक्त विशेषण को देना आवश्यक है । और यह सिद्धि द्वितीय क्षण में सिषाधयिषा से विशिष्ट रहेगी । एतदर्थ प्रकृत स्थल में सिषाधयिषा विरहविशिष्ट जो कालान्तरीय सिद्धि है उसका अभाव होने के कारण पक्षता बन जायगी । [४६८]

'सिषाधयिषा' का वास्तविक अर्थ क्या है, इस जिज्ञासा को निराकृत करने के लिये दीधितिकार ने लिखा है कि इस पद का यदि सिद्धि-विषयक इच्छा मात्र अर्थ लगाया जाय, तो उचित नहीं, क्योंकि जहाँ 'द्रव्यत्वेन द्रव्यज्ञानं जायताम्' ऐसी सिद्धिगोचर इच्छा है तथा 'वह्नि व्याप्य धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक परामर्श है, वहाँ 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होनी चाहिए । किन्तु यह बात अनुभव विरुद्ध है, कारण इस प्रकार से अनुमिति नहीं होती । इस आक्षेप का परिहार करते हुए दीधितिकार ने उक्त पद का परिष्कार इस प्रकार किया है—'सिषाधयिषा' से साध्यविशिष्ट पक्षविषयक अनुमिति विषयिणी इच्छा गृहीत करना चाहिए । इस परिष्कृत लक्षण को मान लेने पर, 'द्रव्यत्वेन द्रव्यगोचर ज्ञानं जायताम्' इस इच्छा और सिद्धि के रहने पर 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति नहीं होगी अपितु 'प्रत्यक्षातिरिक्तं पर्वते वह्नि ज्ञानं जायताम्' इस इच्छा और सिद्धि के विद्यमान रहने पर ही होगी, क्योंकि प्रथम इच्छा साध्यविशिष्ट पक्ष विषयिणी नहीं है तथा द्वितीय स्थल वाली सिषाधयिषा साध्यविशिष्ट पक्ष विषयक है, अतः प्रथम स्थल में अनुमिति नहीं होकर द्वितीय स्थल में ही होगी । [४६९] इतना होने पर भी जिस स्थल में 'वह्निमत्वेन पर्वतस्य प्रत्यक्षजायताम्'- ऐसी इच्छा ही प्रत्यक्षत्व रूप धर्म से अनुमिति को विषय करके सम्पन्न हुई है, वहाँ पर सिद्धि होने पर अनुमिति की आपत्ति हो सकती है । इसी तरह यदि प्रकृत साध्य विधेयक पक्ष विशेष्यक इच्छा को यदि उत्तेजक कहा जाय, तो जहाँ पर 'वह्निभिन्नान्यविधेयकानुमितिर्जायताम्' तथा 'प्रत्यक्षादि भिन्नं वह्नि विधेयकं ज्ञानं जायताम्' इत्याकारक इच्छाएं है, जहाँ सिद्धयात्मक परामर्श से अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि ये दोनों इच्छाएँ साध्यविधेयक पक्षविशेष्यक

नहीं हैं, वरन् वह्नि भिन्नान्य तथा प्रत्यक्षादिभिन्न एवं वह्नि-विधेयक तथा पक्ष-विशेष्यक ही हैं। ४७० इस आपत्ति के वारणार्थ दीधितिकार ने सिषाधयिषा पद का अंतिम परिष्कार करते हुए लिखा है—जिस जिस प्रकार की इच्छाओं के रहने पर सिद्धिकाल में अनुमिति होती है, उस-उस प्रकार की इच्छाओं के समुदाय सिद्धि में विशेषण हो सकते हैं। इसलिए पूर्वस्थल में उस प्रकार की इच्छा रहने पर सिद्धिकाल में अनुमिति नहीं होती। अतः उसका अभाव विशेषण नहीं बन सकता। द्वितीय स्थल में इस प्रकार की इच्छा होने पर अनुमिति होती है, इसलिये उसका अभाव सिद्धि का विशेषण बन सकता है। अतः पूर्व स्थल में अनुमिति नहीं होगी, द्वितीय स्थल में होगी।४७१ धूमेन अनुमिनुयाम्' ऐसी इच्छा, 'वह्नि व्याप्य आलोकवान् पर्वतः' इत्याकारक आलोक लिङ्गक परामर्श एवं सिद्धि का अभाव जहाँ विद्यमान है, वहाँ यदि अनुमिति नहीं होती हो, तो इस लिङ्ग से अन्य लिङ्ग द्वारा होने वाली अनुमिति इच्छा को कामिनी जिज्ञासा की तरह प्रतिबन्धक माना जा सकता है, क्योंकि सिद्धि को प्रतिबन्धिका इसलिए नहीं माना जा सकता कि, वहाँ उसका अस्तित्व ही नहीं है। जैसे, किसी व्यक्ति में कामिनी जिज्ञासा जब जाग्रत हो जाती है, तब उसकी अन्य इच्छाएँ मरणासन्न हो जाती है, कारण उसे सिवा कामिनी के और कुछ सूझता ही नहीं और अन्य कार्यों में उसका मन भी नहीं लगता। इसलिए उसे अन्य कार्यों के प्रति स्वतन्त्र रूप से प्रतिबन्धक माना जाता है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी धूम लिङ्ग के अतिरिक्त अन्य आलोकादि लिङ्गक अनुमित्सा को धूमादि लिङ्गक अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक माना जा सकता है।४७२ इसी बात की पुष्टि विश्वनाथ ने भी की है।४७३ सिद्धि रहने पर यदि वहाँ अनुमिति होती है तो उसका वारण करने के लिये, जहाँ यल्लिङ्गक परामर्श वहाँ तद्-लिङ्गक अनुमितिच्छा को ही उत्तेजिका माना जाता है अथवा तद्-अन्य-मात्र-लिङ्गक अनुमिति इच्छा से अतिरिक्त अनुमिति इच्छा को भी उत्तेजक माना जा सकता है। अतः ऐसी स्थिति में अन्य लिङ्गक इच्छा रहने पर अनुमिति नहीं हो पाती। इसी प्रकार धूमलिङ्गक अनुमित्सा-विरह-विशिष्ट सिद्धि के विद्यमान रहने पर भी, आलोकलिङ्गक परामर्श, पर्वत पक्षक, वह्नि साध्यक अनुमिति हो सकती है। इसलिए यहाँ कारण के न रहने पर भी, कार्य की सत्ता होने के नाते, व्यतिरेक व्यभिचार की आपत्ति हो जाती है। इस दोष के परिहारार्थ पक्षता लक्षण को लिङ्ग विशेष से नियंत्रित करना परमावश्यक है। तदनुसार पक्षता लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, 'जिस-जिस अनुमित्सा व्यक्ति तथा सिद्धि के रहने पर यल्लिङ्गक, यत्पक्षक तथा यत्साध्यक अनुमिति होती है, तत् तत् इच्छा-विरह-विशिष्ट सिद्धि का अभाव, तल्लिङ्गक, तत्पक्षक, एवं तत्साध्यक अनुमिति के प्रति कारण माना जाता है।' यदि अन्यलिङ्गक अनुमित्सा तल्लिङ्गक अनुमिति में स्वतन्त्र रूप से प्रतिबन्धक हो, तब पक्षता लक्षण लिङ्ग विशेष घटित न भी रखा जा सकता है। इसलिए तल्लिङ्गक अनुमिति के प्रति सिद्धिकालिक अनुमिति इच्छा विशेष अभाव समूह से विशिष्ट अन्य लिङ्गक अनुमिति इच्छा को प्रतिबन्धक तथा उसके अभाव को कारण माना जा सकता है।४७४

लक्षण में प्रयुक्त 'साधकमान्' पद की व्याख्या करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि इस पद का अर्थ यदि 'सिद्धिजनक निश्चय' किया जाय, तो परामर्श से भी अनुमिति नहीं हो सकती, क्योंकि 'साधकमान्' परामर्श ही होगा और वह प्रतिबन्धक है : अतः

साधनमान् पद का वास्तविक अर्थसिद्धिजनक निश्चय की अपेक्षा साध्यवत्ता निश्चय अर्थात् पक्ष विशेष्यक साध्य प्रकारक निश्चय मानना उचित ज्ञात पड़ता है।[४७५] इसका परिष्कार जागदीशीकार ने इस प्रकार किया है—'साध्यतावच्छेदक युक्त प्रकारता से भिन्न प्रकारता, उससे अनिरूपित जो पक्ष निष्ठ विशेष्यता है, तादृश (उस) विशेष्यता-शाली ज्ञान को ही साध्यता निश्चय कहा जाता है।[४७६] जैसे, पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि निश्चय। इसी प्रकार पाषाणमयत्व रूप धर्म एवं तेजस्वित्व रूप धर्म से विशिष्ट 'पाषाण-मयो वह्निमान्' तथा 'पर्वतस्तेजस्वी:' दोनों प्रकार के निश्चय रहने पर भी, पर्वतत्व रूप से पर्वत में वह्नित्व रूप से वह्नि विधेयक अनुमिति होती है, इसलिए पक्षतावच्छेदक और साध्यतावच्छेदक का सन्निवेश करना आवश्यक प्रतीत होता है। फलतः पक्षता-वच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताशाली निश्चय ही साध्यवत्ता निश्चय कहा जाता है। पर्वतत्व-सामानाधिकरण्य रूप अर्थात् पर्वत के किसी एक शिखररूपी यत्किञ्चित् भाग में साध्य सिद्धि रहने पर यदि अन्यत्र पर्वत में अनुमिति होती है, तो धर्मी विशेष का भी निवेश करना चाहिए जैसे, पर्वतत्व प्रकार से तत्पर्वत धर्मिक वह्नि अनुमिति के प्रति पर्वतत्व प्रकार से तत्पर्वत धर्मिक वह्नि निश्चय प्रतिबन्धक होता है। इसी प्रकार साध्यतावच्छेदक रूप से एक साध्य व्यक्ति के निश्चय रहने पर, यदि अनुमित्साभावीय स्थलों में अन्य साध्य व्यक्ति की अनुमिति हो, वहाँ साध्य विशेष का भी निवेश करना चाहिये, जैसे साध्यतावच्छेदक रूप से तत्—साध्यक अनुमिति के प्रति साध्यतावच्छेदक रूप से तत् साध्यक निश्चय प्रतिबन्धक होता है। किन्तु ऐसे स्थलों में जहाँ धर्मी विशेष में साध्य विशेष की सिद्धि रहने पर दूसरे धर्मी में अन्य साध्यक अनुमिति नहीं होती, वहाँ धर्मी विशेष और साध्य विशेष के निवेश की कोई आवश्यकता नहीं है।[४७७] निष्कषतः तद्विशेष्यक तत्साध्यक (तत्प्रकारक) अनु-मिति के प्रति तद्विशेष्यक तत्प्रकारक सिद्धि ही प्रतिबन्ध हुआ करती है तात्पर्य यह कि सिषाधयिषा के विरह काल में जिस-जिस सिद्धि के रहने पर अनुमिति नहीं होती है, वह सिद्धि विशेष रूप से उस-उस अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होती है। इसलिए 'पर्वस्तेजस्वी:' तथा पाषाणमयो वह्निमान्' इत्याकारक सिद्ध्यात्मक परामर्श ज्ञान होने पर भी 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति का विरोध नहीं होता, क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति पर्वतत्व धर्म से अवच्छिन्न विशेष्यता निरूपित वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारताशाली है और उक्त दोनों निश्चय इसके विपरीत हैं, कारण प्रथम में तेज निष्ठ प्रकारता, तेजस्व' से अवच्छिन्न है और द्वितीय में विशेष्यता, 'पाषाणमयत्व' से युक्त है। अतः ये दोनों सिद्धियाँ तद्विशेष्यक तत्साध्यक होने के नाते 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति की प्रतिबन्धिका नहीं है।[४७८] प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव से भी सिद्धि की अवस्थिति समझना आवश्यक है। पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अर्थात् पक्ष पर्वत के किसी एक देश शिखर रूप यत्किञ्चित् भाग में साध्यसिद्धि रहने पर पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् पक्षपर्वत के समग्र भाग में अनुमिति होती है इसलिए पक्षता-अवच्छेदक से अविच्छिन्न अनुमिति के प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न सिद्धि ही प्रतिबन्धक और पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्य रूप से होने वाली अनुमिति के प्रति सिद्धि मात्र प्रतिबन्धक होती है। निष्कर्षतः पक्ष के शिखर रूप यत्किञ्चित् भाग में होने वाली अनुमिति के प्रति 'पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन' तथा 'पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन ये दोनों सिद्धियाँ प्रतिबन्धक है। और पक्ष के समग्र भाग में होने वाली अनुमिति के प्रति 'पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन' सिद्धि ही प्रतिबन्धक

होती है।[४७९] इसी बात की पुष्टि विश्वनाथ ने भी अक्षरशः की है।[४८०] इसी प्रकार पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन' सिद्धि के पश्चात् 'पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन' अनुमित्सा रहने पर भी, 'पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन' अनुमिति नहीं होती, इसलिये 'पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन' अनुमिति के प्रति 'पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन' अनुमित्सा को ही उत्तेजक माना जाता है। एवं 'पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन' मात्र सिद्धि और तदवच्छेदेन अनुमित्सा रहने पर भी 'पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन' अनुमिति नहीं होती। इसलिये 'पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन' अनुमिति के प्रति पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अनुमित्सा को ही उत्तेजक माना जाता है। यहाँ भी पूर्व रीति के अनुसार लिङ्ग विशेष के निवेश की तरह अनुमिति विशेष का निवेश करना आवश्यक है।[४८१] इसी तरह साध्यविशेष्यक (पर्वते वह्निः इत्याकारक) सिद्धि के पश्चात् यदि पक्ष विशेष्यक (पर्वतो वह्निमान् इत्याकारक) अनुमिति प्रामाणिक हो, तो पक्षविशेष्यक अनुमिति के प्रति पक्ष विशेष्यक सिद्धि प्रतिबन्धक होती है। एवं पक्ष विशेष्यक सिद्धि के पश्चात् साध्यविशेष्यक अनुमिति जहाँ होती है, वहाँ साध्यविशेष्यक अनुमिति के प्रति साध्यविशेष्यक सिद्धि ही प्रतिबन्धक मानी जाती है अथवा साध्यविशेष्यक अनुमिति के प्रति सिद्धिमात्र या साध्य ज्ञान को भी प्रतिबन्धक माना जा सकता है। इसलिये प्रसिद्ध साध्यक स्थल में पक्षविशेष्यक ही अनुमिति होती है, न कि साध्य विशेष्यक।[४८२]

पक्षधर मिश्र-लक्षण

प्राचीन नैयायिकों के अनुमित्सा रूप पक्षता लक्षण का, गृह निष्ठ पुरुष को, घन गर्जन से अनुमित्सा के अभाव में होने वाली मेघानुमिति में व्यभिचार हो जाने के कारण, पूर्व में खण्डन किया जा चुका है। इस लक्षण का परिष्कार कर गङ्गेश कृत सिद्धान्त लक्षण से सामञ्जस्य स्थापित करते हुए पक्षधर मिश्र ने लिखा है कि अनुमित्सा उत्पन्न होने के अनन्तर दो या तीन क्षणों के व्यतीत होने के पश्चात् भी अनुमिति निष्पन्न होती है। अतः अनुमित्सा उत्पत्ति क्षण समाप्त हो जाने के पश्चात् भी अनुमिति होने के कारण अनुमित्सा की योग्यता को ही उत्तेजिका मानना चाहिये। फलतः अनुमित्सा न रहने पर भी अनुमित्सा योग्यता विरहविशिष्ठ सिद्धि के अभाव को उनके मत में पक्षता कहा गया है। तत् तत् अनुमित्साओं की उत्पत्ति के पश्चात् तत् तत् अनुमित्सा विषयक सिद्धि का प्रागभाव ही योग्यता है। जहाँ अनुमित्सा के बाद तद्विषयक सिद्धि नहीं हुई है वहाँ अनुमित्सा योग्यता के विद्यमान रहने पर पक्षता लक्षण समन्वित हो जाता है। जैसे, जहाँ क्रमशः अनुमित्सा, व्याप्ति-स्मरण, परामर्श तत्पश्चात् अनुमिति होती है वहाँ परामर्शकाल में अनुमित्यात्मक सिद्धि की उत्पत्ति नहीं होने के कारण सिद्धि की प्रागभाव रूप योग्यता सिद्ध हो जाती है। इसी तरह जहाँ अनुमित्सा, लिङ्गदर्शन, व्याप्तिस्मरण, परामर्श तथा अनुमिति ये सब क्रमशः होते हैं, वहाँ भी परामर्श पूर्वकाल में अनुमित्सा विषयक सिद्धि की उत्पत्ति नहीं होने से तद्विषयक सिद्धि का प्रागभाव ही योग्यता कहा जाता है। अतः इत्याकारक अनुमित्सा-योग्यता-विरहविशिष्ट सिद्धि का अभाव ही पक्षता है।[४८३] किन्तु यह योग्यता लक्षण न्यायसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर अनुमित्सा के अनन्तर अनुमिति की उत्पत्ति न होने पर, एक दिन के पश्चात् भी इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा साध्यनिर्णय होने के उपरान्त लिङ्गपरामर्श से अनुमिति होने लगेगी जो सर्वथा असंभव है। अतः योग्यता लक्षण का परिष्कार करते हुए दीधितिकार ने कहा है

कि अनुमित्सा के पश्चात् लिङ्ग दर्शन आदि क्रम से जितने काल तक स्वाभाविक परामर्श उत्पन्न होता है, उतना काल ही योग्यता का परिचायक हो सकता है। यह कल्पना फल-उत्पत्ति द्वारा सम्पन्न होती है। तात्पर्य यह कि अनुमित्सा के नष्ट हो जाने पर भी, अनुमिति होने से यह कल्पना की जाती है अथवा अनुमित्सा की उत्पत्ति के बाद अनुमित्सा नाश हो जाने पर भी, सिद्धि रहने पर जितने काल में अनुमिति होती है, उतना काल ही अनुमित्सा योग्यता कहा जा सकता है। अभिप्राय यह कि अनुमित्सा-नाश अधिकरण काल तथा अनुमित्सा दोनों ही उत्तेजक हैं। अतः पूर्वोक्त स्थलों में जहाँ भी अनुमित्सा के पश्चात् दो या तीन क्षण बीत गये हैं वहाँ अनुमित्सा विद्यमान न रहने पर भी, अनुमित्सा-नाश–अधिकरण काल का अस्तित्व रहने से अनुमित्सा योग्यता विरह विशिष्ट सिद्ध्यभाव रूप पक्षता उत्पन्न हो जाती है।[४८४]

उक्त मिश्र मत का उपसाह उड़ाते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि यदि सिद्धि के पश्चात् उसका ध्वंस हो जाने पर भी अग्रिम दो तीन क्षणों में अनुमित्सा के बिना अनुमिति का अनुत्पाद (उत्पत्ति का अभाव) अनुभव सिद्ध हो तो सिद्धि द्वारा भी, उतने काल (जितने में अनुमिति नहीं होती है) को उसी प्रकार प्रतिबन्धक मानना चाहिये जिस प्रकार से अनुमित्सा नाशअधिकरण-काल माना जाता है। अतः अनुमित्सा के बिना अनुमिति संदिग्ध होने के नाते यह मत अस्वरस ही प्रतीत होता है।[४८५]

सार्वभौम-लक्षण

योग्यता का सम्पादन न होने के कारण मिश्र मत में अनुमित्सा के बिना अनुमित्सा के नाश हो जाने के उपरान्त दो तीन क्षण व्यतीत हो जाने पर और सिद्धि विद्यमान रहने पर भी अनुमिति का उत्पादन जहाँ संदिग्ध हो रहा था उसका वारण करने के लिए अर्थात् उक्त स्थिति) में अनुमिति का निसंदिग्ध रूप से निष्पादन करने के लिये) दीधितिकार ने सार्वभौम मत का उल्लेख इस प्रकार किया है—'सिषाधयिषाविरहविशिष्ट स्वक्षण अर्थात् सिद्धि क्षण, उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पद्ध होने वाली अनुमिति ज्ञान से भिन्न सिषाधयिषा विरह सहकृत सिद्धि का अभाव ही पक्षता है।[४८६] जैसे, जिस स्थल में अनुमित्सा, व्याप्ति स्मरण, सिद्ध्यात्मक परामर्श तथा अनुमिति क्रमशः होती है, वहाँ सिषाधयिषा विरह बिशिष्ट सिद्धि क्षण, परामर्श क्षण होगा, उससे अव्यवहित उत्तर क्षण में अनुमिति हो जाती है, इसलिए इस सिद्धि को अनुमितिक भिन्ना नहीं कहा जा सकता, किन्तु कोई दूसरी सिद्धि ही अनुमितिक-भिन्ना होगी। उस अनुमितिविषयक ज्ञान से भिन्न सिद्धि के अभाव को प्रकृत में पक्षता कहा जा सकता है। इसी प्रकार जहाँ अनुमित्सा, लिङ्गदर्शन, व्याप्तिस्मरण, सिद्ध्यात्मक परामर्श तथा अनुमिति ये क्रमशः होते हैं, वहाँ भी पक्षता लक्षण समन्वित हो जाता है। अतः ऐसा लक्षण मानने पर अनुमित्सा के पश्चात् दो या तीन क्षण व्यतीत हो जाने पर भी, सिद्धि के विद्यमान रहते हुए अनुमिति निसंदिग्ध रूप से सम्पन्न हो जाती है। जहाँ सिद्धि, सिषाधयिषा तथा अनुमिति ये क्रमशः होते हैं, वहाँ द्वितीय क्षण में पक्षता के निश्चय के लिए सिद्धि में द्वितीय सिषाधयिषा विरह रूप विशेषण का निवेश करना परमावश्यक है अन्यथा उक्त द्वितीय क्षण में पक्षता का सिद्धि नहीं की जा सकेगी, क्योंकि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि क्षण से, सिद्धि-उत्पत्ति-क्षण को भी गृहीत किया जा सकता है, उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में सिषाधयिषा क्षण ही अवस्थित होगा, यहाँ अनुमिति की उत्पत्ति का अभाव होने से,

अनुमिति उत्पत्ति विषयक ज्ञान से यह सिद्धि सुतरां भिन्न सिद्ध हो जाती है, किन्तु उसका अभाव यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये पक्षता लक्षण का समन्वय भी नहीं किया जा सकता। सिद्धि में सिषाधयिषाविरह' विशेषण सन्निविष्ट कर देने पर इस सिद्धि में उक्त विशेषण के विद्यमान न रहने से, सिषाधयिषाविरह विशिष्ट किसी अन्य सिद्धि का अभाव ही लिया जा सकता है, जिससे पक्षता लक्षण सुगमतापूर्वक उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार जहाँ क्रमशः सिषाधयिषा, प्रात्यक्षिक सिद्धि, परामर्श तथा अनुमिति होती है, वहाँ तृतीय क्षण में पक्षता-निश्चय के लिये सिद्धि में, प्रथम सिषाधयिषाविरह विशेषण का उपादान भी आवश्यक है अन्यथा सिद्धि क्षण के अव्यवहित उत्तर परामर्श क्षण में अनुमिति निष्पन्न नहीं होने के कारण अनुमिति उत्पत्ति विषयक ज्ञान से भिन्न ही यह सिद्धि हो जायगी एवं परामर्शकाल में सिषाधयिषा विरह विशिष्ट भी है। अतः उसका अभाव विद्यमान न रहने से पक्षता लक्षण उपपन्न नहीं हो सकता। अतः सिद्धि क्षण का प्रथम सिषाधयिषाविरह विशेषण आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि इसके उपादान से सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्धि क्षण के रूप में परामर्श क्षण का ही ग्रहण होगा, उसका अव्यहित उत्तर क्षण अनुमिति क्षण होगा, उस क्षण में अनुमिति की उत्पत्ति होने से अनुमिति उत्पत्तिक भिन्ना सिद्धि कोई अन्य सिद्धि ही होगी, उसका अभाव ही पक्षता लक्षण के रूप में गृहीत किया जा सकता है।[४८७] यहाँ अव्यवहितोतरत्व द्वितीय क्षण साधारण ही अभिप्रेत है। दीधितिकार[४८८] का समर्थन करते हुए अव्यहितोत्तरत्व का परिष्कृत लक्षण जगदीशीकार ने इस प्रकार दिया है—"सिषाधयिषा विरहविशिष्ट स्वक्षण अर्थात् सिद्धि क्षण के ध्वंस का अधिकरण काल उसके ध्वंस का अनधिकरण होते हुए जो सिषाधयिषाविरहविशिष्ट स्वक्षण के ध्वंस का अधिकरण हो वही अव्यवहितोतरत्व है।"[४८९] किन्तु यह अव्यहितोत्तरत्व घटित लक्षण भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि जहाँ अनुमित्सा नाशकाल में प्रात्यक्षिक सिद्धि तदनन्तर परामर्श और अनुमिति क्रमशः होते हैं, वहाँ पक्षता का निश्चय नहीं किया जा सकता, कारण सिषाधयिषाविरहबिशिष्ट सिद्धिक्षण से अव्यवहितोत्तर क्षण के रूप में परामर्श क्षण का ग्रहण किया जा सकता है। और वहाँ पर अनुमिति की उत्पत्ति न हो सकने से यह सिद्धि अनुमिति उत्पत्तिक भिन्न ही सिद्ध हो जायगी, इसलिये उसके अभाव को पक्षता नहीं बताया जा सकेगा।[४९०] इस दोष का वारण करने के लिए द्वितीय तृतीय क्षण साधारण अव्यहितोतरत्व का परिष्कार यदि इस प्रकार किया जाय कि सिद्धि के ध्वंस का अधिकरण काल, उसके ध्वंस का अनधिकरण होते हुए जो सिद्धि-अधिकरणकाल ध्वंस का अधिकरण हो वहीं अव्यवहितोत्तरत्व है। अब जहाँ पर अनुमित्सा नाश काल में प्रात्यक्षिक सिद्धि, परामर्श तथा अनुमिति क्रमशः होती है, वहाँ अव्यवहितोत्तरत्व अनुमिति क्षण में सम्पन्न हो जाता है।[४९१] इतना होने पर भी सार्वभौम प्रणीत पक्षता लक्षण निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इच्छाजनक सामग्री यदि अनुमिति की प्रतिबन्धिका हो तब जिस स्थल में सिद्धि, सिषाधयिषा और अनुमिति क्रमशः होती है वहाँ प्रथम क्षण में पक्षता रहने पर भी इच्छा सामग्री के प्रतिबन्धक होने से अनुमिति नहीं होगी। इस आपत्ति का वारण करने के लिये लक्षण निष्ठ—'सिषाधयिषाविरहस्वक्षण' विशेषण निष्प्रयोजक ही सिद्ध होगा। इसलिये पक्षता लक्षण का परिष्कार 'अनुमिति से अव्यवहित पूर्व में रहने वाली सिद्धि से भिन्न सिद्धि का अभाव ही पक्षता है' इस प्रकार किया जा सकता है। ऐसा लक्षण स्वीकार कर लेने पर पूर्व लक्षण की तरह यहाँ अतिव्याप्ति तथा वैयर्थ्य

दोषों का उद्भावन नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ सिद्धि, सिषाधयिषा और अनुमिति क्रमशः होती है, वहाँ अनुमिति के अव्यवहित पूर्ववर्ती सिद्धि से भिन्न सिद्धि का अभाव रूप पक्षता का लक्षण समन्वित हो जाता है।[४९२] किन्तु ये दोनों लक्षण समीचीन नहीं जान पड़ते, क्योंकि यहाँ सिषाधयिषाविरहविशिष्ट तत् तत् सिद्धित्व से अवच्छिन्न का अभाव अथवा सिषाधयिषाविरहविशिष्ट स्वक्षण अव्यवहितोत्तर क्षण उत्पत्तिक अनुमितिक सिद्धिभिन्न सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धित्व से अवच्छिन्न का अभाव निविष्ट है। प्रथम विकल्प स्वीकार कर लेने पर कार्य-कारणभाव मानना होंगे तथा समस्त सिद्धियों में सिषाधयिषाविरह विशेषण देना भी निष्प्रयोजक ही सिद्ध होगा। अतः प्रथम विकल्प न्यायसंगत नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि परामर्श की सत्ता रहने पर किसी सिद्धि के पश्चात् अनुमिति होती है और किसी सिद्धि के रहने पर नहीं भी होती। इसलिये इसमें कोई नियामक नहीं, क्योंकि विशिष्टाभाव विशेष्य-आदि-अभाव रूप ही होता है। इसलिये पूर्वोक्त अभाव, विशेष्यीभूत सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्धि का अभाव रूप ही होगा। एतदर्थ इस प्रकार की सिद्धि रहने पर अनुमिति कदापि नहीं हो सकती। यदि स्वक्षण-अव्यवहितोत्तर क्षण, उत्पत्तिक अनुमितिक भिन्नता-मूलक विशेषणाभाव रूप ही माना जाय, तो अनुमिति-उत्पाद ही अनुमिति की उत्पत्ति का प्रयोजक हो सकता है। इस रीति से द्वितीय विकल्प भी आत्माश्रय दोष से ग्रसित हो जाता है। अतः सार्वभौम के प्रथम लक्षण में प्रयुक्त दोनों विकल्पों के दोष ग्रस्त हो जाने के कारण उनका प्रथम लक्षण उचित नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार द्वितीय परिष्कृत लक्षण भी अनुमिति उत्पाद घटित होने के कारण आत्माश्रय दोष ग्रसित होने से युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता।[४९३]

यज्ञोपति उपाध्याय-लक्षण

गङ्गेश कृत सिद्धान्त लक्षण तथा सार्वभौम मत के कुछ अंशों के योग से विकल्प द्वारा पक्षता लक्षण प्रतिपादित करते हुए यज्ञोपति उपाध्याय ने पक्षता लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है—सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि अथवा अनुमानातिरिक्त साधकमान (सिद्धयात्मक परामर्श सिद्धि जनक मान) दोनों में से एक का अभाव पक्षता है।[४९४] किन्तु यह मत भी तर्क सम्मत नहीं दिखाई देता, क्योंकि 'साधकमान' पद से सिद्धिस्वरूप योग्य या सिद्धिविशिष्ट अथवा उसकी (अनुमान से अन्य सिद्धि की) सामग्री ये तीन विकल्प गृहीत किये जा सकते हैं। यदि प्रथम विकल्प ग्रहण किया जाय, तो जहाँ चक्षु आदि का संयोग धूम आदि से हो चुका है, वहाँ उनके रहते हुए अनुमित्सा के बिना अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट अनुमान अतिरिक्त साधकमान का अभाव वहाँ विद्यमान नहीं है, अपितु साधकमान सिद्धि स्वरूप योग्य होने के नाते, चक्षु आदि में, सिद्धि स्वरूप को ग्रहण करने की योग्यता ही है, उसका अभाव नहीं। अतः प्रथम पक्ष उचित नहीं जान पड़ता। द्वितीय कल्प इसलिये समीचीन नहीं जान पड़ता कि, सिद्धि से पहले साधकमान का विशिष्ट (सिद्धि का जनक) होना सर्वथा असम्भव है। सिद्धि की जनक प्रत्यक्ष सामग्री भी होती है और वह सिद्धि के पूर्व साधकमान से विशिष्ट नहीं है। अतः प्रत्यक्ष सामग्री के रहने पर अर्थात् सिद्धिविशिष्ट प्रत्यक्ष सामग्री के अभाव रूप पक्षता विद्यमान रहने से, अनुमिति की आपत्ति लग सकती है। दूसरी बात यह है कि, सिद्धिजनकमान जो परामर्श आदि हैं, वह अनुमिति से पहले अनुमिति-विशिष्ट नहीं हो सकते। इसलिए वह अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, अतः

अनुमान-अतिरिक्त पद, द्वितीय पक्ष मान लेने पर निष्प्रयोजक सिद्ध हो जाता है। अतः द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। एवं तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि अनुमिति सामग्री की अभावत्व रूप से प्रत्यक्ष के प्रति कारणता (प्रत्यक्ष के प्रति अनुमिति सामग्री प्रतिबन्धक होती है, वहाँ प्रतिबन्धक अनुमिति सामग्री के अभाव को ही प्रत्यक्ष सामग्री के प्रति कारण माना गया है) और प्रत्यक्ष सामग्री की अभावत्व रूप से अनुमिति के प्रति कारणता (उसी प्रकार पूर्वरीति से जहाँ अनुमिति के प्रति प्रत्यक्ष सामग्री प्रतिबन्धक होती है, वहाँ प्रतिबन्धक प्रत्यक्ष सामग्री के अभाव को अनुमिति सामग्री के प्रति कारण माना जाता है) होने से अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है। वस्तुतः स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेक, प्रथम उपस्थिति तथा लाघव की दृष्टि से प्रत्येक में प्रतिबन्धकता तथा उसके अभाव में कारणता मानना उचित है। अतः अन्यतरत्व रूप से पक्षता लक्षण व्यक्त करना उचित नहीं जान पड़ता।[४९५]

प्रभाकर मत

प्रभाकर मत उत्थापित करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि अनुमित्सा के अभाव में ही, जिस स्थल में पूर्व-पूर्व अनुमिति दशा में दूसरे परामर्श की सामग्री संभावित है, वहाँ परामर्श और अनुमिति का प्रवाह अविरल रूप से अनुभव सिद्ध होने के नाते, उस स्थल में एक अनुमिति के विनष्ट हो जाने के पश्चात्, दूसरी अनुमिति की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती है, क्रमिक रूप से नहीं। इस प्रकार काल भेद युक्त कल्पना में कोई प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण पक्षता को अनुमिति का कारण नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि, जिस स्थल में क्रमिक अनुमिति का प्रवाह आनुभविक (अनुभवसिद्ध) नहीं है, उस स्थल के लिये पक्षता को अनुमिति—हेतु बनाया जा सकता है, किन्तु यह भी तर्क सम्मत नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि यह कहा जाय कि, सिद्धि अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है, इसलिये उसके अभाव को पक्षता मानना चाहिये, क्योंकि सिद्धि यदि अनुमिति की विरोधी न मानी जाय, तो परार्थानुमान स्थल में उसका उद्भावन प्रमाण-दोषत्व रूप से संगत नहीं होता, तो यह भी आशंकनीय नहीं है, कारण परार्थानुमान में सिद्धि साधन, प्रमाणदोषपता नहीं, अपितु पुरुषदोषतया ही उपन्यस्त होता है, क्योंकि किसी निश्चित वस्तु में जिज्ञासा नहीं होने के कारण, पुरुष द्वारा अन-आकाङ्क्षित अभिमान किया जाता है, अतः यह दोष पुरुष निष्ठ ही है। इसलिये पुरुष-निष्ठ दोष होने से पुरुष दोष तथा सिद्धि साधन का उद्भावन होने के नाते, पक्षता को अनुमिति-कारण नहीं माना जा सकता।[४९६] परन्तु यह मत तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, कारण समान विषयक प्रत्यक्ष सामग्री के विद्यमान रहने पर, अनुमिति नहीं होती, इसलिए वह्नि आदि प्रत्यक्ष जनक तत् तत् असाधारण कारण को ही वह्नि आदि की अनुमिति में प्रतिबन्धक माना जा सकता है। वह्नि चक्षु संयोग रूप प्रत्यक्ष ज्ञान, जिस प्रकार अनुमिति ज्ञान का विरोधी होता है, उसी प्रकार वह्नि आदि रूप विशेषण आदि विषयक वह्निमान् प्रत्यक्ष के हेतु 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक सिद्धि निश्चय को भी विनिगमनाविरह से अनुमिति का प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है, इस प्रकार 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक निश्चयता रूप अनुगत धर्म से तत् तत् सिद्धि व्यक्तियों को अनुमिति का विरोधी माना जाता है। ऐसी स्थिति में सिद्धि के प्रतिबन्धक तथा सिषाधयिषा के उत्तेजक होने पर सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव रूप पक्षता सुगमतापूर्वक 'अनुमिति

कारण' सिद्ध हो जाता है। अतः प्रभाकर का पक्षता खण्डन युक्तिविहीन ही जान पड़ पड़ता है।

निष्कर्षतः गङ्गेश का लक्षण उचित जान पड़ता है। अन्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी का थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ समर्थन किया है।

श्री हर्ष मत[४९७]

पक्षधर्मता-घटक पक्ष की समीक्षा करते हुए खण्डनकार श्री हर्ष ने कुछ पक्षता-लक्षणों का खण्डन करते हुए लिखा है कि, यदि 'जिस धर्मी में साध्य धर्म को अवधारित करने की इच्छा हो, वहीं पक्ष माना जाय, तो उचित नहीं, कारण ऐसी स्थिति में दो विकल्प हो सकते हैं--सिषाधयिषा कथन की इच्छा है अथवा ज्ञान की ? आद्य पक्ष मानने पर स्वार्थानुमिति नहीं होगी, क्योंकि उसमें पञ्चावयवात्मक प्रतिपादन की इच्छा रूप पक्षता नहीं रहती। अन्तिम कल्प इसलिये युक्त नहीं है कि 'सटित मांसं कुत्सितरसवत् असुर-मिगन्धवत्त्वात्' इत्याकारक अनुमिति स्वार्थानुमिति नहीं कहलायेगी, क्योंकि यहाँ प्रतिपिपादयिषा रूप पक्षता नहीं है। यदि इस आक्षेप के निराकरण के लिये, पक्ष का लक्षण 'जिस धर्मी का धर्म अज्ञात हो, वही पक्ष है, ऐसा माना जाय, तो भी समीचीन नहीं है, कारण 'पर्वत वह्नि युक्त है, धूम होने से,' इस स्थल पर धर्मी 'पर्वत' का धर्म 'साध्य वह्नि' अज्ञात है इसलिए इसे पक्ष माना जा सकता है। किन्तु साध्य की भांति हेतु भी पक्ष धर्म कहलाता है, अतः उक्त सिद्धान्त के अनुसार एतादृश पक्षता रहने पर अर्थात् हेतुमत्तया पक्ष का निश्चय न होने पर हेतुमत्ता का अवगाहन करने वाला परामर्श भी निष्पन्न नहीं हो सकेगा, जो कि न्यायमत में अनुमिति का चरम कारण माना जाता है। यदि हेतुमत्तया अवधारण थोड़ी देर के लिए स्वीकार कर भी लिया जाय, तो परामर्श सम्पादित होने पर भी उक्त आकारक पक्षता उपपन्न नहीं होगी। अतः उभय पक्षों में अनुमिति न हो सकने के कारण लह लक्षण असंभव दोष से ग्रस्त होगा। इसी लक्षण का कुछ परिष्कार करते हुए यदि कहा जाय कि हेतु का विषय साध्य धर्म जिस धर्मी में ज्ञात न हो, उसे पक्ष मान लेने पर उपर्युक्त दोषों का उद्भावन नहीं किया जा सकता, तो यह मन्तव्य भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, कारण यदि वादी द्वारा उक्त धर्म को अज्ञात माना जाय, तो परार्थानुमान में वादी द्वारा पर्वत निष्ठ वह्नि ज्ञात होने के कारण, वह पक्ष नहीं माना जा सकेगा। फिर स्वयं द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान अर्जित किये बिना दूसरों को समझाने के लिए उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि उक्त धर्म प्रतिवादी द्वारा अज्ञात समझा जाय, तो भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि प्रतिवादी द्वारा साध्य के अधिगत होने पर भी परस्पर विद्योत्कर्ष के अपकर्ष-निरूपण (अर्थात् परस्पर एक दूसरे के ज्ञान के उत्कर्ष का बाधन करने के लिए) के लिए प्रतिवादी भी अनुमान का प्रयोग करते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ 'यात्किञ्चित हेतु-विषय' साध्य धर्म का अनवधारण अपेक्षित है अथवा 'वादि प्रयोक्तव्य हेतुविषय' साध्य धर्म का ? आद्य पक्ष में साध्य धर्म अग्नि का अवधारण होने पर भी तत् तत् अन्य हेतु विषय अनेक साध्य धर्मों का अनिश्चय होने के कारण, हेतु धूम के प्रति पर्वत पक्ष माना जा सकता है। अन्तिम पक्ष इसलिये उचित नहीं है कि, अग्नि की निश्चय दशा में भी वादिप्रयोक्तव्य (वादि द्वारा प्रयुक्त होने योग्य) हेतु धूम के विषय 'श्यामत्व, प्रदेशत्व' आदि धर्मों का अज्ञान रहता है। इसी प्रकार वादी द्वारा अन्य हेतु भी कदाचित् प्रयुक्त किया जा सकता है। इस आपत्ति का परिहार करने

के लिए यदि 'वादिप्रयोक्तव्य हेतु धूम के विषय साध्य धर्म वह्नि का अनिश्चय जहाँ विद्यमान हो, उसी आश्रय को पक्ष माना जाय, तो वह, साध्य-साधन भेद द्वारा पक्ष-लक्षण का भेद होने के कारण अननुगम दोष से ग्रस्त होगा। दूसरे, अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता विशिष्ट को ही हेतु कहा जाता है, अतः पक्ष से हेतु और हेतु से पक्ष का निरूपण होने पर उक्त दोष आक्रान्त होगा। तीसरी बात यह भी है कि स्वार्थानुमान में हेतु का प्रयोग नहीं होता, इसलिए पक्ष न होने से अनुमिति भी नहीं होगी। यदि यह कहा जाय कि, जिस आश्रय में साध्य का संदेह हो वही पक्ष है तो भी युक्त नहीं, कारण यह भी उक्त युक्तियों द्वारा निरस्त हो जाता है।[४९८] आशय यह कि 'जिस धर्मी में साध्य धर्म संदिग्ध हो,' उसे ही यदि पक्ष माना जाय, तो ऐसी स्थिति में दो विकल्प हो सकते हैं—यहाँ संदेह वादी-प्रतिवादी का है अथवा मध्यस्थ का? आद्य कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि नैयायिक वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्तानुसार संदेह रहित वादी-प्रतिवादी ही वाद प्रक्रिया में प्रवत्त होते हैं। अन्तिम पक्ष इसलिए दूषित है कि, मध्यस्थ उन्हीं विद्वानों को बनाया जा सकता है, जो वादी-प्रतिवादी दोनों के वाद-सिद्धान्तों में निष्णात हों। इसलिये वादी-प्रतिवादी अथवा मध्यस्थ दोनों को संदेह न होने से उक्त लक्षण निष्पन्न नहीं होने पाता। दूसरे, संशय के बिना भी जो व्यक्ति धूम मात्र से, अग्नि का अनुमान करता है, उसे संदेह विशिष्ट धर्मी में हेतु की वृत्तिता का ज्ञान होने से, अनुमिति नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसी अनुमिति होना सर्व प्रसिद्ध है। इन्हीं युक्तियों द्वारा 'प्रज्ञापनीय धर्मविशिष्ट धर्मी' रूप पक्ष लक्षण भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि स्वार्थानुमान में शब्द प्रयोग द्वारा साध्य का प्रज्ञापन नहीं होता। इसी प्रकार प्रमित्सित धर्म विशिष्ट धर्मी को भी पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण जिस व्यक्ति को किसी अनिष्ट विषय की प्रमित्सा नहीं है, उसे भी उस विषय की अनुमिति होती है। इसी तरह भासर्वज्ञ के पक्ष-लक्षण—'साध्य रूप धर्म में विशिष्ट धर्मी ही पक्ष है', की भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि साध्य पद से, 'संदिग्धत्व, प्रज्ञापनीयत्व और प्रमित्सितत्व' इनमें से किसी धर्म की विवक्षा करने पर उक्त सभी दोष आक्रान्त होंगे। अप्रमित्सितत्व की विवक्षा इसलिए समीचीन नहीं जान पड़ती कि प्रमाण-सम्प्लव वादी नैयायिक प्रमित एवं अनुमित अर्थ में भी अनुमान की प्रवृत्ति मानते हैं: इसी प्रकार तत्तत्काल विशिष्ट साध्य अप्रमित भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि काल विषयक अनुमान में अन्य काल का वैशिष्ट्य संभावित नहीं है। अतः किसी भी प्रकार से पक्ष का लक्षण निष्पादित न होने के कारण, पक्षता लक्षण भी अनुपपन्न रह जाता है।[४९९]

अन्य सिद्धान्तों की भांति खण्डनकार का यह विवेचन भी खण्डन तक ही सीमित रहा है। तत्त्वप्रदीपिकाकार ने खण्डनकार के सिद्धान्तों का ही अनुगमन किया है। अद्वैत-सिद्धिकार ने भी 'मिथ्यात्व-निरूपण' के प्रसङ्ग में 'साध्य-संदेहवत्त्वम् तथा साध्यगोचर-साधकमानाभाववत्त्वम् (सिद्ध्यभाव) इन दो पक्ष लक्षणों का निर्वचन किया है।[५००] संभवतः वेदान्तियों के उक्त पक्ष-पक्षता लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए भी गङ्गेश ने पूर्व-पक्ष में अनेक लक्षणों का खण्डन कर अपना निर्दुष्ट सिद्धान्त लक्षण स्थापित किया है। जिसका समर्थन उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने किया है। अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि एक अनुमिति के पश्चात् दूसरी अनुमिति की आपत्ति का वारण करने के लिए पक्षता को मानना आवश्यक है।

इस प्रकार सभी अनुमान व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान पर अवलम्बित रहते हैं, किसी भी अंश का वैकल्य होने पर, अनुमान सद्-अनुमान नहीं रहता वरन् असद्-अनुमान ही होता है।

संदर्भ निर्देश

१. अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः। अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः। वै० सू० ३।१।७-८ २. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य। वही ३।१।१४। ३. अप्रसिद्धोऽनपदेशः——वही ३।१।१५। ४. वही ३।१।९, ९।२।१। ५. विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोपि न भवतीति। एवं प्रसिद्धसमस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरम्-अग्न्यध्यवसायो भवतीति। प्र० भा० पृ० २९४। ६. एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्। वही पृ० ३०३। ७. वै० सू० ३।१।९, ९।२।१। ८. शास्त्रे च कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्, कस्मात् व्यतिरेकदर्शनात्। वही पृ० ३०३। ९. वही पृ० ३०३-४। १०. ILA. p. १०२-५; न्या० वा० पृ० १५३-५५; न्या० वा० ता० टी० पृ० १५३-५५। ११. न्या० सू० १।१।३७-३८। १२. न्या० भा० पृ० ५१४-१६। १३. न्या० सू० १।१।३६-३७। १४. सोऽयमेकस्मिन्द्वयोधर्मयोः——उपलभ्यते। साध्यवैधर्म्यात्तद्धर्मभावी——सः तस्मिन न भवतीति। पूर्वस्मिन दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावनुमिनोति। उत्तरस्मिन दृष्टान्ते तयोधर्मयोरेकस्यावादितरस्याभावं पश्यति तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति। न्या० भा० पृ० ३०९-११। १५. न्या० सू० १।१।३४-३५। १६. उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति। ——अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम्——न्या० भा० पृ० २८४-९०। १७. न्या० सू० १।१।३८; न्या० भा० पृ० ३१३-१४। १८. न्या० भा० पृ० ३१७। १९. न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते। अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते। व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तेस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपादानं न साधर्म्यमात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य वेति। न्या० भा० पृ० ३१७-१८। २०. दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः। न्या० सू० ५।१।३४। २१. न्या० भा० गं० पृ० ८७७। २२. न्या० सू० ५।१।४०; न्या० भा० गं० पृ० ८८५-८६। २३. न्या० सू० २।१।३१; न्या० भा० पृ० ४६२-६७। २४. न्या० सू० २।१।३२; न्या० भा० पृ० ४६८-६९। २५. न्या० सू० २।१।४७-४८; न्या० भा० पृ० ५३१। २६. न्या० सू० २।१।४९-५६; न्या० भा० पृ० ५३४-५४६। २७. तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाऽभिसम्बध्यते।——न्या० भा० पृ० २४२। २८. अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेशदेशान्तरेऽसंन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शा० भा० पृ० ३६। २९. अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यो० भा० पृ० ११। ३०. महाभाष्य ३।२। १२४ पर। ३१. (१) सम्भवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्।

न्या० भा० पृ० ५७४। (२) अविनाभाववृत्या च सम्बद्धयोः——वही पृ० ५७७। (३) अविनाभाववृत्तिः सन्निधिः। वही पृ० ६५९। (४) अविनाभावेन वर्तमानासु व्यक्त्याकृतिजातिषु——वही पृ० ६५९। ३२. साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण-सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः। न्या० भा० पृ० ३१७। 'व्यधिकरणस्यानभिव्यक्तेर-धिकरणवचनम्। वही पृ० ५११। 'सहचरणाद्' यष्टिकां भोजयेति, यष्टिकासहचरितो' ब्राह्मणोऽभिधीयत इति। वही पृ० ६६३। ३२।१. श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने अपनी पुस्तक 'स्वामी समन्त भद्र' में समन्त भद्र का समय विक्रम दूसरी-तीसरी शती माना है। ३२।२. आ० मी० का० १७, १८, ७८ ॥३२।३॥ जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार पृ० ४०। ३३. न्या० वा० पृ० २९१-९२। ३४. न्या० वा० ता० टी० पृ० १३८-३९। ३५. प्रतिबन्धः स्वाभाविकः सम्बन्ध :। आत्मतत्त्वविवेक पृ० ११६। ३६. ——प्रति-बन्धो नाम। अनौपाधिकः सम्बन्ध इति ब्रूमः। ——तस्मादनौपाधिकत्वमेव स्वाभा-विकत्वम्। कि० पृ० पृ० २९७, ३००। ३७. त० सं० पृ ४६। ३८. उपाधिज्ञानाद्व्यभि-चारज्ञाने सति न व्याप्तिनिश्चय इत्युपाधिर्निरूप्यते त० चि० पृ० ८७७। ३९. उपाधि-लक्षणं तु साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमित्युक्तिमेव। कि० पृ० ३०१। ४०. उपाधिः साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकः। त० चि० पृ० ८७७। ४१. त० चि० र० पृ० २९६-९७। ४२. तन्न साधनपक्षधर्मावच्छिन्न-साध्यव्यापकोपाध्यव्याप्तेः। त० चि० पृ० ८७७। ४३. लक्षणं तु पर्यवसितसाध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्। यद्धर्मावच्छेदेन साध्यं प्रसिद्धं तदवच्छिन्नं पर्यवसितं साध्यम्। वही पृ० ९७१। ४४. साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा। स उपाधि-र्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥ का० त० का० १३८। ४५. सि० मु० ३ पृ० १६२-६३। ४६. यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमित्यर्थे-तात्पर्यात्। वही पृ० १६३। ४७. त० सं० पृ० ४६। ४८. साध्यसमानाधिकरणा-त्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। वही पृ० ४६-४७। ४९. का० व० का० १३९। ५०. वही का० ४०; सि० मु० ३ पृ० १६५-६७। ५१. अत्रोच्यते यद्व्यभिचारित्वेन साधनस्य साध्य-व्यभिचारित्वं स उपाधिः। त० चि० पृ० ९५२। ५२. व्याप्तिश्च उभयविधोपाधि-विधुरः सम्बन्धः। स० द० सं० पृ० १०-११। ५३. उपाधिश्च शंकितो निश्चतश्चेति द्विविधः। सं० द० सं० टी० पृ० १०। ५४. त० प्र० पृ० ३८४-८६। ५५. उ० पृ० ९०। ५६. स० द० सं० पृ० १२। ५७. त० प्र० पृ० ३८६-८७। ५८. उ० पृ० ९०। ५९. उ० पृ० ९२-९३। ६०. त० चि० पृ० ५९०-९९। ६१. स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः। न्या० सा० पृ० २२। ६२. प० पं० पृ० २२-२३। ६३. न्या० कं० पृ० ४९९-५००। ६४. न्या० ली० पृ० ४९६। ६५. न्या० ली० टी० पृ० ४९६-५०। ६६. त० चि० पृ० ३७६। ६७. त० चि० र० पृ० ८६-८७। ६८. उ० पृ० ९०। ६९. त० चि० पृ० ३८१। ७०. उ० पृ० ९२। ७१. त० चि० पृ० १४१। ७२. वही पृ० १४१। ७३. कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्याद्यव्याप्यवृत्ति-साध्यकाव्याप्तिवारणाय साध्यवद्भिन्नेति साध्याभाववतो विशेषण मिति। व्या० पं० मा० पृ० ५८। ७४. त० चि० पृ० १४१। ७५. साध्याभाववत् इत्यस्य व्यर्थतापत्तेः, साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वमित्यस्यैव सम्यक्त्वात् व्या० पं० मा० पृ० ५९। ७६. त० चि० पृ० १४१। ७७. हेतौ साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावाधिकरणवृत्तित्वाभाव इत्यर्थः

व्या० पं० भा० पृ० ६८। ७८. त० चि० पृ० १४१। ७९. साकल्यं साध्याभाववतो विशेषणम् तथा च यावन्ति साध्याभावाधिकरणानि तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वं हेतोर्व्याप्तिरित्यर्थः व्या० पं० मा० पृ० ७३। ८०. त० चि० पृ० १४१। ८१. व्या० पं० भा० पृ० ८४। ८२. त० चि० १४१। ८३. व्या० पं० मा० पृ० ८६-८८। ८४. उ० पृ० ८९। ८५. त० चि० पृ० १६१। ८६. वही पृ० १६१। ८७. वही पृ० १६१। ८८. उ० पृ० ९१। ८९. त० चि० पृ० १८३। ९०. दी० पृ० १९०। ९१. वही पृ० १९०। ९२. जा० व्य० जा० पृ० ९०। ९३. दी० पृ० २१८-१९। ९४. वही० पृ० २२६। ९५. वही० पृ० २२६। ९६. वही पृ० २२६। ९७. वही पृ० २४२। ९८. गा० पृ० २४३। ९९. जा० व्य० जा० पृ० १४१। १००. दी० पृ० २४२-४३। १०१. जा० व्य० जा० पृ० १४५। १०२. दी० पृ० २४३। १०३. वही पृ० २४३। १०४. वही पृ० २५४। १०५. वही पृ० २६९। १०६. जा० व्य० जा० पृ० १८९। १०७. दी० पृ० २७५। १०८. वही पृ० २७६। १०९. वही पृ० २७६। ११०. वही पृ० २८८। १११. वही० पृ० २८८। ११२. वही पृ० ३१४। ११३. त० चि० पृ० ३१८। ११४. वही पृ० ३१८। ११५. दी० पृ० ३१८-१९। ११६. वही पृ० ३१८। ११७. वही पृ० ३१९। ११८. त० चि० पृ० ३९१। ११९. सि० मु० २ पृ० २१-२४; दि० पृ० २२१; वि० २ पृ० २१-२२। १२०. दी० पृ० ३९२। १२१. सि० मु० २ पृ० २२। १२२. सि० मु० २ पृ० २३-२५। १२३. दण्ड्यादौ साध्ये परम्परासम्बद्धं दण्डत्वादिकमेव साध्यतावच्छेदकमतो ना व्याप्तिः। दी० पृ० ३९५; सि० मु० २ पृ० २५। १२४. वही पृ० ४१८। १२५. साध्यादिभेदेन व्याप्तेर्भेदात् तादृशस्थले साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकमित्येव लक्षण घटकमित्यपि वदन्ति। सि० मु० पृ० २५। १२६. सि० मु० २ पृ० २५-२६। १२७. वही पृ० २७। १२८. वही पृ० २७-२९। १२९. वही पृ० ३५-३७। १३०. दी पृ० ४५७। १३१. वही पृ० ४६४। १३२. सि० मु० २ पृ० ३७-३८। १३३. वही पृ० २१-३९; का० व० का० ६९। १३४. प्रतियोगिव्यधिकरणहेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य मित्यर्थात् त० पृ० १५। १३५. यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। त० भा० पृ० ७२। १३६. त० सं० पृ० ३४। १३७. साहचर्यं सामानाधिकरण्यं तस्य नियमः त० सं० दी० पृ० ३५। १३८. सोपाधिकोहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धः त० स० पृ० ४६। १३९. व्याप्तिरविनाभावो नित्यसाहचर्यमित्यर्थः न्या० मं० १ पृ० १०३। १४०. तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः त० भा० पृ० ७६। १४१. ता० र० श्लो० १४। १४२. त० सं० दी० पृ० ३५। १४३. न्या० बो० पृ० ३५-३६। १४४. त० कौ० २ पृ० ११। १४५. न्या० सि० मं० २ पृ० १६। १४६. शा० भा० पृ० ३६ : १४७. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ४-१५। १४८. वही श्लो० १२१-२३; उद्धृत-त० भा० पृ० ८१। १४९. न्या० र० मा० पृ० ३२६, ३३६। १५०. स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः। स्वाभाविकत्वं चोपाधिराहित्यम्। मा० मे० पृ० २६। १५१. व्याप्तिनियमः प्रतिबन्धोऽव्यभिचारस्तथाविनाभावः।———इति ———पर्याया इति———वही पृ० ४८। १५२. सम्बन्धनियमो व्याप्तिः——— दृश्यमानेषु देशकालादिषु यो लिङ्गस्य लिङ्गिना सहभावः स एव नियमः। तेन यस्य——— ———सैव चाऽनुमितिरिति फलितम्। त० सि० र० पृ० ५८। १५३. प्र० पं० पृ० २०२। १५४. सां० सू० ५।२६-२७। १५५. नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः

वही ५।२९। १५६. सां० प्र० भा० पृ० १२८। १५७. सां० सू० ५।३०; सां० प्र० भा० पृ० १२९। १५८. सां० सू० ५।३१। १५९. स्वमतमाह———सा एव, व्याप्ति इति। अ० वृ० पृ० १६५। १६०. परमतमाह———विशेषणीय इतिभाव:। सा० प्र० भा० पृ० १२९। १६१. सा० सू० ५।३६। १६२. आधेयशक्तियोग: इति पञ्चशिख:। वही ५।३२। १६३. सां० प्र० भा० पृ० १२९। १६४. सा० सू० ५।३३; सां० प्र० भा० पृ० १२९। १६५. सां० सू० ५।३४; अ० वृ० पृ० १६५। १६६. सा० सू० ५।३५; सा० प्र० भा०पृ० १२९। १६७. अ० वृ० पृ० १६५-६६। १६८. सा० सू० ५।३६। १६९. अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तौ भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्त: सम्बन्ध:। यो० भा० पृ० ११। १७०. त० वै० पृ० ११। १७१. सं० पृ० २५४-७३। १७२. त० प्र० पृ० ३८०-३८७। १७३. व्याप्तिश्चाशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा। वे० प० पृ० १७२। १७४. पृ० ६३। १७५. यावत्साधनाश्रयाश्रितं साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थ:। पृ० १७४। १७६. पृ० १०५। १७७. ग्राह्य धर्मस्तद् अंशेन व्याप्तो हेतु: प्र० स० अध्याय २. उद्धृत FFD. p. 46 १७८. प्र० वा० का० ३।१। १७९. कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्याविनाभाव: साध्यधर्मं विना न भाव इत्यर्थ:। क० टी० पृ० ८७। १८०. न्या० वि० २।१९-२२। १८१. न्या. बि० टी० ११०-११२। १८२. तस्य व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्रभाव एव। व्याप्य वा तत्रैव भाव: ऐतेन अन्वयो व्यतिरेको वा———हे० बि० पृ० ५३; म० वृ० २८२-८३। १८३. हे० बि० टी० पृ० १७-१८। १८३।१. शा० भा० २।१।५; बृ० पृ० १११। १८४. प्र० वा० टी० (का० १।३० पर) पृ० ७८-८५। १८५. नाप्यविनाभाव: केवलान्वयिन्यभावात् त० चि० पृ० ३७७; दी० पृ० ३७८; त० चि० र० पृ० ८८-८९। १८६. त० प्र० पृ० ३८४। १८७. उ० पृ० ८९-९०। १८८. सहक्रमभाव नियमोऽविनाभाव:। प० मु० सू० ३।१२। १८९. सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव:। वही ३।१३। १९०. पूर्वोत्तरचारिणो: कार्यकारणयोश्च क्रमभाव:। वही ३।१४। १९१. प्र० क० मा० पृ० ३६९। १९२. प्र० र० मा० पृ० १४७। १९३. प्र० मी० १।२।१० एवं वृत्ति पृ० ४१। १९४. वही १।२।६ एवं वृत्ति पृ० ३८। १९५. र० पृ० ९०। १९६. न्या० दी० पृ० ६२। १९७. वै० सू० ९।२।१-२; ३।१।९, ३।१।१४। १९८. न्या० र० मा० पृ० ३२५। १९९. प्र० पं० पृ० २०१-२०२। २००. न्या० वा० ता० टी० पृ० १३८। २०१. प्र० भा० पृ० ३०३। २०२. त० चि० पृ० ६४९-५४। २०३. सा० सू० ५।२८; सा० प्र० भा० पृ० १२८; अ० वृ० पृ० १६३। २०४. कि० पृ० २९५-९६। २०५. त० भा० पृ० ७५-७६। २०६. त० चि० पृ० ६३५-६४४। २०७. दी० पृ० ६३५-६४४। २०८. गा० पृ० ६३४-४४। २०९. सि० मु० ३ पृ० १५२। २१०. त० स० दी० पृ० ३८। २११. नी० पृ० ९५। २१२. अन्यथासिद्धि-शून्यस्य नियता पूर्ववत्तिता। का० व० का० १६। २१३. प्रा० दी० पृ० ९४। २१४. का० व० का० २२। २१५. न्या० कं० पृ० ५००-१। २१६. न्या० वा० ता० टी० पृ० १३९-४०। २१७. त० चि० पृ० ६४४-४५। २१८. न्या० मं० १ पृ० ११०-१११। २१९. त० चि० ६६२। २२०. प्रा० दी० पृ० १५। २२१. यस्य संशय-व्यतिरेक निश्चयौ प्रवृत्तिप्रतिबन्धकौ तन्निश्चयस्तद् हेतु: प्रा० त० चि० पृ० १५। २२२. वही० दी० पृ० २२। २२३. वि० ३ पृ० १५२। २२४. त० सं० दी० पृ० ३८। २२५. सि० मु० ३ पृ० १५१-५२; वि० ३ पृ० १५२। २२६. त० भा० ७२; त० सं०

पृ० ३७ । २२७. त० भा० पृ० ७६; त० सं० दी० पृ० ३८ । २२८. न्या० सू० १।१।४० । २२९. न्या० भा० पृ० ३२०-२१ । २३०. वही० पृ० ३२२ । २३१. तर्को न प्रमाणसंगृहीतो, न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानानुग्राहकस्तत्वज्ञानाय कल्पते, वही पृ० ५३ । २३२. न्या० वा० पृ० ५३-५४ । २३३. न्या० वा० ता० टी० पृ० ५३-५५ । २३४. न्या० वा० ता० टी० प० पृ० ३२६-२७ । २३५. न्या० मं० २ पृ० १४४-४६ । २३६. शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम् । व्याघातावधिराशंका तर्कः शंका-वधिमंतः ।। न्या० कु० ३।७ । २३७. त० चि० पृ० ६७५ । २३८. तर्क प्र० भा० पृ० ३-४ । २३९. किं धूमोऽवह्नेरेव भविष्यति क्वचिद् वह्नि विनापि भविष्यति ? अह्वेतुक एव वोत्पत्स्यते ? इति शंका स्यात् त० चि० पृ० ६७६ । २४०. सर्वत्र स्वक्रियाव्याघातः स्यात् वही पृ० ६७६ । २४१. तर्कं० प्र० मा० पृ० ४ । २४२. त० चि० पृ० ६७६-७१९ । २४३. तर्क प्र० मा० पृ० ३२ । २४४. वही० पृ० ३३ । २४५. तं० चि० पृ० ७१९ । २४६. वही० ७१९ । २४७. खं० पृ० २७१ । २४८. त० चि० पृ० ७२२; तर्क प्र० मा० पृ० ३६ । २४९. त० चि० पृ० ७२२; तर्क प्र० मा० पृ० ३६ । २५०. त० चि० पृ० ७२२ । २५१. वही पृ० ७३३ । २५२. वही पृ० ७३४; तर्क प्र० मा० पृ० ४६-४७ । २५३. त० चि० पृ० ७२४ । २५४. वही पृ० ७३२-३३ । २५५. न्या. सू० वृ० पृ० ३२१-२९; का० व० का० १३७ एवं सि० मु० ३ पृ० १५३-६१ । २५६. त० सं० दी० पृ० ३८ । २५७. ननु सकलवह्निधूमयोरसंनिकर्षात्कथं व्याप्तिग्रह इति चेन्न । वही पृ० ३८ । २५८. त० चि० पृ० ७७० । २५९. त० सं० दी० पृ० ३८ । २६०. त० चि० पृ० ७७० । २६१. सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते । संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः समवेतसमवायः विशेषणविशेष्यभावश्चेति । न्या० वा० पृ० ९४-९५ । २६२. सा० ल० जा० पृ० ३३४ । २६३. का० व० का० ६३ । २६४. दी० पृ० ७७३ । २६५. वही पृ० ७७३ । २६६. वही पृ० ७७९ । २६७. वही० पृ० ७८० । २६८. दी० पृ० ७८५; सि० मु० १ पृ० २५८ । २६९. सा० ल० जा० पृ० ३४५ । २७०. त० चि० पृ० ७९०-९१ । २७१. सि० मु० १ पृ० २५८ । २७२. 'अन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्र चानुमितिरिति । एवं च षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्र-पार्थनमिव' इति वाचस्पतेरुपालम्भो——उद्धृत-त० प्र० पृ० ३९१ । २७३. न्या० मं० १ पृ० १०२ । २७४. त० चि० पृ० ७९८ । २७५. खं० पृ० २५५-५८ । २७६. त० चि० पृ० ८०८-९, ८७१-७२; दी० पृ० ८०९-७२; गा० पृ० ८०९-७६ । २७७. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १२-१३ । २७८. न्या० र० मा० पृ० ३३० । २७९. काशिका ३ पृ० १२-१९ । २८०. श्लो० वा० अनुमान श्लो ५ । २८१. न्या० र० मा० पृ० ३३०-३२ । २८२. त० प्र० पृ० ३८८ । २८३. स० द० सं० पृ० ८-९ । २८४. न्या० वा० ता० टी० पृ० १३९-४० । २८५. न्या० र० मा० पृ० ३२७ । २८६. प्र० पं० २०३-४ । २८७. न्या० वा० ता० टी० पृ० १४० । २८८. न्या० कं० पृ० ५०२ । २८९. न्या० मं० १ पृ० १११; स० द० सं० पृ० ८-१० । २९०. सि० मु० १ पृ० २६१ । २९१. प्र० मी० वृ० पृ० ४१ । २९२. न्या० मं० १ पृ० १११ । २९३. न्या० र० मा० पृ० ३३२-३३ । २९४. ता० टी० पृ० ३०८ । २९५. न्या० र० मा० पृ० ३३३ । २९६. प्र० पं० पृ० २०३ । २९७. वही पृ० २०४-५ । २९८. न्या० र० मा० पृ० ३२८-३० । २९९. वही पृ० ३३३-३६ । ३००. पृ० ५८ । ३०१. मा० मे० पृ० ४७ । ३०२. न सकृद्ग्रहणात् सम्बन्धसिद्धिः सां० सू० ५।२८ । ३०३. वही ५।२९ ।

३०४. सा० प्र० भा० पृ० १२८। ३०५. अ० वृ० पृ० १६३-६४। ३०६. अ० वृ०
टी० पृ० १६३। ३०७. यो० भा० पृ० ११। ३०८. खं० पृ० २६०-२६५।
३०९. त० प्र० पृ० ३८८-८९। ३१०. खं० पृ० २६५-७१। ३११. त० प्र० पृ० ३९०-
९२। ३१२. पृ० १७५-७६। ३१३. पृ० १७६। ३१४. पृ० ६३। ३१५. वे० प०
पृ० १७५। ३१६. पृ० १७६। ३१७. पृ० १७६.। ३१८. पृ० ६४। ३१९. न्या०
बि० २।१९। ३२०. वही ३।३१। ३२१. वही २।२१-२२, २४। ३२२. न्या०
बि० टी० पृ० ११३। ३२३. स० द० सं० पृ० १७-१८। ३२४. न्या० बि० टी०
पृ० ११३। ३२५. न्या० बि० २।२३। ३२६. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावद्वा
नियामकात्। अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात्।। प्र० वा० ३।१४। ३२७. म० वृ०
पृ० २९९। ३२८. प्र० वा० ३।११-१३ एवं म० वृ० पृ० २९०-९१। ३२९. प्र० वा०
३।२२-२६ एवं म० वृ० पृ० २९६। ३३०. एतेन अन्वयो व्यतिरेको वा पक्षधर्मश्च
यथास्वं प्रमाणेन निश्चित उक्तः हे० वि० पृ० ५३। ३३१. हे० बि० टी० पृ० १९।
३३२. तत्र पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धिः। हे० बि० पृ० ५३।
३३३. वही पृ० ५४ एवं हे० बि० टी० पृ० ४१, ४४। ३३४. हे० बि० पृ० ५४। ३३५. वही
पृ० ४५। ३३६. हे० बि० टी० पृ० ४५-५०; ५०। ३३७. हे० वि० पृ० ५४।
३३८. हे० बि० टी० पृ० ५१-५३; ५३-५४। ३३९. बौ० त० भा० पृ० २६।
३४०. बौ० त० भा० टी० पृ० ८५। ३४१. स० द० सं० पृ० १७-१८। ३४२. न्या०
र० मा० पृ० ३२६। ३४३. वही पृ० २५। ३४४. न्या० मं० १ पृ० १०४-५।
३४५. न्या० वा० ता० टी० पृ० १३७-३८। ३४६. वही पृ० १०५-६। ३४७. वही
पृ० १०७-११०। ३४८. तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्ध-
नियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्। त० भा० पृ० २१। ३४९. का० व० का० १९-२२;
सि० मु० १ पृ० ९६-१०३। ३५०. न्या० वा० ता० टी० पृ० १३५। ३५१. न्या०
कं० पृ० ४९३-९८। ३५२. वै० सू० ९।२।१। ३५३. वही ३।१।९। ३५४. वही
२।१।२४। ३५५. वही १।२।१। ३५६. वही १।२।२। ३५७. उ० पृ० ८७-८८,
२१७। ३५८. वै० सू० ३।१।७-८। ३५९. वही ३।१।१०। ३६०. उ० पृ० ८८।
३६१. वै०सू० ३।१।११-१३; उ० पृ० ८८-८९। ३६२. बौ० द० पृ० ११८-१९; JRAS
1929. Prof. Tucci's article, Buddhist logic before Diññāge p. 466-67
३६३. बौ० द० पृ० ११९। ३६४. ILA, p. 102-3। ३६५. प्र० सं० का० १२।
३६६. १।१३।११५। ३६७. प० मु० सू० ३।७-९। ३६८. प्र० र० मा० पृ० १३९।
३६९. प्र० न० त० ३-७-८, १५। ३७०. प्र० मी० १।२।१५। ३७१. प्र० मी० वृ०
पृ० ३६। ३७२. न्या० व० टी० पृ० ७२। ३७३. वही० पृ० ७१-७२। ३७४. प्र०
क० मा० पृ० ३४८-३५२। ३७५. प्र० र० मा० पृ० १४८। ३७६. प्र. मी० वृ० पृ०
३६-३८, ४१। ३७७. न्या० दी० पृ० ६२-६५। ३७८. जै० त० भा० पृ० १०-११।
३७९. अ० स० पृ० १०४। ३८०. प्र० वा० ३।३०। ३८१. वही ३।२६। ३८२. अ०
स० पृ० १०३-४; १०५-१०। ३८३. वही पृ० १११-१२। ३८४. वही० पृ० १०३।
३८५. अ० स० पृ० ११२; न्या० बि० ३।२६-३०; १२१-२२। ३८६. प्र० प० पृ०
७२। ३८७. प्र० मी० वृ० पृ० ४०-४१। ३८८. तत्त्व सं० का० १३६४-६५, ६८,
७५-७६। ३८९. स्या० सि० ४।७९-८९। ३९०. न्या० व० का० २०। ३९१. दृष्टव्य
पूर्व संकेत क्रमांक ३८८। ३९२. तत्त्व० सं० का० १३८०-८१ एवं पं० प० ४०८।

३९३. वही का० १३८२-८५ एवं पं० पृ० ४०८-९ । ३९४. वही का० १३८६-८८ एवं पं० पृ० ४०९ । ३९५. वही का० १३८९ एवं पं० पृ० ४१० । ३९६. वही का० १३९०-९१ एवं पं० पृ० ४१० । ३९७. वही का० १३९५ एवं पं० पृ० ४११ । ३९८. ना लन्दा विशाल शब्द सागर पृ० १०८३; संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० ८८३; The practical Sanskrit English Dictionary p. 754 । ३९९. तत्त्व सं० का० १४०३ एवं पं० पृ० ४१३-१४। ४००. वही का० १४१६-१७ एवं पं० प० ४१६। ४०१. वही का० १४१९, १४२१-२५ एवं पं० पृ० ४१६-१७। ४०२. न्या० मं० १ पृ० १०२ । ४०३. न्या. सू० १।१।३६-३७ । ४०४. न्या० भा० पृ० ३११ । ४०५. न्या० वा० पृ० २९२ । ४०६. न्या० वा० ता० टी० पृ० २९१-९२, ३१० । ४०७. न्या० मं० २ पृ० १३९-४०; न्या० क० पृ० ११ । ४०८. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३१० । ४०९. वही पृ० १४० । ४१०. न्या० सा० पृ० २२-२३ । ४११. अथ साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वेन साध्यव्याप्यत्वमेवानुमीयते । त० चि० पृ० १३९१ । ४१२. वै० सू० १।२।२४, १।२।१ । ४१३. विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोपि न भवतीति। प्र० भा० पृ० २९४ । ४१४. व्यो० पृ० ५६९-७०; कि० पृ० २९५; न्या० कं० पृ० ४९१ । ४१५. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १२१-१२३; इन पर ता० टी०; काशिका; न्या० र० । मा० मे० पृ० ५३-५४; त० सि० र० पृ० ५८। ४१६. प्र० पं० पृ० २२३-२४। ४१७. अन्वय-मुखेन प्रवंतमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् । सा० त० कौ० पृ० ३९। ४१८. यो० भा० पृ० ११। ४१९. प्र० वा० वृ० १।२५ पर पृ० ७५ १।२९-३० पर पृ० ७६-८५, क० टी० पृ० ७४-७५, ७६-८५; म० वृ० पृ० २९६-९८ न्या० बि० ३।१२१-१२२; न्या० बि० टी० पृ० २३४-३९; हे० बि० टी० पृ० १९ । ४२०. न्या० व० का० पृ० १५। ४२१. सि० टी० पृ० ७०; प्र० क० मा० पृ० ३४९ । ४२२. प०मु०सू० ३।८।९; प्र०न०त० ३।७–८; न्या दी०पृ० ६३; जै०त०भा० पृ०१० । ४२३. लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत पुनः । नियमस्य विपर्यासेऽसम्बन्धो लिङ्ग-लिङ्गनोः ॥ हे० बि० टी० पृ० १८। ४२४. प्र० मी० वृ० पृ० ३८ । ४२५. प्र०भा० पृ० ३०२-४ । ४२६. व्यो० पृ० ५७२; कि० पृ० ३०२; न्या० कं० प० ५०३ । ४२७. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ४-११ । ४२८. सां० सू० ५।२९; सां० प्र० भा० पृ० १२८; अ० वृ० पृ० १६४। ४२९. प्र ०स० १।१; प्र० वा० २।१–३; २७, २८, ५०–५१; म० वृ० पृ० ११०–१११ । ४३०. न्या० वा० पृ० १५३–५४ । ४३१. वही पृ० १५४–५५ । ४३२. न्या० वा० ता० टी० पृ० १५४–५५ : ४३३. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १२-१३, १४९-७३ । ४३४. ता० टी० पृ ३०८-९, ३४१-४६; काशिका ३ पृ० १३-१९, ८९-९५, । ४३५. स्या० सि० श्लो० ४।७९–८९ । ४३६. न्या० वि० वि० प्रस्तावना पृ १७। ४३७. त०भा०पृ० ८८–८९ । ४३८. पक्षधर्मता तु व्याप्यस्य पक्षसम्बन्धः। स० प० १४८; व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता । का० व० का० ७०; त० कौ० २ पृ० ११; त० सं० पृ० ३४। ४३९. व्याप्त्यनन्तरं पक्षधर्मता निरूप्यते । त० चि० पृ० १०७९ । 440. While the validity of inference depends on vyāpti, its possibility depends on Pakṣatā. Inference takes place when there is pakṣa or subject of inference, it beomes valid when based on vyāpti or a universal relation between the middle and the major term. Hence while vyāpti is the logical ground of inference,

pakṣtā is its psychological ground or condition. N. T. K. p, 255
४४१. खं० पृ० २८६-८७। ४४२. त० प्र० पृ० ३९२-९३। ४४३. वे० प० पृ० १७१। ४४४. शि० म० पृ० १७१; म० प्र० पृ० १७१-७२; अ० दी० पृ० ६२-६३। ४४५. न्या० भा० पृ० ३५। ४४६. त० चि० पृ० १०७९। ४४७. जा० प० गङ्गा टीका पृ० ५-६। ४४८. जा० प० जा० पृ० ५-६। ४४९. दी० पृ० १०७९। ४५०. जा० प० जा० पृ० ६। ४५१. वही पृ० ६-८। ४५२. त० चि० पृ० १०७९। ४५३. सि० मु० २ पृ० ४२। ४५४. त० चि० पृ० १०८८। ४५५. वही पृ० १०८९। ४५६. वही पृ० १०८९। ४५७. सि० मु० २ पृ० ४१-४२। ४५८. दी० पृ० १०८९-९०। ४५९. न्या० कु० का० १।३ एवं स्वोपज्ञटीका पृ० १७। ४६०. त० चि० पृ० १०९२। ४६१. का० व० का० ७० एवं सि० मु० २ पृ० ४२-४४। ४६२. त० पृ० १५। ४६३. त० सं० दी० पृ० ३४। ४६४. जा० प० गङ्गा टीका पृ० ६१। ४६५. वही पृ० ६१। ४६६. वही पृ० ६१। ४६७. दी० पृ० १०९२। ४६८. सि० मु० २ पृ० ४५-४७। ४६९. दी० पृ० १०९३। ४७०. जा० प० जा० पृ० ६६-६७। ४७१. दी० पृ० १०९७। ४७२. वही पृ० ११०२। ४७३. सि० मु० २ पृ० ४८, ५३। ४७४. दी० पृ० ११०६-७। ४७५. वही पृ० ११११। ४७६. जा० प० जा० पृ० ९३। ४७७. दी० पृ० ११११-१२। ४७८. सि० मु० २ पृ० ४९-५०। ४७९. दी० पृ० १११३ ४८०. सि० मु० २ पृ० ५२। ४८१. दी० पृ० १११८। ४८२. वही पृ० १११९। ४८३. वही पृ० ११२४। ४८४. वही पृ० ११२४। ४८५. वही पृ० ११२६-२७। ४८६. वही पृ० ११३१। ४८७. वही पृ० ११३७। ४८८. वही पृ० ११३८। ४८९. जा० प० जा० पृ० १३४। ४९०. दी० पृ० ११३८। ४९१. वही पृ० ११३८। ४९२. वही पृ० ११३८-३९। ४९३. वही पृ० ११४२-४३। ४९४. वही पृ० ११५५। ४९५. वही पृ० ११५५-५९। ४९६. वही पृ० ११७५। ४९७. जा०प०जा० पृ० १८९-९०। ४९८. खं० पृ० २८४-८५। ४९९. त० प्र० पृ० ३९२-९३। ५००. अ० सि० पृ० २९।

४

अनुमान के भेद

अनुमान के लक्षण, मौलिक घटक तथा आधारभूत तत्त्वों का विवेचन कर देने के पश्चात् इस अध्याय में उसके भेदों का निरूपण करना आवश्यक है। अनुमान भेदों के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए उनको तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है---(१) पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट, (२) स्वार्थ-परार्थ और (३) केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी।

प्रथम वर्गीकरण योग और वेदान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिक परम्पराओं में न्यूनाधिक रूप से उपलब्ध होता है। द्वितीय वर्गीकरण प्रायः सभी दार्शनिकों को मान्य है। तृतीय वर्गीकरण का विवेचन वैदिक परम्परा में ही पाया जाता है, बौद्ध और जैन परम्पराओं में नहीं।

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट

न्याय मत

वात्स्यायन मत

महर्षि गौतम ने अनुमान के तीन भेद---'पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट' ज्ञापित किये हैं,[1] किन्तु उनके लक्षण अथवा उदाहरणों का विन्यास नहीं। इन भेदों की व्याख्या न्याय-भाष्यकार ने दो प्रकार से की है। प्रथम व्याख्या इस प्रकार है---

पूर्ववत्

जहाँ कारण द्वारा कार्य का अनुमान किया जाय, उसे 'पूर्ववत्' अनुमान कहा जाता है। जैसे, 'मेघाच्छन्न आकाश (आकाश में बादलों का उमड़ना) को देखकर, वर्षा होगी, ऐसा अनुमान 'पूर्ववत्' कहलाता है, क्योंकि यहाँ पूर्ववत् कारण 'मेघों का उमड़ना' देखकर ही पश्चात् भावी कार्य 'भावी वृष्टि' का अनुमान किया जाता है।

शेषवत्

जहाँ कार्य द्वारा कारण का अनुमान किया जाय, वह 'शेषवत्' अनुमान है। जैसे, नदी की पूर्णता और उसमें स्त्रोत के वेगपूर्ण प्रवाह को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि वृष्टि हो चुकी है। कार्य, कारण का पश्चात्वर्ती होता है, इसलिये 'शेष' पद से कार्य का ही ग्रहण किया गया है : यहाँ कार्य 'नदी की बाढ़ और स्त्रोत के वेगपूर्ण प्रवाह' को देखकर कारण पूर्ववृष्टि का अनुमान किया गया है।

सामान्यतोदृष्ट

कार्य-कारणभाव से निरपेक्ष जिन दो वस्तुओं का नियत सहभाव (सम्बन्ध) पाया जाता है, उनमें एक से दूसरी का अनुमान करना ही सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। जैसे, बिना गमन के एक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। यह देख लेने के पश्चात् सूर्य को एक स्थान से दूसरे स्थान में देखने पर यह अनुमान किया जाता

है कि सूर्य में भी गति है। साधारणतः आदित्य की गति को प्रत्यक्ष द्वारा अवगम नहीं किया जा सकता। स्थानान्तर प्राप्ति और गति में कार्य-कारणभाव भी नहीं है, किन्तु सहभाव सम्बन्ध नियत होने के कारण वह अनुमान सामान्यतः किया जा सकता है।[२]

द्वितीय व्याख्या का विवेचन करते हुए उन्होंने आगे लिखा है—

पूर्ववत्

पूर्ववत् शब्द में प्रयुक्त 'पूर्व' पद से 'पूर्वकाल' या 'पूर्वकाल के समान' यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। जैसे, पूर्वकाल में पाकशाला आदि किसी आश्रय में, प्रत्यक्ष द्वारा धूम के साथ नियत रूप से अग्नि को देखकर, बाद में, पर्वत आदि अधिकरण में केवल धूम के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। पूर्व अनुभव के आधार पर सम्पादित होने के कारण ही इसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

शेषवत्

शेषवत् में प्रयुक्त 'शेष' पद का अर्थ है परिशेष। प्राप्त के निषेध तथा अन्य में अप्राप्ति द्वारा अवशिष्ट विषय की प्रतीति को परिशेष कहा जाता है। जैसे, शब्द वस्तुतः क्या है, यह संदेह होने पर अनेक विकल्प उपस्थित हो सकते हैं—शब्द द्रव्य है या गुण है या कर्म है अथवा सामान्य है या विशेष है या समवाय है? शब्द में सत्ता और अनित्यता दोनों धर्म पाये जाते हैं, और कणाद सूत्र के अनुसार, द्रव्य, गुण एवं कर्म में भी उक्त दोनों धर्म समान रूप से पाये जाते हैं।[३] इससे सामान्य विशेष और समवाय की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि ये तीनों अनित्य नहीं है। तीनों में शब्द की 'प्रसक्ति का प्रतिषेध' हो जाने के उपरान्त अब यही संभावना बच रहती है कि, शब्द या तो द्रव्य, कर्म अथवा गुण हो सकता है। इनमें से शब्द केवल आकाश का ही गुण होने के नाते द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य अनेकाश्रित होता है। शब्द का कर्म होना भी संभव नहीं, क्योंकि एक कर्म से दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु एक शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करने में समर्थ है, जैसे, ध्वनि की तरंगें। अतः युक्तियों द्वारा द्रव्य औय गुण में शब्द की 'अप्राप्ति' हो जाने के पश्चात् अवशेष गुण ही बच रहता है। इसलिए शब्द गुण ही हो सकता है। अतः सम्भावित इतर वस्तुओं की व्यावृत्ति द्वारा अवशिष्ट वस्तु का अनुमान ही निष्कर्षतः परिशेषानुमान अथवा शेषवत् अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट

जहाँ पर साधन और साध्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं हो सकता, किन्तु किसी अन्य विषय के साथ हेतु का सादृश्य रहने से अप्रत्यक्ष साध्य का अनुमान किया जाय, उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। जैसे, इच्छा आदि से आत्मा का अनुमान। इच्छादि और आत्मा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा अवगम नहीं हो सकता, किन्तु इच्छा आदि गुण हैं और गुण द्रव्य में ही रहते हैं, अतः इस सामान्य ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, इच्छा आदि का आश्रय कोई न कोई द्रव्य अवश्य होगा, वही आत्मा है। इस प्रकार सामान्य सम्बन्ध के बल पर होने वाला आत्मा का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।[४]

उद्योतकर-मत

उद्योतकर ने सूत्र घटित 'त्रिविध' पद की विविध विवेचनाओं द्वारा अनुमान-

भेदों की अनेक प्रकार से निष्पत्ति की है। जैसे 'त्रिविध' पद से अनुमान के, अन्वय-व्यतिरेकी, अन्वयी और व्यतिरेकी ये तीन प्रकार सूचित किये जा सकते हैं—

अन्वयव्यतिरेकी

अन्वयव्यतिरेकी वह है, जिसकी पक्ष और सपक्ष में सत्ता तथा विपक्ष में असत्ता दोनों ही पहिले से ज्ञात रहे। जैसे, 'शब्द अनित्य है, सामान्य और विशेष दोनों धर्मों से युक्त होने के साथ-साथ हम लोगों की बाह्य इन्द्रिय चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होने से, घट के समान।'

अन्वयी

जो पक्ष और सपक्ष वृत्तित्व से युक्त होकर विपक्ष शून्य हो, उसे अन्वयी अनुमान कहा जाता है, जैसे, जगत् के समस्त पदार्थों को अनित्य मानने वाले बौद्ध दार्शनिकों का यह अनुमान—'शब्द अनित्य है, कृतक होने से।'

इस अनुमान को अन्वयी इसलिये कहा जाता है कि, लोकगत सकल पदार्थ सपक्ष के अन्तर्गत समाहित हो जाने पर, विपक्ष के लिये कोई पदार्थ अवशेष नहीं रहता।

व्यतिरेकी

जो पक्ष व्यापकता से युक्त हो, किन्तु पक्ष भिन्न किसी सपक्ष में जिसकी सत्ता न हो तथा विपक्ष में असत्ता निर्णीत हो अर्थात् जो पक्ष में रहे और सपक्षाभाव—विपक्षाभाव से युक्त हो, उसे व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं जैसे, 'यह जीवित शरीर निरात्मक नहीं है, प्राण आदि का सम्बन्ध न होने से।' यहाँ जीवित शरीर रूप पक्ष को छोड़कर प्राण आदि की सत्ता कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। इसलिए केवल इस व्यतिरेक का ही आश्रयण लेना होगा कि 'जिस शरीर में आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, उसमें प्राण आदि का सम्बन्ध भी नहीं है।[५]

वार्तिककार के 'विवक्षित' तथा 'तज्जातीय' या तत्सजातीय' पदों को यहाँ पक्ष एवं सपक्ष के रूप में सूचित किया गया है।

अथवा 'त्रिविध' पद से सूत्र प्रणीत—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट, ये तीनों भेद भी लिये जा सकते हैं। 'पूर्व' शब्द से साध्य अभिप्रेत है, उसके, व्याप्ति सम्बन्ध से हेतु में विद्यमान रहने के कारण यह अनुमान 'पूर्ववत्' अनुमान कहलाता है। शेषवत् में प्रयुक्त 'शेष' शब्द साध्य और तत्सजातीय दोनों का परिचायक है, तदनुसार ये दोनों व्याप्ति सम्बन्ध से जिस हेतु में रहें, उसको शेषवत् अनुमान कहा जाता है। सामान्यतः अदृष्ट को सामान्यतोदृष्ट कहा जाता है।[६] आशय यह कि हेतु के अधिकरण में, व्याप्ति सम्बन्ध द्वारा, साध्य का होना पूर्ववत् एवं साध्य और तत्सजातीय का रहना शेषवत् अनुमान है।[७] उद्योतकर ने इन तीनों का कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया एवं वाचस्पति मिश्र ने उदाहरण द्वारा केवल पूर्ववत् को ही समझाया है।[८]

सूत्रस्थ 'च' शब्द से प्रत्यक्ष-आगम-अविरुद्ध चतुर्लक्षणी एवं पञ्च लक्षणी अनुमान अभिप्रेत हैं।[९] वाचस्पति मिश्र ने इस अंश की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'च' शब्द से हेतु के 'अबाधितविषयत्व' तथा 'असत्प्रतिपक्षत्व' रूप भी गृहीत किये गये हैं। अतः हेतु में केवल पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व ये तीन धर्म होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु अबाधितविषयत्व एवं असत्प्रतिपक्षत्व धर्म होना भी अनिवार्य है। अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान में ये पाँचों धर्म पाये जाते हैं एवं अन्वयी अनुमान में विपक्षासत्त्व तथा व्यतिरेकी में सपक्षसत्त्व नहीं पाये जाते। इसलिये उक्त वार्तिककार की व्याख्या से

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान पञ्चलक्षणी तथा अन्वय व व्यतिरेकी अनुमान चतुर्लक्षणी कहलाते हैं। वार्तिककार के 'प्रत्यक्षागमाविरुद्ध' पद से 'अबाधित विषयत्व' का भलीभांति ग्रहण हो जाता है। तथा उनके व्याख्यांश घटित 'च' पद से असत्प्रतिपक्षत्व भी विवक्षित है।[१०]

अथवा त्रिविध 'पद से लिङ्ग की 'प्रसिद्धि' 'सत्त्व' और 'असंदिग्धता' ये तीन धर्म भी ग्रहण किये जा सकते हैं। 'प्रसिद्धि' से पक्ष व्यापक, 'सत्त्व' से दृष्टान्त में रहने वाला तथा 'असंदिग्धता' से साध्य-सजातीय अर्थात् सपक्ष के अविनाभाव से युक्त हेतु अभिप्रेत है।[११]

अथवा त्रिविध पद नियमार्थक भी हो सकता है। अनुमान के अनेक प्रकारों को संक्षेपतः तीन-अन्वयी, व्यतिरेकी एवं अन्वव्यतिरेकी भेदों द्वारा व्यक्त किया गया है। अतः सूत्रकार के अनुमान लक्षण में आया हुआ 'त्रिविध' पद विभाग परिलक्षित हेतु ही प्रयुक्त किया गया है। अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान, दो प्रकार के हो सकते हैं—कुछ नियमतः सजातीय में रहें और कुछ न भी रहें। इसी प्रकार अन्वयी अनुमान के भी दो भेद किये जा सकते हैं। किन्तु व्यतिरेकी एक ही प्रकार का होता है, क्योंकि उसमें कोई सजातीय दृष्टान्त ही उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार से उक्त तीन प्रकार का अनुमान फलतः पाँच प्रकार का हो जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान काल के भेद से ये पाँच भेद पन्द्रह और प्रतिपन्न, अप्रतिपन्न, संदिग्ध और विपर्यस्त इन चार प्रकार के अधिकारियों की अपेक्षा से पन्द्रह के साठ भेद किये जा सकते हैं। पुनः पक्ष, साध्य आदि आन्तरिक भेदों से इस प्रकारों के असंख्य भेद किये जा सकते हैं। इन अनन्त अनुमानों को सरलता से समझाने के अभिप्राय से ही सूत्रकार ने इनको तीन भेदों में नियमित किया है।[१२]

अथवा भाष्यकार की प्रथम व्याख्या में वर्णित भेदों की विवेचना दूसरी प्रकार से भी की जा सकती है। उन्होंने कारण से कार्य के अनुमान को पूर्ववत् कहा है। इसी प्रसङ्ग में विचार करते हुए उद्योतकर ने यह शंका उपस्थित की है कि, 'कारण से कार्य का अनुमान वास्तविक अर्थ क्या है?' यदि इसका यह अर्थ है कि, 'कारण के प्रत्यक्ष से कार्य के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है', तो यह युक्त नहीं, क्योंकि केवल कारण को देखने से ही कार्य का ज्ञान नहीं हो जाता। यदि इसका इस प्रकार से अर्थ किया जाय कि 'जहाँ कारण है वहीं कार्य की सत्ता भी है,' तो यह कथन भी उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि कारण और कार्य दोनों अपने-अपने अवयव रूप भिन्न देशों में रहते हैं। जैसे, घट के कारण तन्तु अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और पट उसी सम्बन्ध से तन्तुओं में रहता है। यदि यह कहा जाय कि, 'कारण-दर्शन से ही कार्य का अनुमान हो जाता है,' तब तो वह अपना अनुमानत्व ही विलुप्त कर बैठेगा, क्योंकि सर्वथा अनुपलब्ध अथवा निर्णीत अर्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः 'कारणेनकार्यनुमीयते' इस भाष्य लक्षण की व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है—कारण में विशेषण रूप से प्रयुक्त कार्य का गौण रूप में अनुमान होना ही 'पूर्ववत्' है, जैसे 'यह मेघ वृष्टि विशिष्ट है, गंभीर ध्वनि, बहुतसी बक पंक्तियां, दामिनि एवं उन्नत मेघवाला होने से, पूर्वकालीन वृष्टिसंयुक्त मेघ समान। इसी इकार जहाँ कार्य के कारण विशेषण-विधया भासित हो वह 'शेषवत्' अनुमान कहलाता है। जैसे, यह नदी स्त्रोत वृष्टिविशिष्ट किसी ऊपर वाले देश से सम्बद्ध है, फल, काष्ठ आदि को अपने साथ बहाते लाते हुए वेगमय प्रवाह द्वारा परिपूर्ण होने से, पूर्वकालीन

वृष्टियुक्त नदी के समान ।' जहाँ साधन और साध्य परस्पर न तो एक दूसरे का कारण हों और न कार्य हों, प्रत्युत जहाँ हेतु में साध्य की व्याप्ति के बल से ही साध्य-साधन में विशेषण रूप से प्रतिभासित हो, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं । जैसे, बलाका से सलिल का अनुमान ।[१३]

अथवा प्रकारान्तर से भी पूर्ववत् आदि की विवेचना की जा सकती है । जैसे, पूर्ववत् शब्द से कार्य अभिप्रेत है या कारण, ऐसी शंका होने पर यदि 'पूर्ववत्' पद की व्युत्पत्ति 'पूर्व अस्य अस्तीति' इस प्रकार से की जाय, तो पूर्ववत् पद से 'जो पूर्ववाला हो' कार्य का ही ग्रहण किया जा सकता है । ऐसी अवस्था में पूर्ववत् अनुमान को कारण द्वारा कार्य का अनुमान घोषित करना होगा, जो व्याघातमय होगा जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । कार्य की अपेक्षा कार्य-ज्ञान का ग्रहण कर उसी व्युत्पत्ति से भी उक्त आपत्ति का निवारण किया जा सकता है, क्योंकि पूर्ववत् विषय ज्ञान के पूर्व विषय ही हो सकता है, अतः कारण ज्ञान से कार्य का अनुमान ही पूर्ववत् अनुमान है । इसी प्रकार शेषवत् अनुमान में भी कार्य की अपेक्षा कार्य-ज्ञान से कारण का अनुमान किया जाता है । व्याकरण की दृष्टि से 'वत्' प्रत्यय द्वारा भी यही अर्थ निष्पन्न होता है ।[१४] जयंत भट्ट ने भी किसी न किसी रूप में वार्तिककार का समर्थन किया है ।[१५] जयन्त की ललित पद्य रचना का प्रभाव 'षड्दर्शन समुच्चय' में भी देखा जा सकता है ।[१६] वार्तिककार[१७] के समान उन्होंने भी सामान्यतोदृष्ट के प्रसङ्ग में भाष्यकार की प्रथम व्याख्यागत उदाहरण की आलोचना करते हुए लिखा है कि, सूर्य की देशान्तर प्राप्ति से, गति का अनुमान अयुक्त है, क्योंकि यह 'देशान्तर प्राप्ति रूप कार्य से गति रूप कारण का अनुमान' शेषवत् के समान ही है ।[१८] अतः उन्होंने भी वार्तिककार की भांति विभिन्न उदाहरण देते हुए रूप से रस के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहा है ।[१९] संभवतः इसी दृष्टिकोण से विश्वनाथ ने भी अपनी वृत्ति में अनुमान भेदों की प्रथम व्याख्या में सामान्यतोदृष्ट का भिन्न उदाहरण दिया है—पृथ्वीत्व से द्रव्यत्व का अनुमान ।[२०] प्रथम दो उदाहरणों के प्रसङ्ग में उन्होंने न्याय भाष्यकार का समर्थन किया है ।[२१]

वैशेषिक मत

अनुमान भेदों का विवेचन 'वैशेषिक सूत्र' में उपलब्ध नहीं होता । प्रशस्तपाद ने दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट भेद से दो प्रकार के अनुमानों की लक्षण उदाहरण सहित स्पष्ट व्याख्या की है ।[२२]

दृष्ट

प्रसिद्ध साध्य एवं अनुमेय इन दोनों में जातितः अत्यन्त अभिन्न होने पर (सजातीय होने पर) जो अनुमान किया जाता है, वह दृष्ट अनुमान कहलाता है । हेतु के साथ पहले से ज्ञात रहने वाला साध्य 'प्रसिद्ध साध्य' और जिस साध्य की सिद्धि अभी अभिप्रेत है वह 'अनुमेय' कहा जाता है । जैसे, पूर्व में किसी स्थान विशेष अर्थात् नगर निष्ठ गाय में ही केवल सास्ना को देखकर अन्य किसी स्थान अर्थात् वन में सास्ना को देखने के पश्चात् गाय विषयक जो प्रतीति (अनुमिति) होती है, वही 'दृष्ट' अनुमान है ।[२३] पहले पूर्व अनुभूत गोत्व जाति से विशिष्ट गाय में ही सास्ना की उपलब्धि हुई थी और अभी भी सास्ना को देखकर जिस गाय का अनुमान किया जा रहा है, वह भी गोत्व जाति से विशिष्ट गाय में ही किया जा रहा है । अतः गाय विषयक इन दोनों ज्ञानों में, विषय

रूप से प्रतिभासित होने वाली गोत्व जाति अत्यन्त अभिन्न है अर्थात् एक ही है। इस अनुमान को 'दृष्ट' इसलिये कहा जाता है कि वन में मात्र सास्ना को देखकर, जिस गोत्व जाति विशिष्ट गाय का अनुमान किया जाता है वह नगरनिष्ठ गाय में पहले से उसी स्वरूप में प्रत्यक्ष द्वारा देखी जा चुकी है। तात्पर्य यह कि पक्ष और सपक्ष यदि सजातीय हों तो वह 'दृष्ट' अनुमान कहलाता है।[२४]

सामान्यतोदृष्ट

इसके विपरीत जहाँ प्रसिद्ध साध्य और अनुमेय, दोनों अत्यन्त भिन्न जाति के हों, वहाँ हेतु सामान्य और अनुमेय सामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान किया जाता है, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं। जैसे, कृषक, वणिक तथा राजपुरुषों की सभी सफल प्रवृत्तियों को देखकर वर्णाश्रमियों की उन धार्मिक प्रवृत्तियों द्वारा भी फल का अनुमान किया जा सकता है, जिनका प्रत्यक्षत: कोई फल दृष्टिगोचर नहीं होता।[२५] जगत् में सभी मानवीय कार्य प्राय: किसी न किसी प्रयोजन को लेकर ही प्रवृत्त होते हैं जैसा कि भाष्य-उदाहरण को स्पष्ट करते हुए श्रीधर ने लिखा है कि जिस प्रकार भूमि जोतने वाले किसानों की प्रवृत्ति का फल (प्रयोजन) है, 'शस्य आदि' महाजनों तथा राजसेवानिष्ठ राजपुरुषों की प्रवृत्तियों का फल है, 'सुवर्ण, मणि, मुक्ता, हाथी, घोड़े आदि इसी प्रकार वर्णाश्रमियों की संध्यावन्दन आदि प्रवृत्तियों के फल की भी कल्पना की जा सकती है—वे हैं स्वर्ग आदि अदृष्ट पदार्थ। अत: कृषक आदि की प्रवृत्तियों को दृष्ट फलयुक्त देखकर वर्णाश्रमियों की, उन प्रवृत्तियों में भी फलसंयुक्तता का अनुमान किया जा सकता है, जिनके लिए वे दृष्ट के विपरीत अदृष्ट फल का अनुसंधान करते हैं। यहाँ अनुमेय 'अदृष्ट फल' और हेतु के साथ पूर्व में गृहीत होने वाला दृष्टान्तगत साध्य 'दृष्ट-फल' दोनों ही अत्यन्त भिन्न जाति के हैं। फिर भी उक्त दृष्टान्त द्वारा, इस अनुमान की सिद्धि, उस सामान्यमुखी व्याप्ति के आधार पर की जा सकती है, जो प्रवृत्तिसामान्य की फल सामान्य के साथ है: अभिप्राय यह कि शिष्ट पुरुषों की सभी प्रवृत्तियां फलयुक्त होती है, इस सामान्य व्याप्ति के बल पर ही उक्त अनुमान किया जाता है। किन्तु इस व्याप्ति के अवधारण के लिए प्रकृत में साध्यभूत वर्णाश्रमियों की सफलता को उपस्थित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सिद्ध नहीं है तथा स्वर्गादिक फल अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्षगम्य होना भी सम्भव नहीं। एतदर्थ प्रकृत 'अदृष्टफल' से सर्वथा विपरीत कृषक आदि के दृष्ट फलों (प्रत्यक्ष फलों) को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया गया है। सामान्यमुखी व्याप्ति द्वारा संपादित होने के कारण ही इसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहा जाता है[२६] सुगमतापूर्वक, लक्षण-विन्यास के लिये कहा जा सकता है—जहाँ पक्ष और सपक्ष विजातीय हों, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं। श्रीधर की पूर्ववर्ती 'व्योमवती'[२७] और 'किरणावली'[२८] टीकाओं की व्याख्या भी भाष्यानुसारीय ही है, किन्तु सूत्रों की व्याख्या करते हुए शंकर मिश्र ने इन प्रकारों का वर्णन नहीं किया है। इसी प्रकार 'सप्तपदार्थी' में भी इन भेदों का विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

भासर्वज्ञ मत

भासर्वज्ञ ने न्याय परम्परा से विलग होकर अनुमान के दो भेद ही मान्य किये हैं—दृष्ट और सामान्तोदृष्ट। प्रत्यक्षयोग्य अर्थ का अनुमापन जिस अनुमान में किया जाय वह 'दृष्ट' जैसे, धूम से अग्नि का अनुमान तथा स्वभाव विप्रकृष्ट (प्रत्यक्ष से गम्य

न होने वाला) अर्थ का अनुभावन करने वाला अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' कहलाता है जैसे, रूप आदि ज्ञान से चक्षु आदि का अनुमान ।[२९] इनका सम्पूर्ण विवेचन प्रशस्तपाद से प्रभावित जान पड़ता है ।

मीमांस मत

शबर स्वामी मत

'मीमांसासूत्र' में अनुमान-भेदों की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती । भाष्यकार शबरस्वामी ने 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध' और 'सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध' भेद से दो प्रकार के अनुमान सूचित किये हैं। 'न्याय भाष्य' तथा (प्रशस्तपादभाष्य' की तरह इसमें उक्त भेदों के लक्षण नहीं दिये गये हैं, किन्तु उदाहरणों के माध्यम से ही उनको समझाने का प्रयास किया गया है । जैसे, धूम-आकृति (धूमत्व या धूमसामान्य) को देखकर अग्नि आकृति (अग्नित्व या अग्नि सामान्य) का अनुमान प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध तथा देवदत्त के गतिपूर्वक देशान्तर प्राप्ति के ज्ञान से आदित्य में गति का स्मरण होना सामान्यतोदृष्ट-सम्बन्ध अनुमान है ।[३०]

कुमारिल भट्ट मत

भाष्यकार प्रणीत भेदों की आलोचना करते हुए कुमारिल ने लिखा है कि संकीर्ण होने के कारण उक्त दोनों अनुमान प्रकारों में द्वैविध्य का उपपादन किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, क्योंकि नियमतः परस्पर (असंकीर्ण) दो वस्तुओं में ही द्विविधता की उपपत्ति की जा सकती है । यदि यह कहा जाय कि, धर्मी आदित्य में गति प्राप्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः दृष्ट नहीं है, तब समान युक्ति द्वारा यह भी कहा जा सकता है कि, धर्मी पर्वत में भी इस समय अग्नि और धूम का प्रत्यक्ष नहीं है । इस आपत्ति निराकरण के लिये यदि पाकशाला आदि सपक्ष में अग्नि-धूम के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष माना जाय तो गति-प्राप्ति स्थल में भी देवदत्त की स्थानान्तर प्राप्ति और गति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही माना जा सकता है । इसलिये प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध संकीर्ण है, असंकीर्ण नहीं । इसी प्रकार सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान भी संकीर्ण है जैसे, आदित्य की देशान्तर प्राप्ति उसकी गति के साथ कहीं भी अन्वित नहीं होती, किन्तु भिन्न धर्मी देवदत्त आदि में, देशान्तर प्राप्ति का गति के साथ अन्वय देखकर ही, आदित्य में भी उक्त प्राप्ति सामान्य से, गति सामान्य का अनुमान किया जाता है । इसी प्रकार अग्नि-धूम स्थल में भी भिन्न धर्मी में ही, सम्बन्ध का ग्रहण होता है, इसलिये दोनों समान है । यदि कार्यान्तर में आगन्तुक कारणजन्यत्व को देखकर 'प्राप्ति का भी कारण आगन्तुक ही कुछहै' ऐसा सामान्य अनुमान माना जाय तो ऐसी स्थिति में यहाँ अन्य के न होने से, अन्य वस्तु की सिद्धि ही हो सकती है, अन्य किसी रूप से अनुमिति नहीं । इसलिये यह सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध का भी उदाहरण हो सकता है । 'अग्नि अनुमान में अग्नि रूप का ही अनुमान होता है, इसलिये दोनों विजातीय है, 'ऐसा प्रतिपादन करने पर, गतिपूर्वक देशान्तर प्राप्ति का बोध कर' इस अर्थ का बोधक 'गतिपूर्विका देशान्तरमुपलभ्य' यह भाष्य वाक्य विरुद्ध सिद्ध होगा, क्योंकि गति के सम्बन्ध ग्रहण का ही उसमें उपन्यास किया गया है । दूसरी बात यह है कि, कारण सामान्य का अनुमान होने पर, कारणान्तर प्रयत्न आदि का निरास अनुमान द्वारा नहीं हो सकता । प्रमाणान्तर द्वारा उसका असंभव होना भी अवगत होता है, क्योंकि परिशेष द्वारा जो कारणान्तर-अतीन्द्रियत्व की सिद्धि की जाती है, वह अर्थापत्ति होने के कारण अनुमान का विषय नहीं बन सकती है । तथा जो उसका कारण

सामान्य है वह अन्यत्र दृष्ट अग्नि के समान ही है। इस प्रकार भाष्यकार प्रणीत अनुमान-द्वैविध्य का उपपादन किसी भी प्रकार सम्भावित नहीं।[३१]

अतः विभिन्न प्रकार से अनुमान द्वैविध्य का उपस्थापन करते हुए उन्होंने आगे लिखा है—प्रत्यक्षतः दृष्ट सम्बन्ध, जैसे, किसी देश विशेष में (चत्वर आदि स्थल में) गोमय ईंधन जन्य (गोबर के कंडों से उत्पन्न होने वाला ईंधन) अग्नि विशेष तथा उससे उत्पन्न होने वाले धूम विशेष के विलक्षण स्वरूप का प्रत्यक्ष द्वारा जिस व्यक्ति ने ज्ञान प्राप्त किया है, वही व्यक्ति यदि कुछ समय पश्चात् उसी देश विदेश में पुनः इस धूम विशेष को देखता है, तब उसे उस गोमय ईंधन जन्य अग्नि विशेष का भी अनुमान हो जाता है, इसी प्रत्यक्षतः-दृष्ट सम्बन्ध अनुमान को विशेषतः-दृष्ट-सम्बन्ध अनुमान कहा जाता है।[३२] प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध की अपेक्षा यह नाम अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि विशेष ही सामान्य का प्रतिरोधी हो सकता है। प्रत्यक्ष प्रमाण किसी अन्य प्रमाण का ही प्रतियोगी हो सकता है, सामान्य का नहीं, क्योंकि, सामान्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा सम्बद्ध हो सकता है, इसलिये जहाँ 'प्रत्यक्षतोदृष्ट-सम्बन्ध' तथा 'सामान्यतोदृष्ट-सम्बन्ध' परस्पर अविरोधी होने के कारण अनुमान द्वैविध्य अनुपपन्न हो जाता था, वहीं अब प्रथम के स्थान पर 'विशेषतोदृष्ट-सम्बन्ध' स्वीकार कर लेने पर उसका प्रतिपादित सरलता से किया जा सकता है। विशेष पदार्थों में ही प्रत्यक्ष द्वारा सम्बन्ध गृहीत होने के कारण इस अनुमान को विशेषतोदृष्ट-सम्बन्ध कहा जाता है। इस पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि, सम्बन्धग्रहण काल में ही विषय अवगत हो जाने के कारण इस अनुमान में 'अनधिगतार्थगंतृत्व' रूप प्रामाण्य का बोध नहीं हो सकता। इसका समाधान यह है कि कालान्तर का आधिक्य होने से यह भी प्रमाण हो सकता है। यह बात विन्ध्यवासी-सम्मत भी है, क्योंकि उन्होंने भी अग्नि-धूम स्थल में 'विशेषतः दृष्ट' का ही वर्णन किया है। यदि यह कहा जाय कि, यह अनुमान भाष्यकार को भी विशेषतः दृष्टत्व' रूप से अभिमत था, तो 'धूमाकृतिदर्शनात्' पद में प्रयुक्त 'आकृति' पद का उपादान व्यर्थ ही सिद्ध होगा। यदि इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार किया जाय कि आकृति में ही, किसी व्यक्ति को साध्य-साधन की व्यवस्था इष्ट हो सकती है, इसलिये विशेष का उपदर्शन नहीं किया गया है, तो यह मत भी न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसी उदाहरण को यदि विशेष से रहित सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान में प्रयोजक माना जाय, तब आदित्य का उदाहरण निरर्थक हो जायगा। इसलिये यही मानना उचित जान पड़ता है कि विशेषतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान से असंकीर्ण निसंदिग्ध सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध अनुमान का प्रदर्शन करने के लिए ही आदित्य का उदाहरण दिया गया है। यदि यह कहा जाय कि, सामान्यतः सम्बन्ध गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्धियों के अगृहीत होने के कारण, सम्बन्ध का ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसके समाधान में वार्तिककार ने लिखा है कि ऐसी आशंकाओं का निरास प्रत्यक्ष सूत्र में किया गया है। वहाँ 'घटोऽयं' 'पठोऽयं' इत्याकारक अनुवृत्ताकाराप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से सामान्यभूत वस्तु को सामान्य का विषय सिद्ध किया गया है। इसलिये सामान्य का प्रत्यक्ष से ग्रहण होने में कोई आपत्ति नहीं है। धूम-आकृति से अग्नि आकृति का अनुमान वस्तु विषयक भी हो सकता है, क्योंकि भाट्ट मत में अभाव का बोध भिन्न प्रमाण से ही होता है। सामान्य में भी, वस्तुत्व और प्रत्यक्षग्राह्यत्व दोनों अभाव अन्य प्रमाण के प्रमेय होने के

कारण सिद्ध हैं। अतः सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।[33] इस प्रकार इन्होंने भाष्यकार के 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध' रूप अनुमान भेद का परिष्कार करते हुए सामान्यतोदृष्ट के प्रसङ्ग में भाष्यकार का समर्थन किया है।

पार्थसारथि मत

'शास्त्रदीपिका' में भी विभिन्न नामों से दो अनुमान और भेद उपलब्ध होते हैं—दृष्टस्वलक्षण और अदृष्ट-स्वलक्षण। स्वरूपतः दृष्ट विषयक अनुमान को दृष्ट-स्वलक्षण अनुमान कहा जाता है जैसे, पर्वत अग्निमान् है, धूम होने से। यहाँ धूम और अग्नि दोनों दृष्ट रहते हैं। स्वरूपतः अदृष्ट विषयक अनुमान को अदृष्ट-स्वलक्षण अनुमान कहा जाता है। जैसे, क्रिया विषयक अनुमान। संयोग और वियोग से किसी क्रिया के अनुमान में क्रिया का प्रत्यक्ष न होने के कारण उसे अदृष्ट विषयक कहा जाता है।[34]

नारायण भट्ट मत

'मानमेयोदय' इन दो भेदों को 'प्रशस्तपादभाष्य' की तरह 'दृष्ट' और 'सामान्यतोदृष्ट' के रूप में ही व्यक्त किया गया है। प्रत्यक्षगम्य व्यक्ति विशेष विषयक अनुमान दृष्ट अनुमान कहलाता है। जैसे, कृतिका नक्षत्र विशेष के उदय होने से, रोहिणी नक्षत्र विशेष के उदय होने का अनुमान। एवं जहाँ व्याप्ति समान्य रूप से गृहीत होती है, उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। जैसे, धूम आदि से अग्नि आदि का अनुमान।[35] पूर्वाचार्यों की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि, जिन्होंने प्रत्यक्ष योग्य अर्थविषयक अग्नि आदि के अनुमान को दृष्ट तथा अतीन्द्रिय अर्थ विषयक चक्षुरादि के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट माना है, वह उचित नहीं, क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तुओं का निश्चय अनुमान द्वारा हो ही नहीं सकता। अनुमान मात्र व्याप्तिज्ञान पर आधारित है, इसलिये जिन वस्तुओं का व्याप्ति-विज्ञान की परिधि में ज्ञान हो सकता है, उन्हीं वस्तुओं का अनुमान भी संभावित है। जैसे, 'अग्नि उष्ण और भास्वर है' इत्याकारक अनुमान। इसके विपरीत चक्षुरादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अर्थापत्ति द्वारा ही होता है। क्योंकि चक्षुरादि पदार्थों में, अतीन्द्रिय होने के कारण अग्नि आदि दृश्यमान वस्तुओं की भांति व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि सर्वत्र अत्यन्त अदृष्ट साधन में साधनत्व का उपन्यास किया जाय, तो वह साधन की अपेक्षा 'विशेष बाधक' नामक हेत्वाभास ही कहलायेगा। इसलिये दृश्यमान व्यक्ति विशेष अर्थ का अनुमान दृष्ट तथा सामान्यतः दृष्ट अर्थ विषयक अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है।[36]

तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलीकार चिन्नस्वामी ने इस प्रसङ्ग में वार्तिककार कुमारिल भट्ट के भेदों का ही समर्थन किया है।[37]

प्रभाकर मत

प्रभाकर मत के प्रमेय द्वैविध्य आधार पर ही अनुमान प्रभेदों को विवेचित किया गया है।[38] कुछ प्रमेय प्रत्यक्षगम्य होने के कारण दृष्टस्वलक्षण तथा कुछ प्रत्यक्ष के विषय न होने के कारण अदृष्टस्वलक्षण कहलाते हैं। प्रमेय द्विविधता पर आधारित होने के कारण अनुमान भी दो प्रकार का माना गया है—दृष्टस्वलक्षण और अदृष्टस्वलक्षण अनुमान। प्रथम में अग्नि आदि प्रत्यक्षगम्य विषयों का अनुमान सन्निविष्ट है तथा द्वितीय में प्रत्यक्ष-अगम्य विषय कर्म आदि का अनुमान किया जाता है।[39] द्वितीय अनुमान के प्रसङ्ग में यह आशंका हो सकती है कि जिन वस्तुओं का स्वलक्षण प्रतीत नहीं

है, उनका अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि जिन वस्तुओं का हेतु के साथ सम्बन्ध नियम ज्ञात रहता है, वही उस हेतु से अनुमित हो सकता है। अदृष्ट-स्वलक्षण प्रमेय के साथ सम्बन्ध नियम का अवधारण किसी भी प्रकार सम्भावित न होने के कारण, अदृष्ट-स्वलक्षण अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता। आशंका को निर्मूल बतलाते हुए शालिकनाथ ने लिखा है कि, सामान्यतः सम्बन्ध नियम का ज्ञान होने पर भी अनुमान की उत्पत्ति, सम्भव हो सकती है। जैसे, जो किसी काल में रहता है और किसी काल में नहीं भी रहता, वह 'आगन्तुक' किसी कारण से उत्पन्न होता है। यथा, तन्तुसंयोग से पट की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार कादाचित्क द्रव्य का संयोग और विभाग आगन्तुक किसी वस्तु का अनुमापक हो सकता है। जैसे, 'घट क्रियावान है, संयोग विभाग होने से, पट के समान। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि आगन्तुक पद से द्रव्य का ग्रहण क्यों न किया जाय ? किन्तु यह आक्षेप संगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि द्रव्य में 'यह घट है' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा द्वारा उसकी स्थिरता का स्पष्ट रूप से भान होता है, इसलिये आगन्तुक क्रिया ही हो सकती है। इस प्रकार सामान्यतः सम्बन्ध नियम के अवधारण से अदृष्टस्वलक्षण प्रत्यक्षागम्य क्रिया आदि प्रमेयों का अनुमान निष्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है।[४०] इसी प्रकार शक्ति का भी अनुमान किया जा सकता है। जैसे अग्नि में दाहकत्व शक्ति है, दाह जनक होने से। किन्तु मंत्र अथवा औषधि विशेष के सन्निधान होने पर, अग्नि ज्वलन क्रिया द्वारा वस्तुओं को, भस्मसात् नहीं करती। इस प्रज्वलन शक्ति का कारण दृष्ट अग्नि को नहीं माना जा सकता, क्योंकि दृष्ट स्वरूपा अग्नि दाहकता काल में ही रहती है तथा प्रतिबंधक मंत्र, औषधि आदि के सन्निधान में जब उसकी दाहकत्व शक्ति क्षीण हो जाती है, तब भी विद्यमान रहती है। इसलिये यह अनुमान होता है कि, अग्नि की दाहकत्व शक्ति का कोई न कोई अदृष्ट कारण अवश्य है, जिसका सद्भाव होने पर वह वस्तुओं को भस्मसात करती है।[४१]

सांख्य मत

अनुमान-भेद निरूपण के प्रसङ्ग में सांख्यकारिकाकार ने, अनुमान तीन प्रकार का होता है, केवल इतना ही संकेत दिया है।[४२] इसी वाक्य के आधार पर आचार्य माठर ने अनुमान-प्रभेदों का स्पष्ट रूप से विवेचन किया है। पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से अनुमान तीन प्रकार का होता है। वृत्तिकार ने लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों द्वारा ही उक्त भेदों को समझाने का प्रयास किया है। जैसे, बादलों को उमड़ते देख भावी वर्षा का अनुमान पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। नदी की बाढ़ को देखकर ऊपरी प्रदेश में वृष्टि हुई है अथवा समुद्र की एक बूंद के लवणीय स्वाद से अवशेष समस्त समुद्र जल को लवणीय (खारा) मानने का अनुमान शेषवत् अनुमान है तथा बौर आये हुए एक आम के पेड़ को देखकर अन्यत्र सभी आम्रवृक्षों में बौर आने का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।[४३] गौडपाद ने अक्षरशः वृत्तिकार का ही समर्थन किया है।[४४] अन्तर केवल इतना ही है कि शेषवत् के द्वितीय उदाहरण को ही उन्होंने अपने विवेचन में वर्णित किया है तथा सामान्यतोदृष्ट का योगभाष्य सम्मत एक और भी उदाहरण दिया है, जिसका विवेचन पूर्व में योग अनुमान लक्षण के अवसर पर किया जा चुका है। प्रकृत संदर्भ में उपयोगी होने के कारण उसका पुनः विन्यास करना अनावश्यक नहीं होगा—चैत्र की देशान्तर

प्राप्ति से उसकी गतिशीलता को देखकर चन्द्र, तारागण आदि में भी गति का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है ।[४५]

वीत-अवीत

सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने प्रथमतः अनुमान के दो भेद---'वीत' और 'अवीत' सूचित किये हैं, तत्पश्चात् वीत के पुनः दो भेद---पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट प्रदर्शित कर तीन प्रकार के अनुमानों का विवेचन किया है । अन्वयमुख से (अन्वय व्याप्ति द्वारा) प्रवृत्त होकर विधायक (पक्ष में साध्य की सत्ता को ज्ञापित करने वाला) अनुमान वीत तथा व्यतिरेक मुख से (व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा) प्रवृत्त होकर अविधायक (पक्ष में साध्य के अभाव से साधन के अभाव को प्रदर्शित करने वाला) अनुमान अवीत कहलाता है ।[४६] इन तीनों की व्याख्या इस प्रकार है---

पूर्ववत्

जिस अनुमान का विषय ऐसी किसी वस्तु का सामान्य रूप होता है, जिसका स्वलक्षण अर्थात् विशिष्टरूप पूर्व में, प्रत्यक्ष द्वारा गम्य हो चुका है, उसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है । जैसे, धूम से अग्नित्वावच्छिन्न (अग्नित्व रूप सामान्य धर्म से युक्त) विशिष्ट पर्वतीय अग्नि का अनुमान किया जाता है । इसको पूर्ववत् इसलिये कहा जाता है कि, अग्नित्व सामान्य का स्वलक्षण अर्थात् विशिष्ट रूप--पाकशालीय अग्नि, पाकशाला में पूर्वतः ज्ञात हो चुका है ।[४७]

शेषवत्

शेषवत् अनुमान को ही अवीत कहा गया है । शेष वह है जो अवशिष्ट रहे, तदनुसार वही शेष जिस अनुमान ज्ञान के विषय में विशेष रूप से प्रतिभासित हो, उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं । इस लक्षण द्वारा उन्होंने शेषवत् अनुमान को परिशेष अनुमान सिद्ध करने का प्रयास किया है । यही नहीं इसकी पुष्टि के लिये उन्होंने 'न्यायभाष्य' की यदाहुः 'प्रसक्त प्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः' यह पंक्ति भी उद्धृत की है । 'न्यायभाष्य' में शेषवत् अनुमान को समझाने के लिए परिशेष द्वारा शब्द के गुण होने का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । किन्तु 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में इस उदाहरण को स्वीकार नहीं किया गया है तथा शेषवत् को व्यतिरेकी अनुमान मानकर 'नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकं, अप्राणादिप्रसङ्गात्' यह उदाहरण दिया गया है । इसके विपरीत 'सांख्यतत्वकौमुदी' में अवीत के रूप में व्यतिरेकी-अनुमान का ही लक्षण सूचित किया गया है और अवीत को ही शेषवत् बतलाया गया है । किन्तु लक्षण द्वारा इसकी जो विवेचना की गयी है, वह परिशेषानुमान की ही सिद्धि करती है, न कि व्यतिरेकी अनुमान की । इतना ही नहीं इस लक्षण को व्यक्त करने के लिए जो उदाहरण प्रयुक्त किया गया है वह भी परिशेषानुमान की ही पुष्टि करता है । जैसे, सांख्य दर्शन में उपादान कारण और उपादेय कार्य का तादात्म्य को ही इस अनुमान का विषय माना गया है । पट में तन्तु का सर्वथा अभेद प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि दोनों में कार्य-कारणाभाव रहता है । न्याय दर्शन के दृष्टिकोण से उनमें भेद प्रसक्त होता है, किन्तु पट, तन्तु धर्म होने के कारण उस भेद का भी निषेध कर दिया गया है, क्योंकि सर्वथा भिन्न वस्तुओं में धर्म-धर्मीभाव नहीं होता । इस प्रकार सर्वथा अभेद की अप्रसक्ति तथा सर्वथा भेद के निषेध हो जाने से, भेद समानाधिकरण अभेद शेष रह जाता है । इसी का नाम तादात्म्य है,

जिसकी सिद्धि के लिये शेषवत् अनुमान का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के शेषवत् अनुमान विवेचन में असंगति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, क्योंकि प्रथम में परिशेषानुमान की आलोचना के उपरान्त शेषवत् को व्यतिरेकी अनुमान सिद्ध किया गया है और द्वितीय में शेषवत् को व्यतिरेकी अनुमान के रूप में परिभाषित कर परिशेषानुमान का समर्थन किया गया है।[४८]

सामान्यतोदृष्ट

जिस अनुमान का विषय ऐसा कोई सामान्य पदार्थ हो जिसका स्वलक्षण अर्थात् विशिष्ट रूप पूर्व में दृष्ट नहीं हो (प्रत्यक्ष द्वारा न देखा गया हो) जैसे इन्द्रिय विषयक अनुमान। इन्द्रियत्व सामान्य का कोई विशिष्ट रूप इन्द्रिय अनुमान के पूर्व दृष्ट नहीं रहता अतः रूप आदि ज्ञान को पक्ष बनाकर क्रियाबलहेतु द्वारा सकरणकत्व के अनुमान से इन्द्रियत्व सामान्य रूप द्वारा इन्द्रिय की अनुमिति सामान्यतोदृष्ट अनुमान से निष्पन्न होती है। यद्यपि करणत्व सामान्य का विशिष्ट रूप छेदन आदि क्रिया में उपलब्ध हो जाता है (जैसे छेदन एक क्रिया है जो कुल्हाड़ी आदि करण (साधन) द्वारा सम्पन्न होती है। इसी प्रकार प्रत्येक क्रिया के लिये किसी न किसी करण का होना परमावश्यक है, क्योंकि बिना करण के कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। इस प्रकार क्रियाविशेष से करणत्व सामान्य का ज्ञान हो जाता है। फिर भी जिस रीति से रूप आदि ज्ञान में, करणता का अनुमान किया जाता है, उस प्रकार प्रकृत में करणता का कोई विशिष्ट रूप गृहीत नहीं होता। किन्तु उक्त सामान्य रूप से प्रत्यक्ष की हुई बात के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छेदन क्रिया की भांति रूप आदि का ज्ञान भी एक क्रिया है, अतः उसका भी कोई न कोई करण अवश्य होगा, वह करण (चक्षु) इन्द्रिय ही है। इसी इन्द्रिय-विषयक अनुमान को सामान्यतोदष्ट कहा जाता है।[४९] जैन दार्शनिक विद्यानन्द ने वीत और अवीत भेदों के अतिरिक्त वीतावीत भेद भी उदाहरणसहित प्रतिपादित किया है। सांख्य अथवा न्याय परम्परा में यह तृतीय भेद उपलब्ध नहीं होता। संभवतः किसी प्राचीन परम्परा से यह ग्रहण किया गया होगा।[४९/१]

जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण तथा पूर्ववत् अनुमान के द्वारा नहीं होता, उन अतीन्द्रिय विषयों का बोध सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सम्पादित किया जाता है। जैसे, सांख्य दर्शन में, प्रकृति और पुरुष रूप अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि, सामान्यतोदृष्ट अनुमान से की जाती है।[५०]

पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान में अन्तर यही है कि प्रथम में अग्नित्व सामान्य का विशिष्ट रूप पाकशालीय अग्नि विशेष में दृष्ट रहता है, जबकि द्वितीय में इन्द्रियत्व सामान्य का विशिष्ट रूप किसी इन्द्रिय विशेष में प्रत्यक्ष गोचर नहीं होता।[५१] युक्तिदीपिका'[५१/१] में भी इन्हीं भेदों का समर्थन किया गया है। उद्योतकर[५१/२] ने एक प्राचीन सांख्य परम्परा के अनुसार सप्त भेदी अनुमानों का उल्लेख कर खण्डन किया है। 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' में भी यह खण्डन-मण्डन पाया जाता है।[५१/३]

सांख्यसूत्र में केवल सामान्यतोदृष्ट का ही उल्लेख किया गया है[५२] इस सूत्र की व्याख्या करते हुए विज्ञान भिक्षु ने तीन प्रकार—(पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट) के अनुमान विवेचन में सांख्यतत्त्वकौमुदीकार का ही अक्षरशः समर्थन किया है।[५३]

'अनिरुद्ध-वृत्ति' में उद्योतकर के समान ही पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट तथा अन्वयी, व्यतिरेकी एवं अन्वय-व्यतिरेकी अनुमानों का निर्देशन किया गया है।[५४]

'योगसूत्र', (भाष्य', 'तत्त्ववैशारदी' तथा 'भोजवृत्ति' आदि योग ग्रन्थों और 'खण्डनखण्डखाद्य', 'तत्त्वप्रदीपिका', 'वेदान्त परिभाषा' तथा उसकी टीका 'शिखामणि', 'मणिप्रभा' तथा 'अर्थदीपिका' आदि वेदान्त ग्रन्थों में इन भेदों का विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

बौद्ध मत

नागार्जुन मत

बौद्धग्रन्थ 'उपायहृदय' में भी न्यायसूत्रीय तीन भेदों का उदाहरण सहित विवेचन उपलब्ध होता है। चिह्न विशेष जैसे, किसी बालक के हाथ में छः अंगुलियाँ देखकर, कुछ काल पश्चात् यदि वह बालक उसी दृष्टा को दिखाई पड़ता है, तो वह यह प्रतिभास करता है कि, यह वही लड़का है। यह ज्ञान षडङ्गुलि हेतु के स्मरण से ही पूर्व परीक्षित विषय का ज्ञान है, इसलिये इसे 'पूर्ववत्' अनुमान कहा जाता है। सागर की एक बूंद के खारे स्वाद से शेष सारे सागर सलिल को लवणमय मानना 'शेषवत्' अनुमान है। किसी व्यक्ति की स्थानान्तर प्राप्ति से उसकी गमनशीलता को देखकर गगन में सूर्य-चन्द्र आदि का पूर्व में उदित होकर पश्चिम में अस्त होना देखकर उनकी गमनशीलता का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहलाता है।[५५] 'मूलमाध्यमिककारिका' के टीकाकार पिङ्गल ने भी इन्हीं त्रिविध भेदों को विभिन्न उदाहरणों द्वारा विवेचित किया है—धूम से अग्नि का अनुमान पूर्ववत्, एक चावल को पका हुआ देखकर शेष पात्र के सारे चावलों को पका मानने का अनुमान शेषवत् कहलाता है। पिङ्गल ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान के दो उदाहरण दिये हैं—प्रथम तो 'उदायहृदय' के अनुसार ही है तथा द्वितीय में सुख-दुःख आदि से आत्मा का अनुमान किया गया है।[५६]

असङ्ग मत

आचार्य असङ्ग ने अनुमानके पाँच भेद व्यक्त किये हैं—

लिङ्ग से किया जाने वाला अनुमान

जैसे, ध्वज से रथ का, धूम से अग्नि का; राजा से राष्ट्र का; पति से स्त्री का तथा ककुद, सींग आदि से बैल का अनुमान।

स्वभाव से किया जाने वाला अनुमान

यह अनुमान एकदेश (अंश) से सम्पूर्ण का अनुमान है, जैसे, एक चावल के पकने से सारे पात्र के चाँवल पके होने का अनुमान।

कर्म से किया जाने वाला अनुमान

जैसे, हिलने, अङ्ग-चालन से पुरुष का; पैर की चाल से हाथी का; शरीर की गति से सर्प का; हिनहिनाने से अश्व का; होंकड़ने से सांड का; देखने से आँख का; सुनने से कान का; सूंघने से घ्राण का; चखने से जिह्वा का; छूने से त्वक् का; जानने से मन का; पानी में देखने की रूकावट से पृथिवी का; चिकने हरे होने से जल का; दाहभस्म से आग का; तथा वनस्पति के हिलने से हवा का अनुमान।

धर्म (गुण) से किया जाने वाला अनुमान

जैसे, अनित्य होने से दुःख होने का अनुमान तथा दुःख होने से शून्य और निरात्मक होने का अनुमान।

कार्य-कारण (हेतुफल) से किया जाने वाला अनुमान

यह कार्य से कारण का अथवा कारण से कार्य का अनुमान है। जैसे, राजसेवा से महाऐश्वर्य के लाभ का अथवा महाऐश्वर्य के लाभ से राज सेवा का; बहुत भोजन से तृप्ति अथवा तृप्ति से बहुत भोजन, तथा विषम-भोजन से व्याधि का अथवा व्याधि से विषम भोजन का अनुमान।[५७] उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्यों ने अनुमान के उक्त त्रिविध अथवा पञ्च भेदों को स्वीकार नहीं किया है।

जैन मत

जैन परम्परा के 'अनुयोग-द्वार-सूत्र' में पूर्ववत् को 'पूव्वव' शेषवत् को 'सेसवं' और सामान्यतोदृष्ट को 'दिट्ठसाहम्मव' के नाम से प्रदर्शित किया गया है।[५८]

पुव्वव

पूर्व ज्ञात हेतु दर्शन से, अनुमान करना, 'पूव्वव' कहलाता है। जैसे, एक माँ, अपने बालक को, शारीरिक चिह्नों, जैसे मस, तिल या चोट के दाग, जिसका ज्ञात उसे पहले ही हुआ रहता है, को देखकर तुरन्त पहचान जाती है। 'उपायहृदय' की तरह इसमें भी प्रत्यभिज्ञा द्वारा जो अनुमान किया जाता है, उसे 'पूव्वव' कहा गया है। इस उदाहरण को पुष्ट करने के लिए आचार्य ने एक कारिका भी उद्धृत की है, जिससे यह भली भांति प्रकट हो जाता है कि इससे पूर्व भी जैन परम्परा में अनुमान त्रैविध्य प्रचलित था।[५९]

सेसवं

सहसम्बन्धित युगल पदार्थों में एक को देखकर दूसरे का अनुमान सेसवं है। यह पाँच प्रकार का होता है—(१) कार्य से, (२) कारण से, (३) गुण से, (४) अवयव से और (५) आश्रय है।[६०]

(१) कज्जेणं (कार्यंण) कार्य से कारण का अनुमान—यथा शब्द से शङ्ख का; ताड़न से मेरी का; ढक्कित से बैल का; केकायित से मयूर का; हिनहिनाहट से अश्व का; गुल गुलायित (चिंघाड़ने से) गज का और घणघणायित से रथ का अनुमान।[६१] कार्य द्वारा कारण का अनुमान है।

(२) कारणेण (कारणेन) कारण से कार्य का अनुमान—जैसे, तन्तु वस्त्र का कारण है, किन्तु पट तन्तु का कारण नहीं; वीरणा कट का कारण है, पर कट वीरणा का नहीं; मृत्पिण्ड घट का कारण है, पर घट मृत्तिका पिण्ड का नहीं।[६२] इस प्रकार कार्यकारण की व्यवस्था बतलाकर कारण को हेतु मानकर कार्य का अनुमान करना ही कारण द्वारा कार्य का अनुमान है। उक्त उदाहरण क्लिष्ट होने के कारण व्याख्याकार ने अन्यत्र और भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जैसे, विशेष बादलों को देखकर जलवृष्टि का, चन्द्रोदय द्वारा समुद्र में तूफान आने का और सूर्योदय से सरसिज के खिलने का अनुमान।[६३]

(३) गुणेणं (गुणेन) गुण से गुणी का अनुमान—यथा निकष (परीक्षा) से स्वर्ण का; गन्ध से पुष्प का; रस (स्वाद) से लवण का आस्वाद; (सुवास) से मदिरा का और स्पर्श से वस्त्र का अनुमान गुण द्वारा गुणी का अनुमान है।[६४]

(४) अवयेवेणं (अवयवेन)—अवयव से अवयवी का अनुमान। यथा, सींग से महिष का; शिखा से कुक्कुट का; दाँत से हाथी का; दाढ़ से (उदन्त-सूकर दन्त से) वराह का; मयूर पंख से मयूर का; खुर से अश्व का; नखों से व्याघ्र का; बालाग्र से चमरी गाय का; लांगुल से बन्दर का; दो पैर से मनुष्य का; चतुष्पद से गाय आदि का; बहु पैरों से गोजर आदि का; केसर से सिंह का; कुकुद् से वृषभ का; चूड़ी सहित बाजु से महिला का; बद्धपरिकरता से योद्धा का; वस्त्र से महिला का; धान्य के एक कण से द्रोण पाक का एवं एक गाथा से कवि का अनुमान अवयव से अवयवी का अनुमान कहलाता है।[६४]

(५) आसएणं (आश्रितेन) आश्रय में रहने वाली वस्तु को देखकर, आश्रय का अनुमान। यथा धूम से अग्नि का; बलाका से पानी का, अभ्रविकार से (आविल या गंदले पानी से) वृष्टि का, एवं शील समाचार से कुल पुत्र का अनुमान।[६६]

'अनुयोगद्वार' में शेषवत् का जितना विस्तृत वर्णन किया गया है संभवतः वह किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि इसमें भी परिभाषाओं की न्यूनता है, फिर भी उदाहरणों की प्रचुरता से यह कमी नहीं अखरती। शेषवत् के पाँच भेद इस बात के द्योतक है कि, इसके मूल में कोई न कोई प्राचीन परम्परा अवश्य रही होगी।

दिट्ठ साहम्भव—

दृष्ट साधर्म्यवत् (दिट्ठसाहम्मव) के दो भेद यहाँ किये गये हैं—सामण्ण दिट्ठं (सामान्यतोदृष्ट) और विसेस दिट्ठं (विशेषतोदृष्ट या विशेषदृष्ट)।[६७]

(१) सामण्ण दिट्ठं (सामान्यतोदृष्ट)—किसी एक वस्तु को देखकर उसके समान जाति वाली अन्य दो वस्तुओं का साधर्म्य ज्ञान करना या बहुतसी वस्तुओं को देखकर, किसी विशेष में तत्साधर्म्म का ज्ञान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है यथा—जैसा एक पुरुष है, अनेक पुरुष भी वैसे ही होंगे या जैसे अनेक पुरुष हैं, वैसा ही एक पुरुष भी होगा। जैसा एक कार्षामण है, वैसे ही अनेक कार्षापण भी हैं या जैसे अनेक कार्षापण हैं, एक कार्षापण भी वैसा ही है।[६८]

(२) विसेस दिट्ठं (विशेषतोदृष्ट)—जहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान में अनेक व्यक्तियों अथवा एक व्यक्ति में समानता को परिलक्षित कर अनुमान किया जाता है, वहाँ विशेषतोदृष्ट में विशेष गुण को देखकर अनुमान किया जाता है। तात्पर्य यह कि अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके, उसके वैशिष्टय का प्रत्यभिज्ञान करना ही विशेषतोदृष्ट अनुमान कहलाता है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए भी सामान्यतोदृष्ट वाले दृष्टान्तों—'पुरुष और कार्षापण' का ही प्रयोग किया गया है। जैसे मनुष्य समुदाय में से कोई व्यक्ति विलक्षण रूप विशिष्ट होने के कारण अपने मित्र को, अन्य व्यक्तियों में से, पहचान लेता है। या अनेक कार्षापणों में एक को प्रत्यभिज्ञान द्वारा जानना विशेषतोदृष्ट का उदाहरण है।[६९]

इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने काल भेद द्वारा भी अनुमान के तीन भेद प्रतिपादित किये हैं—[६९/१] (१) अतीत काल ग्रहण, (२) प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण तथा (३) अन्तगत काल ग्रहण। ये भेद 'न्यायभाष्य' और 'चरक संहिता' से प्रभावित जान पड़ते हैं।

आर्यरक्षित के इन भेदों को उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने मान्य नहीं किया, इतना ही

नहीं कुछ आचार्यों ने तो इसका साटोप खण्डन भी किया है।[७०] इस प्रकार उनके ये व्यापक भेद भी वाचस्पति मिश्र के वीत-अवीत भेद की तरह केवल उन तक ही सीमित रहे।

चरक मत

'चरक संहिता' में भी अनुमान के त्रिविध भेद उपलब्ध होते हैं। प्राचीन परिपाटी के अनुसार इसमें भी 'सांख्यकारिका' के समान अनुमान-त्रैविध्य का ही संकेत किया गया है, किन्तु उनके विशिष्ट नामों का परिचय नहीं दिया गया। इसमें तीन भेदों को उदाहरण द्वारा समझाया गया है। यही इस ग्रन्थ की 'सांख्यकारिका' से विशिष्टता है। विवेचन इस प्रकार है—त्रिकालसिद्ध अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है तथा वह तीन प्रकार का होता है—जैसे, धूम द्वारा प्रच्छन्न अग्नि का; गर्भ दर्शन से मैथुन का तथा बीजों से फल उत्पादन का अनुमान।[७१] 'चक्रपाणि टीका' के अनुसार प्रथम अनुमान में, कार्यकारण निरपेक्ष सामान्य दर्शन से; द्वितीय अनुमान में, कार्य से कारण का तथा तृतीय अनुमान में कारण से कार्य का अनुमान किया गया है।[७२] 'चरकसंहिता' के उदाहरणों तथा चक्रपाणि की चरक-व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए प्रथम को सामान्यतोदृष्ट, द्वितीय को शेषवत् तथा तृतीय को पूर्ववत् कहा जा सकता है। यह क्रम विन्यास न्याय सूत्र के ठीक विपरीत जान पड़ता है।

उक्त समस्त मतों का परिशीलन करने के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि इन अनुमान भेदों का विवेचन करने वाली मुख्यतः दो परम्परायें भारतीय दर्शन में उपलब्ध होती हैं—प्रथम परम्परा में अनुमान के त्रिविध भेद तथा द्वितीय में द्विविध भेद सूचित किये गये हैं। प्रथम परम्परा के अन्तर्गत न्याय, सांख्य, बौद्ध, जैन दर्शन और चरक तथा द्वितीय परम्परा में वैशेषिक, मीमांसा दर्शन तथा भासर्वज्ञ को समाहित किया जा सकता है।

प्रथम परम्परा में प्रायः सभी दार्शनिकों ने महर्षि गौतम संमत तीन भेद—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट को मान्य किया है। प्रायः सभी दार्शनिक न्यायसूत्रकार के वास्तविक अभिप्राय को अधिगत करने के लिये सन्नद्ध अवश्य थे, किन्तु मत वैभिन्य होने के कारण वे एक निष्कृष्ट अर्थ की प्रसक्ति नहीं कर पाये। इसका सामान्य कारण यह हो सकता है कि, सूत्रकार और अन्य दार्शनिकों के बीच एक दीर्घ समयावधि पार हो गयी हो, परन्तु सभी दार्शनिकों के समक्ष मूल अथवा खंडित रूप से कोई न कोई परम्परा अवश्य रही होगी, जिसके कारण उनके विवेचनों में विप्रतिपत्तियां लक्षित होती है। भाष्यकार वात्स्यायन ने प्रत्येक भेद के दो-दो अर्थ ज्ञापित किये हैं, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सामने भी गौतमातिरिक्त कोई अन्य परम्परा विद्यमान रही होगी। यह भी संभव है कि महर्षि गौतम के सामने भी कोई सबल परम्परा अवश्य रही होगी, जिसको उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ सूत्रबद्ध किया है। प्रत्येक दार्शनिक, साहित्यकार, वैज्ञानिक लेखक तथा कवि, अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये सर्वदा अपनी-अपनी पूर्व परम्पराओं का ऋणी रहता है। एक दार्शनिक अपने पूर्वाचार्य की रचनाओं से यथेष्ट सामग्री ग्रहण कर अपनी कृतियों को पूर्णता प्रदान करता है। यही मानवीय ज्ञान के विकास की कहानी है। ध्यानपूर्वक गवेषणा से विदित होता है कि महर्षि गौतम ने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट प्राचीन मीमांसक परम्परा से अपनाये हैं, जिसे महर्षि जैमिनि ने सूत्रबद्ध किया है। महर्षि गौतम के उक्त प्रकारों में प्रयुक्त पूर्व, शेष तथा 'सामान्य' पद मीमांसासूत्र में प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।[७३] यही नहीं कुछ

सूत्र पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट नाम से भी प्रयुक्त हुए हैं।[७४] इन सूत्रों में सामान्य पद को सादृश्यता अथवा समानजातीयता के रूप में व्यक्त किया गया है। प्रारम्भिक काल में 'पूर्व' और 'शेष' पद का अर्थ तार्किक रूप से वाक्य और पद दोनों में पूर्वगामी तथा पश्चाद्गामी किया गया है, कहीं-कहीं विधि और अर्थवाद के सम्बन्ध में भी इनका प्रयोग हुआ है। यह भी हो सकता है कि, यह दोनों पूर्ण इकाई के दो अङ्ग रहे हों, इसी कारण पूर्व को मुख्य और शेष को गौण के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार पूर्व और शेष पद, जो पहिले किसी आवश्यक सम्बन्ध के लिये पदों अथवा वाक्यों में प्रयुज्य होते थे, उन्हें कालान्तर में कारण-कार्य उद्दीपक भी घोषित कर दिया गया है। शेष पद का प्रयोग अवशेष के रूप में भी मीमांसा सूत्रों में उपलब्ध होता है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि न्यायसूत्रकार ने अथवा उनके उत्तरवर्ती किसी टीकाकार ने अनुमान सूत्र के सिवा कहीं भी कारण-कार्य के रूप में इन पदों का प्रयोग नहीं किया है, इसके विपरीत मीमांसा सूत्रों में इन पदों का बहुलता से प्रयोग किया गया है। फिर भी यदि नैयायिको को मूलरूप में, कारण कार्य पदों का अर्थ अभिप्रेत ही होता, तो वे क्रमिक पदों जैसे 'पूर्व-पर' या 'उत्तर-अपर' आदि का प्रयोग तो अवश्य ही करते। अतः इससे विदित होता है कि पूर्व और शेष पद उनके शास्त्र के नहीं हैं और महर्षि गौतम इनके लिये मीमांसकों के ऋणी हैं, जो केवल वेदों के व्याख्याकार मात्र ही नहीं थे, प्रत्युत उद्भट तार्किक भी थे। उद्योत कर द्वारा प्रयुक्त अन्वय और व्यतिरेक पदों का भी 'मीमांसासूत्र' में कई स्थलों पर उल्लेख किया गया है।[७५] वास्तव में सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में, अपने मौलिक विचारों के लिये, वैदिक ज्ञान पर अवलम्बित हैं और वैदिक ज्ञान को ही कालान्तर में ब्राह्मणों की व्याख्या के रूप में मीमांसा दर्शन ने अपनाया है, अतः समस्त दार्शनिक विचारों के प्रारम्भिक विकास के लिये मीमांसकों की ओर दृष्टि-पात करना आवश्यक है।

यद्यपि मीमांसा सूत्रों में दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट पदों का प्रयोग पर्याप्त रूप से किया गया है, फिर भी द्वितीय द्विविध भेदवाली वैशेषिक-मीमांसक परम्परा का मूल 'मीमांसा-सूत्र' में नहीं है, किन्तु प्रशस्तपाद इसके लिये महर्षि कणाद से ही प्रभावित जान पड़ते हैं, जबकि शबर और उनके उत्तरवर्ती भाट्ट और प्रभाकर मीमांसक उदाहरणों के प्रसङ्ग में 'न्याय-भाष्य' और भेद प्रदर्शन के लिये प्रशस्तपादभाष्य के ऋणी जान पड़ते हैं। प्रशस्तपाद द्वारा दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट अनुमानों में जो उदाहरण दिये गये हैं, वह वैशेषिक सूत्रों का ही समर्थन है।[७६] यद्यपि सूत्रकार ने दृष्ट और मासामान्यतोदृष्ट भेद से, अनुमान के दो भेद ज्ञापित नहीं किये हैं, किन्तु दृष्ट और अदृष्ट या सामान्यतोदृष्ट रूप से दो प्रकार के लिङ्गों का अवश्य निर्देश किया है[७७] तथा इन शब्दों का प्रयोग अनेक सूत्रों में किया गया है।[७८]

'सांख्य-तत्त्व-कौमुदी' में वीत-अवीत भेद से अनुमान के दो भेद, प्रथमतः मानकर पुनः वीत के दो भेद—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट प्रदर्शित कर, तीनभेद सूचित किये गये हैं। इस प्रकार उन्होंने प्रथमतः दो भेद अपनाकर वैशेषिक-मीमांसक परम्परा तथा पुनः तीन भेद ज्ञापित कर न्याय-सांख्य परम्पराओं में समन्वय का प्रयास किया है किन्तु उनका प्रयास उन्हीं तक सीमित रहा। अन्य किसी दार्शनिक द्वारा, इस भेद को मान्यता प्रदान करने की बात तो दूर रही, स्वयं उत्तरवर्ती सांख्य आचार्यों जैसे, विज्ञानभिक्षु, अनिरूद्ध आदि ने भी इस भेद की विवेचना नहीं की। वीत और अवीत का वर्णन विधि-

निषेध के रूप में उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' में उपलब्ध होता है, जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। वास्तव में यह साधर्म्य और वैधर्म्य अथवा भूत और अभूत हेतुओं का ही शब्दान्तर से प्रतिपादन है। 'मीमांसा-सूत्र' में विधि-निषेध के रूप में वीत और अवीत पद प्रयुक्त हुए हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस भेद का प्रेरणास्त्रोत भी 'मीमांसा-सूत्र' ही रहा हो।[७९]

प्रो. ध्रुव–मत का निराकरण

अनुमान-भेदों के मूल स्त्रोतों का विश्लेषण करने के उपरान्त यह प्रश्न उँटना स्वाभाविक है कि न्यायसूत्र के अनुसार इनका वास्तविक अर्थ क्या है? भाष्यकार वात्स्यायन ने पूर्ववत् आदि प्रकारों की व्याख्या दो प्रकार से की है। इन दो प्रकार की विवेचनाओं को देखकर प्रो. ध्रुव ने अपने लेख में परस्पर विरोधी मत प्रतिपादित किये हैं। जैसे, एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "अपने-अपने दृष्टान्तों के साथ व्याख्या के दोनों पहलू एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार यथार्थ सूत्र-अर्थ ज्ञात करने के लिए अंधकार में भटक रहे हों।'[८०] अन्यत्र इस मत के विपरीत निष्कर्ष प्रज्ञापित करते हुए उन्होंने कहा है, 'वास्त्यायन जब पूर्ववत् और शेषवत् को कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान घोषित करते हैं, तब वे इन पदों का निस्सन्देह ही यथार्थ रूप व्यक्त करते हैं, जो कि सूत्र में प्रकट हुआ है।'[८१] प्रथम उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि, भाष्यकार यथार्थ सूत्र अर्थ में अनभिज्ञ थे और द्वितीय में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि, निभ्रान्त रूप से उन्होंने सूत्र अर्थ विज्ञापित किया है। वास्तविक बात यह है कि वात्स्यायन प्रखर नैयायिक होने के साथ-साथ उद्भट वैयाकरण भी थे। महर्षि पाणिनि ने 'वत्' शब्द का प्रयोग, 'वति'[८२] प्रत्यय तथा 'मतुप्'[८३] प्रत्यय दोनों प्रकार से किया है। प्रथम का अर्थ सादृश्यार्थक बोध एवं द्वितीय का अर्थ अधिकार सूचक है, अर्थात् 'तद्वत्' या 'तद्वान्' के रूप में इनको सूचित किया गया है। पूर्ववत् और शेषवत् शब्दों में प्रयुक्त 'वत्' पद की यही द्विविध व्याख्या भाष्याकार की दो विवे-विवेचनाओं का आधार है। प्रथम के अनुसार 'पूर्व के समान' अथवा 'शेष के समान' एवं दूसरी के अनुसार 'पूर्ववान्' या 'शेषवान्' अर्थ ज्ञापित किया जा सकता है। इसी प्रकार सामान्यतोदृष्ट पद भी दो प्रकार से निष्पन्न हो सकता है—सामान्यतः दृष्ट तथा सामान्यतः अदृष्ट—जहाँ साध्य साधन भाव सामान्यतः गृहीत हो और जहाँ यह सम्बन्ध सामान्यतः प्रदर्शित न किया जा सके।

उक्त विवेचन के आधार पर ही वात्स्यायन ने 'मतुप्' प्रत्यय द्वारा पूर्ववत् को पूर्ववान् (कारण वाला) मानकर, मेघोन्नति से भावी वर्षा का अनुमान तथा 'वति' प्रत्यय द्वारा पूर्ववत् को, 'पूर्व के समान' स्वीकार कर, धूम और अनल के व्याप्ति सम्बन्ध को पूर्व में पाकशाला आदि में गृहीत कर, उसी के समान, 'पर्वतादि में, धूम को देखकर, अग्नि का अनुमान, प्रदर्शित किया है। किन्तु प्रथम विवेचन में केवल बादलों को उमड़ते देखकर ही वर्षा का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि विशिष्ट बादल ही वर्षा का कारण हो सकते हैं। इसी दृष्टि से, भयंकर गर्जन, बहुत सी बकपंक्तियों तथा दामिनि का कड़कना आदि विशेषणों का उपादान 'मेघ-उन्नति हेतु में उद्योतकर ने किया है। इसी अभिप्राय से जयन्त ने भी कारण मात्र अथवा कारण विशेष की अपेक्षा विशिष्ट कारण को ही इस अनुमिति का हेतु माना है। इस परिष्कृत लक्षण—कारण विशिष्ट-

विशिष्ट बादलों का उमड़ना देखकर कार्य भावी वर्षा के अनुमान का समर्थन वाचस्पति मिश्र, जयन्त विश्वनाथ आदि नैयायिकों ने किया है। माठर और गौडपाद ने भी 'पूर्वमियं दृष्टेति पूर्ववत्' तथा 'पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्' इन लक्षणों के साथ विशिष्ट मेघोन्नति से वर्षा के अनुमान के रूप में वात्स्यायन के प्रथम विवेचन का ही अनुगमन किया है। चरक ने बीज के फलों के अनुमान में भी यही बात व्यक्त की है। तात्पर्य यह कि उक्त सभी दार्शनिकों ने कारण विशिष्ट से ही कार्य के अनुमान को पूर्ववत् माना है। न्यायसूत्रकार के अनुमान परीक्षण काल में विवेचित रोध, उपघात तथा सादृश्य रूप विशेषणों के दृष्टिकोण से भी यही व्याख्या समीचीन जान पड़ती है। दूसरी ओर भाष्यकार की द्वितीय व्याख्या है, जिसमें पूर्व अनुभव के आधार पर पूर्ववत् अनुमान सिद्ध किया गया है। किन्तु 'न्यायसूत्र' गत उक्त तीन विशेषणों में पूर्व अनुमिति का भान नहीं होता, अतः इस विवेचन की संगति 'न्यायसूत्र' की अपेक्षा 'वैशेषिक सूत्र' से ही जान पड़ती है क्योंकि महर्षि कणाद ने प्रत्यक्षगम्य पूर्व अनुभूत विषय को ही दृष्ट अथवा दृष्टलिङ्ग के रूप में अनेक सूत्रों— (संशय-निरूपण के प्रसङ्ग में) द्वारा व्यक्त किया है—'दृष्टं च दृष्टवत्' 'यथा दृष्टमथादृष्टत्वाच्च'।" भूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात्"। –अर्थात् दृष्टं—पुरोवर्ती धर्मी में, जिस साधारण धर्म के प्रत्यक्ष होने पर संशय होता है, वह दृष्टवत्—पूर्व अनुभूत धर्मियों में होने वाले, साधारण धर्म के समान होना चाहिये। पूर्वदृष्ट वस्तु के कदाचित विपरीत देखने से, एक धर्मी विषयक संशय उत्पन्न होता है, कारण कार्य गुणों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणों दृष्टः' अर्थात् कार्य से पूर्ववर्ती होने के कारण पूर्व ही कार्य गुणों की अनुभूति होती है, (दृष्टलिङ्ग के रूप में) विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेबालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टंलिङ्गम्' अर्थात् विषाण, ककुद, पूँछ तथा सास्ना ये सब गोत्व सिद्धि में दृष्ट (प्रत्यक्षगम्य) लिङ्ग हैं—द्वारा विवेचित किया है।[८४] अन्तिम सूत्र के आधार पर आगे जाकर प्रशस्तपाद ने, पूर्व अनुभूत गाय में सास्नादि देखकर, अन्यत्र सास्नाआदि देखकर सजातीय गाय का अनुमान निष्पन्न किया है, जिसे उन्होंने सूत्रकार के दृष्टलिङ्ग पर आधारित दृष्ट अनुमान कहा है। इसी प्रकार वायु आत्मादि अप्रत्यक्षगम्य पदार्थों के निश्चय हेतु दृष्टलिङ्ग का निषेध भी सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।[८५] यद्यपि शबर स्वामी के प्रत्यक्षतोदृष्ट, कुमारिल के विशेषतोदृष्ट, प्रभाकर, शालिकनाथ तथा पार्थसारथि मिश्र के दृष्टस्वलक्षण, सांख्यतत्वकौमुदीकार तथा सांख्यप्रवचनभाष्यकार के पूर्ववत् अनुमान में न्याय भाष्य गत उदाहरण ही प्रयुक्त हुआ है, फिर भी उनकी विवेचना कणाद सूत्रानुसार ही है। 'उपायहृदय' में षडंगुलीय आदि विशिष्ट लक्षणों से तथा 'अनुयोगद्वार-सूत्र' में तिल, मस आदि चिह्न विशेष से जो प्रत्यभिज्ञा से दृष्टा द्वारा बालक का तथा माता द्वारा पुत्र का पूर्ववत् अनुमान किया गया है वह भी इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है। नारायण भट्ट ने विभिन्न उदाहरण नक्षत्र विशेष कृतिका के उदय से रोहिणि नक्षत्र के उदय होने के अनुमान को प्रशस्तपाद की भांति दृष्ट अनुमान कहा है। अतः वात्स्यायन की द्वितीय व्याख्या का मूल स्त्रोत कणादसूत्र ही कहा जा सकता है।

पूर्ववत् की भांति वात्स्यायन ने शेषवत् अनुमान की भी द्विविध रूप से विवेचना की है। प्रथम 'मतुप्' प्रत्यय द्वारा, शेषवत् को, शेषवान् (कार्य वाला) मानकर, नदी की बाढ़ से भूत वृष्टि का अनुमान तथा द्वितीय अर्थ में 'वति' प्रत्यय से शेषवत् को शेष के समान (परिशेष) घोषित कर शब्द के गुण होने का अनुमान किया गया है। उद्योतकर,

वाचस्पति मिश्र, जयन्त, विश्वनाथ आदि ने भी सिद्धान्ततः प्रथम अर्थ की ही पुष्टि की है। 'माठरवृत्ति' और गौडपादभाष्य' में 'उपायहृदय' के समान 'अंश'—समुद्र की एक बूंद के खारे स्वाद से 'अंशी'—खारे सागर-सलिल का अनुमान किया गया है। पिङ्गल ने एक चावल को पका देखकर सारे चावलों के पक जाने का उदाहरण शेषवत् अनुमान के लिये प्रयुक्त किया है। अंश और अंशी के रूप में यहाँ भी शब्दान्तर द्वारा कार्य से ही, कारण का अनुमान सम्पादित हुआ है। चरक ने गर्भ देखकर, मैथुन के अनुमान को शेषवत् कहा है। यह भी कार्य से कारण का अनुमान जान पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त सभी दार्शनिकों ने, वात्स्यायन के प्रथम अर्थ का ही उदाहरण-वैभिन्य के साथ शब्दान्तर से समर्थन किया है। आर्यरक्षित ने शेषवत् अनुमान की विशद रूप से व्याख्या की है। इसमें कार्य से कारण का, कारण से कार्य का, गुण से गुणी का, अवयव से अवयवी का तथा आश्रित वस्तु से आश्रय का अनुमान समाहित है। उदाहरण बहुलता के कारण उक्त सभी आचार्यों के उदाहरणों को इनके भेदों में समाविष्ट किया जा सकता है। जैसे, अभ्रविकार से वृष्टि के अनुमान के रूप में वात्स्यायन के प्रथम उदाहरण को तथा 'उपायहृदय', 'माठरवृत्ति', 'गौडपादभाष्य' में प्रयुक्त उदाहरणों को, पिङ्गल के समान, धान्य के एक कण को देखकर द्रोणपाक के अनुमान के रूप में अवयव से अवयवी के अनुमान में सन्निविष्ट कर लिया गया है।

परिशेषानुमान के रूप में शेषवत् अनुमान की द्वितीय विवेचना भाष्यकार की अपनी ही कल्पना जान पड़ती है, क्योंकि इसके लिये जो उदाहरण प्रयुक्त किया गया है वह 'न्यायसूत्र' से सामञ्जस्य नहीं रखता। उनके उदाहरण को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि परिशेषानुमान का उद्गम स्त्रोत 'न्याय-सूत्र' की अपेक्षा 'कणाद-सूत्र' ही रहा हो। जैसे, उनके 'यथा सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः' इस उदाहरण अंश में, 'सद्नित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म सत्ताशील, अनित्य, द्रव्य में समवेत रहने, कार्य, कारण तथा सामान्य विशेष वाले होने के कारण अविशेष हैं अर्थात् सत्ता आदि तीनों में सामान्यतया पाई जाती है। यह 'वैशेषिकसूत्र' सन्निविष्ट है।[८६] शब्द सत्ताशील और अनित्यत्व धर्म से विशिष्ट होने के कारण "सामान्य विशेष समवायेभ्यो विभक्तस्य" इस अंश से 'प्रसक्त प्रतिषेध' के रूप में सामान्य, विशेष तथा समवाय का गुण होना निरस्त हो जाता है, क्योंकि ये तीनों सत्ताविहीन, एक और नित्य हैं, इस व्याख्या अंश के लिये वैशेषिक सूत्रों की सामान्य विशेष तथा समवाय की विवेचनाओं का उद्धृत किया जा सकता है।[८७] प्रसक्तों में गुण का परिहार हो जाने के पश्चात् अप्रसक्त द्रव्य, गुण, तथा कर्म में ही शब्द होने की संभावना रहती है। अप्राप्ति द्वारा द्रव्य और कर्म का निरास हो जाता है, क्योंकि शब्द द्रव्य की भांति अनेकाश्रित नहीं होता तथा एक शब्द से अन्य शब्द की उत्पत्ति हो सकने के कारण वह कर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक कर्म द्वारा दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये अवशिष्ट रूप से शब्द को गुण ही माना जा सकता है। इस बात को समझाने के लिये भाष्यकार के चार अंशों—(१) 'शब्दस्य तस्मिन द्रव्यकर्मगुणसंशये, (२) न द्रव्यं एकद्रव्यत्वात्, (३) न कर्म शब्दान्तर हेतुत्वात् तथा (४) यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः' को गृहीत किया जा सकता है। इन अंशों के लिये क्रमशः इन सूत्रों—'तुल्य जातीयेष्वर्यान्तरभूतेषुविशेषस्योभयथा-दृष्टवात्' अर्थात् शब्द के समान जातीय गुणों में तथा असमान जातीय द्रव्य और कर्म में

विशेष धर्म--उपलब्ध होने के कारण, शब्द द्रव्य है या कर्म है या गुण है, यह संशय बना रहता है, 'एकद्रव्यत्वान्नद्रव्यम्' अर्थात् शब्द द्रव्य नहीं है, क्योंकि वह एक द्रव्य-आश्रय है, 'नापि कर्माचाक्षुषत्वात्' । 'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ।' संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्ति' अर्थात् शब्द कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह चाक्षुष नहीं है, एक कर्म से दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, तथा संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की निष्पत्ति होती है एवं 'गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम्' अर्थात् शब्द के कर्म के समान आशुतरविनाशित्व (शीघ्र नष्ट होना) धर्म पाये जाने पर भी वह कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त धर्म से उसका कर्म के साथ सादृम्य मात्र ही है । अभिप्राय यह कि जिस प्रकार उत्क्षेपण आदि कर्म, शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार शब्द भी विनष्ट हो जाता है, परन्तु शब्द में केवल यही समानता नहीं है, प्रत्युत उसमें कर्म के विरुद्ध गुणत्व धर्म भी पाया जाता है, इसलिये वह कर्म नहीं गुण है ।[८८] अन्यत्र और भी स्पष्ट रूप से सूत्रकार ने, शब्द को, परिशेष से, आकाश का गुण होना सिद्ध किया है[८९]—को उद्धृत किया जा सकता है यद्यपि न्यायसूत्रकार ने भी 'परिशेषाद्यथोक्तहेतुपपत्तेश्च' इस सूत्र द्वारा ज्ञान को परिशेष से आत्मा का गुण सिद्ध किया है,[९०] किन्तु परिशेषानुमान में प्रयुक्त की गयी भाषा तथा उदाहरणों का परिशीलन करने के पश्चात् वात्स्यायन का महर्षि गौतम की अपेक्षा महर्षि कणाद से अधिक सामञ्जस्य दिखायी देता है । फिर न्यायसूत्रकार ने अनुमान परीक्षण काल में तीन विशेषणों---रोध, उपघात तथा सादृश्य का ही प्रयोग किया है, इनमें से किसी भी विशेषण को परिशेष के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता । अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि न्यायभाष्यकार ने परिशेष अनुमान वैशेषिक सूत्र से ही ग्रहण किया है । 'न्यायवार्तिक' और 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका' में इसका खण्डन किया गया है तथा इसके स्थान में व्यतिरेकी अनुमान उपस्थापित किया गया है । जयन्त भट्ट ने भी सिद्धान्तः प्रथम अर्थ का ही समर्थन किया है, किन्तु वैविध्यान्तर की दृष्टि से इस अनुमान का भी संकलन किया है । उन्होंने यहाँ भाष्यकार के अतिरिक्त एक और भी उदाहरण दिया है---धूम से अग्निमात्र का अनुमान किया जाने पर, किसी को यह शंका हो सकती है कि, वह अग्नि किस ईंधन द्वारा प्रज्वलित की गई है ? इस संदेह के निवारण के लिए, प्रसक्त प्रतिषेध द्वारा तृण, पर्ण तथा काष्ठ अग्नि का निषेध करके मृत्तिका और पाषाण से उसकी संभावनाओं का निरास कर, गोमय ईंधन द्वारा, अग्नि का प्रज्वलन, परिशेष द्वारा सिद्ध किया जाता है ।[९१] विश्वनाथ ने भी उद्योतकर का ही समर्थन किया है । अन्य दार्शनिक ग्रन्थ जैसे 'उपायहृदय', 'अनुयोगद्वारसूत्र', 'माठरवृत्ति', 'गौडपादभाष्य', 'सांख्यप्रवचनभाष्य' तथा पिङ्गल और चरक के विवेचन में इस भेद का सर्वथा अभाव ही पाया जाता है । 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में इस भेद को अवश्य मान्य किया गया है । आश्चर्य की बात यह है कि 'कणादसूत्र' में परिशेष की इतनी विपद रूप से चर्चा उपलब्ध होने पर भी किसी वैशेषिक दार्शनिक ने इस अनुमान का विवेचन नहीं किया । इसी प्रकार 'मीमांसासूत्र'[९२] में शेष पद एवं परिशेष पद प्रचुरता से प्रयुक्त होने पर भी किसी मीमांसक ने परिशेषानुमान को मान्यता प्रदान नहीं की ।

'वात्स्यायनभाष्य' में सामान्यतः दृष्ट इस विग्रह के अनुसार सामान्य रूप से देवदत्त आदि के स्थानान्तर प्राप्ति से गति को देखकर देशान्तर गमन से आदित्य की गति को तथा सामान्यतः अदृष्ट इस व्युत्पत्ति के आधार पर इच्छा आदि से अतीन्द्रिय आत्मा का, अनुमान किया गया है, इस अनुमान में लिङ्गलिङ्गी-सम्बन्ध पूर्व की तरह

साधारणतः गम्य नहीं होता, क्योंकि लिङ्गी नित्य परोक्ष होता है, अतः सामान्य ज्ञान के आधार पर ही यह अनुमान निष्पन्न होता है। 'उपाय-हृदय' 'शाबरभाष्य' तथा उसके टीकाकार कुमारिल एवं पिङ्गल के प्रथम उदाहरण में न्यायभाष्य के प्रथम उदाहरण का ही समर्थन किया गया है। 'माठरवृत्ति' 'गोडपादभाष्य' में भी आदित्य के स्थान में, चन्द्र-तारागण आदि प्रयुक्त कर, यही बात कही गयी है। उनके इस उदाहरण वैषम्य का कारण 'योगभाष्य' के अनुमान लक्षण से प्रभावित होना ही जान पड़ता है। माठर और गौडपाद ने सहभाव अथवा समानता के आधार पर एक और भी उदाहरण दिया है—एक आम पर बौर आया देख उसके समान सभी आमों पर बौर आने का अनुमान। 'अनुयोगद्वारसूत्र' में भी 'शब्दान्तर से—एक मनुष्य अथवा एक कार्षापण की भांति, सब मनुष्य या कार्षापण होते हैं अथवा सब मनुष्यों और कार्षापणों की भांति, एक मनुष्य और कार्षापण भी होता है'—इस उदाहरण के माध्यम से ही यही बात सूचित की गयी है। इसी ग्रन्थ में विशेषतोदृष्ट के रूप में, विलक्षण गुण (वैशिष्ट्य) होने से, कोई व्यक्ति मानव समुदाय में अपने मित्र को पहचान जाता है तथा अनेक कार्षापणों में से इसी प्रकार विशिष्ट गुण द्वारा किसी एक कार्षापण का प्रत्यभिज्ञा द्वारा जानना भी सामान्यतोदृष्ट का एक भेद कहा गया है। पर इसको पूर्ववत् अनुमान कहना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि विशिष्ट चिह्न पूर्व अनुभूत होने के कारण ही उससे किसी व्यक्ति विशेष का प्रत्यभिज्ञान किया जा सकता है। उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट ने भी सहभाव द्वारा ही सामान्यतोदृष्ट की स्थापना के लिए 'न्यायभाष्य' के प्रथम उदाहरण की आलोचना कर उसे शेषवत् का उदाहरण घोषित करने का प्रयास किया है। विश्वनाथ के पृथ्वी से द्रव्य के अनुमान में भी उद्योतकर आदि का ही समर्थन जान पड़ता है। नारायण भट्ट ने चरक के समान धूम से अग्नि के अनुमान को ही सामान्यतः दृष्ट के रूप में सिद्ध किया है। इसके विपरीत भाष्यकार का द्वितीय उदाहरण है, जिसमें सामान्य ज्ञान के आधार पर अतीन्द्रिय पदार्थों का अनुमान किया गया है। यद्यपि सामान्यतोदृष्ट के सांख्य दार्शनिकों ने विभिन्न उदाहरण ही प्रतिपादित किये हैं, तथापि सभी ने पुरुष और प्रकृति, अतीन्द्रिय पदार्थों के लिये सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उपादान किया है। प्रभाकर, शालिकनाथ तथा पार्थसारथि मिश्र ने क्रिया विषयक अनुमान के रूप में अदृष्ट-स्वलक्षण अनुमान की व्याख्या इसी प्रकार की है। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार तथा जयन्त भट्ट का समर्थन करते हुए विज्ञान भिक्षु ने रूप आदि ज्ञान के करण का अनुमान विज्ञापित किया है, उसका भी आधार यही द्वितीय लक्षण है। पिङ्गल ने भी सुख-दुःख आदि से आत्मा के अनुमान में यही बात प्रकट की है। यह व्याख्या भी न्यायसूत्र की यथार्थ व्याख्या नहीं जान पड़ती, क्योंकि उनके तीनों विशेषणों—रोध, उपघात तथा सादृश्य में से कोई भी अतीन्द्रिय नहीं है। यहाँ भी भाष्यकार कणादसूत्र से ही प्रभावित जान पड़ते हैं, क्योंकि वैशेषिक सूत्रकार ने वायु, मन आदि अदृष्ट पदार्थों की सिद्ध में सामान्यतोदृष्ट लिङ्ग का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिसके आधार पर प्रशस्तपाद ने कृषक आदि की प्रवृत्तियों को फलदायक देखकर, वर्णाश्रमियों की प्रवृत्तियों को अदृष्ट फलदायी होने का अनुमान उक्त सामान्य ज्ञान के आधार पर निष्पन्न कर, उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा है। यही नहीं 'वैशेषिकसूत्र' में इच्छा आदि का आश्रय द्रव्य आत्मा को ही बतलाया गया है, जो सामान्यतोदृष्ट से अधिगत होती है—'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतिन्द्रियान्तर-विकारः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि । तस्यद्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना

व्याख्याते । यज्ञदत्त इतिसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्ग न विद्यते । सामान्यतोदृष्टा-चाविशेषः' अर्थात् प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न आत्मा की सिद्धि में लिङ्ग है । (स्पर्श गुण का आश्रय) वायु की भांति आत्मा भी (ज्ञान आदि गुणों का आश्रय होने से) द्रव्य और नित्य है । आत्म सिद्धि का हेतु दृष्ट लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि यज्ञदत्त नामक शरीर के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर भी, 'यह यज्ञदत्त है' इस प्रकार से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । (ज्ञान आदि गुणों की आश्रय) द्रव्य की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट से होती है ।[९३] न्यायसूत्र—'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति'[९४] भी उक्त वैशेषिक सूत्र का ही संक्षिप्तिकरण प्रतिभासित होता है । अतः वात्स्यायन का सामान्यज्ञान के आधार पर निष्पन्न होने वाला आत्मादि विषयक सामान्यतोदृष्ट अनुमान वैशेषिक सूत्र से ही मूलतः प्रभावित जान पड़ता है ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अनुमान-सूत्र में विवेचित भेदों के विभिन्न उदाहरण वात्स्यायन की अपनी परिकल्पनायें नहीं हैं, किन्तु न्यायसूत्र और वैशेषिक सूत्र की विचार धाराओं का ही समन्वय मात्र है । न्यायसूत्रगत 'उपघात', 'रोध' और 'सादृश्य' आदि विशेषणों के आधार पर ही उनके प्रथमवर्गीय उदाहरणों का उपन्यास किया गया है । नीड़ को ठेस लग जाने से भी, चिटियाँ अपने अण्डे बच्चों को लेकर बाहर संचरण कर सकती है, अतः पिपीलिका अण्ड संचरण से भावी वृष्टि का, बाँध आदि टूट जाने से भी नदी में बाढ़ आ सकती है, इसलिए बाढ़ को देखकर, ऊपरवाले प्रदेश में भूत वृष्टि का तथा मनुष्य भी मयूर की भांति आवाज कर सकता है, अतः सादृश्य के आधार पर मयूर आवाज से मयूर की सत्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता ।[९५] उक्त रूप से होने वाले एकदेशीय और अस्वाभाविक व्यभिचारों का निराकरण करने के लिए ही भाष्यकार ने सार्वदेशिक (सार्वत्रिक) स्वाभाविक तथा निर्दुष्ट लक्षण-उदाहरणों का सर्जन करते हुए कारण से कार्य-मेघोन्नति से भावी वृष्टि के अनुमान को पूर्ववत्, कार्य से कारण—वेगपूर्ण प्रवाह, बहुत से फेन, फल, पर्ण काष्ट आदि को अपने साथ प्रवाहित करती हुई जल से परिपूर्ण, विशिष्ट नदी की बाढ़ को देखकर, ऊपरवाले प्रदेश में वर्षा हो चुकने के अनुमान को शेषवत् तथा किसी व्यक्ति को एक स्थान सेदू सरे स्थान पर देखने से उसकी गतिशीलता का आभास स्वाभाविक रूप से हो जाता है, क्योंकि बिना गति के कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जा सकता । सामान्यतः इसी बात को देख-कर उन्होंने आदित्य के देशान्तर गमन से उसकी गतिशीलता के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहा है । इस व्याख्या से एकदेश सादृश्य विशिष्ट उपघातजनित पिप्पलिका अण्डसंचरण, रोधभङ्ग जनितबाढ़ तथा सादृश्यजनित कृत्रिम मनुज आवाज आदि व्यभिचारों का निरास हो जाता है क्योंकि वे सार्वजनीन, सार्वत्रिक तथा स्वाभाविक नहीं है ।[९६] इस प्रकार वात्स्यायन की प्रथमवर्गीय व्याख्या न्यायसूत्रानुसारीय है, जबकि द्वितीय वर्ग के उदाहरणों की विवेचना कणाद सूत्र गत दृष्ट, परिशेष तथा सामान्यतोदृष्ट लिङ्गों की व्याख्या पर ही आधारित है ।

उद्योतकर प्रणीत अन्वयी, व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी भेद तथा इनकी यथार्थता को सिद्ध करने वाले पक्षधर्मत्व आदि रूपों की कल्पना सूत्रकारीय भेदों से कोई सामञ्जस्य नहीं रखती । इसी प्रकार वीत और अवीत भेद की रचना भी असंगत ही

जान पड़ती हैं। महर्षि गौतम ने साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से हेतु के दो भेद उपस्थापित किये हैं, उन्हीं को अन्वयी-वीत तथा व्यतिरेकी-अवीत तथा इन दोनों के सम्मीलन से अन्वयव्यतिरेकी मानकर ऐसी कल्पना की गई है। रोध, उपघात तथा सादृश्य ये तीनों विशेषण अन्वय-व्यतिरेक मूलक प्रतिभासित नहीं होते। इसी प्रकार पक्षधर्मत्व आदि अनुमान के नियम हो सकते हैं, भेद नहीं। असङ्कृत अनुमान के पाँच भेदों का 'अनुयोगद्वारसूत्र' की तरह शेषवत् अनुमान में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है। असङ्कृतकृत पाँच भेद—लिङ्ग, स्वभाव, कर्म, धर्म तथा कार्य-कारण और 'अनुयोगद्वारसूत्र' निष्ठ शेषवत् के पाँच भेद—कार्य, कारण, गुण अवयव और आश्रय का मूल स्रोत भी वैशेषिक सूत्र—'अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि, विरोधी समवायि (एकार्थ समवायि) चेति लैङ्गिकम्।'[९७] ही जान पड़ता है। 'अनुयोगद्वारसूत्र' तथा असङ्कृत भेदों में कार्य-कारण तो उसी रूप से सन्निहित है और शेष सभी भेद—गुण, अवयव, आश्रय तथा लिङ्ग, स्वभाव, धर्म, कर्म आदि संयोगी, समवायी—(एकार्थ समवायी) में ही शब्दान्तरों से समाहित किये जा सकते हैं। सिद्धर्षिगणी ने इनको पाँच प्रकार के अनुमानों में प्रयुक्त भी किया है।[९८]

स्वार्थ-परार्थ

मनुष्य तो क्या संसार में प्राणी मात्र के सभी कार्यकलाप किसी न किसी अभिप्राय को लेकर ही निष्पन्न होते हैं। कहा भी कहा है—'जिस विषय से प्रयुक्त होकर मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। किसी अभीप्सित वस्तु के ग्रहण अथवा अनिष्ट वस्तु के परित्याग करने के लिए ही किसी कार्य का आरम्भ किया जाता है, इसीलिए यह प्रयोजन सभी प्राणियों, सकल कर्मों तथा समस्त विद्याओं में व्याप्त है तथा इसी के आधार पर न्याय की प्रवृत्ति होती है।'[९९] प्रयोजन के बिना, वास्तव में कोई व्यक्ति, लोक में, चेष्टित नहीं दिखाई देता।[१००] आन्वीक्षिकी-विद्या से सम्बद्ध होने के कारण अनुमान भी प्रयोजनविहीन नहीं है, अपितु इसके दो प्रयोजन स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं—स्वयं द्वारा अर्थविषयक अभिनव ज्ञान का अर्जन तथा अन्य पुरुषहित उसका उचित प्रतिपादन। इन्हीं दो प्रयोजनों के आधार पर अनुमान के दो भेद स्वार्थ और परार्थ किये जाते हैं। 'स्वयमस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् स्वार्थमिति' तथा 'परस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् परार्थमिति' इन व्युत्पत्तियों के अनुसार स्वयं के प्रयोजन हित जो अनुमान किया जाता है, उसे स्वार्थानुमान तथा अपर व्यक्ति के अभिप्राय से प्रवृत्त होने वाला अनुमान परार्थ कहलाता है। उपलब्ध न्याय ग्रन्थों में स्वार्थ-परार्थ अनुमान लक्षणों का स्पष्ट विवरण 'प्रशस्तपादभाष्य' तथा 'प्रमाणसमुच्चय' में ही प्राचीन जान पड़ता है। स्वार्थानुमान केवल अपनी शंकाओं के निवारण के लिये ही किया जाता है, इसलिये इसमें अवयव वाक्यों के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु परार्थानुमान का प्रयोजन दूसरों को समझाना ही रहता है, इसलिये इसमें अवयव वाक्यों का प्रयोग आवश्यक रूप से किया जाता है।

वैशेषिक मत

अनुमान प्रमाण और प्रमिति के निरूपण का उपसंहार करते हुए प्रशस्तपाद ने स्वार्थानुमान के लिए—एतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम्' मात्र इतना ही संकेत किया है, परार्थानुमान की भांति इसका विशद विवेचन नहीं। 'स्व, अर्थात् स्वयं अनुमाता में

ही अनुमिति रूप निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण, इसको स्वनिश्चितार्थानुमान कहा जाता है।[101] भाष्यकार की व्याख्या करते हुए उदयन ने लिखा है कि भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय द्वारा' स्वनिश्चितम्' पर 'स्वनिश्चयार्थम्' के रूप में निष्पन्न किया जा सकता है। स्व निश्चय का अर्थ है स्वज्ञान, तदनुसार स्वयं के द्वारा किया हुआ निश्चित अर्थ-विषयक ज्ञान ही स्वनिश्चितार्थ अनुमान है। यह स्वनिश्चयात्मक ज्ञान पञ्चावयव वाक्यों से भी सुगम हो सकता है, किन्तु उनका प्रयोग क्रमानुसार व्यवस्थित रूप से होना आवश्यक है। विपरीत रूप से अथवा क्रमभङ्ग करके यदि उनको सूचित किया जाय, तो प्रत्येक परिकर (अवयव वाक्य) की विशुद्धि भी अनिवार्यतः अपेक्षित होगी। इसलिये पञ्चवयव वाक्यों को क्रमपूर्वक ही विवेचित करना चाहिये।[102] कन्दलीकार ने भी किरणावलीकार का ही समर्थन किया है।[103] उनके पूर्ववर्ती आचार्य व्योमशिवाचार्य ने इस लक्षण की कोई व्याख्या नहीं की है। भाष्यकार के स्वनिश्चितार्थ पद की व्याख्या ही 'किरणावली,' 'न्यायकन्दली' आदि टीकाओं में विशद रूप से की गई है, 'एतत्' पद की व्याख्या नहीं। परन्तु 'व्योमवती', 'किरणावली' आदि टीकाओं के 'उपसंहरति'[104] पद से यह बात विदित होती है कि 'एतत्'–लिङ्ग दर्शन से उत्पन्न होने वाला अनुमान ही जब स्वनिश्चित कार्य का प्रदायक हो, तब उसे स्वनिश्चितार्थ अनुमान कहा जाता है। अतः प्रशस्तपाद का अनुमान लक्षण ही स्वार्थानुमान के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

स्वयं द्वारा निश्चित किये गये अर्थ का, पञ्चावयव वाक्यों द्वारा, अन्य संशयित, (प्रतिपाद्य विषय में जिसे संशय रहता है) विपर्यस्त, (अभिप्रेत अर्थ से विपरीत ज्ञान रखने वाला) अव्युत्पन्न (जिस व्यक्ति को संशय अथवा विपर्यय दोनों प्रकार का ज्ञान न हो, अपितु केवल स्वज्ञान ही हो, वही पुरुष अव्युत्पन्न कहलाता है) आदि व्यक्तियों को समझाने के लिये, प्रतिपादन करना परार्थानुमान कहलाता है।[105] भाष्यकार की व्याख्या करते हुए श्रीधर ने लिखा है कि भाष्यघटक 'स्वनिश्चितार्थ' पद का अर्थ 'स्वयंसाध्यानन्तरीयकत्वेननिश्चितोऽर्थः स्वनिश्चितार्थः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर साध्य की व्याप्ति से विशिष्ट वस्तु अर्थात् साध्य व्याप्य हेतु ही है। इसके अनुसार साध्य व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पाँच अवयव वाक्यों द्वारा, दूसरों को समझाने के लिये, जो प्रतिपादन किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहा जाता है। जिन धर्मों के द्वारा, हेतु में, साध्य की व्याप्ति, नियत रूप से जानी जाती है, उन धर्मों से युक्त हेतु का पंचावयव वाक्यों द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। पञ्चावयव वाक्यों द्वारा प्रतिपादित उक्त हेतु ही साध्य का ज्ञापक होता है। साक्षात् पञ्चावयव वाक्यों से साध्य की अनुमिति नहीं होती, क्योंकि ऐसी बात मान लेने पर साध्यविषयक बोध अनुमिति न रहकर, शाब्द बोध कहलाने लगेगा। अतः साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतुविषयक बोध के उत्पादन की क्षमता रखने वाले पञ्चायवय वाक्यों के प्रयोग को ही परार्थानुमान कहा जाता है अथवा कुछ विद्वानों के अनुसार 'स्वनिश्चितार्थ' पद से वाक्य का भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि साध्य को समझाने के लिये ही पञ्चायवय वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु केवल पञ्चायवय वाक्यों के प्रयोग से ही भ्रान्त व्यक्ति को साध्य का ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिये मध्यवर्ती व्यापार के रूप में साध्यव्याप्य हेतु का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इस तरह साध्य के ज्ञापक पञ्चायवय वाक्यों के प्रयोग को भी मत विशेष से परार्थानुमान कहा जा सकता है।[106] कन्दलीकार की उक्त द्विविध व्याख्या में व्योमशिवाचार्य[107]

तथा उदयनाचार्य[१०८] दोनों का अक्षरशः अनुसरण जान पड़ता है। भाष्यकार के 'पञ्चावयवेन एव' पद में प्रयुक्त 'एव' शब्द का अभिप्राय विज्ञापित करते हुए श्रीधर ने आगे लिखा है कि पञ्चावयव वाक्यों के माध्यम से ही पर पुरुष को स्वनिश्चित अर्थ का प्रतिपादन सुगमता से कराया जा सकता है। कुछ लोग परार्थानुमान में दो तथा अन्य तीन ही अवयवों का प्रयोग पर्याप्त मानते हैं। उक्त दोनों मतों का निरास करने के लिए ही भाष्य में 'एव' पद का प्रयोग किया गया है।[१०९] प्रशस्तपाद, व्योमशिव, उदयन आदि आचार्यों ने 'स्वनिश्चितार्थ' तथा 'परार्थ' अनुमान का व्यापक एवं स्पष्ट विवरण प्रस्तुत अवश्य किया है, किन्तु अनुमान के द्विविध भेदों के रूप में स्पष्ट विभाजन का परिचय उनके ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। शिवादित्य ने स्वार्थ को अर्थ-रूप तथा परार्थ को शब्द-रूप घोषित करते हुए स्वार्थ-परार्थ भेद से दो प्रकार के अनुमान विवेचन द्वारा, इस न्यूनता की पूर्ति करने का प्रयास किया है।[११०] इनका समर्थन करते हुए शंकर मिश्र ने इन भेदों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि स्वयं के लिये व्याप्ति और पक्षधर्मता के अनुसंधान से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे स्वार्थानुमान तथा अन्य पुरुषों को समझाने के लिए, न्याय वाक्यों के माध्यम से संपादित, व्याप्ति-पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न होने वाले अनुमान को परार्थ अनुमान कहा जाता है। परार्थानुमान में, इन्होंने भी, प्रशस्तपाद की भांति, पाँच अवयवों का प्रयोग आवश्यक माना है, किन्तु प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान तथा प्रत्याम्नाय की अपेक्षा इन्होंने शिवादित्य का अनुगमन करते हुए न्याय के अन्तर्गत परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि न्याय सम्मत पाँच अवयवों का प्रयोग किया है। 'स्वनिश्चितार्थ पद' की अपेक्षा उन्होंने 'स्वार्थ पद' का चयन किया है।[१११]

न्याय मत

भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती 'न्याय-सूत्र', 'न्यायभाष्य', 'न्यायवार्तिक', 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका', 'न्यायमञ्जरी' आदि न्यायग्रन्थों में स्वार्थपरार्थ भेद स्पष्टतः उपलब्ध नहीं होता। 'न्यायसार' के अनुसार इन भेदों को इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है— जिस अनुमान में पर-उपदेश की अपेक्षा नहीं रहती, उसे स्वार्थानुमान तथा पर-उपदेश की आवश्यकता प्रतीत करने वाला अनुमान परार्थानुमान कहलाता है। पर-उपदेश से पञ्चावयव वाक्य ही अभिप्रेत हैं। यद्यपि भासर्वज्ञ ने, न्याय परम्परा से, विलग होकर, प्रशस्तपाद सम्मत 'दृष्ट'–'सामान्यतोदृष्ट' 'स्वार्थ-परार्थ' आदि अनुमान भेद स्वीकार तो किये हैं, फिर भी अवयव-व्यवस्था के लिए उन्होंने न्याय-सूत्रकार का ही समर्थन किया है।[११२] इन्होंने भी पञ्चावयव का नियमित प्रयोग आवश्यक माना है। इनके उत्तर-वर्ती प्रायः सभी न्याय ग्रन्थों में यह भेद पाया जाता है। केशवमिश्र[११३] का अक्षरशः अनुसरण करते हुए अन्नम भट्ट ने इन भेदों की व्याख्या इस प्रकार की है—स्वार्थ-परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकार का होता है। स्वयं अनुमाता को, जिस अनुमान से, अनुमिति होती है, उसे स्वार्थानुमान कहा जाता है। जैसे, कोई व्यक्ति, बार-बार पाकशाला आदि में धूम और अग्नि को साथ-साथ रहते देखकर, –'जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अग्नि नियमित रूप से पायी जाती है', इस प्रकार व्याप्ति का निश्चय कर लेने के पश्चात् जब किसी पर्वत के समीप जाता है, तब उसे 'पर्वत' पर अग्नि है या नहीं, इस प्रकार का संदेह होता है, इस संदेहशील अवस्था में ही जब वह पर्वत पर धुंआ उठता हुआ देखता है, तो

उसे पूर्व गृहीत व्याप्ति का स्मरण होकर, "वह्नि व्याप्य धूमवान् अयं पर्वतः" 'यह पर्वत भी वह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूमवाला है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी को लिङ्ग-परामर्श कहा जाता है। इस ज्ञान से अन्त में—'तस्मात् पर्वतो वह्निमान्'—'इसलिये पर्वत अग्निवाला है' यह अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। स्वयं की अनुमिति का साधक होने के कारण इसे स्वार्थानुमान कहा जाता है। इस तरह स्वयं धूम हेतु से अग्नि का अनुमान करने के उपरान्त, दूसरे को बोध कराने के लिये, जब वह व्यक्ति 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इत्यादि पञ्च-अवयव वाक्यों का प्रयोग करता है, तब उसे परार्थानुमान कहा जाता है। जैसे, पर्वत अग्निवाला है, धूम होने से; जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि भी नियमतः निश्चित रूप से पायी जाती है जैसे, पाकशाला में; वैसे ही यह पर्वत भी वह्निव्याप्त धूमवाला दिखलायी पड़ता है; अतः यह पर्वत भी अग्निवाला है। इस प्रकार पाँच अवयवों द्वारा प्रतिपादित लिङ्ग से, दूसरा व्यक्ति भी पर्वत में अग्नि का अनुमान कर लेने में समर्थ हो जाता है।[११४] स्वीय व्याप्यादि ज्ञान-साध्य (स्वयं द्वारा व्याप्ति ज्ञान आदि का निर्धारण हो जाने के हेतु) होने के कारण स्वार्थानुमान में, दूसरों को समझाने के लिये, पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग नहीं किया जाता है,[११५] क्योंकि यहाँ केवल लिङ्ग परामर्श से ही अनुमिति हो जाती है परार्थानुमान का चरम कारण भी लिङ्ग परामर्श ही है, क्योंकि वह साध्यानुमितिरूप परसमवेत अनुमिति का कारण है। कहा भी गया है—'स्वार्थानुमिति परार्थानुमित्योलिङ्ग परामर्श एव करणम्।[११६] सारांशतः अपने संशय की निवृत्ति के लिये किया जाने वाला अनुमान स्वार्थानुमान तथा दूसरों की शंकाओं के समाधान हित किया जाने वाला अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।

मीमांसा मत

पक्ष निरूपण के प्रसङ्ग में कुमारिल ने इस बात पर बल देते हुए कहा है कि जो व्यक्ति अपने विचारों को, अनुमान द्वारा, दूसरों को प्रतिपादित करना चाहता है, उसे पक्ष का उद्घाटन सर्व प्रथम करना चाहिये। उनके इस कथन में बीज रूप से परार्थानुमान-विवेचन निश्चित है।[११७] मीमांसा दर्शन के दोनों प्रस्थानों में, स्वार्थ-परार्थ भेद से, अनुमान के दो प्रकारों को स्पष्टतः सूचित करने वाले दार्शनिक शालिकनाथ ही जान पड़ते हैं, क्योंकि इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने इन भेदों का निरूपण-लक्षण-उदाहरण सहित नहीं किया है। इन भेदों को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि—'अनुमान दो प्रकार से उत्पन्न होता है—जहाँ पर स्वयं हेतु को देखकर, व्याप्ति आदि के स्मरण से साध्य का अनुमान किया जाता है, उसे स्वार्थानुमान तथा स्वयं द्वारा ज्ञात अनुमान-उत्पत्ति-सामग्री को, दूसरों को समझाने के लिये जिस अनुमान में प्रतिपादक वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहा जाता है। साधन वाक्य तीन ही होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण। परार्थानुमान का प्रयोजन समझाते हुए उन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति दूसरों को ज्ञान कराने की अभिलाषा रखता है, उसे, श्रोता को बोध कराने के लिये दूषणों सहित अवयव वाक्यों का वर्णन करना चाहिये।[११८] पार्थसारथि मिश्र ने यद्यपि स्वार्थ-परार्थ भेदों का वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं किया है, किन्तु शालिकनाथ की तरह उन्होंने भी कहा है कि 'जिसे अन्य पुरुषों का अनुमान प्रक्रिया समझाने की कामना रहती है, उसे साधन वाक्यों का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। इस विवेचन तथा उनकी विस्तृत अवयव प्रयोग व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्हें भी उक्त दोनों भेद अभिप्रेत

थे।[११९] नारायण भट्ट ने शालिकनाथ की भांति दोनों अनुमानों का निरूपण किया है।[१२०] शालिकनाथ, पार्थसारथि मिश्र एवं नारायण भट्ट के, परार्थानुमान विवेचन में अन्तर इतना ही है कि प्रथम ने जहाँ प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण अथवा प्रतिज्ञा उदाहरण-हेतु इस प्रयोग को माना है, वहाँ अन्तिम दोनों ने प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण अथवा उदाहरण-उपनय और निगमन के प्रयोग को मान्यता प्रदान की है। दोनों प्रस्थानों में न्याय सम्मत पाँच अवयवों तथा बौद्ध सम्मत दो अवयवों का निरास कर अनुमान मात्र में तीन अवयवों के प्रयोग को ही पर्याप्त माना गया है।

सांख्य मत

सांख्य-योग दर्शन के 'सांख्यकारिका', 'गौडपादभाष्य', 'सांख्यतत्त्वकौमुदी', 'सांख्यसूत्र', 'सांख्य-प्रवचनभाष्य' तथा 'योग-सूत्र', 'योगभाष्य', 'तत्त्ववैशारदी', 'भोज-वृत्ति' आदि ग्रन्थों में यह भेद उपलब्ध नहीं होता। 'माठरवृत्ति' के अनुमान-विवेचन में भी यद्यपि स्पष्टतः इन भेदों का अभाव परिलक्षित होता है, किन्तु इनके दो प्रकार के अवयव विवेचन से यह ज्ञात होता है कि स्वार्थानुमान के रूप में उन्हें तीन अवयव-प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त तथा परार्थानुमान में पाँच अवयव—प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनु-संधान एवं प्रत्याम्नाय अभिप्रेत थे, क्योंकि प्रशस्तपाद ने परार्थानुमान में ही उक्त पाँच अवयवों को व्यवस्थापित किया है।[१२१]

वेदान्त मत

'वेदान्त परिभाषा' में भी स्वार्थ-परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकार का बतलाया गया है।[१२२] इनकी व्याख्या करते हुए अर्थदीपिकाकार ने लिखा है कि जो अनुमान, स्वयं अपने ही विवादास्पद अर्थ का साधन होता है, वह स्वार्थानुमान कहलाता है। व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का ग्रहण होता है, यह बात अनुमान-लक्षण-निरूपण-अवसर पर बतलायी जा चुकी है। यह व्याप्ति ज्ञान ही स्वार्थानुमान है। तथा जो अनुमान, अपर व्यक्ति के विवादास्पद अर्थ का साधक होता है, उसे परार्थानुमान कहा जाता है।[१२३] परार्थानुमान की सिद्धि न्याय द्वारा की जाती है।[१२४] स्वयं मूलकार ने न्याय का अर्थ 'अवयव-समुदाय' ज्ञापित किया है।[१२५] इसी को परिष्कृत करते हुए अर्थदीपिकाकार ने लिखा है कि अनुमान प्रयोजक वाक्यार्थ-ज्ञान को उत्पन्न करने वाले वाक्यों को ही न्याय कहा जाता है। इस प्रकार न्याय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रयोज्य (कार्य) व्याप्तिज्ञान को ही परार्थानुमान कहा जाता है।[१२६] वेदान्तीय परार्थानुमान की अवयव-व्यवस्था भी पार्थसारथि मिश्र प्रणीत अवयव व्यवस्था के समान है।[१२७]

बौद्ध मत

दिङ्नाग पूर्वः प्रायः सभी बौद्ध ग्रन्थों में, अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेदों का, निरूपण नहीं किया गया है। अनुमान, दिङ्नाग के अनुसार, दो प्रकार का होता है—स्वार्थ और परार्थ। त्रिरूप लिङ्ग से होने वाला अनुमान स्वार्थानुमान तथा स्वानुभूत अर्थ का प्रकाशन करने वाला अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।[१२८] दिङ्नाग के पश्चात् प्रायः सभी बौद्ध आचार्यों ने इन भेदों को स्वीकार किया है।[१२९] धर्मकीर्ति ने इन भेदों का विवेचन इस प्रकार किया है। त्रिरूपलिङ्ग द्वारा उत्पन्न होने वाले अनुमेय-ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा जाता है।[१३०] यह स्वयं की प्रतिपत्ति हेतु किये जाने वाला ज्ञानात्मक

अनुमान है।[131] त्रिरूप लिङ्ग का प्रकाशन ही परार्थानुमान है।[132] यह शब्दात्मक होता है तथा इसके माध्यम से अन्य व्यक्तियों को स्व-ज्ञात-ज्ञान का प्रतिपादन कराया जाता है।[133] शान्तरक्षित,[134] कमलशील[135] तथा मोक्षाकार गुप्त[136] आदि सभी उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्यों ने इन्हीं लक्षणों का समर्थन किया है। पूर्व में अनुमान को सम्यक् ज्ञानमूलक उपदर्शित किया गया है और त्रिरूप लिङ्ग का कथनमूलक होने के कारण परार्थानुमान वचनात्मक सिद्ध किया गया है। अतएव दोनों में विरोधाभाष उत्पन्न हो जाता है। इसके समाधान के लिए धर्मकीर्ति ने युक्ति का अवलम्बन लेते हुए कहा है कि कारण में कार्य का उपचार किया जाता है।[137] जब (किसी व्यक्ति द्वारा) त्रिरूप लिङ्ग का वचनात्मक आख्यान (किसी अन्य पुरुष को समझाने के लिये) किया जाता है, तब (श्रोता के मन में) त्रिरूप लिङ्ग की स्मृति उत्पन्न होती है और फिर इस स्मृति से अनुमान निष्पन्न होता है। अतः त्रिरूप लिङ्ग का कथन अनुमान का परम्परया कारण है। इस प्रकार, कारण-वचन में कार्यानुमान का समारोप किया जाता है। उपचारवश ही वचन को अनुमान कहा जाता है, मुख्यतया नहीं। इसलिये इसको शब्द नहीं कहा जा सकता। किसी भी अनुमान में, लिङ्ग का स्वरूप तथा उसके प्रतिपादक वचन, दोनों का व्याख्यान होना आवश्यक है। इनमें से लिङ्ग के स्वरूप का उपन्यास स्वार्थानुमान में तथा उसके प्रतिपादक शब्दों का कथन परार्थानुमान में किया जाता है।[138]

प्रयोगभेद से परार्थानुमान दो प्रकार का होता है—साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत्।[139] दृष्टान्त-धर्मी के साथ साध्य-धर्मी की हेतुकृत समानता साधर्म्य तथा हेतुकृत असमानता वैधर्म्य है। साधन वाक्य का साधर्म्य कथन साधर्म्यवत्, तथा वैधर्म्य कथन, वैधर्म्यवत् प्रयोग कहलाता है।[140] यह प्रयोग भेद शब्द के अर्थ-अभिधान-व्यापार के कारण ही दृष्टिगोचर होता है। प्रयोजन की दृष्टि से अर्थ वैभिन्य नहीं है, कारण दोनों प्रयोगों से (समान रूप से) त्रिरूप लिङ्ग का (आवश्यक रूप से) ही आख्यान किया जाता है। जैसे, 'पुष्ट देवदत्त, दिन में नहीं खाता' तथा 'पुष्ट देवदत्त रात्रि में खाता है' यहाँ अर्थाभिधान भेद से अभिधेय भेद होते हुए भी अर्थतः गम्यमान वस्तु एक ही है।[141] धर्मकीर्ति के अनुसार, लिङ्ग तीन प्रकार का माना गया है—स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि। अतः प्रत्येक का प्रयोग दो प्रकार से किया जा सकता है—

स्वभाव हेतु

साधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण—जो सत् होता है वह सब अनित्य होता है जैसे घट,
उपनय—शब्द सत् है।[142]

वैधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण—जो अनित्य नहीं होता है वह सत् नहीं होता (जैसे आकाश)
उपनय—शब्द सत् है।[143]

यह विशेषणविहीन शुद्ध स्वभाव हेतु का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्ति ने अव्यतिरिक्त (स्वभाव भूत) तथा व्यतिरिक्त (कल्पित भेद विशिष्ट) विशेषण युक्त स्वभाव हेतु के प्रयोग भी दोनों रीति से दिये हैं।[144] 'प्रत्ययभेदभेदित्वआदि' अन्य प्रयोगों का संकेत मात्र किया है।[145]

कार्य हेतु

साधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण—जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है जैसे, पाकशाला आदि में,
उपनय— यहाँ धूम है।[१४६]

वैधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण—जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता है (जैसे, जलाशय में)
उपनय— यहाँ धूम है।[१४७]

अनुपलब्धि हेतु

साधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण—जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता वह असद् व्यवहार का विषय होता है जैसे, खरगोश के सींग,
उपनय— इस प्रदेश विशेष में उपलब्धि लक्षण प्राप्त घट उपलब्ध नहीं होता।[१४८]

वैधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण—जो सत् और उपलब्धिलक्षण प्राप्त होता है वह अवश्य उपलब्ध होता है जैसे, नील आदि विशेष,
उपनय— उसी प्रकार यहाँ उपलब्धि लक्षणप्राप्त सत् घट की उपलब्धि नहीं है।[१४९] धर्मोत्तर[१५०] और मोक्षाकर गुप्त[१५१] ने इस प्रसङ्ग में धर्मकीर्ति का ही अनुसरण किया है।

जैन मत

जैन परम्परा में अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेदों का विवेचन करने वाले सर्वप्रथम दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ही जान पड़ते हैं। उनकी 'स्वनिश्चयवत् अन्येषां निश्चयोत्पादनंबुधे। परार्थ मानं व्याख्यातम्'—'स्वयं के निश्चय के समान अन्य व्यक्तियों को निश्चय करवाना, विद्वानों के अनुसार परार्थ मान कहा गया है।[१५२] इन पंक्तियों में स्वार्थ-परार्थ भेद निहित हैं। कारिका में 'परार्थमान' पद द्वारा परार्थ का स्पष्ट उल्लेख किया गया है एवं 'स्वनिश्चयवत्' पद से स्वार्थ का ग्रहण किया जा सकता है। साध्य-अविनाभावीय (जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित हो) हेतु द्वारा साध्य निश्चायक ज्ञान को अनुमान (अर्थात् स्वार्थानुमान) कहा गया है[१५३]—तथा जिसके द्वारा साध्याविनाभावीय हेतु वचन का प्रतिपादन किया जाता है, वह परार्थानुमान कहलाता है और वह पक्ष आदि वाक्यों से युक्त होता है।[१५४] ज्ञान के उपचार से वाक्य को भी प्रमाण कहा जाता है, अतः परार्थानुमान भी ज्ञान स्वरूप ही है।[१५५] माणिक्यनंदी ने अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेदों को स्पष्टतः अंकित किया है।[१५६] उनके अनुसार साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान अर्थात् स्वार्थानुमान[१५७] तथा इसके (स्वार्थानुमान के) विषयभूत अर्थ (साध्य-साधन युक्त पदार्थ) का प्रतिपादन (परामर्श) करने वाले वचनों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है।[१५८] वादि देवसूरि ने भी अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेद ज्ञापित किये हैं।[१५९] हेतु ग्रहण और सम्बन्ध (व्याप्ति) स्मरण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्वार्थानुमान[१६०] तथा पक्ष

और हेतु के वचनात्मक ज्ञान को उपचारवश परार्थानुमान कहा जाता है।[161] इनकी व्याख्या करते हुए रत्नप्रभाचार्य ने लिखा है कि परार्थानुमान में पक्षहेतुवचनात्मकता का कथन व्युत्पन्न बुद्धिवाले श्रोता की अपेक्षा से किया गया है। परम कुशाग्र बुद्धि वाले श्रोता के लिये 'धूम यहाँ दिखाई देता है' इत्याकारक केवल हेतुवचन भी परार्थानुमान कहलाता है। सामान्यतः इसका प्रयोग न होने के कारण इस बात को साक्षात् रूप से सूत्र में ग्रहण नहीं किया गया है, फिर भी इसको उपलक्षित माना जा सकता है तथा मन्दमति श्रोताओं की अपेक्षा से पक्ष-हेतु के अतिरिक्त, उदाहरण, उपनय तथा निगमन से युक्त पंचावयव विशिष्ट वचनात्मक ज्ञान भी परार्थानुमान कहला सकता है। वस्तुतः स्वार्थानुमान ही अनुमान है, किन्तु कारण में कार्य का उपचार होने से परार्थानुमान भी अनुमान कहलाता है। पक्ष-हेतु आदि वचन जड़ रूप होने के कारण मुख्यतया प्रमाण नहीं कहलाते, किन्तु उपचारवश गौणरूप से ही इनको प्रमाण कहा जाता है। इनको परार्थानुमान इसलिये कहा जाता है कि ये वचन 'पर-बोधन' को तैयार हुए श्रोता के ज्ञान का कारण तथा वक्ता के ज्ञान का कार्य हैं। अतः कारण में कार्य का तथा कार्य में कारण का उपचार कर लिया जाता है इसलिये परार्थानुमान भी ज्ञानरूप ही है।[162] यद्यपि हेमचन्द्र ने उपचारनिरूपण के प्रसङ्ग में धर्मोत्तर के शब्दों का ही अनुसरण किया है तथापि धर्मोत्तर की भांति उन्हें केवल कारण में ही कार्य का उपचार इष्ट नहीं है, अपितु कार्य में कारण का उपचार भी अभीष्ट है।[163] अनन्तवीर्य ने भी सूत्र 'तद्वचनमपि तद्धेतुत्वादिति'[164] की व्याख्या में हेमचन्द्र का समर्थन किया है।[165] अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेदों को हेमचन्द्र ने विवेचित करते हुए स्वार्थानुमान[166] के लक्षण में 'स्वनिश्चित' पद जोड़कर सिद्धसेन दिवाकर का अनुगमन किया है।[167] जबकि परार्थानुमान लक्षण वैसे का वैसा ही शब्दान्तर से मान लिया है।[168] आचार्य धर्मकीर्ति की भांति इन्होंने भी तथोपपत्तिमूलक और अन्यथानुपपत्तिमूलक हेतु की अपेक्षा से परार्थानुमान के, प्रयोग भेद के अनुसार दो भेद माने हैं।[169] प्रयोजन सूचित करते हुए उन्होंने लिखा है कि स्वयं के व्यामोह की निवृत्ति, जिस अनुमान से होती हो, वह स्वार्थानुमान तथा दूसरों के भ्रम निवारण के लिये जो अनुमान किया जाता है वह परार्थानुमान कहलाता है।[170] माणिक्यनन्दी तथा देवसूरि ने सूत्रों द्वारा इस महत्वपूर्ण बात को स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु प्रमेयरत्नमालाकार[171] ने शब्दान्तर से इसका समर्थन किया है। धर्मभूषण ने इन भेदों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वयं द्वारा अधिगत साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा जाता है। आशय यह कि परोपदेश निरपेक्ष स्वयं द्वारा निश्चित किये गये, पूर्व में तर्क प्रमाण से अधिगत एवं व्याप्तिस्मरणयुक्त धूम आदि साधन से, पर्वत आदि धर्मी में, अग्नि आदि साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है।[172] पर उपदेश की अपेक्षा से, जो साधन द्वारा साध्य का ज्ञान होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं। तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा और हेतु रूप वाक्यों द्वारा परोपदेश की सहायता से श्रोता को, जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है, वह परार्थानुमान है। परार्थानुमान वाक्य, परार्थानुमान ज्ञान के उत्पन्न करने में कारण होता है, इसलिये इसको गौण रूप से उपचारवश ही परार्थानुमान माना गया है।[173] यशोविजय ने भी वादि देवसूरि की भांति स्वार्थ-परार्थ अनुमान भेदों की व्याख्या की है।[174] हेमचन्द्र की तरह पूर्वाचार्य विद्यानन्द ने भी परार्थानुमान के अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत दो भेद माने हैं। किन्तु दोनों की भेद रचना उन्हीं तक सीमित

रही। अन्य दार्शनिकों ने इसे नहीं अपनाया।[१७४/१]

प्रो. कीथ-मत का खण्डन

प्रोफेसर कीथ का मत है कि भारतीय दर्शन में अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेदों का प्रदर्शन सर्वप्रथम दिङ्नाग ने ही किया है और उन्हीं से प्रभावित होकर प्रशस्तपाद ने इन भेदों का निरूपण किया है।[१७५] किन्तु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि प्रशस्तपाद के विचारों का स्रोत दिङ्नाग न होकर वैदिक आचार्य ही हैं। महर्षि कणाद ने, कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी तथा समवायी लिङ्गों से होने वाले तत्सम्बन्धी लिङ्गी के ज्ञान को लैङ्गिक[१७६] अर्थात् अनुमान के रूप में परिभाषित करते हुए आगे लिखा है है—'अस्य इदं कार्यकारणसम्बन्धः च अवयवात् भवति' अर्थात् इस लिङ्गी का सम्बन्धी लिङ्ग है तथा इसके परस्पर कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्ध का ज्ञान अवयव द्वारा होता है।[१७७] इन्हीं सूत्रों के आधार पर प्रशस्तपाद ने स्वनिश्चितार्थ तथा परार्थ भेदों की रचना की है। महर्षि कणाद द्वारा प्रथम सूत्र में, केवल कार्य, कारण आदि लिङ्गों से होने वाले लिङ्गी के ज्ञान का ही प्रदर्शन किया गया है, किन्तु प्रशस्तपाद ने, कार्य, कारण, संयोगी, विरोध, समवायी लिङ्गों के स्थान पर सामान्य रूप से लिङ्ग दर्शन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही अनुमान कहा है। यही स्वनिश्चितार्थ अनुमान है। द्वितीय कणाद सूत्र में लिङ्गलिङ्गी के पारस्परिक कार्य-कारण-भाव आदि के सम्बन्ध का ज्ञान, अवयव से ही निर्दशित किया गया है, अतः प्रशस्तपाद ने अवयवों के माध्यम से होने वाले ज्ञान को परार्थानुमान कहा है। प्रशस्तपाद ने, अनुमान लक्षण—'लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम्' इस प्रकार विवेचित करने के उपरान्त लिङ्ग के त्रैरूप्य का वर्णन करने के लिए काश्यप प्रणीत कारिका उद्धृत की है। दिङ्नाग ने इन्हीं दोनों बातों को परिष्कृत रूप से स्वार्थानुमान के लक्षण—'स्वार्थं त्रिरूपल्लिङ्गतोऽर्थदक' के रूप में व्यक्त किया है। अन्यत्र उन्होंने 'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्' इस लक्षण द्वारा प्रशस्तपाद का ही अनुसरण किया जान पड़ता है।[१७८] प्रशस्तपाद ने परार्थानुमान के लक्षण में 'स्वनिश्चितार्थ-प्रतिपादनम्' यह पद निवेशित किया है, जिसे दिङ्नाग ने 'स्वदृष्टार्थप्रकाशकम्' के रूप में विवेचित किया है। उक्त अनुमान लक्षण को ही प्रशस्तपाद ने स्वनिश्चितार्थनुमान के रूप में व्यक्त किया है, जिसमें दिङ्नाग ने 'स्वनिश्चित' पद की अपेक्षा स्वार्थ पद का प्रयोग किया है। यद्यपि स्वार्थानुमान के लक्षण में, दिङ्नाग ने संक्षिप्त रूप से, त्रैरूप्य और अनुमान का लक्षण, दोनों समाविष्ट कर, अपनी परिष्कृत भाषा एवं सूक्ष्म प्रज्ञा का परिचय दिया है, किन्तु 'स्वार्थ' पद की अपेक्षा 'स्वनिश्चित' पद अधिक तर्कसंगत जान पड़ता है। इसी प्रकार परार्थानुमान लक्षण में कितने अवयव वाक्यों से अर्थ का प्रकाशन किया जाय, यह बात उनके लक्षण में परिलक्षित नहीं होती, जिसे प्रशस्तपाद ने स्पष्टतः प्रतिपादित किया है। अतः भाषा, शैली और विवेचन पद्धति के दृष्टिकोण से दिङ्नाग ने प्रशस्तपाद का ही अनुगमन किया जान पड़ता है। फिर 'स्वार्थ' और 'परार्थ' यह बौद्ध परम्परा के किसी प्राचीन ग्रन्थ में इसी रूप से उपलब्ध भी नहीं होते, जबकि 'मीमांसासूत्र' में इन पदों का ही इसी अर्थ में प्रचुरता से प्रयोग किया गया है।[१७९] संभवतः मीमसांक परम्परा से ही प्रशस्तपाद ने इन पदों को ग्रहण किया हो। यह भी सम्भव है कि मीमांसक तथा वैशेषिक परम्परा प्राचीनकाल में एक ही रही हों, जो कालान्तर में पृथक्-पृथक् हो गयी हों। जैसे दर्शनशास्त्र से निकलकर भौतिक शास्त्र, मनोविज्ञान,

तर्कशास्त्र, आदि वर्तमानकाल मे अलग हो गये हों। मुनि सुखलाल संघवी ने, दोनों शास्त्रों के कुछ सूत्रों की तुलना करते हुए यही बात प्रकट की है।[१८०] प्रशस्तपाद को वरासत के रूप में 'कणादसूत्र' के अतिरिक्त न्यायसूत्र' तथा न्यायभाष्य भी उपलब्ध थे। यद्यपि इन भेदों का उल्लेख, इन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता किन्तु 'सूचनात् सूत्रम्' इस सिद्धान्त द्वारा सूत्रों से अनेक बातों का बोध होता है, कहा भी है—'जिसमें अनेक बातों का व्यापक रूप से, अत्यन्त कम शब्दों में असंदिग्ध, अबाधित, सारपूर्ण आवश्यक तत्त्वों का निवेष किया जाता है उसे सूत्रविश विद्वानों ने सूत्र कहा है :'[१८१] इस सूत्र लक्षण के अनुसार भले ही किसी बात को स्पष्ट रूप से व्यक्त न किया जाय, तो भी सूत्रों द्वारा, प्रच्छन्न अर्थ, अनेक विधाओं में निसृत होता है। जैसे 'अथ तत्पूर्वकमनुमानम्०' इत्यादि न्यायसूत्र में 'तत्पूर्वकम्' पद से व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान का ग्रहण किया गया है। और जब कोई मनुष्य स्वयं ही व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान अर्थात् लिङ्गपरामर्श से अनुमान करता है, तो उसे स्वार्थानुमान कहा जा सकता है : उनके दृष्टान्त और वाद लक्षण—'लौकिक-परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं सदृष्टान्त:'[१८२] तथा 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्ष प्रतिपक्षपरिग्रहोवाद:[१८३]—'लौकिक और परीक्षक, दोनों की, साध्य और साधन की समान-अधिकरण-विषक बुद्धि का साम्य, जिस पदार्थ में हो, वही दृष्ठान्त है, तथा सिद्धान्त से अविरुद्ध और पञ्चावयव वाक्यों से उत्पन्न होने वाली, जिस शास्त्र चर्चा में, प्रमाण और तर्क द्वारा, अपने पक्ष का साधन तथा परोक्ष का उपालम्भ (खण्डन-मण्डन) किया जाय, उसे वाद कहा जाता है'—में स्वार्थ और परार्थ भेद निहित जान पड़ते हैं। लौकिक और परीक्षक पदों को आगे जाकर वादी और प्रतिवादी के रूप में ग्रहण किया गया है।[१८४] तदनुसार वादी द्वारा साध्य साधन का पञ्चावयव वाक्य प्रदर्शन पूर्वक अपने पक्ष का स्थापन स्वार्थानुमान तथा मध्यस्थ (प्रतिवादी) को समझाने के लिये उक्त रीति से मण्डन अथवा खण्डन को परार्थानुमान कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि महर्षि गौतम को स्वार्थ और परार्थ दोनों अनुमानों में नियमित क्रमानुसार पञ्चावयव प्रयोग ही अभीष्ट जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच अवयवों के विपरीत, इनसे कम या अधिक अवयवों के प्रयोग को अप्राप्तकाल,[१८५] न्यून[१८६] तथा अधिक[१८७] निग्रह स्थान माना है। उनके प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर आदि निग्रहस्थान तथा साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम आदि जातियों के विवेचन से भी स्वयं वादी द्वारा किये जाने वाले पक्ष स्थापन तथा प्रतिवादी मत के खण्डन-मण्डन के रूप में किये जाने वाले स्वार्थ और परार्थानुमान अभिप्रेत जान पड़ते हैं। वास्तव में, स्वार्थ-परार्थ की व्याख्या, यदि इन विवेचनों में बीज रूप से निहित न मानी जाय, तो न्यायसूत्रकार का अनुमान निरूपण, पञ्चावयव विवेचन तथा जाति-निग्रहस्थान व्याख्या, सर्वथा असम्बद्ध होकर निरर्थक एवं अबोधगम्य हो जायगी। इन्हीं तथ्यों का समर्थन करते हुए वात्स्यायन ने पञ्चावयवी प्रयोग जन्य न्याय को परम न्याय कहा है।[१८८] उनके इस, 'साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धि: परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवा: प्रतिज्ञादय: समूहमपेक्ष्याऽवयवा उच्यन्ते'[१८९] अवयव लक्षण से साधनीय अर्थ सिद्धि के रूप से स्वार्थानुमान तथा प्रतिज्ञादि शब्द समूह की अपेक्षा से होने वाले साधनीय अर्थ की सिद्धि में परार्थानुमान निहित है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपमान को अनुमान से विलक्षण बतलाते हुए अनुमान के 'स्वयमध्यवसायात्' अर्थात् स्वार्थ तथा परार्थ भेदों को स्पष्टत: अंकित किया है।[१९०]

इस तथ्य का विवेचन सप्तम अध्याय में विशद रूप से किया जायगा। अतः जहाँ भी उन्होंने अनुमान लक्षण तथा उसके अतिरिक्त न्याय प्रयोग की व्यवस्था की है, वहीं स्वार्थ-परार्थ भाव उपलक्षित हो जाता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि स्वार्थ और परार्थ पदों का प्रयोग, उतना ही प्राचीन जान पड़ता है जितना कि मीमांसा, वैशेषिक और न्याय दर्शन हैं। संभवतः स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप में प्रशस्तपाद ने न्यायभाष्यकार के उक्त लक्षण को ही व्यापक रूप से अवतरित किया हो। इसलिये केवल भाषागत साम्य के आधार पर ही दिङ्नाग को प्रशस्तपाद का पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

विशिष्ट अनुमान प्रयोग के लिये भी दिङ्नाग को प्रशस्तपाद का पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनके पूर्ववर्ती आचार्य नागार्जुन, मैत्रेयनाथ, वसुबन्धु एवं असङ्ग के ग्रन्थों में अनुमान प्रयोग स्पष्टतः विवेचित किया गया है। यद्यपि आचार्य नागार्जुन ने 'युक्त्यविरुद्ध' लक्षण की व्याख्या करते हुए प्रतिज्ञा आदि पाँच न्याय सम्मत अवयवों का नाम निर्दिष्ट नहीं किया है, किन्तु पञ्चावयवी अनुमान-प्रयोग अवश्य दिया है, जो इस प्रकार है:—

शब्द अनित्य है,
कृतक-धर्मा होने से,
सकल वस्तुएं कृतकधर्मा होने से अनित्य ही होती है
अग्निसन्तान के समान,
शब्द भी ऐसा है,
इसलिये शब्द अनित्य है।[१११]

मैत्रेयनाथ के द्विविध-साध्य भेद—'आत्मसम्बन्ध' तथा 'पर सम्बन्ध' में स्वार्थ-परार्थ भेद ध्वनित होता है। उन्होंने साध्य-स्थापन के लिये आठ साधन वाक्यों का प्रयोग किया है—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) साधर्म्य उदाहरण, (५) वैधर्म्य उदाहरन, (६) प्रत्यक्ष, (७) अनुमान एवं (८) आगम। इसमें साध्य निर्देशन हित प्रतिज्ञा वाक्य उद्भावित किया जाता है। साध्य-अवधारण के लिये, हेतु वाक्य तथा दोनों साधर्म्य और वैधर्म्य उदाहरण वाक्यों की सहायता अपेक्षित है। हेतु और उदाहरणों की प्रामाणिकता के लिये यह आवश्यक है कि वे प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम के सुदृढ़ आधार पर अवस्थित हों। इस प्रकार उन्होंने प्रतिज्ञा, हेतु और द्विविध उदाहरणों द्वारा निम्न लिखित अनुमान प्रयोग निर्दिष्ट किया है—

(१) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,
(२) हेतु—कृतक होने से,
(३) साधर्म्य-वैधर्म्य-उदाहरण—घट के समान, किन्तु आकाश के समान नहीं, क्योंकि घट के समान जो कृतक होता है वह अनित्य होता है एवं आकाश के समान जो नित्य होता है वह कृतक नहीं होता।[११२]

आर्य असङ्ग ने मैत्रेयनाथ का समर्थन करते हुए साधक वाक्यों को विभिन्न प्रकार से व्यवस्थित किया है—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय, (५) निगमन, (६) प्रत्यक्ष, (७) उपमान एवं (८) आगम। इनमें से प्रथम पाँच ही साधक वाक्य कहे जा सकते हैं, इसलिये उनके प्रयोग को अनुमान कहा गया है। यहाँ भी

मैत्रेयनाथ की भांति अनुमान की यथार्थता, प्रत्यक्ष, उपमान तथा आगम पर अवलम्बित मानी जा सकती है। उनका अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—

(१) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,
(२) हेतु—कृतक होने से,
(३) उदाहरण—घट के समान (किन्तु आकाश के समान नहीं),
(४) उपनय—घट कृतक होने के कारण अनित्य है, इसी प्रकार शब्द भी है, क्योंकि वह भी कृतक है।
(५) निगमन—इसलिये शब्द अनित्य है।[१९३]

वसुबन्धु ने 'न्यून' नामक निग्रह स्थान की व्याख्या करते हुए पञ्चावयवी अनुमान प्रयोग इस प्रकार दिया है—

(१) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,
(२) हेतु—कृतक होने से,
(३) उदाहरण—जो वस्तु कृतक होती है, वह नित्य होती है जैसे, घट कृतक होने के कारण अनित्य है।
(४) उपनय—शब्द भी ऐसा है (कृतक है)
(५) निगमन—इसलिये शब्द अनित्य है।[१९४]

डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने वसुबन्धु द्वारा प्रयुक्त द्विविध-अनुमान-प्रयोग की ओर संकेत किया है। प्रथम में उक्त पाँच अवयव एवं द्वितीय में केवल उक्त प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को प्रदर्शित किया गया है।[१९५] किन्तु वसुबन्धु की उक्त विवेचना तथा द्वितीय प्रकरण निष्ठ 'खण्डन-विवरण'[१९६] में सर्वत्र पञ्चावयव प्रयोग ही प्रतिलक्षित होता है, अवयवद्वयी प्रयोग नहीं। अतः उनकी विवेचना न्यायसंगत नहीं जान पड़ती।

आचार्य नागार्जुन, असङ्ग एवं वसुबन्धु ने अनुमान-प्रयोग के प्रसङ्ग में न्यायसूत्रकार का ही समर्थन किया है। मैत्रेयनाथ की अवयवत्रयी व्यवस्था भी सर्वथा नवीन नहीं जान पड़ती, क्योंकि 'अनुयोगद्वारसूत्र' और 'माठरवृत्ति' में इस अवयव व्यवस्था की ओर भली प्रकार संकेत किया गया है। अतः विशिष्ट अनुमान प्रयोग द्वारा भी दिङ्नाग को प्रशस्तपाद का पूर्वगामी नहीं माना जा सकता।

प्रायः सभी न्याय, मीमांसक, सांख्य, वेदान्ती, बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में प्रशस्तपाद के स्वनिश्चितार्थ और परार्थ अनुमान लक्षणों का ही समर्थन किया है। स्वनिश्चितार्थ पद उन तथा उनके टीकाकारों तक ही सीमित रहा। यहाँ तक की न्याय दार्शनिकों के समान शंकर मिश्र ने भी उक्त पद की अपेक्षा स्वार्थ पद का ही प्रयोग किया है।[१९७] अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ प्रशस्तपाद, न्याय, तथा सांख्य दार्शनिकों ने परार्थानुमान में पाँच अवयवों का प्रयोग किया है वहाँ मीमांसक और वेदान्ती तीन, बौद्ध और जैन आचार्यों ने दो अवयव वाक्यों का प्रयोग ही साधारणतः अभीष्टदायक माना है। विशिष्ट अधिकारी की दृष्टि से केवल हेतु के प्रयोग को भी धर्मकीर्ति और उनका समर्थन करते हुए वादि देवसूरि ने परार्थानुमान कहा है। दूसरी बात यह है कि जहाँ स्वयं द्वारा निश्चित रूप से लिङ्ग दर्शन से होने वाले ज्ञान को प्रशस्तपाद ने स्वनिश्चितार्थ अनुमान कहा है, वहाँ नैयायिकों ने लिङ्ग परामर्श से उत्पन्न होने वाले;

मीमांसकों ने हेतु दर्शन और व्याप्ति स्मरण से होने वाले, वेदान्तियों ने व्याप्तिज्ञान से होने वाले स्वनिश्चित ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है। बौद्धों ने त्रिरूप लिङ्ग विशेषण लगाकर प्रशस्तपाद के लक्षण का समर्थन किया है। अकलंक और माणिक्यनन्दी ने भी लिङ्ग के स्थान पर साधन का प्रयोग कर यही बात व्यक्त की है, वादि देवसूरि ने मीमांसकों की भांति ही अपना लक्षण प्रणयन किया है। सिद्धसेन तथा हेमचन्द्र ने अविनाभावीय लिङ्ग से होने वाले ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है। वास्तव में त्रिरूप और अविनाभाव लिङ्ग के ही धर्म हैं। नैयायिकों का लिङ्ग-परामर्श भी विशिष्ट लिङ्ग दर्शन ही है। अतः इस प्रसङ्ग में सभी दार्शनिक प्रशस्तपाद से ही प्रभावित जान पड़ते हैं। परार्थानुमान के प्रसङ्ग में भी सभी दार्शनिकों ने उनका अक्षरशः अनुगमन किया है, क्योंकि सभी ने दूसरों को समझाने के लिए, स्वार्थानुमान द्वारा निश्चित किये गये अर्थ का, शब्दों द्वारा प्रतिपादन ही परार्थानुमान माना है।

स्वनिश्चितार्थ-स्वार्थ और परार्थ पदों को अधिक उपयुक्त भाषा में अनौपचारिक या मुख्य तथा औपचारिक या गौण कहा जा सकता है। अनौपचारिक कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रक्रिया में आदि से अन्त तक व्याप्ति, पक्षधर्मता आदि ज्ञानों द्वारा अनुमाता बिना अवयव प्रयोग के अनुमान कर लेता है। इसे मुख्य इसलिये कहा जाता है कि इसके अभाव में औपचारिक अनुमान की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि स्वनिश्चित अर्थ का ही, उसमें प्रतिपादन किया जाता है। इसीलिये प्रायः सभी दार्शनिकों ने उपचारवश ही गौण रूप से परार्थानुमान को अनुमान माना है। परार्थानुमान की अपेक्षा स्वार्थानुमान का क्षेत्र सीमित रहता है, क्योंकि स्वयं के ज्ञान पर आधारित होने के कारण, इसमें मानसिक पहलू पर अधिक बल दिया जाता है। इसीलिये इसे ज्ञानात्मक कहा जाता है। इसके विपरीत परार्थानुमान कभी तत्त्व-जिज्ञासा की ओर प्रवृत्त होता है, तो कभी स्वपक्ष स्थापन और परपक्ष निरास के लिय उन्मुख होता है। यद्यपि तत्त्व जिज्ञासा स्वार्थानुमान में भी रहती है, किन्तु वह केवल अनुमाता तक ही सीमित रहती है, जबकि परार्थानुमान की तत्त्व-जिज्ञासा में तत्त्व-जिज्ञासु और तत्त्व-द्रष्टा कम से कम दो व्यक्ति तो रहते ही हैं एवं खण्डन-मण्डन की प्रणाली के लिये, विद्वत्सभा एवं किसी कुशल मध्यस्थ की आवश्यकता भी रहती है। परार्थानुमान का मुख्य प्रयोजन ही दूसरों की आशंकाओं का निवारण करना है और इसीलिये अनुमाता स्वयं द्वारा ज्ञात तथ्यों का प्रतिपादन करने के लिये, अवयव वाक्यों का प्रयोग करता है। अवयव वाक्यों के प्रतिपादन पर आधारित होने से ही, इसको शब्दात्मक कहा जाता है। प्रायः सभी वक्तागण अपनी विवेच्य सामग्री को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं कर पाते। ऐसा भी हो सकता है कि श्रोता वक्ता के अभिप्राय को ग्रहण करने में असमर्थ हो अथवा वह अपने पूर्वाग्रहों के कारण पथ भ्रष्ट हो जाय अथवा वक्ता ने जिन शब्दों का प्रयोग किया हो, वे संदिग्ध, अनेकार्थक, अनियत, होने के कारण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव आदि दोषों से ग्रस्त हों। सारांशतः वचनात्मक स्वरूप होने के कारण, परार्थानुमान में, भाषागत अनेक दोष, वक्ता और श्रोता की अपेक्षा से, सम्भावित हो सकते हैं। अतः उक्त अशुद्ध, अर्थमूलक कल्पित सम्भावनाओं से युक्त अनिश्चित, अस्पष्ट एवं संदिग्ध शब्दावली के प्रयोग की असंगति के परिहारार्थ, परार्थानुमान में, अवयव वाक्यों को नियत क्रम से व्यवस्थित रखने की औपचारिकता पर, विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। इसी औपचारिकता को दृष्टि में रखते हुए दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार के अवयव प्रयोग अपनी-अपनी पद्धतियों के अनुसार दिये हैं। प्रयोजन

और श्रोता की सुविधा को देखते हुए, न्याय-वैशेषिक प्रयोग समीचीन ज्ञात पड़ता है, क्योंकि इसमें एक अवयव से एक ही कार्य सम्पादित किया गया है—जैसे, प्रतिज्ञा से साध्य का निर्देश, हेतु से साधन का उल्लेख, उदाहरण से व्याप्ति का प्रतिपादन, उपनय से पक्ष-धर्मता अनुमोदन तथा निगमन द्वारा साध्य का निश्चय ज्ञापित किया गया है। अन्य दार्शनिकों के प्रयोगों में इस बात का समर्थन उपलब्ध नहीं होता।

केवलान्वयी, केवलव्यरिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी

न्याय मत

पूर्व में इन प्रकारों का, अन्वयी, व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी के रूप में, उद्योतकर द्वारा, विवेचन किया जा चुका है। अन्वयी को केवलान्वयी तथा व्यतिरेकी को केवलव्यतिरेकी के रूप में उदयन ने विवेचित किया है, किन्तु अनुमान के इन तीन भेदों को स्पष्टतः व्यक्त करने का श्रेय गङ्गेश को ही दिया जा सकता है।[१९८] उनके उत्तरवर्ती आचार्य दीधितिकार आदि ने, इनके लक्षणों का ही परिष्कार कर, इन भेदों का निरूपण किया हैं। मुख्यतः इन भेदों के विषय में तीन मत प्रचलित हैं—उदयन मत, गङ्गेश मत तथा रघुनाथ शिरोमणि मत। प्रथम में सहचार भेद के आधार पर, द्वितीय में व्याप्ति के अवलम्बन पर तथा तृतीय में साध्य के माध्यम से, उक्त प्रकारों का विवेचन किया गया है। दीधितिकार ने अन्त में प्रथम दो का खण्डन कर अन्वव्यतिरेकी एक ही प्रकार का अनुमान माना है।

उदयन मत

उदयन द्वारा अन्वय व्याप्ति के रूप में एक ही प्रकार की व्याप्ति मानी गयी है। उसका ग्रहण अन्वय तथा व्यतिरेक सहचार द्वारा किया जाता है और तदनुसार जहाँ केवल अन्वय सहचार से हेतु में, साध्य की अन्वय व्याप्ति का निश्चय किया जाता है, उसे केवला-न्वयी; जहाँ केवल व्यतिरेक सहचार द्वारा, अन्वय व्याप्ति का अवधारण हेतु में किया जाता है, उसे केवलव्यतिरेकी तथा जहाँ उभय सहचारों द्वारा, अन्वय व्याप्ति, जिस हेतु में गृहीत की जाती है, उसे अन्वव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।[१९९] सामान्यतया 'पर्वतोवह्निमान् धूमात्' इस अनुमान को अन्वव्यतिरेकी माना गया है, क्योंकि प्रकृत स्थलीय हेतु धूम में, होने वाला व्याप्ति ज्ञान अन्वय सहचारजन्य भी है और धूम हेतुक-व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति का करण भी। अतः इस अनुमिति के कारणीभूत व्याप्ति-ज्ञान को अन्वव्यतिरेकी कहा गया है। उदयनाचार्य की भाषा में व्याप्यत्व रूप से ज्ञायमान इस हेतु को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा गया है। उदयन ने किसी अवस्था में धूम आदि हेतु को भी केवलान्वयी के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि अन्वयसहचार ग्रह अथवा अन्वयसहचार ज्ञान मात्र से प्रकृत धूम हेतु में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय हो जाता है, इसलिये स्थिति विशेष में इसको भी केवलान्वयी अनुमान माना जा सकता है। इस मान्यता के मूल में भी उनका उक्त रूप से एक ही प्रकार से अन्वय व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति में कारण मानना ही जान पड़ता है, क्योंकि वे व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति में उपयोगी नहीं मानते।[२००]

उदयन मत इसलिये समीचीन नहीं जान पड़ता कि अनुमिति ज्ञान में, जिस प्रकार अन्वय व्याप्ति ज्ञान कारण है, इसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान भी प्रयोजक है, इसलिये दोनों व्याप्तिज्ञान अनुमिति ज्ञान में अपेक्षित हैं। जिस प्रकार अन्वय व्याप्ति के बिना केवल अन्वय सहचार निरूपयोगी है, उसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति निरपेक्ष व्यतिरेक-सहचार से ग्रहण होने वाली अन्वय व्याप्ति भी निरर्थक जान पड़ती है। अतः सहचार

भेद की अपेक्षा, व्याप्तिज्ञान के आधार पर, इन भेदों की सर्जना अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। तदनुसार जब केवलअन्वयव्याप्तिविशिष्ट हेतु-प्रकारक पक्ष-विशेष्यक परामर्शज्ञान से अनुमिति होती है, उस समय हेतु में रहने वाली उस व्याप्ति के ज्ञान को केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है; जिस समय केवलव्यतिरेकव्याप्तिविशिष्ट हेतु प्रकारक पक्ष-विशेष्यक परामर्शात्मक ज्ञान द्वारा अनुमिति सम्पादित होती है, उस समय हेतु में रहने वाली उस व्याप्ति के ज्ञान को केवलव्यतिरेकी अनुमान माना गया है तथा जिस समय उभयव्याप्तिविशिष्ट हेतु-प्रकारक पक्ष-विशेष्यक परामर्शात्मक निश्चय से अनुमिति निष्पन्न होती है, उस समय हेतु में होने वाले दोनों व्याप्तियों के निश्चय को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान स्वीकार किया गया है। इस प्रकार से गङ्गेश का आशय प्रकट करते हुए दीधिति-कार ने अंतिम निष्कर्ष के रूप में लिखा है कि हेतु में गृहीत साध्य की व्याप्ति के भेद से ही अनुमान भेद मानना तर्क सम्मत जान पड़ता है।[२०१] जगदीश ने भी दोनों का समर्थन करते हुए लिखा है कि अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों व्याप्ति ज्ञान अनुमिति में कारण हैं, अन्वय-व्यतिरेक सहचार नहीं।[२०२]

गङ्गेश मत

केवलान्वयी अनुमान के प्रसङ्ग में एक शंका यह उपस्थित की जा सकती है कि इस लक्षण का लक्ष्य क्या है? क्या उसका लक्ष्य ज्ञेयत्व है, अथवा वाच्यत्व, अथवा अभि-धेयत्व या प्रमेयत्व? इन सभी को लक्षण का लक्ष्य माना जाय अथवा प्रत्येक को? इनमें से सभी को तो लक्ष्य नहीं माना जा सकता और न प्रत्येक को ही, क्योंकि ज्ञेयत्व का अपर नाम ही ज्ञानविषयता है। ज्ञानविषयता और विषयता, विषय-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, जैसे, जिस काल में ज्ञान का विषय घट रहता है, तब उसकी विषयता घट में उपलब्ध होगी और विषयता का अभाव पट में प्राप्त होगा। वह विषयता उस अभाव की प्रतियोगी ही सिद्ध होगी। ऐसी परिस्थिति में 'अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व' रूप केवलान्वयित्व कैसे संगत हो सकेगा? इसी प्रकार वाच्यत्व, अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि भी समझे जा सकते हैं। अतः जब लक्षण का लक्ष्य ही अप्रसिद्ध हो जाता है, तब लक्षण को कैसे न्यायसंगत माना जा सकता है।[२०३] इन आपत्तियों का निराकरण करने के लिये गङ्गेश ने अपना सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है—'वृत्ति-मान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी को ही केवलान्वयी कहा जाता है।[२०४] इस लक्षण के आधार पर ज्ञेयत्व, वाच्यत्व आदि सभी केवलान्वयी के लक्ष्य बनाये जा सकते हैं। जैसे, प्रमेयत्व प्रमा जाति विषयता रूप है। प्रमाज्ञान के सजातीय ज्ञान, सभी प्रमा ज्ञान हो सकते हैं, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान में अवृत्ति विषयता शून्यत्व रूप से 'अयंघटः' इन ज्ञान के सजातीय ज्ञान, 'अयंघटः', 'अयंमठः' इत्यादि प्रमात्मक सभी ज्ञान हो सकते हैं, कारण ईश्वरीय ज्ञान में न रहने वाली विषयता भ्रमात्मक तथा संशयात्मक ज्ञानों की ही हो सकती है, तत् शून्यत्व सभी प्रमाज्ञानों में विद्यमान है। इस प्रकार से प्रमाजातीय विषयता रूप प्रमेयत्व समस्त पदार्थों में विद्यमान होने के कारण, केवलान्वयी बन जाता है। इसी तथ्य के आधार पर ज्ञेयत्व, वाच्यत्व, अभिधेयत्व आदि सभी में केवलान्वयित्व उपपादित किया जा सकता है तथा इसी आधार पर आकाश अत्यन्ताभाव, ज्ञान, ज्ञानत्व तथा ज्ञान विषयता भी केवलान्वयी लक्षण के लक्ष्य बन जाते हैं। अतः उक्त सिद्धान्त लक्षण को स्वीकार कर लेने पर न तो लक्ष्य की अप्रसिद्धि रहती है और न लक्षण की असंभूतता ही।

इतना होने पर भी केवलान्वयी साध्यक अनुमिति उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि साध्य संशय रूप पक्षता को भी अनुमानाङ्ग माना गया है और जब केवलान्वयी साध्यक स्थल में, संशय ही अप्रसिद्ध है, तब तत् साध्यक अनुमिति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? संशय, भाव तथा अभाव परस्पर विरुद्ध दो कोटियों का अवगाहन करने वाला ज्ञान माना गया है । केवलान्वयी साध्यक स्थल में, अभाव कोटि सर्वथा अप्रसिद्ध रहती है । जैसे 'घटो प्रमेयः वाच्यत्वात्' इस केवलान्वयी अनुमान में 'घटः प्रमेयो न वा' या 'घटः प्रमेयवान्नवा' या 'प्रमेयत्ववान् प्रमेयत्वाभाववान्नवा' इस प्रकार का संशय हो सकता है, किन्तु प्रकृत स्थल में, प्रमेयत्वाभाव अप्रसिद्ध होने के कारण 'घटः प्रमेयो न वा' यह संशय 'घटोप्रमेयः वाच्यत्वात्' इस प्रमेयत्व-साध्यक केवलान्वयि अनुमान में पक्षता नहीं बनाया जा सकता । यदि इस आक्षेप के परिहार के लिये यह कहा जाय कि साध्य संशय प्राचीन नैयायिकों का ही अभ्युपगम है, नवीन मत में 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिध्यभाव' को ही पक्षता माना गया है, इसलिये इसको अनुमानाङ्ग मानकर केवलान्वयी अनुमान की पुष्टि की जा सकती है, तो यह समाधान उचित नहीं जान पड़ता; क्योंकि एकदेशीय अथवा एकाङ्गी तथ्य सिद्धान्त नहीं हो सकता अतः सिद्धान्ती होने के नाते सार्वत्रिक एवं सर्वग्राही सिद्धान्त का प्रतिपादन नवीनों के लिये भी अनिवार्य प्रतीत होता है । इसलिये जब प्राचीन मतानुसार पक्षता, अनुमानाङ्ग नहीं हो पाती, तब उक्त सिद्धान्त की उपपत्ति संभावित नहीं हो सकती : यदि यह कहा जाय कि 'घटोप्रमेयः वाच्यत्वात्' इस केवलान्वयी अनुमान स्थल में 'घटोप्रमेयोन्नवा' यह संशय रूप पक्षता निष्पन्न न हो तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु वहाँ 'प्रमेयत्वं अत्र वर्तते न वा' या 'प्रमयेत्वं घटे वर्तते न वा' या 'प्रमेयत्वं घट-वृत्ति न वा' या 'प्रमेयत्वं घटवृत्तित्ववत् घटाभाववान्नवा' इसी संशय को अनुमानाङ्ग माना जा सकता है, क्योंकि उक्त आकार-प्रकार की संशय रूप पक्षता अप्रसिद्ध नहीं है । 'घटवृत्तित्व', भी घट में विद्यमान रहने वाले पदार्थ 'घटत्व' में प्रसिद्ध है और घटवृत्तित्वा-भाव घटत्व आदि पदार्थ में उपलब्ध है । अतः संशय की घटक, 'घटवृत्तित्व' और 'घट-वृत्तित्वाभाव' परस्पर विरुद्ध कोटिद्वय, प्रसिद्ध होने के नाते, इन दोनों कोटियों का अव-गाहन करने वाला 'प्रमेयत्वं घटवृत्ति न वा' यह संशय अनुमान का अङ्ग बनाया जा सकता है । किन्तु यह समाधान भी युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता, कारण यह संशय प्रमेयत्व पक्षक है और केवलान्वयी अनुमान घट पक्षक होने के कारण, उसमें घटपक्षक संशय को ही पक्षता बनाया जा सकता है । इस प्रकार प्रकृत में 'घटः प्रमेयोन्नवा' इस संशय को ही अनुमानाङ्ग के रूप में पक्षता बनाया जा सकता है, 'प्रमेयत्वं घटवृत्ति न वा' इस संशय को नहीं । परन्तु यह संशय, सर्वथा अप्रसिद्ध होने तथा अन्यविध संशय, विभिन्न विषयक होने के नाते, पक्षता नहीं बनाया जा सकता, इसलिये केवलान्वयी अनुमान अनुपपन्न ही रह जाता है । उक्त आरोपों का निराकरण करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि वास्तव में ऐसी बात नहीं है क्योंकि केवलान्वयी साध्यक अनुमान स्थल में संशय रूप पक्षता की अप्रसिद्धि है ही नहीं, कारण साध्यविरोधि संशय रूप पक्षता को ही अनुमानाङ्ग माना गया है । तदर्थ प्रमेयत्वं घटनिष्ठत्यत्ताभाव प्रतियोगि न वा' यह संशय, 'घटःप्रमेयः' इस साध्य सिद्धि का विरोधी होने के नाते, केवलान्वयी साध्यक अनुमान में पक्षता हो सकता है । अथवा साध्यसंशय रूप पक्षता को अनुमान का अङ्ग न मानकर साधक-बाधक प्रमाणाभाव रूप संशय योग्यता को अनुमानाङ्ग माना जा सकता है और ऐसा मानकर प्राचीन मतानुसार भी केवलान्वयी साध्यक अनुमान का निर्वाह किया जा सकता है ।[१०५]

आचार्य गङ्गेश ने अनुमान के तीन भेद—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी सूचित करते हुए, केवलान्वयी सिद्धान्त लक्षण विवेचित करने के पूर्व, केवलान्वयी का लक्षण—'जिसका कोई विपक्ष न हो, वह केवलान्वयी अनुमान कहलाता है—[२०६] ही ज्ञापित किया है। उन्होंने शेष दो का कोई विवेचन यहाँ प्रस्तुत नहीं किया। इस न्यूनता की पूर्ति करते हुए दीधितिकार ने तीनों लक्षणों की व्याख्या इस प्रकार की है—'जो साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हो, वह केवलान्वयी तथा तत् साध्यवान् अनुमिति का करण केवलान्वयी अनुमान; जिस अनुमान में साध्य-साधन का अन्वय सहचार गृहीत न हो, और व्यतिरेकी साध्य हो, उसे केवलव्यतिरेकी अनुमान एवं जिस अनुमान में अन्वय सहचार का ग्रहण किसी दृष्टान्त में निश्चित रूप से उपलब्ध हो तथा व्यतिरेकी साध्य हो, उसे अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं।[२०७] उक्त विवेचन से यह विदित होता है कि दीधितिकार को सहचार भेद अथवा व्याप्ति के अनुसार इन भेदों की व्याख्या अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत साध्य के अनुसार ही उक्त भेदों की रचना अभीष्ट थी। अभिप्राय यह कि साध्य प्रथमतः दो प्रकार का होता है—अन्वयी और व्यतिरेकी, व्यतिरेकी पुनः दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। अन्वयी केवलान्वयी रूप से एक ही प्रकार का होता है। इस प्रकार तीन प्रकार के साध्यों के आधार पर ही उक्त तीनों भेदों की सर्जना की गयी है। जागदीशीकार ने दीधितिकार के आशय को व्यक्त करते हुए इन तीनों प्रकारों का निरूपण इस प्रकार से किया है—'अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्यक अनुमिति के करण को केवलान्वयी कहा जाता है,[२०८] जैसे, 'घट अभिधेय है, प्रमेय होने से'। इस अनुमान में साध्य अभिधेयत्व का अत्यन्ताभाव कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि जगत्निष्ठ सभी पदार्थ प्रमेय होने से वाच्य हैं, अवाच्य नहीं अर्थात् जगत् में कोई भी प्रमेय रूप पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसका अभिधान न किया जा सके। इसलिये यह साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी ही होगा, प्रतियोगी नहीं। तात्पर्य यह कि अभिधेयत्व रूप साध्य के अत्यन्ताभाव का निश्चायक कोई विपक्ष उपलब्ध नहीं होता, इस कारण तादृश साध्यक (विपक्षाभाववाले) अनुमिति के करण को, केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है। जो अनुमिति, प्रकृत हेतु में होने वाले साध्य के अन्वय-सहचार से उत्पन्न न हो, उस प्रकृत हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को केवल-व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है[२०९] जैसे, 'पृथिवी इतर भेदवती है, गन्ध वाली होने से' यहाँ प्रकृत हेतु गन्ध में, इतर भेदात्मक साध्य का अन्वय सहचार किसी भी दृष्टान्त में गृहीत नहीं होता और इतरभेदात्मक साध्य व्यतिरेकी होने के कारण, इस अनुमिति के करण को केवल व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। अभिप्राय यह कि गन्धवाली होने से पृथिवी, इतर पदार्थ—पृथिवी को छोड़कर जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन आदि आठ द्रव्य तथा द्रव्य के अतिरिक्त गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि पाँच भाव पदार्थों से भिन्न हैं। इस अनुमान के इतर भेदात्मक साध्य केवल पक्ष पृथिवी में ही प्रसिद्ध है पर यह निष्प्रयोजक है, क्योंकि पक्ष में सर्वदा साध्य का संशय रहना आवश्यक है और जल आदि में, जल आदि पदार्थों का भेद रह नहीं सकता, क्योंकि नियमतः 'स्व' में 'स्व' का भेद सर्वथा बाधित है। अतः पक्ष से अतिरिक्त सपक्षभूत कोई अन्वय दृष्टान्त उपलब्ध ही नहीं होता, जहाँ साध्य की प्रसिद्धि संभावित हो सके, । अतः किसी भी दृष्टान्त में अन्वय सहचार सर्वथा अप्रसिद्ध होने अर्थात् गृहीत न होने के कारण तथा व्यतिरेकी साध्यक होने के नाते 'पृथिवी इतरेभ्योभिद्यते गन्धवत्त्वात्' अनुमान केवल

व्यतिरेकी अनुमान कहलाता है। प्रकृत हेतु में साध्य-सहचारग्रह के आधार पर होने वाले व्याप्ति निश्चय से उत्पन्न होने वाले प्रकृत हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है[२१०] जैसे, 'पर्वत अग्निमान् है, धूम होने से' यहाँ साध्य-अग्नि का हेतु-धूम के साथ महानस आदि में निश्चित रूप से सहचार गृहीत होता है और साध्याभावीय स्थल-जलाशय आदि में साध्य अग्नि न पायी जाने के कारण यह व्यतिरेकी साध्यक भी है। इसलिये 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान को अन्वय-व्यतिरेकी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इस अनुमान में साध्य अग्नि, पक्ष पर्वत से अतिरिक्त पाकशाला आदि सपक्षभूत दृष्टान्तों में, तथा साध्य अग्नि का अभाव भी, इसी प्रकार पक्षातिरिक्त जलाशय आदि विपक्षभूत दृष्टान्तों में निश्चित रूप से पाया जाता है, इस कारण इसको अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। जगदीश ने 'तर्कामृत' में भी इसी प्रकार व्याख्या की है।[२११] विश्वनाथ ने भी उद्योतकर के समान अपनी 'न्यायसूत्रवृत्ति' निष्ठ द्वितीय व्याख्या में पूर्ववत् से केवलान्वयी, शेषवत् से केवल-व्यतिरेकी तथा सामान्यतोदृष्ट से अन्वयव्यतिरेकी का ग्रहण किया है।[२१२] इनके लक्षणों का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस साध्य का विपक्ष अप्रसिद्ध हो, वह केवलान्वयि; जिस साध्य का सपक्ष अनुपलब्ध हो, वह केवलव्यतिरेकी तथा जिस साध्य के सपक्ष और विपक्ष दोनों विद्यमान हों, वह अन्वयव्यतिरेकी साध्य कहलाता है और तादृश साध्यक अनुमिति के करण को क्रमशः केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।[२१३] इस प्रकार उन्होंने 'न्यायसूत्रवृत्ति' में केवल उदाहरणों के माध्यम से इन भेदों को समझाया है, किन्तु 'कारिकावली' में कारिका की व्याख्या करते हुए उन्होंने उक्त उदाहरणों के साथ दीधितिकार का समर्थन करते हुए लक्षणों का भी विन्यास किया है।

रघुनाथ शिरोमणि मत

दीधितिकार के उक्त विवेचन में, प्रथम अनुमान के अन्दर अन्वयी साध्य और शेष दोनों में व्यतिरेकी साध्य प्रयुक्त हुआ है।[२१४] अन्तिम दोनों में अन्तर यही है कि द्वितीय में अन्वय सहचारभूत कोई सपक्ष नहीं रहता, जबकि तृतीय में सपक्ष विद्यमान रहता है। इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्वयी एक ही प्रकार का—केवलान्वयी तथा व्यतिरेकी दो प्रकार का—केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी होता है। यह विभाग उद्योतकर के उक्त विवेचन से ठीक विपरीत जान पड़ता है। उन्होंने व्यतिरेकी को, कोई सपक्ष का दृष्टान्त न मिलने के कारण, एक ही प्रकार का माना है और अन्वयी के दो भेद—अन्वयी और अन्वयव्यतिरेकी किये हैं।[२१५] वार्तिककार का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भी वीत अनुमान के रूप में अन्वयी अनुमान के ही भेद—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट, स्वीकार किये हैं तथा अवीत अनुमान को एक ही प्रकार का व्यतिरेकी ज्ञापित किया है।[२१६]

दीधितिकार ने, यद्यपि साध्यभेद के आधार पर, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी इन तीन प्रकार के अनुमानों का विवेचन किया है, किन्तु सिद्धान्त रूप से उन्होंने एक प्रकार का—अन्वयव्यतिरेकी अनुमान ही स्वीकार किया है, शेष दोनों अनुमानों की आलोचना कर अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर घोषित करने का प्रयास किया है, 'साध्याभाववदवृत्तित्व' को व्याप्ति लक्षण मानते हुए उन्होंने प्रथम केवलान्वयी अनुमान का खण्डन करते हुए लिखा है कि अवृत्ति पदार्थ होने के नाते, आकाश में, व्याप्यत्व का

व्यवहार सिद्ध किया जा सकता है । जैसे, 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमान में, साध्याभाव होगा, वह्नि का अभाव तथा उसके अधिकरण जलाशय आदि होंगे, उनसे निरूपित वृत्तित्वाभाव आकाश में सिद्ध किया जा सकता है । अतः आकाश में व्याप्यत्व की आपत्ति दी जा सकती है । इस आपत्ति के निवारणार्थ पक्षधर्मता ज्ञान का निवेश करना भी आवश्यक है, किन्तु आकाश वृत्ति पदार्थ होने के कारण कहीं भी वृत्ति नहीं हो सकता । अतः उसमें पक्षवृत्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । यदि 'साध्यसामानाधिकरण्यत्वेसति साध्याभाववदवृत्तित्वम्' इस रूप में व्याप्ति का अवगाहन किया जाय, तो भी उचित नहीं, क्योंकि आकाश में साध्य-अधिकरण वृत्तित्व नहीं पाया जाता इसलिये प्रथम दल—'साध्यसामानाधिकरण्य' से ही व्याप्यत्व के व्यवहार का निराकरण किया जा सकता है । व्याप्तिज्ञान व्यभिचार ज्ञान का प्रतिबन्धक हुआ करता है । अतः प्रकृत में 'साध्याभाववद्वृत्तिः' अर्थात् 'साध्याभावीय अधिकरणों में हेतु का विद्यमान रहना' यही व्यभिचार इष्टदायक समझा जा सकता है, अन्य व्यभिचार नहीं । इसलिये साध्याभाववद्वृत्तिर्हेतुः इस व्यभिचार ज्ञान का प्रतिबन्धन 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' इस व्याप्ति से सुगमतापूर्वक किया जा सकता है ।[११७] यह व्याप्ति 'व्यापकसामानाधिकरण्य' साधारण इसलिये नहीं हो सकती कि व्यापकताज्ञान द्वारा, व्यभिचारज्ञान का प्रतिबन्धन, इस व्याप्ति में संभावित नहीं हो सकता, क्योंकि, 'वह्न्यभाववद्वृत्तिधूमः' इस ज्ञान में वह्नित्व का स्वरूपेण (निरवच्छिन्न रूप से) प्रतियोगिता रूप से तथा वह्नित्व की अवच्छेदकता का बोध संसर्ग मर्यादा से होता है । दूसरी बात यह भी है कि 'व्यापकसामानाधिकरण्य' रूप व्याप्ति गौरव दोष से भी ग्रसित है जैसे, उक्त 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' स्थल में व्याप्ति का समन्वय करने पर, जो धूम के समान अधिकरण में रहने वाला अभाव प्रतियोगिता का अनवच्छेदक वह्नित्व है, उसका वह्नित्व रूप से, प्रतियोगिता का प्रतियोगितात्व रूप से, तथा अवच्छेदकता अवच्छेदकतात्व रूप से भान होगा । इसीलिये 'साध्याभाववदवृत्तित्व' रूप व्याप्ति के लिये दीधितिकार ने 'लाघवात्' पद का प्रयोग किया है ।[११] तीसरे समान प्रकारताक बुद्धि (समान विशेषण वाला ज्ञान) ही किसी ज्ञान में प्रतिबन्धक हुआ करती है जैसे, 'घटवत् भूतलम्' ज्ञान में 'घटाभाववत् भूतलम्' इत्याकारक ज्ञान ही प्रतिबन्धक हो सकता है न कि 'पटाभाववत् भूतलम्' यह ज्ञान । इसलिये 'व्यापक सामानाधिकरण्य' रूप व्याप्ति 'साध्याभाववद्वृत्तिहेतुः' इस व्यभिचारज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक नहीं मानी जा सकती, इसलिये उसको व्याप्ति नहीं माना जा सकता । इसी व्याप्ति के आधार पर केवलान्वयी अनुमान का व्यवस्थापन किया जाता है, किन्तु जब यह व्याप्ति ही समन्वित नहीं की जा सकती, तब उसके अवलम्बन पर होने वाला केवलान्वयी अनुमान कैसे संगत एवं युक्तियुक्त समझा जा सकता है ? यदि 'अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व' रूप केवलान्वयी व्याप्ति को स्वीकार कर केवलान्वयी अनुमान का समर्थन किया जाय, तो यह भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि मात्र केवलान्वयिग्रह से ही सर्वत्र अनुमिति निष्पादित हो जाती हो, तो 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अन्वयव्यतिरेकी अनुमान स्थल में भी अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व रूप केवलान्वयी व्याप्ति के अन्तर्गत ही 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति भी होनी चाहिये । यदि इस आरोप के निराकरण के लिये यह कहा जाय कि भ्रमात्मक अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व रूप केवलान्वयी व्याप्तिग्रह के अधीन भी अनुमिति हो सकती है अतः उसके वारण के लिये 'गृह्यमाण' पद का लक्षण में निवेश किया गया है, किन्तु यह भी युक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिस काल में, 'वह्नि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी

होती है 'ऐसा निश्चय जब हो जाता है, तब उसके उपरान्त उस काल में 'वह्नि अत्यन्ताभाव अप्रतियोगी' यह निश्चय कैसे हो सकता है ? ऐसे स्थल में अनुमिति ज्ञान भी सम्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि केवल केवलान्वयी व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति में उक्त रीति से कारण माना गया है। अतः इस व्याप्तिज्ञान के निष्पन्न न होने के कारण केवलान्वयी अनुमान को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[२१९]

इसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान (केवलव्यतिरेक व्याप्तिज्ञान) को भी अनुमिति में कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'साध्याभाववद्वृत्तित्व' रूप व्याप्ति की अपेक्षा 'साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व' यह व्यतिरेक व्याप्ति अधिक जटिल, बड़ी एवं वक्र होने के नाते 'गौरव' दोष से आक्रान्त है। दूसरी बात यह है कि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान व्यभिचार ज्ञान में प्रतिबन्धक नहीं है। 'साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्व' इस व्यतिरेक व्याप्ति का समन्वय 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में करते समय, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि वह्न्यभाव के व्यापकीभूत धूमाभाव की प्रतियोगिता धूम में निविष्ठ हो जाने के नाते, उक्त स्थलीय अनुमान में, व्यतिरेक व्याप्ति निष्पन्न हो जाती है, तो यह युक्त नहीं जान पड़ता, कारण उस काल में, धूम का भान, धूमाभावाभावत्व रूप से ही किया जा सकता है; तदनुसार व्यतिरेक व्याप्ति स्थल में व्यभिचार, वह्न्यभाव व्यापकीभूत धूमाभाव ही होगा और वह्न्यभाव-सामानाधिकरण्य-बुद्धि के प्रति उसकी प्रतिबन्धकता वह्न्यभावव्यापकीभूताभाव—अर्थात् धूमाभावाभाव में ही आ सकती है। अतः इसको व्याप्ति मानने में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं है। इस तथ्य की आलोचना करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि वह प्रतिबन्धक अवश्य है, परन्तु उसकी प्रतिबन्धकता धूमाभावाभाव रूप से ज्ञापित होती है, धूमत्व रूप से नहीं। व्याप्ति, धूमत्वेन धूम में है, धूमाभावाभावत्व रूप से नहीं। इसलिये उसको प्रतिबन्धक मानना व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि व्यतिरेक व्याप्ति के अधीन जो ज्ञान होता है, वह अनुमितित्व रूप से नहीं होता अर्थात् व्यतिरेक व्याप्तिग्रह के पश्चात् जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका अनुव्यवसाय—'अनुमिनोमि अहम्'—'मैं अनुमान करता हूं' इस प्रकार नहीं होता, वरन् 'अर्थापत्तिं करोमि अहम्'—'मैं अर्थापत्ति करता हूँ' इस प्रकार से ही होता है। दीधितिकार के अनुसार 'साध्याभाववदवृत्तित्व' रूप व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का स्पष्ट कारण माना जाता है, इसलिये व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान क्लृप्त सामग्री युक्त न होने के कारण, उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति रूप नहीं माना जा सकता। निष्कर्षतः दुरूह एवं वक्रगामी होने के नाते गौरव दोष से दूषित, 'साध्याभाववत् वृत्तिहेतु' इस व्यभिचार-ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक तथा अनुमिति ज्ञान की जनक न होने के कारण व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान की विषयीभूत व्यतिरेक व्याप्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। अतः केवल व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर होने वाला केवलव्यतिरेकी अनुमान भी व्यतिरेकव्याप्ति का खण्डन हो जाने से, उपपन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' इस व्याप्ति के आधार पर प्रथम दो—केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी अनुमान का निरास हो जाने के उपरान्त दीधितिकार मत में अन्तिम अन्वयव्यतिरेकी एक ही प्रकार का अनुमान स्वीकृत जान पड़ता है।[२२०]

वैशेषिक मत

'वैशेषिकसूत्र', 'प्रशस्तपादभाष्य' तथा भाष्यानुसारीय 'व्योमवती', 'किरणावली,'

'न्यायकन्दली' आदि टीकाओं एवं 'उपस्कार' में इन अनुमान प्रकारों की चर्चा नहीं की गयी है, किन्तु 'सप्तपदार्थी', में लिङ्ग के त्रिविध भेदों के आधार पर अनुमिति भी तीन प्रकार की बतलायी गयी है— (१) केवलान्वयी, (२) केवलव्यतिरेकी एवं (३) अन्वयव्यतिरेकी।[२२१] इनकी व्याख्या में——————किया गया है।

मीमांसा मत

'मीमांसासूत्र,' 'शाबरभाष्य', 'श्लोकवार्तिक', 'शास्त्रदीपिका', 'बृहती', 'प्रकरणपञ्चिका' आदि में इन भेदों का विवेचन नहीं किया गया है, किन्तु 'मानमेयोदय' में, विभिन्न उदाहरणों द्वारा, गङ्गेश की तरह व्याप्ति के आधार पर ही इन भेदों की व्याख्या की गई है। जैसे, जिस अनुमान में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार हों की व्याप्तियां पायी जाय, उसे अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। इसका उदाहरण न्यायदर्शन सम्मत धूम से होने वाले अग्नि के अनुमान आदि हैं। जिस अनुमान में केवल अन्वयव्याप्ति ही उपलब्ध हो, वह केवलान्वयी अनुमान कहलाता है। जैसे, 'ज्ञान का अन्य ज्ञान द्वारा प्रकाशन होता है, वस्तु होने से, घट के समान। यहाँ लोकगत ऐसा कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, जिसका ज्ञान द्वारा प्रकाशन न हो सके अतः जो-जो ज्ञान द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता वह-वह वस्तु नहीं है' ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती, अपितु 'जो-जो वस्तु होती है वह-वह ज्ञान द्वारा प्रकाशित होती है, ऐसी अन्वयव्याप्ति ही केवल उपलब्ध होती है। जिस अनुमान में केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही पायी जाय, उसे केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है। जैसे, सकल ज्ञान स्वयं प्रकाश्य हैं, ज्ञान होने से, घट की तरह। यहाँ, 'जो-जो ज्ञान होता है वह-वह स्वप्रकाश्य है,' ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि भाट्ट मत में ज्ञान स्वभावतः परोक्ष ही माना गया है तथा ज्ञातता द्वारा उसका अनुमान किया जाता है। अतः यह व्यतिरेक व्याप्ति—'जो-जो स्वप्रकाश्य नहीं होता वह-वह ज्ञान भी नहीं होता' ही सम्पादित की जा सकती है।[२२२] केवलव्यतिरेकी अनुमान को नारायण भट्ट ने वाचस्पति मिश्र की तरह अवीत भी कहा है।[२२३]

सांख्य-योग परम्परा में इन प्रकारों का कोई विवरण प्राप्त नहीं होता।

वेदान्त मत

'खण्डनखण्डखाद्य' तथा 'चित्सुखी' में इन प्रकारों का कोई विवेचन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु वेदान्त परिभाषा तथा उसकी टीकाओं में इन भेदों का व्यापक रूप से खण्डन-मण्डन देखा जाता है। वेदान्त परिभाषाकार के मतानुसार अनुमान अन्वयी रूप एक ही प्रकार का होता है, केवलान्वयी नहीं; क्योंकि वेदान्त मत में समस्त धर्म ब्रह्मवृत्ति अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होते हैं, इसलिये अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्यवाले केवलान्वयी अनुमान का निर्वाह नहीं हो सकता।[२२४] शिखामणिकार तथा मणिप्रभाकार ने परिभाषाकार के केवलान्वयी लक्षण का परिष्कार करते हुए उनके लक्षण में 'स्ववृत्ति विरोधी' तथा 'वृत्तिमत्' दो विशेषण सन्निविष्ट करके केवलान्वयी अनुमान का समर्थन किया है। 'जो केवलान्वयित्व रूप से अभिमत वस्तु के अधिकरण में रहने वाला विरोधी तथा वृत्तिमान् अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हो, वह केवलान्वयी है' जैसे 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' इस केवलान्वयी स्थल में प्रमेयत्व आदि में रहनेवाला, विरोधी तथा वृत्तिमत् प्रमेयत्व आदि का अत्यन्ताभाव अप्रसिद्ध होने से स्वपद से घट आदि का ही ग्रहण होगा, उसमें विद्यमान रहने वाला विरोधी वृत्तिमान् घटाभाव का प्रतियोगित्व

घट में तथा अप्रतियोगित्व प्रमेयत्व आदि में रहेगा। इस प्रकार केवलान्वयित्व का लक्षण समन्वित हो सकता है। केवलान्वयित्व रूप से अभिमत कपिसंयोगाभाव तथा गगन—अत्यन्ताभाव में होने वाली अव्याप्ति के निराकरण के लिये ही लक्षण में 'स्ववृत्ति-विरोधी' तथा वृत्तिमत् विशेषणों का उपादान किया गया है। जैसे 'स्ववृत्ति-विरोधी' पद न देकर केवल 'वृत्तिमत् अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व' इतना ही लक्षण माना जाय, तो वृत्तिमान् अत्यन्ताभाव के रूप में कपिसंयोगाभावाभाव लिया जा सकता है, इसकी प्रतियोगिता कपिसंयोगाभाव में रहने के कारण अप्रतियोगित्व रूप केवलान्वयी लक्षण समन्वित नहीं हो सकता। इस विशेषण का लक्षण में निवेश कर देने से स्ववृत्ति-विरोधी अत्यन्ताभाव, कपिसंयोगाभावाभाव नहीं हो सकता, क्योंकि कपिसंयोगाभावा-भाव रूप कपिसंयोग के अधिकरण वृक्ष आदि में मूलावच्छेदेन (मूल में रहने वाला) कपिसंयोगअत्यन्ताभाव विद्यमान है, इसलिये स्ववृत्तिविरोधी वृत्तिमान् अभाव घट आदि अत्यन्ताभाव ही होगा और तदप्रतियोगित्व कपिसंयोगाभाव में रहने के कारण, कपिसंयोगाभाव भी केबलान्वयी सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'वृत्तिमत्' पद न देकर 'स्ववृत्तिविरोधी अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्' इतना मात्र ही लक्षण माना जाय, तो 'गगनाभावाभाव' की प्रतियोगिता गगनाभाव में सुतरां सिद्ध की जा सकती है। 'वृत्ति-मत्' पद के उपादान से गगनाभावाभाव, जो गगनरूप ही है, नहीं लिया जा सकता, क्योंकि गगन अवृत्ति पदार्थ है। अतः घट आदि अभाव को लेकर ही गगनाभाव में केवलान्वयित्व समन्वित किया जा सकता है। ऐसा लक्षण स्वीकार कर लेने पर श्रुति-विरोध भी नहीं होता, क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन:' इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य—पारमार्थिकत्वावच्छिन्न द्वैताभाव में है। अतः द्वैत पारमार्थिक न होने से, पारमार्थिक-त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव (पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगितावाला अभाव) प्रमेयत्व आदि का अभाव भी हो सकता है, किन्तु 'स्ववृत्तिविरोधी वृत्तिमदत्यत्ताभाव' पद से प्रमेयत्वाभाव का ग्रहण नहीं किया जा सकता, जैसा कि विवरणाचार्य ने कहा है—'आगमेन द्वैतस्य तत्त्वांश बाधात्' श्रुति के द्वारा द्वैत प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व का बाध होता है। इतना सब होते हुए भी यह आशंका हो सकती है कि ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने से, स्वरूपतः उसमें प्रमेयत्व आदि का अभाव ही रहेगा, तब प्रमेयत्व आदि को केवलान्वयी कैसे माना जा सकता है इसका समाधान यह है कि ब्रह्म भी वृत्तिरूप प्रमा का विषय होता है, इसलिये स्वप्रकाशत्व का विरोध नहीं होता, क्योंकि अनुपहित चित्तत्व को ही स्वयं प्रकाश कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—'सर्वोपाधिविहीनं हि स्वयं-ज्योतिरितिगीयते न तूपहितमपि'—'समस्त उपाधियों से शून्य चित्तत्व को ही स्वयं प्रकाश कहा जाता है, उपहित चित्तत्व को नहीं। इसलिये कहा भी गया है—'न तावत अयं एकान्तेन अविषय:' अर्थात् नियमतः वह अविषय ही नहीं बल्कि विषय भी बनता है। अतः वृत्तिरूप प्रमा का विषय होने के नाते प्रमेयत्व आदि का अभाव नहीं हो सकता। अतः उनमें केवलान्वयित्व का समन्वय हो जाता है। प्रमेयत्व, केवलान्वयी होने पर भी अभिधेयत्व केवलान्वयी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म में अभिधेयत्व का अभाव रहता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है, कारण ब्रह्म लक्ष्य होने से, वाच्यत्व न रहने पर भी उसमें पद जन्य ज्ञानविषयत्व रहता ही है, इसलिये ब्रह्म में अभिधेयत्व का अभाव नहीं कहा जा सकता। अतः अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि सभी धर्म केवलान्वयी होने के कारण केवला-न्वयी अनुमान युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[२३५]

केवलान्वयी अनुमान के समान केवलव्यतिरेकी अनुमान भी परिभाषाकार को मान्य नहीं है, क्योंकि साध्य के अभाव में साधनाभाव निरूपित व्याप्तिज्ञान (अर्थात् व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान) का, साधन से होने वाली साध्य की अनुमिति में, कोई उपयोग सिद्ध नहीं होता। यदि यह आशंका की जाय कि जिस व्यक्ति को धूम आदि साधन में अन्वयव्याप्तिज्ञान का निश्चय नहीं हुआ है, उसे भी व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से अनुमिति हो जाती है, तो इसके समाधान में कहा जा सकता है कि वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही वह्नि आदि का उपपादन कर लिया जाता है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही केवल-व्यतिरेकी अनुमान गतार्थ हो जाने से, उसमें स्वतंत्र प्रामाण्य स्थापित नहीं किया जा सकता।[२२१] 'शिखामणि' तथा 'मणिप्रभा' में केवलान्वयी अनुमान के समान केवल-व्यतिरेकी अनुमान का भी समर्थन किया गया है। धूम आदि साधन में, जिसे अन्वय-व्याप्ति का निश्चय नहीं हुआ है, उसे धूम आदि ज्ञान से, जो वह्नि का ज्ञान होता है, उसे अनुमिति ही कहा जा सकता है, क्योंकि उस ज्ञान के पश्चात् 'वह्निम् अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। दूसरी बात यह भी है कि अन्वयव्याप्ति ज्ञान न रहने पर भी व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान से यथार्थ अनुमिति हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि व्याप्ति-ज्ञान, व्याप्तिज्ञानत्व रूप से अनुमिति का हेतु है अर्थात् साधन से साध्य का अनुमान किया जाता है, इसलिये 'जहाँ धूम की सत्ता होती है वहाँ अग्नि की भी सत्ता होती है इत्याकारक अन्वयव्याप्ति ही अनुमिति ज्ञान में उपयोगी है, व्यतिरेक व्याप्ति में कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव अन्वय व्याप्ति से विपरीत रहता है जैसे, 'जहाँ-जहाँ साध्य का अभाव रहता है वहाँ-वहाँ साधन का अभाव भी रहता है। इससे अधिक से अधिक लाभ यही हो सकता है कि साध्य के अभाव में साधन का अभाव सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि साध्याभाव से साधनाभाव की अपेक्षा, साधन से ही साध्य का अनुमान किया जाता है। इसलिए हेत्वभाव निरूपित साध्याभावनिष्ठ व्याप्ति-ज्ञानत्व रूप से अनुमिति की हेतुता व्यतिरेक व्याप्ति से संभावित नहीं है। इन आपेक्षों का परिहार करते हुए उन्होंने लिखा है कि स्वव्यभिचार ज्ञान विरोधी विषय व्याप्तिज्ञानत्व रूप से व्याप्तिज्ञान अनुमिति का कारण है। इस रूप से कार्यकारणभाव स्वीकार कर लेने पर, व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान को भी अनुमिति का कारण माना जा सकता है, क्योंकि 'धूमाभाव, वह्न्यभाव के अधिकरण में विद्यमान रहता है', इस ज्ञान के रहने पर 'धूम वह्न्यभाव के अधिकरण में वृत्ति है', यह ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। तथा कृतकत्व में अनित्यत्व व्याप्तिज्ञान से होनेवाली अनुमिति में धूम द्वारा होने वाली अग्नि की अनुमिति का अतिप्रसङ्ग भी नहीं हो सकता, कारण 'धूमोवह्निव्याप्यः' इस ज्ञान को, कृतकत्व में अनित्यत्व व्यभिचार ज्ञान अविरोधी होने से अनित्यत्व-अनुमिति का कारण नहीं माना जा सकता। इस पर पुनः एक शंका उपस्थित हो सकती है कि अनुमान का व्यतिरेकी रूप से यदि प्रामाण्य माना जाय तो अर्थापत्ति का उसी में अन्तर्भाव हो जाने के कारण उसमें पृथक् प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकगा। यदि इस आपत्ति को स्वीकार कर लिया जाय तो समान युक्तियों द्वारा संशय आदि के उत्तरकालीन प्रत्यक्ष में चक्षु आदि की प्रामाणिकता नहीं रह पायगी, क्योंकि यहाँ भी अनुमिति की सामग्री विद्यमान है; इसी प्रकार शाब्द ज्ञान स्थल में भी शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकेगा, कारण वहाँ भी अनुमिति की सामग्री रहती है जैसे, 'ये सभी पदार्थ तात्पर्य विषयीभूत परस्पर संसर्ग वाले हैं, आकाङ्क्षा आदि विशिष्ट पद समूह से स्मारित होने से।' इस अनु-

मान से तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग की प्रतीति हो जाती है। इन प्रतिबन्दी कल्पनाओं से बचने के लिये यदि कहा जाय कि 'स्थाणुं साक्षात् करोमि' 'शब्दात् अमुमर्थं प्रत्येमि' इस अनुभव के आधार पर प्रत्यक्ष तथा शब्द में पृथक् प्रामाण्य माना जा सकता है, तो ठीक उसी प्रकार से, व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान घटित अनुमिति सामग्री रहने पर भी वह्नि ज्ञान के पश्चात्, जहाँ पर 'धूमेन वह्निं कल्पयामि' यह अनुव्यवसाय होता है, वहाँ धूम का प्रामाण्य अर्थापत्ति द्वारा ही माना जायगा अथवा जहाँ निरुपाधिक व्यतिरेक सहचार से, अन्वय व्याप्ति ही गृहीत होती हो तो वहाँ व्यतिरेकी अनुमान में भी अन्वय व्याप्ति से ही अनुमिति हो सकती है; तो इस प्रकार से कारणता मान लेने पर, अन्वयी तथा व्यतिरेकी अनुमानों में परस्पर कोई भेद ही ज्ञापित नहीं हो सकेगा। उदयनाचार्य की भांति इसका समाधान देते हुए उन्होंने कहा है कि व्यतिरेक सहचारमात्र जन्य, अन्वय व्याप्ति-ज्ञान, जहाँ अनुमिति कारण रहता है, वह केवलव्यतिरेकी, अन्वय सहचार मात्र जन्य अन्वयव्याप्तिज्ञान से, जहाँ अनुमिति होती है, उसे केवलान्वयी तथा उभय सहचार जन्य अन्वयव्याप्ति से होनेवाले अनुमिति कारण को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। जहाँ व्यतिरेक सहचार से व्यतिरेकव्याप्ति ही गृहीत हो, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण होता है। व्यतिरेकी अनुमान को अपसिद्धांत नहीं माना जा सकता, क्योंकि शुक्तिरूप्य मिथ्यात्व निरूपण में व्यतिरेकी अनुमान का प्रमाण रूप से उपन्यास किया गया है। अतः केवल-व्यतिरेकी अनुमान को मानने में कोई बाधा नहीं है।[२२७]

व्यतिरेकी व्याप्तिज्ञान अनुमिति का कारण न होने से अन्वय व्यतिरेकी अनुमान भी परिभाषाकार को मान्य नहीं है,[२२८] किन्तु शिखामणिकार तथा मणिप्रभाकार के अनुसार अन्वयव्यतिरेकी अनुमान को भी माना गया है, क्योंकि उक्त रीति से व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान को भी अनुमिति कारण सिद्ध किया जा चुका है अथवा अन्वय-व्यतिरेक उभय सहचार से उत्पन्न होने वाली अन्वय व्याप्ति का ज्ञान, जहाँ अनुमिति-कारण होता है, उसे अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।[२२९] 'अर्थदीपिका' में भी शिखामणि-कार तथा मणिप्रभाकार का समर्थन करते हुए उक्त तीनों प्रकार के अनुमान माने गये हैं।[२३०] इस प्रकार नैयायिकों के समान ही इन्होंने भी तीन प्रकार के अनुमान माने हैं।

बौद्ध परम्परा, गङ्गेश काल तक प्रायः छिन्नविछिन्न हो चुकी थी, अतः इसमें इन परिष्कृत लक्षणों की चर्चा सम्भावित नहीं हो सकती। जैन परम्परा, जो आगम काल से आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है, उसमें भी इन प्रकारों का विवरण उपलब्ध नहीं होता। यहाँ तक कि नव्यन्याय पदावली में लिखी गयी "जैन तर्कभाषा" में भी इन प्रकारों का खण्डन-मण्डन दृष्टिगोचर नहीं होता।

केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के सभी विवेचनों का आकलन करने पर गङ्गेश मत ही अधिक युक्तिपूर्ण दिखाई देता है, क्योंकि इसमें दोनों व्याप्तियों के आधार पर इन भेदों का व्यवस्थापन किया गया है। उदयन के अनुसार विभिन्न सहचार भेद द्वारा केवल अन्वयव्याप्ति के आधार पर, इन भेदों की जो सर्जना की गयी है, वह एकाङ्गी जान पड़ती है, क्योंकि अनुमान में दोनों व्याप्तियां उपयोगी होती हैं। दीधितिकार के मत में, साध्य के अनुसार जो प्रकार रचना की गयी है, वह भी तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती, क्योंकि व्याप्तिस्थापन के आधार पर ही साध्य को केवलान्वयी आदि सिद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' इस व्याप्ति के आधार पर किया जाने वाला केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी अनुमान

खण्डन भी असंगत जान पड़ता है, क्योंकि व्याप्ति निरूपण काल में उन्होंने 'हेतु व्यापक साध्यसामानाधिकरण्यम्' इस सिद्धान्त व्याप्ति का ही समर्थन किया है। शिवादित्य ने त्रिविध लिङ्ग के आधार पर जो अनुमान भेद स्वीकार किये हैं, वह भी न्यायसंगत नहीं जान पड़ते, क्योंकि व्याप्ति के आधार पर ही लिङ्ग के उक्त त्रिविध भेद किये जाते हैं। मीमांसक नारायण भट्ट ने गङ्गेश का ही समर्थन किया है, जबकि वेदान्त परिभाषा तथा उनके टीकाकारों के विवेचन में न्याय मत-मतान्तरों को समाविष्ट कर लिया गया है। अतः व्याप्ति के आधार पर, इन भेदों की, जो कल्पना की गयी है, वह उपयुक्त जान पड़ती है।

इन सभी भेदों के अतिरिक्त जैन दार्शनिक वादिराज ने अनुमान के मुख्य और गौण दो भेद और भी प्रतिपादित किये हैं। इनमें से प्रथम तो अकलङ्क का स्वार्थानुमान ही है द्वितीय के तीन भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क। किन्तु इस भेद को उत्तरवर्ती किसी आचार्य ने नहीं अपनाया।[२३१]

उपर्युक्त सभी वर्गीकरणों के पर्यालोचन द्वारा यह विदित होता है कि दार्शनिकों ने अनुमान प्रकारों को चार वर्गों में विभाजित करने का प्रयास किया है—प्रथम वर्ग में, पूर्ववत् शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट का निरूपण लिङ्ग के अनुसार किया गया है; द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वीत-अवीत भेदों का आधार, विधि-निषेधमूलक कल्पना है, तृतीय वर्ग में स्वार्थ-परार्थ भेदों को प्रयोजन के आधार पर स्थापित किया गया है तथा चतुर्थ वर्ग में सन्निविष्ट केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी प्रकारों का आधार व्याप्तिज्ञान है। प्रथम वर्गीय अनुमान प्रकार, एकदेशीय व्यभिचार से ग्रस्त होने के कारण, समीचीन नहीं जान पड़ते। इस व्यभिचार का विवरण स्वयं न्यायसूत्रकार ने भी दिया है। संभवतः उस काल में सार्वत्रिक व्यभिचार को ही अनुमिति में बाधक माना जाता हो। द्वितीय वर्ग में नवीन परिधान द्वारा प्रथम वर्गीय अनुमानों का ही समर्थन किया गया है, अतः प्रथम की तरह यह भी समीचीन नहीं जान पड़ता। तृतीय वर्ग वस्तुतः अनुमान पद्धतियों की ओर ही संकेत करता है; क्योंकि कोई भी अनुमान जब स्वयं के संशय की निवृत्ति हेतु किया जाय, वह स्वार्थ तथा दूसरों की शंकाओं का परिहार करने के लिये किया जाय, वह स्वार्थ कहला सकता है। स्वार्थ में मानसिक तथा ज्ञानात्मक पद्धति द्वारा तथा परार्थ में शाब्दिक तथा उपदेशात्मक पद्धति द्वारा, अनुमान प्रक्रिया, सम्पन्न होती है अतः अनुमान प्रकार की अपेक्षा इन्हें, अनुमान प्रणाली कहना युक्तियुक्त जान पड़ता है। दोनों पद्धतियों में व्याप्ति और पक्षधर्मता आदि ज्ञानों का होना अत्यावश्यक है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रथम का, स्वयं तक ही सीमित होने के कारण, तत्काल ज्ञान हो जाता है, जबकि परबोधनार्थ द्वितीय में, अनुमान प्रक्रिया द्वारा, कुछ काल पश्चात् ज्ञान होता है, अन्तिम भेद व्याप्ति की सुदृढ़ पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण, अधिक न्यायसंगत जान पड़ता है। इसमें दोनों व्याप्तियों पर आधारित होने के कारण, गङ्गेश मत अधिक समीचीन जान पड़ता है। इसी प्रकार वादिराज द्वारा प्रतिपादित दो भेद—मुख्य और गौण भी निरर्थक हैं। इनमें से मुख्य तो स्वार्थानुमान ही है और द्वितीय गौण भेद के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क को किसी भी प्रकार अनुमान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इनमें से प्रत्यभिज्ञा तो प्रत्यक्ष का ही भेद है और स्मृति तथा तर्क अप्रमाण।

संदर्भ निर्देश

१. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्वच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च । न्या० सू० १।१।५ । २. न्या० भा० पृ० १४६-१४९ । ३. वै० सू० १।१।८ । ४. न्या० भा० पृ० १५२-७ । ५. न्या० वा० पृ० १४४-१४५ । ६. वही पृ० १४५-४६ । ७. न्या० वा० ता० टी० पृ० १४५-४६ । ८. वही पृ० १४५ । ९. च शब्दात् प्रत्यक्षागमाविरूद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पञ्चलक्षणमनुमानमिति । न्या० वा० पृ० १४६ । १०. न्या० वा० ता० टी० पृ० १४६ । ११. न्या० वा० पृ० १५१ । १२. वही० पृ० १५१ । १३. वही पृ० १४६-१४९ । १४. वही पृ० १५२-५३ । १५. न्या० मं० १ पृ० ११५-१९ । १६. पृ० १६-१७ । १७. न्या० वा० पृ० १४९-१५१ । १८. न्या० मं० १ पृ० ११९ । १९. तदेतद्भाष्यकारीयमुदाहरणमीदृशम् । रूपाद्रसानुमानं तु तस्माद्युक्तमुद्धृतम् ॥ वही प० ११९ । २०. सामान्यतोदृष्टं—कार्यकारणभिन्नलिङ्गकम्, यथा पृथिवीत्वेन द्रव्यत्वानुमानम् । न्या० सू० वृ० पृ० १४६ । २१. वही पृ० १४५-४६ । २२. तत्तु द्विविधम् । दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च । प्र० भा० पृ० ३०४ । २३. तत्र दृष्टं प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजात्यभेदेऽनुमानम् । यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरेपि सास्नामात्रदर्शनाद्गवि प्रतिपत्तिः । वही पृ० ३०५ । २४. कि० पृ० ३०५ । २५. प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजातिभेदे————फलानुमानमिति । प्र० भा० पृ० ३०५-७ । २६. न्या० कं० पृ० ५०८-१० । २७. व्यो० पृ० ५७४-७५ । २८. कि० पृ० ३०५-६ । २९. न्या० सा० पृ० २५ । ३०. शा० भा० पृ० ३६-३७ । ३१. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १३७-४० । ३२. वही श्लो० १४१ । ३३. वही श्लो० १४२-१४८ । ३४. शा० दी० पृ० १९४ । ३५. मा० मे० पृ० ६०-६१ । ३६. वही पृ० ६१-६२ । ३७. त० सि० र० पृ० ६० । ३८. बृ० पृ० ७५; ऋ० वि० पृ० ७५-७६; प्र० पं० प० २१४ । ३९. प्र० पं० पृ० २१४; ऋ० वि० पृ० ७५ । ४०. प्र० पं० पृ० २१४ । ४१. वही पृ० २१८-१९ । ४२. त्रिविधमनुमानमाख्यातम्—सां० का० का० ५ । ४३. मा० वृ० पृ०१२-१३ । ४४. गो० भा० पृ० ६-७ । ४५. वही पृ० ७ । ४६. सां० त० कौ० पृ० ३९ । ४७. वही पृ० ४०-४१ । ४८. सां० त० कौ० पृ० ३९; न्या० वा० ता० टी० पृ० १४५ । ४९. सां० त० कौ० पृ० ४३-४४ । ४९।१. त० श्लो० वा० १।१३।२०२ पृ० २०६; प्र० प० पृ० ७५ । ५०. सां० का० का० ६; मा० वृ० पृ० १३; गो० भा० पृ० ७; सां० सू० १।१०३; सां० प्र० भा० पृ० ५४; अ० पृ० ६४ । ५१. सां० त० कौ० पृ० ४४ । ५१।१. यु० दी० पृ० ४३ । ५१।२. न्या० वा० पृ० १६३-६७ ॥५१।३॥न्या० वा० ता० टी० पृ० १६५; न्या० कु० चं० पृ० ४६२।३।१४ पर । ५२. सामान्यतोदृष्टात् उभयसिद्धिः सां० सू० १।१०३ । ५३. सां० प्र० भा० पृ० ५४ । ५४. अ० वृ० पृ० ६३ । ५५. उ० हृ० पृ० १३-१४ । ५६. PDBT. Introduction p. 466-67 मूलमाध्यमिककारिका टीका १८ का० १।१२ पर । ५७. बौ० द० पृ० ११९; प्रो० टुची ने प्रथम भेद में 'लिङ्ग' पद की अपेक्षा 'निमित्त' का प्रयोग किया है । इनके विवेचन में उतने उदाहरण नहीं दिये गये हैं, जितने महा पण्डित राहुल सांकृत्यान ने दिये हैं । BLBD. p. 466-67 । ५८. अ० सू० १४७ । ५९. वही । ६०. वही । ६१. वही । ६२. वही ।. ६३. वही । ६४. वही । ६५. वही । ६६. वही । ६७. वही । ६८. वही । ६९. वही ।" ६९. वही; न्यायभाष्य पृ० १५८; च० सं० सूत्रस्थान

११।२१-२२। ७०. स० टी० पृ० ५५९; स्या० र० पृ० ५२७। ७१. च० सं० सूत्र-स्थान ११।२१-२२। ७२. चक्रपाणि टीका पृ० ७१। ७३. पूर्व—मी० सू० १।४।७, २।३।१९, २।४।६, ३।४।१०, ४।४।१४, ५।२।२१, ५।४।९, ६।५।५४, ७।१।११, ८।१।५, ८।२।१, १०।३।१३। शेष—वही १।२।२२, २।१।१२, २।३।२०, ३।४।२७, सामान्य—वही १।२।२३, १।२।३०, १।३।१। ७४. पूर्ववत्—वही १।१।१९, १।२।२१, २।३।१९, २।४।६, २।४।२३, ३।२।३२, ३।४।९, ३।४।१०, ३।५।२१, ४।४।१४, ७।१।११। शेषवत्—वही १।२।२२, १।२।२९, २।३।४, २।४।२४, ३।२।१९, ३।४।५, ४।२।१०, ६।१।४४ सामान्यतोदृष्ट—वही २।१।१६, ३।२।७। ७५. वही ९।२।५, ९।२।२८, ९।२।३६, ९।२।३८, १०।५।५४। ७६. विषाणी ककुद्मान प्रान्तेबालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम्। वै० सू० २।१।८ ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम्। वै० सू० ६।१।२। दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय। वै० सू० ६।२।१, १०।२।८। ७७. वही २।१।८, २।१।१०, २।१।२४, २।१।१६, ३।२।७। ७८. वही २।२।१८, १९, २२; ३।१।१९; ३।२।१०-११; ५।१।१५, ६।२।१, ८।९।२, १०।२।८, २।२।१५, १८, १९, ३।२।६, ५।२।२, ७; ६।२।१, ८।२।२,१०।२।८। ७९. मी० सू० ४।३।२१, ४।३।२४। ८०. The Two sets of explanations together with their illustrations are so raically different from eachother that the writer evidently seems to be groping in the dark for the real meaning of the sūtra. Po O. Co I. p. 253 ८१. Vātsyāyan, when he says that Pūrvavat and śeṣavat may mean, respectively, inference from cause and inference from effect, is doubtless in possession of the real meanings of the terms as used in the Sūtras. Ibid p. 262. ८२. पा० सू० ५।१।११४। ८३. वही ५।२।६४। ८४. वै० सू० २।२।१८-१९, २।१।२४, २।१।८। ८५. वही २।१।१०, १५, २०; ३।२।६, १०, ११। ८६. वही १।१।८। ८७. वही १।२।७, १०, ११; ७।१।२४-२६। ८८. वही २।२।२२-२४, १।१।११, २।२।३१-३२। ८९. वही २।२।२५-२७। ९०. न्या० सू० ३।२।३९। ९१. न्या० मं० १ पृ० १२०। ९२. मी० सू० ६।१।४४, ६।४।१, ६।४।३। ९३. वै० सू० ३।१।१०, ३।१।१५-१६, ३।२।१-२, ३।१।१९, ३।२।४-७, १०, ११। ९४. न्या० सू० १।१।१०। ९५. न्या० सू० २।१।३७; न्या० भा० पृ० ५१४। ९६. न्या० सु० २।१।३८; न्या० भा० पृ० ५१६। ९७. वै० सू० ९।२।१। ९८. न्या० व० टी० पृ० ५०। ९९. न्या० भा० पृ० ३७-३८। १००. न्या० मं० २ पृ० १२६। १०१. प्र० भा० पृ० ३०७। १०२. कि० पृ० ३०७। १०३. न्या० कं० पृ० ५१२। १०४. व्यो. पृ० ५७६; कि० पृ० ३०७। १०५. प्र० भा० पृ० ३३१। १०६. न्या० कं० पृ० ५५८-५९। १०७. कि० पृ० ३३१। १०८. व्यो० पृ० ५९४। १०९. न्या० कं० पृ० ५५९-६०। ११०. स० प० ३४, १५४। १११. उ० पृ० २१९। ११२. न्या० सा० पृ० २६। ११३. त० भा० पृ० ७९-८०। ११४. त० सं० पृ० ३७। ११५. त० पृ० १६। ११६. त० सं० पृ० ३९; नी० पृ० ९८। ११७. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ५३-५४। ११८. प्र० पं० पृ० २२०। ११९. शा० दी० पृ० १७८। १२०. मा० मे० पृ० ६३-६४। १२१. मा० वृ० पृ० १२-१३। १२२. वै० प० पृ० १८३। १२३. अ० दी पृ० ७०। १२४. पदार्थं तु न्याय साध्यम्। वै० प० पृ० १८३।

१२५. वही पृ० १८३। १२६. अ० दी० पृ० ७०। १२७. वै० प० पृ० १८४-८५; शि० म० पृ० १८४-८५; म० प्र० १८४-८५; अ० दी० पृ० ७०। १२८. अनुमानं द्विधा स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्; परार्थानुमान तु स्वदृष्टार्थ प्रकाशकम्। प्र० स० २।१। १२९. न्या० बि० २।१-२; न्या० बि० टी० पृ० ८५; तत्त्व० सं० का० १३६२ तत्त्व० सं० पं० पृ० ४०४; बौ० त० भा० पृ० १३। १३०. न्या० बि० २।३। १३१. न्या० बि० टी० पृ० ८६। १३२. न्या० बि० ३।१। १३३. न्या० बि० टी० पृ० ८६। १३४. तत्त्व० सं० का० १३६२-६३। १३५. तत्त्व० सं० पं० पृ० ४०४। १३६. बौ० त० भा० पृ० १२, १८। १३७. न्या० बि० ३।२। १३८. न्या० बि० टी० पृ० १५०-५१। १३९. न्या० बि० ३।३-५। १४०. न्या० बि० टी० पृ० १५२। १४१. न्या० बि० ३।६-७; न्या० बि० टी० पृ० १५२-५३। १४२. न्या० बि० ३।९। १४३. वही ३।२४। १४४. वही ३।१०-११, २४। १४५. वही ३।१३। १४६. वही ३।२१। १४७. वही ३।२५। १४८. वही ३।७। १४९. वही ३।२३। १५०. न्या० बि० टी० पृ० १५४-१५९, १६४-६६। १५१. बौ० त० भा० पृ० १९-२१। १५२. न्या० व० का० १०। १५३. वही का० ५। १५४. वही का० १३। १५५. वही १०। १५६. प० मु० सू० ३।४८-४९। १५७. वही ३।१०, ५०। १५८. वही ३।५१। १५९. प्र० न० त० ३।९। १६०. वही ३।१०। १६१. वही ३।२४। १६२. र० पृ० ९३, १००। १६३. प्र० मी० २।१।२ एवं वृत्ति पृ० ४९। १६४. प० मु० सू० ३।५२। १६५. प्र० र० मा० पृ० १७६-७७। १६६. प्र० मी० १।१।८। १६७. स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् वही १।२।९। १६८. वही २।१।१। १६९. वही २।१।३-६ एवं वृत्ति पृ० ४९-५०। १७०. वही वृत्ति पृ० ३९। १७१. प्र० र० मा० पृ० १७४। १७२. न्या० दी० पृ० ७१-७२। १७३. वही पृ० ७५। १७४. जै० त० भा० पृ० १२। १७४/१. प्र० प० पृ० ७६। १७५. ILA. p. 106-108। १७६. वै० सू० ९।२।१। १७७. वही ९।२।२ १७८. न्या० प्र० पृ० ७। १७९. मी० सू० १।२।१, ५।२।१२-१३, १।१।३४-३५, १।१।१८, १।४।८। १८०. प्र० मी० भा० टि० पृ० १३९। १८१. उद्धृत—प्र० मी० वृत्ति पृ० ३५। १८२. न्या० सू० १।१।२५। १८३. वही १।२।१। १८४. न्या० मं० २ पृ० १२६-२७। १८५. न्या० सू० गं० ५।२।११। १८६. वही ५।२।१२। १८७. वही ५।२।१३। १८८. न्या० भा० पृ० ५२, ४७। १८९. वही पृ० ४७। १९०. न्या० भा० पृ० ५३०-३१। १९१. उ० हृ० पृ० १०। १९२. HIL p. 264-65; BLBD p. 461। १९३. HIL p. 266; BLBD p. 461। १९४. त० शा० पृ० ३७-३८। १९५. HIL p. 269। १९६. त० शा० पृ० १२-१३। १९७. उ० पृ० २१९। १९८. त० चि० पृ० १३२६। १९९. दी० पृ० १३३१। २००. के० जा० पृ० २१। २०१. दी० पृ० १३३१। २०२. के० जा० पृ० ५८। २०३. दी पृ० १३४९। २०४. त० चि० पृ० १३५३। २०५. त० चि० पृ० १३५६-५९; के० जा० पृ० १७७-८०। २०६. त० चि० पृ० १३२६। २०७. दी० पृ० १३२६। २०८. के० जा० पृ० ७। २०९. वही पृ० ७। २१०. वही पृ० ७। २११. त० पृ० १६। २१२. न्या० सू० वृ० पृ० १४७। २१३. का० व० का० १४२; सि० मु० ३ पृ० १७७-७९। २१४. दी० पृ० १३२६। २१५. न्या० वा० पृ० १५१। २१६. सां० त० कौ० पृ० ३९-४१। २१७. दी० पृ० १३६१-६२। २१८. वही

पृ० १३६१। २१९. वही पृ० १३७२। २२०. वही पृ० १३००। २२१. स० प० ३४। २२२. मा० मे० पृ० ५३-५५। २२३. वही पृ० ५५। २२४. वे० प० पृ० १७७। २२५. शि० म० पृ० १७७; म० प्र० पृ० १७७-७९। २२६. वे० प० पृ० १७९। २२७. शि० म० पृ० १७९-१८२; म० प्र० पृ० १७९-१८३। २२८. वे० प० पृ० १८३। २२९. शि० म० पृ० १८२। म० प्र० पृ० १८२-८३। २३०. अ० दी० पृ० ६४-६७। २३१. प्रमाण निर्णय पृ० ३३-३६।

५ अनुमान के अवयव

परोक्ष अथवा अपरोक्ष किसी भी वस्तु का परीक्षण, स्वयं अपने लिये भी किया जा सकता है और स्वयं द्वारा निर्धारित तथ्यों के आधार पर, उसका प्रतिपादन, अन्य व्यक्तियों को भी कराया जा सकता है। अनुमान विवेचन के प्रसङ्ग में इस द्विविध प्रणाली का बड़ा ही महत्त्व है, इसी प्रयोजन को लेकर अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद किये जाते हैं। पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि स्वार्थानुमान स्वयं के लिये होता है, उसमें भाषाअभिव्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, किन्तु परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिये ही प्रयुक्त होता है, इसलिए उसमें वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। वाक्यों के अवलम्बन बिना, अपने अभिप्राय को, अन्य लोगों के लिये, व्यक्त करना असम्भव है। जिन वाक्यों द्वारा दूसरों को समझाया जाता है उन्हें पारिभाषिक शब्दावली में 'न्याय-अवयव' कहा जाता है। इसीलिये न्याय और उसके अवयवों का निरूपण अनुमान में अपेक्षित होता है।

अवयव–सामान्य लक्षण

न्याय अवयवों के विवेचन के पूर्व न्याय तथा अवयव का लक्षण जान लेना आवश्यक है। वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण द्वारा वस्तुओं की परीक्षा करना ही न्याय है।[1] अन्यत्र अवयवों में समस्त प्रमाणों का पर्यवसान करते हुए उन्होंने अवयव समूह को भी परम न्याय कहा है। जैसे, 'पर्वत अग्निमान् है' इस प्रतिज्ञा वाक्य में शब्द-विषयक प्रतीति होने के कारण, शब्द प्रमाण का; 'धूम होने से' इस हेतु वाक्य में उदाहरण में सादृश्य प्रतिपत्ति होने से, अनुमान प्रमाण का; 'जो-जो धूमवान् है वह-वह अग्निमान् है यथा पाकशाला' इस उदाहरण वाक्य में दृष्ट (प्रत्यक्ष) हेतु धूम के द्वारा अदृष्ट अग्नि के साहचर्य नियम को प्रदर्शित किया जाने से, प्रत्यक्ष प्रमाण का; 'यह पर्वत भी धूमवान् है' इस उपनय वाक्य में साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा उपसंहार होने से, उपमान प्रमाण का समावेश हो जाता है तथा निगमन वाक्य में उक्त चारों वाक्यों के समाविष्ट हो जाने के कारण पञ्च वाक्य रूप अवयव समुदाय को परम न्याय कहा जाता है।[2] अनुमिति के चरम कारण लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक शाब्द-ज्ञान के कारणी भूत वाक्यों को गङ्गेश मत में न्याय कहा गया है।[3] दीधितिकार ने प्रतिज्ञोत्तर, हेतूत्तर, उदाहरणोत्तर, उपनयोत्तर निगमनत्व रूप उचित आनुपूर्वी वाले प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समुदाय को न्याय माना है।[4] नैयायिकों की भांति अन्य दार्शनिकों ने भी अवयव समूह को ही न्याय कहा है।[5] अवयव की परिभाषा देते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि साधनीय अर्थ का निश्चय करने के लिये, शब्द समूह रूप कुछ वाक्यों का प्रयोग करना आवश्यक है और जिन प्रतिज्ञादि वाक्यों से साध्य की सिद्धि की जाती है, उनको समूह की अपेक्षा से अवयव कहा जाता है।[6] अन्यत्र और भी स्पष्ट रूप से लक्षण व्यक्त करते हुए उन्होंने 'तत्त्वार्थ-

साधक प्रतिज्ञा आदि साधक वाक्यों के भागरूप एक-देश को अवयव कहा है ।[७] भाष्यकार के 'तत्त्वार्थसाधक' पद की व्याख्या करते हुए जयन्त भट्ट ने, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द आदि प्रमाणों से प्रतिपाद्य विषय की प्रतिपति के लिये, जो वचन सामग्री प्रयुक्त की जाती है, उसके एक-देश को अवयव कहा है ।[८] अनुमिति के चरम कारण लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक शाब्द-ज्ञान (न्याय जन्य शाब्द ज्ञान) के कारण प्रतिज्ञा हेतु आदि वाक्यात्मक अवयव जन्य ज्ञान के कारणीभुत प्रत्येक प्रतिज्ञा आदि वाक्य को अवयव कहा जाता है ।[९] न्याय का अन्तः पाती होता हुआ जो प्रतिज्ञा आदि अवयवों से भिन्न हो, उनसे पृथक् अपनी सत्ता रखता हो, वही अवयव है ।[१०] विश्वनाथ ने भी इसी लक्षण का समर्थन किया है ।[११] केशव मिश्र ने अनुमान वाक्य के एकदेश को ही अवयव कहा है ।[१२] उनकी परिभाषा में, अनुमान के स्थान पर, परार्थानुमान का प्रयोग कर, माधव ने भी यही लक्षण दिया है ।[१३]

न्याय दर्शन में, अवयव और अवयवी में, समवाय सम्बन्ध माना जाता है जैसे, तन्तु पट के समवायि कारण है । प्रतिज्ञा आदि अवयव, अनुमान वाक्य के, इस प्रकार के अवयव नहीं हैं, जिसके कारण उनको अनुमान वाक्य का समवायि-कारण माना जाय, क्योंकि वाक्य शब्द रूप होता है और शब्द आकाश में समवेत रहने के कारण, आकाश ही उसका समवायि-कारण है । तब किस आधार पर इनको अवयव कहा जाय ? भाष्य-कार की व्याख्या करते हुए, वाचस्पति मिश्र ने, इसका समाधान देते हुए लिखा है कि जिस प्रकार अवयव अवयवी में रहते हैं, उसी प्रकार अनुमान वाक्य रूप समुदाय में, समुदायी के रूप में रहने के कारण, गौण रूप से प्रतिज्ञा आदि वाक्यों को, अवयव कहा जाता है । यद्यपि अवयव द्रव्य के ही होते हैं, शब्द के नहीं, फिर भी शब्द समूह की अपेक्षा से, शब्द के प्रत्येक खण्ड में, अवयव का व्यवहार किया जाता है । इसी प्रकार अनुमान सम्बन्धी वाक्य, समुदाय, का, एक-देश होने के कारण, प्रतिज्ञा आदि, उसके अवयव कहलाते हैं ।[१४] केशव मिश्र ने भी इसी बात की पुष्टि की है ।[१५]

अवयव विशिष्ट लक्षण—१ प्रतिज्ञा

न्याय मत

महर्षि गौतम के अनुसार, जिस वाक्य द्वारा, साध्य का उल्लेख किया जाय, उसे प्रतिज्ञा कहते हैं ।[१६] इस लक्षण का परिष्कार करते हुए भाष्यकार ने, 'साध्य' पद की व्याख्या—'साधनीयधर्मविशिष्ट धर्मी' करने के उपरान्त, उसके कथन को प्रतिज्ञा कहा है । जैसे, 'शब्द अनित्य है' यह वाक्य अनित्यत्वधर्मविशिष्ट शब्द रूप धर्मी का बोधक होने से प्रतिज्ञा कहलाता है ।[१७] उद्योतकर,[१८] जयन्त भट्ट[१९] आदि ने भी भाष्यकारीय लक्षण का समर्थन किया है । सूत्रकार के लक्षण की आलोचना करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि यदि केवल साध्य के निर्देश को ही प्रतिज्ञा कहा जाय तो 'साध्यम्'—'वह्निः' मात्र यह पद भी प्रतिज्ञा कहलाने लगेगा, अतः केवल साध्य-निर्देश को प्रतिज्ञा मानना समीचीन नहीं जान पड़ता । इस अतिव्याप्ति का वारण करते हुए, उन्होंने अपना सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है, 'जो उद्देश्यानुमिति के कारणीभूत लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक वाक्यार्थ ज्ञान का जनक होता हुआ, उसके (उद्देश्यानुमिति के) अन्यून तथा अनतिरिक्त विषयक शब्द बोध का कारणीभूत वाक्य हो, वह प्रतिज्ञा कहलाता है ।'[२०] भाष्यकार की तरह, सूत्र गत 'साध्य' पद को 'विधेयधर्मविशिष्टोधर्मी' बतलाते हुए

दीधितिकार ने, पक्षतावच्छेदक पर्वतत्वादि धर्म से विशिष्ट धर्मी में रहने वाले साध्यतावच्छेदक वह्नित्व आदि धर्म से विशिष्ट साध्य-सम्बन्ध के अवगाही ज्ञान के कारणीभूत न्याय अवयव को प्रतिज्ञा कहा है।[२१] जैसे 'पर्वतो अग्निमान्' यह प्रतिज्ञा वाक्य, पक्षतावच्छेदक पर्वतत्व विशिष्ट पर्वत में, साध्यतावच्छेदक अग्नित्वविशिष्ट अग्नि के सम्बन्ध का अवगाही ज्ञान—'अग्निमद् अभिन्नपर्वतः' का कारण भी है और न्याय अवयव भी। प्रतिज्ञा लक्षण की, विवेचना करते हुए, विश्वनाथ ने अपनी 'वृत्ति में लिखा है कि सिद्ध करने योग्य साध्य वाले पक्ष के प्रतिपादक वचन को प्रतिज्ञा कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जिस वाक्य से, साध्य तथा पक्ष का, परस्पर विशेषण-विशेष्य-भाव प्रतीत हो, वह प्रतिज्ञा है, किन्तु निगमन वाक्य में भी साध्य और पक्ष का परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव रहता है, इस कारण इस लक्षण की निगमन में अतिव्याप्ति होगी। इसके वारण के लिये उन्होंने साध्य पद के स्थान में 'साध्यतावच्छेदकतातिरिक्ताप्रकारकत्व' इस पद का निवेश किया है। अब प्रतिज्ञा-लक्षण को इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है, 'साध्यतावच्छेदकतातिरिक्ताप्रकारकत्व निर्देशः' अर्थात् जिसमें साध्यतावच्छेदक रूप विशेषण से भिन्न विशेषण का ज्ञान न पाया जाय, ऐसे परस्पर विशेषण-विशेष्य रूप से पक्ष तथा साध्य के बोधक वाक्य का नाम प्रतिज्ञा है। ऐसा लक्षण मानने से, 'तस्मात्तथा'—'धूमवत्त्वात् अग्निमान् पर्वतः'—'धूम होने से पर्वत अग्नि वाला है' इस निगमन वाक्य में साध्य और पक्ष का विशेषण-विशेष्य भाव होने पर भी, उससे भिन्न हेतु रूप विशेषण के पाये जाने से, अतिव्याप्ति नहीं होगी। जैसे, 'पर्वतो अग्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य में अग्नित्व रूप साध्यतावच्छेदक धर्म वाला अग्नि रूप साध्य विशेषण तथा पर्वत रूप पक्ष विशेष्य है। यहाँ प्रतिज्ञा वाक्य में उक्त विशेषण से अतिरिक्त और कोई दूसरा विशेषण भी नहीं है। किन्तु निगमन वाक्य के साध्य अंश में, साध्यतावच्छेदक 'अग्नित्व' से अतिरिक्त 'धूमज्ञान-ज्ञाप्यत्व' भी विशेषण रूप से सन्निविष्ट रहता है, इस कारण 'धूमज्ञाप्य अग्निमान् पर्वतः' इस निगमन वाक्य में, लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।[२२] भासर्वज्ञ[२३] केशव[२४] मिश्र तथा अन्नम भट्ट[२५] आदि ने, साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी रूप पक्ष-प्रतिपादक वाक्य को ही प्रतिज्ञा कहा है।

हेतु के लक्षण और प्रकारों की व्याख्या द्वितीय अध्याय में विस्तारपूर्वक की जा चुकी है।

३—उदाहरण

साधर्म्य-वैधर्म्य भेद से उदाहरण दो प्रकार के होते हैं।

साधर्म्य उदाहरण

न्यायसूत्र के अनुसार, साध्य के समान धर्म वाला होने के नाते, दृष्टान्त वचन, साधर्म्य उदाहरण कहलाता है।[२६] इस लक्षण को समझने के लिये दो बातों का जानना परमावश्यक है—साध्य पद से उन्हें क्या अभिप्रेत है और दृष्टान्त किसे कहा जाता है? पूर्व में, साध्य पद की व्याख्या करते हुए, भाष्यकार ने, उसके दो अर्थ सूचित किये हैं—'धर्मिविशिष्ट धर्म' और 'धर्मविशिष्ट धर्मी'। प्रकृत में द्वितीय अर्थ ही अभिप्रेत है। 'दृष्टोऽन्तो निश्चयो येन सः दृष्टान्तः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिसको देख लेने के पश्चात् किसी बात का निश्चय हो जाता है, उसे दृष्टान्त कहा जाता है। न्याय सूत्रकार के शब्दों में 'जिस पदार्थ में लौकिक और परीक्षक पुरुष की समान बुद्धि पायी जाय, वह दृष्टान्त

कहलाता है ।[२७] लौकिक और परीक्षक के स्थान में, वादी और प्रतिवादी का ग्रहण करके जयन्त ने, जिस पदार्थ में वादी-प्रतिवादी दोनों को साध्य-हेतु तथा साध्याभाव-हेत्वभाव का निश्चय हो जाय, उसे अथवा वादी-प्रतिवादी की समान बुद्धि के विषयभूत पदार्थ को दृष्टान्त कहा है ।[२८] दृष्टान्त की व्याख्या का परिशीलन करने के पश्चात् यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि भाष्यकार ने साध्य पद से धर्म की अपेक्षा धर्मी पद का ही ग्रहण क्यों किया ? समाधान यह है कि सूत्र में प्रयुक्त 'तद्धर्मभावी' पद में तत् + धर्म + भावी शब्दों का प्रयोग किया गया है । यहाँ तत् और धर्म एकार्थवाची नहीं हो सकते, इस कारण वह धर्मी, जिसमें यह धर्म रहता हो, यही अर्थ लगाया जा सकता है । अतः धर्मी का ग्रहण उचित एवं न्याय संगत है । साध्य-साधर्म्य का अर्थ है साध्य के समान साधन का अधिकरण होना । साध्य के साथ, समानधर्मता से, जिस अधिकरण में, साध्य का धर्म अर्थात् साधन रहता हो, उसे साधर्म्य दृष्टान्त तथा उसके कथन को साधर्म्य उदाहरण कहा जाता है । जिस प्रकार साध्य-साधनभाव को अव्यभिचरित रूप से ग्रहण करने के लिये उनका एक धर्मी में होना आवश्यक है, उसी प्रकार साध्य-साधन के नियत सम्बन्ध का प्रतिपादन करने के लिये उनका दृष्टान्त वृत्ति होना भी अनिवार्य है । जैसे 'जो-जो उत्पत्तिधर्मक होता है वह-वह अनित्य होता है यथा स्थाली' इस रूप से स्थाली में साध्य-साधन के नियत सम्बन्ध को देखकर, अनुमाता हेतु 'उत्पत्ति-धर्मकत्व' से धर्मी 'शब्द' में साध्य 'अनित्यत्व' का अनुमान कर लेता है। इस अनुमान में साध्य निश्चय के लिये प्रयुक्त हेतु 'उत्पत्तिधर्मकत्व' का अधिकरण जैसे, शब्द है, उसी प्रकार उसका अधिकरण स्थाली भी है । शब्द के इसी सादृश्य के कारण स्थाली आदि साधर्म्य दृष्टान्त कहलाते हैं ।[२९]

वैधर्म्य उदाहरण

साधर्म्य दृष्टान्त के विरुद्ध धर्म से युक्त होने के कारण दृष्टान्त वचन वैधर्म्य उदाहरण कहलाता है ।[३०] इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि पक्ष के समान हेतु का अधिकरण न होना ही 'साध्य-वैधर्म्य' है । तदनुसार साध्य के साथ, विरुद्धधर्मता से, (वैसादृश्य द्वारा) जिस अधिकरण में, साध्य का धर्म अर्थात् साधन न पाया जाय, उसे वैधर्म्य दृष्टान्त तथा उसके कथन को वैधर्म्य उदाहरण कहा जाता है । जैसे, 'शब्द अनित्य है', उत्पत्तिधर्मक होने से, जो भी नित्य होता है वह उत्पत्तिधर्मक नहीं होता, जैसे, आत्मा आदि ।' यहाँ दृष्टान्त आत्मा आदि में, उत्पत्तिधर्म के अभाव में, नित्यत्व को देखकर शब्द में भी विपरीत धर्म अनित्यत्व का अनुमान किया जाता है, क्योंकि शब्द में उत्पत्ति धर्म का अभाव नहीं, किन्तु भाव ही पाया जाता है ? इस कारण उसमें अनित्यता सिद्ध की जा सकती है इसलिये 'अनित्यत्व' धर्म के विपरीत 'नित्यत्व' धर्म से विशिष्ट होने के कारण आत्मा आदि को वैधर्म्य दृष्टान्त कहा जाता है ।[३१]

अन्त में दोनों दृष्टान्तों को समझाते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि साधर्म्य दृष्टान्त में, जिन धर्मों (साध्य-साधन-धर्म) का साध्य-साधनभाव नियत रूप से देखा गया हो, उसके समान ही पक्ष में साध्य-साधनभाव द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है, किन्तु वैधर्म्य-दृष्टान्त-वृत्ति दोनों धर्मों में ऐसा सम्बन्ध नहीं पाया जाता । उसमें एक के अभाव से, दूसरे का अभाव सिद्ध किया जाता है और इस प्रकार के अव्यभिचरित सम्बन्ध को देखकर पक्ष में भी एक के अभाव से दूसरे के अभाव का अनुमान किया जा सकता

है।[३२] सारांश यह कि साध्य-साधनभाव रूप अन्वय व्याप्ति का प्रतिपादक होने से दृष्टान्त, साधर्म्य को अन्वय दृष्टान्त तथा साध्याभाव-साधनाभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति का प्रतिपादक होने के कारण वह वैधर्म्य या व्यतिरेक दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त के बोधक वाक्य को उदाहरण कहा जाता है। उद्योतकर,[३३] वाचस्पति मिश्र,[३४] जयन्त[३५] आदि ने भी इसी प्रकार व्याख्या की है।

भासर्वज्ञ ने दृष्टान्त के सम्यक् अभिधान को उदाहरण कहा है।[३६] 'सम्यक्' पद से यहाँ नियत अविनाभाव ही अभिप्रेत है। अतः नियत अविनाभाव से युक्त दृष्टान्त कथन ही को उदाहरण कहा जा सकता है। तत्पश्चात् इसके द्विविध भेदों को सूचित करते हुए उन्होंने लिखा है कि अन्वय रूप से दष्टान्त का अभिधान साधर्म्य एवं व्यतिरेक रूप से, दृष्टान्त कथन वैधर्म्य उदाहरण है।[३७]

"जो अनुमिति के कारणीभूत लिङ्ग परामर्श से उत्पन्न होने वाले शाब्दबोधात्मक ज्ञान के जनक, व्याप्यत्व रूप से स्वीकृत धूम आदि निष्ठ नियतत्व अभिमत सम्बन्ध (व्याप्ति सम्बन्ध) के बोध का जनक, वाक्य रूप शब्द हो, उसे उदाहरण कहा जाता है।"[३८] इस सामान्य लक्षण को व्यक्त करने के उपरान्त गङ्गेश ने दो विशेष लक्षण भी दिये हैं—साध्य-साधन-भाव सम्बन्ध (अन्वय व्याप्ति सम्बन्ध) का बोधक अन्वय दृष्टान्त और साध्याभाव-साधनाभाव सम्बन्ध (व्यतिरेक व्याप्ति सम्बन्ध) का बोधक व्यतिरेक दृष्टान्त तथा उनके कथन को अन्वय और व्यतिरेक उदाहरण कहा जाता है।[३९] उपनय में लक्षण की अतिव्याप्ति वारण करने के लिये, उसमें 'अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति विषयत्व' विशेषण दिया गया है।[४०] विश्वनाथ ने अपनी वृत्ति में गङ्गेश का ही समर्थन किया है। व्याप्ति युक्त दृष्टान्त कथन[४१] या व्याप्ति का प्रतिपादन करने वाला वाक्य भी उदाहरण है।[४२] इन दोनों उदाहरणों में से किसी एक का ही प्रयोग करना चाहिए।[४३]

तर्कभाषाकार ने, दृष्टान्त के द्विविध भेद[४४]—साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्त सूचित करते हुए, व्याप्तियुक्त दृष्टान्त कथन को उदाहरण कहा है।[४५] 'तर्क-संग्रह-दीपिका' में भी व्याप्ति का प्रपिपादन करने वाले वाक्य को ही उदाहरण कहा गया है।[४६] संक्षिप्त ग्रन्थ होने के नाते 'तर्क संग्रह' तथा 'तर्कसंग्रहदीपिका' में उदाहरण के द्विविध भेदों का विवेचन नहीं किया गया है।

इस प्रसङ्ग में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि 'यदवच्छेदेन साध्य-मनुमीयते तदवच्छेदेन साध्यनिश्चयः प्रतिवन्धको न ततो न्यूनावच्छेदेन' अर्थात् 'जिस देश में साध्य का अनुमान किया जाता है, उसमें (अथवा उससे अधिक देश में) होने वाला साध्य निश्चय अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है, न्यून देश में होने वाला नहीं', इस नियम के अनुसार दृष्टान्त पक्ष से भिन्न ही हो, यह आवश्यक नहीं, प्रत्युत पक्ष के किसी भी एक-देश में, व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर, वह भी दृष्टान्त बनाया जा सकता है। जैसे, किसी एक पर्वत में अग्नि का अनुमान किया जाय, तो उस पर्वत में होने वाला, अथवा सभी पर्वतों में होने वाला अग्नि-निश्चय, अग्नि-अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है। यदि पर्वत मात्र में अग्नि का अनुमान किया जाय, तो पर्वत मात्र वृत्ति अग्नि-निश्चय, अग्नि-अनुमिति का प्रतिबन्धक होगा। किन्तु पर्वत मात्र में, अनुमान के समय, किसी एक पर्वत विषयक अग्नि-निश्चय, सब पर्वतों में अग्नि की अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, क्योंकि

वह सब पर्वतों में होने वाली अग्नि-अनुमिति की अपेक्षा न्यून है। इसी प्रकार 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् घटवत्' इत्यादि अनुमानों में भी घट रूप पक्ष के एकदेश को दृष्टान्त बनाने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि पृथिवी के समान घट में भी साध्य-साधन की नियत व्याप्ति पायी जाती है।

दृष्टान्त के इन द्विविध भेदों को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, किन्तु प्रभाकर मत में एक ही साधर्म्य दृष्टान्त आवश्यक माना गया है। वैधर्म्य दृष्टान्त की आलोचना करते हुए शालिकनाथ ने कहा है कि, साध्य सम्बन्ध के बल से ही हेतु की गमकता सिद्ध की जा सकती है और जब साधर्म्य दृष्टान्त से ही यह कार्य सम्पन्न हो जाता है, तब वैधर्म्य दष्टान्त की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि साधर्म्य दृष्टान्त से केवल साध्य-अधिकरण में हेतु वृत्तित्व ही ज्ञात होता है, किन्तु साध्याभाव के अधिकरण में हेतु निवृत्तित्व निश्चित रूप से विदित नहीं होता, और इस निवृत्ति के बिना सम्बन्ध नियम का अवधारण नहीं हो सकता, अतः साध्याभाव में हेत्वभाव को प्रदर्शित करने के लिये वैधर्म्य दृष्टान्त भी आवश्यक है। परन्तु यह मत न्याय-संगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि साधर्म्य दृष्टान्त के द्वारा, साध्य के अधिकरण में, हेतु वृत्तित्व मात्र का ही ज्ञान नहीं होता, किन्तु नियत साध्य-साधन सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है। इसलिये जब सुगम मार्ग द्वारा ही अर्थ अवगत हो जाता है, तब वैधर्म्य दृष्टान्त रूप वक्र मार्ग क्यों अपनाया जाय।[४७] ? यद्यपि यह सही है कि अन्वय के बिना व्यतिरेक की सिद्धि नहीं की जा सकती, किन्तु तथ्यों को निश्चित रूप से जानने के लिए तथा विपरीत भ्रांतियों के प्रतिषेध के लिये व्यतिरेक भी आवश्यक है। इसी दृष्टि से, वैधर्म्य दृष्टान्त की सार्थकता सिद्ध करते हुए, कुमारिल ने कहा है कि जहाँ सहभावित्व की दृष्टि से व्याप्ति का प्रतिपादन न किया जाय या प्रतिवादी जहाँ साधर्म्य दृष्टान्त द्वारा व्याप्ति प्रतिपादन की अपेक्षा न करे अथवा वक्ता शुद्ध सहभावित्व का उपपादन न करे, तब व्यतिरेक की भी आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा ही इष्ट की सिद्धि की जाती है। अतः परिस्थिति के अनुसार दोनों दृष्टान्तों का प्रयोग आवश्यक तथा उपादेय है।[४८]

४ उपनय

उदाहरण सापेक्ष होने के नाते उपनय भी उदाहरण की भांति साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है—साधर्म्य उपनय और वैधर्म्य उपनय। एक ही सूत्र में उपनय के दो प्रकारों का वर्णन करते हुए महर्षि गौतम ने उनके लक्षणों को इस प्रकार व्यक्त किया है—"उदाहरण की अपेक्षा से 'तथा इति'—(उसी प्रकार यह भी वैसा है) या 'न तथा' (उसी प्रकार यह भी वैसा नहीं है) इस प्रकार से साध्य का उपसंहार (पुनर्कथन) उपनय है।"[४९] यहाँ भी साध्य पद से पक्ष ही अभिप्रेत है। इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि उपसंहार उदाहरणापेक्ष है अर्थात् उदाहरण के अनुसार ही उपसंहार होना चाहिए। दृष्टान्त में साध्य-साधन की व्याप्ति जिस प्रकार से उपलब्ध होती है, उसी प्रकार की व्याप्ति का उपसंहार उपनय वाक्य से किया जाता है। जैसे, पक्ष साधर्म्य द्वारा कथन किये हुए स्थाली आदि दृष्टान्त में 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु की 'अनित्यत्व' साध्य के साथ अन्वय व्याप्ति पायी जाती है उसी प्रकार, ऐसी व्याप्ति से युक्त उदाहरण की अपेक्षा रखते हुए 'तथा शब्द इति' अर्थात् 'स्थाली की तरह उत्पत्तिधर्मक

होने से शब्द भी अनित्य है' इस प्रकार शब्द रूप पक्ष में 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु का साधर्म्य या अन्वय रूप से ही उपसंहार होना चाहिये। अतः पक्ष में हेतु के साधर्म्य रूप से उपसंहार होने के कारण यह साधर्म्य उपनय कहलाता है[५०] तथा पक्ष वैधर्म्य से कथन किये गये आत्मा आदि दृष्टान्तों में साध्याभाव-साधनाभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति पायी जाने के कारण 'न च तथा शब्द इति—'आत्मा आदि के समान शब्द भी उत्पत्ति धर्म के अभाव वाला नहीं है' इस प्रकार पक्ष शब्द में अनुत्पत्ति धर्म-प्रतिषेध के द्वारा हेतु उत्पत्तिधर्मकत्व का वैधर्म्य या व्यतिरेक रूप से उपसंहार होना चाहिये। अतः पक्ष में हेतु के वैधर्म्य रूप से उपसंहार होने के नाते इसे वैधर्म्य उपनय कहा जाता है।[५१] इस प्रकार उदाहरण की अपेक्षा से जहाँ-जहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त होता है वहाँ-वहाँ उसकी 'न तथा' इस प्रकार का वैधर्म्य उपनय तथा जहाँ-जहाँ साधर्म्य दृष्टान्त होता है, वहाँ-वहाँ 'तथा इति' इस प्रकार से उपसंहार होकर साधर्म्य उपनय का प्रयोग होता है। भाष्यकार द्वारा विवेचित इन लक्षणों का उद्योतकर,[५२] वाचस्पति मिश्र,[५३] जयन्त भट्ट,[५४] भासर्वज्ञ,[५५] केशव मिश्र[५६] आदि सभी नैयायिकों ने समर्थन किया है। गङ्गेश के अनुसार, 'अनुमिति के जनक तृतीय लिङ्ग परामर्श के कारणीभूत अवयव को ही सामान्यतः उपनय कहा गया है।[५७] इस सामान्य लक्षण के अतिरिक्त उन्होंने, 'साध्यव्याप्य हेतुविशिष्ट पक्ष के बोध के कारणीभूत अवयव,' तथा 'साध्याभाव--व्यापकीभूत--अभाव के प्रतियोगी हेतुविशिष्ट पक्ष के बोध के कारणीभूत अवयव', को भी उपनय-विशेष लक्षणों के माध्यम से परिभाषित किया है।[५८] इन द्विविध विशेष लक्षणों से भी उक्त साधर्म्य या अन्वय तथा वैधर्म्य या व्यतिरेक उपनय भेदों की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार गङ्गेश ने भी सामान्य और विशेष लक्षणों द्वारा प्राचीन नैयायिकों के उक्त विवेचन की ही पुष्टि की है।

उपनय में लिङ्ग परामर्श की प्रयोजकता सिद्ध करते हुए उन्होंने अन्यत्र लिखा है कि उपनय वाक्य की सार्थकता व्याप्ति अंश में नहीं है, किन्तु पक्षधर्मता अंश में ही है। व्याप्ति अंश में इसकी उपयोगिता स्वीकार कर लेने पर न्याय जन्य बोध में उपनय और उदाहरण दोनों अवयवों द्वारा दो प्रकार से व्याप्ति का भान होने लगेगा। अतः इस पुनरुक्ति दोष के निवारण के लिये उपनय में केवल पक्षधर्मता बोध मानना ही तर्क संगत है।[५९] पुनः शंका हो सकती है कि जब उपनय वाक्य की सार्थकता पक्षधर्मता अंश के बोध में ही है, तो उसे व्याप्ति से घटित क्यों माना जाय? इसका समाधान देते हुए गदाधर भट्टाचार्य ने कहा है कि 'व्याप्यः पक्षे वर्तते न वा''—'व्याप्य पक्ष में रहता है या नहीं' इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये ही व्याप्य घटित उपनय वाक्य का प्रयोग किया जाता है। दूसरी बात यह है कि उदाहरण घटित व्याप्तिज्ञान और उपनय घटित पक्षधर्मता ज्ञान दोनों का विश्रृंखल रूप से भान नहीं होता, अपितु 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान' की विशिष्ट रूप से ही अनुभूति होती है।[६०] इसीलिये अन्नम भट्ट ने भी पक्षधर्मता ज्ञान को प्रतिपादित करने वाले वाक्य को उपनय कहा है।[६१]

५ निगमन

'हेतु के कथन द्वारा प्रतिज्ञा के उपसंसार वाक्य' को महर्षि गौतम के अनुसार निगमन कहा जाता है।[६२] हेतु, उदाहरण और उपनय की भांति महर्षि ने निगमन के द्विविध प्रकारों को सूचित नहीं किया है, किन्तु भाष्यकार ने, साधर्म्य निगमन और वैधर्म्य निगमन ये दो भेद स्पष्टतः अंकित किये हैं।[६३] सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने

लिखा है कि उदाहरण के अनुसार साधर्म्य अथवा वैधर्म्य हेतु के उपसंहार के आधार पर, 'इसलिये उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है' इत्यादि वाक्य से जो प्रतिज्ञा वाक्य का पुनः कथन किया जाता है, उसे निगमन कहते हैं। साधर्म्य रूप से निगमन को 'तस्मात् तथा' और वैधर्म्य रूप से 'तस्मात् न तथा' आदि शब्दों में व्यक्त किया जाता है। जैसे, 'तस्मात्'—'हेतुविशिष्ट होने से'—'उत्पत्तिधर्मक होने से' पक्ष शब्द, 'तथा'—साध्य-वाला—अनित्य है एवं 'तस्मात्'—'हेत्वभाव के अभाव से विशिष्ट होने के कारण—'अनुत्पत्तिधर्मक न होने के कारण पक्ष शब्द 'न तथा'—'साध्याभाव वाला'—'नित्य नहीं है।' 'निगम्यन्ते अनेन इति निगमनम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो वाक्य, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय इन चारों अवयवों को एकत्र सूत्रबद्ध करने की क्षमता रखता हो, उसे निगमन कहा जाता है।[६४] उद्योतकर,[६५] वाचस्पति मिश्र,[६६] जयन्त भट्ट,[६७] भासर्वज्ञ,[६८] केशव मिश्र[६९] प्रभृति नैयायिकों ने भाष्यकार का ही समर्थन किया है। आचार्य गङ्गेश के अनुसार, अनुमिति के कारणीभूत लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक प्रतिज्ञा आदि वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्ध से होने वाले शाब्द ज्ञान के कारण व्याप्ति-पक्षधर्मता ज्ञान से प्रयुक्त पक्ष में होने वाले साध्य निश्चय के कारणीभूत वाक्य को निगमन कहा जाता है।[७०] यहाँ यह आशंका हो सकती है कि व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञानों का निश्चय जब प्रतिज्ञा से लेकर उपनय पर्यन्त चार अवयवों से ही उपपन्न हो जाता है, तब निगमन को पृथक् अवयव मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसका समाधान देते हुए उन्होंने लिखा है कि जब तक हेतु में अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व का अवधारण नहीं हो जाता, तब तक प्रतिज्ञा आदि चारों वाक्य सम्मिलित रूप से अथवा पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रूप से निगमन निगमित करने में असमर्थ होने के कारण निरर्थक हो जाते हैं। अतः व्याप्ति-पक्षधर्मता ज्ञान होने पर भी, बाध एवं सत्प्रतिपक्ष बुद्धि का निरास करने के लिये, निगमन वाक्य को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि हेतु में अबाधितत्त्व और असत्प्रतिपक्षत्व का निश्चय निगमन वाक्य से ही होता है।[७१] विश्वनाथ[७२] और अन्नम भट्ट के लक्षणों में भी मणिकार का समर्थन किया गया है।[७३]

अनुमान प्रक्रिया में साध्य निष्पत्ति अवयवों के विशकलित प्रयोग से नहीं होती। उनकी सुसम्बद्ध सूत्रबद्धता ही उनकी प्रयोजकता की परिचायक है। इसीलिए प्रत्येक अवयव का अपना-अपना प्रयोजन और अपना-अपना कार्य है। जैसे, पक्ष के साथ साध्य सम्बन्ध का प्रतिपादन करना, प्रतिज्ञा का; उदाहरण के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा साध्य का साधक होना, हेतु का; साध्य-साधनभाव का एकत्र प्रदर्शन, उदाहरण का; पक्ष में हेतु का साध्य के साथ समान अधिकरण में होना, उपनय का तथा उदाहरण में साध्य-साधनभाव अर्थात् व्याप्ति के निश्चय होने पर, विपरीत प्रसङ्ग प्रतिषेध (अबाधितत्व) अर्थात् प्रमाणान्तर से बाधित न होना निगमन का प्रयोजन है।[७४] इसी प्रकार प्रत्येक का पृथक्-पृथक् कार्य है। अतः किसी भी अवयव के अभाव पर अनुमान प्रक्रिया सम्पूर्ण नहीं होने पाती। जैसे, प्रतिज्ञा के अभाव में निराश्रय होने के कारण हेतु आदि अन्य अवयवों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हेतु के न रहने पर साधनभाव का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता और उसके अभाव में किसके सम्बन्ध से उदाहरण और साध्य का उपसंहार होगा, तथा किस आधार पर प्रतिज्ञा के पुनर्कथन रूप निगमन को स्थापित किया जायगा? उदाहरण के अभाव में किसके साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से साध्य-

साधनभाव का प्रदर्शन किया जायगा और तब किस प्रकार साधर्म्यवशात् उपसंहार की प्रवृत्ति होगी ? उपनय के बिना पक्ष में अनुपसंहृत हेतु साध्य का अनुमापक कैसे होगा ? निगमन विरह में प्रतिज्ञा आदि अवयवों की पारस्परिक सम्बद्धता किस प्रकार अभिव्यक्त होगी, इसके बिना एक विषय में उनकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? तब 'तथा इति' के रूप में उनका प्रतिपादन किस प्रकार होगा ?[७५] अवयवों के प्रयोजन और कार्य की सार्थकता सिद्ध करते हुए उद्योतकर[७६] और वाचस्पति मिश्र[७७] ने भाष्यकार का ही समर्थन किया है। न्याय जन्य शाब्द बोध में परामर्श की प्रयोजकता सिद्ध करने के लिये गङ्गेश ने भी यही बात प्रकट की है कि प्रतिज्ञा आदि पाँचों वाक्य परस्पर साकाङ्क्ष होकर एकवाक्यतापन्न हो जाते हैं और ऐसा होकर ये पाँचों वाक्य अपने-अपने अर्थ विषयक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं।[७८] अन्नम भट्ट ने भी भाष्यकार की तरह प्रत्येक अवयव की उपादेयता सिद्ध की है।[७९]

वैशेषिक मत

'वैशेषिक सूत्र' में अवयव विवेचन उपलब्ध नहीं होता परन्तु 'प्रशस्तपादभाष्य' में अवयवों की चर्चा विशद रूप से की गयी है। उन्होंने न्याय सम्मत पञ्चावयव लक्षणों को विभिन्न नाम से थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ सूचित किया है जैसे, उन्होंने न्याय भाष्य के प्रतिज्ञा लक्षण में 'अनुमेयउद्देशोऽविरोधी' तथा 'अपदेशविषयमापादयितुम्' ये दो विशेषण और लगातार प्रतिज्ञा लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—अनुमेय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला वाक्य, जिसका किसी प्रमाण के साथ विरोध न हो, प्रतिज्ञा कहलाता है। आगे इसको और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस धर्म (साध्य') का प्रतिपादन पक्ष में इष्ट हो, उस साध्य धर्म से युक्त धर्मी को ही अनुमेय कहा जाता है। ऐसे धर्मी में हेतु के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने के लिये प्रयुक्त साध्ययुक्त पक्ष बोधक वाक्य को ही प्रतिज्ञा कहा जाता है।[८०] भाष्य में प्रतिज्ञा के अतिरिक्त अन्य चार अवयव, विभिन्न नामों से—अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान तथा प्रत्याम्नाय सूचित किये गये हैं।[८१] इनमें से अपदेश का वर्णन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। शेष तीनों लक्षण और प्रकारों के निरूपण में न्यायभाष्यीय लक्षणों का ही समर्थन किया गया है।[८२] 'किरणावली',[८३] जो प्रतिज्ञा लक्षण तक ही प्राप्त होती है तथा व्योमवती[८४] एवं न्याय कन्दली[८५] में प्रशस्तपाद के अनुसार ही अवयवों के लक्षण और प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं, किन्तु, शंकर मिश्र ने प्रथमतः न्यायोक्त अवयवों का उपाख्यान कर नव्य-न्यायसम्मत लक्षण ही सूचित किये हैं[८६] तदुपरान्त उन्होंने वैशेषिक सम्मत पञ्चावयवों का उल्लेख भी किया है।[८७]

मीमांसा मत

'मीमांसा-सूत्र' और 'शाबरभाष्य' एवं कुमारिल तथा प्रभाकर के ग्रन्थों में अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेद उपलब्ध न होने के कारण अवयव लक्षणों का स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया है। कुमारिल ने साध्य-साधन तथा द्विविध दृष्टान्तों की विशद रूप से व्याख्या की है।[८८] इससे ऐसा जान पड़ता है कि अनुमान में उन्हें उक्त तीन अवयव ही अभिप्रेत थे। अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेद सूचित करने पर भी पार्थसारथि मिश्र[८९] ने वार्तिककार की पद्धति का ही अनुगमन किया है, अवयवों के पृथक्-पृथक् लक्षणों का विन्यास

नहीं। शालिकनाथ[९०] और नारायण भट्ट[९१] ने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, तीनों के लक्षणों का स्पष्ट विवेचन किया है। इनके सभी लक्षणों में नैयायिकों का ही समर्थन किया गया है।

सांख्य-योग मत

सांख्य-योग परम्परा में, 'सांख्यकारिका', 'गौडपादभाष्य' 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' तथा 'योगसूत्र', 'योगभाष्य', 'तत्त्ववैशारदी' एवं 'भोजवृत्ति' में अवयव लक्षणों की चर्चा नहीं की गयी है। आचार्य माठर ने तीन और पाँच अवयवों का उपन्यास किया है। अनुमान के तीन साधन वाक्य पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ही अवयव कहलाते हैं। इनमें से पक्ष का बोधक पद प्रतिज्ञा कहा जाता है, जैसे, 'यह प्रदेश अग्निमान् है।' जो पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों से सम्पन्न हो, वह हेतु कहलाता है, जैसे, 'धूम होने से।' साधर्म्य-वैधर्म्य भेद से दृष्टान्त दो प्रकार का होता है, जैसे, महानस। अन्य मत प्रदर्शित करते हुए उन्होंने प्रशस्तपाद सम्मत पाँच अवयवों—प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान एवं प्रत्याम्नाय का उल्लेख भर किया है।[९२] सूत्र की व्याख्या करते हुए विज्ञान भिक्षु तथा युक्तिदीपिकाकार ने भी न्यायोक्त पाँच अवयवों का निर्देश किया है।[९३]

वेदान्त मत

'खण्डनखण्डखाद्य', 'वेदान्तपरिभाषा' और उसकी टीका 'शिखामणि' तथा 'मणिप्रभा' आदि वेदान्त ग्रन्थों में अवयवों के लक्षण स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होते। 'तत्त्वदीपिका' में यद्यपि न्याय सम्मत प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का विस्तृत खण्डन किया गया है, किन्तु उसमें कोई सिद्धान्त लक्षण प्रतिपादित नहीं किया गया है।[९४]

बौद्ध मत

दिङ्नाग पूर्व बौद्ध ग्रन्थों में साधन के अन्तर्गत आठ-आठ अवयवों का व्यवस्थापन किया गया है, उनके लक्षण नहीं।[९५] न्याय प्रवेश में उनका परिष्कार करते हुए साधन में पक्ष, हेतु और दृष्टान्त का ही उपन्यास किया गया है।[९६] इनमें से पक्ष पद ही प्रतिज्ञा के रूप में प्रकट किया गया है।[९७]न्याय-प्रवेशकार तथा उत्तरवर्ती बौद्धाचार्यों के पक्ष पद और हेतु पद की चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। 'न्याय-प्रवेश' के दृष्टान्त लक्षण तथा उसके द्विविध भेद में नैयायिकों का ही अनुकरण जान पड़ता है।[९८] उत्तरवर्ती बौद्ध ग्रन्थों में दृष्टान्त विवेचन 'न्याय-प्रवेश' के अनुसार ही है।[९९]

जैन मत

जैन दर्शन में वाद काल में दो—प्रतिज्ञा व हेतु तथा शास्त्रकाल में इनके अतिरिक्त उदाहरण, उपनय, निगमन आदि अवयवों का भी प्रतिपादन किया गया है।[१००] हेतु को छोड़कर उनके सभी लक्षण और प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार ही है है।[१०१] हेतु लक्षण की चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। चारुकीर्ति के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि अवयव लक्षण नव्य न्याय की पदावली में दिये गये हैं।

अवयव-प्रयोग

अवयवों के लक्षण-विवेचन में प्रायः सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में

नैयायिकों का ही समर्थन किया है, किन्तु जहाँ अवयव प्रयोग की समस्या उपस्थित होती है, वहाँ दार्शनिकों में पर्याप्त विप्रतिपत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। अवयवों का प्रयोग किस क्रम-पद्धति से सम्पन्न किया जाय, उनकी पारस्परिक संगति किस प्रकार स्थापित की जाय, अधिक से अधिक एवं न्यून से न्यून कितने अवयवों का प्रयोग अभीष्ट समझा जाय इत्यादि अनेक प्रश्नों को दृष्टि में रखते हुए उनके समाधान के लिये दार्शनिकों ने अवयवों की संख्या विभिन्न रूप से निर्धारित की है। ऐतिहासिक क्रम के अनुसार अवयव मान्यता को स्थूल रूप से छः परम्पराओं में विभक्त किया जा सकता है—(१) पञ्चावयवी, (२) दशावयवी, (३) तीन अवयवी, (४) द्वि अवयवी, (५) एकावयवी एवं (६) चार अवयवी परम्परा। प्रथम परम्परा के अन्तर्गत न्याय वैशेषिक, सांख्य और जैन, द्वितीय में न्याय और जैन, तृतीय में मीमांसा, वेदान्त, सांख्य और जैन, चतुर्थ में बौद्ध और जैन पञ्चम में बौद्ध धर्मकीर्ति एवं जैन देवसूरि तथा षष्ठ परम्परा में अज्ञात प्राचीन मीमांसकों को रखा जा सकता है।

पञ्चावयवी परम्परा-न्याय मत

न्याय परम्परा में पाँच अवयवों—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन का प्रयोग आवश्यक माना गया है। परार्थानुमान में न्याय अवयवों की संगति-निरूपण की आवश्यकता प्रदर्शित करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि वादी और प्रतिवादी के विचार काल में अवयव प्रयोग मध्यस्थ के लिये, पक्ष में विवादास्पद साध्य-विषय के निश्चायात्मक प्रयोजन का साधक होता है अथवा प्रतिवादी के 'को अग्निमान्'—'कौन (वस्तु) अग्निमान् है ?' इस प्रकार के प्रश्न करने पर उसकी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये 'पर्वतो अग्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य का उपादन किया जाता है। पुनः 'कुतः' या 'कस्मात्' अर्थात् पर्वत अग्निमान् क्यों अथवा किस कारण से है ? ऐसी आकाङ्क्षा के जाग्रत होने पर वादी, 'धूमात्' या 'धूमेन' इस पञ्चम्यन्त या तृतीयान्त हेतु वाक्य का प्रयोग करता है। इसके पश्चात् प्रतिवादी (श्रोता) को यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है 'कथं अस्य गमकत्वम् इति' अर्थात् हेतु साध्य का बोधक किस प्रकार होगा ? इस आकाङ्क्षा के उपस्थित होने पर व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों में व्याप्ति का प्राथम्य होने के नाते उसके प्रदर्शनार्थ वादी 'यो यो धूमवान् स स अग्निमान् यथा महानसम्' इस उदाहरण वाक्य का प्रयोग करता है। इसके बाद प्रतिवादी को होने वाली 'व्याप्तं किं पक्षे वर्तते न वा'—साध्य का व्याप्य हेतु पक्ष में रहता है या नहीं,—इस संशयात्मक जिज्ञासा का शमन करने के लिये वादी 'अग्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः' इस उपनय वाक्य का प्रयोग करता है। अन्त में 'साध्य व्याप्त हेतु-मत् पक्षे साध्यं वर्तते न वा'—'साध्य व्याप्त हेतु वाले पक्ष में साध्य रहता है या नहीं ? इस जिज्ञासा के उदय होने पर वादी 'अग्निव्याप्य धूमवान् पर्वतो अग्निमान्' इस निगमन वाक्य का प्रयोग करता है। इस प्रकार जिस क्रम से प्रतिवादी की जिज्ञासा उत्पन्न होती है उसी क्रम से वादी, प्रतिवादी-वाक्यों के प्रयोग द्वारा, उसको शान्त करने का प्रयास करता है।[१०२]

न्याय सम्मत अवयव-प्रयोग-पद्धति को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

साधर्म्य या अन्वय प्रयोग

(१) प्रतिज्ञा—पर्वत अग्नियुक्त है।

(२) हेतु—धूमयुक्त होने से ।

(३) उदाहरण—जो-जो धूमयुक्त है वह-वह अग्नियुक्त भी है जैसे, पाक-पाकशाला ।

(४) उपनय—यह पर्वत भी वैसा है

अथवा

इसी भांति यह पर्वत भी अग्नि-व्याप्तिविशिष्ट धूम का आश्रय है ।

(५) निगमन—अतः पर्वत अग्नियुक्त है

अथवा

इसलिये अग्नि-व्याप्तिविशिष्ट धूमयुक्त होने से पर्वत अग्नियुक्त है ।

वैधर्म्य या व्यतिरेक प्रयोग

(१) प्रतिज्ञा—पर्वत अग्नियुक्त है ।

(२) हेतु—धूमाभावयुक्त न होने से ।

(३) उदाहरण—जो-जो अग्नियुक्त नहीं है वह-वह धूमयुक्त भी नहीं है जैसे, जलाशय ।

(४) उपनय—यह पर्वत भी वैसा नहीं है

अथवा

इसी भांति यह पर्वत भी धूमाभावविशिष्ट धूम का अधिकरण नहीं है ।

(५) निगमन—अतः पर्वत अग्नि के अभाव से विशिष्ट नहीं है

अथवा

इसलिये धूमाभावविशिष्ट धूमयुक्त न होने से पर्वत अग्न्यभावयुक्त नहीं है ।

उक्त दोनों प्रयोग ही अभीष्ट प्रदायक हैं, इसलिये दोनों में से किसी भी एक का प्रयोग किया जा सकता है ।

न्याय-सूत्रकार के अनुसार अवयवों का प्रयोग उक्त रीति से नियत क्रम एवं उचित संख्या में होना अनिवार्य है । अन्यथा नियत क्रम का उल्लंघन होने पर 'अप्राप्तकाल' निग्रहस्थान की आपत्ति लग सकती है ।[१०३] इसी प्रकार प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से कम अथवा अधिक अवयवों का प्रयोग भी उपयोगी नहीं है, क्योंकि कम अवयव मानने पर 'न्यून'[१०४] और अधिक अवयव मानने पर 'अधिक'[१०५] नामक निग्रहस्थान दोष हो जाते हैं । प्रायः सभी नैयायिकों ने अवयवों की क्रमबद्धता और नियत संख्या के विषय में न्यायसूत्रकार का ही समर्थन किया है ।[१०६] उचित क्रम की महत्ता बतलाते हुए भाष्यकार ने अन्यत्र भी कहा है कि हेतु, उदाहरण आदि का उक्त रीति से यदि विशुद्ध प्रयोग किया जाय, तो प्रतिवादी जाति-निग्रहस्थान आदि दोषों का उद्भावन नहीं कर सकता, क्योंकि जब साध्य-साधनभाव व्यवस्थित रूप से गृहीत हो जाता है, त [illegible] केवल साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर उक्त दोषों की आपत्ति नहीं दी जा सकती

वैशेषिक मत

न्याय-दर्शन के समान वैशेषिक दर्शन में भी पाँच अवयवों—प्र[illegible] निदर्शन, अनुसंधान, प्रत्याम्नाय का क्रमबद्ध और नियत संख्या में प्रयोग [illegible] माना गया है ।[१०८]

अवयवत्रयी परम्परा

मीमांसा-भाट्ट मत

भाट्ट मीमांसक मत प्रतिपादित करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि अनुमान से, निगमन, व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों ज्ञानों का मिश्रित फल है। केवल व्याप्ति अथवा केवल पक्षधर्मता मूलक वाक्यों से निगमन, कदापि निगमित नहीं हो सकता। व्याप्तिमूलक उदाहरण वाक्य, स्मृतिघटक होने के उपरान्त भी, पक्षधर्मतामूलक हेतु वाक्य, अनुभवपरक होने के नाते, निगमन से नवीन ज्ञान ही उत्पन्न होता है। जिज्ञासित धर्म विशिष्ट धर्मी के प्रतिपादन के लिये प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग किया जाता है। उपसंहार वाक्य होने के कारण, प्रतिज्ञा और निगमन तथा हेतु और उपनय, दोनों ही एकार्थ-प्रतिपादक हैं। अतः दोनों में से एक-एक का ही प्रयोग होना चाहिये, अन्यथा अनर्थक्य होने से 'अधिक' दोष लग जाने की संभावना बनी रहती है। इसी प्रकार बौद्ध मतानुसार केवल उदाहरण और उपनय ये दो ही अवयव मानना भी न्यूनता आदि दोष से आवृत है। क्योंकि, साध्य-सत्ता के बोधक प्रतिज्ञा अथवा निगमन वाक्यों के बिना, निगमन का अध्याहार करना पड़ता है, अभिप्राय यह कि प्रतिज्ञा-निगमन दोनों में से एक के भी न रहने से अनुमाता साकाङ्क्ष हो उठता है। अतः प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण अथवा उदाहरण उपनय-निगमन ये तीन ही अवयव मानना उचित है।[१०९] नारायण भट्ट ने भी इसी प्रकार पार्थसारथि का समर्थन किया है।[११०] प्रभाकर मत संपादित करते हुए शालिकनाथ ने भी यही बात व्यक्त की है।[१११]

भाट्ट मीमांसकों ने, नैयायिकों के समान अवयवों का नियत-क्रम-व्यवस्थापन आवश्यक नहीं मानते हुए, प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण अथवा उदाहरण-उपनय-निगमन इन दो क्रमों में अवयव प्रयोग व्यक्त किया है। भाष्यकार का उद्धरण, "यत् कर्म तत् फलवद्, होमोपि कर्म, तेनापि फलवत्ता भवितव्यम्" देते हुए पार्थसारथि मिश्र ने द्वितीय प्रयोग की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके दोनों क्रमों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।—

[१]

(१) प्रतिज्ञा—पर्वत अग्नियुक्त है,
(२) हेतु—धूमयुक्त होने से,
(३) उदाहरण—जो-जो धूमयुक्त है वह-वह अग्नियुक्त भी है जैसे, पाकशाला।

[२]

(१) उदाहरण—जो-जो धूमयुक्त है वह-वह अग्नियुक्त भी है जैसे, पाकशाला,
(२) उपनय—यह पर्वत भी धूमयुक्त है,
(३) निगमन—अतः पर्वत अग्नियुक्त है।

अथवा

(१) उदाहरण—जो कर्म होता है वह फलवाला होता है (जैसे, कुलाल आदि व्यापार),
(२) उपनय—होम भी कर्म है,
(३) निगमन—इसलिये उससे भी फल की विद्यमानता लक्षित होना चाहिये।[११२]

नारायण भट्ट[113] तथा चिन्नस्वामी[114] ने भी उक्त दोनों प्रयोगों को मान्य किया है।

प्रभाकर मत

शालिकनाथ ने प्रतिज्ञा पद को स्थिर मानकर हेतु और उदाहरण में ही क्रम-भंगता मानी है। उनके अनुसार साध्य निर्देश के लिये प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग पहले ही हो जाना चाहिये तत्पश्चात् व्याप्ति प्रतिपादक उदाहरण वाक्य अथवा पक्षधर्मतामूलक हेतु वाक्य किसी को भी रखा जा सकता है। दोनों अवस्थाओं में अनुमान यथार्थ ही होगा। दोनों प्रयोग इस प्रकार हैं—

[१]

(१) प्रतिज्ञा—पर्वत अग्नि युक्त है,
(२) हेतु—धूमयुक्त होने से,
(३) उदाहरण—जो-जो धूमयुक्त है वह-वह अग्नियुक्त भी है जैसे, पाकशाला।

[२]

(१) प्रतिज्ञा—पर्वत अग्नियुक्त है,
(२) उदाहरण—जो-जो धूमयुक्त है वह-वह अग्नियुक्त भी है जैसे, पाकशाला।
(३) हेतु—यह भी धूमयुक्त है।[115]

सांख्य मत

सांख्य परम्परा में आचार्य माठर ने अवयव-प्रयोग द्विविध रूप से व्यक्त किया है। प्रथमतः उन्होंने तीन अवयवों—प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त का लक्षण उदाहरण सहित वर्णन किया है। यही नही इनके लक्षण के अभाव में होने वाले दोषों की संख्या भी निर्धारित की है। तत्पश्चात् अपर मत के रूप में उन्होंने प्रशस्तपाद सम्मत पाँच अवयवों का भी उपाख्यान किया है। अन्य मत की विवेचना करते हुए उन्होंने परार्थानुमान में पाँच अवयवों की व्यवस्था की ओर निश्चित रूप से संकेत किया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि उन्हें स्वार्थानुमान में तीन और परार्थानुमान में पाँच अवयव अभिप्रेत थे। उन्होंने दोनों में से प्रथम प्रयोग का ही वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

(१) प्रतिज्ञा—यह प्रदेश अग्नियुक्त है,
(२) हेतु—धूम होने से,
(३) उदाहरण—पाकशाला के समान।[116]

सांख्यसूत्रकार ने सुख-सिद्धि-प्रकरण में पञ्चावयवों का संकेत मात्र किया है,[117], जिसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय व निगमन इन पाँच अवयवों के योग से सुख आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है जैसे,

पञ्चावयवी प्रयोग

(१) प्रतिज्ञा—सुख सत् है।
(२) हेतु—अर्थक्रियाकारी होने से।
(३) उदाहरण—जो-जो अर्थक्रियाकारी होता है वह-वह सत्ताशील होता है जैसे, चेतन पुरुष।

(४) उपनय—(पुलकादि रूप) सुख भी अर्थक्रियाकारी है ।
(५) निगमन—इसलिये सुख सत् है ।[११८]

दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ पञ्चावयवी व्यवस्था में माठर ने प्रशस्तपाद सम्मत प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान तथा निगमन का अपर मत के रूप में विवेचन किया है, वहाँ विज्ञानभिक्षु ने न्याय अभिमत पाँच अवयवों का प्रयोग विकल्प रहित मान लिया है। 'युक्तिदीपिका' में भी पर प्रति पादन के रूप में पञ्चावयवी प्रयोग मान्य किया गया है ।[११८/१]

वेदान्त मत

'वेदान्त परिभाषा'[११९] और उसकी टीका—'मणिप्रभा'[१२०] 'शिखामणि'[१२१] 'अर्थदीपिका'[१२२] आदि में अवयवों का प्रयोग और क्रम पार्थसारथि के अनुसार ही दिया गया है, किन्तु चित्सुखाचार्य ने, न्यायोक्त समस्त अवयवों का खण्डन करने के उपरान्त व्याप्ति और पक्षधर्मता की सिद्धि के लिये पञ्चावयव प्रयोग की अपेक्षा बौद्धों के समान उदाहरण–उपनय इन दो अवयवों के प्रयोग को ही यथेष्ट ठहराया है ।[१२३]

बौद्ध मत

बौद्ध परम्परा में न्यायप्रवेशकार को भी उक्त मीमांसक परम्परा के समान पक्ष हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों का प्रयोग ही मान्य दिखायी पड़ता है क्योंकि, उन्होंने 'साधन' पद से पक्ष-हेतु-दृष्टान्त तीनों का ग्रहण किया है ।[१२४] द्वितीय अध्याय में वर्णित दिङ्नाग के साध्य विवेचन से भी यही प्रतीत होता है कि उन्हें पक्ष वाक्य का प्रयोग अभिप्रेत था ।[१२५] किन्तु धर्मकीर्ति और उनके उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने उदाहरण और उपनय इन दो अवयवों का प्रयोग ही स्वीकार किया है। पक्ष वाक्य अर्थात् प्रतिज्ञा को अनावश्यक ठहराते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है कि वाद काल में वादी और प्रतिवादी किसी निश्चित विषय पर ही वाद-विवाद करते हैं, सुअवसर देखकर ही वादी अपना न्याय प्रस्तुत करता है और प्रयोजन बद्ध हो प्रतिवादी भी उसकी ओर आकर्षित होता है । अतःवाद विषय,एक स्वीकृत तथ्य होने के कारण संदर्भ से ही ज्ञात हो जाता है । तब फिर प्रतिज्ञा की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। साध्य उल्लेख के लिये भी प्रतिज्ञा को आवश्यक नहीं माना जा सकता, क्योंकि, जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि भी है जैसे, पाकशाला, 'यहाँ भी धूम है' इन दो अवयवों की सामर्थ्य से ही 'पर्वत अग्निमान् है' यह प्रतीति हो जाती है ।[१२६] शान्तरक्षित ने धर्मकीर्ति का समर्थन करते हुए कहा है कि बौद्ध मत में शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये इस सम्बन्ध के अभाव में, प्रतिज्ञा, साध्य सिद्धि में न तो साक्षात् रूप से उपयोगिनी हो सकती है और न हेतु की तरह वह परम्परा से साध्य की साधिका ही। अतः प्रतिज्ञा प्रयोग निरर्थक है। हेतु की अपने साध्य के साथ स्वभाव प्रतिबन्ध अर्थात् व्याप्ति होना अत्यावश्यक है और इस सम्बन्ध के होने पर साध्य साधन में परस्पर निर्वर्त्यनिवर्तकभाव बन जाता है, क्योंकि साधन, साध्य में प्रतिबद्ध रहता है। अतः अविनाभावीय साधन के प्रयोग से जब साध्य की सिद्धि हो जाती है , तो प्रतिज्ञा प्रयोग की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती ।[१२७] कमलशील,[१२८] अर्चट,[१२९] एवं मोक्षाकर गुप्त[१३०] ने भी इसी प्रकार धर्मकीर्ति का समर्थन किया है ।

हेतु और उपनय दोनों में एक के प्रयोग का औचित्य प्रदर्शित करते हुए शान्तरक्षित ने लिखा है कि पक्ष सम्बद्धता के बिना मात्र हेतु निर्देश निरर्थक और नितान्त अनुपयोगी है। अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि हेतु वाक्य का पक्ष के साथ कुछ संदर्भ अवश्य है। एतदर्थ किसी भी एक को त्यागना अनिवार्य है। व्याप्ति सम्बन्ध के लिये भी उपनय को अतिरिक्त अवयव मानना उचित नहीं, क्योंकि पक्षधर्मता के लिये ही उपनय का प्रतिपादन किया जाता है। यदि व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में उपसंहार होने के कारण ही उपनय को पृथक् अवयव माना जाय तो भी उचित नहीं, क्योंकि यह कार्य केवल हेतु द्वारा भी सम्पन्न हो सकता है, कारण बौद्ध मत में हेतु के लिए उसका पक्ष में रहना तथा साध्य के साथ नियत अविनाभाव होना दोनों ही आवश्यक है।[१३१] कमलशील,[१३२] अर्चट[१३३] और मोक्षाकर गुप्त।[१३४] ने भी इन्हीं का समर्थन करते हुए हेतु-उपनय दोनों में से किसी एक के प्रयोग को ही आवश्यक माना है।

निगमन की व्यर्थता सूचित करते हुए शान्तरक्षित ने लिखा है कि जब प्रतिज्ञा प्रयोग ही बौद्ध मत में निरर्थक माना जाता है तब प्रतिज्ञा के पुनः कथन रूप निगमन को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि यह कहा जाय कि प्रतिज्ञा वाक्य द्वारा साध्य का निर्देश मात्र किया जाता है, किन्तु साध्य विषय में भ्रान्ति अथवा संशय का लवलेश ही न रहे, इसलिये निगमन में उसकी पुष्टि की जाती है, तो ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं, कारण साध्य-विषय में होने वाली सभी भ्रांन्तियाँ तथा संशय त्रिरूप हेतु के कथन से अपने आप ध्वस्त हो जाती है। यदि त्रिरूप हेतु के किसी भी रूप की न्यूनता हुई तो निगमन कथन करने पर भी संशय निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः त्रिरूप हेतु के कथन मात्र से ही जब साध्य निश्चय और विपर्यय, संशय आदि का निरास हो जाता है, तब निगमन को पृथक् अवयव मानना व्यर्थ है। अवयवों को एक सूत्र में गुम्फित करने के लिये भी निगमन आवश्यक नहीं है, क्योंकि विशकलित रूप से प्रयुक्त होने पर भी अवयवों में पारस्परिक संगति, सामर्थ्य एवं क्षमता बनी ही रहती है। साधन द्वारा साध्य की स्थापना अविनाभाव एवं पक्षधर्मता के सुदृढ़ आधार पर ही हो सकती है। इन्हीं तथ्यों के कारण पृथक्-पृथक् प्रयुक्त होने पर भी वे स्वयं की संगति द्वारा परस्पर संबद्ध रहते हैं।[१३५] कमलशील[१३६] अर्चट[१३७] और मोक्षाकर गुप्त[१३८] ने भी यही बात सूचित की है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने हेतु और उदाहरण का प्रयोग साधारण बुद्धिशील व्यक्तियों के लिये ही किया है, विशिष्ट व्युत्पन्न अधिकारी के लिये उन्होंने केवल एक अवयव हेतु का प्रयोग ही आवश्यक माना है। उन्होंने कहा भी है कि जो व्यक्ति व्युत्पन्न है, उसको दृष्टान्त वचन की भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह केवल हेतु प्रदर्शन से ही साध्य निश्चय करने में समर्थ है।[१३९] अन्यत्र भी यही बात प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है कि त्रिरूप हेतु के कथन मात्र से ही जब साध्य विषय की प्रतिपत्ति हो जाती है, तब दृष्टान्त को पृथक् अवयव मानने की आवश्यकता ही क्या है। इसीलिये दृष्टान्त लक्षण पृथक् रूप से व्यक्त नहीं किया गया।[१४०] तात्पर्य यह कि किसी भी अनुमान में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में हेतु की आवश्यकता पड़ती ही है। हेतु के अभाव में कोई अनुमान निष्पन्न ही नहीं होता। अतः सभी अनुमानवादियों ने हेतु को आवश्यक मानकर उसका प्रयोग किया है। स्वरूपतः हेतु से व्याप्ति और पक्षधर्मता का निश्चय हो जाता है, अतः अभिन्न रूप से हेतु एक ही अवयव माना जा सकता है। इसीलिये उन्होंने प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन

आदि को असाधनाङ्ग मानकर निग्रहस्थान में सम्मिलित किया है।[१४१] शान्तरक्षित ने 'वादन्याय' की टीका[१४२] में धर्मकीर्ति का अनुगमन किया है, किन्तु 'तत्वसंग्रह'[१४३] में उन्हें केवल असाधानाङ्ग ही बतलाया है, निग्रहस्थान में अन्तर्भूत होना नहीं। कमलशील[१४४] और अर्चट[१४५] ने भी उन्हें असाधनाङ्ग ही कहा है। अवयवों के न्यूनाधिक प्रयोग एवं क्रम-व्यवस्था पर भी उन्होंने कोई जोर नहीं दिया है। हेतु के बाद उदाहरण का अथवा उदाहरण के पश्चात् हेतु का प्रयोग किया जा सकता है। इससे अनुमान प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[१४६] शान्तरक्षित ने भी अपनी टीका में धर्मकीर्ति के इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।[१४७] अर्चट ने अवयवों के क्रमबद्ध प्रयोग के आग्रह को उचित न ठहराते हुए लिखा है कि व्याप्ति प्रतिपादन के लिए प्रथमतः उदाहरण तत्पश्चात् पक्षधर्मता के उपपादन के लिये हेतु अथवा प्रथमतः पक्षधर्मता ज्ञापित करने के लिए हेतु तदनन्तर व्याप्ति का उपन्यास करने के लिए उदाहरण का प्रयोग किया जा सकता है। दोनों अवस्थाओं में हेतु की अनुमापकता स्थिर रह सकती है।[१४८] बौद्ध मतानुसार अवयव-प्रयोग चतुर्थ अध्याय में दिया जा चुका है।

जैन मत

जैन परम्परा में भद्रबाहु के अनुसार अवयव प्रयोग तीन प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—प्रथम और तृतीय प्रयोग में दो-दो और दस-दस अवयवों को विभिन्न रूप से व्यवस्थित किया गया है। द्वितीय प्रयोग में पाँच अवयवों को ही स्वीकार किया गया है। प्रथम प्रयोग इस प्रकार है—

(१) प्रतिज्ञा—जिन वचन सिद्ध ही है।

(२) हेतु—राग आदि दोषों से रहित होने से।

अथवा

(१) प्रतिज्ञा—उपष्टम्भक धर्मास्तिकाय है।

(२) उदाहरण—गति के परिणाम में परिणत होने वाले जीव और पुद्गल की गति का सम्बन्ध स्थापित कराने वाला धर्मास्तिकाय होता है।[१४९] जैसे प्रदीप चाक्षुष ज्ञान का।

यहाँ श्रोता की अपेक्षा से, प्रथम में उदाहरण के बिना हेतु द्वारा, द्वितीय में हेतु का उल्लंघन कर, उदाहरण द्वारा साध्य निश्चय किया गया है। द्वितीय प्रयोग मानने पर भी कोई हानि नहीं होती, कारण उदाहरण के बल पर ही हेतु साध्य निश्चय में साधक होता है।[१५०] प्राचीन काल में हेतु की अविनाभाव आदि सामर्थ्यों का विकास न होने के कारण ही संभवतः आचार्य ने द्वितीय प्रयोग भी न्यायसंगत माना है, किन्तु हेतु लक्षणों के विकास होने पर उनके उत्तरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने उदाहरण को अनावश्यक ठहराकर निष्कर्षतः प्रथम प्रयोग ही स्वीकार किया है। और वाद-काल में उक्त दो अवयव ही पर्याप्त मानकर शेष उदाहरण, उपनय, निगमन आदि को निरर्थक सिद्ध किया है।

प्रतिज्ञा-प्रयोग का औचित्य सिद्ध करने के लिये बौद्ध मत की आलोचना करते सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा है कि पक्ष हेतु-विषय का दीपक है अर्थात् पक्ष-प्रयोग से ही हेतु का विषय स्पष्टतः ज्ञात होता है। इसलिये पक्ष प्रतिपादन के लिए प्रतिज्ञा का प्रयोग अनिवार्य है। वादी को किस रूप से हेतु-प्रयोग अभिमत है, यह पक्ष प्रयोग के बिना नहीं

जाना जा सकता। और पक्ष प्रयोग किये बिना ही हेतु का यदि असामयिक प्रयोग किया जाय, तो विषय-व्यामोह की शंका संभावित रहती है। जैसे, लक्ष्य निर्देशन के अभाव में दर्शक शरसंधान कर्ता के गुण-दोषों के विषय में विपरीत कल्पना भी कर सकता है।[१५१] केवल हेतु-उदाहरण—'कृतक होने से', 'घट के समान जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है'—का इतना ही प्रयोग किया जाय और 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा प्रयोग न किया जाय तो, वादी अभिमत हेतु विषय से परिचित न होने के कारण, प्रतिवादी विरुद्ध-विपरीत अर्थ की कल्पना भी कर सकता है अर्थात् नित्यत्व साध्य में कृतकत्व का प्रयोग कर सकता है, जबकि उदाहरण द्वारा कृतकत्व और अनित्यत्व की व्याप्ति ही प्रदर्शित की गयी है। इस प्रकार विरुद्ध कथन की सम्भावना पग-पग पर बनी रहती है, जिसकी कल्पना वादी स्वप्न में भी नहीं करता। पक्ष प्रयोग हो जाने पर प्रतिवादी को वादी अभिमत हेतु विषय ज्ञात हो जाता है, तब विरुद्ध प्रतिपत्ति को अवकाश ही नहीं रहता।[१५२] माणिक्यनन्दी ने भी कहा है कि प्रतिज्ञा प्रयोग के बिना साध्य के आधार में संदेह बना ही रहता है। जैसे, साध्य अग्नि का अधिकरण, 'पाकशाला है या पर्वत', इस संशय का निराकरण हेतु-उदाहरण अथवा केवल हेतु के प्रयोग से नहीं हो सकता। इस संशय का व्यवच्छेद हुए बिना साध्य-साधन के व्याप्यव्यापकभाव का भी प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। इसलिये हेतु की सामर्थ्य से ज्ञात होने वाले साध्यीय स्थलों में भी पक्ष प्रयोग आवश्यक है। उदाहरण में साध्य-साधन की व्याप्ति प्रदर्शित करते समय साधन का निर्देश हो ही जाता है। फिर भी नियत धर्मी के साथ सम्बद्धता ज्ञापित करने के लिये, समर्थन रूप उपनय का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है, उसी प्रकार साध्य का विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिये प्रतिज्ञा का प्रयोग करना भी आवश्यक है। प्रस्ताव संदर्भ द्वारा पक्ष भले ही अवगम हो जाय, किन्तु वादी को, वाद-काल में, पक्ष की स्थापना हेतु, पक्ष प्रयोग आवश्यक रूप से करना चाहिये, अन्यथा पक्ष-प्रतिपक्ष का विभाग असंभव हो जायगा। पक्ष-धर्मत्व आदि रूपों को स्वीकार करते हुए भी पक्ष प्रयोग न करना उनका साहस मात्र है।[१५३] प्रभाचन्द्र[१५४] और अनन्तवीर्य,[१५५] वादि देवसूरि[१५६] तथा रत्नप्रभाचार्य[१५७] एवं हेमचन्द्र[१५८] ने भी यही बात कही है।

सिद्धसेन दिवाकर[१५९] और उनके उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने उदाहरण को अनुपयोगी माना है। उदाहरण समर्थक इसके प्रयोग के लिये तीन हेतु देते हैं—(१) साध्य ज्ञान, (२) अविनाभाव निश्चय एवं (३) अविनाभाव स्मरण। प्रथम पक्ष की आलोचना करते हुए माणिक्यनन्दी ने कहा है कि साध्य का बोध कराने में उदाहरण किञ्चित मात्र भी उपयोगी नहीं है, क्योंकि पक्ष और अविनाभावीय हेतु द्वारा ही साध्य का बोध हो जाता है। जैसे, पूर्व ज्ञात व्याप्ति सम्बन्ध का विस्मरण जिस व्यक्ति को नहीं हुआ है, ऐसे अनुमाता के लिए पक्ष और हेतु के प्रयोग—यह देश अग्निमान् है, धूम की अन्यथानुपपत्ति होने से—से ही साध्य प्रतीति हो जाती है। अतः इसके लिये उदाहरण को पृथक् अवयव मानना निरर्थक है। अविनाभाव का निश्चय उदाहरण द्वारा नहीं, प्रत्युत विपक्ष बाधक प्रमाण तर्क द्वारा होता है। अतः द्वितीय कल्प भी उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि दृष्टान्त में यदि कोई विवाद उत्पन्न हो जाय, तो दूसरा दृष्टान्त देना होगा और दूसरे में विवाद उपस्थित हो जाने पर तीसरे दृष्टान्त का अवलम्बन लेना होगा, इस प्रकार तीसरे में चौथा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। फिर उदाहरण व्यक्ति रूप ही होता है और व्याप्ति सामान्य रूप। अतः व्यक्ति रूप होने के कारण दृष्टान्त द्वारा

पाकशाला आदि में विशेष व्यक्ति रूप अविनाभाव का ही ग्रहण किया जा सकता है। इसलिये सर्वकालिक-सार्वदेशिक व्याप्ति को गृहीत कराने में दृष्टान्त निष्प्रयोजक है। तृतीय पक्ष इसलिये नहीं माना जा सकता कि अविनाभावीय हेतु और पक्ष के प्रदर्शन मात्र से अविनाभाव का स्मरण हो सकता है। कारण जिस व्यक्ति ने साध्य-साधन में, अविनाभाव व्यवस्थित रूप से ग्रहण किया है, उसको धूम दर्शन से ही अविनाभाव का स्मरण हो जायगा, इसके विपरीत, जिस पुरुष ने इस सम्बन्ध का ग्रहण नहीं किया है, उसको अनेक दृष्टान्त देने पर भी अविनाभाव का स्मरण नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि जैन मत में अविनाभाव अन्तर्व्याप्ति रूप है, अतः पक्ष में ही इसका ग्रहण होता है। अन्तर्व्याप्ति साध्य सिद्धि में समर्थ होने के नाते बहिर्व्याप्ति का उपादान अर्थहीन हो है अतः दृष्टान्त अनावश्यक होने के नाते वाद काल में प्रयुज्य नहीं हो सकता।[160] प्रभाचन्द्र,[161] अनन्तवीर्य,[162] वादि देवसूरि,[163] रत्नप्रभाचार्य[164] एवं हेमचन्द्र[165] आदि ने भी इन्हीं तीन विकल्पों का खण्डन करते हुए उदाहरण के प्रयोग को अनावश्यक माना है। सिद्धर्षिगणि[166] ने भी न्यूनाधिक रूप से प्रायः यही बात कही है।

इसी प्रकार जब पक्ष और हेतु से साध्य का निश्चय किया जा सकता है, तब उपनय, निगमन आदि मानना भी सारविहीन है।[167] वादि देवसूरि ने कहा भी है कि जब धर्मी में, साध्य और साधन के कथन मात्र से ही साध्य-निश्चय हो जाता है, तब पुनः कथन रूप उपनय-निगमन प्रयोग पिष्टपेषण ही होगा। उपनय और निगमन स्वतंत्र रूप से साध्य सिद्धि कराने में असमर्थ हैं, अतः उपयोगिता, लाघव और आवश्यकता की दृष्टि से प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव मानना चाहिए।[168] अन्य जैनाचार्यों ने भी इसी प्रकार उपनय और निगमन के प्रयोग को निष्प्रयोजक माना है।[169]

यह व्यवस्था वाद काल[170] में ही उपयुक्त है, क्योंकि व्युत्पन्न मति ही वाद विवाद कर सकते हैं शास्त्र काल[171] में शिष्य को समझाने के लिये उसकी योग्यतानुसार अवयवों का वर्णन करना चाहिये।

वादि देवसूरि ने धर्मकीर्ति से प्रभावित होकर, उनके समान विशिष्ट अधिकारी के लिये एक अवयव हेतु का प्रयोग भी पर्याप्त बतलाया है।[172] किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार उनकी यह व्यवस्था संगत नहीं जान पड़ती। बौद्ध दार्शनिक हेतु को, पक्ष का धर्म और साध्य से व्याप्त मानते हैं, अतः उनके त्रिरूप कथन में किसी न किसी रूप से पक्ष अवगम हो जाता है, परन्तु वादि देवसूरि और प्रायः सभी जैन दार्शनिकों ने हेतु को केवल अन्यथानुपपत्तिमूलक ही माना है। ऐसी स्थिति में मात्र हेतु प्रयोग से पक्ष कैसे गम्य हो सकेगा? अतः 'त्रिरूपता सिद्धान्त' के खण्डनकर्ता होने के कारण जैनाचार्य वादि देवसूरि को भी पक्षबोधन के लिये पक्ष प्रतिपादक प्रतिज्ञा वाक्य का निर्वचन करना आवश्यक है।

पञ्चावयवी प्रयोग—

भद्रबाहु कृत द्वितीय प्रयोग इस प्रकार है—

(१) पइन्ना (प्रतिज्ञा)—धर्म अहिंसा आदि गुण परम मंगल है।

(२) हेऊ (हेतु)—क्योंकि लोक-पूज्य देवता (नृपति) भी सुधर्म को नमन करते हैं।

(३) दिठ्ठंत (दृष्टान्त)—अर्हन्त, अणगार और उनके शिष्यों के समान।
(४) उपसंहार (उपनय)—नृपति भी सुधर्म को नमन करते हैं।
(५) निगमण (निगमन)—इसलिये धर्म अहिंसा आदि गुण परम मंगल है।[१७३]

शास्त्र-काल में इन्हीं पाँच अवयवों की व्यवस्था को उत्तरवर्ती सभी जैनाचार्यों ने स्वीकार की है।[१७४]

दशावयवी परम्परा–वात्स्यायन मत–

प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों की समुचित विवेचना के पश्चात् दस अवयव वादी व्यवस्था पर भी विचार करना आवश्यक है। वात्स्यायन ने प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन के अतिरिक्त पाँच और अवयवों का भी संकेत किया है—(१) जिज्ञासा, (२) संशय, (३) शक्यप्राप्ति, (४) प्रयोजन तथा (५) संशयव्युदास।

(१) जिज्ञासा—अज्ञात अर्थ को अधिगम करने की इच्छा का नाम ही जिज्ञासा है। अभिप्राय यह कि विषय का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध करने के लिये, उसे ग्रहण, परित्याग अथवा उससे उदासीन रहने की, जिज्ञासु के मन में, जो इच्छा उत्पन्न होती है, वही जिज्ञासा है।

(२) संशय—जिज्ञासा का अधिष्ठान संदेह है। संदेह द्वारा परस्पर विरोधी धर्मों का ग्रहण होता है। जैसे, अमुक पदार्थ उपादेय, अनुपादेय या उपेक्षा योग्य है, इन विभिन्न कोटियों के उदय होने पर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसलिये जिज्ञासा के कारणीभूत मूल, साध्यविषयक संदेह को, संशय कहा जाता है।

(३) शक्यप्राप्ति—प्रमाण द्वारा ही, प्रमाता, प्रमेय अर्थ को जान पाता है और प्रमाणों की, इस अर्थ अधिगम करने की क्षमता को ही शक्यप्राप्ति कहा जाता है।

(४) प्रयोजन—तत्त्व का निश्चय करना ही प्रयोजन कहलाता है। जैसे, प्रथम सूत्र में न्यायसूत्रकार ने कहा है कि प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। यहाँ निःश्रेयस की प्राप्ति ही प्रयोजन है।

(५) संशयव्युदास—प्रति पक्ष उपस्थापित कर, उसका प्रतिषेध करना ही संशयव्युदास है। तात्पर्य यह कि सिद्ध किये जाने वाले किसी तत्त्व के विरुद्ध किसी तथ्य को प्रस्थापित करके, उसका निराकरण करना ही संशयव्युदास या संशयव्यवच्छेदन है।[१७५]

इन सभी की आलोचना करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि यद्यपि जिज्ञासा आदि पाँच अवयव, वाक्य का एकदेश न होने के नाते अवयव नहीं कहे जा सकते; फिर भी प्रकरण में अर्थ अवधारण के लिये इनकी उपयोगिता स्वीकार की जा सकती है।[१७६] भाष्य की व्याख्या करते हुए उद्योतकर,[१७७] वाचस्पति मिश्र,[१७८] विश्वनाथ,[१७९] भाष्यचन्द्रकार[१८०] आदि ने भी कहा है कि अनुमिति ज्ञान में इनको सहचर अवश्य माना जा सकता है, किन्तु आवश्यक अङ्ग रूप अवयव नहीं। जैसे, जिज्ञासा से इच्छा ही उत्पन्न

होती है न कि किसी साधनीय पदार्थ की सिद्धि। संशय द्वारा परस्पर विरुद्ध दो विभिन्न कोटियों का ही ज्ञान होता है। इनमें से एक ही यथार्थ मानी जा सकती है। अतः यथार्थ ज्ञान का परिज्ञायक न होने से, इसे अवयव नहीं माना जा सकता। किन्तु अनुमिति ज्ञान में यह सहकारी अवश्य है, क्योंकि संदिग्ध साध्य में ही न्याय की प्रवृत्ति होती है। शक्य-प्राप्ति से, साध्य, सिद्धि के योग्य है या नहीं, इतनी ही बात अवगम होती है, इसलिये इसे साधक रूप से 'वाक्य-भाव' में संयुक्त नहीं किया जा सकता। प्रयोजन फल है एकदेश नहीं। इसी प्रकार प्रतिपक्ष-प्रतिषेध-उपवर्णन, तर्क-रूप होने के कारण वाक्य का एकदेश, अवयव नहीं कहला सकता। परार्थानुमान के प्रसङ्ग में दूसरी बात यह भी है कि अनुमाता, स्वयं द्वारा निर्धारित निश्चित अर्थ का ही, प्रतिपादक वाक्यों द्वारा अन्य पुरुष को बोध कराना चाहता है, तब जिज्ञासा आदि के लिये अवकाश नहीं रहता। जिज्ञासा, संशय आदि की अपेक्षा, उस ही व्यक्ति को रहती है, जिसने अर्थ का अवधारण नहीं किया है। जिज्ञासा आदि को न्याय-जन्य बोध के अनुकूल होने से ही अवयव माना जाय तो पक्ष, सपक्ष आदि को भी अवयव के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि ये भी न्याय जन्य बोध के अनुकूल हैं, किन्तु यह सिद्धान्त किसी भी दार्शनिक को मान्य नहीं है।

भद्रबाहु मत—प्रथम प्रयोग

'दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा' में विभिन्न अवयवों द्वारा दशावयव-प्रयोग दो प्रकार से व्यक्त किया गया है। प्रथम प्रयोग इस प्रकार है—

(१) प्रतिज्ञा—जिन शासन में श्रमण धर्म की साधना करते हैं।

(२) हेतु—क्योंकि वे अहिंसा आदि गुणों के विषय में सद्भाव पूर्वक प्रयत्न करते हैं।

(३) दृष्टान्त—मधुकर के समान।

(४) उपसंहार—जिन शासन में भी श्रमण अहिंसा आदि गुणों के विषय में सद्भाव पूर्वक प्रयत्न करते हैं।

(५) निगमन—अतः जिन शासन में श्रमण धर्म की साधना करते हैं।

उक्त अवयवों के विषय में उठने वाली शंकाओं का परिहार 'विसुद्धि' अर्थात् विशुद्धियों द्वारा किया गया है। जैसे, प्रतिज्ञा के विषय में यह आशंका हो सकती है कि जिन शासन द्वारा अनुशासित श्रमण जिस प्रकार विशुद्ध धर्म का पालन करते हैं, उसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बी भी तो धर्म पालन में रत रह सकते हैं। इसका परिहार करने के लिये गाथाकार ने लिखा है कि अन्य धर्म सावद्य (स्वार्थमयी, दोषयुक्त, सपाप) होने के नाते उपचरित रूप से ही धर्म कहलाते हैं, किन्तु जिनवर द्वारा उपदेशित धर्म साध्य नहीं होने के कारण, स्वाभाविक धर्म है। यही प्रतिज्ञा विशुद्धि है। इसी प्रकार हेतु के विषय में होने वाली आशंकाओं का परिहार हेतु विशुद्धि से किया जाता है। जैसे, जैन श्रमणों के समान अन्य साधु भी अहिंसा आदि के लिये सद्भाव पूर्वक प्रयत्न करते हैं। इसका समाधान यह है कि अन्य साधु अप्रासुक (सजीव), कृत, कारित, अनुमत, एवं उद्दिष्ट वस्तुओं को ग्रहण करते हुए त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा में लिप्त रहते हैं, इस कारण वे अहिंसा आदि गुणों के विषय में सद्भाव पूर्वक प्रयत्न नहीं कर सकते। दृष्टान्त के विषय में होने वाली शंका का समाधान दृष्टान्त विशुद्धि से किया जाता है। जैसे, जैन श्रमणों

के अतिरिक्त अन्य साधुओं में भी भ्रमर के समान वृत्ति पाई जाती है। इसका निराकरण इस प्रकार से किया जा सकता है—जैसे, भ्रमर पुष्पों को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये मकरन्द पान करता है, उसी प्रकार जैन श्रमण भी निशि-वासर घूमते हुए ग्रहण योग्य वस्तुओं का ही आहार करते हैं। किन्तु यह बात अन्य साधुओं में नहीं पायी जाती। उपसंहार के विषय में होने वाली शंकाओं का समाधान 'उपसंहार विशुद्धि' से किया जाता है। जैसे, जैन श्रमण दान, भोज्य तथा भक्त वस्तुओं का, मधुकर के समान ग्रहण करते हुए, अपनी नियमित पद्धति के अनुसार, ऐषणा में रत रहते हैं। इसके विपरीत अन्य साधु इस पद्धति का पालन नहीं करते, क्योंकि वे अदान, अभोज्य एवं अभक्त वस्तुओं का ग्रहण भी करते हैं। निगमन के विषय में होने वाली आशंका का व्यवच्छेदन 'निगमन विशुद्धि' द्वारा किया जाता है जैसे, जैन श्रमणों के समान ही अन्य धर्मावलम्बी सन्तगण भी इसी प्रकार धर्म के लिये उद्यत होकर साधना कर सकते हैं, इस शंका का समाधान यह है कि अन्य सन्तगण जब जीव आदि के रक्षोपयोगी प्रयत्न जानते ही नहीं, तब वे प्रयत्नशील कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार प्रथम प्रयोग में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा विशुद्धि, हेतु, हेतु विशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्त विशुद्धि, उपसंहार, उपसंहार विशुद्धि, निगमन एवं निगमन विशुद्धि इन दस अवयवों को समाविष्ट किया गया है।[१८१]

द्वितीय प्रयोग

द्वितीय प्रयोग इस प्रकार है—

(१) पइन्ना (प्रतिज्ञा)—धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।

(२) पइन्ना विभत्ती (प्रतिज्ञा विभक्ति)—धर्म की उत्कृष्ट मंगलता जिन मत में ही उपलब्ध है, अन्यत्र नहीं।

(३) हेऊ (हेतु)—परम पूनीत धार्मिक स्थानों में अवस्थित देवताओं द्वारा पूजित होने से।

(४) हेऊ विभत्ती (हेतु विभक्ति)—उपाधिरहित देवता जीवों की हिंसा किये बिना ही अपने-अपने परम पुनीत धार्मिक स्थानों में रहते हैं।

(५) विवक्ख (विपक्ष)—उक्त चारों अवयवों के प्रतिपक्ष को विपक्ष कहा जाता है। पक्ष में, जिस तथ्य का अनुमोदन किया जाता है, विपक्ष में उसी का अभाव सिद्ध किया जाता है। जैसे, जिनवचन-विद्वेषी तथा अधर्म-रुचिसम्पन्न पुरुषों एवं ससुर आदि ज्येष्ठ पुरुषों को भी शुभकामना की दृष्टि से नमन किया जाता है। यह आद्य दो अवयवों का विपक्ष है। याज्ञिकी हिंसा करने वाले मीमांसक तथा अहिंसा को प्रश्रय देने वाले बौद्ध दोनों सुरों द्वारा पूजे जाते हैं। यह अंतिम दो अवयवों का विपक्ष है।

(६) विवक्ख पडिसेह (विपक्ष प्रतिषेध)—सात वेदिनी, सम्यक् मोहिनी, पुरुषवेदहास्य, रति, शुभ आयु शुभ नाम एवं शुभ गोत्र आदि सब धर्म के फल हैं। इसलिये यही मंगल रूप धर्म है। इस प्रकार आद्य दो विपक्षों का प्रतिषेध हो जाता है। अन्तिम दो विपक्षों का प्रतिषेध इस प्रकार है—जो अजितेन्द्रिय, सोपाधिक तथा बधिक हैं, यदि वे भी पूज्यनीय माने

जाते हैं, तो अग्नि को भी शीतल मानना होगा। किन्तु लोक में ऐसा माना नहीं जाता, अतः उक्त पुरुष भी पूज्यनीय नहीं हो सकते।

(७) दिठ्ठंत (दृष्टान्त)—शुभ मार्गगामी अर्हन्त, समचित्त श्रमण तथा पाक रत ग्रहस्थ ये सभी हिंसा न करते हुए अपना-अपना आहार ग्रहण करते हैं।

(८) आसंका (आशंका)—कहीं-कहीं श्रमणों के उद्देश्य से भी भोजन बनाया जाता है। अतः उक्त उदाहरण में ऐसी आशंका, कि श्रमण भी उद्दिष्ट भोज्य भोजी हो सकते हैं, उपस्थित की जा सकती है।

(९) आसंका पडिसेह (आशंका प्रतिषेध)—तृण आदि का घात न हो (कुचल न जाय) इस भय से श्रमण वर्षाकाल में विहार नहीं करते अभिप्राय यह कि यदि कोई ऐसी शंका उपस्थित करे कि श्रमण भी वर्षाकाल में विहार करते हैं, तो उक्त रूप से उसका प्रतिषेध किया जा सकता है। इसी प्रकार श्रमण भी उद्दिष्ट भोजन नहीं करते। अतः उक्त आशंका का प्रतिषेध हो जाता है।

(१०) निगमण (निगमन)—इसलिये देवताओं और मनुष्यों द्वारा पूजित होने से धर्म परम मंगल है। प्रतिज्ञा और हेतु का पुनः कथन निगमन कहलाता है।

इस प्रकार इस प्रयोग में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा विभक्ति, हेतु, हेतु विभक्ति, विपक्ष, विपक्ष प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंका प्रतिषेध, निगमन आदि दस अवयव समाविष्ट है।[१८२]

ध्यान से परिशीलन किया जाय तो गाथाकार की अवयव व्यवस्था न्यायसंगत नहीं जान पड़ती। प्रथम प्रयोग में, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपसंहार तथा निगमन ये पाँच ही अवयव कहे जा सकते हैं, किन्तु प्रतिज्ञा विशुद्धि आदि पाँच विशुद्धियाँ अवयव के रूप में कदापि प्रयुक्त नहीं की जा सकती, क्योंकि उनमें शंका और कुशंकाओं के परिहार हेतु लम्बी चौड़ी तर्कना आवश्यक जान पड़ती है। द्वितीय प्रयोग में भी प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त और निगमन ही अवयव कहला सकते हैं। प्रतिज्ञा विभक्ति पूर्वोक्त विशुद्धियों की भांति अन्यथा-सिद्ध है। हेतु विभक्ति, विपक्ष तथा विपक्ष-प्रतिषेध हेतु के ही अवान्तर भेद हैं। साध्य निश्चय के लिये आशंका और आशंका प्रतिषेध की उपयोगिता ही प्रतीत नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि प्रथम प्रयोग में कुछ संगति दृष्टिगोचर भी होती है किन्तु द्वितीय प्रयोग में पारस्परिक सामञ्जस्य न होने के कारण ऐसी कोई सुसंगत सम्बद्धता परिलक्षित नहीं होती।

युक्तिदीपिकाकार मत

सांख्य दार्शनिक युक्तिदीपिकाकार ने वात्स्यायन द्वारा विवेचित जिज्ञासा आदि पाँच अवयवों को व्युत्पाद्य की दृष्टि से व्याख्याङ्ग एवं पर प्रतिपादन हेतु प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के प्रयोग को मिलाकर दशावयवी प्रयोग आवश्यक माना है।

भद्रबाहु कृत दोनों प्रयोगों में तथा वात्स्यायन वर्णित और युक्ति दीपिकाकार समर्थित दशावयवों में कोई साम्य नहीं है, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि गाथाकार के सामने कोई न कोई प्राचीन परम्परा अवश्य रही होगी। इतना होने पर भी गाथाकार के अवयव वर्णन में कुछ विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है जैसे, श्रोता की योग्यतानुसार दो,

पाँच एवं दस अवयवों का प्रयोग, जैन परम्परा में सर्वप्रथम प्रतिज्ञा आदि अवयवों का व्यवस्थापन, प्रतिज्ञा का प्राथमिक अनिवार्य प्रयोग, प्रतिज्ञा और हेतु अथवा हेतु का उल्लंघन करते हुए प्रतिज्ञा और दृष्टान्त द्वारा प्रतिज्ञा निष्ठ साध्य का निश्चय, विशुद्धियों द्वारा भ्रांतियों का निराकरण कर विशुद्ध पञ्चावयव स्थापन आदि। भाष्यकार आदि ने जहाँ जिज्ञासा आदि पाँच अवयवों का अनुमान में निरर्थक सिद्ध किया है,[१८३] वहाँ गाथाकार से लेकर प्रायः सभी श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने दशावयववादी व्यवस्था को उत्कृष्ट वाद कथा कहा है।[१८४] अवयवों की अपेक्षा से ही आगे जाकर तीन प्रकार की कथाएं प्रचलित हुईं जिनमें से दशावयवी व्यवस्थावाली कथा उत्कृष्ट, दो, तीन, और पाँच अवयवों वाली कथा मध्यम तथा एक अवयव वाली कथा को जघन्य माना गया है।[१८५]

चतुरावयवी परम्परा

जैन दार्शनिक हेमचन्द्र[१८६] और अनन्तवीर्य[१८७] ने एक ऐसी परम्परा का भी उल्लेख किया है जिसे चार अवयव प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय ही इष्ट थे। उन्होंने इस परम्परा का निर्देश मीमांसकों के नाम से किया है, परन्तु भाट्ट और प्रभाकर दोनों प्रस्थानों के उपलब्ध ग्रन्थों में चार अवयव वाली व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती। मुरारि मिश्र प्रस्थान का कोई ग्रन्थ ही प्राप्त नहीं होता, अतः उसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। संभवतः उन दोनों आचार्यों के सामने कोई न कोई प्राचीन मीमांसक परम्परा अवश्य रही होगी, जिसके आधार पर उन्होंने ऐसा संकेत किया है।

उक्त समस्त दार्शनिक परम्पराओं के अनुसार अवयव-लक्षण-प्रयोग-विवेचनाओं का यदि परिशीलन किया जाय, तो ऐसा प्रतिभासित होगा कि लक्षणों के प्रसङ्ग में सभी दार्शनिक प्रायः न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का ही थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अनुसरण करते दिखायी पड़ते हैं। किन्तु अवयव प्रयोग की जटिल समस्या को लेकर उनमें यथेष्ट मत भेद दृष्टिगोचर होते हैं। अतः अनुमान में कम से कम और अधिक से अधिक कितने अवयवों का प्रयोग अपरिहार्य है, इस पर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है। यद्यपि वात्स्यायन तथा भद्रबाहु ने अनुमान में दस अवयवों का प्रयोग किया है, किन्तु दोनों ही दार्शनिक उक्त व्यवस्थापन से संतुष्ट दिखायी नहीं देते, कारण सिद्धान्ततः उन्होंने पाँच अवयवों के विशुद्ध प्रयोग पर ही अधिक बल दिया है। धर्मकीर्ति और उत्तरवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने उदाहरण-उपनय, हेतु-उदाहरण अथवा विशिष्ट अधिकारी के लिये एक हेतु का प्रयोग ही आवश्यक माना है। मीमांसक तथा वेदान्तियों के तीन अवयवों के प्रयोग को ही उचित बतलाया है। जैनों के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का प्रभाव अवयव-व्यवस्थापन में भी स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है, क्योंकि उन्होंने श्रोता की योग्यतानुसार अवयव-प्रयोग की आवश्यकता को स्वीकार किया है। उक्त सभी दार्शनिक क्रमिक-अवयव-व्यवस्था के भी कायल नहीं है। इनके अनुसार उल्टा-सीधा चाहे जैसा भी अवयव प्रयोग हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। कैसे भी प्रयोग से निगमन निश्चित रूप से निगमित होता है। इसके विपरीत न्याय वैशेषिक दार्शनिकों का मत है कि पाँच अवयवों का क्रमबद्ध प्रयोग ही अनुमान में उपयोगी हो सकता है। इनका मत अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि इनकी प्रयोग पद्धति द्वारा सरलता से निगमन प्राप्त किया जा सकता है।

क्रमबद्ध पञ्चावयवी प्रयोग की आवश्यकता

परार्थानुमान का प्रयोजन ही दूसरों को समझाना है । अतः साध्य निश्चय के लिये, जितने भी अवयव वाक्य अभीष्ट हों, उन सभी का प्रयोग अपनी ओर से अनिवार्यतः कर देना चाहिये । सर्वथा व्युत्पन्न अधिकारी के लिए परार्थानुमान निष्प्रयोजक होने के कारण अपेक्षित ही नहीं है । और जो लोग श्रोता की क्षमता और सुविधा के अनुसार अवयव प्रयोग में न्यूनाधिकता का विन्यास करते हैं, वे भी न्याय-संगत नहीं जान पड़ते, कारण किसी भी अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति को यथार्थ रूप से अवगम करना दुष्कर कार्य हैं । अतः पर पुरुष को, अनुमिति के उत्पादक कितने अवयवों का ज्ञान भली प्रकार से है, और कितने अवयवों का नहीं, यह बात समझना भी असंभव-सा है, क्योंकि प्रत्येक पुरुष में पृथक्-पृथक् रूप से मेधा शक्ति पायी जाती है । अतः वस्तुस्थिति के अनुसार हेतु की जितनी शक्तियों से साध्य का प्रतिपादन संभावित हो, उन सभी को समझाने के लिये जितने वाक्यों की आवश्यकता प्रतीत हो, उन सभी का प्रयोग वादी को, अपनी ओर से, सभी अनुमानों में कर देना आवश्यक है । अनुमान में ही नहीं प्रत्युत जीवन के प्रत्येक पहलू में क्रमबद्धता अपना विशिष्ट स्थान रखती है । मानव शिशु शनैः शनैः ही प्रथम कक्षा से लेकर एम० ए० तक की शिक्षा सोपान-सोपान अवस्थित होकर ही ग्रहण कर पाता है । अतः सारल्य, सुविधा और उपयोगिता की दृष्टि से क्रम विन्यास आवश्यक जान पड़ता है । तब अवयवों के प्रसङ्ग में क्रम-शिथिलता कैसे सह्य हो सकती है ?

अब प्रश्न उठता है कि पाँच अवयह ही क्यों माने जाँय, इनसे कम अथवा अधिक क्यों नहीं ? पाँच अवयव वाक्यों का प्रयोग कर देने पर अन्य व्यक्ति को, असंदिग्ध रूप से अनुमिति का, 'निश्चत बोध' हो जाता है । जैसे, शब्द के प्रसङ्ग में किसी को यह जिज्ञासा होती है कि, वह नित्य है अथवा अनित्य । इस आकाङ्क्षा के शमन हेतु ही परार्थानुमान में अवयव वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उक्त समीहा की निवृत्ति के लिये 'शब्द नित्य है' इस प्रकार से प्रतिज्ञा वाक्य का उद्भावन होता है । बौद्ध धर्मकीर्ति और उसके उत्तरवर्ती आचार्यों के अतिरिक्त प्रतिज्ञा प्रयोग को सभी दार्शनिकों ने आवश्यक माना है । उनका आक्षेप है कि, हेतु ही साध्य का अनुमापक है अतः प्रतिज्ञा साक्षात् अथवा परम्परा रूप से साध्य की ज्ञापिका न होने के कारण उपयोगी नहीं है । किन्तु यह आक्षेप सारहीन है, क्योंकि 'अपदेशविषयमापादयितुम' के रूप में हेतु के विषय अर्थात् आश्रय के प्रतिपादन के लिये ही प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जाता है । हर किसी आश्रय में साध्य साधन के लिये हेतु का प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि सामान्यतः, साध्य, किसी न किसी स्थान में सिद्ध रहता ही है । इसलिए किसी विशेष धर्मी में ही साध्य सिद्धि के लिये, हेतु का प्रयोग किया जाता है । जब विशेष धर्मी का प्रतिपादन ही न किया जाय, तब आश्रयविहीन हेतु की प्रवृत्ति कैसे होगी ? जैसा कि न्याय भाष्यकार ने कहा है 'असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्त्तेरन्' । यदि यह कहा जाय कि उपनय से ही हेतु के आश्रय की प्रतीति हो सकती है, क्योंकि हेतु की पक्षधर्मता रूप सामर्थ्य का प्रदर्शन ही उपनय का कार्य है, तो यह भी उचित नहीं, कारण, वादी दूसरों को समझाने के लिये ही अवयव वाक्यों का प्रयोग करता है और उनको समझाने योग्य वस्तु वही हो सकती, जिसे वे समझना चाहें । अतः अपेक्षित वस्तु का कथन करने पर ही दूसरा व्यक्ति उसको सुगमता से समझ सकता है । यदि कोई आम के विषय में जिज्ञासा प्रकट करे और (वादी द्वारा) उसे कोविदार

(फल विशेष) का कथन किया जाय, तो वह पूछने वाले की दृष्टि में कदापि आदरणीय नहीं हो सकता, और जो आदरणीय वक्ता नहीं है, वह प्रतिपादक कैसे हो सकता है ? जैसे, 'समिधा वस्तुतः क्या होती है' , यह बात अपने शिष्य को भली-भांति समझाये बिना ही यदि गुरु शिष्य को आदेश देता है—'माठर, समिधा ले आओ ।' शिष्य 'जी अभी लाता हूं' ऐसा न कहकर इधर-उधर घूमकर जब कुटिया में प्रवेश करता है, तो उसके हाथों में समिधा न देखकर, गुरु कुपित होकर कहता है, 'आह ! अविनीत शिष्य तुमने मेरा तिरस्कार किया है ।'———अथवा न लाने का उत्तरदायित्व उस पर नहीं आ सकता। वास्तव में यह गुरु का ही दोष है कि वह बिना समझाये ही शिष्य को आदेश दे देता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति शब्द की अनित्यता को समझना चाहता है, उसके लिए 'शब्द अनित्य है' ऐसा कथन न कर, बौद्धों की तरह यथेच्छ कहना अथवा 'कृतक होने से' या 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है' या 'शब्द कृतक है' इस तरह से कथन करना उचित नहीं है, क्योंकि, यह सब अनपेक्षित होने के कारण असंगत कथन ही हैं । इसलिये बौद्धों का प्रतिज्ञा खण्डन-तर्क-संगत नहीं है ।[१८८] क्योंकि, अनुमान में साध्य पद प्रधान होने के नाते अनुमाता को सर्व प्रथम साध्य के विषय में ही समीहा होती है । साध्य की आकाङ्क्षा निवृत्त होने पर, जब प्रतिवादी यह जिज्ञासा करता है कि, शब्द को अनित्य कैसे माना जाय, तब गौण पद साधन की पक्षधर्मता आदि सामर्थ्यों के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसलिये उपनय का असामयिक प्रतिपादन उचित नहीं, क्योंकि अनपेक्षित होने के कारण वह एक असंगत कथन ही होगा । इसके विपरीत अपेक्षित होने के कारण संगत प्रतिज्ञा कथन द्वारा विषय की अधिगति सुगमतापूर्वक हो जाती है । इसीलिए सभी न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने प्रतिज्ञा वाक्य को प्राथमिक रूप से सर्वत्र स्थापित किया है ।[१८९]

शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञा कथन द्वारा, शब्द की अनित्यता के विषय में, निसंदिग्ध ज्ञान नहीं हो पाता । इसलिये उसको पुनः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि शब्द अनित्य ही क्यों हैं ? इसके समाधान के लिये वादी हेतु वाक्य—'कृतक होने से' का उद्-भावन करता है । हेतु वाक्य का प्रयोग प्रायः सभी दार्शनिकों को मान्य है ।

श्रोता को जब हेतु का बोध हो जाता है, तब उसे यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि, साध्य-अनुमिति का उत्पादन हेतु द्वारा किस प्रकार होता है ? हेतु की क्षमता के विषय में उठने वाली इस जिज्ञासा के शमन के लिये वादी 'जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है, घट के समान' इस रूप से उदाहरण वाक्य का उद्भावन करता है । बौद्ध और जैनों के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिकों ने उदाहरण वाक्य का प्रयोग आवश्यक माना है । उनकी आलोचना का केन्द्र बिन्दु यह है कि हेतु वाक्य के प्रयोग से ही अविनाभाव का कार्य सम्पन्न हो जाता है, इसलिये उदाहरण वाक्य की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । इसका समाधान देते हुए जयन्त ने लिखा है कि हेतु कथन द्वारा मात्र साधन का ही अभिधान होता है अर्थात् ज्ञप्ति के अभिप्राय से जैसे, 'धूम होने से' इस हेतु वाक्य द्वारा साध्य अग्नि की प्रयोजकता सिद्ध होती है । हेतु वाक्य में हेतु की सामर्थ्य-गम्य-गमकभाव रूप व्याप्ति विवक्षित नहीं रहती । एकतर्द व्याप्ति प्रदर्शन के लिये उदाहरण वाक्य का प्रयोग किया जाता है ।[१९०] अन्तर्व्याप्ति स्वीकार करने के कारण, जैन भी उदाहरण को अनावश्यक मानते हैं । उनका आरोप यह है कि अन्तर्व्याप्ति सम्पन्न हेतु से ही साध्य का निश्चय तथा अविनाभाव स्मरण हो जाता है एवं अविनाभाव निश्चय तर्क द्वारा सम्पन्न हो जाने से, उदाहरण सर्वथा अनुपयोगी है । किन्तु इनमें से किसी भी प्रयोजन

के लिये उदाहरण का उपादान नहीं किया जाता वरन् केवल साध्य-साधन का नियत साहचर्य प्रदर्शित करने के लिये ही उसका प्रयोग किया जाता है। उदाहरण में अनवस्था दोष का आरोपण इसलिये नहीं किया जा सकता कि वादी और प्रतिवादी दोनों की सहमति से प्रसिद्ध, परीक्षित एवं निसंदिग्ध वस्तु को ही उदाहरण के रूप में स्थिर किया जाता है। 'प्रसङ्गसम' जाति दोष का खण्डन करते हुए न्यायसूत्रकार ने भी लिखा है कि प्रत्येक दृष्टान्त की प्रामाणिकता ज्ञापित करने के लिये यदि पृथक्-पृथक् प्रमाण अन्वेषित किये जांय, तो कभी समाप्त न होने वाला अनवस्था दोष हो सकता है। किन्तु यह मान्यता तर्कसंगत नहीं है। दृष्टान्त की उपादेयता केवल अज्ञात वस्तु को बोधगम्य बनाने में ही है। जिस प्रकार एक दीपक तिमिराच्छन्न सभी पदार्थों को आलोकित करता है, उसी प्रकार संदेहयुक्त वस्तु को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने के लिये ही दृष्टान्त का प्रयोग होता है। जैसे, एक दीपक के अवलोकन के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही एक दृष्टान्त को समझने के लिये दूसरा दृष्टान्त प्रयोजनीय नहीं होता, क्योंकि दृष्टान्त उसी वस्तु का दिया जाता है, जो निश्चित रूप से ज्ञात एवं संदेह-विहीन होती है।[191] फिर अन्तर्व्याप्ति को संदेहहीन बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसका ग्रहण अन्यत्र भी किया जाय। अतः जहाँ भी कहीं व्याप्ति का निश्चय किया जायगा, वही स्थल दृष्टान्त माना जायगा। अन्तर्व्याप्ति मानते हुए भी जैनों ने धूम से अग्नि के बहिर्व्याप्ति-मूलक अनुमान को कहीं भी असद् अनुमान घोषित नहीं किया है। जैन, हेतु के अतिरिक्त प्रतिज्ञा वाक्य को भी आवश्यक मानते हैं, पर उनके कथनानुसार यदि हेतु द्वारा ही साध्य की सिद्धि मान ली जाय, तो प्रतिज्ञा को स्वतंत्र अवयव स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है? अतः व्याप्ति प्रतिपादन के लिये उदाहरण की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। जैसा कि न्याय भाष्यकार ने कहा है—'असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधन-मुपादीयेत।' इस प्रकार प्रायः सभी न्याय वैशेषिक दार्शनिकों ने उदाहरण की सार्थकता को सिद्ध किया है।[192]

उदाहरण वाक्य में साध्य-साधनभाव रूप अन्वय अथवा साध्याभाव-साधनाभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति का प्रतिपादन हो जाने के पश्चात् प्रतिवादी के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि, 'शब्द में कृतकता है या नहीं', इसकी निवृत्ति के लिये 'शब्द भी कृतक है' इस उपनय वाक्य का उपादान किया जाता है। मीमांसक, वेदान्ती, बौद्ध तथा जैन सभी दार्शनिकों ने हेतु और उपनय को, एकार्थक होने के कारण, उपनय को निरर्थक सिद्ध किया है। साधारणतः इन दार्शनिकों ने पक्ष में हेतु के उपसंहार को ही उपनय कहा है। किन्तु उनकी यह आलोचना तर्कसम्मत नहीं जान पड़ती, क्योंकि न्याय वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार पक्ष में केवल हेतु के उपसंसार को ही उपनय नहीं कहा जाता। यदि ऐसा हो तो हेतु और उपनय में कोई भेद ही न रहे। उपनय में, उदाहरण सिद्ध व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्म हेतु का पक्ष में उपसंहार होता है, अतः दोनों एक ही अर्थ के बोधक नहीं है। प्रथम में केवल हेतुता का ही अभिधान होता है, जबकि द्वितीय में पक्षधर्मता ज्ञापित की जाती है। साधन वाक्य में जिस प्रकार व्याप्ति ज्ञान प्रदर्शित करने की सामर्थ्य नहीं है, उसी प्रकार पक्षधर्मता ज्ञान की बोधक शक्ति भी नहीं है। मीमांसक और वेदान्ती भी उपनय को अनावश्यक मानते हैं, किन्तु जिस प्रकार हेतु वाक्य में उन्होंने पक्षधर्मता का उपन्यास किया है, उसी प्रकार व्याप्ति का भी विन्यास किया जा सकता है। इस तरह केवल हेतु वाक्य से ही जब व्याप्ति और पक्षधर्मता का कार्य निष्पन्न हो जाता है, तब

उदाहरण वाक्य को पृथक् अवयव मानना निरर्थक है। यदि हेतु से पक्षधर्मता और उदाहरण से व्याप्ति प्रदर्शन का कार्य लिया जाय, तो न्याय-वैशेषिक मतानुसार भी उदाहरण से व्याप्ति एवं उपनय से पक्षधर्मता की प्रयोजकता समान न्याय से सिद्ध की जा सकती है। उनके प्रथम प्रयोग में तो उपनय का कथन किया ही नहीं जाता और द्वितीय प्रयोग में हेतु का अभाव ही रहता है। अतः जब तक हेतु का उपसंसार नहीं हो जाता तब तक द्वितीय प्रयोग में उसे उपनय नहीं कहा जा सकता। पक्ष में जिस हेतु का उपसंहार नहीं होता, वह अपने साध्य का अनुभावक नहीं होता। 'न्यायभाष्य' में भी आया है 'उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत।' इस रीति से प्रायः सभी न्याय वैशेषिक आचार्यों ने उपनय की उपादेयता स्वीकार की है।[१९३]

व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में उपसंहार हो जाने के पश्चात्, प्रतिवादी ऐसी आशंका उत्थापित कर सकता है कि शब्द कृतक होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह अनित्य भी हो। इस प्रकार शब्द में साध्य अनित्यत्व के साधक कृतकत्व में असाधकता की आपत्ति का निराकरण करने के लिये वादी, 'इसलिये शब्द अनित्य है', इस निगमन वाक्य का प्रयोग करता है। सामान्यतः पक्ष में साध्य के उपसंहार को निगमन मानकर उपनय की तरह निगमन को भी, मीमांसक वेदान्ती, बौद्ध एवं जैनों ने निष्प्रयोजक माना है। उनका आक्षेप है कि प्रतिज्ञा का उपसंहारक वाक्य होने से निगमन को पृथक् अवयव मानना निरर्थक है, क्योंकि यह कार्य प्रतिज्ञा से ही सम्पन्न हो जाता है। इन आपत्तियों का निरास करते हुए न्याय वैशेषिक दार्शनिकों ने निगमन मण्डन के लिये अपनी युक्तियों का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—प्रतिज्ञा वाक्य को निगमन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निगमन पाँच अवयवों का एक समुदायात्मक वाक्य है। इसमें प्रतिज्ञा आदि चारों प्रमाणभूत अवयव, पारस्परिक सामञ्जस्य से सम्बद्ध होकर एकवाक्यतापन्न हो, अपने साध्य-विषय का निश्चयन करते हैं, किन्तु प्रतिज्ञा वाक्य में साध्य-निर्देश, केवल हेतु वाक्य के आधार पर ही होता है। इसलिए प्रतिज्ञा वाक्य में साध्य निर्देशन के लिये हेतु ही सामर्थ्य सम्पन्न है। इसके विपरीत जिस वाक्य में, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण एवं उपनय इन चारों वाक्यों को, साध्य अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए, समाहित करने की क्षमता हो, उसे ही निगमन कहा जाता है। पक्ष में साध्य का उपसंहार ही निगमन का लक्षण नहीं है, अपितु व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्म-हेतु कथनपूर्वक साध्यविशिष्ट पक्ष प्रदर्शक वाक्य ही निगमन है। अतः प्रतिज्ञा और निगमन दोनों एक अर्थ के बोधक नहीं कहे जा सकते। प्रतिज्ञा प्रतिपाद्य विषय (साध्य) का कथन मात्र है, जबकि निगमन द्वारा उसकी सिद्धि की जाती है। अभिप्राय यह कि प्रतिज्ञा काल में साध्य संदिग्ध अवस्था में होने के कारण असिद्ध रहता है, इसीलिये उसकी प्रतिपत्ति के लिये हेतु आदि अन्य अवयवों का प्रतिपादन किया जाता है। यदि प्रतिज्ञा को ही साध्य की निश्चायिका मान ली जाय तब केवल प्रतिज्ञा का ही कथन होना चाहिये। ऐसी परिस्थिति में हेतु आदि अन्य अवयव वाक्यों को भी वैयर्थ्यता की आपत्ति लग सकती है, किन्तु हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता के निश्चय बिना, केवल प्रतिज्ञा प्रयोग से ही साध्य का निर्धारण किसी भी दार्शनिक को मान्य नहीं है। अतः प्रतिज्ञात अर्थ, जब हेतु आदि वाक्यों द्वारा सिद्ध होकर प्रमाणित हो जाता है, तभी निगमन कहलाता है। प्रतिज्ञा आदि चारों अवयव पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं, स्वतंत्र होने के कारण पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से निगमन के बिना उनमें विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन की सामर्थ्य नहीं

रहती । निगमन वाक्य का प्रयोग होने पर ही वे परस्पर साकाङक्ष होकर विशिष्ट अर्थ विषयक बोध का सम्पादन कर सकते हैं । उदाहरण 'घट' में रहने वाला तथा शब्द वृत्ति कृतकत्व दोनों भिन्न हैं । अतः जिस व्यक्ति को व्याप्ति और पक्षधर्मता का, उदाहरण और उपनय द्वारा, बोध हो चुका है, उसको भी यह भ्रांति हो सकती है कि घट वृत्ति कृतकत्व में अनित्यत्व की व्याप्ति रहने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शब्द वृत्ति कृतकत्व में भी अनित्यत्व की व्याप्ति होगी ही । इसलिये शब्द में, अनित्यत्व साध्य की सिद्धि, व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान के रहने पर भी नहीं हो सकती । इसीलिये कृतकत्व सामान्य में अनित्यत्व सामान्य की व्याप्ति प्रतिपादित करने के लिये 'कृतक होने से शब्द अनित्य है', इस निगमन वाक्य का प्रयोग किया जाता है । साध्य की पुनरावृत्ति होने से ही मीमांसक एक वेदान्ती निगमन वाक्य की व्यर्थता सिद्ध नहीं कर सकते । कारण, प्रतिज्ञा वाक्य में एक बार साध्य पद की आवृत्ति हो जाने के उपरान्त भी उदाहरण वाक्य में उसकी पुनः आवृत्ति की जाती है । अतः पुनरावृत्ति विरह को ही प्रयोजक माना जाय, तो प्रतिज्ञा व हेतु से कार्य सम्पादित होने के कारण उदाहरण को भी वैयर्थ्य की आपत्ति लग सकती है । परन्तु उदाहरण को उन्होंने दोनों प्रयोगों में आवश्यक माना है । अतः जिस विशिष्ट प्रयोजन को लेकर वे उदाहरण की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, उसी प्रकार विशिष्ट प्रयोजन के लिये निगमन को मानना भी आवश्यक है । व्याप्ति और पक्षधर्मता ही हेतु की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि उक्त क्षमताओं के रहने पर भी प्रकरणसम और बाधित हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती । अतः हेतु में साध्य निश्चय की उपयुक्त सामर्थ्य के लिये यह भी आवश्यक है कि पक्ष में, उसके साध्य का बाध न हो, तथा उसके साध्य के अभाव का साधक कोई प्रतिपक्षी हेतु भी पक्ष में विद्यमान न हो । इस रीति से 'प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण' रूप प्रथम प्रयोग में साध्य निर्देश, पक्षधर्मता और व्याप्ति में रहने पर भी यदि बाध अथवा सत्प्रतिपक्ष प्रसङ्ग हो जाता है, तो उनका सम्पूर्ण अवयव विन्यास नष्ट हो सकता है । अतः बाध और सत्प्रतिपक्ष के निराकरण के लिये निगमन का प्रयोग आवश्यक है । द्वितीय प्रयोग में एक ही निगमन वाक्य से दो कार्य-साध्य-निर्देश और साध्य निश्चय, सम्पादित नहीं किये जा सकते । सारांशतः प्रतिज्ञा-हेतु कथन करके तथा व्याप्ति और पक्षधर्मतामूलक उदाहरण और उपनय वाक्यों को देकर कोई इधर उधर तो नहीं भटक गया है, यह बात स्थिर करने के लिए सर्व संग्राहक वाक्य निगमन का प्रयोग आवश्यक जान पड़ता है । वात्स्यायन ने भी कहा है—'निगमना-भावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं तथेति प्रतिपादनं कस्येति' इसलिये निगमन वाक्य के स्वतन्त्र प्रयोग को सभी न्याय-वैशिषक दार्शनिकों ने उचित ठहराया है ।[१६४]

इस प्रकार प्रायः सभी न्याय[१६५] दार्शनिकों ने, 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन' तथा वैशेषिक[१६६] दार्शनिकों ने, 'प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान एवं प्रत्याम्नाय' इन पाँच अवयवों को क्रमशः आवश्यक माना है ।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वादी को, अवयव प्रयोग, उसी क्रम से करना चाहिये, जिस क्रम से प्रतिवादी अपेक्षा करता है । प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा होने पर यदि हेतु अथवा उदाहरण वाक्य का प्रयोग प्रतिज्ञा से पहले किया जाता है, तो प्रति-वादी असमञ्जस में पड़ जाता है । अतः सुगमता से स्व-निर्धारित तथ्य को समझाने के लिये प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय एवं निगमन का क्रमबद्ध प्रयोग करना चाहिये । इन

पाँच वाक्यों का प्रयोग कर देने पर निसंदिग्ध रूप से अनुमिति उपपन्न हो जाती है। अतः अनुमान प्रयोग में न तो इनसे अधिक वाक्यों के प्रयोग की अपेक्षा रहती है और न इनसे कम अवयवों द्वारा समुचित कार्य सम्पादन हो सकता है।

संदर्भ निर्देश

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्यायः। न्या० भा० पृ० ३८। २. न्या० भा० पृ० ४८-५२, ३१६। ३. अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यं न्यायः। त० चि० पृ० १४६०। ४. उचितानुपूर्वीकं प्रतिज्ञादिपञ्चकसमुदायत्वं न्यायत्वम्। दी० पृ० १४६०। ५. न्यायो नाम अवयवसमुदायः। वे० प० पृ० १८३। ६. साद्यनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहपेक्षाऽवयवा उच्यन्ते। न्या० भा० पृ० ४७। ७. वही पृ० २७१। ८. न्या० मं० २ पृ० १३१। ९. अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वमवयवत्वम्। त० चि० पृ० १४६९। १०. दी० पृ० १४७०। ११. न्या० सू० वृ० पृ० २६९। १२. अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः त० भा० पृ० २३९। १३. परार्थानुमानवाक्यैकदेशोऽवयवः सं० द० सं० पृ० ४६५। १४. न्या० वा० ता० टी० पृ० ४८-४९। १५. त० भा० पृ० २४०। १६. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। न्या० सू० १।१।३३। १७. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणों विशष्टिस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः अनित्यः शब्द इति। न्या० भा० पृ० २७२। १८. न्या० वा० पृ० २७२। १९. न्या० मं० २ पृ० १३२। २०. तत्र प्रतिज्ञा न साध्यनिर्देशः—साध्यपदेऽव्याप्तेः, किन्तूद्देश्यानुमितिहेतुलिंगपरामर्शप्रयोजकवाख्यार्थज्ञानजनकत्वेसत्युद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनकं वाक्यम्। त० चि० पृ० १४८४। २१. दी० पृ० १४८४। २२. न्या० सू० वृ० पृ० २७३-७४। २३. प्रतिपिपादयिषया पक्षवचनं प्रतिज्ञा। यथा अनित्यः शब्द इति। न्या० सा० पृ० २६। २४. साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा, यथा पर्वतो यं वह्निमानिति। त० भा० पृ० २३९। २५. साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा। (यथा) पर्वतो वह्निमानिति। त० सं० दी० पृ० ३९; त० सं० पृ० ३८। २६. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् न्या० सू० १।१।३६। २७. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः न्या० सू० १।१।२५। २८. न्या० मं० २ पृ० १२६-१२७। २८. न्या० भा० पृ० ३०६-९। ३०. तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् न्या० सू० १।१।३७। ३१. न्या० भा० पृ० ३०९-१०। ३२. वही पृ० ३११। ३३. न्या० वा० पृ० ३०६-१२। ३४. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३०६-१२। ३५. न्या० मं० २ पृ० १३८-४०। ३६. न्या० सा० पृ० ४९। ३७. वही पृ० ४९-५०। ३८. तत्रानुमितिहेतुलिंगपरामर्शवाक्यजन्यज्ञानजनकव्याप्यत्वाभिमतवन्निष्ठनियतत्वाभिमतसम्बन्धबोधजनकशब्दत्वमुदाहरणत्वम्। सामान्य लक्षणे——त० चि० पृ० १५७१। ३९. साध्यसाधनसम्बन्धबोधकत्वं साध्यसाधनाभावसम्बन्धबोधकत्वंच विशेषलक्षणद्वयम्। वही० पृ० १५७१। ४०. वही पृ० १५७२ : ४१. न्या० सू० वृ० पृ० ३०६-११। ४२. न्या० क० पृ० ११। ४३. न्या० सू० वृ० पृ० ३१२। ४४. त० भा०

पृ० २३७-३८ । ४५. सव्याप्तिक दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् । वही पृ० २३९-४० । ४६. व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम् । त० सं० दी० पृ० ३९ । ४७. प्र० पं० पृ० २२३-२४ । ४८. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १०८, ११८-२१ । ४९. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः । न्या० सू० १।१।३८ । ५०. न्या० भा० पृ० ३१३-१४ । ५१. वही पृ० ३१४ । ५२. न्या० वा० पृ० ३१३-१४ । ५३. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३१३-१४ । ५४. न्या० मं० २ पृ० १४०-४१ । ५५. न्या० सा० पृ० ५४ । ५६. त० भा० पृ० २४० । ५७. अनुमितिकारणतृतीयलिंगपरामर्शजनकावयवत्वमुमपयत्वमिति सामान्यलक्षणम् त० चि० पृ० १५७२ । ५८. साध्यव्याप्यविशिष्टपक्षबोधकावयवत्वं साध्यभावव्यापकाभावप्रतियोगिमत्पक्षबोधकावयवत्वंच विशेषलक्षणद्वयम् । वही० पृ० १५७२ । ५९. वही पृ० १४६० । ६०. गा० पृ० १४६२ । ६१. त० सं० दी० पृ० ४० । ६२. हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् । न्या० सू० १।१।३९ । ६३. न्या० भा० पृ० ३१५-१६ । ६४. वही पृ० ३१५-१६ । ६५. न्या० वा० पृ० ३१८-२० । ६६. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३१५-२१ । ६७. न्या० मं० २ पृ० १४२-४३ । ६८. न्या० सा० पृ० ५५ । ६९. त० भा० पृ० २४० । ७०. अनुमितिहेतुलिंगपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानकारणव्याप्तिपक्षधर्मताधीप्रयुक्तसाध्यधीजनकंवाक्यम् । त० चि० पृ० १५७३ । ७१. वही पृ० १५७३ । ७२. न्या० सू० वृ० पृ० ३१६-१९ । ७३. त० सं० दी० पृ० ३९ । ७४. न्या० भा० पृ० ३१७-१८ । ७५. वही पृ० ३१६-१७ । ७६. न्या० वा० पृ० ३१८-२० । ७७. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३१७-२० । ७८. त० चि० पृ० १४६२ । ७९. त० सं० दी० पृ० ३९ । ८०. अनुमेयाद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देश्यमात्रं प्रतिज्ञा । प्र० भा० पृ० ३३५ । ८१. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः । वही० पृ० ३३५ । ८२. प्र० भा० पृ० ३४३-३४५ । ८३. कि० पृ० ३३५-३७ । ८४. व्यो० पृ० ५९९-६००, ६१२, ६१४-१५, ६१६ । ८५. न्या० कं० पृ० ५६५-६९, ५९८-९९, ६०६-६१२ । ८६. तानि च वाक्यानि प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनानि । तत्र प्रतिज्ञा———न्यायावयवः उ० पृ० २१९-२० । ८७. एतेषामेव प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाया इत्यन्वर्था वैशेषिकाणां संज्ञाः । उ० पृ० २२० । ८८. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ३-११, १०८-१२१ । ८९. शा० दी० पृ० १७७-१७८ । ९०. प्र० पं० पृ० २२०-२२ । ९१. मा० मे० पृ० ६६, ६९, ८८-८९ । ९२. मा० वृ० पृ० १२-१३ । ९३. वही पृ० १२-१३; यु० दी० पृ० ४७ । ९४. त० प्र० पृ० ३९७-४०१ । यु०दी०पृ० ४७ ९५. JRAS. 1929 BLBD. p 461-65; बौ० द० पृ० ११६-११९ । ९६. न्या० प्र० पृ० १-२ । ९७. वही, पृ० १ । ९८. वही, पृ० १-२, ४-५ । ९९. न्या० बि० ३।१२२; न्या० बि० टी० पृ० २३६-२३८; बौ० त० भा० पृ० १३ । १००. प० मु० सू० ३।३३, प्र० र० मा० पृ० १६५, ३।४२, प्र० र० मा० पृ० १७१; प्र० न० त० ३।२३, २८, ४२, ५३; प्र० मी० २।१।१० एवं वृ० पृ० ५२; न्या० दी० पृ० ७९-८१, ८२, १०३; पत्र प० पृ० ३ । १०१. प्रतिज्ञाः–प्र० मी० २।१।११ एवं वृ० पृ० ५२; न्या० दी० पृ० ७७ न्या० व० का १८-१९; न्या० वि० का० ३८०; प्र० र० ल० ३।२५-२६ पर । द्विविध उदाहरणः–प० मु० सू० ३।४३-४५; प्र० र० मा० पृ० १७१-७२, प्र० न० त० ३।४३-४८; प्र० मी० १।२।२०-२३,

२।१।१३ एवं वृ० पृ० ५३; न्या० दी० पृ० ७८, पृ० १०५-१०७; प्र० र० ल० ३।४७, ४९ पृ० १२०, १२१। उपनय:–प० मु० सू० ३।४६; प्र० र० मा० पृ० १७२; प्र० न० त० ३।४९-५०; प्र० मी० २।१।१४ एवं वृ० पृ० ५३; न्या० दी० पृ० ७८-७९, १११; प्र० र० ल० ३।५० पृ० १२१। निगमन:–प० मु० सू० ३।४७; प्र० र० मा० पृ० १७३; प्र० न० त० ३।५१-५२; प्र० मी० २।१।१५ एवं वृ० पृ० ५३; न्या० दी० पृ० ७९, १११-१२; प्र० र० ल० ३।५१ पृ० १२१। १०२. त० चि० पृ० १५७१-७३ । १०३. अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् न्या० सू० कं० ५।२।११। १०४. हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् । वही ५।२।१२ । १०५. हेतूदाहरणाधिकम-धिकम् वही० ५।२।१३। १०६. न्या० भा० गं० पृ० ९०६-७; न्या० मं० २ पृ० १९९-२०१; त० चि० पृ० १४६९-७०, १५७१-७४; दी० पृ० १४७०; गा० पृ० १५७५-७८। १०७. न्या० भा० पृ० ३१७-१८। १०८. प्र० भा० पृ० ३४५-४६; व्यो० ६१६-१९; न्या० कं० ६१५-२१। १०९. शा० दी० पृ० १७८-७९। ११०. मा० मे० पृ० ६४-६५; त० सि० र० पृ० ६०। १११. प्र० पं० पृ० २२३-२५। ११२. शा० दी० पृ० १७८-७९। ११३. मा० मे० पृ० ६४-६५। ११४. त० सि० र० पृ० ६०। ११५. प्र० पं० पृ० २२३। ११६. मा० वृ० पृ० १२-१३। ११७. पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः सां० सू० ५।२७। ११८. सां० प्र० भा० पृ० १२८। ११८।१. यु० दी० का० ६ प० ४७-४८। ११९. प० १८४-१८९। १२०. पृ० १८४-१८५। १२१. प० १८४-१८५। १२२. पृ० ७०। १२३. त० प्र० पृ० ३९७-४०१। १२४. न्या० प्र० पृ० १। १२५. वही पृ० १। १२६. प्र० वा० ४।१६-१७, २०-२६; न्या० बि० ३।३४। १२७. तत्त्व० सं० का० १४३०-३६। १२८. तत्त्व० सं० पं० पृ० ४१८-२०। १२९. हे० बि० टी० पृ० ६३-७०। १३०. बौ० त० भा० पृ० १४। १३१. तत्त्व सं० का० १४३७-३९। १३२. तत्त्व० सं० पं० पृ० ४२०-२१ १३३. हे० बि० टी० पृ० ७०-७२। १३४. बौ० त० भा० पृ० १४। १३५. तत्त्व० सं० का० १४४०-४१। १३६. तत्त्व० सं० प० पृ० ४२१-२२। १३७. हे० बि० टी० पृ० ७०-७२। १३८. बौ० त० भा० पृ० १४। १३९. तद्भावहेतुभावौ हि दष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः। प्र० वा० ३।२६। १४०. न्या० बि० ३।१२१। १४१. वा० न्या० पृ० १०२-१०९। १४२. वा० न्या० टी० पृ० १०२-१०९। १४३. तत्त्व० सं० का० १४३०। १४४. तत्त्व० सं० पं० ४१८। १४५. हे० बि० टी० पृ० ७०। १४६. वा० न्या० पृ० १०९-११०। १४७. वा० न्या० टी० पृ० १०९-१११। १४८. हे० बि० टी० पृ० ७२। १४९. द० वै० सू० गा० ४९। १५०. हृ० वृ० पृ० ६५। १५१. न्या० व० का० १४-१६। १५२. न्या० व० टी० पृ० ६९। १५३. पं० मु० सू० ३।३०-३२। १५४. प्र० क० म० पृ० ३७३-७४; न्या० कु० च० पृ० ४३७। १५५. प्र० र० मा० पृ० १६१-६४। १५६. प्र० न० त० ३।२४-२५ : १५७. र० पृ० १००-१०१। १५८. प्र० मी० २।१।८ एवं वृत्ति पृ० ५१-५२। १५९. न्या० व० का० २०। १६०. प० मु० सू० ३।३३-३७। १६१. प्र० क० मा० पृ० ३७४-७६। १६२. प्र० र० मा० पृ० १६५-१६८। १६३. प्र० न० त० ३।२८-३७। १६४. र० पृ० १०३। १६५. प्र० मी० १।२।१८-२० एवं वृ० पृ० ४७-४८। १६६. न्या० व० टी० पृ० ७३। १६७. प० मु० सू० ३।४०। १६८. स्या० र० पृ० ५६३। १६९. प्र० न० त० ३।४१; र० पृ० १०४;

प्र० क० मा० पृ० ३७६; प्र० र० मा० पृ० १६८। १७०. प० मु० सू० ३।४२; प्र०
क० मा० पृ० ३७६-७७; प्र० र० मा० पृ० १७१; प्र० न० त० ३।४२; न्या० दी०
पृ० ७९-८१; जै० त० भा० पृ० १६। १७१. प० मु० सू० ३।४२; प्र० क० मा० पृ०
३७६-७७; प्र० र० मा० पृ० १७१; प्र० न० त० ३।४२; न्या० दी० पृ० ८२; जै०
त० भा० पृ० १६। १७२. स्या० र० पृ० ५६७। १७३. द० वै० सू० गा०, ८९-९१।
१७४. प्र० मी० २।१।१० एवं वृ० पृ० ५२; न्या० दी० पृ० ८२; जै० त० भा० पृ० १६।
१७५. न्या० भा० पृ० २६९-७०। १७६. न्या० भा० पृ० २७०-७१। १७७. न्या०
वा० पृ० २६९-७१। १७८. न्या० वा० ता० टी० पृ० २६९-७१। १७९. न्या० सू०
वृ० पृ० २७०-७२। १८०. भा० च० पृ० १३८-१४०। १८१. द० वै० सू० गा०
९२-९५; भाष्य ९५।१-४; गा० ११६, हरि० वृ० पृ० १३५, गा १३१-३६। १८२. वही
गा० १३७-१४८। १८२।१. युक्तिदीपिका का० १ भूमिका पृ० ३, का० ६ पृ० ४६-
५२। १८३. न्या० भा० पृ० २७०-७१; न्या० वा० पृ० २७०-७१; न्या० वा० ता०
टी० पृ० २७०-७१; न्या० सू० वृ० २७२; भा० च० पृ० १४०। १८४. स्या० र०
पृ० ५६५; न्या० व० टी० पृ० ७३; जै० त० भा० पृ० १६। १८५. न्या० व० टी०
पृ० ७३। १८६. तथाहि—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानीति त्र्यवयवमनुमानमिति———
सहोपनयेन चतुरवयवमिति मीमांसका: प्र० मी० वृ० पृ० ५२। १८७. प्रतिज्ञाहेतू-
दाहरणोपनयभेदेन चतुरवयवमिति मीमांसक:। प्र० र० मा० पृ० १६४। १८८. न्या०
वा० ता० टी० पृ० २८३, इस प्रसङ्ग को, 'गुरू और शिष्य' की अपेक्षा 'भिक्षु और
शैक्ष' (नवीन शिक्षार्थी) के उदाहरण द्वारा हेमचन्द्र ने भी अक्षरश: अवतरित किया
है—प्र० मी० वृ० पृ० ५१, इसी अवतरण के आधार पर पं० सुखलाल संघवी ने अन्य
जैन दार्शनिकों के पक्ष-विवेचन से हेमचन्द्र के पक्ष निरूपण की विशेषता ज्ञापित की है—
प्र० मी० भा० टि० पृ० ९३-९४। १८९. न्या० सू० १।१।३२-३३; न्या० भा० पृ०
२७१-७२; न्या० वा० पृ० २६९, २७२-७३; न्या० वा० ता० टी० पृ० २६९, २७२-
७३; न्या० मं० २ पृ० १३०-३१, १४३; न्या० क० पृ० ९; न्या० सा० पृ० २६;
त० चि० पृ० १४६०, १४७०, १८८४, १५२९-३०; दी० पृ० १४६०, १४७०, १४८४;
गा० पृ० १४६१, १४७१, १४८५; त० भा० पृ० २३९; त० पृ० १५; न्या० सू० वृ० पृ०
२६९, २७३; त० सं० पृ० ३८; त० सं० दी० पृ० ३९; प्र० भा० पृ० ३३५, ३४५;
कि० पृ० ३३५; व्यो० पृ० ५९९, ६१८; न्या० कं० पृ० ५६५-६६, ६१६; उ० पृ०
२१९-२०; स० प० १५६। १९०. धर्मयो: साध्यसाधनभावप्रदर्शनमेकत्रोदाहरणार्थ:
न्या० भा० पृ० ३१७ हेतावुक्ते कथमस्य गमकत्वमित्याकाङ्क्षायां व्याप्तिपक्षधर्मतयो:
प्रदर्शनप्राप्तौ व्याप्ते: प्राथम्यात् तत्प्रदर्शनायोदाहरणम् त० चि० पृ० १५७१।
१९१. न्या० सू० गं० ५।१।९-१०, न्या० भा० गं० पृ० ८४४-४७। १९२. न्या० सू०
१।१।३६-३७; न्या० भा० पृ० ३०६-१२, ३१६-१७; न्या० वा० ३०६-१२; न्या०
वा० ता० टी० ३०६-१२, ३१७; न्या० मं० २ पृ० १३८-४०; न्या० कं० पृ० ११;
न्या० सा० पृ० ४९-५०; त० चि० पृ० १५७१-७२; त० भा० २३९-४०; त० पृ०
१५; न्या० सू० वृ० पृ० ३०६-१२; त० सं० पृ० ३८; त० सं० दी० पृ० ३९। प्र० भा०
पृ० ३४३, ३४६; व्यो० पृ० ६१२, ६१८; न्या० कं० पृ० ५९८-९९, ६१७-१८;
उ० पृ० २१९-२०; स० पृ० १५६। १९३. न्या० स० १।१।३८; न्या० भा० पृ०
३१३-१४, ३१६-१७; न्या० वा० पृ० ३१३-१४; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३१३-

१४; न्या० मं० २ पृ० १४०-१४३; न्या० क० पृ० १२; न्या० सा० पृ० ५४; त० चि० पृ० १५७२-७३; त० भा० पृ० २४०; त० पृ० १५; न्या० सू० वृ० पृ० ३१३-१५; त० सं० पृ० ३८; त० स० दी० पृ० ३९ प्र० भा० पृ० ३४४, ४६; व्यो० पृ० ६१४-१५, ६१८-१९; न्या० कं० पृ० ६०५-११, ६१८-१९; उ० पृ० २१९-२०; सं० प० १५६। १९४. न्या० सू० १।१।३९; न्या० भा० पृ० ३१५-१७; न्या० वा० पृ० ३१८-२०; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३१५-२०; न्या० मं० २ पृ० १४२-४३; न्या० क० पृ० १२-१३; त० भा० पृ० २४०; त० पृ० १६; त० सं० पृ० ३८; न्या० सू० वृ० पृ० ३१६-१९; त० स० दी० पृ० ३९; प्र० भा० पृ० ३४५-४६; व्यो० पृ० ६१६-१८, १९; न्या० कं० ६११-१६, ६१९-२१; उ० पृ० २१९-२०; सं० प० १५६; न्या० सा० पृ० ५५। १९५. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा: न्या० सू० १।१।३२, न्या० वा० पृ० २६९; न्या० मं० २ पृ० १३१-३२; न्या० क० पृ० ९; न्या० सा० पृ० २६; त० भा० २३९; त० पृ० १५; त० सं० पृ० ३८। १९६. अवयवा: पुन: प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाया: प्र० भा० पृ० ३३५, व्यो० पृ० ५९९; न्या० कं० पृ० ५६५; उ० पृ० २२०।

६ हेत्वाभास

हेत्वाभास की आवश्यकता

किसी भी बात को भली प्रकार समझने के लिये, उसकी अच्छाइयों के ज्ञान के साथ-साथ उसके दोषों का भी जानना आवश्यक है, क्योंकि ये दोनों पहलू परस्पर सापेक्ष हैं। जैसे, रात को समझने के लिये दिन अथवा दिन को समझने के लिये रात का ज्ञान होना आवश्यक है इसी प्रकार सद्हेतु को समझने के लिये असद्हेतु का ज्ञान भी आवश्यक है। प्रायः सभी लोग अपने-अपने व्यवहार में दोनों प्रकार के हेतुओं का प्रयोग करते हैं। सद्हेतु के प्रयोग से दुरूह बात भी सुगमतापूर्वक समझी जा सकती है, किन्तु असद्हेतु का प्रयोग करने पर सरल बात भी जटिल हो जाती है। जैसे, 'विद्या से, अज्ञान-तिमिर विछिन्न होता है। यहाँ 'विद्या' सद्हेतु है, इसलिये इसके प्रयोग द्वारा अज्ञान रूपी अंधकार का विनष्ट होना सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि, 'विद्या से, अज्ञान की वृद्धि होती है' तो यहाँ विद्या असद्हेतु होगा, क्योंकि इसके द्वारा अज्ञान का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सद्हेतु और असद्हेतु का प्रयोग सृष्टि के आदि काल से चला आ रहा है। साधारण व्यक्ति इसके लक्षण-प्रकार आदि से भले ही परिचित न हों, पर उनके व्यवहार में इसका प्रयोग अवश्य होता है। साधारण व्यवहार में असद्हेतु के लक्षण व प्रकारों को न जानने पर कार्य निर्वाह हो सकता है, किन्तु अनुमान के प्रसंङ्ग में ऐसी बात नहीं है, कारण असद्हेतु द्वारा अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता। इसीलिये सद्हेतु को समझने के लिये, असद्हेतु ज्ञान के लिये, हेत्वाभासों का वर्णन किया जाता है।

हेत्वाभास के प्रयोजन

सद्हेतु का सपरिकर विवेचन करने के उपरान्त, गङ्गेश ने हेत्वाभासों का प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है कि, सद्हेतु की तरह हेत्वाभास भी 'तत्त्वनिर्णय' तथा 'विजय' के प्रयोजक हैं, इसलिये सद्हेतुओं का निरूपण करने के पश्चात् असद्हेतु रूप हेत्वाभासों का निरूपण किया जाता है।[1] गङ्गेश की व्याख्या करते हुए गदाधर भट्टाचार्य ने लिखा है कि समस्त ज्ञानों को परस्पर विरुद्ध दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है---प्रमित कोटि और अप्रमित कोटि। अनुमिति भी एक प्रकार का ज्ञान है, अतः इसमें भी उक्त दोनों कोटियाँ सन्निविष्ट रहती है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से'। यहाँ हेतु धूम से होने वाली, पक्ष पर्वत में, साध्य वह्नि-विषयक अनुमिति, 'तद्वति तत्प्रकारक' होने के नाते प्रमित कोटि तथा 'जलाशय वह्निमान् है, जल होने से' इस स्थल में हेतु जल से होने वाली, पक्ष जलाशय में साध्य वह्नि विषयक अनुमिति, 'तद्भाववति तत्प्रकारक' होने के कारण अप्रमित कोटि में समाविष्ट की जाती है, कारण प्रथम में,

वह्नि की सत्ता पर्वत में वस्तुतः रहती है, किन्तु द्वितीय में, उसकी सत्ता का अभाव जलाशय में ही पाया जाता है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार पक्ष जलाशय में साध्य वह्नि के साधक जल आदि हेतुओं में हेत्वाभासत्व का ज्ञान जब तक नहीं हो जाता, तब तक पर्वत वृत्ति वह्नि साधक हेतु धूम आदि में, व्याप्ति-पक्षधर्मता ज्ञान में रहते हुए भी 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में प्रमात्व का असंशयित ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में प्रमात्व ज्ञापन के लिये, जैसे, व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार अप्रमात्व के प्रयोजक विरुद्ध हेतुओं में हेत्वाभासत्व का ज्ञान होना भी परम आवश्यक है। इसी प्रमित कोटि निश्चय को तत्त्वनिर्णय कहा जाता है। इसलिये तत्त्व के सभी निर्णयों में सद्हेतु-ज्ञान की तरह, हेत्वाभासत्व का ज्ञान होना भी अत्यावश्यक है। इसी प्रकार विजय के लिये भी हेत्वाभासों का निरूपण करना अनिवार्य है। अन्य पुरुष के अहंकार खण्डन को 'विजय' और 'मैं अमुक से उत्कृष्ट हूँ', इस धारणा को अहंकार कहा जाता है। वादी और प्रतिवादी में, विजयाभिलाषी पुरुष, हेत्वाभासों को अधिगम कर, उनसे होने वाले दोषों से अपनी रक्षा तथा अपने विरोधी द्वारा प्रयुक्त असद् अनुमान में हेत्वाभासों का उद्भावन कर, उसे पराजित कर सकता है, कारण जब तक वादी अथवा प्रतिवादी अपने प्रतिपक्षी के वाद में प्रयुक्त हेत्वाभासों का निरास करने की क्षमता नहीं रखता, तब तक विजय श्री उसके चरण-चुम्बन नहीं कर पाती। इसलिये स्वपक्ष स्थापन तथा परपक्ष खण्डन के लिये हेत्वाभासों का ज्ञान होना अपरिहार्य है।[२]

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

व्युत्पत्ति के आधार पर हेत्वाभास शब्द दो प्रकार से निष्पन्न हो सकता है—'हेतोराभासा हेत्वाभासाः' अर्थात् हेतु के आभास का नाम हेत्वाभास है। ऐसा निर्वचन करने पर 'हेत्वाभास शब्द से अनैकान्तिक, असिद्ध आदि दोषों का भान होता है। एवं 'हेतु वद् आभासन्ते इति हेत्वाभासाः' अर्थात् जो आपाततः हेतु की तरह प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः हेतु लक्षण से शून्य होते हैं, उनको हेत्वाभास कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से दुष्ट हेतु का बोध होता है। इन व्युत्पत्तियों में प्रयुक्त 'वत्' प्रत्यय का अर्थ है, सद्हेतु से भिन्नता अथवा समानता। एतदर्थ जो सद्हेतु से भिन्न होकर सद्हेतु के समान हो अथवा जो पक्षसत्त्व आदि पाँच सद्हेतु लक्षणों के न होने पर भी, सद्हेतु की तरह प्रतीत होता है, वह हेत्वाभास कहलाता है।

हेत्वाभास-सामान्यलक्षण

महर्षि कणाद ने, अप्रसिद्ध, असन् तथा संदिग्ध इन तीन हेत्वाभासों का निरूपण करते हुए हेत्वाभास सामान्य का भी लक्षण दिया है—जो प्रसिद्धयुक्त न हो, वह अनपदेश अर्थात् हेत्वाभास कहलाता है।[३] किन्तु महर्षि गौतम ने, सव्यभिचार, विरुद्ध प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत इन पाँच हेत्वाभासों का ही परिगणन किया है,[४] कोई सामान्य लक्षण विन्यास नहीं। वात्सायन[५] ने उक्त द्वितीय व्युत्पत्ति लभ्य लक्षण के रूप में, हेत्वाभास सामान्य का लक्षण व्यक्त किया है, जिसे उद्योतकर,[६] वाचस्पति[७] मिश्र, जयन्त,[८] भासर्वज्ञ[९] आदि ने अक्षरशः मान्य किया है। यद्यपि उपक्रम और उपसंहार द्वारा चिन्तामणिकार का भी यही अभिप्राय व्यक्त होता है कि, उन्हें हेत्वाभास पद से वात्स्यायन प्रणीत अर्थ ही अभिप्रेत है अर्थात् दुष्ट हेतु ही हेत्वाभास का परिचायक है। किन्तु उनके

हेत्वाभास सामान्यलक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने हेतु दोष का ही लक्षण स्पष्ट किया है, जो उक्त प्रथम व्युत्पत्ति द्वारा लभ्य है । 'दुष्टत्व' केवल दुष्ट हेतु में ही रहता है और दोष सव्यभिचार आदि सभी दोषों में पाया जाता है अतः वात्स्यायन समर्थित चिन्तामणिकार के हेत्वाभास लक्षण को यदि दुष्ट हेतु लक्षण परक ही मान लिया जाय, तो दोष में अव्याप्ति होगी । इस असंगति का परिहार करते हुए दीधितिकार ने लिखा है, 'तद्वत्त्वंच दुष्ट हेतूनाम ' अर्थात् 'दोषवत्त्वं दुष्टत्वम्'—दोषविशिष्ट होना ही दुष्ट होना है,' इस व्युत्पत्ति के आधार पर दोषों को जाने बिना दुष्ट हेतु को समझना असंभव है । अतः दोष को अवगम कर लेने के पश्चात् 'तादृश दोषवत्त्वं दुष्टत्वम यह लक्षण भी सुलभ हो जाता है । इसी दृष्टि से मूलकार ने सव्यभिचार आदि सभी दोषों में रहने वाले लक्षण को अभिव्यक्त किया है । व्यभिचारवत्त्वं सव्यभिचारत्वम्, 'विरोधवत्त्वं विरुद्धस्य लक्षणम्' इत्यादि लक्षण वाक्य सौलभ्य के साथ निर्मित किये जा सकते हैं, जिससे दोषों को समझ लेने के पश्चात् सव्यभिचार आदि दुष्ट हेतुओं को भी सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है । अतः कोई अव्याप्ति न होगी ।[१०] गङ्गेश ने हेत्वाभास सामान्य के तीन लक्षण दिये हैं ।

गङ्गेशोपाध्याय द्वारा प्रतिपादित-प्रथम लक्षण

प्रथम लक्षण इस प्रकार है—'अनुमिति के कारणीभूत अभाव के प्रतियोगी यथार्थज्ञान की विषयता जिसमें रहती है, वही हेत्वाभास है ।[११] 'तत्र' पद से यहाँ निरूपण विषयीभूत हेत्वाभास ही अभिप्रेत है । सव्यभिचार में इसका समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है—'धूमवान् वह्नेः' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है । अनुमिति के लिये, जिस प्रकार परामर्श आदि कारण उपयोगी माने जाते हैं, उसी प्रकार व्यभिचार आदि हेत्वाभासों के निश्चय का अभाव भी कारण है, क्योंकि व्यभिचार आदि निश्चय अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होने के नाते, उनका अभाव कारण माना जाता है । प्रकृत में 'अयोगोलकं धूमवत्' इस अनुमिति के प्रति 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः' इत्याकारक व्यभिचार निश्चय प्रतिबन्धक है । फलतः इसका अभाव अनुमिति-कारण होगा । इसलिये अनुमिति-कारणीभूत–अभाव पद से व्यभिचार निश्चय का ग्रहण किया जा सकता है । इस अभाव का प्रतियोगी ज्ञान, "धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः' इत्याकारक, व्यभिचार ज्ञान ही होगा । यह ज्ञान प्रमा भी है । उसकी विषयता 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः' में है । इसलिये लक्षण समन्वय में कोई बाधा नहीं है । इसी प्रकार विरुद्ध आदि अन्य हेत्वाभासों में भी लक्षण का समन्वय किया जा सकता है ।

इस लक्षण में प्रयुक्त 'अनुमिति' और यथार्थ' इन दोनों पदों की व्याख्या आवश्यक है । अनुमिति पद यदि अनुमितिनिष्ठकार्यतापरक माना जाय, तो व्यभिचार आदि स्थलों में अव्याप्ति होगी । कारण 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमिति में, हेतु वह्नि, साध्य धूम का व्यभिचारी है । यह निश्चयाभाव अनुमितिकारणीभूताभाव नहीं हो सकेगा, क्योंकि व्यभिचार निश्चय व्याप्ति-ज्ञान का ही प्रतिबन्धक होता है, अनुमिति ज्ञान का नहीं । इस दोष का निराकरण करने के लिये यदि अनुमिति पद का अनुमितिजनक ज्ञानपरक यह अर्थ लगाया जाय, तो व्यभिचार निश्चय में तो लक्षण का समन्वय हो जायगा, किन्तु बाधज्ञान में अव्याप्ति होगी, क्योंकि बाधज्ञान व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं है, अपितु अनुमिति ज्ञान का ही साक्षात् प्रतिबन्धक है । इसलिये अनुमिति कारणी-

भूताभाव बाधनिश्चयाभाव के रूप में गृहीत नहीं किया जा सकता। इस दोष का निराकरण करने के लिये दीधितिकार ने 'अनुमिति निष्ठ कार्यता निरूपक सम्बन्धिता' रूप से अनुमिति और उसके कारण व्याप्ति ज्ञान का उभयपरक अर्थ का ग्रहण किया है।[१२] ऐसा अर्थ मान लेने से उक्त व्यभिचारी तथा बाध दोनों स्थलों में कोई दोष नहीं होगा। यथार्थपद का उपादान भी आवश्यक है, क्योंकि 'पर्वतो निर्वह्निः धूमात्—अभिधेयत्वात्—मेयत्वात्' इत्यादि स्थलों में हेतु 'धूम' 'अभिधेयत्व' 'मेयत्व' आदि साध्य वह्नि के व्यभिचारी है। ये ज्ञान भ्रमात्मक होते हुए अनुमिति के प्रतिबन्धक भी हैं, इसलिये लक्षण की इन स्थलों में भी अतिव्याप्ति होगी। यथार्थ पद दे देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी, कारण भ्रमात्मक ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होता।[१३]

'धूमवान्वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी स्थलों में 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः' रूप विशिष्ट-विषयक ज्ञान ही प्रतिबन्धक है। केवल धूम, केवल अभाव या केवल अधिकरण ये सब अनुमिति-प्रतिबन्धकी भूत यथार्थज्ञान के विषय होने पर भी, प्रतिबन्धक नहीं हैं। किन्तु अनुमिति के प्रतिबन्धक यथार्थज्ञान की विषयता धूम प्रभृति प्रत्येक में भी रहती है, अतः प्रत्येक में हेत्वाभास की अतिव्याप्ति हो जायगी। इसके निराकरण के लिये यह परिष्कार—'यथार्थज्ञानीय यद्रूपावच्छिन्न विषयिता प्रकृत अनुमिति की प्रतिबन्धकता अनतिरिक्त वृत्ति हो, तद्रूपावच्छिन्न ही हेत्वाभासत्व होगा', करना आवश्यक है। 'पर्वतोधूमवान् वह्नेः' इस स्थल में धूमाभाववत् पर्वतत्वावच्छिन्न विषयिता, प्रकृत अनुमिति—'पर्वतोवह्निमान्' इस अनुमिति की प्रतिबन्धकता अनतिरिक्त वृत्ति हो, तद्रूपवत्त्व धूमाभाववत् पर्वत में ही गृहीत होगा, केवल धूम, केवल अभाव अथवा केवल अधिकरण इत्यादि प्रत्येक अंश में नहीं। ऐसा परिष्कार करने से धूम प्रभृति एकदेशों में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है, क्योंकि केवल धुमत्व आदि रूप प्रकृत्त अनुमिति—प्रतिबन्धकता के अनतिरिक्त वृत्ति नहीं है, प्रत्युत धूमाभाववद् वृत्तित्व ही अनुमिति प्रतिबन्धकता का अनतिरिक्त वृत्ति है। इसलिये 'यद्रूप' पद से इस विशिष्ट धर्म को ही लिया जा सकता है, धूमत्वादि प्रत्येक वृत्ति धर्म को नहीं। इसी प्रकार सद्हेतु स्थल में भी अनुमिति-विरोधी भ्रमात्मक ज्ञानीय विषयीभूत साध्याभावादिवत् पक्ष आदि में अतिप्रसङ्ग नहीं होगा। ऐसा परिष्कृत लक्षण स्वीकार कर लेने पर, 'यथार्थ' पद की सार्थकता नहीं रह जाती, कारण 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि स्थलों में केवल वह्नित्व आदि रूप प्रतिबन्धकता के अनतिरिक्त वृत्ति हैं, इसलिये इनमें अतिव्याप्ति की संभावना नहीं होगी। वह्न्यभाववत् नामक कोई विशिष्ट धर्म प्रसिद्ध ही नहीं है, इसलिये 'यद्रूप' पद से उस विशिष्ट धर्म या उसके घटक वह्नित्व आदि प्रत्येक धर्म का ग्रहण करना संभव नहीं है। इस प्रकार यथार्थ पद न देने पर भी, यद्रूपावच्छिन्नत्वघटित लक्षण द्वारा अतिव्याप्ति का सहज ही वारण हो जाता है, क्योंकि इस लक्षण को मान लेने पर विशिष्ट-विषयक-ज्ञान, लक्षण का घटक होगा एवं प्रत्यक पदार्थ विशिष्ट-विषयक होने के नाते, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।[१४]

द्वितीय लक्षण

इसी लाघव को दृष्टि में रखते हुए गङ्गेश ने द्वितीय सामान्य लक्षण प्रतिपादित किया है, जो इस प्रकार है—'जिसका विषय बनकर लिङ्ग ज्ञान, अनुमिति का प्रतिरोध करता है उसे हेत्वाभास कहते हैं।[१५] 'ह्रदोवह्निमान् जलात्' इत्यादि बाध स्थल में

'जलं वह्न्यभाववद् ह्रदवत्' इस प्रकार का हेतु ज्ञान, 'वह्न्यभाववद् ह्रद विषयक है, इसलिये उसके द्वारा 'ह्रदोवह्निमान्' इस अनुमिति का प्रतिरोध होगा। इसलिये 'तद्विषयकत्व' पद से वह्न्यभाववद् ह्रद विषयकत्व' ही गृहीत करना होगा। तद्धर्मवत्त्व वह्न्यभाववद् ह्रद रूप बाध दोष में विद्यमान है। इसलिये लक्षण का समन्वय हो जायगा। इस लक्षण में लिङ्ग अंश का निवेश करना अनावश्यक है, क्योंकि बाध-निश्चय लिङ्ग विषयक न होने के कारण, उसके बिना भी केवल 'यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्य अनुमितिप्रतिबन्धकत्वम्' इतने मात्र से भी लक्षण समन्वित हो सकता है। इसीलिये दीधितिकार ने कहा है, 'लिङ्गं अविवक्षितम्'—'लिङ्ग का निवेश करना यहाँ विवक्षित नहीं है,[१६] क्योंकि, वह्न्यभाववान् घटः धूमश्च' ऐसा समुहालम्बनात्मक विशिष्ट ज्ञान लेकर लक्षण का समन्वय हो जायगा। जैसे, वह्न्यभाववान् यह बाधनिश्चय-ज्ञान 'वह्न्यभाववद्ह्रद' रूप विशिष्ट ज्ञान विषयक है, इसलिये अनुमिति का प्रतिबन्धक भी अवश्य होगा, केवल वह्निविषयक, केवल अभावविषयक अथवा केवल ह्रद विषयक होने से नहीं। अतः तद्धर्मवत्ता, वह्न्यभाववद्ह्रदरूप बाध दोष में निविष्ट हो जायगी, क्योंकि 'तद्धर्मिक तद्वता ज्ञान के प्रति तद्धर्मिक तद्भाववत्ता निश्चय ही प्रतिबन्धक होता है' ऐसा नियम है। इसलिए लिङ्ग अंश के निवेश की कोई आवश्यकता नहीं।

लक्षण में प्रयुक्त 'यद्विषयकत्व' पद को 'यादृशविशिष्ट विषयकत्व' के रूप में ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान्' इस सदहेतु स्थल में, बाध आदि भ्रमात्मक ज्ञान को लेकर, अतिव्याप्ति होगी।[१७] इस परिष्कार को मान लेने पर 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इस बाधरूप भ्रमात्मक ज्ञान की 'पर्वतोवह्निमान्' इस अनुमिति में विरोधिता होने पर भी उक्त बाध भ्रम के विषय वह्न्यभाव रूप एक देश में अतिव्याप्ति न होने से कोई क्षति नहीं है। प्रमात्मक तथा भ्रमात्मक दोनों ज्ञान अनुमिति के प्रतिबन्धक हो सकते हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति के प्रति 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' यह भ्रमात्मक ज्ञान तथा 'ह्रदोवह्निमान्' इस अनुमिति के प्रति 'ह्रदोवह्न्यभाववान्' यह प्रमात्मक ज्ञान प्रतिबन्धक है। यादृश विशिष्टविषयकत्व रूप से परिष्कार करने पर, भ्रमात्मक ज्ञान में अतिव्याप्ति इसलिए नहीं होती कि भ्रमात्मकज्ञान में विशिष्ट–(विशेषण-विशिष्ट-विशेष्य) विषयकत्व रूप से प्रतिबन्धकता नहीं रहती, क्योंकि भ्रमस्थलीय वह्न्यभाव रूप विशेषणविशिष्ट पर्वत रूप विषय कहीं प्रसिद्ध नहीं है। किन्तु वह्नित्वावच्छिन्न विषयता निरूपित अभावत्वावच्छिन्न विषयता निरूपित पर्वतत्वावच्छिन्न विषयताशाली निश्चयत्व रूप से ही 'पर्वतोवह्न्यभाववान्' इत्याकारक भ्रमात्मक ज्ञान से प्रतिबन्धकता रहती है। प्रमात्मक ज्ञान में विशिष्ट विषयकत्व तथा निरूप्य निरूपक भावापन्न विषयता शालि निश्चयत्व दोनों रूप से प्रतिबन्धकता होती है। अतः दोनों ज्ञानों में प्रतिबन्धकता उपपन्न करने के लिये, उक्त परिष्कृत यादृश विशिष्ट विषयकत्व का अनुसरण किया गया है।[१८] 'यादृष्ट विशिष्ट विषयकत्व' पद में प्रयुक्त 'यादृश' पद 'यद्रूप परक' 'विशिष्ट' पद 'अवच्छिन्न परक' तथा 'विषयकत्व' पद 'विषयित्वपरक' है, तदनुसार समस्त पदों का अर्थ 'यद्रूपावच्छिन्नविषयतानिरूपित विषयित्व' होगा। इसी प्रकार 'यद्विषयकत्वेन' पद में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति का अर्थ अवच्छेदक है। अवच्छेदकता दो प्रकार की होती है—अनतिरिक्तवृत्तित्व एवं स्वरूप सम्बन्ध रूप।[१९] प्रकृत लक्षण में प्रथम अवच्छेदकता ही उपयोगी है। जैसा कि दीधितिकार ने कहा है, 'यहाँ अनतिरिक्त वृत्तित्व रूप से ही अवच्छेदकता विवक्षित

है,[२०] स्वरूप सम्बन्ध से नहीं, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध रूप अवच्छेदकता मानने पर 'पाषाणमयत्ववान् पर्वतः' में अतिव्याप्ति होगी और उसके वारण के लिये यदि प्रतिबन्धकता में ज्ञान वैशिष्ट्यनवच्छिन्नत्व का निवेश किया जाय, तो सत्प्रतिपक्ष स्थल में अव्याप्ति हो जायगी। इसलिए अनतिरिक्त वृत्तित्वरूप अवच्छेदकता का ही इस लक्षण में प्रयोग करना आवश्यक है।[२१] तदनुसार लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—यद्रूपावच्छिन्न विषयक निश्चयनिष्ठ विषयिता, अनुमिति प्रतिबन्धकता की जहाँ अनतिरिक्त वृत्ति हो, वहाँ तद्रूपावच्छिन्नत्व ही हेत्वाभासत्व है। 'ह्रदो वह्निमान् जलात्' में लक्षण समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है। यद्रूप पद से यहाँ वह्न्यभाववद्ह्रदत्व का ग्रहण करना अभिप्रेत है। उस रूप से अवच्छिन्न विषयता 'वह्न्यभाववान्-ह्रदः' केवल इसी निश्चय में है और यह निश्चय 'ह्रदोवह्निमान्' इस अनुमिति का प्रतिबन्धक भी है। इस प्रतिबन्धकता से रहित जितने भी निश्चय होंगे, उनमें से किसी में भी 'वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्न' विषयता नहीं रहेगी, इसलिये उक्त विषयता अनुमिति प्रतिबन्धकता की अनतिरिक्त वृत्ति हो जायगी। तद्रूप पद से भी प्रकृत में वह्न्यभाववद् ह्रदत्व' ही लिया जायगा, तदवच्छिन्नत्व वह्न्यभाववद्ह्रद में है। अतः लक्षण समन्वय होने में कोई बाधा नहीं है।

विशिष्टद्वयाघटितत्त्व

अनतिरिक्त वृत्तित्व रूप अवच्छेदकता घटित लक्षण मानने पर भी 'ह्रदोवह्निमान् जलात्' इत्यादि स्थलों में 'वह्न्यभाववद्जलवद् जलवद्वृत्ति ह्रद में अतिव्याप्ति हो सकती है, क्योंकि इस विशिष्ट निश्चय विषयक निश्चय को भी 'जलवान् वह्न्यभाववद्' इस निश्चय के बाद उत्पन्न 'जलवान्ह्रदः', इत्याकारक निश्चयविशिष्ट निश्चयत्व रूप से प्रतिबन्धकता है। इस अतिव्याप्ति का वारण विवक्षणीय विशिष्टान्तराघटितत्व निवेश से नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस विशिष्ट में 'वह्न्यभाववद्जलवद्' और 'जलवद्ह्रदः' इन दोनों अंशों में से कोई भी अंश, अनुमिति प्रतिबन्धकता का अनतिरिक्तवृत्ति न होने से कथित विशिष्टान्तर नहीं है। इसलिये विशिष्टान्तरा घटितत्व निवेश से इसका निवारण नहीं किया जा सकता। अतः इस दोष के निराकरण हेतु गदाधर भट्टाचार्य ने 'विशिष्ट द्वया घटितत्व' कल्प को अपनाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार, मेयत्व विशिष्ट व्यभिचार में, अतिव्याप्ति वारण के लिये, विशिष्टान्तराघटितत्व का निवेश दीधितिकार ने आगे किया है, उसी प्रकार 'वह्न्यभाववद् जलवद्वृत्ति जलवद्-ह्रदः' इस स्थल में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये विशिष्ट द्वयाघटितत्व का निवेश करना आवश्यक है, जो इस प्रकार है—जिस विशिष्ट के दो भाग मिलकर अनुमिति का प्रतिरोध करें तथा उस विशिष्ट का असाधारण धर्म अनुमिति प्रतिबन्धकता का अनतिरिक्त वृत्ति हो, उस विशिष्ट घटक के दोनों अंशों से हेत्वाभास के लक्ष्यतावच्छेदक को अघटित होना चाहिए।[२२] तदनुसार 'वह्न्यभाववद्जलवद्वृत्ति जलवद्ह्रदः' इस स्थल में अतिव्याप्ति आरोपित करते समय लक्ष्यतावच्छेदक रूप में वह्न्यभाववद्जलवद्वृत्ति जलवद्ह्रदत्व रूप अखण्ड धर्म का ही ग्रहण करना होगा। किन्तु एतद् धर्मावच्छिन्न विषयक निश्चय में, जो अनुमिति की प्रतिबन्धकता है, उस प्रतिबन्धकता का अनतिरिक्त, वृत्तित्व उक्त अखण्ड धर्म में नहीं वरन् वह्न्यभाववद् जलवत्त्व विशिष्ट जलवद्ह्रदत्व में ही है। लक्ष्यतावच्छेदकीभूत उक्त विशिष्ट इन दोनों विशिष्टों से घटित

है, अघटित नहीं । इसलिए स्वपद से लक्ष्यतावच्छेदक रूप में वह्न्यभाववद् जलवद्वृत्ति जलवद्ह्रदत्व को नहीं लिया जा सकता । अतः कोई अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

विशिष्टान्तराघटितत्व

'विशिष्ट द्वया घटितत्व' को समझ लेने के उपरान्त विशिष्टान्तराघटित्व को सुगमता से समझा जा सकता है । 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में 'धूमाभाववद्वृत्तिवह्निः' इस व्यभिचार विषयक ज्ञान में प्रमेयत्वावच्छिन्न विशेषण लगा दिया जाय अर्थात् प्रमेयत्वविशिष्ट धूमाभाववद्वृत्तित्व विशिष्ट वह्नि' कर दिया जाय, तो प्रेमयत्वविशिष्ट व्यभिचार में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि प्रमेयत्व विशिष्ट विषयकत्व ही प्रकृत अनुमिति-प्रतिबन्धकता का अनतिरिक्त वृत्ति है । अतः प्रमेयत्वविशिष्ट व्यभिचार निश्चय अनुमिति का प्रतिरोधक होने के कारण, उक्त अनतिरिक्त वृत्तित्व घटित लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण उचित नहीं जान पड़ता । इस दोष का निराकरण करने के लिये दीधितिकार कृत विशिष्टान्तराघटितत्व का निवेश किया जाता है । इस 'विशिष्टान्तर' पद में प्रयुक्त 'विशिष्ट' पद से अनुमिति प्रतिबन्धकीभूत ज्ञान में विषय होने वाला विशिष्ट अभिप्रेत है । 'अन्तर' पद से तत्सजातीय और तद्भिन्न का ग्रहण किया जाता है तदनुसार जो अनुमिति का प्रतिरोधक भी हो और लक्ष्यतावच्छेदक प्रतीति को छोड़कर भी जिसकी प्रतीति हो सकती हो, उससे लक्ष्यतावच्छेदक को अघटित होना चाहिए ।[२३] इस लक्षण को मान लेने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी । कारण अतिव्याप्ति उत्थापित करते समय लक्ष्यतावच्छेदक पद से मेयत्वविशिष्टव्यभिचारत्व का ही ग्रहण किया जा सकता है, उसमें व्यभिचारत्व रूप धर्म नियमतः सन्निविष्ट रहेगा और वह इस रूप से अनुमिति-प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक भी है । इस प्रकार मेयत्वविशिष्ट व्यभिचारत्व रूप लक्ष्यतावच्छेदक कभी भी व्यभिचारत्व रूप विशिष्टान्तर से अघटित नहीं हो सकता । अपितु घटित ही होगा । अतः लक्ष्यतावच्छेदक पद से मेयत्वविशिष्ट व्यभिचार का ग्रहण करना असंभव है । इसलिये कोई अतिव्याप्ति नहीं होगी । केवल व्यभिचार में लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा—यहाँ लक्ष्यतावच्छेदक केवल व्यभिचारत्व होगा । अतः विशिष्टान्तर के रूप में बाधत्व आदि अन्य हेत्वाभासतावच्छेदक धर्म होंगे, उनसे अघटित व्यभिचारत्व रूप लक्ष्यतावच्छेदक अवश्य होगा । इसलिये लक्षण समन्वय हो सकता है ।

प्रव्रवदन्ति कल्प

मूलकार के इस द्वितीय लक्षण में प्रयुक्त 'अनुमिति प्रतिबन्धकत्व' पद में प्रयुक्त प्रतिबन्धकत्व किस रूप से गृहीत किया जाय अर्थात् अनुमिति किस रूप से ग्रहण की जाय? इसका उत्तर देते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि तद्धर्मावच्छिन्न तत्पक्षक, तद्धर्मावच्छिन्न तत्साध्यक एवं तद्धर्मावच्छिन्न तद्धेतुक ही अनुमिति ली जाना चाहिये ।[२४] इस अनुमिति की प्रतिबन्धकता अनुमिति में प्रविष्ट ही है । तात्पर्य यह कि यह लक्षण इस दृष्टिकोण को लेकर निष्पन्न हुआ है कि हेत्वाभास की कोई न कोई अनुमिति अवश्य ही प्रतिबध्य होती है । किन्तु यह दृष्टि ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि ऐसा मान लेने पर 'निर्वह्नि पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि स्थलों में 'वह्निमत् पर्वत' रूप आश्रयासिद्धि में लक्षण का समन्वय होना सम्भव नहीं होगा, कारण पक्षतावच्छेदक निर्वह्नित्वविशिष्ट पर्वत में वह्निवैशिष्ट्यावगाही अनुमिति नहीं हो सकेगी । क्योंकि वह्निमत् पर्वत विषयत्व रूप से वह्निमत्

पर्वतविषयक ज्ञान 'निर्वह्नि पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति का जब विरोधी हो सकता हो, तभी लक्षण समन्वय हो सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु 'निर्वह्नि पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान आहार्य रूप होने से अनुमित्यात्मक नहीं हो सकता। इसलिये उक्त आहार्यज्ञानीय स्थलों में कोई भी हेत्वाभास नहीं घट सकेगा। इसी प्रकार पर्वतः पर्वतावृत्ति वह्निमान्' तथा 'पर्वतो वह्निमान् वह्निव्यभिचारिणः' इन स्थलों में पर्वत में पर्वतावृत्तित्वरूप साध्यतावच्छेकावच्छिन्न प्रकारक तथा वह्निव्यभिचारित्व रूप हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न में वह्निव्याप्यत्व वैशिष्ट्यावगाहित्व रूप अनुमिति नहीं हो सकेगी। इसलिए इन सभी स्थलों में कोई दोष न होने के कारण कोई हेत्वाभास नहीं बनेगा क्योंकि इस प्रकार की कोई अनुमिति ही प्रसिद्ध नहीं है।[९५] ऐसे स्थलों में हेत्वाभास की कारणता समन्वित करने के लिये दीधितिकार ने 'अत्रवदन्ति' कल्प का अनुसरण किया है, जो इस प्रकार है—यद्रूपावच्छिन्न विषयक निश्चय के अव्यवहितोत्तर काल में उत्पन्न होने वाली अनुमिति अथवा अनाहार्य मानसज्ञान, इन दोनों में से किसी में भी विरोधिविषयिता प्रयुक्त पक्षतावच्छेदक विशिष्ट पक्षनिष्ठ विशेष्यता निरूपित साध्यतावच्छेदक विशिष्ट साध्यनिष्ठ प्रकारताशालित्व एवं विशेष्यता निरूपित साध्यतावच्छेदक विशिष्ट साध्यनिरूपित व्याप्तिविशिष्ट हेतुतावच्छेदक विशिष्ट हेतु तत्प्रकारताशालित्व उभयाभावत्व अर्थात् 'पक्षःसाध्यवान्' और पक्ष साध्यव्याप्य हेतुमान् इन दोनों का अभाव जिस अनुमिति में हो, तद्वत्त्व ही हेत्वाभासत्व है।[९६] 'ह्रदोवह्निमान्' इत्यादि वह्न्यभावविशिष्ट ह्रद रूप बाध स्थल में लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा—वह्न्यभाव विशिष्ट ह्रदत्व रूप बाधत्वावच्छिन्न विषयक निश्चय के अव्यहितोत्तर काल में 'ह्रदो वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति कदापि नहीं हो सकती। किन्तु उदासीन घटविषयक 'भूतलं घटवत्'. इस प्रकार की अनुमिति अवश्य होगी। साथ ही 'वह्निव्याप्य धूमवान् ह्रदः' यह अनुमिति भी हो सकती है। यदि 'ह्रदो वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति हुई होती, तो उस अनुमिति में उक्त उभय की सत्ता संभावित हो सकती थी, किन्तु ऐसी अनुमिति होती नहीं है, प्रत्युत उदासीन घटविषयक अनमिति ही उत्पन्न होती है। इस अनुमिति में उस उभय का अभाव अश्वयमेव रहेगा, इसलिये वह्न्यव्याप्य धूमवान्ह्रदः इस अनुमिति में भी उभयाभाव प्रविष्ट हो जायगा, क्योंकि उस अनुमिति में यद्यपि साध्यव्याप्य हेतु वैशिष्ट्यावगाहित्व है तथापि साध्यवान्—ह्रदोवह्निमान् यह अंश नहीं है। अतः 'एक सत्वेपि द्वयं नास्ति' इस नियम के अनुसार उभयाभाव का ग्रहण हो जायगा। यहाँ 'यत्' पद से 'वह्न्यभाववद्ह्रदः' को गृहीत किया जा सकता है। परिणामतः तत् पद से भी वही वह्न्यभाववद्ह्रद ही अभिप्रेत है। इसलिये तद्रूपवत्त्व वह्न्यभाववद्ह्रदत्व में सन्निविष्ट हो जाने से लक्षण का समन्वय हो जायगा। इस कल्प को स्वीकार कर लेने से 'निर्वह्निपर्वतो वह्निमान्' इत्यादि स्थल में वह्निमत् पर्वतः रूप आश्रयासिद्धि में भी लक्षण सुगमतापूर्वक समन्वित हो जाता है। 'वह्निमत् पर्वतः' इस आश्रयासिद्धि—निश्चय के अव्यवहितोतर काल में—निर्वह्नि पर्वतोवह्निमान्—(निर्वह्नि पर्वत विशेष्यक वह्नि प्रकारकत्व) एवं 'वह्निव्याप्य धूमवांश्चह्रदः' (वह्निव्याप्य धूमप्रकारकत्व) इत्याकारक आहार्य ज्ञान होने से अनुमिति भले ही संभव न हो, किन्तु घटादि विषयक अनाहार्य मानस ज्ञान तो संभावित हो ही सकता है, उस ज्ञान में प्रकृत स्थलीय पक्ष विशिष्ट साध्य विषयकत्व और साध्य व्याप्तिविशिष्ट हेतु विषयकत्व इन दोनों का अभाव अवश्य ही रहेगा। इस प्रकार से यत् पद से 'वह्निमत् पर्वतः' रूप आश्रयासिद्धि का ग्रहण किया जा सकता है,

तत्त्व आश्रयासिद्धि में निवेशित हो जायगा और लक्षण-समन्वय हो जायगा।[२७]

तृतीय लक्षण—

उक्त प्रथम और द्वितीय हेत्वाभास सामान्यलक्षण दोषज्ञान को प्रतिबन्धक मान कर ही निष्पन्न किये गये हैं, किन्तु कुछ आचार्यों का ऐसा भी मत है कि जिस प्रकार दोष-ज्ञान प्रतिबन्धक है, उसी प्रकार ज्ञायमान दोष भी प्रतिबन्धक हो सकते हैं। इसी मत का संग्रह करने के लिये गङ्गेश ने इस तृतीय हेत्वाभास सामान्य लक्षण की सर्जना की है—'जो दोष ज्ञायमान होते हुए अनुमिति का प्रतिरोध करे, वही हेत्वाभास है।[२८] अनुमिति पद, प्रकृत पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न में प्रकृतसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्न वैशिष्ट्यावगाहित्व और तादृश पक्ष में साध्य निरूपित व्याप्ति विशिष्ट हेतु वैशिष्ट्यावगाहित्व, रूप लेना चाहिये। तदनुसार लक्षण इस प्रकार होगा—ज्ञानीय यद्रूपावच्छिन्नविषयता सामान्य, प्रकृत अनुमिति का प्रतिबन्धकताअवच्छेदक हो तद्रूपावच्छिन्नत्व ही हेत्वाभासत्व है। यहाँ ज्ञायमान दोष में ही प्रतिबन्धकता स्वीकार की गयी है। 'ह्लदोवह्निमान्' इस बाधस्थल में लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा—'वह्न्यभाववान् ह्लदः' इस ज्ञान का विषय जो 'वह्न्यभाववद्ह्लद' है वह 'ह्लदोवह्निमान्' इस अनुमिति का प्रतिबन्धक है। इसलिए ज्ञानीय यद्रूपावच्छिन्न पद से वह्न्यभाववद् ह्लदत्वावच्छिन्न विषयता को लिया जा सकता है और यह विषयता उक्त प्रतिबन्धकता की अवच्छेदिका भी है। इसलिये तद्रूप पद से वह्न्यभाववद्ह्लदत्व को गृहीत किया जा सकता है। तद्वत्त्व 'वह्न्यभाववद्-ह्लद' में है, इसलिये लक्षण का समन्वय हो जाता है। यहाँ प्रतिबन्धकतावच्छेदक में प्रयुक्त अवच्छेदकता का ग्रहण स्वरूप सम्बन्ध से किया जाना चाहिये, अनतिरिक्त वृत्तित्व रूप से नहीं, अन्यथा द्वितीय लक्षण के साथ इसका कोई अन्तर ज्ञात नहीं हो सकेगा।[२९] ज्ञानीय विषयता भेद समानाकारक होने के नाते 'पाषाणमयत्ववत् पर्वत' में अतिव्याप्ति नहीं होगी। द्वितीय लक्षण में समानाकारक ज्ञानीय विषयता का भेद स्वीकार नहीं किया गया है, इसलिये वहाँ समुहालम्बन ज्ञान को लेकर अतिव्याप्ति की संभावना रहती है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इस प्रसङ्ग में नैयायिकों का ही समर्थन किया है।

हेत्वाभास-विशेष लक्षण

वैशेषिक मत

हेत्वाभास के सामान्य लक्षण की व्याख्या के पश्चात् विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित विशेष लक्षणों को सरलता पूर्वक समझा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से हेत्वाभास-विवेचन सर्वप्रथम वैशेषिकसूत्र में उपलब्ध होता है। महर्षि कणाद ने स्पष्टतः अप्रसिद्ध, असन् एवं संदिग्ध इन तीनों हेत्वाभासों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रसिद्धिपूर्वक अर्थात् व्याप्तियुक्त हेतु ही अपदेश माना गया है।[३०] अतः जिन हेतुओं में यह प्रसिद्धि, अप्रसिद्ध अथवा असंदिग्ध हो अथवा जो हेतु स्वयं ही असत् हो, उन्हें अपदेश न मानकर, अप्रसिद्ध अर्थात् विरुद्ध, संदिग्ध, या असन् अर्थात् असिद्ध अपदेश हेत्वाभास माना जाता है।[३१] सूत्रकार ने उदाहरणों के माध्यम से इन तीनों को समझाने का प्रयास किया है। इनमें से अप्रसिद्ध तथा असन् को एक ही उदाहरण द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जैसे, दूर से रासभ को देखकर यदि यह अनुमान—'यह पशु अश्व है, विषाणवाला होने से'—किया जाय तो ऊपरिलिखित दोनों दोष आरोपित होंगे, कारण 'जो पशु अश्व

नहीं होता वह सींग वाला भी नहीं होता' जैसे खरगोश, सियार, मनुष्य, बन्दर आदि ऐसी दूषित व्यतिरेक व्याप्ति, व्यतिरेक सहचार दर्शन के व्यामोह के कारण बनायी तो जा सकती है किन्तु जो विषाण (सींग) वाला हो वह अश्व भी हो, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि अश्व में सींग होना कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये विषाणित्व हेतु प्रसिद्धि पूर्वक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह हेतु साध्य अश्वत्व के अभाव वाले गाय, भैंस आदि पशुओं में भी पाया जाता है। इसलिये साध्य अश्वत्व के अभाव वाले पशुओं से व्याप्त होने के कारण, हेतु विषाणित्व, अपदेश नहीं, वरन् अप्रसिद्ध हेत्वाभास माना जायगा। इसी प्रकार पक्षभूत गर्दभ में, हेतु विषाणित्व का, सर्वथा अभाव होने के कारण, यह असिद्ध भी है, क्योंकि रासभ में सींगों का होना असिद्ध है।[३२] इस प्रकार हेतु विषाणित्व में अप्रसिद्ध तथा असत् दोनों दोषों का उद्भावन करने के पश्चात् महर्षि ने संदिग्ध दोष के प्रदर्शन हेतु पृथक् उदाहरण इस प्रकार व्यक्त किया है—यह पशु गाय है, विषाणवाली होने से। यहाँ 'जो-जो पशु सींग वाला हो वह-वह गाय ही हो' इस प्रकार से निश्चित व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि, गाय के अभाव में भी भैंस, बकरी आदि पशुओं में सींग पाये जाते हैं, इसलिये यह व्याप्ति संदेहमूलक होने के कारण, हेतु विषाणित्व प्रसिद्धि पूर्वक न होने से, संदिग्ध हेत्वाभास है। एकान्त रूप से साध्य के साथ हेतु की प्रसिद्धि न पायी जाने से और साध्य के अभाव वाले अनेक अन्तों (अधिकरणों) में हेतु का सद्भाव होने के कारण यह संदिग्ध हेतु अनैकान्तिक भी कहलाता है।[३३]

प्रशस्तपाद ने उक्त तीनों अनपदेशों को संग्रहीत करने के लिये, काश्यप प्रणीत द्वितीय श्लोक का उद्धरण दिया है। प्रथम श्लोक तथा उसकी व्याख्या द्वारा उन्होंने सद्हेतु के, पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व, इन तीन धर्मों का विन्यास किया है।[३४] द्वितीय श्लोक में इन तीन धर्मों में से एक या दो धर्मों से रहित होने पर, हेतु के सद्हेतु न रहकर काश्यप मतानुसार विरुद्ध, असिद्ध एवं संदिग्ध हेत्वाभास बन जाने का उल्लेख किया गया है।[३५] जैसे पक्षवृत्तित्व धर्म के रहने पर असिद्ध तथा विपक्षासत्त्व का अभाव होने से संदिग्ध हेत्वाभास होता है। इन दोनों में हेतु के एक-एक लक्षण के क्षीण होने पर ही दोष होता है, किन्तु विरुद्ध में ऐसी बात नहीं पाई जाती, क्योंकि उसमें सपक्षसत्त्व नहीं रहता और विपक्ष में भी उसकी सत्ता पायी जाती है, इसलिये यह दोष, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन दोनों लक्षणों से रहित होने पर उद्भावित किया जा सकता है। इस विवेचन में भाष्यकार ने श्लोक व्याख्या द्वारा सूत्रकार समर्थित तीन हेत्वाभास—अप्रसिद्ध, असन् तथा संदिग्ध का उपन्यास अपनी पद्धति के अनुसार किया है।[३६] इस निरूपण में अनध्यवसित हेत्वाभास की चर्चा नहीं हो पायी है, किन्तु आगे हेत्वाभासों का विवेचन करते समय, उन्होंने सूत्रघटक 'अप्रसिद्धोऽनपदेश' पद द्वारा अनध्यवसित को स्पष्टतः गृहीत किया है।[३७] श्रीधर ने सूत्रकार एवं भाष्यकार की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सूत्रघटक 'अप्रसिद्ध' पद से विरुद्ध और असाधारण इन दोनों हेत्वाभासों का भान हो जाता है, क्योंकि साध्य धर्म के साथ दोनों की प्रसिद्धि नहीं है। 'असत्' शब्द से असिद्ध हेत्वाभास का ग्रहण किया गया है, जो सपक्षवृत्ति होता हुआ भी पक्ष में नहीं रहता। संदिग्ध पद से अनैकान्तिक हेत्वाभास अभिप्रेत है। अनैकान्तिक असद्हेतु यद्यपि पक्ष में विद्यमान रहता है, फिर भी सपक्ष और विपक्ष दोनों में वृत्ति होने के कारण, यह संदेह सर्वथा बना रहता है कि वह साध्य के साथ सहचरित है अथवा साध्याभाव के साथ। इसी कारण यह साध्य अथवा साध्याभाव, किसी भी धर्म को निश्चित

रूप से उपपादित नहीं कर सकता । अतः उसे संदिग्ध हेतु कहा जाता है ।[३८] भाष्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'अनुमेयेन सहचरितम्' पद असिद्ध हेत्वाभास, 'तत्समानजातीय च नास्ति' पद से विरुद्ध और अनध्यवसित तथा 'तद्विपरीते च नास्त्येव' पद के द्वारा संदिग्ध या अनैकान्तिक हेत्वाभास व्यंजित किया जा सकता है ।[३९] इस तरह उन्होंने सूत्रकार और भाष्यकार दोनों की विवेचना द्वारा असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक एवं असाधारण या अनध्यवसित इन चारों हेत्वाभासों का परिगणन करने का प्रयास किया है । शिवादित्य ने, इस परम्परा से विलग होकर, भासर्वज्ञ की भांति, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अनध्यवसित, कालात्ययापदिष्ट एवं प्रकरणसम इन छः हेत्वाभासों का उल्लेख करते हुए, इन सबके लक्षण ही प्रतिपादित किये हैं, उदाहरण नहीं ।[४०] शंकर मिश्र ने सूत्रघटक[४१] पदों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'अप्रसिद्ध' पद से व्याप्यत्वासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा विरुद्ध; 'असन्' पद से आश्रयासिद्ध एवं संदिग्ध पद से साधारण, असाधारण एवं अनुपसंहारी हेत्वाभास गृहीत किये जा सकते हैं ।[४२] आगे वैशेषिक-न्याय परम्पराओं का समन्वय करते हुए, उन्होंने सूत्रस्थ[४३] 'च' शब्द से 'बाध' और 'सत्प्रतिपक्ष' का ग्रहण कर गौतमोक्त पाँच—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम एवं कालातीत तथा कणाद प्रणीत एवं वृत्तिकार समर्थित **तीन**—विरुद्ध, असिद्ध एवं संदिग्ध हेत्वाभासों का भी उल्लेख किया है,[४४] किन्तु उनके हेत्वाभास और उसके अवान्तर भेदों के विवेचन को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्ततः उन्हें सूत्र-प्रणीत तीन भेत्वाभास ही अभिप्रेत थे ।

असिद्ध

यह हेत्वाभास चार प्रकार का होता है—(१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) तद्भावासिद्ध एवं (४) अनुमेयासिद्ध । इन सबको इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) **उभयासिद्ध**—वादी और प्रतिवादी दोनों द्वारा, जिस हेतु की पक्ष में विद्यमानता स्वीकार नहीं की जाती, उसे उभयासिद्ध कहा जाता है । जैसे—'शब्द अनित्य है, सावयव होने से । यहाँ वादी और प्रतिवादी के रूप में न्याय और मीमांसा दार्शनिकों का ग्रहण किया गया है । नैयायिक शब्द को अनित्य और मीमांसक नित्य मानते हुए भी उसको सावयव नहीं मानते ।

(२) **अन्यतरासिद्ध**—वादी अथवा प्रतिवादी दोनों में से एक के लिए, जो हेतु असिद्ध रहता है, वह अन्यतरासिद्ध कहलाता है । जैसे, 'शब्द अनित्य है, कार्य होने से ।' यहाँ हेतु कार्यत्व द्वारा, पक्ष शब्द से साध्य अनित्यत्व को सिद्ध किया गया है । वादी नैयायिकों के मत में शब्द को अनित्य ही माना गया है । इसलिये उनके मतानुसार यह अनुमान ठीक है, किन्तु प्रतिवादी मीमांसकों के मत में, शब्द नित्य होने के कारण, हेतु कार्यत्व प्रतिवादी असिद्ध है ।

(३) **तद्भावासिद्ध**—जिस धर्म अर्थात् हेतुतावच्छेदक धर्म विशिष्ट के द्वारा साध्य-अनुमिति अभीप्सित हो, उस धर्म से रहित हेतु के प्रयोग को तद्भावासिद्ध कहा जाता है । जैसे 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से' यहाँ हेतुतावच्छेदक धूमत्व विशिष्ट धूम द्वारा अग्नि की अनुमिति यथार्थ रूप से होती है, किन्तु वाष्प को धूम समझकर, यदि किसी व्यक्ति द्वारा उसका प्रयोग, उक्त अनुमिति के लिये किया जाय, तो उचित नहीं, कारण

वाष्प में हेतुतावच्छेदक धर्म धूमत्व का अभाव होने से, हेतु वाष्प तद्भावासिद्ध हेत्वाभास होगा।

(४) **अनुमेयासिद्ध**—जहाँ स्वयं अनुमेय-पक्ष ही सिद्ध न हो, उस अनुमान में प्रयुक्त हेतु अनुमेयासिद्ध कहलाता है। जैसे—'तम द्रव्य पार्थिव है, कृष्णवर्णीय होने से।' लोक में तम नामक कोई द्रव्य नहीं पाया जाता, क्योंकि वह, कृष्ण रूप गुण का, तेज के अभाव में आरोप मात्र है। इसलिये अनुमेय द्रव्यत्वविशिष्ट तम के अभाव में, साध्य-पार्थिवत्त्व के लिये प्रयुक्त किया गया, हेतु कृष्णवर्णत्व अनुमेयासिद्ध है।[४५]

कन्दलीकार ने अनुमेयासिद्ध को आश्रयासिद्ध के रूप में भी व्यक्त किया है। आश्रय विषयक वादी-प्रतिवादी उभय अथवा अन्यतर के अज्ञान, संदेह अथवा विपर्यय के कारण होने वाला यह आश्रयासिद्ध भी उभयासिद्ध तथा अन्यतरासिद्ध दोनों प्रकार का हो सकता है। विशेषणासिद्ध आदि अवान्तर भेद उन्हीं दो भेदों में समाविष्ट किये जा सकते हैं।[४६] शंकर मिश्र ने शिवादित्य[४७] का समर्थन करते हुए, नैयायिकों की तरह पक्ष में निश्चित रूप से रहने वाले हेतु को अपक्षधर्म अर्थात् असिद्ध हेत्वाभास कहा है। यह कहीं स्वरूप विरह से, कहीं संदेह-सिषाधयिषा रूप उभय पक्षता के अभाव होने से एवं कहीं साधन के रूप में निष्पन्न होता है।[४८] इसलिये जिस हेतु में, व्याप्ति और पक्षधर्मता यथार्थ रूप से सिद्ध नहीं रहती, वह असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—(१) व्याप्यत्वासिद्ध, (२) स्वरूपासिद्ध तथा (३) आश्रयासिद्ध। इनमें से, हेतु में, व्याप्ति का ग्रहण न होने तथा व्याप्ति का अभाव होने से व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का होता है—अगृहीतव्याप्तिकासिद्ध तथा व्याप्तेरभावासिद्ध। शेष दोनों एक ही प्रकार के हैं। इसी प्रकार अनुकूल तर्क के अभाव में भी अनेक प्रकार के अवान्तर भेद जैसे—समर्थविशेषणासिद्ध, समर्थविशेष्यासिद्ध, समर्थउभयासिद्ध, संदिग्धासमर्थ-विशेषणासिद्ध, संदिग्धासमर्थविशेष्यासिद्ध एवं संदिग्धासमर्थोभय-असिद्ध किये जा सकते हैं।[४९] इस प्रकार उन्होंने असिद्ध के नौ भेद ज्ञापित किये हैं।

विरुद्ध

जो हेतु, अनुमेय-पक्ष में अविद्यमान रहने पर भी उसके सजातीय सपक्षभूत सभी पदार्थों में न रहता हो, प्रत्युत् अनुमेय के विपरीत–विपक्षभूत वस्तुओं में अपनी सत्ता रखता हो, वह साध्य के विपरीत अर्थ का साधक होने के कारण, विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे—'यह पशु अश्व है, विषाणवाला होने से।'[५०] यहाँ हेतु 'विषाणित्व' अनुमेय अश्व में तथा उसके सजातीय खच्चर आदि सपक्षभूत सभी प्राणियों में नहीं पाया जाता, किन्तु उसके विजातीय विपक्षभूत गाय, भैंस आदि प्राणियों में उसकी सत्ता पायी जाती है। इसलिये अनुमेय अश्वत्व के विपरीत, अश्व भिन्नत्व का साधक होने के कारण, हेतु विषाणित्व विरुद्ध कहलाता है। कन्दलीकार ने इस सूत्र प्रणीत, भाष्य समर्थित उदाहरण को विपक्षैकदेश विरुद्ध ही बतलाया है, क्योंकि विपक्ष के सभी उदाहरणों में वह विरुद्ध हेतु नहीं पाया जाता, अपितु पूर्वोक्त कुछ ही विपक्ष उदाहरणों में इसकी सत्ता उपलब्ध होती है। जैसे, विपक्षभूत स्तम्भ आदि पदार्थों में हेतु विषाणित्व की सत्ता नहीं रहती। सभी विपक्ष उदाहरणों में व्यापक रूप से रहने वाले विरुद्ध हेतु का उदाहरण इस प्रकार है—'शब्द नित्य है, कृतक होने से' इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु कृतकत्व साध्य नित्यत्व तथा उसके सजातीय आकाश आदि में नहीं पाया जाता, किन्तु नित्यत्व के

विपरीत अनित्य घट आदि पदार्थों में ही पाया जाता है। अतः साध्य नित्यत्व के आश्रय में न रहने वाले सभी विपक्षभूत पदार्थों में, हेतु कृतकत्व की सत्ता उपलब्ध होने के कारण, यह विपक्ष-व्यापक (सभी विपक्ष उदाहरणों में रहने वाला) विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है।[५१] शिवादित्य के अनुसार, जो हेतु, केवल पक्ष में, विपक्ष में ही विद्यमान रहता है तथा सपक्ष में नहीं पाया जाता, वह विरुद्ध कहलाता है।[५२] शंकर मिश्र ने विपरीत व्याप्ति विशिष्ट हेतु को विरुद्ध कहा है।[५३]

संदिग्ध

जो हेतु, अनुमेय में रहते हुए उसके सजातीय एवं विजातीय पदार्थों में भी पाया जाय अर्थात् पक्ष-सपक्ष-विपक्ष तीनों में समान रूप से सम्बद्ध रहता हो, वह पक्ष में साध्य-संदेह का कारण होने के नाते, संदिग्ध हेत्वाभास कहलाता है। इसका उदाहरण भी सूत्रकार से ही लिया गया है। जैसे, 'यह पशु गाय है, विषाणवाली होने से।'[५४] इस अनुमान में हेतु विषाणित्व अनुमेय गाय में, सपक्षभूत समानजातीय अन्य गायों में तथा विपक्षभूत-विरुद्ध जातीय भैंस, बकरी आदि सभी में पाया जाता है। पक्ष-सपक्ष और विपक्ष तीनों में साधारण रूप से सम्बद्ध रहने के कारण, 'पक्षभूत' पशु गाय है अथवा भैंस, ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है। इस संदेह का उत्पादक होने के कारण, विशाणित्व हेतु, संदिग्ध हेत्वाभास कहलाता है।' 'न्यायकंदली' के अनुसार यह उदाहरण सपक्ष-व्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास है। यहाँ विषाणित्व हेतु, सभी सपक्षों में, निश्चित रूप से विद्यमान रहता है, किन्तु गाय से भिन्न, कुछ भैंस बकरी आदि विपक्ष-भूत प्राणियों में वृत्ति रहते हुए भी, अश्व, खच्चर आदि विपक्षभूत अन्य प्राणियों में नहीं रहता। सपक्ष-विपक्ष व्यापक अनैकान्तिक का उदाहरण इस प्रकार है—'शब्द नित्य है, प्रमेय होने से।' यहाँ हेतु प्रमेयत्व सकल पदार्थों में रहने के कारण सपक्षभूत सभी नित्य पदार्थों और विपक्षभूत सभी अनित्य पदार्थों में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार उन्होंने सपक्षविपक्षैक देशवृत्ति अनैकान्तिक तथा सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक अनैकान्तिक इन दो भेदों का और भी उल्लेख किया है। प्रथम का उदाहरण है—'आकाश नित्य है, अमूर्त होने से।' यहाँ अमूर्तत्व हेतु आत्मा आदि कुछ नित्य सपक्ष भूत पदार्थों तथा अनित्य पृथिवी आदि विपक्षभूत पदार्थों में ही पाया जाता है, समस्त सपक्ष-विपक्षभूत पदार्थों में नहीं। द्वितीय का उदाहरण है—'शब्द द्रव्य है, निरवयव होने से।' यहाँ हेतु निरवयवत्व द्रव्यत्व शून्य सभी विपक्षभूत पदार्थों में तथा सपक्षभूत कुछ ही द्रव्यों में पाया जाता है। इसलिये प्रथम हेतु 'अमूर्तत्व' सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति तथा द्वितीय हेतु 'निरवयवत्व' सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इस प्रकार कन्दलीकार के अनुसार चार प्रकार के अनैकान्तिक हेत्वाभास माने गये हैं।[५५] शिवादित्य ने पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में रहने वाले हेतु को अनैकान्तिक कहा है।[५६] सूत्रस्थ[५७] 'संदिग्ध' पद की व्याख्या करते हुए शंकर मिश्र ने लिखा है कि जिसके कारण, पक्ष में साध्य विद्यमान रहता है अथवा नहीं, इत्याकारक संशय उत्पन्न होता है, उसे संदिग्ध कहते हैं। पक्ष में, यह संशय, कहीं समान धर्म दर्शन; कहीं असाधारण धर्मदर्शन एवं कहीं साध्य तथा साध्याभाव के साथ हेतु के सहचार दर्शन के उत्पन्न होता है। प्रथम साधारण, द्वितीय असाधारण एवं तृतीय अनुपसंहारी हेत्वाभास है। इस प्रकार उन्होंने अनैकान्तिक के उक्त तीन भेद माने हैं।[५८]

अनध्यवसित

सूत्रकार समर्थित उक्त तीन हेत्वाभासों का विवेचन करने के उपरान्त, भाष्यकार ने सूत्रघटक 'अप्रसिद्धोऽनपदेश' पद से अनध्यवसित या साधारण नामक चौथे हेत्वाभास का भी उद्भावन किया है। इसका लक्षण है—पूर्वोक्त अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास यदि केवल पक्ष में ही रहे और समान जातीय-सपक्षभूत एवं असमानजातीय-विपक्ष उदाहरणों में सर्वथा अनुपलब्ध रहे, तो वही अनध्यवसाय ज्ञान का हेतु होने के कारण अनध्यवसित हेत्वाभास कहलाता है। जैसे, कार्यसत् है, उत्पत्तिशील होने से।[५९] यदि सांख्य दार्शनिक द्वारा यह अनुमान उत्थापित किया जाय, तो हेतु उत्पत्तिमत्त्व अनध्यवसित हेत्वाभास होगा, कारण सांख्य मतावलंबी सत्कार्यवादी होने के कारण, कार्य की उत्पत्ति के पूर्व भी उसकी सत्ता मानते हैं। इसलिये अपने इस मन्तव्य की सिद्धि के लिये, यदि वे उक्त हेतु का प्रयोग करें, तो उक्त दोष होगा क्योंकि, सर्वदा विद्यमान रहने वाले सत् रूप सपक्षभूत आकाश में तथा सर्वदा अविद्यमान रहने वाले विपक्षभूत आकाश कुसुम में, हेतु उत्पत्तिमत्त्व नहीं पाया जाता, कारण गगन और गगन कुसुम दोनों में से कोई भी उत्पत्तिशील नहीं है। अतः हेतु उत्पत्तिमत्त्व द्वारा कार्यों की उत्पत्ति से पूर्व सत्त्व अथवा असत्त्व इन दोनों में किसी एक का भी साधक नहीं बन सकने के कारण यह असाधारण हेत्वाभास कहलाता है।[६०] शंकर मिश्र ने इस असाधारण हेतु को संदिग्ध अर्थात् अनैकान्तिक हेत्वाभास का ही एक भेद माना है,[६१] किन्तु प्रशस्तपाद[६२] और श्रीधर [६३]दोनों ने, इसे पृथक् हेत्वाभास मानते हुए, इसकी संशय-उत्पादकता का प्रबल युक्तियों द्वारा खण्डन किया है[६४] इसी प्रकार, 'साध्य का असाधक होते हुए केवल पक्ष में ही रहने वाले हेतु' को अनध्यवसित घोषित करते हुए शिवादित्य ने भी इसे स्वतंत्र हेत्वाभास माना है।[६५]

उक्त चारों हेत्वाभासों के अतिरिक्त शिवादित्य ने कालात्यापदिष्ट और प्रकरण सम हेत्वाभासों के लक्षण इस प्रकार दिये हैं—जिस हेतु के पक्ष में, किसी उपजीव्य (प्रबलतर) प्रमाण द्वारा, साध्य के विपरीत अर्थ अर्थात् साध्याभाव का निश्चय हो गया हो, उसे कालात्ययापदिष्ट[६६] तथा साध्य सिद्ध करने वाले जिस हेतु के साथ साध्याभाव का साधक अन्य हेतु भी विद्यमान रहता हो, उसे प्रकरणसम[६७] कहा जाता है।

न्यायमत

न्यायसूत्रकार ने पाँच प्रकार के हेत्वाभासों का उल्लेख किया है—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम एवं कालातीत[६८]। भासर्वज्ञ को छोड़कर उनके उत्तरवर्ती सभी नैयायिकों ने इन्हीं पाँच हेत्वाभासों को स्वीकार किया है।

न्यायसूत्रकार के अनुसार, अनैकान्तिक को ही सव्यभिचार कहा जाता है[६९]। अनैकान्तिक और सव्यभिचार दोनों ही शब्द पारिभाषिक से जान पड़ते हैं, अतः इनकी व्याख्या करना आवश्यक है। सव्यभिचार को समझने के पूर्व व्यभिकार क्या है, यह जानना अनिवार्य है। व्युत्पत्ति के, अनुसार व्यभिचार शब्द 'वि' 'अभि' पूर्वक 'चर' धातु से निष्पन्न होता है 'वि'—विशेष रूप से, 'अभि'—सर्वतो भावेन, 'चर'—गति या स्थिति का अभाव, तदनुसार सर्वतो भावेन एक विशेष रूप से स्थिति का अभाव होना ही व्यभिचार है अथवा 'वि'—विरुद्धार्थक 'अभि'—उभयार्थक और 'चार'—को सम्बन्ध मानकर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है—परस्पर विरोधी दो वस्तुओं अर्थात्

साध्य तथा साध्याभाव दोनों के साथ किसी आश्रय में हेतु का रहना ही व्यभिचार है। अभिप्राय यह कि साध्य-अधिकरण तथा साध्याभाव-अधिकरण दोनों में, जिस हेतु की समान रूप से विद्यमानता ज्ञापित होती है, वही व्यभिचार है। व्यभिचार पद की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि एकत्र अव्यवस्था का नाम ही व्यभिचार है और व्यभिचार सहित रहना सव्यभिचार[७०]। अभिप्राय यह कि साध्य के अधिकरण में हेतु का व्यवस्थित रूप से न रहना ही व्यभिचार है तथा व्यभिचार विशिष्ट होना सव्यभिचार। जैसे,

'शब्द नित्य है,

स्पर्शहीन होने से,

जो-जो स्पर्शवाला नहीं होता वह-वह नित्य होता है जैसे, आत्मा आदि;

जो-जो अनित्य होता है वह-वह स्पर्शवाला होता है जैसे, घट-पट-आदि। प्रथम उदाहरण साधर्म्य-व्यभिचार एवं द्वितीय वैधर्म्य व्यभिचार द्वारा ग्रस्त है। आशय यह कि दृष्टान्त आत्मा आदि में 'यत्र निः स्पर्शवत्त्वं तत्र नित्यम्' इस रूप से व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती, कारण आत्मा आदि स्पर्शविहीन होने पर भी, परमाणु आदि नित्य पदार्थों में, इसका व्यभिचार हो सकता है, क्योंकि परमाणु नित्य होने पर भी स्पर्शविहीन नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय दृष्टान्त घट आदि में 'यदनित्यं तत्सर्वं स्पर्शवत्' यह व्याप्ति संघटित नहीं होने पाती, कारण घट आदि स्पर्शशील होने पर भी बुद्धि आदि अनित्य पदार्थ में, उसका व्यभिचार पाया जाता है, क्योंकि बुद्धि अनित्य होने पर भी स्पर्शयुक्त नहीं है।[७१] वाचस्पति मिश्र ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।[७२] सूत्रकार और भाष्यकार ने, साध्य-निश्चय के लिये, दृष्टान्त साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से हेतु को गमक माना हैं। इसलिये उक्त रीति से दोनों प्रकार के दृष्टान्तों में व्यभिचार हो जाने के कारण 'स्पर्शवत्त्व' हेतु सद्हेतु नहीं, प्रत्युत व्यभिचारी ही है, क्योंकि साध्य के अधिकरण शब्द में वह व्यवस्थित रूप से नहीं रहता। सव्यभिचार पद की व्याख्या करने के उपरान्त भाष्यकार ने अनैकान्तिक पद की विवेचना इस प्रकार की है––'जो हेतु एक ही अन्त (अधिकरण) में रहता हो, उसे एकान्तिक, तथा इसके विपरीत, जो अनेक अन्तों में रहता हो, वह अनैकान्तिक कहलाता है। प्रकृत में 'निःस्पर्शवत्त्व' हेतु नित्य पदार्थ रूप एक आश्रय तथा अनित्य पदार्थ रूप अन्य आश्रय दोनों में वृत्ति रहता है। इसलिये परस्पर दो विरोधी आश्रयों में उपलब्ध होने के कारण, यह हेतु व्यभिचारी कहलाता है।[७३] उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र विश्वनाथ आदि ने भी इस व्याख्या का अनुगमन किया है।[७४] उद्योतकर ने, प्रशस्तपाद की भांति, जो हेतु साध्य एवं तज्जातीय–पक्ष एवं सपक्ष में रहने के साथ-साथ अन्यत्र–विपक्ष में भी रहता हो, उसे व्यभिचारी तथा तद्वृत्तित्व को व्यभिचार कहा है। उन्होंने 'निःस्पर्शवत्त्व' हेतु की अपेक्षा प्रमेयत्व हेतु का प्रयोग किया है। यह प्रमेयत्व हेतु, नित्य और अनित्य सभी पदार्थों में पाया जाने के कारण, व्यभिचारी या अनैकान्तिक कहलाता है।[७५] इस अनैकान्तिक हेतु में पक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्व ये दोनों लक्षण पाये जाते हैं, किन्तु विपक्षासत्त्व नहीं पाया जाता। इसी बात को लेकर यह आशंका की जा सकती है कि असाधारण हेतु जिसमें दोनों लक्षण नहीं पाये जाते, उसमें लक्षण अव्याप्त हो जायगा। इसका समाधान देते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि 'दोनों रूपों में रहना' कथन का अभिप्राय यह है कि व्यभिचारी हेतु विधीयमान अथवा अविधीयमान (भाव रूप से अथवा व्यावृत्ति या प्रतिषेध) दोनों रूप से उपलब्ध

होता है। जब विधीयमान रूप से उसका ग्रहण किया जाता है, तब वह पक्ष-सपक्ष-विपक्ष तीनों में साधारणतः सम्बद्ध होने के कारण, साधारण तथा अविधीयमान रूप से जब इसका निर्वचन किया जाय, तो पक्षव्यापकसक्षविपक्षावृत्ति होने से असाधारण कहलाता है। अतः पक्षधर्मत्व के साथ अन्य दोनों लक्षणों की विद्यमानता अथवा अविद्यमानता दोनों अवस्थाओं में अनैकान्तिक हेत्वाभास हो सकता है। इस विवेचन से प्रतीत होता है कि वे साधारण और असाधारण नामक दोनों अनैकान्तिक भेदों से परिचित थे, किन्तु उन्होंने इन दो भेदों को ज्ञापित नहीं किया।[७६] जयन्त भट्ट ने वात्स्यायन के लक्षण में प्रयुक्त अव्यवस्था पद के स्थान में 'व्यवस्था-अनियम' पद रखकर वही बात कही है।[७७] अपने इस लक्षण की व्याख्या में उन्होंने भाष्यकार, उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र के विचारों का समन्वय करने का प्रयास किया है। इसीलिये सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापी, उभयपक्षैकदेशवृत्ति और उभयपक्षव्यापी इन चार साधारण अनैकान्तिक तथा असाधारण विरूद्धाव्यभिचारी आदि अवान्तर भेदों का विस्तारपूर्वक खण्डन करके, उद्योतकर की तरह, विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में होने वाले हेतु दोष को ही सव्यभिचार कहा है।[७८]

भासर्वज्ञ ने भी उद्योतकर की भांति पक्ष-सपक्ष और विपक्ष तीनों में समान रूप से विद्यमान रहने वाले हेतु को अनैकान्तिक कहा है।[७९] इसके आठ भेदों की व्याख्या इस प्रकार है:—

(१) **पक्षत्रयव्यापक**—'शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से।'

यहाँ पर प्रमेयत्व हेतु पक्षभूत शब्द में, सपक्षभूत अनित्य पदार्थ घट-पटादि एवं विपक्षभूत नित्य पदार्थ परमाणु आकाशादि सभी में है।

(२) **पक्ष व्यापकसपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति**—'शब्द अनित्य है, प्रत्यक्ष होने से।'

यहाँ पर प्रत्यक्षत्व हेतु पक्षभूत सभी शब्दों में विद्यमान होने के कारण पक्ष व्यापक है तथा सपक्षभूत अनित्य घटादि में रहने एवं अनित्य सूक्ष्म कीटाणुओं में न रहने से, सपक्षैकदेशवृत्ति है और विपक्ष भूत सभी नित्य पदार्थ आत्मा में होने एवं परमाणुओं में न होने से विपक्षैकदेशवृत्ति भी।

(३) **पक्षविपक्षव्यापकसपक्षैकदेशवृत्ति**—'यह गाय है, सींग वाली होने से।'

यहाँ पर विषाणित्व 'हेतु पक्षभूत' इदम्' शब्दनिर्दिष्ट गाय में होने तथा सपक्ष-भूत सभी गायों में होने से पक्ष-सपक्ष-व्यापक है और विपक्षभूत महिष आदि में होने एवं अश्व आदि में न होने से विपक्षैकदेशवृत्ति भी है।

(४) **पक्षविपक्षव्यापकसपक्षैकदेशवृत्ति**—'यह गाय नहीं है, सींग वाली होने।'

यह पर हेतु विषाणित्व पक्षभूत 'इदम्' शब्द निर्दिष्ट जन्तु और विपक्षभूत गाय में होने से पक्ष विपक्षव्यापक है। एवं सपक्षभूत अज आदि में होने तथा गाय भिन्न अश्व आदि में न होने से सपक्षैकदेशवृत्ति है।

(५) **पक्षत्रयैकदेशवृत्ति**—'पृथिवी नित्य है, प्रत्यक्ष होने से।

यहाँ पर प्रत्यक्षत्व हेतु पृथिवी के एकदेशभूत घटादि में होने तथा परमाणु आदि में न होने से पक्षैकदेशवृत्ति है; सपक्षभूत आत्मा में होने एवं परमाणु में न होने से सपक्षैकदेशवृत्ति है तथा विपक्षभूत अनित्यपट आदि में होने से एवं सूक्ष्म अनित्य कीटाणुओं में होने से विपक्षैकदेशवृत्ति है।

(६) **पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक**—'दिक्, काल और मन द्रव्य हैं, अमूर्त होने से।'

यहाँ पर अमूर्तत्व हेतु, पक्षभूत मन में न रहने और पक्षभूत दिक् काल में रहने से पक्षैकदेशवृत्ति है; सपक्षभूत पृथ्वी आदि में रहने तथा आकाश आदि में रहने से सपक्षैकदेशवृत्ति भी है। एवं विपक्षभूत गुणादि में न रहने के कारण विपक्ष व्यापक भी है।

(७) **पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापक**—'दिक्, काल और मन द्रव्य नहीं है। अमूर्त होने से।'

यहाँ पर 'अमूर्तत्व' हेतु पक्षभूत दिक्, काल में होने एवं मन में न होने से, पक्षैकदेशवृत्ति है; विपक्षभूत प्रक्षैकदेश पृथ्वी आदि में न होने एवं आत्मा में होने से विपक्षैकदेशवृत्ति है एवं सपक्षभूत गुणादि में होने से यह सपक्ष व्यापक भी हैं।

(८) **सपक्षविपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्ति**—आकाश-काल-दिक्-आत्मा और मन द्रव्य नहीं हैं, क्षणिक विशेष गुण रहित होने से।

यहाँ पर हेतु क्षणिक विशेषगुणरहित सपक्षभूत अद्रव्यत्वरूप से गुणादि में होने से सपक्ष व्यापक है; एवं विपक्षभूत पृथिवी, जल, तेज एवं वायु में होने से विपक्षव्यापक भी है तथा काल-दिशा-मन रूप पक्ष के एक देश में है तथा पक्षान्तर्गत पक्षभूत आकाश-आत्मा में नहीं होने से पक्षैकदेशवृत्ति है।[८०]

महर्षि कणाद और प्रशस्तपाद की भांति, जिन दार्शनिकों ने, संदिग्ध हेत्वाभास के रूप में, संशय का जनक होने के कारण, अनैकान्तिक हेत्वाभास माना है उनको दृष्टि में रखते हुए गङ्गेश ने अनैकान्तिक—संशयजनकता घटित लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—'साध्य-संशय की जनक, साध्य और साध्याभाव रूप कोटि द्वय उपस्थिति के कारणीभूत पक्षधर्मताज्ञान का विषय होता हुआ जो हेतुत्व रूप से अभिमत हो, उसे सव्यभिचार कहा जाता है।[८१] गङ्गेश के अनुसार सव्यभिचार तीन प्रकार का है—साधारण असाधारण और अनुपसंहारी।[८२] अतः तीनों में उक्त लक्षण का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है 'पर्वत धूमवान् है, वह्नि होने से।' यहाँ वह्नि रूप साधारण हेतु पर्वत, महानस आदि स्थलों में धूम के साथ तथा अयोगोलक आदि में धूमाभाव के साथ सहचरित होता है। इस प्रकार वह 'पर्वतो धूमवान् न वा' इत्याकारक साध्यसंशय की जनक धूम और धूमाभाव रूप परस्पर विरुद्ध दो कोटियों की उपस्थिति का कारणीभूत धूम व धूमाभाव से सहचरित 'वह्निमान् पर्वतः' इत्याकारक पक्षधर्मताज्ञान का विषय भी है और वह्नि हेतुत्व रूप से अभिमत भी। अतः साधारण अनैकान्तिक में लक्षण समन्वय होने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार 'पर्वत वह्निमान् है, गगन होने से' यहाँ पर गगन रूप हेतु असाधारण अनैकान्तिक है। यहाँ साध्य-संशय—'पर्वतो वह्निमान् न वा' की जनक वह्नि और वह्न्यभाव रूप कोटिद्वय उपस्थिति के कारणीभूत वह्नि वह्न्यभाववद्व्यावृत्त गगनवान् पर्वतः इत्याकारक पक्षधर्मता ज्ञान का गगन हेतु विषय भी है और हेतुत्व रूप से अभिमत भी। अतः असाधारण अनैकान्तिक में भी लक्षण समन्वय हो जाता है। इसी प्रकार 'सब अनित्य है, मेय होने से', यहाँ मेय रूप हेतु अनुपसंहारी है। यहाँ 'सर्वं अनित्यं न वा' इत्याकारक साध्य-संशय की जनक अनित्यत्व तथा अनित्यत्वाभाव रूप कोटिद्वय उपस्थिति के कारणीभूत अनित्यावाभाव सहचरित मेयत्ववत् इस प्रकार के पक्षधर्मता ज्ञान की विषयता भी मेयत्व

हेतु में है और वह हेतुत्व रूप से अभिमत भी है। अतः इसमें भी लक्षण का समन्वय हो जाता है। किन्तु यह संशय जनकता घटित लक्षण समीचीन नहीं जान पड़ता, कारण जिसका ज्ञान अनुमिति में अथवा अनुमिति के कारणीभूत व्याप्तिज्ञान में साक्षात् प्रतिबन्धक होता है, उस ज्ञान के विषय को ही दोष माना जाता है। जैसे, 'ह्रदोवह्न्यभाववान्' यह बाध ज्ञान 'ह्रदोवह्निमान्' इस अनुमिति का साक्षात् प्रतिबन्धक होने के कारण, इस ज्ञान के विषय 'वह्न्यभाववद्ह्रद' को बाध दोष माना जाता है। इसी भांति 'धूमाभाववद्वृत्तिवह्निः' इत्याकारक व्यभिचार-ज्ञान को धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः इत्याकारक व्याप्ति ज्ञान के प्रति साक्षात् प्रतिबन्धक माना जाता है, इसलिये साक्षात् प्रतिबन्धक होने के कारण, उसके विषय 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः' को व्यभिचार दोष माना गया है। किन्तु उक्त व्यभिचार लक्षण का ज्ञान, अनुमिति अथवा उसके कारणीभूत व्याप्तिज्ञान दोनों का प्रतिबन्धक नहीं है इसलिये इसे व्यभिचार दोष का यथार्थ लक्षण नहीं माना जा सकता। इसलिये इस लक्षण के आधार पर हेतु में दुष्टत्व व्यवहार का नियमन नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमिति प्रतिबन्धकतावच्छेदक धर्म को ही दुष्टत्व व्यवहार का नियामक माना जाता है।[८३] गङ्गेश ने अपना सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है—'साध्य-साध्याभाव रूप कोटिद्वय उपस्थिति के जनकतावच्छेदक रूप साधारणत्व, असाधारणत्व, तथा अनुपसंहारित्व ये तीन ही होते हैं, इसलिये इन तीन रूपों से युक्त साधारण, असाधारण, तथा अनुपसंहारी ये तीन ही अनैकान्तिक शब्द से वाच्य है।[८४] साधारण आदि प्रत्येक दोष, अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक माने गये हैं अतः इन तीनों में समन्वित हो जाने के कारण यह लक्षण समीचीन जान पड़ता है। विश्वनाथ ने भी इसी लक्षण का समर्थन किया है।[८५] केशवमिश्र[८६] तथा अन्नमभट्ट[८७] ने महर्षि गौतम के लक्षण का समर्थन किया है, अन्तर केवल इतना है कि न्यायसूत्रकार ने जहाँ अनैकान्तिक को सव्यभिचार कहा है वहाँ इन दोनों ने सव्यभिचार को ही अनैकान्तिक माना है। जगदीश[८८] विश्वनाथ,[८९] अन्नमभट्ट[९०] आदि उत्तरवर्ती नैयायिकों ने गङ्गेश कृत उक्त तीन भेदों को स्वीकार किया है,[९१] किन्तु केशव मिश्र ने इसके साधारण और असाधारण ये दो भेद ही माने हैं।[९२]

गङ्गेश कृत साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभासों के लक्षणों को अवगम करने के पूर्व, उनके अविर्भाव-क्रम को समझ लेना अधिक उपयोगी होगा। गङ्गेश-पूर्व सभी भारतीय दार्शनिकों ने साध्य और साधन के नियत स्वाभाविक सम्बन्ध को ही व्याप्ति के रूप में व्यवस्थापित किया है। किन्तु गङ्गेश और उनके उत्तरवर्ती नव्य नैयायिकों के अनुसार, साध्य के साथ हेतु का नियत रूप से सहचरित रहना ही व्याप्ति का प्रयोजक नहीं है, प्रत्युत हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध के साथ, साध्य के साथ सपक्ष में हेतु का रहना भी आवश्यक है। इस तरह गङ्गेश प्रणीत व्याप्ति को दो अंशों में विभाजित किया जा सकता है। साध्य में साधन का नियत सम्बन्ध अर्थात् व्याप्यकत्व, एवं हेतु के व्यापकीभूत साध्य का सपक्षों में हेतु के साथ रहना अर्थात् सामानाधिकरण्य। जो हेतु साध्य और साध्याभाव दोनों के साथ सम्बद्ध रहता है जैसे, 'शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से', यहाँ हेतु प्रमेयत्व, साध्य अनित्यत्व वाले घट, पट आदि सभी सपक्षभूत पदार्थों तथा साध्याभाव—नित्यत्व विशिष्ट आत्मा आदि समस्त विपक्षभूत पदार्थों से सम्बद्ध रहता है। अतः इस हेतु की व्यापकता उस साध्य में कदापि नहीं रह सकती। कारण व्यापक होने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि व्याप्य के अधिकरण

में व्यापक का अभाव न रहे। व्यभिचारी हेतु के अधिकरण में, साध्य का अभाव भी पाया जाता है, इसलिये साध्य कभी भी व्यभिचारी हेतु का व्यापक नहीं हो सकता। साध्य में हेतु के व्यापकत्व वाला जो प्रथम अंश है, उसका ऐसी स्थिति में व्यभिचार द्वारा अवश्य ही प्रतिरोध होगा। इसलिये व्याप्ति के उक्त स्वरूप मानने वाले पक्ष में भी व्यभिचार-दोष विशिष्ट हेतु सव्यभिचार हेत्वाभास होगा। व्याप्ति के द्वितीय अंश—व्यापकीभूत साध्य का हेतु के साथ सामानाधिकरण्य को विघटित करने वाला दोष भी यदि हेतु में विद्यमान है, तो भी व्यभिचार दोष से युक्त होने के कारण, सव्यभिचार हेत्वाभास होगा, क्योंकि सामान्यत: व्याप्ति के विघटन को ही व्यभिचार कहा जाता है, इसी व्यभिचार को साधारण अनैकान्तिक कहा जाता है। व्याप्ति के उक्त द्वितीय अंश का विघटन दो प्रकार से सम्भव है। जहाँ कोई सपक्ष या विपक्ष विद्यमान नहीं हो, वहाँ साध्य का हेतु के साथ सपक्ष में सहचरित रहना असंभव है, क्योंकि वहाँ कोई सपक्ष ही नहीं रहता तथा जहाँ लोकनिष्ठ सभी पदार्थ पक्ष होंगे अर्थात् पक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं, वहाँ भी कोई सपक्ष उपलब्ध नहीं हो सकता। अत: ऐसे स्थलों में भी, साध्य का हेतु के साथ सपक्ष में सामानाधिकरण्य संभावित नहीं है। प्रथम का उदाहरण है—'शब्द अनित्य है, शब्दत्व होने से।' यहाँ शब्दत्व हेतु केवल पक्ष रूप शब्द में ही रहता है। पक्ष में साध्य अनिर्णीत रहता है, किन्तु सपक्ष में साध्य और साधन दोनों का निश्चित रहना आवश्यक है। आकाश आदि पदार्थों में जहाँ साध्य नित्यत्व निर्णीत रहता है, वहाँ हेतु शब्दत्व निश्चित नहीं रहता और शब्द में जहाँ हेतु शब्दत्व निर्णीत रहता है, वहाँ साध्य निर्णीत नहीं है। अत: ऐसे स्थलों में सपक्ष उपलब्ध न होने से तथा सपक्ष में साध्य और हेतु का सामानाधिकरण्य संभावित न होने के कारण, व्याप्ति भी संभव न होगी। अत: हेतु शब्दत्व भी सव्यभिचार हेत्वाभास ही होगा। किन्तु घट आदि पदार्थों में, जहाँ साध्य नित्यत्व का अभाव निश्चित है, वहाँ हेतु शब्दत्व नहीं है। अत: पूर्वकथित साधारण सव्यभिचार दोष यहाँ सम्भव नहीं होगा। इस स्थल में हेतु शब्दत्व का केवल पक्ष में ही वृत्ति रहना और सपक्ष तथा विपक्ष में न रहना ही व्याप्ति का विघटन होना है, इसलिये इसको असाधारण नामक पृथक् अनैकान्तिक हेत्वाभास मानना होगा, कारण साधारण हेत्वाभास की तरह, यह साध्य के अधिकरण तथा साध्याभाव के अधिकरण दोनों में साधारणतया सामान्य रूप से विद्यमान नहीं रहता। इसी प्रकार, जिस स्थल में संसारगत सभी पदार्थ पक्ष होते हैं जैसे 'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्' वहाँ भी उक्त सामानाधिकरण्य संभावित नहीं, कारण, प्रकृत में लोकमत समस्त पदार्थ पक्ष के अन्तर्गत-सन्निविष्ट हो जाने के कारण, सपक्ष के लिये कोई उदाहरण ही अवशेष नहीं बचता। सपक्ष, पक्ष से सर्वदा भिन्न रहता है। अत: इन स्थलों में भी हेतु के व्यापक साध्य का किसी सपक्ष में सामानाधिकरण्य होना संभावित नहीं। इस प्रकार के हेतुओं में भी व्याप्ति नहीं रह सकती, अपितु व्यभिचार ही रहेगा। इसलिये इस स्थल में उक्त साधारण अथवा असाधारण दोनों प्रकार के हेत्वाभास न होने के कारण, अनुपसंहारी नामक पृथक् व्यभिचार दोष मानना होगा: इस अवतरणिका को समझ लेने के पश्चात् गङ्गेशकृत साधारण, असाधारण एवं अनुपसंहारी लक्षणों को समझना सुगम हो जाता है।

साधारण

गङ्गेश के अनुसार, "जो हेतु साध्यवत् (साध्य के अधिकरण) में वृत्ति रहता

हुआ साध्य के अधिकरण से अन्य अर्थात् साध्याभाव के अधिकरण में भी विद्यमान रहता हो," उसे साधारण अनैकान्तिक कहते हैं ।[९३] केशवमिश्र ने शिवादित्य और भासर्वज्ञ की भांति सरल शब्दों में, 'पक्ष-सपक्ष और विपक्ष तीनों में वृत्ति रहने वाले हेतु को साधारण कहा है ।[९४] जगदीश,[९५] विश्वनाथ,[९६] अन्नमभट्ट[९७] आदि ने गङ्गेश लक्षण का ही समर्थन किया है ।

असाधारण

'जो हेतु, निश्चित साध्यवाले सभी सपक्षों से व्यावृत्त होता हुआ निश्चित साध्याभाव वाले सभी विपक्षों में विद्यमान नही रहता, अपितु भाव पक्ष में ही रहता हो, उसे असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है ।[९८] केशवमिश्र[९९] तथा अन्नमभट्ट[१००] ने इस प्रसङ्ग में गङ्गेश का अक्षरशः समर्थन किया है । गङ्गेशकृत इस लक्षण का समर्थन करते हुए,[१०१] विश्वनाथ ने, एक और भी लक्षण दिया है, जो इस प्रकार है—साध्य के असमानाधिकरण में विद्यमान रहने वाला हेतु, असाधारण कहा जाता है ।[१०२] उन्होंने प्रथम लक्षण का प्राचीन एवं द्वितीय को नवीन संबोधित किया है ।[१०३]

साधारण और असाधारण दोनों हेत्वाभासों के उदाहरण अवतरणिका में भली प्रकार विवेचित किये जा चुके हैं ।

अनुपसंहारी

'जहाँ पर, जिस काल में, व्याप्तिज्ञान के कारणीभूत साध्य और हेतु के अन्वयसहचार तथा व्यतिरेक सहचार का एक धर्मी में उपसंहार नहीं किया जा सके, वहाँ हेतुत्व रूप से अभिमत हेतु को अनुपसंहारी कहा जाता है ।[१०४] जैसे 'सर्वं नित्य प्रमेयत्वात्' यहाँ पक्ष-सर्व के अन्तर्गत, सभी सपक्षभूत नित्य तथा विपक्षभूतअनित्य पदार्थ समाविष्ट हो जाने के कारण कोई सपक्षभूत अथवा विपक्षभुत धर्मी उपलब्ध नहीं होता जिसमें अन्वय अथवा व्यतिरेक सहचार का उपसंहार किया जा सके । अतः यहाँ सपक्षभूत अथवा विपक्षभूत किसी धर्मी में व्याप्तिज्ञान के कारणीभूत अन्वय अथवा व्यतिरेक सहचार का उपसंहार भी नहीं होता और हेतु प्रमेयत्व यहाँ हेतुत्व रूप से अभिमत है, इसलिये इसमें लक्षण का समन्वय सुगमता से किया जा सकता है । प्रथम लक्षण को, सरल शब्दों में अंकित करते हुए अन्नमभट्ट ने, अन्वय-व्यतिरेक दृष्टान्त रहित हेतु को अनुपसंहारी कहा है । अथवा केवलान्वयिधर्मावच्छिन्न पक्षक हेतु को भी अनुपसंहारी कहा जा सकता है ।[१०५] इस लक्षण का खण्डन करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि उक्त लक्षण को मान लेने पर, 'सर्वम् अभिधेयं प्रमेयत्वात्' इस अनुमान में प्रयुक्त विशुद्ध केवलान्वयी हेतु 'प्रमेयत्व' भी अनुपसंहारी कहलाने लगेगा, क्योंकि 'सर्वं' के पक्ष बन जाने पर कोई दृष्टान्त अवशेष नहीं रहता, जहाँ साध्य और हेतु की सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का निश्चय किया जा सके । क्योंकि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' इत्याकारक साध्य-साधन की सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का अवधारण पाकशाला आदि दृष्टान्त में ही हुआ करता है । अतः सामानाधिकरण्य ग्रह के लिये कोई दृष्टान्त रूप अन्य स्थल उपलब्ध न होने के कारण, न तो व्याप्तिनिश्चय हो सकेगा और न अनुमिति ही । किन्तु यह आशंका तर्कसम्मत नहीं जान पड़ती, क्योंकि पक्ष का पक्षतावच्छेदक धर्म होगा 'सर्वत्व', इस सर्वतावच्छेदेन (संपूर्ण) पक्षसर्व में साध्य-संशय रहने पर भी, उसके एकदेश घट, पट आदि में घटत्वावच्छेदेन, पटत्वावच्छेदेन साध्य अभिधेयत्व तथा साधन प्रमेयत्व का सहचार ग्रहण हो जाने के उपरान्त, उक्त साध्य-साधन का सामानाधिकरण्य घट- पट

आदि में उपलब्ध होने पर, अनुमिति हो सकती है। दूसरी बात यह है कि साध्य के सहचार-निश्चय का अभाव हेतु में विद्यमान भी हो, तो भी वहाँ अज्ञान रूप असिद्धि मानी जा सकती है। यह समाधान इसलिये उपयुक्त नहीं है कि अज्ञान सर्वदा पुरुषनिष्ठ दोष ही होता है, हेतुनिष्ठ दोष नहीं। ऐसी परिस्थिति में उसमें हेत्वाभासता उपपन्न नहीं हो सकती। इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं जान पड़ता। अतः केवलान्वयिधर्मावच्छिन्न पक्षक की अपेक्षा, साध्य-अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी हेतु को अनुपसंहारी कहना न्यायसंगत है। यह अनुपसंहारी व्यभिचार निश्चय, व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान का प्रतिरोध करता है। जैसे, सर्वम् अनित्यं प्रमेयत्वात्' इस स्थल में जब किसी व्यक्ति को 'सर्वम् अनित्यम्'—'लोकनिष्ठ समस्त पदार्थ अनित्य हैं' ऐसा ज्ञान हो जाता है, तो उस काल में अनित्यत्वाभाव रूप साध्य का अभाव उपलब्ध नहीं होगा। अतः साध्य के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न होने के कारण, हेतु प्रमेयत्व अनुपसंहारी होगा। साध्याभाव के व्यापकीभत अभाव का प्रतियोगी होना ही व्यतिरेक व्याप्ति है। इस व्याप्तिज्ञान में साध्याभाव का सन्निवेश होने के कारण, व्यतिरेक व्याप्ति साध्याभाव घटित कहलाती है। व्यतिरेक व्याप्ति के घटक इसी साध्याभाव अंश का प्रतिबन्धन अनुपसंहारी हेत्वाभास द्वारा होता है।[१०६]

इसी प्रकार साधारण और केवलान्वयी तथा असाधारण और केवलव्यतिरेकी हेतुओं में भी पर्याप्त अन्तर है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है, प्रमेय होने से' यहाँ हेतु प्रमेयत्व साधारण हेत्वाभास है तथा 'पर्वत अभिधेय है, प्रमेय होने से, यहाँ हेतु प्रमेयत्व केवलान्वयी सद्‌हेतु है। द्वितीय में साध्य अभिधेयत्व के साथ नियत रूप से सहचरित है, क्योंकि घट आदि की भांति, जो-जो प्रमेय होता है वह-वह अभिधेय अवश्य होता है' ऐसी अव्यभिचरित व्याप्ति बनायी जा सकती है, किन्तु प्रथम में साध्य वह्नित्व प्रमेयत्व हेतु के साथ इस प्रकार से सहचरित नहीं है। इसी प्रकार 'पृथ्वी अन्य भूतों से भिन्न है, गन्ध वाली होने से' यहाँ गन्धवत्त्व हेतु केवलव्यतिरेकी सद्‌हेतु है, क्योंकि साध्य इतरभूतभिन्नत्व हेतु गंधवत्त्व के साथ, नियत रूप से सहचरित है, कारण 'जो-जो इतर भूतों से भिन्न नहीं है, वह-वह गन्ध युक्त भी नहीं है', ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति बनायी जा सकती है। जबकि 'पृथ्वी नित्य है, पृथ्वीत्व होने से' यहाँ असाधारण पृथ्वीत्व हेतु में साध्य नित्यत्व की व्याप्ति नहीं पायी जाती, क्योंकि वह पक्षमात्र वृत्ति है।

अतः हेतु में पक्षधर्मता से संपन्न होते हुए भी, व्याप्ति का विभिन्न प्रकार से व्यवच्छेदन होने के कारण, साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास भेदों की सर्जना होती है।

विरुद्ध

गौतम ने 'अभ्युपेत्य (जिसको स्वीकार कर लिया गया है) सिद्धान्त के विरोधी हेतु' को विरुद्ध हेत्वाभास कहा है।[१०७] सूत्रगत 'तद्विरोधी' पद का अर्थ है—जो व्याहत करे अथवा असंभव बना दे, तदनुसार जो हेतु स्वीकृत सिद्धान्त को व्याहत कर देता है, वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है।[१०८] जैसे, 'इस विचार का व्यक्तावस्था से अपगम होता है, नित्यता का प्रतिषेध होने से' तथा 'अपगत होकर भी वह (विचार) रहता है, क्योंकि उसका विनाश प्रतिषिद्ध है।[१०९] ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार ने ये उदाहरण योगभाष्य[११०] से गृहीत किये हैं। यहाँ प्रथम अनुमान में (महत्, अहंकार आदि) विकार पक्ष है। धर्म-लक्षण-अवस्था द्वारा ही उक्त विकार की अभिव्यक्ति होती है।

उसका अपगम होना ही (व्यक्तावस्था से रहित होना) साध्य तथा 'नित्यता का प्रतिषेध होना' हेतु है। अतः इस हेतु के प्रयोग द्वारा इस अनुमान से यही निष्कर्ष उपपन्न होता है कि कोई भी विकार नित्य नहीं है। तथा द्वितीय अनुमान में 'अपेत' पक्ष, 'विकार की सत्ता' साध्य और 'विनाश का प्रतिषेध होना' हेतु है। इस प्रयोग से यही निष्कर्ष निकलता है कि अपगत होकर भी विकार की सत्ता रहती है अर्थात् वह नित्य है। क्योंकि उसका एकान्त विनाश प्रतिषिद्ध है। प्रथम हेतु 'नित्यत्व प्रतिषेधत्व' द्वारा द्वितीय अनुमान में मण्डित 'विकारोऽस्ति' इस स्वकीय सिद्धान्त का विरोध होने के कारण, वह विरुद्ध कहलाता है। तात्पर्य यह कि 'विनाश प्रतिषेधत्व' द्वारा सिद्ध किये गये नित्यत्व का 'नित्यत्व प्रति-षेधत्व' हेतु द्वारा प्रतिषेध किया जाने के कारण, दोनों में परस्पर अर्थ का बाध होना ही विरोध है और उक्त विरोध वाला नित्यत्व प्रतिषेधत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।[111] स्वसिद्धान्त विरोधी को ही यदि विरुद्ध माना जाय, तो 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रह-स्थान से उसकी कोई विलक्षणता ही प्रतिफलित नहीं होगी। इस आक्षेप का समाधान देते हुए उद्योतकार ने लिखा है कि 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान वहाँ अभिप्रेत होता है, जहाँ केवल प्रतिज्ञा का ही विरोध होता है किन्तु जहाँ हेतु द्वारा प्रतिज्ञा का विरोध विवक्षित रहता है, वहाँ विरुद्ध हेत्वाभास होता है। जैसे, सर्वदा रहने वाली आत्मा की सत्ता नहीं है' प्रथम का उदाहरण है तथा 'शब्द नित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से' द्वितीय का। प्रथम प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान उदाहरण में प्रतिज्ञा वाक्य द्वारा ही परस्पर दो विरुद्ध तथ्यों का प्रतिपादन किया जाता है, वहाँ हेतु की अपेक्षा नहीं रहती किन्तु द्वितीय उदाहरण में प्रतिज्ञा वाक्य यथार्थ है लेकिन हेतु 'उत्पत्तिधर्मक होने से' से उसकी नित्यता का विरोध भासित होता है, इसलिये इसमें प्रतिज्ञा के साथ-साथ हेतु की भी विवक्षा रहती है। दोनों पृथक्-पृथक् होने से उनका निर्वचन भी अलग-अलग किया गया है। तदनुसार भाष्यकार के द्वितीय अनुमान में, 'अवगत रहकर भी विकार की सत्ता रहती है' यह प्रतिज्ञा और 'विनाश का प्रतिषेध होना' यह हेतु है। यहाँ पर प्रतिज्ञा और हेतु में परस्पर विरोध है, क्योंकि प्रतिज्ञा वाक्य से किसी न किसी रूप में यह निष्कर्ष ध्वनित होता है कि विकार अवगत होता है, और 'विनाश न होने से' इस हेतु द्वारा यह प्रतिभासित होता है कि अपगम कदापि नहीं होता। इसलिये प्रतिज्ञा और हेतु में परस्पर विरोध होने के कारण 'विनाश प्रतिषेध होना' यह हेतु विरुद्ध कहलाता है।[112] अतः अभ्युपत अर्थ का, जो हेतु विरोधी होता है वही विरुद्ध हेत्वाभास है।[113] वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है कि अभ्युपगम मात्र से साधारणतः सिद्धान्त का ही ग्रहण किया जाता है, किन्तु प्रकृत में ऐसा विवक्षित नहीं है। यहाँ इस पद के द्वारा पक्ष में अभ्युपगम विषय की विवक्षा की गयी है, अतः उसके विरोधी हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है।[114] जयन्त भट्ट ने भी इसी बात का अनुमोदन करते हुए लिखा है कि जो हेतु साध्य-निश्चय के लिये उद्दिष्ट साध्य का साधक नहीं होता, प्रत्युत विरोधी होता है, उसे विरुद्ध की संज्ञा दी गई है।[115] इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और भी लक्षण प्रतिपादित किया है— पक्ष-सपक्ष में वृत्ति तथा विपक्ष में अवृत्ति रहने वाला हेतु सद्हेतु कहलाता है। इसके विपरीत, जो हेतु सपक्ष में न रहकर विपक्ष में ही रहता है और अपने साध्य के विपरीत अर्थ का साधक होता है, वह विरुद्ध हेत्वाभास है।[116]

जयन्त भट्ट के द्वितीय लक्षण का समर्थन करते हुए भासर्वज्ञ ने, उस हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहा है, जो सपक्ष में विद्यमान न रहते हुए पक्ष और विपक्ष में ही रहता है।[117]

इसके आठ भेदों को इस प्रकार समझना चाहिए:—

सपक्ष होने पर

(१) **पक्ष-विपक्ष व्यापक**—शब्द नित्य है, कार्य होने से।

यहाँ पर हेतु कार्यत्व विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि हेतु कार्यत्व पक्षभूत शब्द और विपक्षभूत अनित्य घटादि में विद्यमान रहता है।

(२) **विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापक**—शब्द नित्य है, सामान्यवान् होते हुए हम लोगों की बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण योग्य होने से।

इस अनुमान में हेतु सामान्यवत्त्वेसतिअस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्व सम्पूर्ण विपक्ष में न रहने से विपक्षैकदेश वृत्ति कहलाता है, क्योंकि विपक्षभूत सूक्ष्म अनित्य कीटाणुओं को हम अपनी बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने की योग्यता नहीं रखते। पक्षभूत शब्द में रहने के कारण यह पक्ष व्यापक भी है।

(३) **पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द नित्य है, प्रयत्नानन्तरीयक होने से।

यहाँ पर हेतु सम्पूर्ण पक्ष एवं सम्पूर्ण विपक्ष में न रहकर उनके एकदेश में रहता है। जैसे, पक्ष के एक देशभूत वायवीय शब्द में और विपक्ष के एकदेशभूत अनित्य सूक्ष्म कीटाणुओं में हमारे प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती, इस कारण, यह हेतु पक्षसपक्षैक देश-वृत्ति है।

(४) **पक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक**—पृथिवी नित्य है, कृतक होने से।

न्याय मत में पृथिवी दो प्रकार की मानी गयी है—नित्य और अनित्य। हेतु कृतकत्व, घटादि रूप पृथिवी के एक देश में पाया जाता है और विपक्षभूत सभी अनित्य पदार्थों में भी पाया जाता है। इसलिये यह पक्ष के एकदेश में वृत्ति है और विपक्ष व्यापक भी।

सपक्ष न होने पर

(१) **पक्ष विपक्ष व्यापक**—शब्द आकाश का विशेष गुण है, प्रमेय होने से।

यहाँ पर हेतु प्रमेयत्व पक्षभूत सभी शब्दों में और विपक्षभूत पृथिवी आदि सभी (शब्दान्य घटपटादि) पदार्थों में भी यह, इसलिये यह पक्ष विपक्ष व्यापक है।

(२) **पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द आकाश का विशेष गुण है, प्रयत्नानन्तरीयक होने से।

यहाँ पर हेतु 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' पक्ष–तथा विपक्ष के एक देश में है अर्थात् यावत् पक्ष और यावत् विपक्ष में नहीं है। वायवीय शब्द में प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती एवं विपक्षभूत कीटाणु आदि भी बिना हम लोगों के प्रयत्न के यत्र-तत्र विचरण करते रहते हैं।

(३) **पक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द आकाश का विशेष गुण है, बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण योग्य होने से।

उक्त अनुमान में यदि 'बाह्य इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने से' यह हेतु रखा जाय तो वह पक्ष व्यापक और विपक्षैकदेश वृत्ति विरुद्ध हेत्वाभास होगा, क्योंकि बाह्य इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने की योग्यता रखने के नाते, यह देश पक्षभूत सभी शब्दों में रहता है। इसलिये यह पक्ष व्यापक है। विपक्षभूत नित्य परमाणु एवं सूक्ष्म कीटाणुओं में न होने से और विपक्षभूत घटादि में होने से विपक्षैकदेशवृत्ति भी है।

(४) **विपक्षव्यापकपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द आकाश का विशेष गुण है, अपदात्मक होने से।[११८]

यहाँ पर हेतु अपदात्मकत्व केवल ध्वन्यात्मक जैसे भैरि आदि शब्दों में ही होने से पक्षैकदेशवृत्ति है तथा सभी विपक्षभूत घट पटादि में होने से विपक्षव्यापक भी है।

यहाँ पर यह आशंका होती है चार ही विरुद्ध हेत्वाभास के भेद क्यों नहीं माने जांय, अन्य सभी भेदों को असिद्ध में सन्निविष्ट क्यों न कर लिया जाय? पर यह शंका उचित नहीं जान पड़ती, क्योंकि दोनों का लक्षण यदि विरुद्ध में पाया जाय अर्थात् विरुद्ध लक्षण यदि विरुद्ध हेत्वाभास में घटित होता हो, तो उसे विरुद्ध ही मानना होगा, कारण सुवर्ण की इयत्ता (परिमाण, परिमिति) के लिये जिस प्रकार तुला का प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार लक्षणों के अधीन ही लक्ष्य की सिद्धि भी की जाती है।[११९]

प्रथम चार विरुद्ध दोष अन्वयव्यतिरेकी हेतु को दृष्टि में रखते हुए किये गये हैं, जिसमें सपक्ष की सत्ता होती है। द्वितीय चार भेद केवल व्यतिरेकी को ध्यान में रखकर किये गये हैं, जिसमें सपक्ष की सत्ता ही नहीं रहती। इन सभी अनुमानों में, हेतु की साध्य के साथ नहीं, अपितु साध्याभावीय विपरीत पदार्थों के साथ ही व्याप्ति पायी जाती है। इसी कारण इनमें प्रयुक्त किये गये हेतु को विरुद्ध कहा गया है।

गङ्गेश के अनुसार 'जो हेतु साध्य के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होता है, वही विरुद्ध कहलाता है।[१२०] जैसे, 'जलाशय वह्निमान् है, जल होने से।' यहाँ हेतु जलत्व विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि यह हेतु साध्य वह्नित्व के साथ न रहकर, उसके अभाव वाले जल, जलाशय आदि के साथ ही नियमित रूप से पाया जाता है। व्यतिरेकी व्याप्ति में साध्य का अभाव व्याप्य और साधन का अभाव व्यापक होता है। अतः यहाँ हेतु जलत्व का अभाव साध्य वह्नित्व का व्यापक अभाव होगा। इस अभाव का प्रतियोगित्व जलत्व में है इसलिये निश्चित रूप से साध्य के साथ रहने वाले साध्य के व्यापकीभूत हेत्वभाव की प्रतियोगिता ही विरोध दोष है, और उससे विशिष्ट हेतु विरुद्ध कहलाता है। इसी को समझाते हुए केशव मिश्र ने साध्य के विपर्यय अर्थात् अभाव से व्याप्य हेतु को विरुद्ध कहा है।[१२१] केशवमिश्र के लक्षण में प्रयुक्त 'विपर्यय' पद के स्थान पर 'अभाव' पद को व्यवस्थापित करते हुए जगदीश तथा अन्नमभट्ट ने भी यही बात कही है।[१२२] 'न्यायसूत्रवृत्ति' में 'साध्यमभ्युपेत उद्दिश्य प्रयुक्तस्तविरोधी' को 'साध्याभावव्याप्त कहते हुए विश्वनाथ ने सूत्रकार तथा गङ्गेश-लक्षण का समन्वय करने का प्रयास किया है,[१२३] किन्तु 'सिद्धान्त मुक्तावली' में गङ्गेश का ही समर्थन किया है।[१२४] साध्याभाव का ग्राहक होने के कारण, इस विरोध ज्ञान द्वारा, पक्ष में साध्यवत्ता ज्ञान का प्रतिबन्धन होता है।[१२५]

इसमें और सव्यभिचार में अन्तर यह है कि साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी में किसी न किसी रूप से व्याप्ति का विघटन होता है, किन्तु इसमें निश्चित रूप से साध्याभाव के साथ हेतु की व्याप्ति प्रदर्शित की जाती है।

प्रकरणसम

निर्णय के लिये, अपदिष्ट होने पर (कथन करने पर) भी, जिसमें प्रकरण चिन्ता बनी रहती है, उसे न्यायसूत्रकार ने प्रकरणसम कहा है।[१२६] सूत्रघटक 'प्रकरण' पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि विमर्श के अधिष्ठान, (विचार के आश्रय)

अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष प्रकरण और संशय से लेकर निर्णय पर्यन्त पक्ष-प्रतिपक्ष-विषयक साध्य तथा साध्याभाव की जिज्ञासा प्रकरणचिन्ता है। तदनुसार साध्य निश्चय के लिये, प्रयुक्त होने पर भी, प्रकरण समानता के कारण, जिस हेतु से कोई निर्णय नहीं निकल पाता हो, उसे प्रकरणसम कहा जाता है।[127] तत्त्व की अनुपलब्धि होने पर ही प्रकरणचिन्ता उपस्थित होती है और पक्ष तथा प्रतिपक्ष का आश्रयण भी उसी अवस्था में लिया जाता है, जब साध्य और साध्याभाव के विषय में कोई संदेह हो। यदि साध्य अथवा साध्याभाव रूप तत्त्व-अर्थ की उपलब्धि (निश्चय) हो जाय, तो चिन्ता भी निवृत्त हो जाती है। सामान्य रूप से अधिगत होने तथा विशेष रूप से अनुपलब्ध होने के कारण अर्थात् साध्य और उसके अभाव के अनिर्णीत एवं संदिग्ध अवस्था में रहने के कारण प्रकरण चिन्ता उपस्थित होती है। जब साध्य और उसके विरुद्ध धर्म दोनों में से किसी की भी उपलब्धि नहीं होने पाती, तभी निर्णय की आवश्यकता प्रतीत होती है।[128] वाचस्पति मिश्र ने भी इस बात का अपनी व्याख्या में समर्थन किया है।[129] जिस हेतु के प्रयोग करने पर, प्रकरण (परस्पर विरुद्ध दो पक्षों) की चिन्ता बनी रहती है, तथा उभयपक्ष साम्यता के कारण, उन दोनों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष का निर्णय संभावित न हो, वहाँ ऐसे हेतु को, यदि उन दोनों पक्षों में से साध्य अथवा साध्याभाव की अनुपलब्धि मात्र के आधार पर, किसी एक पक्ष के निर्णय के लिये प्रयुक्त किया जाय, तो वह हेतु प्रकरणसम कहलायेगा। जैसे---'शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की अनुपलब्धि होने से, स्थाली की तरह' शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की उपलब्धि न होने से, आकाश की तरह 'स्थाली के समान, पक्ष शब्द में, साध्य अनित्यत्व की सिद्धि के लिये, यदि नैयायिक प्रथम अनुमान में, हेतु 'नित्यधर्मानुपलब्धि' का प्रयोग करता है; तो समान युक्ति द्वारा मीमांसक भी, आकाश के समान, पक्ष शब्द में, साध्य नित्यत्व की सिद्धि के लिये, द्वितीय अनुमान में हेतु 'अनित्यधर्मानुपलब्धि' को प्रयुक्त कर सकता है। ऐसी अवस्था में शब्द में नित्यत्व या अनित्यत्व के निर्णय की अपेक्षा 'शब्दोनित्यो न वा'---'शब्द नित्य है अथवा अनित्य', इस प्रकार का संदेह ही उत्पन्न होगा। उक्त संदेह के बने रहने पर, शब्द में, अनित्यत्व अथवा नित्यत्व दोनों का निश्चय, दोनों हेतुओं में नहीं किया जा सकता, क्योंकि पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों को सिद्ध करने वाले समान बलशाली हेतु यहाँ विद्यमान है।[130]

यदि यह कहा जाय कि समानधर्मक व संशयकारणक होने के नाते, इसमें हेतुता का उपपादन नहीं किया जा सकता, अतः इसे संशयसम अथवा सव्यभिचार से अतिरिक्त मानना अनुपयुक्त है, किन्तु यह न्यायसंगत नहीं जान पड़ता। भाष्यकार ने इस आशंका को असंगत ठहराते हुए लिखा है कि प्रकरणसम का उत्थापन केवल संशय के आधार पर ही नहीं किया जाता, प्रत्युत उस विमर्श की विशेष अपेक्षा से किया जाता है, जिसमें उभयपक्ष विषयक विशेष अनुपलब्धि होती है। जैसे, शब्द में, नित्यधर्म और अनित्यधर्म दोनों की अनुपलब्धि होने के कारण, परस्पर विरोधी उभयपक्षक विशेष अनुपलब्धि से प्रकरणचिन्ता में प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत, उक्त दोनों विशेष अनुपलब्धियों में से यदि एक का भी शब्द में निश्चित रूप से ग्रहण हो जाय, तो प्रकरणचिन्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे, नित्य धर्म का निर्णय हो जाने पर शब्द में अनित्य धर्म का ग्रहण नहीं होता, उसी प्रकार अनित्यधर्म का निश्चय हो जाने पर भी नित्य धर्म को शब्द में गृहीत नहीं किया जा सकता। अतः परस्पर विरोधी दो धर्मों को ज्ञापित करने के कारण, इसके द्वारा, किसी भी धर्म का अवधारण नहीं किया जा सकता। इसलिये यह संशयसम

और सव्यभिचार से भिन्न है।[131] साध्यसम और सव्यभिचार से इसकी पृथकता सिद्ध करते हुए उद्योतकर[132] का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भी लिखा है कि इसे, साध्यसम इसलिये नहीं कहा जा सकता कि साध्यसम हेतु, साध्य के समान अनिश्चित रहने के कारण, अपनी सिद्धि की भी अपेक्षा रखता है, किन्तु प्रकृत में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ परस्पर विरुद्ध दो पक्षों के उत्थापन से संदेह उत्पन्न होता है और समान बल वाले होने के नाते दोनों एक दूसरे के विरोधी होते हैं। इसे अनैकान्तिक भी नहीं कहा जा सकता, कारण जहाँ साध्याभाव में भी हेतु की व्याप्ति पायी जाय, वहाँ अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। जैसे, शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की उपलब्धि न होने से। यहाँ हेतु 'नित्य धर्मानुपलब्धि होने से' तभी अनैकान्तिक कहला सकता है, जब उसकी उपलब्धि नित्यपदार्थों में भी हो। प्रकरणसम में ऐसी बात नहीं पायी जाती, कारण इसमें उभय धर्मी की विशेष अनुपलब्धि होने पर, अन्यतर विशेष धर्म का यदि उपपादन किया जाय, तो प्रकरणसम हेत्वाभास होता है। उभय विशेषानुपलब्धियों का अभिधान करना शक्य नहीं होने के कारण वैसी दृष्ट भी नहीं होती। परस्पर दो विरोधी पक्षों में से किसी एक के उद्भावन से होने वाले प्रकरणसम हेत्वाभास को इसलिये साध्यसम अथवा सव्यभिचार नहीं कहा जा सकता, वरन् पृथक् हेत्वाभास ही मानना होगा। इन्हीं अनैकान्तिकत्व आदि शंकाओं को निरस्त करने के लिये ही संभवतः उन्होंने इसका नवीन परिष्कृत नाम सत्प्रतिपक्ष रखा है, जो कालान्तर में प्रकरणसम के स्थान से अधिक प्रचलित हो गया। 'सन् प्रतिपक्षो यस्य' इस व्यु पत्ति के आधार पर, जिस हेतु का प्रतिपक्ष अर्थात् कोई विरोधी हेतु विद्यमान हो, उसे स प्रतिपक्ष कहा जाता है। वादी यदि किसी अभीष्ट साध्य की सिद्धि के लिये, किसी हेतु का उद्भावन करता है और उसके अनन्तर प्रतिवादी समान बल वाले अन्य हेतु का, उसी पक्ष में, उसी साध्य के निर्णय के लिए प्रयोग करता है, तो दोनों हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से ग्रसित समझे जायेंगे। अनैकान्तिक में ऐसा नहीं होता, इसलिये यह उससे भिन्न ही हेत्वाभास है, कारण अनिश्चायक होने पर भी सव्यभिचार दोष नहीं होता है, जहाँ हेतु 'नित्यधर्मानुपलब्धि होने से' नित्य पदार्थों में तथा हेतु 'अनित्य-धर्मानुपलब्धि होने से' अनित्य पदार्थों में पाया जाय। किन्तु परस्पर दो विरुद्ध धर्मों में पाया जाने के कारण ही यह सत्प्रतिपक्ष कहलाता है। इस व्याख्या के उपरान्त उन्होंने इसे सद्हेतु के रूपों से सम्बद्ध करते हुए लिखा है कि असत्प्रतिपक्षत्व रूप का अभाव होने पर यह हेत्वाभास होता है।[133] जयन्त ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि असत्प्रतिपक्षत्व रूप की विकलता से ही प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास होता है।[134]

भासर्वज्ञ के अनुसार, स्वपक्ष तथा परपक्ष की सिद्धि में समर्थ पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व इन तीनों लक्षणों से सम्पन्न हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है।[135] जैसे, शब्द अनित्य है, पक्ष-सपक्ष अन्यतर होने से, सपक्ष के समान। यहाँ हेतु 'पक्ष-सपक्ष अन्यतरत्व' पक्ष, शब्द में विद्यमान होने के कारण 'पक्षसत्त्व', सभी सपक्षभूत अनित्य पदार्थों में होने के कारण 'सपक्षसत्त्व' तथा विपक्षभूत नित्य पदार्थों में न होने के कारण 'विपक्षासत्त्व' इन तीनों लक्षणों से सम्पन्न है। इसलिये इसके द्वारा साध्य अनित्यत्व की सिद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार, 'शब्द नित्य है, पक्ष-सपक्ष अन्यतर होने से, आकाश की तरह' इस अनुमान में भी उक्त हेतु द्वारा नित्यत्व साध्य की उपपत्ति की जा सकती

है । अतः साध्य अनित्यत्व और उसके अभाव नित्यत्व दोनों को सिद्ध करने की सामर्थ्य रखने के कारण इसको प्रकरण सम कहा जाता है ।[१३६]

वाचस्पति मिश्र ने, प्रकरणसम को सत्प्रतिपक्ष कहा है । उनके उत्तरवर्ती प्रायः सभी नैयायिकों ने इस परिष्कृत नाम को स्वीकार किया है । 'सत्प्रतिपक्ष' पद की व्युत्पत्ति के अनुसार व्याख्या करते हुए दीधितिकार ने लिखा है कि 'सन्'—विद्यमान है प्रतिपक्ष जिसका अर्थात् विरोधी व्याप्ति से विशिष्ट परामर्श का विषयीभूत हेतु अथवा जिस परामर्शविषयीभूत हेतु का विरोधी परामर्श विद्यमान हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है । है ।[१३७] प्राचीन नैयायिकों के मत को उत्थापित करते हुए गङ्गेश ने लिखा है कि उन्होंने जो लिङ्ग समान बल के आधार पर, साध्य तथा साध्याभाव का बोधन करता है, उसे सत्प्रतिपक्ष माना है ।[१३८] आशय यह कि प्रकृत साध्य की अनुमिति के कारणीभूत बलवाला होते हुए, प्रकृत साध्याभाव की अनुमिति के कारणीभूत बलवाला दूसरा हेतु जहाँ विद्यमान हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है ।[१३९] व्याप्ति और पक्षधर्मता को ही बल कहा जाता है ।[१४०] तदनुसार जहाँ 'पर्वतोवह्निमान् धूमात्' इस प्रकृत साध्य-अनुमिति का कारणीभूत व्याप्ति तथा पक्षधर्मता बल से विशिष्ट 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इत्याकारक परामर्श है और 'पर्वतो वह्न्यभाववान् पाषाणमयत्वात्' इस साध्या-भाव अनुमिति का समान बलशाली 'पाषाणमयत्व' रूप अन्य हेतु से विशिष्ट 'वह्न्यभाव-व्याप्य पाषाणमयत्ववान् पर्वतः' यह परामर्श भी है, वहा इन दोनों परस्पर विरोधी परामर्शों के संबलन को सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास माना गया है । यह लक्षण इसलिये समीचीन नहीं जान पड़ता कि हेतु और प्रति हेतु में जो समान बलवत्ता अपेक्षित बतलायी गयी है, वह उपपन्न नहीं होती, क्योंकि दोनों में से एक हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता यथार्थ रूप से पायी जाती है, इसलिये दोनों हेतु अयथार्थ नहीं कहे जा सकते । प्रथम अनुमान में धूम हेतु यथार्थ रूप से व्याप्ति-पक्षधर्मता विशिष्ट है, किन्तु द्वितीय अनुमान में प्रयुक्त पाषाण-मयत्व हेतु नहीं । इसलिये दोनों में समबलत्व की निष्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम यथार्थ बल वाले हेतु से अनुमिति हो सकती है । अतः प्रथम, द्वितीय की अपेक्षा अधिक बलशाली है । प्राचीन नैयायिकों के लक्षण की उक्त आलोचना के उपरान्त, गङ्गेश का सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है—'साध्य के विरोधी साध्याभाव की उपस्थिति के उपस्थापन में समर्थ समान बल उपस्थिति से, जिस परामर्श का कार्य प्रतिरुद्ध हो जाता है, उस परामर्श के विषयीभूत लिङ्ग को सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है ।[१४१] जैसे, 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' और शब्दो नित्यः कार्यत्वात्, यहाँ पर 'शब्द नित्य है' इत्याकारक साध्यविषयक ज्ञान की प्रतिबन्धक शब्द अनित्य है' इस प्रकार की उपस्थिति होगी । इस उपस्थिति के कारणीभूत 'अनित्यत्वव्याप्य कार्यत्ववान् शब्द' इत्याकारक परामर्शात्मक उपस्थिति से 'नित्यत्वव्याप्य श्रावणत्ववान् शब्दः' इस परामर्श का 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' इत्याकारक अनुमित्यात्मक कार्य प्रतिरुद्ध हो जाने के नाते, श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है । केशवमिश्र ने, जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक कोई अन्य हेतु विद्यमान हो, उसे प्रकरणसम कहा है ।[१४२] विश्वनाथ ने, 'साध्याभाव से व्याप्त हेतु वाले पक्ष'[१४३] तथा अन्नमभट्ट ने, 'जिस हेतु के साध्याभाव का साधक कोई अन्य हेतु हो,' उसे सत्प्रतिपक्ष माना है ।[१४४]

साध्यसम

जो हेतु, स्वयं साध्य होने के कारण साध्य से विशिष्ट न हो अर्थात् साध्य के समान

हो, उसे साध्यसम कहा जाता है।[१४४] प्रत्येक अनुमान में हेतु को सर्वदा दो प्रकार से सिद्ध रहना चाहिये—प्रथम वह साध्य की व्याप्ति से युक्त हो और द्वितीय वह व्याप्ति-विशिष्त हेतु पक्ष का धर्म अर्थात् पक्ष में अनिवार्यतः रहता हो। इसी व्याप्ति और पक्ष-धर्मता से विशिष्ट हेतु द्वारा, अपने साध्य की सिद्धि की जा सकती है। साध्य को पूर्व में सिद्ध न रहने के कारण, साधन द्वारा सिद्ध किया जाता है। यदि साध्य की भांति हेतु को भी सिद्ध करने की अपेक्षा रहे, तो वह साधन नहीं कहला सकता। कहा भी गया है—'स्वयमसिद्धः कथं परान् साधयति ?'—'जो स्वयं असिद्ध है, वह दूसरे की सिद्धि किस प्रकार कर सकता है ?' उदाहरण द्वारा सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि 'छाया द्रव्य है, गतिशील होने से' इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु गतिमत्त्व साध्यसम है। आच्छादन करने वाले द्रव्य को आवरक, आच्छादन का नाम आवरण तथा आवरण के उत्तरोत्तर क्रम को आवरण संतान कहा जाता है। तदनुसार जब पुरुष चलता है, तो छत्र अथवा शरीर आदि आवरक द्रव्य की आवरण संतान द्वारा, ज्यों-ज्यों (तेज-प्रकाश) भाग आवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों पुरुष की छाया भी चलती हुई प्रतीत होती है। यह प्रतीति आवरक द्रव्य की उपाधि द्वारा उत्पन्न होने के कारण, भ्रांति रूप है, वास्तविक रूप नहीं,—क्योंकि आवरक वस्तु के अभाव में छाया की गतिशीलता दृष्ट नहीं होती। यदि छाया द्रव्य होती, तो 'चलति-छाया'—'छाया चलती है' इस प्रकार की गत्यात्मक प्रतीति भ्रान्ति रूप न होती, प्रत्युत यथार्थ रूप होती। इसलिये हेतु गतिमत्त्व साधनीय एवं साध्य से अविशिष्ट होने के कारण साध्यसम कहलाता है।[१४६] भाष्यकार की व्याख्या करते हुए वार्तिककार ने इनके तीन भेद प्रदर्शित किये हैं—(१) स्वरूपासिद्ध, (२) आश्रयासिद्ध एवं (३) अन्यथासिद्ध। भाष्यकार के उदाहरण में प्रयुक्त हेतु गतिमत्व को, स्वरूपासिद्ध बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि 'छाया गतिशील है या नहीं, यह स्वयं प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है, कारण जब तक स्वरूपतः यह सिद्ध नहीं हो जाता कि 'छाया चलती है या पुरुष' तब तक छाया का द्रव्य होना सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये स्वरूतपः हेतु गतिमत्त्व असिद्ध होने के कारण स्वरूपासिद्ध कहलाता है। परन्तु देशान्तर में उपलब्ध होने के कारण, छाया में गतिशीलता देखी जाती है और उसके समर्थन में निम्नलिखित अनुमान प्रयोग निष्पन्न भी होता है—

प्रतिज्ञा—छाया गतिशील है,

हेतु—देशान्तर में उपलब्ध होने से,

उदाहरण—जो वस्तु एक स्थान से, अपर स्थान में देखी जाती है वह गतिशील होती है, जैसे चैत्र।

उपनय—छाया की भी इसी प्रकार देशान्तर उपलब्धि होती है।

निगमन—इसलिये छाया गतिशील है।

भाष्य उदाहरण में जहाँ हेतु का आश्रय छाया ही जब असिद्ध हो, तो उसमें साध्य द्रव्यत्व की सिद्धि किस प्रकार की जा सकती है इसलिये हेतु गतिमत्त्व अपने आश्रय छाया के असिद्ध होने के कारण आश्रयासिद्ध कहलाता है, क्योंकि द्रव्यभाव, द्रव्य की सत्ता के बिना छाया में देशान्तर दर्शन की सामर्थ्य नहीं रखता। इस पर भी, देशान्तर प्राप्ति का आधार लेकर यदि कोई व्यक्ति छाया के गतिशील होने का आग्रह करता है, तो वह अन्यथासिद्ध होगा। कारण जब कोई पुरुष छाया को, एक स्थान से दूसरे स्थान में देखता है, तो भ्रांति वश छाया के गतिशील होने का भान होने लगता है। किन्तु छाया को छोड़कर

भी गतिशीलता देखी जाती है, इसलिये जहाँ हेतु के बिना भी किसी अन्य हेतु से वस्तु की सिद्धि हो जाती है, वह अन्यथा-सिद्ध कहलाता है ।[१४७] वाचस्पति मिश्र ने भी विभिन्न उदाहरणों द्वारा उद्योतकर का समर्थन किया है ।[१४८] उदयन ने प्रथम दो भेदों को रूढ़ रखते हुए तृतीय अन्यथासिद्ध के स्थान में व्याप्यत्वासिद्ध स्वीकार कर, स्वयं हेतु जहाँ असिद्ध हो, उसे स्वरूपासिद्ध, पक्ष असिद्ध होने पर, आश्रयासिद्ध तथा हेतु में व्याप्ति के असिद्ध रहने पर, व्याप्यत्वासिद्ध ये तीन ही भेद स्वीकार किये हैं ।[१४९] उदयन के इन तीन भेदों को प्रायः सभी उत्तरवर्ती नव्य नैयायिकों ने माना है । जयन्त भट्ट ने सूत्रकार के लक्षण का समर्थन करते हुए लिखा है कि जिस हेतु में पक्षधर्मत्व रूप हेतु लक्षण का अभाव रहता है अर्थात् जो हेतु साध्यधर्मी में विद्यमान नहीं रहता है, उसे असिद्ध कहा जाता है ।[१५०] इसी लक्षण में, सभी अवान्तर असिद्ध भेदों का संकलन हो जाने के कारण, उनका वर्णन निष्प्रयोजक है ।[१५१] अन्यथा-सिद्ध पर उन्होंने विस्तृत रूप से विचार किया है ।[१५२] इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने प्रथमतः यहाँ तक कहा है कि इस सुस्पष्ट-दृष्ट---अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभास का अपलाप नहीं किया जा सकता, अतः इसे पृथक् छठा हेत्वाभास मानना चाहिये, चाहे फिर विभागसूत्र[१५३] का उल्लंघन ही क्यों न हो । किन्तु विकल्प रूप से इस प्रकरण का समापन करते हुए आगे उन्होंने लिखा है कि अन्यथासिद्धत्व या अप्रयोजकत्व को समस्त हेत्वाभासों में वृत्ति रहने वाला हेत्वाभास-सामान्य-लक्षण माना जा सकता है, छठवाँ हेत्वाभास नहीं ।[१५४] अन्त में उन्होंने इसे असिद्ध में ही समाविष्ट किया है ।[१५५]

असिद्ध

भासर्वज्ञ के अनुसार, पक्ष में निश्चित रूप से विद्यमान न रहने वाला हेतु, असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है ।[१५६] इसके चौदह भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) **स्वरूपासिद्ध**---शब्द अनित्य है, चाक्षुष होने से ।

शब्द, श्रवणेन्द्रिय का विषय होता है, इसलिये वह चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता । अतः 'शब्द' रूप धर्मी में 'चाक्षुषत्व' हेतु स्वरूपतः असिद्ध है ।

(२) **व्यधिकरणासिद्ध**---शब्द अनित्य है, पट के कृतक होने से ।

जिस हेतु का अधिकरण, पक्ष से भिन्न होता है, वह व्यधिकरणासिद्ध कहा जाता है । प्रकृत हेतु 'पटस्य कृतकत्व' का अधिकरण पक्ष शब्द से भिन्न है, इसलिये इसे व्यधिकरणासिद्ध कहा जाता है ।

(३) **विशेष्यासिद्ध**---शब्द अनित्य है, सामान्यवान् होते हुए चाक्षुष होने से ।

यहाँ पर हेतु चाक्षुषत्व विशेष्य शब्द में न होने के कारण विशेष्यासिद्ध है ।

(४) **विशेषणासिद्ध**---शब्द अनित्य है, चाक्षुष होते हुए सामान्यवान् होने से ।

यहाँ पर शब्द में चाक्षुषत्व रूप विशेषण न होने से यह विशेषणासिद्ध है ।

(५) **भागासिद्ध**---शब्द अनित्य है, प्रयत्नानन्तरीयक (प्रयत्न आवश्यक न होने से) ।

हेतु को सम्पूर्ण पक्ष में रहना चाहिए । यदि वह पक्ष के एक देश में रहता है, तो उसे भागासिद्ध कहते हैं । सभी शब्द प्रयत्न के आवश्यक होने पर ही नहीं होते, किन्तु कुछ वायवीय आदि शब्द ऐसे भी हैं, जिन्हें हमारे प्रयत्नों की अपेक्षा नहीं रहती । यद्यपि वायवीय आदि शब्द में भी ईश्वर प्रयत्न की अपेक्षा रहती है, किन्तु यहाँ के 'प्रयत्नानन्त-

यीयकत्व' पद से प्रयत्नों का मन्द, तीव्र आदि भाव ही विवक्षित है, जो ईश्वर प्रयत्न में नहीं है, इसलिये यह हेतु भागासिद्ध है ।

(६) **आश्रयासिद्ध**––प्रधान (सांख्य-प्रकृति) है, विश्व परिणाम शील होने से ।

न्याय मत में प्रकृति नामक कोई पदार्थ ही स्वीकार नहीं किया गया है । अतः प्रधान रूप आश्रय के असिद्ध होने पर यह आश्रयासिद्ध होगा ।

(७) **आश्रयैकदेशासिद्ध**––प्रधान, पुरुष और ईश्वर सब नित्य हैं, अकृत होने से (कार्य न होने से) ।

इस अनुमान में, 'नित्यत्व' रूप साध्य के आश्रय-प्रधान-पुरुष-ईश्वर में से प्रधान के न्यायमत में असिद्ध होने के कारण यह आश्रयैकदेशासिद्ध होगा ।

(८) **व्यर्थविशेष्यासिद्ध**––शब्द अनित्य है, कार्य होते हुए सामान्यवान् होने से ।

यहाँ पर विशेष्य 'सामान्यवत्त्व' व्यर्थ है । इसलिये यह व्यर्थ विशेष्यासिद्ध है, क्योंकि शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि केवल कृतकत्व से भी हो सकती है । अतः 'सामान्यवान्' पद व्यर्थ है, जो कि विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

(९) **व्यर्थविशेषणासिद्ध**––शब्द अनित्य है, सामान्यवान् होते हुए कृतक होने से ।

पूर्व की भांति यहाँ पर 'सामान्यवान् होना' यह विशेषण निरर्थक है । इसलिये इसको विशेषणासिद्ध कहते हैं ।

(१०) **संदिग्धासिद्ध**––यह प्रदेश अग्निमान है, धूम होने से ।

यहाँ पर हेतु 'धूम है अथवा वाष्प', इस प्रकार का संदेह उपस्थित होने से जहाँ, 'धूम होने से' का निश्चय नहीं होता वहाँ यह हेतु संदिग्धासिद्ध होता है ।

(११) **संदिग्धविशेष्यासिद्ध**––कपिल आज भी राग आदि वासनाओं से युक्त हैं, क्योंकि पुरुष होते हुए आज तक उनको तत्त्वज्ञान नहीं हो पाया है ।

यहाँ पर अनुत्पन्न तत्त्वज्ञानत्व रूप विशेष्य के संदिग्ध होने से यह संदिग्धविशेष्यासिद्ध कहलाता है ।

(१२) **संदिग्ध विशेषणासिद्ध**––उक्त प्रतिज्ञा वाक्य में यह हेतु दिया जाय तो विशेषणासिद्ध होगा–'सर्वदा तत्त्वज्ञान से रहित होते हुए पुरुष होने से ।

यहाँ पर 'सर्वदा तत्त्वज्ञान रहितत्व' रूप विशेषण में संदेह होने से यह संदिग्धविशेषणासिद्ध होगा ।[१५७]

इन सब भेदों के उदाहरण सहित विवेचन के पश्चात् भासर्वज्ञ ने उभयवाद्यसिद्ध और अन्यतरवाद्यसिद्ध इन दो भेदों का केवल उल्लेख ही किया है,[१५८] उदाहरण-विन्यास नहीं । इन दोनों के उदाहरण, प्रशस्तपाद के प्रसिद्ध भेदों में स्पष्ट किये जा चुके हैं । अतः इनका पुनः विवरण देना निरर्थक है ।

उदयन प्रणीत भेदों का समर्थन करते हुए गङ्गेश ने आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि एवं व्याप्यत्वासिद्धि प्रत्येक के निश्चय को अनुमितिका प्रतिबन्धक होने से, दोष माना है ।[१५९] दीधितिकार ने असिद्धि सामान्य का लक्षण इस प्रकार किया है––

'साधारण-असाधारण-अनुपसंहारी इन तीनों से भिन्न, जो ज्ञान के विषयीभूत परामर्श का विरोधितावच्छेदक (प्रतिबन्धकतावच्छेदक) रूप हो, उसे असिद्धि दोष कहते हैं।' असिद्धि मात्र, परामर्श का विरोधी होने के नाते, परामर्श विरोधितावच्छेदक-रूपवता समस्त असिद्धियों में रहती है इस लक्षण की सव्यभिचार के भेदों---साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी आदि में अतिव्याप्ति न हो, इस कारण इसमें 'भिन्नपद दिया गया है। जो हेतु इस दोष से युक्त होता है, उसे असिद्ध कहा जाता है।[१६०]

आश्रयासिद्ध

मथुरानाथ के अनुसार, इसका लक्षण इस प्रकार है---'जिस हेतु का पक्ष, पक्षतावच्छेदक (अर्थात् पक्षवृत्ति धर्म) के अभाव वाला हो, उसे आश्रयासिद्धि कहते हैं।[१६१] प्रक्षमात्रवृत्ति धर्म का नाम पक्षतावच्छेदक है और ऐसे अभाव वाले पक्ष का नाम आश्रयासिद्धि है तथा आश्रयासिद्धि दोषवाले हेतु का नाम आश्रयासिद्ध है जैसे, 'माणिक्यमयः पर्वतो वह्निमान् धूमात्'---माणिक्यमय पर्वत वह्निमान् है, धूमवाला होने से। इस अनुमान में हेतु 'धूम' आश्रयासिद्ध है, क्योंकि उसके पक्ष में, माणिक्यमयत्व धर्म की अप्रसिद्धि होने के कारण, पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव है। उक्त धर्म शून्य पक्ष में वर्तमान रहना ही आश्रयासिद्धि दोष है और उक्त दोष विशिष्ट धूम हेतु आश्रयासिद्ध कहलाता है। 'माणिक्यमयत्वाभाववान् पर्वतः' यह आश्रयासिद्धि निश्चय 'माणिक्यमयः पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति के अन्तर्गत 'माणिक्यमयः पर्वतः' इस पक्ष ज्ञान का विरोधी है। पक्ष का सन्निवेश अनुमिति और परामर्श दोनों में होने से आश्रयासिद्धि निश्चय परामर्श और अनुमिति दोनों में प्रतिबन्धक माना जाता है। अर्थात् 'पर्वते माणिक्यमयत्वं नास्ति'---'पर्वत में माणिक्यमयत्व धर्म विद्यमान नहीं है। इस प्रकार माणिक्यमयत्व रूप पक्षतावच्छेदक धर्म के अभाव के निश्चय द्वारा 'वह्निव्याप्य धूमवान् माणिक्यमयः पर्वतः'---'वह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूमवान् माणिक्यमय पर्वत है' इस परामर्श का प्रतिरोध होता है। अभावपद से यहाँ अत्यन्ताभाव ही अभिप्रेत है।

इसके और भी अनेक सूक्ष्म भेद विवेचित करते हुए मथुरानाथ ने लिखा है कि न केवल पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव ही आश्रयासिद्धि है, बल्कि पक्ष में होने वाले, पक्षतावच्छेदक के अभाव के व्याप्य---पक्षतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव---पक्षतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव के व्याप्य को भी आश्रयासिद्धि कहा जाता है। इसी प्रकार, पक्षतावच्छेदक में होने वाले, पक्षतावच्छेदकतावच्छेदक के अभाव---पक्षतावच्छेदकतावच्छेदक के अभाव के व्याप्य---पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव---पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव के व्याप्य को भी आश्रयासिद्धि माना जाता है। पक्षतावच्छेदक के अभाव वाले पक्ष, पक्षतावच्छेदक के अभाव का व्याप्य होने वाले पक्ष, पक्षतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव वाले पक्ष एवं पक्षतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव का व्याप्य होने वाले पक्ष को भी आश्रयासिद्धि कहा जाता है। इसी प्रकार पक्षतावच्छेदकतावच्छेदक के अभाव वाले पक्षतावच्छेदक, पक्षतावच्छेदकतावच्छेदक के अभाव के व्याप्य होने वाले पक्षतावच्छेदक, पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव वाले पक्षतावच्छेदक एवं पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवत् के अन्योन्याभाव के व्याप्य होने वाले पक्षतावच्छेदक को भी आश्रयासिद्धि कहा जाता है। समान प्रकारक ज्ञान को प्रतिबन्धक ।मनने वाले कुछ नव्य नैयायिकों ने पक्षतावच्छेदक के अभाव वाले पक्ष,

पक्षतावच्छेदक के अभाव का व्याप्य होने वाले पक्ष, पक्षतावच्छेदकतावत् के अन्योन्याभाव वाले पक्ष पक्षतावच्छेदकतावत् के अन्योन्याभाव का व्याप्य होने वाले पक्ष आदि को आश्रयासिद्धि माना है, किन्तु पक्ष में पक्षतावच्छेदक के अभाव और उसके अभाव के व्याप्य आदि को नहीं; क्योंकि अंतिम दोषों का ज्ञान न तो अनुमिति का प्रतिबन्धक है और न उसके कारणीभूत परामर्श का ही।[१६२] इस प्रकार उन्होंने इसके सोलह अवान्तर भेद व्यक्त किये हैं।

स्वरूपासिद्ध

मथुरानाथ के अनुसार 'पक्ष में होने वाले हेतु के अभाव को अथवा साधन के अभाव वाले पक्ष को स्वरूपासिद्धि कहा जाता है।[१६३] और उक्त दोषवाले हेतु को स्वरूपासिद्ध। आशय यह कि जिस पक्ष में, हेतु स्वरूपतः विद्यमान नहीं रहता अथवा जो पक्ष इस प्रकार के हेतु के अभाववाला होता है, उसे स्वरूपासिद्धि कहते हैं: जैसे, 'सरोवर द्रव्य है', धूमवाला होने से।' इस अनुमान में ह्रद पक्ष द्रव्यत्व साध्य एवं धूमवत्त्व हेतु है। यहाँ पर धूम हेतु स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि ह्रदवृत्ति धूमवत्त्व धर्म का ह्रदरूप पक्ष में अभाव है, इसलिये पक्षवृत्यभावदोषयुक्त होने से 'हेतु धूमवत्त्व स्वरूपासिद्ध है। इस अनुमिति का कारणीभूत परामर्श होगा—'द्रव्यत्वव्याप्य धूमवान् ह्रदः'—'द्रव्यत्व की व्याप्ति से विशिष्ट धूमवाला सरोवर है। इस स्थल में होने वाला 'धूमाभाववान् ह्रद' इत्याकारक स्वरूपासिद्धि निश्चय द्रव्यत्वव्याप्य धूमवान् ह्रदः' इस परामर्श के अन्तः पाती' 'धूमवान् ह्रदः' इस अंश का प्रतिबन्धक है। परामर्श के इस अंश का प्रतिबन्ध करने के कारण, इसे परामर्श का प्रतिबन्धक माना गया है। इसी प्रकार 'पक्षेहेत्वभावः' यह स्वरूपासिद्धि निश्चय भी पक्ष में हेतुमत्ता ज्ञान का प्रतिबन्धन करता है। इन दो भेदों के अतिरिक्त, मथुरानाथ ने आश्रयासिद्धि के समान, इसके भी आठ अवान्तर सूक्ष्म भेद अभिव्यक्त किये हैं। जैसे, साधनतावच्छेदकावच्छिन्न साधन के अभाव वाले पक्ष, साधनवत् अन्योन्याभाव वाले पक्ष, साधनवत् अन्योन्याभाव का व्याप्य होने वाले पक्ष; पक्ष में होने वाले, साधनतावच्छेदककावच्छिन्न प्रतियोगिताक साधन के अभाव, तादृश साधन के अभाव के व्याप्य पक्ष में होने वाले साधनतावच्छेदकावच्छिन्न साधनवत् अन्योन्याभाव, तादृश अन्योन्याभाव के व्याप्य को स्वरूपासिद्धि कहा जाता है।[१६४] इस प्रकार उन्होंने इसके दस भेद व्यक्त किये हैं।

व्याप्यत्वासिद्ध

मथुरानाथ के अनुसार, आश्रयासिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि के भिन्न असिद्धि दोष को व्याप्यत्वासिद्धि कहते हैं[१६५] और तद्विशिष्ट हेतुव्याप्यत्वासिद्ध। इसके तीन भेद हैं—(१) साध्यविशेषणासिद्ध, (२) साधनविशेषणासिद्ध एवं (३) व्याप्तिविरहरूपा।[१६६]

(१) साध्यविशेषणासिद्ध

साध्य में, उसके विशेषणीभूत धर्म साध्यतावच्छेदक के अभाव अथवा साध्यतावच्छेदक के अभाव वाले साध्य को साध्यविशेषणासिद्धि कहते हैं। जो हेतु इस दोष से युक्त होता है वह साध्यविशेषणासिद्ध कहलाता है।[१६७] साध्य मात्र में वृत्ति रहने वाला धर्म साध्यतावच्छेदक कहा जाता है। जैसे, 'पर्वत काञ्चनमय वह्नि वाला है, धूम वाला होने से।' इस अनुमान में हेतु धूमवत्त्वसाध्यविशेषणाप्रसिद्ध है, क्योंकि साध्य वह्नि में काञ्चन-

मयत्व रूप साध्यतावच्छेदक धर्म नहीं पाया जाता है। इसलिये उक्त साध्य के लिये प्रयुक्त हेतु धूमवत्त्व, साध्यविशेषणाप्रसिद्ध है। 'काञ्चनमयो वह्निर्नास्ति'---'काञ्चनमय वह्नि कहीं भी नहीं है' अथवा 'काञ्चनमयत्वाभाव विशिष्ट वह्नि है।' इस प्रकार के साध्यविशेषणासिद्धि निश्चय से 'काञ्चनत्वविशिष्ट वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः'---'काञ्चनत्व धर्मवाली वह्नि की व्याप्ति का आश्रयभूत धूम वाला पर्वत है' इत्याकारक परामर्श का प्रतिरोध होता है। इस परामर्श के द्वारा 'पर्वतः काञ्चनमयः वह्निमान्' इस प्रकार की अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है। आश्रयासिद्धि की भांति मथुरानाथ ने इसके भी सौलह भेद व्यक्त किये हैं।[१६८]

(२) **साधनविशेषणासिद्ध**

साधन में साधनतावच्छेदक धर्म के अभाव अथवा साधनतावच्छेदक के अभाव वाले साधन को साधनविशेषणासिद्धि कहते हैं। साधनमात्र वृत्ति धर्म को साधनतावच्छेदक और इस धर्म से विशिष्ट हेतु को साधनविशेषणासिद्ध कहा जाता है।[१६९] जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है, काञ्चनमय धूम होने से।' यहाँ पर साधन 'काञ्चनमय धूमवत्त्व' साधनाप्रसिद्ध है, क्योंकि काञ्चनमय धूम की अप्रसिद्धि से धूम में काञ्चनमयत्व धर्म साधनतावच्छेदक नहीं हो सकता। 'काञ्चनमयत्वाभाववान् धूमः' इत्याकारक साधनाप्रसिद्धि निश्चय, 'काञ्चनमयः धूमः' इस हेतु ज्ञान का विरोधी होने और काञ्चनमय धूमात्मक हेतु से घटित होने के नाते व्याप्ति ज्ञान और परामर्श दोनों का विरोधी होता है।

मथुरानाथ ने इसका सामान्य लक्षण इस प्रकार दिया है, 'साध्याप्रसिद्धि, साधनाप्रसिद्धि, स्वरूपासिद्ध, एवं आश्रयासिद्धि इन चारों असिद्धियों में भिन्न असिद्धि को व्याप्तिविरह-असिद्धि कहा जाता है।[१७०] निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सामान्यतः व्याप्ति की असिद्धि होने पर व्याप्यत्वासिद्धि दोष होता है।'[१७१] व्याप्यत्वासिद्धि दोषवाले हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है। व्याप्ति का ही अपर नाम व्याप्यत्व है अतः उसकी असिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि होगी। जैसे, घट क्षणिक है, भावरूप होने से। इस अनुमान में हेतु 'सत्त्व' व्याप्यत्वासिद्ध है, क्योंकि हेतु सत्त्व का साध्य क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति में कोई प्रमाण नहीं है। 'व्यभिचार ज्ञान का अभाव' तथा 'सहचार ज्ञान' ये दोनों व्याप्ति के ग्राहक साधन है। प्रकृत में 'जो सत् होता है वह क्षणिक होता है, इस प्रकार से हेतु सत्त्व का साध्य क्षणिकत्व के साथ सहचार नहीं पाया जाता, क्योंकि पट आदि पदार्थों में सत्त्व होने पर भी क्षणिकत्व नहीं है, कारण पट आदि पदार्थ दो क्षणों से अधिक क्षणों तक विद्यमान रहते हैं। अतः व्यभिचार ज्ञान भी उक्त स्थल में स्पष्ट है। इस प्रकार पक्ष घट आदि और सपक्ष पट आदि में साध्य क्षणिकत्व के साथ हेतु सत्त्व की नियत व्याप्ति न होने से, यह व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है। इसी को साध्यासहचरित [जिस हेतु का अपने साध्य के साथ सहचार नहीं पाया जाता अर्थात् जिसकी (हेतु की) अपने साध्य के साथ नियत व्याप्ति होने में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता] भी कहते हैं।

गङ्गेश ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'व्याप्तिविरहश्च व्यर्थविशेषणादौ' अर्थात् व्याप्ति में अनुपयोगी अर्थात् व्यर्थ, विशेषणादि से युक्त हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।[१७२] जैसे 'पर्वतो वह्निमान् पीत धूमात्' इस अनुमान में पीत धूमरूप हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है, क्योंकि, धूम का पीत रूप विशेषण निरर्थक है। यहाँ यह बात

ध्यान में रखना चाहिये कि दोष जहाँ कहीं भी रह सकता है, किन्तु दुष्टता सर्वदा हेतु में रहती है ।

सोपाधिक हेतु

मथुरानाथ ने इसके भी दो भेद सूचित किये हैं । साध्य की अव्यभिचरित सम्बन्धित्वरूप अन्वय व्याप्ति के अभाव वाले साधन को व्याप्यत्वासिद्धि माना गया है । इसी प्रकार पूर्व की तरह इसके आठ भेद किये गये हैं——साध्याव्यभिचरित सम्बन्धित्व रूप (१) अन्वयव्याप्त्यभाववत् साधन, (२) तादृशव्याप्त्यभावव्याप्यवत् साधन, (३) तादृशव्याप्तिमदन्योन्याभाववत् साधन, (४) तादृशव्याप्तिमदन्योन्याभाव-व्याप्यवत् साधन, (५) तादृशव्याप्तिमत्-साधनाभाववत्पक्ष, (६) तादृशव्याप्तिमत्-साधनाभावव्याप्यवत् पक्ष, (७) तादृशव्याप्तिमत्-साधनवदन्योन्याभाववत् पक्ष, (८) तादृशव्याप्तिमत्साधनवदन्योन्याभावव्याप्यवत् पक्ष । इसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति घटित व्याप्तिविरहरूपा असिद्धि भी अनेक प्रकार की हो सकती है——साध्या-भावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेक व्याप्तिमत्साधनाभाववत् पक्षादि, भेद भी व्याप्यत्वासिद्धि के ही अन्तर्गत है । इसी प्रकार पूर्वपक्ष व्याप्ति से घटित साध्याभाववद्-वृत्ति साधनाभाववत् पक्ष आदि एवं सिद्धान्त व्याप्ति से घटित साध्यसामानाधिकरण साधनाभाववत्पक्ष आदि भेद से व्याप्यत्वासिद्धि के अनेक भेद किये जा सकते हैं ।[१७३]

विश्वनाथ ने, गङ्गेश, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ आदि समर्थित लक्षणों को ही मान्य किया है, किन्तु उनके द्वारा प्रणीत अवान्तर सूक्ष्म भेदों का ज्ञापन नहीं जैसे, उन्होंने आश्रयासिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि तो एक ही प्रकार की मानी है, किन्तु व्याप्यत्वा-सिद्धि के तीन भेद मानकर भी मथुरानाथ की तरह उनके अवान्तर भेद नहीं माने हैं ।[१७४] इसी प्रकार केशव मिश्र ने भी हेतुत्व रूप से असिद्ध हेतु को असिद्ध हेत्वाभास कहते हुए उसके तीन भेद किये हैं——(१) आश्रयासिद्ध, (२) स्वरूपासिद्ध एवं (३) व्याप्यत्वा-सिद्ध । उनके आश्रयासिद्ध-स्वरूपासिद्ध विवेचन में कोई नवीन बात परिलक्षित नहीं होती, किन्तु व्याप्यत्वासिद्धि के साध्याप्रसिद्धि तथा साधनाप्रसिद्धि ये दो भेद नहीं मानकर, उन्होंने उक्त तृतीय भेद का समर्थन करते हुए व्याप्ति ग्राहक प्रमाणाभाव तथा उपाधि सद्भाव होने से दो प्रकार की व्याप्यत्वासिद्धि ही मानी है । इनमें से प्रथम का विवेचन उक्त निरूपण के अनुसार ही है द्वितीय का विवरण इस प्रकार है——

'व्याप्यत्व की असिद्धि होती है जिससे 'इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'व्याप्यत्वा-सिद्धि' पद उपाधि परक माना गया है । इसीलिये सौपाधिक हेतु को भी व्याप्यत्वासिद्ध कहा गया है । जो साध्य के अभाव में नहीं, किन्तु साधन के अभाव में सर्वदा पायी जाती है, उसे उपाधि कहते हैं । यह उपाधि, हेतु में साध्य के व्यभिचार की निश्चायिका होने के नाते, अनुमान की दूषिका होती है अर्थात् जिस हेतु में उपाधि का ग्रहण लग जाता है, वह दुष्ट हो जाता है जैसे, पर्वत धूमवाला है, वह्नि होने से । यहाँ पर हेतु वह्नि सोपाधिक है, क्योंकि उसमें आर्द्रेन्धनसंयोग रूप उपाधि विद्यमान है । उपाधि के होने पर, 'जहाँ-जहाँ वह्नि है वहाँ-वहाँ धूम भी होगा । इस प्रकार की व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि अयोगोलक में उसका व्यभिचार देखा जाता है । अयोगोलक में साध्य धूम नहीं रहता, किन्तु वह्नि अवश्य रहती है । तात्पर्य यह है कि वह्नि, धूम का निरपेक्ष कारण नहीं है, क्योंकि वह आर्द्रेन्धन संयोग की अपेक्षा रखने से सापेक्ष है । धूम, इस उपाधि

युक्त संयोग के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। केशवमिश्र ने इस प्रसङ्ग में 'यज्ञ में की जाने वाली हिंसा अधर्मजनक है, हिंसा होने से' इस अनुमान का प्रयोग किया है।[१७५] उक्त विवरण तर्क-संग्रहकार के अनुसार दिया गया है, जिन्होंने केवल सोपाधिक हेतु को ही व्याप्यत्वासिद्ध माना है। इन्होंने भी असिद्ध के केवल तीन भेद—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध दिये है।[१७६] तर्कामृतकार ने भी उक्त तीन असिद्ध भेद प्रदर्शित किये हैं। केशवमिश्र तथा अन्नमभट्ट की अपेक्षा इनका विवेचन अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि प्रथम दोनों ने केवल उदाहरणों के माध्यम से उक्त भेदों को समझाया है, जबकि अंतिम ने उनके लक्षण-उदाहरण दोनों दिये हैं। जैसे, जहाँ पक्ष कोई वास्तविक वस्तु न हो, अथवा जहाँ सिद्ध साधन हो, उसे आश्रयासिद्ध कहा जाता है। यथा, 'खरगोश के सींग नित्य हैं, अजन्य होने से' तथा 'शरीर, हस्त आदि अङ्गों से युक्त है, हस्त आदि युक्त प्रतीयमान होने से।' प्रथम में पक्ष शशविषाण अप्रसिद्ध है, द्वितीय में 'हस्तादिमत्तया' जब हेतु के घटक के रूप में निश्चित है, तब उसे 'हस्तादिमत्' सिद्ध करना सिद्ध साधन होगा। पक्ष में न रहने वाला हेतु स्वरूपासिद्ध कहलाता है, जैसे, पर्वत वह्निमान है, पाकशाला होने से। यहाँ हेतु पाकशालात्व पक्ष पर्वत में नहीं रहता। यह विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, भागासिद्ध आदि भेद के अनेक प्रकार का हो सकता है। इनका विवेचन 'न्यायसार' के असिद्ध भेदों तथा तृतीय व्याप्यत्वासिद्ध की व्याख्या तर्कभाषाकार के द्वितीय भेद के समान है।[१७७]

कालातीत

महर्षि गौतम के अनुसार, जो हेतु कालात्यय होने पर, अपदिष्ट हो, उसे कालातीत कहा जाता है।[१७८] समय का व्यतीत हो जाना ही काल का अत्यय है। हेतु और साध्य रूप धर्म एकदेश कहलाते हैं, और जिस अधिकरण में ये दोनों धर्म विद्यमान रहते हैं, वह अधिकरण रूप पक्ष एकदेशी होता है। इस दृष्टि को सामने रखते हुए भाष्यकार की लक्षण—व्याख्या समझी जा सकती है' साधन काल के व्यतीत हो जाने पर जो एकदेश अर्थात् हेतु प्रयुक्त किया जाता है, उसे कालात्ययापदिष्ट या कालातीत कहा जाता है।'[१७९] किन्तु कौनसा ऐसा काल है, जिसके व्यतीत हो जाने पर हेतु का उद्भावन करने से उक्त दोष आरोपित हो जाता है? इसके समाधान हेतु सूत्रकार, भाष्यकार अथवा वार्तिककार किसी ने भी कोई विवेचना प्रस्तुत नहीं की, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने, इस समस्या पर विचार करते हुए, भाष्यकार के उद्धरण द्वारा, काल-निर्धारण करने का प्रयास अवश्य किया है। उन्होंने भाष्यकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि पक्ष में सर्वथा निश्चित और सर्वथा अज्ञात साध्य के लिये न्याय अर्थात् अनुमान की आवृत्ति नहीं होती, अपितु जो साध्य पक्ष में संदिग्ध अवस्था में रहता है, उसी को पक्ष में निश्चित रूप से ज्ञात करने के लिए, न्याय वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। हेतु वाक्य भी, न्याय वाक्य के अन्तर्गत होने के कारण, साध्य निश्चय के लिये प्रयुक्त किया जाता है। अतः जिस समय, जिस पक्ष में, जिस साध्य का संदेह विद्यमान रहता है, वही समय उस पक्ष में, हेतु प्रयोग के लिये उपयुक्त काल है। यदि इस बात के बीत जाने के पश्चात् हेतु का उद्भावन किया जाय, तो वह कालातीत हेत्वाभास हो जाता है।[१८०] न्याय मत में, शब्द को अनित्य माना गया है। इसलिये उसकी उत्पत्ति होती है, किन्तु मीमांसा मत में, शब्द को नित्य माना जाने के कारण, उसकी अभिव्यक्ति मानी गई है। इसी दृष्टिकोण को लेकर

वात्स्यायन ने कालातीत के उदाहरण का उपन्यास किया है। जैसे मीमांसक द्वारा प्रयुक्त इस अनुमान 'शब्द नित्य है, संयोग के द्वारा अभिव्यक्त होने से' में 'संयोग व्यंङ्गत्व' हेतु कालातीत है। अपने मत की पुष्टि करते हुए मीमांसकों ने, रूप के उदाहरण को माध्यम बनाकर, शब्द की नित्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है, जैसे, दीपक और घट का संयोग होने पर घटवृत्ति रूप की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। इसलिये घटगतरूप दीप-घट-संयोग से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार आकाश-वृत्ति शब्द भी भेरी-दण्ड-संयोग अथवा कुठार-काष्ठ-संयोग से अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं। जिस तरह रूप का अस्तित्व दीप-घट-संयोग होने के पूर्व भी था, बाद में भी रहता है, और भविष्य में भी रहेगा, उसी प्रकार शब्द की सत्ता भेरी-दण्ड-संयोग अथवा कुठार-काष्ठ-संयोग होने के समय, पश्चात् और पूर्व अर्थात् वर्तमान भविष्य तथा भूत तीनों कालों में रहती है। इसलिये संयोग व्यङ्गत्व हेतु द्वारा शब्द में नित्यत्व का निश्चय निर्बाध रूप से हो सकता है। किन्तु काल का व्यतिक्रमण होने से, नैयायिकों ने इस हेतु को सद्हेतु नहीं माना है, अपितु कालातीत हेत्वाभास ही स्वीकार किया है। कारण, दीप-घट संयोग होने पर ही घट निष्ठ रूप की अभिव्यक्ति होती है, न होने पर नहीं। इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक शब्द में नहीं बन पाता, क्योंकि भेरी-दण्ड आघात जन्य संयोग होने पर, शब्द की अभिव्यक्ति तो होती है, किन्तु इस संयोग के न रहने पर भी, दूरस्थ मनुष्य को कुछ काल पर्यन्त शब्द की प्रतीति होती रहती न अर्थात् संयोग का काल व्यतीत हो जाने पर भी, शब्द सुनाई पड़ता रहता है। इसलिये शब्द की अभिव्यक्ति, संयोग-काल का अतिक्रमण करने के कारण, रूप की भांति, संयोगव्यङ्ग नहीं, प्रत्युत् संयोग जन्य है। इस प्रकार भेरी-दण्ड आदि के विभाग काल में होने वाला, शब्द, संयोग-काल की अपेक्षा से रहित होने के कारण, संयोगव्यङ्गत्व हेतु कालातीत दोष से ग्रसित है।[१८१] जयन्त भट्ट ने भी इसी बात की पुष्टि की है।[१८२] वाचस्पति मिश्र ने इसके तीन भेद ज्ञापित किये हैं—(१) प्रत्यक्षविरोध, (२) अनुमान विरोध तथा (३) आगमविरोध। जैसे 'अग्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने से।' यहाँ धर्मी (पक्ष) अग्नि में, साध्य अनुष्णत्व का प्रत्यक्ष द्वारा; द्वितीय—'शब्द अश्रावण है, गुण होने से' यहाँ पक्ष शब्द में साध्य अश्रावणत्व का अनुमान एवं तृतीय—'नर-शिर-कपाल पवित्र वस्तु है, प्राणी का अङ्ग होने से', यहाँ पक्ष नर-शिर-कपाल में साध्य शुचित्व का आगम द्वारा, बाध हो रहा है। इस प्रकार उन्होंने कालातीत दोष को बाध के रूप में व्यक्त किया है।[१८३] तात्पर्य यह कि जिस हेतु का विषय यानी साध्य, किसी प्रबलतर प्रमाण से प्रतिबन्धित हो जाता है, वह बाधित हेत्वाभास कहलाता है। हेतु के पाँचवें लक्षण अबाधितविषयत्व का अभाव होने पर ही यह हेत्वाभास होता है।[१८४] भाष्यकार तथा वार्तिककार के सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि भाष्य घटक 'यस्यार्थैकदेश' पद से धर्मविशिष्ट धर्मी तथा उसके एकदेश हेतु का ग्रहण किया जा सकता है। तदनुसार, जिस धर्मी में, साध्य का अभाव किसी बलवत् प्रमाण से निश्चित है, अर्थात् साध्यधर्म से विपरीत धर्म, किसी प्रबलतर प्रमाण से निर्णीत अवस्था में ज्ञात होता है, उस साध्य की अनुमिति के लिये यदि कोई व्यक्ति हेतु का प्रयोग करता है, तो उसे कालातीत कहा जायगा क्योंकि, साध्य संदेह का विशिष्ट काल, पक्ष में साध्याभाव निश्चय के पूर्व ही था, जो अब व्यतीत हो चुका है।[१८५] वार्तिककृत न्यायभाष्य का उद्धरण—'प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः इति'[१८६] —देते हुए उन्होंने कालातीत को बाधित सिद्ध करने का प्रयास किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार को भी, स्वमत के रूप में, बाधित ही इष्ट था, जो उक्त उद्धरण से पुष्ट होता है तथा भाष्यकार ने जो उक्त उदाहरण प्रदर्शित किया है, वह परमत-परिचायक है। उक्त उदाहरण में भी एकदेश पद से हेतु के दो भाग—संयोग कालांश तथा विभागकालांश अभिप्रेत हैं। प्रथम 'संयोगकालांश' भाग में कोई दोष नहीं है, किन्तु 'विभागकालांश भाग अतीत काल होने से दूषित है। इस दृष्टिकोण से इसे बाधित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ हेतु के एक अंश का काल ही अतिक्रमित होता है, बलवत् किसी प्रमाण से इसके बाध होने का प्रसङ्ग नहीं। संभवतः मीमांसक प्रभृति प्रतिवादियों के निरास हेतु ही भाष्यकार ने उक्त उदाहरण अपनाया है। पर स्वमत में उन्हें, जिस हेतु का, बलवत् प्रत्यक्ष अथवा आगम प्रमाण द्वारा विरोध हो, वही बाधित के रूप में इष्ट जान पड़ता है।[१८७] वाचस्पति मिश्र का समर्थन करते हुए जयन्त भट्ट ने भी लिखा है कि हेतु 'संयोगव्यङ्गत्व' साध्य के समान होने से असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि पक्ष शब्द में साध्य नित्यत्व की भांति हेतु संयोगव्यङ्गत्व भी असिद्ध होने के कारण, साध्य कोटि में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये अतीतकाल का उक्त रीति से समीक्षण करना समीचीन नहीं जान पड़ता। प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण से प्रतिबन्धित न होकर, पक्षवृत्ति होना ही, हेतु का प्रयोग काल कहलाता है। अतः उक्त काल को त्यागकर, प्रत्यक्ष तथा आगम से विरुद्ध विषय की सिद्धि के लिये, प्रयुक्त किया गया हेतु ही कालात्ययापदिष्ट या बाधित हेत्वाभास कहा जाता है।[१८८] कालान्तर में यह नवीन बाधित नाम व लक्षण रूढ़ हो गया, जिसे उत्तरवर्ती सभी नैयायिकों ने किसी न किसी रूप में मान्य किया है।

कुछ विद्वानों ने इस सूत्र का यह भी अर्थ लगाया है कि प्रतिज्ञा आदि अवयवों का क्रम व्यतिक्रम कर—प्रतिज्ञा, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि अवयवों का प्रथमतः प्रयोग करने के उपरान्त हेतु का प्रयोग किया जाय, तो वह अवयव-विपर्यास होने के नाते कालातीत कहा जायगा, क्योंकि प्रतिज्ञा के अनन्तर ही हेतु का प्रयोग काल रहता है। उस काल के बीत जाने पर, यदि उस विशिष्ट काल के बिना विपरीत क्रम से हेतु कथित किया जाय तो वह कालातीत कहलायेगा[१८९] और अवयव विपर्यास को न्यायसूत्रकार ने अप्राप्तकाल निग्रह स्थान माना है,[१९०] अतः उससे अभिन्न होने के कारण इसका पृथक् विन्यास करना पुनरुक्तिदोष होगा। भाष्यकार ने इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि अवयव क्रम-विपर्यास होने पर, कालातीत हेत्वाभास नहीं, प्रत्युत अप्राप्तकाल निग्रहस्थान होता है; कारण जो वास्तविक रूप से हेतु होता है, वह विपरीत कथन होने पर भी अपने हेतुत्व स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता। क्रम व्यतिक्रम कर हेतु कथन करना, हेतु दोष नहीं, अपितु वक्ता का ही दोष होता है और इसी वक्ता–दोष का उद्भावन करने के लिये सूत्रकार ने अप्राप्तकाल नामक निग्रह स्थान की रचना की है। उन्होंने इसी आशय को समझाते हुए लिखा है कि जिस पद का जिस पद के साथ, योग्यता रूप सम्बन्ध पाया जाता है, उसके दूर रहने पर ही उसका, उसी पद के साथ, अन्वय होता है और जो पद वास्तविक रूप से परस्पर सम्बन्ध योग्य नहीं होता, उसका उत्तरोत्तर उच्चारण करना शाब्दबोध का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस हेतु का अपने साध्य के साथ नित्य साहचर्य रूप प्रतिबन्ध अक्षत है, वह हेतु अपने साध्य की सिद्धि करने में, पूर्ण रूपेण समर्थ रहता है। अतः नियत क्रम को त्यागकर भी उसमें अनुमापकता

बनी रहती है ।[१९१] इसलिये बाध आदि दोषों की तरह क्रमविपर्याय को हेत्वाभास नहीं माना जा सकता । उद्योतकर,[१९२] वाचस्पति मिश्र[१९३] तथा जयन्तभट्ट[१९४] ने भी इसी प्रकार उक्त आरोप का निराकरण किया है ।

भासर्वज्ञ के अनुसार, प्रमाण द्वारा बाधित पक्ष में वर्तमान रहने वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहलाता है ।[१९५] इसके छः भेद हैं—

(१) **प्रत्यक्षविरुद्ध**—अग्नि अनुष्ण है, कार्य होने से ।

यहाँ अग्नि का अनुष्ण होना प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है ।

(२) **अनुमानविरुद्ध**—परमाणु अनित्य है, मूर्त होने से ।

यहाँ पर परमाणु का 'अनित्य होना' अनुमान द्वारा बाधित है ।

(३) **आगमविरुद्ध**—ब्राह्मण को सुरापान करना चाहिये, द्रव पदार्थ होने से, दूध की तरह ।

यहाँ पर ब्राह्मणों के लिये सुरापान शास्त्र वचन विरुद्ध है श्रुतिवचन यह है—

'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवेका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ।।
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत ।।'[१९६]
'गौड़ी पैष्टी चमाध्वी च विज्ञेया त्रिविधासुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पेया ब्रह्म वादिभि :'[१९७]

अर्थात् गुड़ से बनी हुई गौड़ी, गेहूं से बनी हुई पैष्टी तथा महुए से बनी हुई माध्वी, इस प्रकार गौड़ी, पेष्टी एवं माध्वी तीन प्रकार की सुरा होती है । इसी प्रकार की सभी सुराएं महापाप का कारण होने से अनर्थरूप है । इसलिये मनुष्य मात्र को सुरापान नहीं करना चाहिए । क्योंकि, सुरा अन्न का मैल है और मल को पाप कहते हैं इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों को सुरा पान नहीं करना चाहिये । इनमें से द्विजोत्तम होने से ब्राह्मणों को विशेष रूप से सुरापान नहीं करना चाहिये ।

इसलिये उक्त अनुमान में, इस श्रुति वचन का आगम द्वारा बाध होता है ।

(४) **प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध**—सकल तेज अनुष्ण हैं, रूपवान् होने से ।

यहाँ पर सकल तेजों के अन्तर्गत अग्नि आदि भी समाविष्ट है, उसमें अनुष्णता का प्रत्यक्ष द्वारा विरोध होता है तथा चन्द्र आदि तेजैकदेश में अनुष्णता का प्रत्यक्ष द्वारा विरोध नहीं होता, इस कारण यह प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध है ।

(५) **अनुमानैकदेशविरुद्ध**—नित्य आश्रय में रहने वाले द्रवत्व-रूप-रस-गन्ध एवं स्पर्श नित्य है, प्रदेश में न रहने वाले समान जाति का आरम्भक होते हुए परमाणुवृत्ति होने से, परमाणु में रहने वाले एकत्व के समान ।

उक्त अनुमान में अनुमानैकदेशविरुद्धता इसलिये है कि नित्य आश्रय में रहने वाले सभी पदार्थ नित्य नहीं होते । जैसे—तेज के परमाणुओं में रहने वाला द्रवत्व नित्य नहीं होता । जिस प्रकार स्वर्ण पिघल कर पुनः पिण्डाकार हो जाता है, तब उसके परमाणु

में रहने वाला द्रवत्व भी नष्ट हो जाता है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि गुण नित्य आश्रय में रहने वाले नित्य हैं। अतः यह अनुमानैकदेशविरुद्ध है।

(६) **आगमैकदेशविरुद्ध**—सभी देवताओं और ऋषियों का शरीर पार्थिव है, शरीर होने से, हम लोगों के शरीर के समान।

इस अनुमान में आगमैकदेशविरुद्धता इसलिये है कि कुछ ऋषियों का शरीर यद्यपि पार्थिव है, किन्तु अनेक देवताओं और ऋषियों का शरीर जलीय और तैजस भी है इसलिये यहाँ आगमैकदेशविरुद्धता है, क्योंकि इस अनुमान में सभी देवताओं और ऋषियों के शरीर को पार्थिव बतलाया गया है।[१९८]

गङ्गेश ने पक्ष में साध्याभाव के निश्चय को बाध तथा इस दोष से विशिष्ट हेतु को बाधित कहा है।[१९९] यह दस प्रकार का है—

(अ) धर्मिग्राहकमानबाधित

(१) घट व्यापक (विभु) है, सत्ता वाला (जातिवाला) होने से। यह अनुमान, घटात्मक धर्मी के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर घट में विभुत्व की सत्ता नहीं देखी जाती, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से घटात्मक धर्मी रूप पक्ष में विभुत्व का बाध होता है।

(२) परमाणु सावयव होते हैं, मूर्त होने से, घट की तरह। यह अनुमान परमाणु रूप पक्षात्मक धर्मी के ग्राहक अनुमान प्रमाण से बाधित है, क्योंकि परमाणु अनुमान द्वारा सावयव सिद्ध नहीं होते। अतः पक्ष परमाणु में हेतु 'सावयवत्व' अनुमान द्वारा बाधित है।

(३) सुमेरू पर्वत पाषाणमय है, पर्वत होने से, विन्ध्याचल आदि पर्वतों की तरह। इस अनुमान में, सुमेरू रूप पक्षात्मक धर्मी के ग्राहक आगम प्रमाण द्वारा साध्य पाषाणमयत्व बाधित है, क्योंकि सुमेरू रूप धर्मी का ग्राहक आगम प्रमाण उसे स्वर्णमय घोषित करता है।

उक्त तीनों उदाहरणों में, अनुमान, धर्मी ग्राहक अन्य प्रबल प्रमाणों द्वारा बाधित होता है।

(आ) साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित

(४) वह्नि अनुष्ण है, कृतक होने से, जल की तरह।

यह अनुमान, अनुष्णत्व के प्रतियोगी उष्णत्व के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। इसीलिये यह साध्य-प्रतियोगि-ग्राहकमान-बाधित कहलाता है, क्योंकि पक्ष वह्नि में साध्य अनुष्णत्व के प्रतियोगी उष्णत्व का स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा बाध होता है, कारण वह्नि स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा, उष्ण ही अनुभवित होती है।

(५) शब्द अश्रावण है, गुण होने से, रूप आदि गुणों की तरह।

यह अनुमान साध्य अश्रावणत्व के प्रतियोगी श्रावणत्व, के ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाले श्रावण प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा शब्द पक्ष में श्रावणत्व का भान होता है।

(६) गवयत्व, गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त (शक्यतावच्छेदक) नहीं है, जाति होने से।

यह अनुमान साध्य गवयपदाप्रवृत्तिनिमित्तत्व' के प्रतियोगी गवयपदप्रवृत्ति-निमित्तत्व के ग्राहक उपमान प्रमाण द्वारा बाधित हो रहा है, क्योंकि पक्ष गवय में उपमान प्रमाण द्वारा साध्य गवयपद प्रवृत्तिनिमित्तत्व ही प्रतिभासित होता है।

उक्त तीनों उदाहरणों में अनुमान साध्य के प्रतियोगी के ग्राहक अन्य प्रबल प्रमाण से बाधित हो रहा है।

(इ) साध्यग्राहकमानबाधित

(७) मनुष्य के सिर का कपाल (खोपड़ी) पवित्र है, प्राणी का अङ्ग होने से, शङ्ख के समान।

यह अनुमान, दृष्टान्त शङ्ख में साध्य शुचित्व के ग्राहक आगम स्वरूप, 'मल, मूत्र, पुरीश और अस्थि' यह मनुष्य शरीर से बाहर हो जाने पर अपवित्र माने गये हैं, मनुष्य को इनके स्पर्श हो जाने पर तेलाभ्यङ्ग करके वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये' इस वाक्य से बाधित है, क्योंकि उक्त आगम प्रमाण द्वारा, मानवीय अस्थियों को अपवित्र बतलाया गया है, इसलिये यहाँ साध्य शुचित्व का बाध होता है।

(ई) हेतुग्राहकप्रमाणबाधित

(८) जल और वायु उष्ण होते हैं, पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले स्पर्श से विरुद्ध स्पर्श वाले होने से।

यह अनुमान, हेतु के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, क्योंकि इस अनुमान में हेतु के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पक्ष जल और वायु में, उष्णत्व साध्य का बाध होता है।

(९) मन व्यापक है, ज्ञान के असमवायी कारण आत्मा और मन के संयोग का आधार (आश्रय) होने से।

यह अनुमान, पक्ष मन में, ज्ञान के असमवायीकारण आत्ममनः संयोग के आधार होने से रूप हेतु के ग्राहक अनुमान प्रमाण द्वारा बाधित है, क्योंकि हेतु ग्राहक प्रमाण अनु-मान के द्वारा, पक्ष मन में, साध्य विभुत्व बाधित है।

(१०) राजसूय यज्ञ ब्राह्मण का कर्तव्य धर्म है, स्वर्ग का साधन होने से, अग्निष्टोम याग की तरह।

यह अनुमान, राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय की कर्तव्यता के बोधक हेतुग्राहक आगम प्रमाण से बाधित है, क्योंकि विधि वाक्य—'राजा राजसूयेन यजेत'—'राजसूय याग द्वारा राजा यजन करे'—इस विधि वाक्य से राजसूय यज्ञ राजा का ही कर्तव्य जान पड़ता है, ब्राह्मण का नहीं। इसलिये पक्ष राजसूय यज्ञ में स्वर्गसाधनता को विषय करने वाले हेतु का उक्त आगम प्रमाण द्वारा बाध होता है।[२००]

उक्त तीनों उदाहरणों में अनुमान, हेतु के ग्राहक अन्य प्रबल प्रमाणों से बाधित हो रहा है।

इस प्रकार उक्त भेदों को मुख्यतः चार वर्गों में समाविष्ट किया जा सकता है—(१) धर्मीग्राहकमानबाधित, (२) साध्यप्रतियोगिमानबाधित, (३) साध्यग्राहकमान-बाधित, तथा (४) हेतुग्राहकमानबाधित। इनमें से प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ तीन-तीन प्रकार के हैं और तृतीय एक प्रकार का।

दीधितिकार ने बाध का लक्षण इस प्रकार दिया है—'प्रकृत पक्ष तथा प्रकृत साध्य के वैशिष्ट्यावगाही (सम्बन्ध का अवगाहन करने वाले) ज्ञान के विरोधी का अनुन्नायक (जनक या कारण न होता हुआ) एवं प्रकृतपक्ष तथा प्रकृतसाध्य का विरोधी होता हुआ, जो पक्षतावच्छेदकविशिष्ट पक्षग्रह और साध्यतावच्छेदकविशिष्ट साध्यग्रह का विरोधी न हो, उसे बाध कहा जाता है।[२०१] जैसे, 'ह्रदोवह्निमान्' यहाँ 'वह्न्यभाववद्ह्रद' इत्याकारक बाध-निश्चय ह्रदात्मक पक्ष में, साध्य वह्नि के सम्बन्ध के अवगाही 'ह्रदोवह्निमान्' इत्याकारक ग्रह का विरोधी 'ह्रदोवह्न्यभाववान्' का उन्नायक न होता हुआ ह्रद में वह्नि रूप साध्य के ग्रह का विरोधी है और पक्षतावच्छेदक विशिष्ट पक्ष तथा साध्यतावच्छेदक विशिष्ट साध्यविषयक ग्रह का विरोधी नहीं है।

पक्ष में, जिस हेतु के साध्य का अभाव, निश्चित रूप से किसी अन्य प्रबलतर प्रमाण द्वारा निश्चित रूप से ज्ञात हो गया है, केशवमिश्र ने उसे बाधितविषय अथवा कालात्ययापदिष्ट कहा है।[२०२] तर्कसंग्रहकार ने भी इसी लक्षण का अनुमान किया है।[२०३] 'न्यायसूत्रवृत्ति' में, विश्वनाथ ने सूत्र की व्याख्या करते हुए, उस हेतु को कालात्ययापदिष्ट कहा है जो साधन काल के अत्यय अर्थात् अभाव में अपदिष्ट होता है।[२०४] इसकी व्याख्या करते हुए, उन्होंने पक्ष में होने वाले साध्याभाव-निश्चय को बाध कहा है।[२०५] 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में भी इसी लक्षण का समर्थन किया गया है।[२०६] आगे 'कारिकावली' की व्याख्या करते हुए, उन्होंने साध्य शून्य पक्ष को भी बाध कहा है। जैसे 'उत्पत्तिकालीन घट गन्धवान् है, पृथिवी होने से।' यहाँ हेतु बाधित है, क्योंकि विशुद्ध घट रूप पक्ष में गन्ध रहने पर भी अर्थात् गन्ध का बाध न होने पर भी, पक्षतावच्छेदक उत्पत्तिकालविशिष्ट घट में गन्ध का अभाव है। अतः इस बाधशून्य पक्ष को बाध कहा जाता है, और साध्याभाव विशिष्ट पक्ष रूप बाधस्थल में रहने वाले हेतु को बाधित। क्योंकि '**उत्पन्नं द्रव्यक्षणमगुणम्**' इस नियम के अनुसार यद्यपि घट में गन्धत्व गुण पाया जाता है, फिर भी उत्पत्तिक्षण से विशिष्ट हो जाने के कारण, उस उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घट में गन्ध का अभाव सिद्ध होता है।[२०७]

साध्याभाववत् पक्ष रूप बाधस्थल में यदि हेतु विद्यमान रहता है, तो उसे बाधित कहा जाता है, किन्तु साध्याभावव् वृत्ति होने के कारण, इसे साधारण अनैकान्तिक ही कहा जा सकता है अथवा पक्ष में हेतु की वृत्ति यदि न मानी जाय, तो पक्ष में हेतु का अभाव होने पर, हेत्वभाववत्पक्ष स्वरूपासिद्धि दोष से युक्त होगा और इस दोष से विशिष्ट वह हेतु असिद्ध ही कहलायगा। इसलिये इसको पृथक् हेत्वाभास नहीं माना जा सकता। समाधान देते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि बाध, व्यभिचार तथा असिद्धि इन तीनों ज्ञानों में, प्रतीति का भेद होने के कारण, बाध को व्यभिचार और स्वरूपासिद्धि से पृथक् मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ परामर्श के अनन्तर बाध निश्चय होता है, वहाँ बाध ज्ञान को अनुमिति का प्रतिबन्धक माना जाता है, व्यभिचार आदि निश्चय वहाँ अकिञ्चित्कर है। तीसरे जहाँ उत्पत्तिक्षण से अवच्छिन्न घट आदि में गन्धव्याप्य पृथिवीत्ववान् घटः' इत्याकारक परामर्शात्मक ज्ञानकाल में अथवा इसके दूसरे क्षण में, 'उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो घटो गन्धाभाववान्' यह बाध निश्चय रहता है वहाँ बाधनिश्चय को ही 'उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो घटोगन्धवान् पृथिवीत्वात्' इस अनुमिति का प्रतिबन्धक मानना होगा। यहाँ पक्ष घट में न तो हेतु पृथिवीत्व का अभाव है, जिससे उसे स्वरूपासिद्धि

कहा जाय और न प्रतियोग्यव्यधिकरण साध्याभाववद् वृत्तित्व रूप व्यभिचार दोष ही। अतः बाध को स्वतन्त्र रूप से हेत्वाभास माना जाने में कोई बाधा नहीं।[१०८] इसी प्रकार बाधित हेतु सत्प्रतिपक्ष से भी भिन्न है, क्योंकि प्रथम में साध्य अन्य किसी प्रबलतर प्रमाण द्वारा बाधित होता है, किन्तु द्वितीय में इस प्रकार से साध्य का बाध नहीं होता, अपितु दूसरे समानबल वाले विरोधी हेतु द्वारा साध्य को विपरीत सिद्ध किया जाता है।

न्याय परम्परा से विलग होकर, शिवादित्य के समान, भासर्वज्ञ ने उक्त पाँच हेत्वाभासों के अतिरिक्त अनध्यवसित नामक छठा हेत्वाभास भी माना है। पक्ष में ही वृत्ति रहने वाला साध्य का असाधक हेतु अनध्यवसित हेत्वाभास कहलाता है।[१०९] इसके छः भेदों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) **अविद्यमानसपक्षविपक्षपक्षव्यापक**—सकल (पदार्थ) अनित्य हैं, सत् होने से।

यहाँ पर हेतु सत्त्व केवल पक्ष में ही रहता है एवं सकल वस्तुओं के पक्ष में ही समाविष्ट हो जाने से इसका न तो कोई सपक्ष है और न कोई विपक्ष ही।

(२) **अविद्यमानसपक्ष-विपक्षपक्षैकदेशवृत्ति**—सकल (पदार्थ) अनित्य हैं, कार्य होने से।

यहाँ पर हेतु कार्यत्व का न तो कोई सपक्ष है और न कोई विपक्ष ही। क्योंकि 'सर्व' के पक्ष हो जाने से उसके समान एवं भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती कारण सर्वान्तर्गत संसार की सभी वस्तुएँ आ जाती है, इसलिये सपक्ष विपक्ष उपलब्ध नहीं होते। 'सर्व' के पक्ष होने के कारण, सर्वान्तर्गत नित्य परमाणु आदि भी उसमें समाविष्ट होंगे, उनमें कार्यत्व हेतु की सत्ता नहीं रहती और अनित्य घट, पट आदि पदार्थों में सत्ता होने से यह पक्षैकदेशवृत्ति भी है।

(३) **विद्यमानसपक्षविपक्षपक्षव्यापक**—शब्द अनित्य है, आकाश का विशेष गुण होने से।

यहाँ पर हेतु आकाश विशेषगुणत्व पक्षभूत सभी शब्दों में वृत्ति होने के कारण पक्ष व्यापक है और नित्य रूप से घट आदि पदार्थ सपक्ष और नित्य रूप से परमाणु आदि पदार्थ विपक्ष भी है, अतः यहाँ सपक्ष और विपक्ष दोनों विद्यमान हैं।

(४) **विद्यमानसपक्षविपक्षपक्षैकदेशवृत्ति**—सकल द्रव्य अनित्य है, क्रियावान् होने से।

यहाँ हेतु क्रियावत्व के अनित्य रूप से, सपक्ष घट आदि अनित्य पदार्थ होंगे एवं नित्य रूप से, विपक्ष-परमाणु आदि नित्य पदार्थ होंगे, इसलिये यह सपक्ष और विपक्ष वाला होगा। तथा पक्षभूत आकाश में इसकी सत्ता न रहने एवं पृथिवी में रहने से, यह पक्षैकदेशवृत्ति भी है।

(५) **अविद्यमानविपक्षविद्यमानसपक्षपक्षव्यापक**—सकल कार्य नित्य है, उत्पत्ति वाले होने से।

यहाँ पर 'सकल कार्य' के पक्ष हो जाने से, कोई विपक्ष विद्यमान नहीं रहता, किन्तु नित्य रूप से आकाशदि सपक्ष अवश्य ही मिल जाते हैं। इसलिये यह अविद्यमान

और विद्यमान सपक्षवाला होगा तथा हेतु 'उत्पत्तिमत्त्व' 'सकल कार्य' रूप पक्ष में रहने के कारण पक्ष व्यापक भी है।

(६) **अविद्यमानविपक्षविद्यमानसपक्षपक्षैकदेशवृत्ति**—सकल कार्य नित्य है, सावयव होने से।

यहाँ पर 'सकल कार्य' के पक्ष होने से कोई विपक्ष नहीं रहता। नित्यरूप से आकाश आदि सपक्ष होंगे। इसलिये यह हेतु अविद्यमान विपक्ष एवं विद्यमान सपक्षवाला होगा। पक्ष 'सकल कार्य' के अन्तर्गत नित्य परमाणु भी समाविष्ट होंगे, जिनमें हेतु सावयवत्व की सत्ता नहीं पायी जाती। इसके विपरीत अनित्य पदार्थ घट, पट आदि भी प्रसक्त होंगे, जिसमें सावयवत्व पाया जाता है। इसलिय यह पक्षैकदेशवृत्ति भी है।[२१०]

यह अनध्यवसित असाधारण और अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास में समाविष्ट हो जाने के कारण पृथक् हेत्वाभास नहीं माना जा सकता। भासर्वज्ञ ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी आदि भेदों को स्वीकार नहीं किया है, इसीलिये उन्होंने इसे प्रशस्तपाद की तरह स्वतन्त्र हेत्वाभास माना है।

प्रत्येक हेत्वाभास का अपना-अपना फल (कार्य) है—जैसे, ग्राह्याभाव निश्चय द्वारा बाध तथा विरोधी ज्ञान समग्री द्वारा सत्प्रतिपक्ष, साक्षात् अनुमिति के प्रतिबन्धक होने के नाते परामर्श के भी प्रतिरोधक हैं, व्यभिचाराभाव द्वारा साधारण अनैकान्तिक; सामानाधिकरण्याभाव द्वारा विरुद्ध; विशिष्ट व्याप्ति के अभाव द्वारा व्याप्यत्वासिद्ध एवं व्याप्ति संशय के आधायक होने से असाधारण और अनुपसंहारी अनैकान्तिक व्याप्ति-ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं। आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध पक्षधर्मताज्ञान को अवरुद्ध करते हैं। उपाधियुक्त हेतु, व्यभिचार ज्ञान द्वारा, व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक है। अतः प्रत्येक हेत्वाभास का अपना-अपना विशिष्ट प्रयोजन होने से पाँच ही हेत्वाभास मानना आवश्यक है। अन्य सभी दोष इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं; जैसे, सिद्ध साधन आदि पक्षता का विघटन करने वाले दोष आश्रयासिद्ध में समाविष्ट हो जाते हैं।[२११]

मीमांसा भाट्ट मत

'मीमांसासूत्र' तथा 'शावरभाष्य' में हेत्वाभासों का निरूपण नहीं किया गया है, किन्तु कुमारिल और प्रभाकर ने इनका स्पष्ट विवेचन किया है इनके पश्चाद्वर्ती सभी मीमांसा ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से हेत्वाभास-विवेचन उपलब्ध होता है। प्राचीन न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों की भांति कुमारिल प्रणीत हेत्वाभास की व्याख्या भी मुख्यतः वाद-विवादात्मक ही है, वाद-विवाद में दो पक्ष रहते हैं—वादी और प्रतिवादी। वाद-विवाद के नियमों का परिष्कार होते ही कालान्तर में, हेत्वाभासों का जन्म हुआ है। वाद के कुछ ऐसे नियम होते हैं, जिन्हें दोनों पक्ष मानते हैं; कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें केवल एक ही पक्ष मानता है एवं अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनके प्रति वादी और प्रतिवादी दोनों या दोनों में से एक संदिग्ध, विपरीत या अज्ञानमूलक विचारधारा रखते हैं। कुमारिल के असिद्ध आदि हेत्वाभासों से निरूपण में ये ही नियम प्रस्फुटित हुए हैं। कुमारिल ने संग्राहक रूप से कहीं भी यह बात प्रदर्शित नहीं की है कि उन्हें कितने हेत्वाभास अभीष्ट हैं, किन्तु उनकी विवेचना से यह ज्ञात हो जाता है कि उन्हें असिद्ध, अनैकान्तिक तथा बाध ये तीन हेत्वाभास ही इष्ट थे। इन्हीं के निरूपण द्वारा उनके अवान्तर भेदों का भी बोध हो जाता है। पार्थसारथि मिश्र तथा चिन्न स्वामी ने भी इन्हीं तीन का समर्थन किया

है,[१९२] किन्तु मानमेयोदयकार ने, प्रशस्तपाद की तरह, इन तीन के अतिरिक्त असाधारण हेत्वाभास मानकर चार प्रकार से हेत्वाभास स्वीकार किये हैं ।[१९३]

असिद्ध

शाबरभाष्य के अनुमान लक्षण में आये हुए 'एकदेशदर्शनात्' पद में प्रयुक्त निश्चयमूलक 'दर्शन' शब्द से असिद्धि दोष का परिहार किया गया है । वादी प्रतिवादी दोनों अथवा दोनों में से एक का संशय, विपर्यय अथवा अज्ञान जिसमें ज्ञापित हो, वह अनिश्चित होने के कारण कुमारिल के अनुसार असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है । यह दो प्रकार का है—स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध । विपर्ययासिद्ध, संदिग्धासिद्ध तथा अज्ञानासिद्ध भेद से इन दोनों के तीन-तीन अवान्तर भेद भी माने गये हैं ।[१९४] इन सब को इस प्रकार समझना चाहिये:—

(१) स्वरूपासिद्ध

(अ) **विपर्ययासिद्ध**—'वह्नि अदाहक है, शैत्य होने से ।' इस अनुमान में हेतु वादी-प्रतिवादी दोनों के लिये विपरीत अर्थ का साधक है, क्योंकि दोनों वह्नि को दाह-विहीन नहीं मानते । वादी प्रतिवादी अन्यतर विपर्ययासिद्ध का उदाहरण इस प्रकार है—

'शब्द अनित्य है, कृतक होने से' ।

यहाँ साध्य अनित्यत्व की सिद्धि के लिये यदि नैयायिक, मीमांसकों के प्रति कृतकत्व हेतु का उपादान करते हैं तो वह प्रतिवादी असिद्ध और स्वयं मीमांसकों के इस हेतु का प्रयोग करने पर वादी असिद्ध होगा ।

(ब) **संदिग्धासिद्ध**—सरोवर वाष्पवान् है, धूम होने से ।

यहाँ पर हेतु धूमत्व के द्वारा सरोवर में साध्यवाष्पत्व की सिद्धि वादी-प्रतिवादी अन्यतर तथा उभय सभी के लिये संदिग्ध है । इसलिये इसे संदिग्धासिद्ध कहा जाता है ।

(स) **अज्ञानासिद्ध**—'श्लोक वार्तिक' में इसका कोई उदाहरण व लक्षण नहीं दिया गया है । इसकी व्याख्या करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने इसका लक्षण ही दिया है, उदाहरण नहीं । अप्रसिद्धार्थक पद का प्रयोग होने पर यह दोष होता है ।

(२) आश्रयासिद्ध

आश्रय के द्वारा हेतु की असिद्धि भी वादी-प्रतिवादी अन्यतर तथा उभय के विपर्यय, संशय और अज्ञान से तीन प्रकार कीहोती है । जैसे, आत्मा सर्वगत है, दृष्ट कार्य होने से । यहाँ बौद्धों के प्रति, यदि इस अनुमान का प्रयोग किया जाय, तो उनके सिद्धान्त में आत्माभाव का निश्चय होने के कारण, विपर्यायासिद्ध होगा, लौकिक पुरुषों के प्रति देह आदि से अतिरिक्त पुरुष में संशय होने के कारण, संदिग्धासिद्ध होगा । एवं पक्ष कोटि में अप्रसिद्धार्थक शब्द का प्रयोग करने से अज्ञानासिद्ध होगा ।[१९५]

धर्मी की असिद्धि होने पर भी हेतु की असिद्धि मानने में वार्तिककार की अन्य दार्शनिकों से विलक्षणता जान पड़ती है । सिद्धान्ततः पक्षसम्बन्धित्व रूप से हेतुत्व का भान होना आवश्यक है । यदि धर्मी (पक्ष) का जब ज्ञान ही नहीं हो पाता, तब उसके धर्म हेतु का ज्ञान होना भी दुष्कर है; इसलिये पक्ष के असिद्ध रहने पर, हेतु की भी असिद्धि

हो जाती है। यह मत अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक समीचीन जान पड़ता है, कारण हेत्वाभास के निरूपण में असिद्धि आदि दोष का किसी न किसी रूप में उद्भावन होना युक्तिसंगत जान पड़ता है। अन्य दार्शनिकों ने पक्ष में पक्षतावच्छेदक धर्म के अभाव होने पर, जो आश्रयासिद्ध की विवेचना की है, वह पक्षाभास हो सकता है, हेत्वाभास नहीं।

पार्थसारथि मिश्र ने पाँच प्रकार की असिद्धियाँ मानी है[२१६] तथा उन्होंने लक्षण की अपेक्षा उदाहरण के माध्यम से इन्हें समझाने का प्रयास किया है। इनमें से स्वरूपासिद्धि तथा आश्रयासिद्धि का विवेचन वार्तिककार के अनुसार ही विभिन्न उदाहरण द्वारा किया गया है। शेष तीन का विवरण इस प्रकार है—

(३) **सम्बन्धासिद्धि**—वह्नि अदाहक है, शैत्य होने से।

यहाँ धर्मी वह्नि में शैत्य का सम्बन्ध न होने से हेतु शैत्यत्व सम्बन्धासिद्ध कहलाता है।

(४) **व्यतिरेकासिद्धि**—जो शब्द सास्नादि वाले (पशु) का वाचक है, क्योंकि उसमें गोशब्दत्व है।'

यहाँ हेतु गोशब्दत्व पक्ष गो मात्र वृत्ति होने के कारण, पक्ष को छोड़कर उसकी कहीं भी सिद्धि नहीं हो सकती। व्यतिरेक शब्द से यहाँ भेद का ग्रहण ही अभिप्रेत है। तदनुसार पक्षतावच्छेदक और हेतु दोनों में भेद न होने के कारण, भेद की असिद्धि ही व्यतिरेक-असिद्धि कहलाती है।

(५) **व्याप्यसिद्धि**—'वायु और आकाश दोनों नित्य हैं, क्योंकि उनमें मूर्तत्व है।'

यहाँ आकाश में मूर्तत्व की व्याप्ति नहीं पायी जाती। इसलिये इसे व्याप्यसिद्धि कहा जाता है। इसी को भागासिद्धि अथवा पक्षैकदेशासिद्धि भी कहा जात है, क्योंकि वायु-आकाश उभयात्मक पक्ष के एकदेश आकाश में मूर्तत्व की व्याप्ति नहीं पायी जाती।[२१७] इन्हीं पाँच असिद्धियों को मानते हुए चिन्नस्वामी ने पार्थसारथि मिश्र का ही समर्थन किया है।[२१८] मानमेयोदयकार का असिद्धि विवेचन बड़ा ही व्यापक है। व्याप्तिमान् और पक्षसम्बन्धित्व अर्थात् व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान से युक्त हेतु सिद्ध यानी यथार्थ हेतु कहलाता है, उक्त किसी भी अंश का वैकल्य हो जाने पर, असिद्धि दोष होता है। अर्थात् व्याप्ति, पक्ष, उसके सम्बन्ध अथवा ग्रह (ज्ञान) का अभाव होने से यह दोष होता है।[२१९] इसमें स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध, आश्रयासिद्ध, सम्बन्धासिद्ध, व्यतिरेकासिद्ध का विवेचन थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ पार्थसारथि मिश्र की व्याख्या जैसा है। अज्ञानासिद्ध, अन्यतरासिद्ध तथा उभयासिद्ध का विवेचन वार्तिककार के अनुसार है। विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध व्यर्थविशेष्यासिद्ध तथा व्यधिकरणा-सिद्ध का विवेचन भासर्वज्ञ की भांति किया गया है। इन सभी असिद्धियों के विवेचन में उदाहरण का वैभिन्य और लक्षण प्रणयन नारायणभट्ट की अपनी विशेषता है। व्याप्यज्ञानासिद्धि वहाँ होती है, जहाँ व्याप्ति अनुपदर्शित रहती हो। जैसे 'पर्वत वह्निमान है, धूम होने से।' यहाँ केवल इतना ही प्रयोग किया जाय और व्याप्ति का प्रदर्शन न किया जाय तो व्याप्यज्ञानासिद्धि दोष होगा। इस प्रकार उन्होंने असिद्ध के चौदह भेद माने हैं।[२२०]

अनैकान्तिक

असिद्ध की तरह अनैकान्तिक और विरुद्ध हेतु भी भाष्यकार के अनुमान लक्षण

में प्रयुक्त 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से निरस्त किये गये हैं। अनैकान्तिक हेतु संदेह एवं विरुद्ध हेतु विपर्यय का कारण होता है। इन दोनों में, व्याप्ति का अभाव होने से, व्याप्ति के वाचक 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से इन दोनों की व्यावृत्ति की गयी है।[२२१] कुमारिल के अनुसार अनैकान्तिक तीन प्रकार का होता है—साधारण, असाधारण तथा विरुद्धाव्यभिचारी।[२२२] पार्थसारथि मिश्र तथा उनके अनुगमनकर्ता चिन्नस्वामी ने इसके दो भेद—सव्यभिचार और सप्रतिसाधन माने हैं।[२२३] 'मानमेयोदय' में साधारण तथा संदिग्ध अनैकान्तिक ये दो भेद स्पष्ट रूप से तथा असाधारण को विकल्प के रूप में अनैकान्तिक हेत्वाभास माना गया है।[२२४]

साधारण

साधारण और असाधारण के प्रसङ्ग में कुमारिल भट्ट और उनके उत्तरवर्ती भाट्ट मीमाँसकों ने न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का ही अनुसरण किया है। इनमें से साधारण का लक्षण प्रशस्तपाद के संदिग्ध और उद्योतकर के अनैकान्तिक लक्षण के समान है। जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है कि सपक्ष और विपक्ष दोनों में वर्तमान रहने वाला हेतु साधारण अनैकान्तिक कहलाता है। जैसे, शब्द नित्य है, प्रमेय होने से। यहाँ प्रमेयत्व हेतु सपक्षभूत नित्य पदार्थ आकाश आदि तथा विपक्षभूत अनित्य पदार्थ घट, पट आदि में पाया जाता है। कुमारिल ने इसके अतिरिक्त अन्य तीन उदाहरण (१) शब्द अप्रयत्नोत्थ है, अनित्य होने से, (२) शब्द यत्नोत्थ है, अमूर्त होने से तथा (३) शब्द अनित्य है, धर्म होने से—भी दिये हैं।[२२५] शास्त्रदीपिकाकार ने 'शब्द अनित्य है, अमूर्त होने से' इस उदाहरण द्वारा सव्यभिचार नामक भेद से साधारण को ही व्यक्त किया है। यहाँ भी हेतु अमूर्तत्व नित्य पदार्थ आकाश आदि में व्यभिचरित होने के कारण अनैकान्तिक कहलाता है।[२२६] चिन्नस्वामी ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[२२७] 'मानमेयोदय' में साधारण के लक्षण और उदाहरण वार्तिककार के अनुसार ही दिये गये हैं। उन्होंने केशव मिश्र की भांति सव्यभिचार को ही अनैकान्तिक कहा है और वह सपक्ष की तरह विपक्ष में भी वृत्ति रहने वाला साधारण ही है।[२२८] इसको प्रदर्शित करने के लिये उन्होंने वार्तिककार के प्रथम उदाहरण का ही उपयोग किया है। साधारण के अतिरिक्त उन्होंने संदिग्ध अनैकान्तिक का भी विवेचन किया है। जहाँ विपक्षवृत्तित्व संदिग्धावस्था में रहता है, वहीं उक्त हेत्वाभास होता है। जैसे, 'भाव पदार्थ क्षणिक होते हैं, सत्ता होने से।' इस स्थल में हेतु सत्त्व का अक्षणिक पदार्थ आत्मा आदि पदार्थों में बाध नहीं होता, इसलिये प्रकृत हेतु का विपक्ष में वृत्ति रहना शंकित है। इसी कारण इसको संदिग्ध अनैकान्तिक कहा जाता है।[२२९]

असाधारण

प्रशस्तपाद के अनध्यवसित तथा उद्योतकर के असाधारण लक्षण की भांति कुमारिल ने उस हेतु को असाधारण अनैकान्तिक कहा है, जो सपक्ष तथा विपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो।[२३०] जैसे, 'पृथिवी नित्य है, गन्ध होने से।' यहाँ गन्धवत्त्व हेतु पक्ष पृथिवी मात्र वृत्ति होने के कारण, सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में उपलब्ध नहीं होता। कुमारिल ने साधारण की तरह इसे भी संशय का हेतु माना है। असाधारण को संशय-हेतु मानने में युक्ति यह है कि व्याप्तिनिश्चय के दो अङ्ग होते हैं—सपक्ष के साथ अन्वय तथा विपक्ष के साथ व्यतिरेक। साधारण हेत्वाभास में सपक्ष के साथ अन्वय तो रहता है, किन्तु

विपक्ष के साथ व्यतिरेक नहीं। असाधारण हेत्वाभास में विपक्ष के साथ व्यतिरेक तो उपलब्ध होता है, किन्तु विपक्ष के साथ अन्वय नहीं। इसलिये उक्त निश्चय के अङ्ग वैकल्य होने पर संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार साधारण धर्म और असाधारण धर्म दर्शन, संशय का कारण है, उसी प्रकार साधारण और असाधारण अनैकान्तिक भी संशय के हेतु है। यहीं प्रशस्तपाद से उनकी विलक्षणता है, कारण उन्होंने इसे संशय का कारण नहीं माना है।[२३१] सुचरित मिश्र तथा पार्थसारथि मिश्र ने वार्तिककार की उक्त मान्यता का खण्डन[२३२] कर प्रशस्तपाद का समर्थन किया जान पड़ता है। 'शास्त्रदीपिका' में पार्थसारथि मिश्र ने इस प्रकार के हेतु को व्यतिरेकासिद्ध के रूप में व्यवहृत किया है[२३३] और इसे पृथक् अनैकान्तिक भेद नहीं माना है, किन्तु असाधारण हेतु को व्यतिरेकासिद्ध कहना समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि इस हेतु में केवल व्यतिरेक ही सिद्ध नहीं है, अपितु अन्वय भी असिद्ध है। असाधारण को संशय का हेतु न मानते हुए सुचरित मिश्र ने लिखा है कि संशय, एक मानसिक अवस्था है, जिसमें मन परस्पर विरुद्ध दो विकल्पों के मध्य डोलता रहता है। असाधारण हेतु पक्ष के सिवाय अन्यत्र कहीं व्याप्त नहीं रहता, इसलिये उसमें दो विकल्पों के उपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी बात यह है कि संशय कुछ सीमित विकल्पों को लेकर ही उत्पन्न होता है, असीमित विकल्पों में नहीं। हेतु गन्धवत्त्व में असीमितता ही रहती है, क्योंकि पृथिवी के सिवा सभी पदार्थों में उसका अभाव पाया जाता है। इसलिये नित्य और अनित्य वस्तुओं के दायरे में उसे प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता। थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि हेतु गन्धवत्त्व संशय का कारण होता है, तो उसका प्रयोग इस प्रकार होगा—जिन वस्तुओं में असाधारण धर्म पाया जाता है, वे नित्य या अनित्य होती है, पृथिवी ऐसा पदार्थ है, जिसमें असाधारण धर्म गन्ध पायी जाती है, इसलिये पृथिवी नित्य अथवा अनित्य है। इस प्रकार जहाँ यह संशय हो कि पृथिवी नित्य है अथवा अनित्य, वहाँ उसका कारण केवल गन्ध कदापि नहीं हो सकता, अपितु गन्धगत असाधारण या विशेष धर्म गन्धत्व ही होगा, जो पृथिवी और अन्यभूतों में संदेह का कारण होता है। कारण 'यह पृथिवी है, गन्ध होने से' अथवा पृथिवी इतरभूतों से भिन्न है गन्ध नहीं होने से, इन दोनों स्थलों में पृथिवी से भिन्न जल आदि भूतों में गन्ध का अभाव निश्चित रूप से ज्ञात रहने पर वहाँ उसकी उपलब्धि नहीं होती, यदि जल आदि में गन्ध की उपलब्धि हुई होती, तो वहाँ पृथिवीत्व का संशय भी उदित हुआ होता।[२३४] अतः जल आदि में पृथिवीत्व बुद्धि का आपादान नहीं हो सकता। इसलिये असाधारण हेतु को संशय का कारण नहीं माना जा सकता। सुचरित मिश्र तथा पार्थसारथि मिश्र दोनों ने इन श्लोकों की व्याख्या का समापन करते हुए लिखा है कि असाधारण को संशय-हेतु मानना वार्तिककार का स्वकीय मत नहीं है, प्रत्युत अपर मत व्यवस्थापन के रूप में उन्होंने दिङ्नाग मत का प्रतिपादन किया है।[२३५] लेकिन उक्त दोनों टीकाकारों की यह मान्यता कि कुमारिल ने प्रकृत में अपना सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया, युक्तिविहीन जान पड़ती है, कारण कोई भी विचारक सिद्धान्ततः वही मत प्रतिपादित करता है, जो उसे सर्वथा स्वीकार्य हो, अन्यथा वह जिस मत को मान्य नहीं समझता, उसका प्रतिवाद करता है। नारायण भट्ट ने असाधारण के लक्षण और उदाहरण के प्रसङ्ग में वार्तिककार का अक्षरशः समर्थन किया है, किन्तु इन्होंने इसे विकल्प से हेत्वाभास माना है। तात्पर्य यह कि यदि इस असाधारण भेद को अनैकान्तिक का ही एक भेद माना जाय, तब तीन हेत्वाभास

होंगे और यदि इसे पृथक् हेत्वाभास की कोटि में रखा जाय, तब हेत्वाभास की संख्या चार होगी ।[२३६]

विरूद्धाव्यभिचारी

जिसको न्यायसूत्रकार ने सत्प्रतिपक्ष, प्रशस्तपाद ने असाधारण तथा दिङ्नाग ने विरूद्धाव्यभिचारी कहा है, उसे कुमारिल ने भी विरुद्ध अव्यभिचारी कहा है। विरुद्ध-अर्थ से व्याप्त दो हेतुओं का एक धर्मी में दर्शन होना विरुद्धाव्यभिचारी दोष है।[२३७] जैसे, वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, रूप हीन होने से। वायु का प्रत्यक्ष होता है, स्पर्श होने से।' यह पूर्व में बतलाया जा चुका है कि कुमारिल के हेत्वाभासों का विवेचन वाद-विवादात्मक-भाव के आधार पर व्यवस्थित किया गया है। साधारण और असाधारण से इसकी विलक्षणता यह है कि इसमें वादी-प्रतिवादी दोनों के द्वारा वाद काल में परस्पर विरुद्ध दो अनुमानों का उद्भावन किया जाता है, जिससे सुनने वाली सभा अथवा मध्यस्थ के मत में संशय उत्पन्न हो जाता है किन्तु साधारण और असाधारण में ऐसा नहीं होता, क्योंकि उनमें किसी पक्ष द्वारा एक ही अनुमान का प्रयोग किया जाता है, जिसके कारण विरोधी पक्ष में संशय उत्पन्न हो जाता है। अतः इन दोनों स्थलों में वादी अथवा प्रतिवादी में ही संशय उत्पन्न होता है, सभा अथवा मध्यस्थ में नहीं। इसलिये इसे साधारण और असाधारण से अतिरिक्त तीसरे प्रकार का अनैकान्तिक हेत्वाभास माना गया है।[२३८] 'त्रयः संशय हेतवः' इस वाक्य द्वारा वार्तिककार ने इसे भी पूर्वोक्त साधारण व असाधारण की तरह संशय का हेतु माना है।[२३९] पार्थसारथि ने अपनी 'शास्त्रदीपिका' में इस अनैकान्तिक भेद को 'सप्रतिसाधन' के रूप में व्यक्त किया है, उदाहरण वही है, किन्तु प्रथम हेतु में द्रव्यत्वेसति' तथा द्वितीय हेतु में 'महत्त्वेसति' इन दो विशेषणों को और जोड़ दिया गया है।[२४०] इनका अनुगमन करते हुए चित्रस्वामी ने भी यही बात कही है।[२४१] शालिकनाथ ने इस प्रकार के दोष को स्वीकार नहीं किया है, कारण परस्पर विपरीत दो हेतु एक ही अधिकरण में वृत्ति नहीं रह सकते। यदि ऐसा न हो, तो संशय का निरास कभी भी न हो सकेगा, इसलिये यहाँ अनुमान में नित्यसंशयित धर्म की आपत्ति हो जायगी। दूसरी बात यह है कि द्वितीय शीघ्रभावी (प्रबलतर) हेतु के द्वारा पक्षवायु में, साध्य प्रत्यक्षत्व की सिद्धि सुगमता से की जा सकती है।[२४२] नारायणभट्ट ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि समान बल वाले हेतुओं का होना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा हो तो एक ही वस्तु के दो विरुद्ध रूपों के प्रसङ्ग की आपत्ति होगी, जो उक्त दो अनुमानों द्वारा बलात् उपलब्ध होती है। फिर प्रबल और दुर्बल हेतु के संघर्ष में, प्रबल हेतु, दुर्बल हेतु को अपलापित कर ही देता है। अतः इसको (नैयायिकों की भांति स्वतन्त्र अथवा (दिङ्नाग, कुमारिल, पार्थसारथि मिश्र आदि के समान) अनैकान्तिक का एक पृथक् भेद नहीं माना जा सकता, वरन् साधारण अथवा असाधारण अनैकान्तिक दोषों में समाविष्ट कर लेना श्रेयस्कर है।[२४३] उक्त आक्षेपों का परिहार करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि सप्रतिसाधन दोष समान बलशाली दो हेतुओं में नहीं, अपितु दो हेतुओं में परस्पर विरुद्ध कोटियों के उद्भावन से निष्पन्न होता है। इसलिये सप्रतिसाधन का तात्पर्य विपरीत कोटि विशिष्ट साधन ही है। इस स्थल में, दोनों हेतु निर्णायक नहीं होते, किन्तु संशय के जनक होते हैं, क्योंकि उनमें बलाबल का निश्चय नहीं रहता। सप्रतिसाधन स्थल में, परस्पर विरुद्ध व्याप्तिवाले दो हेतु एक ही धर्मी में

गृहीत होकर, अपने-अपने व्यापक साध्य को, उसी धर्मी में अवगम करने का प्रयास करते हैं। दो विरुद्ध धर्मों का, एकत्र समावेश न हो सकने के कारण, संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसीलिये इसे संशय का हेतु माना जाता है। इसमें नित्य संशयता की आपत्ति इसलिये नहीं दी जा सकती कि जिस प्रकार अंधकार में, किसी स्तम्भ को देखकर, यह संदेह होता है कि 'यह पुरुष है अथवा स्तम्भ', उसके अनन्तर किसी भी पक्ष का निर्णय हो जाने पर, वह संशय निरस्त हो जाता है, इसी प्रकार सप्रतिसाधन स्थल में भी, संशय का कालान्तर में प्रबल प्रमाण द्वारा निराकरण हो जाता है। अतः जिस प्रकार, साध्य तथा साध्याभाव से सहचरित रहने वाला उभय-विषयक ज्ञान का उत्पादक, साधारण हेतु संशय का कारण माना जाता है, उसी प्रकार एक ही धर्मी में परस्पर विरुद्ध अर्थ से सम्बद्ध रहने वाले दो सत्प्रतिपक्षी हेतु भी संदेह का कारण होते हैं। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने भाष्यकार का उद्धरण—'यत्कर्मः तत्फलवद्, होमोपि कर्मः तेनापि फलवत्ता भवितव्यम्। उपरते कर्मणि द्रव्याणां तत्संयोगानां च द्रव्यान्तरं फलं दृष्टमिति द्रव्यमपि फलवत्स्यात् इति सप्रतिसाधनं ब्रुवन' भी दिया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि भाष्यकार को भी यह भेद अभिप्रेत था।[२४४] अतः प्रभाकर तथा मानमेयोदयकार का उक्त खण्डन भाष्यकार के साथ संगति न रहने के कारण, युक्तिपूर्ण नहीं दिखाई देता।

दिङ्नाग की भांति सत्प्रतिपक्ष को अनैकान्तिक का एक भेद मानना कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र की विलक्षणता है। किन्तु यह सर्वथा नवीन तथ्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रशस्तपाद ने भी इसको प्रथमतः असाधारण बतलाते हुए विरुद्ध में ही समाविष्ट किया है। विरोधी अर्थवाला होने के नाते इसका विरुद्ध में अन्तर्भाव करना अधिक समीचीन जान पड़ता है। किन्तु नैयायिकों ने इन सभी मान्यताओं का खण्डन कर, इसे पृथक् हेत्वाभास माना है और इसका अनैकान्तिक अथवा विरुद्ध हेत्वाभास दोनों में अन्तर्भूत होने का खण्डन किया है। संभवतः दिङ्नाग ने ही सर्वप्रथम इसको विरुद्धाव्यभिचारी के नाम से प्रयुक्त किया है, अतः कुमारिल के इस प्रयोग पर उन्हीं का प्रभाव जान पड़ता है।

बाध

जिसको अन्य सभी दार्शनिकों ने विरुद्ध कहा है, उसी को मीमांसा मत में बाध कहा गया है। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि भाष्यघटक 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से विपरीत हेतु का भी निराकरण किया गया है। कुमारिल के अनुसार अभिलषितसाध्य की सिद्धि के लिये विपरीत हेतु का उद्भावन करना ही विरुद्ध दोष है।[२४५] यह दोष प्रतिज्ञा अर्थ का बाधक होने के नाते, मुख्यतः एक ही प्रकार का होता है—धर्मस्वरूप बाध। यदि इसके अवान्तर भेद प्रतिपादनीय हों, तो इसके दो भेद किये जा सकते हैं—धर्मस्वरूपबाध और धर्मविशेषबाध। कुछ विद्वानों ने इनमें चार भेद—(१) धर्मि स्वरूपबाध, (२) धर्मीविशेषबाध, (३) उभयस्वरूपबाध एवं (४) उभयविशेषबाध और जोड़कर छः प्रकार के बाध दोष माने हैं।[२४६] वार्तिककार ने इन सभी भेदों का विवेचन किया है; पार्थसारथि मिश्र[२४७] तथा चिन्नस्वामी[२४८] ने प्रथम दो का समर्थन करते हुए, शेष चार को अनुपयोगी बतलाया है एवं नारायणभट्ट[२४९] ने प्रथम दो भेदों को स्वीकार किया है। संक्षिप्त रूप में इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) **धर्मस्वरूपबाध**—शब्द नित्य है, कृतक होने से।

यहाँ धर्म पद से साध्य का ही ग्रहण किया गया है। हेतु कृतकत्व द्वारा साध्य नित्यत्व का स्वरूपतः बाध होने के कारण ही इसे धर्मस्वरूप बाध कहा जाता है, क्योंकि नित्य पदार्थ का कृतक होना असंभव है।

(२) **धर्मविशेषबाध**—शक्ति निश्चय के पूर्व भी शब्द अर्थविशिष्ट होता है, विभक्ति विशिष्ट होने से।

यहाँ शक्ति निश्चय के पहले यदि हेतु विभक्तित्व का उपादान किया जाय, तो अर्थ बोध-जनकत्व रूप धर्मविशेष का बाध होता है।[२५०] पार्थसारथि मिश्र ने प्रथम भेद वार्तिककार के अनुसार ही दिया है, किन्तु द्वितीय भेद के उदाहरण को परिष्कृत रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—अगृहीत शक्तिक शब्द भी अपने अर्थ का प्रतिपादक होता है, विभक्ति विशिष्ट होने से। यहाँ अगृहीत शक्तिक शब्द स्थल में, धर्मस्वरूप का प्रतिपादन होने पर भी अर्थ प्रतिपादन रूप उसके धर्म विशेष का ही बाध होता है, कारण शक्तिग्रह के पूर्व अर्थान्तर की प्रतिपत्ति होना अशक्य है। इसलिये अर्थ प्रतिपादन रूप धर्मविशेष का बाध होने के कारण इसे धर्मविशेष बाध कहा जाता है।[२५१] प्रथमभेद को प्रदर्शित करने के लिये नारायण भट्ट ने यद्यपि वार्तिककार का प्रथम उदाहरण ही प्रयुक्त किया है, तथापि इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। साध्य के साथ जिस हेतु की विपरीत व्याप्ति पायी जाती है, वह साध्यस्वरूप अर्थात् धर्मस्वरूप बाध तथा जहाँ साध्य विशेष के साथ हेतु की विपरीत व्याप्ति पायी जाय, उसे साध्यविशेष अर्थात् धर्म-विशेष बाध कहा जाता है। जैसे, हेतु कृतकत्व की साध्य नित्यत्व के साथ विपरीत व्याप्ति पायी जाने के कारण, उसे साध्य स्वरूप बाध कहते हैं। द्वितीय का उदाहरण है—क्षिति आदि सकर्तृक हैं, कार्य होने से, घट के समान। यहाँ कर्ता का अशरीरी होना ही साध्य विशेष या धर्मविशेष है। साध्य अशरीरित्व के साथ हेतु सकतृकत्व की विपरीत व्याप्ति ही पायी जाती है, क्योंकि घट आदि का निर्माणकर्ता कोई शरीरधारी ही होता है, अशरीरी नहीं। इसलिये इसको साध्यविशेष या धर्मविशेष बाध कहते हैं।[२५२] चित्रस्वामी ने भी इसी प्रकार दोनों भेदों का विवेचन किया है।[२५३]

(३) **धर्मस्वरूपबाध**—समवाय, द्रव्य आदि से अतिरिक्त पदार्थ है, विशिष्ट ज्ञान का हेतु होने से।

मीमांसा मत में समवाय नामक कोई पदार्थ नहीं माना जाता और इहप्रत्यय का ज्ञान जैसे 'यह घट यहाँ है' संयोग द्वारा ही व्यञ्जित किया जा सकता है। इसलिये उनके मत में वह धर्मिस्वरूप बाध होगा।[२५४]

(४) **धर्मिविशेषबाध**—समवाय एक है, विशिष्टज्ञान का हेतु होने से, सत्ता के समान।

यहाँ इहप्रत्ययहेतुत्व संयोग के समान भेद के व्याप्त होने से एकत्वरूप विशेष का बाध होता है।[२५५]

(५) **धर्मधर्मिउभयबाध**—आत्मा नित्य है, अवयवशून्य होने से, आकाश के समान।

यहाँ हेतु अवयवाभावत्व' को यदि सौत्रान्तिक बौद्धों के प्रति प्रयुक्त किया जाय, तो आत्मा रूप धर्मी और नित्यत्व रूप धर्म दोनों का बाध होगा, क्योंकि वे आत्मा और उसके नित्यत्व दोनों को नहीं मानते।[२५६]

(६) धर्मधर्मिउभयविशेषबाध—चक्षु आदि इन्द्रियां पर के लिये हैं, संघात होने से, शैय्या आदि के समान।

यहाँ सांख्य दार्शनिकों के प्रति हेतु संघातत्व का प्रयोग किया जाय, तो उक्त दोष होगा। कारण शैय्या आदि में संघातात्मक-शरीर-पारार्थ्य तथा भौतिकत्व के द्वारा संघातत्व हेतु व्याप्त है, इसलिये वह चक्षु आदि में संघात-पारार्थ्य को सिद्ध करने में असंहत रूप प्राकृत सत्त्व-रज-तम से असंपृक्त चिन्मात्र रूप आत्मा के प्रति पारार्थ्य रूप-धर्मविशेष और धर्मी चक्षुरादि का धर्मविशेष अहंकारित्व का बाधक होगा। अतः सांख्य दार्शनिकों के प्रति, प्रकृति से अतिरिक्त पुरुष को सिद्ध करने के लिये, यदि प्रयोग किया जाय तो यह दोष होगा।[१४७]

यद्यपि कुमारिल ने उक्त छः बाध दोषों का वर्णन सउदाहरण किया है, किन्तु सिद्धान्ततः उन्हें एक धर्मबाध ही अभिप्रेत है। पार्थसारथि मिश्र ने वार्तिककार के उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सभी अवान्तर भेद निरर्थक एवं निष्प्रयोजक जान पड़ते हैं। अधिक से अधिक भेद यदि माने जायें तो दो भेद धर्मस्वरूपबाध और धर्मविशेषबाध मानना चाहिये। धर्मिस्वरूप तथा धर्मिविशेष बाध हेतु के दोष नहीं है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'हेतु दोष के रूप में, धर्मिस्वरूपबाध का अभिधान नहीं किया जा सकता' इसकी व्याख्या करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि, तृतीय बाध स्थल में 'इहप्रत्ययहेतुत्व' का असमवायत्व तथा भेद दोनों से व्याप्त होना संयोग में दृष्ट है। इसलिये समवाय में असमवायत्व तथा भेद का आपादान करते हुए समवायरूप धर्मी एवं तद्विशेष एकत्व का बाध होता है। यही धर्मिस्वरूप एवं धर्मिविशेषबाध कहलाता है। किन्तु यह समीचीन नहीं है, क्योंकि 'इहप्रत्ययहेतुत्व' समवाय धर्मी में है या नहीं' इत्याकारक दो प्रकार के विकल्प हो सकते हैं। यदि अदृष्ट है, तब असिद्ध होने से वह किसी का साधक अथवा बाधक नहीं बन सकता। यदि दृष्ट है, तब वहाँ पर उसका बाध होना संभावित नहीं है, क्योंकि विरोध होने पर ही, किसी के द्वारा किसी का बाध हो सकता है। यदि 'इहप्रत्ययहेतुत्व' समवाय में दृष्ट है, तो उसका विरोध किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता। इसलिये धर्मिस्वरूप तथा धर्मिविशेष बाध ये दोनों अवान्तर भेद, युक्तिसंगत नहीं जान पड़ते। और इन दोनों के सारविहीन सिद्ध हो जाने पर, धर्म-धर्मिउभयस्वरूप तथा धर्मधर्मिविशेषबाध भी निष्प्रयोजक सिद्ध हो जाते हैं। अतः धर्म-स्वरूप तथा धर्मविशेष बाध ये दो भेद ही मानना उचित जान पड़ता है।[१४८]

प्राभाकर मत

कुमारिल की तरह, प्रभाकर मत संपादित करते हुए, शालिकनाथ ने भी शबर-स्वामी के अनुमान लक्षण निष्ठ पदों से ही हेत्वाभासों का ग्रहण किया है। इन्होंने भी, वार्तिककार की तरह, हेत्वाभासों की निश्चित संख्या का निर्देश नहीं किया है, किन्तु उनके विवेचन से ज्ञात होता है कि उन्हें, असाधारण, बाधक, साधारण (अनैकान्तिक) एवं असिद्ध ये चार हेत्वाभास इष्ट हैं।

असाधारण

'ज्ञातसम्बन्धनियमस्य' इस भाष्य पद में प्रयुक्त 'ज्ञात' शब्द से असाधारण में अहेतुत्व ज्ञापित किया गया है। जैसे, पृथिवी रसवती है, गन्ध होने से। यहाँ एकदेश गन्ध का, एकदेशान्तर रस के साथ अर्थात् हेतु गन्धवत्त्व का साध्य रस के साथ एकार्थ

[समवाय सम्बन्ध है, किन्तु यह सम्बन्ध पहले से ज्ञात नहीं रहता, कारण गन्ध पृथिवी से अतिरिक्त किसी अन्य स्थल में उपलब्ध नहीं होती ।[२५९] संभवतः कुमारिल की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है कि कुछ विद्वानों ने इसे संशय का हेतु माना है, वह समीचीन नहीं जान पड़ता, कारण जो जिसके साथ सम्बद्ध (दृष्ट) है, वह वहाँ पर उसका स्मरण करा ही सकता है; जो उभयधर्म से सम्बद्ध है, वह दोनों की स्मृति को उत्पन्न करते हुए, एक में उभयात्मक धर्म के विरोध होने से, संदेह का आपादक हो सकता है, किन्तु जिस हेतु का, किसी के साथ सम्बन्ध ही अवगत नहीं है, वह किसी का स्मरण कराने में समर्थ नहीं हो सकता । इसलिये ऐसी परिस्थिति में इसके द्वारा संशय की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती । अतः असाधारण हेतु संशय का कारण नहीं है ।[२६०]

बाधक

भाष्य घटक 'सम्बन्ध ग्रहण' पद से बाधक में हेत्वाभासत्व का ग्रहण किया गया है । जैसे 'शब्द नित्य है, कृतक होने से' (यहाँ हेतु कृतकत्व का अपने साध्य नित्यत्व के साथ कोई सम्बन्ध गृहीत नहीं होता, अपितु इसके विपरीत अनित्यत्व के साथ ही उसका सम्बन्ध गृहीत होता है । अपने सामर्थ्य से अनित्यत्व का उपस्थापन करते हुए हेतु कृतकत्व, अपने साध्य नित्यत्व का बाध करता है । इसलिये सिषाधयिषित धर्म (साध्य) का बाधक होने के कारण इसको बाधक कहा जाता है ।[२६१] इस प्रकार अन्य दार्शनिकों के विरुद्ध को ही यहाँ बाधक के रूप में व्यक्त किया गया है ।

साधारण

भाष्य घटक 'नियमग्रहण' पद से साधारण हेत्वाभास का निरास किया गया है । जैसे शब्द नित्य है, प्रमेय होने से । यहाँ हेतु प्रमेयत्व का साध्य नित्यत्व के साथ सम्बन्ध ज्ञात होने पर भी, वह सद्हेतु नहीं कहला सकता, क्योंकि वह अनित्य पदार्थों में भी अनियत रूप से उपलब्ध होता है । यह संशय का हेतु है, क्योंकि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों के साथ इसका सम्बन्ध होने से, यह नित्यत्व और अनित्यत्व उभय की स्मृति को उत्पन्न करते हुए, एक धर्मी में, विरुद्ध नाना धर्मावगाही संशय को उत्पन्न कर सकने में सक्षम है । इसको इसीलिये अनैकान्तिक भी कहा जाता है ।[२६२]

असिद्ध

भाष्य में आये हुए 'एकदेशदर्शनात्' पद से अनेक देशभूत (असिद्ध) में हेत्वाभासत्व गृहीत किया गया है । जैसे, आकाश का 'प्रत्यक्ष होता है, रूप होने से ।' यहाँ हेतु रूपवत्त्व असिद्ध है, कारण गगन में रूप नहीं है । इसी प्रकार, जिसका पक्ष प्रत्येक-देश एवं अनेकदेश होता है, उसका भी इसी पद द्वारा निरास होता है । जैसे, वेद कृतक है, उपाख्यानात्मक होने से । यहाँ वेद के विधिभाग में हेतु उपाख्यानात्मकत्व न रहने से यह दोष होगा—[२६३] शालिकनाथ के इन प्रत्येकदेशभूत तथा अनेकदेशभूत हेत्वाभासों के नाम विलक्षण जान पड़ते हैं, किन्तु उनके उदाहरण निरूपण से ऐसा भासित होता है कि यहाँ उन्हें असिद्ध तथा भागासिद्ध का विवेचन ही इष्ट है ।

स्वरूपासिद्ध

भाष्य में प्रयुक्त 'दर्शनग्रहण' पद से इसका ग्रहण किया गया है, जैसे,—बुद्ध धर्म और अधर्म को प्रत्यक्षतः जानते हैं, सर्वज्ञ होने से । यहाँ पर बुद्ध में सर्वज्ञत्व का ज्ञान किसी प्रमाण से न हो सकने के कारण हेतु सर्वज्ञत्व को स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहा गया है ।[२६४]

उनके उदाहरण विन्यास से ऐसा प्रतिभासित होता है कि उन्होंने स्वरूपासिद्ध और भागासिद्ध भेद से दो प्रकार के असिद्ध माने हैं। अनेकदेशभूत के प्रथम उदाहरण को भी स्वरूपासिद्ध कहा जा सकता है, किन्तु उनकी विवेचना अत्यन्त दुरूह एवं जटिल सी प्रतीत होती है।

यद्यपि 'बृहती' में हेत्वाभासों का विवेचन नहीं किया गया है किन्तु उसकी 'ऋजुविमला' टीका में उक्त चारों का विवरण स्पष्टतः उपलब्ध होता है। वस्तुतः 'ऋजुविमला' के हेत्वाभासों का ही 'प्रकरणपञ्चिका' में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अन्तर इतना है कि प्रथम में बाधक के स्थान पर विरुद्ध एवं उदाहरण के पक्ष शब्द की अपेक्षा पट का प्रयोग किया गया है। द्वितीय के अनेकदेशभूत या भागासिद्ध तथा स्वरूपासिद्ध के स्थान पर प्रथम में केवल असिद्ध को उदाहरणविहीन व्यवस्थित किया गया है। असिद्ध के अतिरिक्त प्रथम में तीनों के उदाहरण दिये गये हैं, जिनका, विरुद्ध को छोड़कर, द्वितीय में अक्षरशः अनुगमन किया गया है।[२६५]

सांख्य-योग मत

'माठरवृत्ति' को छोड़कर सांख्य-योग ग्रन्थों, जैसे, 'सांख्यकारिका', 'गोडपादभाष्य' 'सांख्यतत्त्वकौमुदि', 'सांख्यसूत्र', 'सांख्यप्रवचनभाष्य' तथा योगसूत्र', 'योगभाष्य', 'तत्त्ववैशारदी', 'भोजवृत्ति' आदि में हेत्वाभासों का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। माठरवृत्ति में भी असिद्ध, अनैकान्तिक तथा विरुद्ध इन तीन हेत्वाभासों और उनके चौदह अवान्तर भेदों का केवल उल्लेख भर किया गया है, उनके लक्षण या उदाहरण नहीं दिये गये हैं।[२६६]

वेदान्त मत

वेदान्तदर्शन के 'खण्डनखण्डखाद्य'[२६७] में न्याय सम्मत पाँच हेत्वाभासों का खण्डन ही किया गया है, विवेचन नहीं। किन्तु प्रमाणों का निरूपण करने वाले ग्रन्थ 'वेदान्त परिभाषा' तथा उनकी टीकाओं—'शिखामणि', 'मणिप्रभा', 'अर्थदीपिका' आदि में हेत्वाभासों का विवेचन या खण्डन उपलब्ध नहीं होता :

बौद्ध मत

प्राचीन बौद्ध परम्परा में नागार्जुन ने हेत्वाभासों का विवेचन करते हुए आठ प्रकार के हेत्वाभास माने हैं—(१) वाक्छल, (२) सामान्यछल, (३) संशयसम, (४) कालातीत, (५) प्रकरणसम, (६) वर्ण्यसम, (७) सव्यभिचार एवं (८) विरुद्ध। इनमें से प्रथम को छल तथा तृतीय और षष्ठ छल और जाति के ही अवान्तर भेद हैं शेष चार हेत्वाभास माने जा सकते हैं। उन्होंने इन चारों को उदाहरण द्वारा ही समझाया है।[२६८] सामान्यछल को छोड़कर साध्यसम को अतिरिक्त रूप से व्यवस्थापित करते हुए डा० विद्याभूषण ने इन सभी की संक्षिप्त व्याख्या की है।[२६९] असङ्ग ने दो—अनिश्चित या अनैकान्तिक तथा साध्यसम हेत्वाभासों का उल्लेख किया है।[२७०] वसुबन्धु ने अपनी 'वादविधि' में तीन प्रकार के—(१) असिद्ध, (२) अनिश्चित तथा (३) विरुद्ध—हेत्वाभासों का उदाहरण सहित वर्णन किया है। जैसे, (१) शब्द अनित्य है, चाक्षुष होने से; (२) शब्द नित्य है, रूपविहीन होने से तथा अन्तिम को दो उदाहरणों द्वारा व्यक्त किया गया है—वैशेषिक अथवा सांख्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित', शब्द नित्य है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष होने से' अथवा 'कार्य, कारण में निहित है, उत्पत्ति होने से।'[२७१]

विभिन्न उदाहरणों द्वारा 'तर्कशास्त्र' में भी इन्हीं तीन हेत्वाभासों को स्थापित किया गया है।[२७२] वसुबन्धु के इन तीन हेत्वाभासों को सभी उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्यों ने स्वीकार किया है।

'न्यायभाष्य' की भांति धर्मकीर्ति ने भी हेत्वाभास सामान्य का लक्षण इस प्रकार दिया है,—'जो हेतु लक्षण से रहित हो, किन्तु हेतु की तरह प्रतिभासित होता हो, उसे हेत्वाभास कहा जाता है।[२७३] अविनाभाव के होने पर ही हेतु सद्हेतु कहलाता है। अविनाभाव की सिद्धि तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा ही की जाती है, इसलिये जिस हेतु में ये दोनों नहीं पाये जाते, वह हेतु अविनाभाव से रहित होने के कारण, साधन के समान होने से हेत्वाभास कहलाता है, साधन नहीं।[२७४] दूसरी बात यह है कि अविनाभावीय हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व ये तीन रूप आवश्यक रूप से पाये जाते हैं। इन तीनों रूपों में कोई भी अनुक्त, असिद्ध अथवा संदेह-युक्त हो तो हेतु सद्हेतु न रहकर साधनाभास या हेत्वाभास हो जाता है।[२७५] जैसे, प्रथम रूप के अभाव में असिद्ध, द्वितीय रूप के अभाव में विरुद्ध तृतीय रूप के विरह में अनैकान्तिक होते हैं।[२७६]

आचार्य दिङ्नाग के 'हेतुचक्रडमरू'[२७७] में दो हेत्वाभासों—अनैकान्तिक तथा विरुद्ध के पाँच तथा दो अवान्तर भेदों का ज्ञान होता है, असिद्ध के अवान्तर भेदों का नहीं। इस कमी की पूर्ति के लिये डा० रेण्डल ने लिखा है कि 'हेतुचक्रडमरू' में, जिन आठ पंक्तियों द्वारा नौ अनुमानों का प्रयोग किया गया है, उनके बाद और भी दो पंक्तियाँ लिखी गयी हैं जिनमें से एक ही पंक्ति—'सद्हेतु और उसका आभास सामान्यतः साध्य अर्थात् पक्ष के धर्म होते हैं' का उन्होंने उल्लेख किया है। अतः 'यतः' पद से अन्वित होने वाली उक्त पंक्ति के साथ, 'ततः' पद वाली, दूसरी पंक्ति भी हो सकती है, जिसमें उन्होंने हेतु का पक्ष के साथ सम्बन्ध स्थापित किया हो।[२७८] उनके हेतु लक्षण—'ग्राह्यधर्मः तदंशेन व्याप्तोहेतुः'[२७९] से भी यह बात पुष्ट होती है कि हेतु पक्ष का धर्म और साध्य की व्याप्ति से युक्त होना चाहिये। इस सद्हेतु के लिये ही उन्होंने त्रैरूप्य कल्पना का समर्थन किया है। इन त्रिरूपों में से अन्तिम दो के वैकल्य से ही उक्त सात प्रकार के अनैकान्तिक और विरुद्ध हेत्वाभासों की सर्जना की गयी है। प्रथम रुप के अभाव में भी इसी प्रकार असिद्ध हेत्वाभास और उसके अवान्तर भेदों की कल्पना की जा सकती है। डा० रेण्डल की व्याख्या में यद्यपि प्राण है, फिर भी जब तक दिङ्नाग की अन्य पंक्तियाँ उपलब्ध नहीं होती, तब तक यह तथ्य प्रमाणों के अभाव में एक कल्पना ही मानी जा सकती है। 'हेतुचक्रडमरू' में प्रयुक्त सभी सद् और असद् अनुमान 'न्यायप्रवेश' में समाविष्ट कर लिये गये हैं। इस प्रकार दिङ्नाग ने वसुबन्धु का समर्थन करते हुए असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास माने हैं।[२८०]

असिद्ध

'न्यायप्रवेश' में भी 'प्रशस्तपादभाष्य' की तरह चार भेद—(१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) संदिग्धासिद्ध एवं (४) आश्रयासिद्ध प्रदर्शित किये गये हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रशस्तपाद ने जहाँ इन सबके लक्षण और उदाहरण दोनों दिये हैं, वहाँ इनमें केवल उदाहरण का ही आश्रयण किया गया है। इस ग्रन्थ में उनके तद्भावासिद्ध को उदाहरण सहित संदिग्धासिद्ध तथा अनुमेयासिद्ध को आश्रयासिद्ध के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। संदिग्धासिद्ध को छोड़ शेष सभी उदाहरण विभिन्न है।[२८१]

धर्मकीर्ति ने भी इन्हीं चार भेदों का समर्थन किया है। इन्होंने प्रशस्तपाद के लक्षणों में कुमारिल प्रणीत असिद्ध लक्षण के संदिग्ध विशेषण को जोड़कर, अपने समस्त लक्षणों की रचना की है, जैसे, वादी और प्रतिवादी दोनों अथवा अन्यतर के लिये जिस हेतु का, धर्मी में, सत्त्व अर्थात् सद्हेतु का प्रथम रूप पक्षधर्मत्व सिद्ध नहीं रहता या संदिग्ध रहता हो, उसे उभयासिद्ध; अथवा अन्यतरासिद्ध कहा जाता है।[२८२] इसी प्रकार जो हेतु पक्ष में स्वयं अथवा उसका आश्रय असिद्ध या संदिग्ध हो, उसे संदिग्धासिद्ध अथवा आश्रयासिद्ध कहा जाता है।[२८३] 'न्यायबिन्दु' गत प्रथम और तृतीय भेदों के उदाहरण 'न्यायप्रवेश' के समान हैं,[२८४] किन्तु द्वितीय और चतुर्थ भेदों के उदाहरणों में वैभिन्य है।[२८५] द्वितीय भेद अन्यतरासिद्ध को प्रदर्शित करने के लिये, प्रथम में एक ही उदाहरण दिया गया है, जबकि द्वितीय में प्रतिवादी असिद्ध और वादी असिद्ध के दो पृथक्-पृथक् उदाहरण प्रयुक्त किये गये हैं। इन सभी का विवेचन प्रशस्तपाद के समान ही है, अतः पुनः निरूपण करना पिष्टपेषण होगा। धर्मकीर्ति ने उक्त चारों असिद्ध भेदों की विवेचना के अनन्तर कुमारिल की तरह धर्मी के असिद्ध रहने पर हेतु की असिद्धि भी मानी है।[२८६] इसी प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति ने हेतु के केवल सिद्ध न रहने के ही उदाहरण दिये हैं, संदिग्ध रहने के नहीं। इसलिये कुमारिल का विवेचन उनसे उत्कृष्ट जान पड़ता है।

अनैकान्तिक

असिद्ध की भांति न्यायप्रवेशकार ने अनैकान्तिक के इन छः भेदों—(१) साधारण, (२) असाधारण (३) सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक, (४) विपक्षैकदेशवृत्तिपक्षव्यापी, (५) उभयपक्षैकदेशवृत्ति एवं (६) विरुद्ध अव्यभिचारी—को भी लक्षणों की अपेक्षा दृष्टान्त के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है।[२८७] प्रशस्तपाद के संदिग्ध तथा अनध्यवसित को यहाँ विपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापी तथा असाधारण के रूप में व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार साधारण भी उनके संदिग्भ लक्षण से गृहीत किया जा सकता है। किन्तु उनका यह अनैकान्तिक भेद-विवेचन 'वैशेषिक-न्यायसूत्र' तथा 'न्याय-वैशेषिक भाष्य' की अपेक्षा अधिक व्यापक जान पड़ता है, क्योंकि उन सभी में अनैकान्तिक एक ही प्रकार का माना गया है। उत्तरवर्ती सभी दार्शनिकों ने इन्हीं भेदों को किसी न किसी रूप में अपनाया है। इनमें से साधारण का पक्षसपक्षविपक्षव्यापक, असाधारण का अनध्यवसित तथा तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम का इसी रूप में श्रीधर तथा भासर्वज्ञ के अनैकान्तिक भेद और अनध्यवसित विवेचन में विस्तृत रूप से वर्णन किया जा चुका है। असाधारण की व्याख्या असाधारण के रूप में भी वैशेषिक, न्याय और मीमांसा दर्शनों के हेत्वाभास निरूपण के प्रसङ्ग में की जा चुकी है। अतः इनकी पुनः व्याख्या करना पुनरुक्ति होगी। फिर न्यायप्रवेशकार के विवेचन में कोई ऐसी नवीन बात उपलब्ध नहीं होती, जो उल्लेखनीय हो। विरुद्धाव्यभिचारी की जो व्याख्या श्लोकवार्तिक में पायी जाती है, वह इस ग्रन्थ से काफी प्रभावित जान पड़ती है, क्योंकि दोनों ने इसे, एक ही धर्मी में, परस्पर विरुद्ध दो परिणामों को सिद्ध करने वाला तथा दोनों हेतुओं के समुदाय रूप में एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण, संशय का उत्पादक होने के कारण, अनैकान्तिक का एक भेद माना है। किन्तु यह विरुद्ध-अव्यभिचारी हेत्वाभास न्यायसूत्रकार समर्थित प्रकरणसम हेत्वाभास का ही अपर नाम जान पड़ता है।

विरुद्धाव्यभिचारी की व्याख्या करते हुए धर्मोत्तर ने लिखा है कि, जो हेत्वन्तर (प्रतिहेतु) के द्वारा सिद्ध किये गये धर्मी के विरुद्ध हो और उसमें व्यभिचार की प्रसक्ति न हो सके तो उसे विरुद्धाव्यभिचारी कहा जाता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' तथा 'पर्वतो वह्न्यभाववान् जलात्।' यहाँ द्वितीय स्थल में, प्रतिहेतु धूम के द्वारा सिद्ध किये गये वह्निविशिष्ट पर्वत के विरुद्ध वह्न्यभावविशिष्ट पर्वत की तरह, जलविशिष्ट जलाशय भी विरुद्ध धर्मी होगा, किन्तु जलाशय पर्वत में व्यभिचरित नहीं हो सकता, इस कारण इसे विरुद्ध अव्यभिचार कहा जाता है। अथवा जो विरुद्ध होते हुए अन्य साधन से सिद्ध किये हुए धर्म के विरुद्ध अर्थ का साधन करने के कारण, अव्यभिचारी होता है, वह भी अपने साध्य से व्यभिचरित न होने के कारण, विरुद्ध अव्यभिचारी कहलाता है। जैसे, पूर्वोक्त रीति से, जो विरुद्ध होते हुए, अन्य साधन धूम के द्वारा सिद्ध किये गये धर्म अग्नि के विरुद्ध धर्म जल को, सिद्ध कर सकने की क्षमता न रख सकने के कारण, अव्यभिचारी माना जाता है, वह भी अपने साधन अग्नि से व्यभिचरित न होने के कारण विरुद्धाव्यभिचारी कहलाता है।[२८८] इन विकल्पों द्वारा, धर्मोत्तर ने न्यायप्रवेशकार का मत ही प्रतिपादित किया है, किन्तु सिद्धान्ततः वे, इसको धर्मकीर्ति की तरह, हेत्वाभास नहीं मानते। अनुमान के विषय में असंभव होने के कारण ही धर्मकीर्ति ने संशय के जनक इस विरुद्ध अव्यभिचारी को हेत्वाभास के रूप में व्यक्त नहीं किया है।[२८९] जिसके द्वारा अनुमान का सद्भाव होता है, वही अनुमान का विषय होता है। प्रमाण सिद्ध त्रैरूप्य के द्वारा, अनुमान का सद्भाव होता है इस कारण त्रैरूप्य ही अनुमान का विषय कहलाता है।[२९०] सिद्धान्ततः कार्य, स्वभाव तथा अनुपलब्धि ये तीन ही त्रैरूप्य सम्पन्न सद्हेतु माने गये हैं, अतः इनमें विरुद्धता की संभावना नहीं हो सकती। इनसे भिन्न अन्य कोई हेतु अव्यभिचारी नहीं हो सकता, इसलिये इन्हीं तीनों में हेतुता का निर्वचन किया जा सकता है।[२९१] अर्चट ने भी इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि किसी भी अनुमान में साध्य निश्चय के लिये, एक ही हेतु का उपादान किया जाता है, इसलिये उसके विरुद्ध दूसरे हेतु की संभावना नहीं रहती। न्यायप्रवेशकार के प्रयोग में प्रयुक्त 'शब्द अनित्य है, कृतक होने से'—'शब्द नित्य है, श्रावण होने से' इन अनुमानों में या तो हेतु कृतकत्व द्वारा, पक्ष शब्द में, साध्य अनित्यत्व की सिद्धि होगी अथवा हेतु श्रावणत्व द्वारा पक्ष शब्द में साध्य नित्यत्व का निश्चय होगा। ऐसा कदापि संभव नहीं हो सकता कि दोनों हेतुओं के द्वारा, धर्मी शब्द में, अनित्यत्व तथा नित्यत्व उभय साध्य का निश्चय संपादित हो। जिस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव नियत होगा, वही अपने साध्य की अनुमिति में साधक होगा। उक्त स्थल में दोनों का अविनाभाव होना संभव नहीं। अतः दोनों हेतु, एक ही धर्मी में, परस्पर विरुद्ध साध्य की सिद्धि कर सकने में असमर्थ हैं, इसलिये विरुद्धाव्यभिचारी को हेत्वाभास नहीं माना जा सकता।[२९२]

डॉ. रेण्डल-मत का खण्डन

डा० रेण्डल का मत है कि, 'न्यायद्वार' और 'न्यायप्रवेश' में समान रूप से विरुद्धाव्यभिचारी का उल्लेख उपलब्ध होता है, इस कारण यदि दिङ्नाग को इस दोष का जनक माना जाय, तो यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि प्रशस्तपाद, दिङ्नाग के पश्चाद्वर्ती आचार्य हैं, कारण उन्होंने इसी नाम से इस दोष का विवेचन किया है, विवेचन ही नहीं बल्कि इसके खण्डन के लिये युक्तियाँ भी प्रतिपादित की हैं। इस कथन की पुष्टि में

प्रमाण यह है कि दिङ्नाग पूर्व किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इस दोष का कोई संकेत नहीं मिलता ।[२९३] किन्तु यह मत अत्यन्त भ्रामक ही जान पड़ता है, क्योंकि प्रशस्तपाद ने विरुद्धाव्यभिचारी नामक हेत्वाभास का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है । उन्होंने संदिग्ध हेत्वाभास को ही केवल संशय का कारण माना है । 'न्यायभाष्य' में, प्रकरणसम हेत्वाभास के, समानधर्मक एवं संशयकारणक होने के कारण; उसको संशयसम जाति तथा सव्यभिचार हेत्वाभास से अभिन्न मानी जाने वाली शंकाओं का निरास कर, उसे संशयकारणक नहीं मानकर पृथक् हेत्वाभास माना गया है । संभवतः इसी प्रकार अपने मत की पुष्टि करने के लिये भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी उक्त आपत्तियों के समान कुछ आशंकाओं को पूर्वपक्ष में रख सिद्धान्त मत में उनका खण्डन किया है । जैसा कि उन्होंने लिखा है 'जिस प्रकार, सपक्ष और विपक्ष में पाया जाने वाला हेतु, साध्य के संशय के कारण होता है, उसी प्रकार कुछ विद्वानों के मत से, एक ही पक्ष में, परस्पर दो साध्यों के साधक एवं समान बल वाले दो हेतु जहाँ दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ उस पक्ष में, दोनों साध्यों का संशय होगा । जैसे, धर्मी मन में परस्पर विरुद्ध साध्य मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व के साधक समान बल वाले हेतु क्रियावत्त्व और अस्पर्शत्त्व है । अतः यहाँ मन क्रियाशील होने से मूर्त है' अथवा मन अस्पर्शयुक्त होने के कारण, अमूर्त है—इत्याकारक संशय उत्पन्न होने के कारण, उन विद्वानों का आग्रह है कि इसे भी संदिग्ध नामक स्वतंत्र हेत्वाभास माना जाय ।[२९४] इसकी आलोचना करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि ऐसे हेतु को, संदिग्ध नहीं अपितु अनध्यवसित या असाधारण नही कहा जा सकता है, कारण, जिस प्रकार, अचाक्षुषत्व और प्रत्यक्षत्व, दोनों में से एक-एक प्रत्येक धर्मी गुण से भिन्न अन्य स्थलों में, पृथक् रूप से रहने पर भी, सम्मिलित रूप से केवल धर्मी गुण में रहने के कारण, असाधारण होते हैं, उसी प्रकार, क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व ये दोनों भी, स्वतन्त्ररूप से अलग-अलग धर्मी मन से भिन्न वस्तुओं में रहते हुए भी, मिश्रित (मिलित) रूप से केवल धर्मी मन में ही रहते हैं । अतः क्रियावत्त्व से विशिष्ट अस्पर्शवत्त्व हेतु को असाधारण ही माना जा सकता है, संदिग्ध नहीं ।[२९५] पुनः आशंका उपस्थित करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि यदि असाधारण हेतु को संशय का हेतु न माना जाय अर्थात् एक ही धर्मी में विरुद्ध दो धर्मों के ज्ञान को संशय का जनक न माना जाय तो महर्षि कणाद के,—'तुल्यजाती-येष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्—[२९६] 'शब्द का विशेषधर्म, समान जातीय गुणों तथा असमानजातीय द्रव्य तथा कर्म दोनों में दृष्ट होने के नाते, शब्द में गुण आदि के संशय का कारण होता है—इस सूत्र में प्रयुक्त 'उभयथा दृष्ट'—'दोनों में दृष्ट होने के कारण' इस अंश के साथ विरोध होगा; क्योंकि इस सूत्र में महर्षि ने एक ही धर्मी शब्द में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों के ज्ञान को संशय का कारण बतलाया है । यही बात पिछले दो सूत्रों 'दृष्टंच दृष्टवत्'[२९७] 'पूर्व अनुभव किये हुए धर्मीगत सामान्य धर्म के समान ही पुरोवर्ती में होने वाला सामान्य धर्म भी संशय का कारण है तथा 'यथादृष्ट-मयथादृष्टत्वाच्च'—[२९८] 'पूर्वदृष्ट वस्तु के कदाचित विपरीत देखने से, उसमें जो संशय उत्पन्न होता है, वह एक धर्मीविषयक संशय है'—से भी प्रमाणित की गयी है । अभिप्राय यह कि प्रथम सूत्र से आत्मा में अमूर्तत्व के साथ रहने वाला, अस्पर्शवत्त्व भी मन में है तथा परमाणु में मूर्तत्व के साथ रहने वाला क्रियावत्त्व भी मन में है, अतः यह संशय होगा कि मन मूर्त हैं या अमूर्त ? द्वितीय सूत्र के अनुसार, यथादृष्ट–मूर्तत्व की व्याप्ति से विशिष्ट क्रियावत्त्व के साथ मन की उपलब्धि होती है एवं इसी प्रकार इससे विरुद्ध अयथादृष्ट

अमूर्तत्व के साथ अवम्यमेव रहने वाले अस्पर्शवत्त्व के साथ भी मन की प्रसक्ति होती है, अतः यथादृष्ट और अयथादृष्ट अर्थात् उभयथादृष्ट रूप में, मन की, उक्त दोनों प्रकार से उपलब्धि होने के कारण, 'मन, क्रियाशील होने से, मूर्त है' अथवा मन, अस्पर्शयुक्त होने से, अमूर्त है'—इत्याकारक संशय स्वाभाविक रूप से होता है। इसलिये असाधारण को संशय का कारण न मानने पर सूत्र विरोध होगा। इसका समाधान देते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि यहाँ कोई शास्त्र विरोध नहीं होता, कारण एक ही विषय के दो विरुद्ध प्रकार के ज्ञान से संशय होता है, एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के ज्ञान से नहीं। अभिप्राय यह कि एक ही विषय को दो प्रकार से देखने पर ही संशय की उत्पत्ति हो सकती है, एक अधिकरण में देखने से नहीं। फिर क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व दोनों, समान बलशाली हेतु होने के कारण, दोनों में से कोई भी निश्चय का उत्पादन नहीं कर सकता। निश्चय की इस अनुत्पादकता से, उनमें संशय की कारणता भी उपपादित नहीं हो सकती। वास्तव में मूर्तत्व का साधक क्रियावत्त्व तथा अमूर्तत्व का साधक अस्पर्शवत्त्व ये दोनों ही हेतु समान बल वाले नहीं है, क्योंकि इन दोनों में से एक अर्थात् अस्पर्शवत्त्व का साध्य अमूर्तत्व मन में, 'तदभावादणुमनः'—[२९९] 'विभु न होने से मन अणु है' इस सूत्र के द्वारा बाधित हो रहा है, इसलिये, जिसे पूर्वपक्षी संदिग्ध हेत्वाभास कहते हैं, वह संदिग्ध हेत्वाभास नहीं, प्रत्युत विरुद्ध का ही एक भेद है।[३००] उक्त भाष्य विवेचना से यही ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद ने या तो अपने दार्शनिक विचारों को सूत्रकार से समन्वित करने के लिये उक्त आशंका तथा आशंका-परिहारार्थ युक्तियाँ प्रतिपादित की हैं अथवा न्यायभाष्यकार के उक्त प्रकरणसम के प्रसङ्ग में होने वाली आशंकाओं को ही, यहाँ पूर्वपक्ष में रहकर खण्डन किया गया है। दूसरी बात यह है कि दिङ्नाग ने विरुद्धाव्यभिचारी दोष को अनैकान्तिक का ही एक भेद माना है, जबकि प्रशस्तपाद ने इसे विरुद्ध में अन्तर्भूत किया है। तीसरे इस समस्त भाष्य विवेचन में 'न्यायभाष्य' के समान समान बलशाली विरुद्ध हेतुओं में विरुद्ध पद का प्रयोग तो हुआ है, किन्तु अव्यभिचारी पद को कहीं भी स्वरूपतः अथवा अर्थतः ग्रहण नहीं किया गया है। चौथे यदि विवेच्य सामग्री की साम्यता के आधार पर ही यदि दिङ्नाग को प्रशस्तपाद का पूर्ववर्ती माना जाय, तो न्यायसूत्रकार तथा न्याय-भाष्यकार, जिन्होंने प्रकरणसम हेत्वाभास की इसी प्रकार विवेचना की है, उनको भी दिङ्नाग का उत्तरवर्ती माना जा सकता है, जो कि सर्वथा असंगत तथा युक्तिविहीन तर्क है। पाँचवे यद्यपि यह सही है कि विरुद्धाव्यभिचारी नाम से इस भेद का उल्लेख कहीं भी दिङ्नाग पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं हुआ है, फिर भी प्रकरणसम के रूप में इसका विन्यास महर्षि गौतम ने दिङ्नाग के सैकड़ों वर्ष पूर्व कर दिया था। शाबर-भाष्य में भी इस प्रकार के विरोधी हेतुओं की चर्चा आयी है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। छठे प्रशस्त-पाद ने नहीं, प्रत्युत उनके टीकाकार व्योमशिवाचार्य[३०१] और श्रीधर[३०२] ने इसका इसी नाम से अनेक बार प्रयोग किया है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रशस्तपाद के विवेचन को ही दृष्टि में रखते हुए दिङ्नाग ने, न्याय सम्मत प्रकरणसम हेत्वाभास से पृथक्ता सिद्ध करने के लिये ही, शब्दान्तर से इस विरुद्धाव्यभिचारी की कल्पना की है, क्योंकि उनके विवेचन तथा लक्षण आदि में प्रशस्तपाद का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः डा० रेण्डल की परिकल्पना उचित नहीं जान पड़ती।

आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रशस्पपाद और उद्योतकर की तरह ही अनैकान्तिक का लक्षण व्यक्त किया है—'हेतु के तृतीय रूप असपक्षासत्त्व (विपक्षासत्त्व) की, जिस हेतु

में असिद्धि पायी जाय, वह अनैकान्तिक कहलाता है।[३०३] जैसे, शब्द अनित्य है प्रमेय होने से।' यहाँ हेतु प्रमेयत्व साध्य अनित्यत्व के समानजातीय पक्ष और असमानजातीय विपक्ष दोनों में पाया जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र या एक देश में रहने वाले, इसी असपक्ष-असत्त्व रूप के संदिग्धावस्था में होने पर भी अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। जैसे, कोई विवक्षित पुरुष असर्वज्ञ अथवा राग आदि युक्त है, वक्ता होने से। यहाँ हेतु वक्तृत्व संदिग्ध विपक्षव्यावृत्तिविशिष्ट है, क्योंकि यहाँ विपक्षभत सर्वज्ञ अथवा वीतराग में भी वक्तृत्व पाया जाता है। अतः विपक्ष में निश्चित असत्त्व न होने के कारण, संशय हो जाता है इसलिये यह भी अनैकान्तिक कहलाता है।[३०४] धर्मकीर्ति ने इन्हीं दो अर्थात् साधारण तथा विपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापी भेदों का विवेचन किया है, किन्तु धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के सूत्र में प्रयुक्त 'शब्दस्यानित्यत्वादिके' इत्याकारक पद से साध्य अप्रयत्नान्तरीयकत्व तथा प्रयत्नान्तरीयकत्व तथा 'प्रमेयत्वादिको' पद में प्रयुक्त आदि पद से हेतु—अनित्यत्व-अनित्यत्व का ग्रहण कर अन्य दो भेदों के साथ प्रथम, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम इन चार 'न्यायप्रवेश' गत भेदों का समर्थन किया है।[३०५] उक्त चारों के उदाहरण धर्मोत्तर ने न्यायप्रवेशकार के समान ही दिये हैं।

इस स्थल विशेष में धर्मकीर्ति अथवा धर्मोत्तर द्वारा असाधारण की कोई चर्चा नहीं हो पायी है।

विरुद्ध

असिद्ध तथा अनैकान्तिक की भांति 'न्यायप्रवेश' में विरुद्ध भेदों—(१) धर्मस्वरूप विपरीत साधन, (२) धर्मविशेषविपरीत साधन, (३) धर्मस्वरूपविपरीतसाधन एवं (४) धर्मविशेषविपरीतसाधन को भी दृष्टान्तों के आधार पर समझाया गया है।[३०६] कुमारिल के (विरुद्ध भेदों) बाध भेदों के विवेचन में इन सभी भेदों की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है। अन्तर केवल इतना ही है कि कुमारिल ने सभी में विपरीत साधन पद के स्थान में बाध का प्रयोग किया है। कुमारिल का (विरुद्धभेद) बाध भेद विवेचन इन्हीं से प्रभावित जान पड़ता है, क्योंकि इस प्रकार का विवेचन, उनके पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। अतः इनकी पुनः व्याख्या करना अपेक्षित नहीं है।

मुख्यतः धर्मकीर्ति ने भी कुमारिल की तरह एक ही प्रकार विरुद्ध माना है, जो धर्मस्वरूप विपरीत साधन ही है, प्रशस्तपाद के विरुद्ध लक्षण में संदिग्ध 'विशेषण को विकल्प के रूप में जोड़कर धर्मकीर्ति ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—सपक्षसत्त्व और असपक्ष-असत्त्व इन दोनों रूपों के असिद्ध, संदिग्ध अवस्था में होने अथवा विपरीत सिद्धि होने के कारण, जो दोष उत्पन्न होता है, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे, शब्द नित्य है, कृतक अथवा प्रयत्नान्तरीयक होने से। इन दोनों हेतुओं (कृतकत्व और प्रयत्नान्तरीयकत्व) में सद्हेतु के द्वितीय रूप सपक्षसत्त्व तथा तृतीय रूप असपक्षासत्त्व का विपर्यय पाया जाता है, क्योंकि दोनों–हेतुओं की सपक्षभत नित्य पदार्थों में, निश्चित रूप से सत्ता नहीं पायी जाती, अपितु विपक्षभत अनित्य पदार्थों में ही निर्णीत रूप से इसकी विद्यमानता प्रसक्त होती है। इसलिये सपक्ष में न रहने तथा विपक्ष में ही रहने के कारण, दोनों की विपरीत सिद्धि होने पर, यह दोनों हेतु, अपने साध्य नित्यत्व के विपरीत अनित्यत्व के साधक होने के कारण, विरुद्ध कहलाते हैं।[३०७] धर्मोत्तर ने भी इन्हीं का समर्थन किया है।[३०८]

धर्मकीर्ति ने इन दोनों हेतुओं के अतिरिक्त एक इष्टविघातकृत विरुद्ध भेद का भी पूर्वपक्ष में विवेचन किया है और इसके उदाहरण के लिये न्यायप्रवेशनिष्ठ द्वितीय भेद के उदाहरण को प्रयुक्त किया है। जैसे, चक्षु आदि इन्द्रियाँ पर के लिये (पुरुष के लिये) हैं, संघात होने से।[३०९] यहाँ वादी सांख्य मतावलम्बी को, चक्षुरादि का असंहत पारार्थ्य ही संघात रूप से इष्ट है। इसके विपरीत होगी—'संहत पारार्थ्य की सत्ता' इसलिये संघात रूप हेतु द्वारा, इष्ट असंहत के विपरीत, संहत को सिद्ध करने के कारण ही यह इष्ट-विघातकृत तृतीय विरुद्ध कहलाता है। वादी सांख्य दार्शनिक 'आत्मा है', इसको सिद्ध करने के लिए प्रतिवादी से पूछने पर—क्यों है, उक्त अनुमान का उद्भावन करता है। यहाँ संघात रूप हेतु विपर्यय से व्याप्त है, क्योंकि यह हेतु साध्य के विपर्यय से व्याप्त है। जो जिसका उपकारक होता है, वह उसका जनक होता है। और कार्य जायमान होने के कारण युगपत् या क्रम से संहत होता है। इसलिये चक्षुरादि पदार्थ है का अर्थ है—वे संहत परार्थ हैं, असंहत परार्थ नहीं। अतः उक्त दोनों हेतुओं से व्यतिरिक्त एवं अनुक्त होने के कारण यह विपर्ययस्त हेतु पृथक् इष्टविघातकृत कहलाता है।[३१०] आचार्य धर्मकीर्ति ने इसे पृथक् भेद नहीं माना है, किन्तु विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास में अन्तर्विष्ट किया है। उन्होंने अनुक्त साध्य को भी साध्य माना है,[३११] अतः साध्य असंहत पारार्थ्य के विपरीत संहत पारार्थ्य को सिद्ध करने के नाते, यह विरुद्ध है। अथवा इसमें व्यतिरेक के असिद्ध तथा अन्वय के संदिग्ध होने पर, इसे अनैकान्तिक भी कहा जा सकता है। जैसे, यह वीतराग या सर्वज्ञ है, वक्ता होने से। यहाँ 'जो-जो वीतराग या सर्वज्ञ नहीं होता वह-वह वक्ता भी नहीं होता' इस प्रकार का व्यतिरेक नहीं बन पाता, क्योंकि रागादियुक्त तथा असर्वज्ञ पुरुष भी वक्ता हो सकता है, इसलिये यहाँ व्यतिरेक असिद्ध होने पर अन्वय भी संदिग्ध ही रहेगा। इसलिये यह अनैकान्तिक ही है।[३१२] इसी प्रकार जहाँ अन्वय असिद्ध और व्यतिरेक संदिग्ध होता है, वह भी अनैकान्तिक है, जैसे, जीवित शरीर सात्मक है, प्राण आदि विशिष्ट होने से।[३१३] यहाँ प्राणादिमत्त्व हेतु को धर्मोत्तर ने असाधारण बतलाया है, क्योंकि जो आत्मा के साथ वर्तमान रहता है, वह सात्मक तथा जिसमें आत्मा निष्क्रान्त हो गयी है, वह निरात्मक कहलाता है, तदनुसार सात्मक और निरात्मक इन दो राशियों को छोड़कर अन्य कोई राशि ही लोक में प्रसिद्ध नहीं है, जिसमें प्राणादिमत्त्व पाया जाय इसलिये सात्मक और निरात्मक सबसे व्यावृत्त होने के कारण, इसके व्यतिरेक तथा अन्वय की सिद्धि नहीं की जा सकती। इसलिये अन्वय व्यतिरेक में संदेह होने के कारण यह असाधारण अनैकान्तिक है।[३१४] इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक की असिद्धि अथवा संदेह होने के कारण, धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने इष्टविघातकृत दोष को अनैकान्तिक में समाविष्ट कर लिया है।[३१५] किन्तु जहाँ तक इष्टविघातकृत को विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक कहने का प्रश्न है, वहाँ धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर की व्याख्यायें किसी सीमा तक सही मानी जा सकती है, किन्तु धर्मकीर्ति का 'जीवितशरीर सात्मक (अर्थात् निरात्मक नहीं है) है, प्राणादि युक्त होने से' इस प्रयोग में प्राणादिमत्त्व हेतु को हेत्वाभास कहना उचित नहीं, क्योंकि यह विशुद्ध व्यतिरेकी हेतु है, जैसा कि द्वितिय अध्याय में पहले बतलाया जा चुका है। इसी प्रकार, धर्मोत्तर का, इसे असाधारण हेतु घोषित करना भी न्यायप्रवेशकार के मत से असंगत जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने पक्षमात्रवृत्ति हेतु को ही असाधारण कहा है। आशय यह कि जिस हेतु के केवल पक्षवत्ति रहने के कारण, अन्वय अथवा व्यतिरेक व्याप्तिमूलक दृष्टांत

नहीं मिल पायें, वही असाधारण कहलाता है। इसमें यद्यपि अन्वयमूलक दृष्टान्त नहीं मिल पाते, पर व्यतिरेक मूलक दृष्टान्त तो मिल ही सकते हैं। जैसे, 'जो-जो सात्मक नहीं है वह-वह प्राण आदि युक्त भी नहीं है, जैसे, घट, पट आदि जड़ पदार्थ' इसलिये इसे असाधारण नहीं कहा जा सकता।

जैन मत

जैन परम्परा में हेत्वाभासों का स्पष्ट विवेचन सिद्धसेन दिवाकर के 'न्यायावतार' ग्रन्थ में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। हेत्वाभास सामान्य का लक्षण देते हुए उन्होंने लिखा है कि अन्यथानुपपन्नत्व ही सद्हेतु का एक मात्र लक्षण है, जिस हेतु में इस लक्षण की अप्रतीति, संशय या विपरीतता प्रतिभासित होती है, उसे हेत्वाभास कहा जाता है। असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं।[३१६] प्रायः सभी श्वेताम्बर जैन आचार्यों ने इन्हीं तीन हेत्वाभासों का समर्थन किया है। अकलङ्क ने भी सिद्धसेन दिवाकर की तरह सद्हेतु का नियामक अन्यथानुपपन्नत्व को ही माना है। इसलिये स्वाभाविक रूप से अन्यथानुपपन्नत्व का अभाव होने पर एक ही हेत्वाभास होगा जैसा कि उन्होंने कहा है,—"वस्तुतः अकिञ्चितकर नामक एक ही हेत्वाभास होता है, किन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है, इसलिये विरुद्ध, असिद्ध, संदिग्ध, अकिञ्चितकर आदि चार भेदों में उसका विस्तार किया जा सकता है।[३१७] उनका अनुगमन करते हुए प्रायः सभी दिगम्बर जैन आचार्यों ने इन्हीं चार हेत्वाभासों को मान्य किया है। इस प्रकार जैन न्याय परम्परा में श्वेताम्बर तथा जैनाचार्यों के हेत्वाभास निरूपण में तीन तथा चार हेत्वाभास माने गये हैं।

असिद्ध

जिस हेतु में अपने साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति अनिश्चित रहती है, वह प्रसिद्ध कहलाता है।[३१८] इस लक्षण में 'प्रमाणेन' पद जोड़कर वादि देवसूरि ने भी यही लक्षण मान्य किया है।[३१९] अकलंक ने 'सर्वथात्ययात्' तथा 'अन्यथा च संभूष्णु' पदों द्वारा उक्त सिद्धसेन दिवाकर के लक्षण का समर्थन किया है।[३२०] तदनुसार, जिस हेतु का पक्ष में सर्वथा अभाव पाया जाय अथवा जिसका साध्य के साथ सर्वथा अविनाभाव न हो, उसे असिद्ध कहा जा सकता है। माणिक्यनन्दी[३२१] तथा हेमचन्द्र[३२२] ने अकलंक एवं धर्मभूषण[३२३] तथा यशोविजय[३२४] ने न्यायावतारकार के लक्षण का समर्थन किया है।

माणिक्यनन्दी ने संग्राहक रूप से यह नहीं कहा कि असिद्ध कितने प्रकार का होता है, किन्तु उनके विवेचन से ज्ञात होता है कि उन्हें तीन प्रकार के—स्वरूपासिद्ध, संदिग्धासिद्ध तथा अन्यतरासिद्ध भेद ही अभिप्रेत थे। 'असत्सत्ता' अर्थात् जिस हेतु की सत्ता स्वरूपतः पक्ष में विद्यमान न हो, उसे स्वरूपासिद्ध तथा 'निश्चय' अर्थात् जिन हेतुओं में अविनाभाव निश्चय संदिग्ध हो अथवा अज्ञात हो, उसे संदिग्धासिद्ध अथवा अन्यतरासिद्ध कहा जाता है।[३२५] वादि देवसूरि और यशोविजय ने उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध भेद से दो प्रकार के असिद्ध भेद माने हैं।[३२६] हेमचन्द्र ने दोनों का समन्वय करते हुए मुख्यतः स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध ये दो भेद तथा पुनः संदिग्धासिद्ध के वाद्यसिद्ध—प्रतिवाद्यसिद्ध और उभयासिद्ध ये तीन भेद किये हैं।[३२७] धर्मभूषण ने हेमचन्द्र के दो

मुख्य भेदों को स्वीकार किया है।[३२८] इन सब भेदों का विवेचन पूर्व वर्णित असिद्ध भेदों के समान है।

इसी प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने गम्यगमकभाव की आधार शिला केवल अविनाभाव को माना है भिन्न अधिकरणता या अभिन्न अधिकरणता नहीं। इसीलिये उन्होंने हेतु में केवल अविनाभाव को ही आवश्यक माना है, पक्षधर्मता को नहीं। इसलिये हेमचन्द्र ने कहा है कि पक्षधर्मता के अभाव में भी हेतु में अविनाभाव के बल से साध्य की सिद्धि की जा सकती है। अतः माणिक्यनन्दी के 'असत्सत्ता'–अविद्यमान सत्ताक' तथा हेमचन्द्र के 'ना सन्न निश्चितसत्त्व' का वास्तविक अर्थ यह है कि जिस पक्ष में हेतु की अविनाभाविनी सत्ता निश्चित रूप से नहीं पायी जाती, वही अविद्यमान सत्ताक आदि कहा गया है। अतः असिद्ध हेत्वाभास तभी होता है, जब हेतु के आवश्यक तत्त्व अन्यथानुपपत्ति का पक्ष में अभाव होते हुए साध्य के साथ उसके अविनाभाव का अनिश्चय, संदेह या अज्ञान हो। पक्षधर्मत्व अथवा अपक्षधर्मत्व की यहाँ उपेक्षा की गयी है। अपने मत की पुष्टि के लिये हेमचन्द्र ने कुमारिल भट्ट का एक श्लोक भी उद्धृत किया है— ब्राह्मण पुत्र के ब्राह्मणत्व का अनुमान उसके पिता के ब्राह्मणत्व धर्म से सामान्यतः हो जाता है। लोकप्रसिद्ध होने के कारण इस अनुमान में, पक्षधर्मता की अपेक्षा नहीं रहती।[३२९]

न्यायसार में वर्णित विशेष्यासिद्ध आदि अनेक अवान्तर भेदों को प्रभाचन्द्र[३३०] ने माणिक्यनन्दी समर्थित भेदों में तथा हेमचन्द्र[३३१] ने वादी-प्रतिवादी तथा उभयासिद्ध में ही समाविष्ट किया है।

विरुद्ध

साध्य के अभाव में निश्चित रूप से उपपन्न होने वाला हेतु विरुद्ध कहलाता है।[३३२] तात्पर्य यह कि साध्य के विपरीत यानी साध्याभावीय विपक्ष के साथ, जिस हेतु का अविनाभाव निश्चित हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। अकलंक[३३३] ने 'अन्यथाभावात्' तथा 'अन्यथैववोपपत्त्या'; माणिक्यनन्दी[३३४] ने 'विपरीतनिश्चिताविनाभावः'; वादि देवसूरि[३३५] ने 'साध्यविपर्ययेणैव यस्यान्यथानुपपत्तिः अध्यवसीयते'; हेमचन्द्र[३३६] ने 'विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमान'; धर्मभूषण[३३७] और यशोविजय[३३८] ने 'साध्यविपरीत व्याप्त' पदों को अपने लक्षण में प्रविष्ट कर, सिद्धसेन का ही समर्थन किया। जैसे, शब्द का नित्य है, कार्य होने से। 'प्रमाणमीमांसा' के इस अनुमान में हेतु कार्यत्व, इसलिये विरुद्ध कहलाता है कि उसकी साध्य नित्यत्व के विपरीत अनित्यत्व के साथ निश्चित व्याप्ति पायी जाती है।

प्रभाचन्द्र,[३३९] तथा हेमचन्द्र[३४०] ने 'न्यायसार' में प्रतिपादित आठ भेदों को जैसे का तैसा अपना लिया है। 'न्यायसार' के अनुसार विरुद्ध हेत्वाभास के विद्यमान सपक्ष युक्त तथा अविद्यमान सपक्ष युक्त चार-चार भेदों की आलोचना करते हुए डा० महेन्द्रकुमार जैन ने लिखा है कि ये सभी विपक्ष में अविनाभाव पाये जाने के कारण ही विरुद्ध हैं। हेतु का पक्ष में होना कोई आवश्यक नहीं है। अतः सपक्षसत्त्व के अभाव को विरुद्धता का नियामक नहीं माना जा सकता, अपितु विपक्ष के साथ ही उसके अविनाभाव का निश्चित होना विरुद्धता का आधार है।[३४१] जैन-त्रैरूप्य खण्डन को दृष्टि में रखते हुए यह आलोचना संगत जान पड़ती है। प्रायः सभी जैन दार्शनिकों ने पक्षसत्त्व,

सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों की आलोचना की है। उक्त दोनों आचार्यों के त्रैरूप्य खण्डन के समक्ष इस प्रकार के भेद ज्ञापित करना असंगत जान पड़ता है।

अनैकान्तिक

जो हेतु साध्य तथा साध्याभाव दोनों से युक्त अर्थात् दोनों में रहे उसे अनैकान्तिक कहा जाता है।[३४२] 'प्रमाणसंग्रह' और 'सिद्धिविनिश्चय वृत्ति' में अकलंक ने इसी लक्षण का समर्थन किया है[३४३] एवं विपक्ष में भी रहने के कारण इसे व्यभिचारी भी कहा है।[३४४] माणिक्यनन्दी ने अकलंक के द्वितीय लक्षण को स्वीकार किया है।[३४५] वादि देवसूरि और यशोविजय के अनुसार, जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति संदिग्ध हो, उसे अनैकान्तिक कहा जाता है।[३४६] उक्त सभी मतों का संकलन करते हुए हेमचन्द्र ने जिस हेतु का अविनाभाव असिद्ध अथवा संदिग्ध हो तथा जो साध्याभावीय स्थलों में भी उपलब्ध होता हो, उसे अनैकान्तिक कहा है।[३४७] धर्मभूषण ने पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में रहने वाले हेतु को अनैकान्तिक माना है।[३४८] इस प्रकार जैन परम्परा में अनैकान्तिक, व्यभिचारी आदि नामों से इस हेत्वाभास का निर्वचन किया गया है।

माणिक्यनन्दी ने निश्चितविपक्षवृत्ति तथा शंकितविपक्षवृत्ति भेद से दो प्रकार के अनैकान्तिक माने हैं।[३४९] उक्त पदों के स्थान पर वादि देवसूरि और यशोविजय ने, 'निर्णीतविपक्षवृत्तिक' और 'संदिग्धविपक्षवृत्तिक'[३५०] एवं हेमचन्द्र ने 'असिद्ध अनैकान्तिक' और 'संदेहअनैकान्तिक'[३५१] पदों को व्यवस्थित करते हुए यही बात कही है। धर्मभूषण ने इस प्रसङ्ग में माणिक्यनन्दी का समर्थन किया है।[३५२] इन भेदों की 'सपक्षविपक्षव्यापक' तथा सपक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति' के रूप में श्रीधर के संदिग्ध भेदों की व्याख्या के समय चर्चा की जा चुकी है। प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र ने न्यायसारीय समस्त अनैकान्तिक भेदों का भी विवेचन किया है।[३५३]

अकिञ्चित्कर

अकलंक के अनुसार सिद्ध साधन में प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकिञ्चितकर कहलाता है।[३५४] यद्यपि इन्होंने इसको हेत्वाभास का एक भेद अवश्य माना है, किन्तु इसे स्वतंत्र रूप से हेत्वाभास घोषित करने में उनके विचार सुदृढ़ आधार पर अवस्थित नहीं जान पड़ते, क्योंकि कहीं पर उन्होंने लिखा है कि सामान्यतः हेत्वाभास एक ही प्रकार का होता है, जो अकिञ्चित्कर कहलाता है। विरुद्ध, असिद्ध तथा अनैकान्तिक ये सभी भेद उसके विस्तार मात्र हैं।[३५५] अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि अन्यथानुपपत्ति से रहित, जितने भी त्रिलक्षण हैं, उन्हें अकिञ्चित्कर कहा जा सकता है।[३५६] इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्यरूप से अकिञ्चित्कर को उन्होंने हेत्वाभास माना है और इसको पृथक् रूप से हेत्वाभास मानने का उनमें प्रबल आग्रह नहीं दिखाई पड़ता। माणिक्यनन्दी ने इनके लक्षण में 'प्रत्यक्षदिबाधित' पद विकल्प रूप में जोड़कर इसका लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है सिद्धसाध्य अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित साध्य में प्रयुक्त होने वाले हेतु को अकिञ्चित्कर कहा जाता है।[३५७] धर्मभूषण ने साध्यसिद्धि में अप्रयोजक हेतु को अकिञ्चित्कर कहा है।[३५८] एवं सिद्धसाधनत्व तथा प्रत्यक्षादिबाधत्व को उन्होंने भेद-सूचन में व्यक्त किया है।[३५९]

माणिक्यनन्दी ने इसके दो भेद सूचित किये हैं—सिद्धसाधन और बाधित विषय।

धर्मभूषण ने इन दो भेदों को मुख्य मानकर, द्वितीय के चार भेद किये हैं––(१) प्रत्यक्ष-बाधित, (२) अनुमानबाधित, (३) आगमबाधित एवं (४) स्ववचनबाधित ।[३६०]

(१) **सिद्धसाधन**––सिद्ध साध्य के लिये यदि हेतु का उद्भावन किया जाय, तो वह सिद्धसाधन अकिञ्चित्कर कहलाता है । जैसे, 'शब्द श्रावण है, क्योंकि वह शब्द है ।' यहाँ हेतु शब्दत्व अकिञ्चित्कर है, क्योंकि शब्द का श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुना जाना सर्वथा निश्चित है। इसलिये किसी प्रयोजन को अवधारित न करने से, यह हेतु अकिञ्चित्कर कहलाता है ।[३६१] धर्मभूषण ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि पक्ष-शब्द में साध्य श्रोत्रेन्द्रिय की विषयता श्रावण प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, इसलिये उसको सिद्ध करने के लिये उद्भावित हेतु शब्दत्व सिद्धसाधन अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है ।[३६२]

माणिक्यनन्दी के[३६३] बाधित विषय एवं धर्मभूषण के[३६४] प्रत्यक्षादिबाधित चार अवान्तर भेदों का विवेचन पूर्ववर्णित बाधित भेदों के समान ही है, अतः उनका पुनः निरूपण अनावश्यक है ।

माणिक्यनन्दी ने भी, अकलंक की तरह, इसे स्वतंत्र रूप से हेत्वाभास मानने का आग्रह नहीं किया है, अपितु शास्त्रकाल में शिष्यों के पठन पाठन में ही इसकी उपादेयता मानी है, वाद काल में नहीं, क्योंकि व्युत्पन्न लोग ही वाद में प्रवृत्त हो सकते हैं, अतः वे ऐसे साधन का पहले तो प्रयोग ही नहीं करते और करते भी हैं, तो उसे पक्षाभास में समाविष्ट किया जा सकता है ।[३६५]

जब स्वयं अकलंक, जो कि इस हेत्वाभास के प्रवर्तक हैं, ने ही इसे आग्रह पूर्वक नहीं माना तो अन्य लोग यदि इसकी आलोचना करें, तो आश्चर्यजनक बात नहीं है । वादि देवसूरि[३६६] और यशोविजय ने[३६७] इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि इसके स्वरूप का निश्चय न होने के कारण इसे हेत्वाभास का सामान्य लक्षण अथवा पृथक् हेत्वाभास नहीं माना जा सकता ।

यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास उद्योतकर के असिद्ध के तृतीय अन्यथासिद्ध भेद का ही अपर नाम है, जिसे जयन्त ने भी इसी प्रकार वर्णित किया है । मुनि सुखलाल संघवी[३६८] तथा पं० दरबारीलाल कोठिया[३६९] ने भी इस बात की पुष्टि की है ।

इस प्रकार जैन परम्परा की श्वेताम्बर धारा में तीन तथा दिगम्बर धारा में चार हेत्वाभासों का विवेचन किया गया है ।

हेत्वाभासों की संख्या

आचार्य दिङ्नाग ने त्रैरूप्य के आधार पर 'हेतुचक्रडमरू' की रचना की है । इस चक्र द्वारा उन्होंने, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गणित के आधार पर सद्हेतु और असद्हेतु को नौ प्रकार से ही व्यक्त किया जा सकता है । पक्षधर्म हेतु, सपक्ष में रहे अथवा न रहे, विपक्ष में रहे अथवा न रहे, इस तथ्य के विस्तार हेतु, सम्पूर्णसपक्ष में से सपक्ष व्यापक हो; सपक्ष के एक भाग में रहे––सपक्षैकदेशवृत्ति हो एवं विपक्ष में बिल्कुल न रहे––सपक्षावृत्ति हो तथा सम्पूर्ण विपक्ष में रहे––विपक्षव्यापक हो; विपक्ष के कुछ भाग में रहे––विपक्षैकदेशवृत्ति हो एवं सम्पूर्ण विपक्ष में न रहे–विपक्षावृत्ति हो––द्वारा इन रूपों को परस्पर सम्बन्ध करने पर निम्नलिखित नौ प्रकार के प्रयोग बन सकते हैं ।

(१) **सपक्षविपक्षव्यापक**––शब्द नित्य है, प्रमेय होने से ।

(२) **सपक्षव्यापकविपक्षावृत्ति**––शब्द अनित्य है, कृतक होने से ।

(३) **सपक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द प्रयत्नोत्थ है, अनित्य होने से ।
(४) **सपक्षावृत्तिविपक्षव्यापक**—शब्द नित्य है, कृतक होने से ।
(५) **सपक्षविपक्षावृत्ति**—शब्द नित्य है, श्रावण होने से ।
(६) **सपक्षावृत्तिविपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द नित्य है, यत्नज होने से ।
(७) **सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक**—शब्द अप्रयत्नज है, अनित्य होने से ।
(८) **सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षावृत्ति**—शब्द अनित्य है, यत्नज होने से ।
(९) **सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द नित्य है, अस्पृश्य होने से ।

'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' में उद्धृत दिङ्नागकृत चार कारिकाओं के आधार पर उक्त विवेचन किया गया है, जिसकी चर्चा शरबार्ट्स्की, डा० विद्याभूषण, डा० रेण्डल सुखलाल संघवी आदि ने भी की है।[३७०] किन्तु यह संख्या निर्धारण पद्धति अपूर्ण एवं संकुचित जान पड़ती है, कारण इसमें असिद्ध हेत्वाभास की कोई चर्चा नहीं हो पायी है। दूसरे केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी यथार्थ हेतुओं का इसमें विचार नहीं किया गया है। इस कमी की पूर्ति करते हुए उद्योतकर ने अविद्यमान सपक्ष और अविद्यमान विपक्ष को लेकर इनके अतिरिक्त सात प्रयोग और भी ज्ञापित किये हैं।

(१०) **साध्यतज्जातीयव्यापकोविद्यमानविपक्षः**—शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से ।
(११) **साध्यव्यापकस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिरविद्यमान विपक्षः**—शब्द अनित्य है, बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से ।
(१२) **साध्यव्यापकस्तज्जातीयावृत्तिरविद्यमानविपक्षः**—शब्द नित्य है, श्रावण होने से ।
(१३) **साध्यव्यापको विद्यमानसजातीयोविपक्षव्यापकः**—शब्द नित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से ।
(१४) **साध्यव्यापकोविद्यमानसजातीयोविपक्षैकदेशवृत्तिः**—शब्द नित्य है, बाह्यइन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से ।
(१५) **साध्यव्यापकोविद्यमान्सजातीयोविपक्षावृत्तिः**—जीवित शरीर निरात्मक नहीं है, इन्द्रियों का अधिष्ठान न होने से ।
(१६) **पक्षव्यापकोविद्यमानसपक्षविपक्षः**—सकल वस्तुएं नित्य है, प्रमेय होने से।[३७१]

उद्योतकर के 'साध्य' तथा 'सजातीय' पदों से पक्ष और सपक्ष समझना चाहिये। तदनुसार उक्त सौलह प्रयोगों में से प्रथम दो, विपक्ष में व्याप्त होने के कारण, साधारण; तृतीय अन्वयव्यतिरेकी; चतुर्थ-पञ्चम विरुद्ध; छठा विपक्षमानसपक्षविपक्ष होने से, असाधारणः सातवां-आठवां सपक्ष में व्याप्त होने से, साधारण; नवां सपक्षैकदेशवृत्ति होने से अन्वव्यतिरेकी; दसवां-ग्यारहवां, सपक्ष में व्याप्त होने से, अन्वयी (केवलान्वयी); बारहवां अविद्यमानविपक्ष होने से, असाधारण; तेरहवां-चौदहवां, अविद्यमान सपक्ष-विपक्ष में व्याप्त होने से, विरुद्ध; पन्द्रहवां व्यतिरेकी (केवलव्यतिरेकी) एवं अंतिम अविद्यमान विपक्ष होने से, असाधारण हेत्वाभास हैं। इनमें तीसरा, नवां, दसवां, ग्यारहवां, पन्द्रहवां हेतु सद्हेतु हैं, शेष सभी हेत्वाभास है।[३७२]

इसी प्रकार असिद्ध हेत्वाभास का संग्रह करने के लिये, उद्योतकर ने पक्ष के कुछ भाग में तथा पक्ष में बिल्कुल न रहने वाले हेतु के 'साध्यैकदेशवृत्ति' तथा 'साध्यावृत्ति' नामक सोलह-सोलह भेद और भी ज्ञापित किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

साध्यैकदेशवृत्ति-भेद

(१) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयविपक्षव्यापकः**—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सभी अनित्य है, गन्धहीन होने से।

(२) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोविपक्षैकदेशवृत्तिः**—वाक् और मन (वाङमन से) सामान्य विशेषात्मक होते हुए हमारी बाह्यइन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षगम्य है, अनित्य होने से।

(३) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोविपक्षावृत्तिः**—वाक् और मन अनित्य हैं, उत्पत्तिधर्मक होने से।

(४) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयावृत्तिर्विपक्षव्यापकः**—वाक् और मन नित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से।

(५) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयावृत्तिर्विपक्षैकदेशवृत्तिः**—वाक् और मन सामान्य विशेषणात्मक होते हुए हमारी बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं, नित्य होने से।

(६) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयविपक्षावृत्तिः**—शब्द अनित्य है, विभागज विभाग असमवायिकारण होने से।

(७) **साध्यतज्जातीयैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापकः**—परमाणु अनित्य है, गन्ध-हीन होने से।

(८) **साध्यतज्जातीयविपक्षैकदेशवृत्तिः**—वाक् और मन अनित्य हैं, अमूर्त होने से।

(९) **साध्यतज्जातीयैकदेशवृत्तिर्विपक्षावृत्तिः**—वाक् और मन अनित्य हैं, सामान्य विशेषात्मक होते हुए हमारी बाह्यइन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से।

(१०) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोविद्यमानविपक्षः**—सिद्धान्तभेदाश्रयेण—रूप और विज्ञान (ज्ञान) अनित्य हैं, अमूर्त होने से, वेदनादि के समान।

(११) **साध्यतज्जातीयैकदेशवृत्तिरविद्यमानविपक्षः**—चक्षु और विज्ञान अनित्य हैं, अमूर्त होने से, रूपादि के समान।

(१२) **साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयावृत्तिरविद्यमानविपक्षः**—शब्द और मन अनित्य हैं श्रावण होने से।

(१३) **साध्यैकदेशवृत्तिरविद्यमानसजातीयोविपक्षव्यापकः**—वाक् और मन नित्य हैं, उत्पत्तिधर्मक होने से।

(१४) **साध्यैकदेशवृत्तिरविद्यमानसजातीयोविपक्षैकदेशवृत्तिः**—चक्षु और विज्ञान नित्य हैं, मूर्त होने से।

(१५) **साध्यैकदेशवृत्तिरविद्यमानसजातीयोविपक्षावृत्तिः**—शरीर निरात्मक नहीं है, इन्द्रियों का अधिष्ठान नहीं होने से।

(१६) **साध्यैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षविपक्षः**—सकल (वस्तुएं) अनित्य हैं, मूर्त होने से।[३७३]

पक्षैकदेश में वृत्ति होने के कारण, ये सभी सोलह हेतु यथार्थ हेतु नहीं हैं, किन्तु हेत्वाभास हैं।[३७४]

साध्यावृत्ति-भेद

(१) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयविपक्षव्यापकः**—पृथिवी अनित्य है, गन्धहीन होने से।

(२) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोविपक्षैकदेशवृत्तिः**—शब्द अनित्य है, अश्रावण होने से।

(३) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोविपक्षावृत्तिः**—शब्द अर्थ (विषय) है, सामान्यात्मक होते हुए श्रौत्रइन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होने से।

(४) **साध्यतज्जातीयावृत्तिर्विपक्षव्यापकः**—शब्द अर्थ है, सामान्यहीन होने से।

(५) **साध्यतज्जातीयावृत्तिर्विपक्षवृत्तिः**—शब्द कारणवान् है, अर्थ नहीं होने से।

(६) **साध्यतज्जातीयविपक्षावृत्तिः**—शब्द नित्य है, असत्य होने से।

(७) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापकः**—शब्द अस्पृश्य है, द्रव्य होने से।

(८) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयविपक्षैकदेशवृत्तिः**—शब्द कारणवान् है, मूर्त होने से।

(९) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिर्विपक्षावृत्तिः**—शब्द आश्रयवान् है, चाक्षुष होने से (वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार)।

(१०) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोविद्यमानविपक्ष (सिद्धान्तभेदाश्रयेण)**—शब्द अनित्य है, अश्रावण होने से। सौत्रान्तिक के मत से यह ठीक है, क्योंकि उनके मत में कुछ भी नित्य नहीं है इसलिये यहाँ विपक्ष नहीं मिलेगा।

(११) **साध्यावृत्तिस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिरविद्यमानविपक्षः**—शब्द अनित्य है, मूर्त होने से।

(१२) **साध्यतज्जातीयवृत्तिरविद्यमानविपक्षः**—शब्द अनित्य है, असत् होने से।

(१३) **साध्यावृत्तिरविद्यमानसजातीयोविपक्षव्यापकः**—शब्द नित्य है, अश्रावण होने से।

(१४) **साध्यावृत्तिरविद्यमानसजातीयोविपक्षैकदेशवृत्तिः**—शब्द नित्य है, मूर्त होने से।

(१५) **साध्यावृत्तिरविद्यमानसजातिर्विपक्षावृत्तिः**—शब्द नित्य है, असत् होने से।

(१६) **साध्यावृत्तिरविद्यमानसजातिर्विपक्षः**—सकल वस्तुएं अनित्य है, सत् होने से।[३७५]

पक्ष में वृत्ति न होने के कारण ये सभी सोलह हेतु हेत्वाभास हैं।[३७६]

इसलिये त्रैरूप्यवाद के आधार पर हेत्वाभासों की संख्या निर्धारण करना समीचीन नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार न्यायसम्मत पञ्चरूप्यवाद भी निरस्त हो जाता है। फिर

इसमें अपवाद भी बहुत हैं। स्वयं प्रशस्तपाद, जो त्रैरूप्यवाद के प्रथम उल्लेखकर्ता हैं, उन्होंने भी तीन हेत्वाभासों के अतिरिक्त अनध्यवसित नामक पृथक् हेत्वाभास माना है, बौद्ध आचार्य असङ्ग ने त्रैरूप्यवाद मानते हुए भी दो ही हेत्वाभासों का उल्लेख किया है; शिवादित्य तथा भासर्वज्ञ ने पाँच रूपों का समर्थन करने के उपरान्त भी अनध्यवसित को छठा हेत्वाभास स्वीकार किया है, मीमांसक तथा जैन दार्शनिकों की दोनों धाराओं में त्रैरूप्यवाद अथवा पञ्चरूप्यवाद के दर्शन नहीं होते। इसीलिये उद्योतकर ने कहा है कि असद्हेतुओं की कोई नियमित संख्या का निर्धारण नहीं किया जा सकता, कारण उक्त रीति के अनुसार साध्यव्यापक सौलह, साध्यैकदेशवृत्ति सौलह और साध्यावृत्ति सौलह भेद मिलकर अड़तालीस भेद हो जायेंगे। पुनः साध्यव्यापक और साध्यैकदेशवृत्ति के विशेषण विशेष्य की अपेक्षा से चौंसठ भेद होंगे, असमर्थ विशेषणविशेष्य और संदिग्ध विशेषण-विशेष्य की दृष्टि से पुनः चौंसठ-चौंसठ भेद होंगे। तीनों मिलकर एक सौ बानवे भेद हो जायेंगे। पुनः व्यधिकरणविशेषणविशेष्य, व्यधिकरणसंदिग्धविशेषणविशेष्य एवं व्यधिकरणअसमर्थविशेषणविशेष्य भेद से एक सौ बानवे भेद होंगे। और वादी-प्रतिवादी की अपेक्षा से ये भेद पुनः दुगने हो जायेंगे। संदिग्ध, अप्रसिद्ध तथा अव्यापक की अपेक्षा से चौंसठ और वादी-प्रतिवादी भेद से एक सौ अट्ठावीस भेद होकर संदिग्ध एक सौ अट्ठावीस अप्रसिद्ध एक सौ अट्ठावीस तथा अव्यापक एक सौ अट्ठावीस भेद होकर तीन सौ चौरासी भेद होंगे। इस प्रकार सद्हेतु और असद्हेतु सभी का सम्मिश्रण करने पर दो हजार बत्तीस भेद होंगे और असिद्ध आदि दोषों को लेकर असंख्य भेद किये जा सकते हैं (इसलिये महर्षि गौतम ने इन सब दोषों का संग्रह करते हुए पाँच व्यापक विभाग किये हैं।[३७७] अतः उक्त प्रणाली की अपेक्षा, जिस दार्शनिक सम्प्रदाय में, हेतु दोषों की जिस प्रकार विशेष व्याख्या की गयी है, उसी के अनुसार हेत्वाभासों की संख्या का निर्धारण करना अधिक समीचीन जान पड़ता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से, उक्त समस्त हेत्वाभासों का आलोडन करते हुए इनको छः परम्पराओं में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) वैशेषिक परम्परा, (२) न्याय परम्परा, (३) मीमांसक परम्परा, (४) सांख्य परम्परा, (५) बौद्ध परम्परा एवं (६) जैन परम्परा।

महर्षि कणाद ने तीन हेत्वाभासों —अप्रसिद्ध, असन् एवं असंदिग्ध का उदाहरणों के अधार पर ही निरूपण किया है। प्रशस्तपाद ने इन्हीं तीनों के लक्षणों का विन्यास करते हुए, इनसे अतिरिक्त, अनध्यवसित को भी चौथा हेत्वाभास माना है। कन्दलीकार ने इन्हीं का समर्थन किया है भाष्यकार के हेत्वाभासों में कालात्ययापदिष्ट एवं प्रकरणसम और जोड़कर शिवादित्य ने छः हेत्वाभास स्वीकार किये हैं। शंकरमिश्र ने भी यद्यपि न्याय सम्मत पाँच हेत्वाभासों का निर्देश किया है, लेकिन सिद्धान्तः उन्होंने सूत्रकार प्रणीत उक्त तीन हेत्वाभास ही मान्य किये हैं।

सूत्रकार ने इनके अवान्तर भेदों का निरूपण नहीं किया है। भाष्यकार ने भी असिद्ध के ही चार भेद—(१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) तद्भावासिद्ध तथा (४) अनुमेयासिद्ध विवेचित किये हैं, शेष सभी को एक ही प्रकार का माना है। कन्दलीकार ने असिद्ध के प्रथम तीन भेदों का समर्थन करते हुए अंतिम भेद के भी दो भेद—उभय—आश्रयासिद्ध और अन्यतरआश्रयासिद्ध ज्ञापित किये हैं। अनुमेयासिद्ध को

आश्रयासिद्ध के रूप में व्यक्त कर उन्होंने दिङ्नागकृत परिष्कार का ग्रहण किया है तथा उनके इस अवान्तर भेद मान्यता पर कुमारिल का ही प्रभाव जान पड़ता है। शंकर मिश्र ने मुख्यतः उदयन सम्मत तीन भेदों का—स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध भेदों का ग्रहण कर भासर्वज्ञ सम्मत समर्थ विशेष्यासिद्ध आदि छः भेदों का भी उपन्यास किया है। विरुद्ध हेत्वाभास को श्रीधर को छोड़ प्रायः सभी ने सूत्रकार की तरह एक ही प्रकार का माना है। श्रीधर ने विपक्षैकदेशविरुद्ध तथा विपक्षव्यापक विरुद्ध भेद से दो प्रकार के विरुद्ध हेत्वाभासों का विवेचन किया है, जो दिङ्नाग के हेतु चक्र में पठित नौ भेद तथा उद्योतकर के साध्यव्यापक आदि सोलह भेद से प्रभावित जान पड़ता है। अनैकान्तिक हेत्वाभास को भी सूत्रकार, भाष्यकार, एवं शिवादित्य ने एक ही प्रकार का माना है, किन्तु कन्दलीकार ने न्याय प्रवेशकार सम्मत असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को छोड़कर, शेष चार का समर्थन अपनी टीका में किया है। वस्तुतः ये सभी भेद साधारण अनैकान्तिक में ही किसी न किसी रूप से समाविष्ट किये जा सकते हैं, अतः निरर्थक से जान पड़ते हैं। शंकर मिश्र ने साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी ये तीन नव्यन्याय सम्मत भेद माने हैं। यही नहीं भाष्यकार के त्रैरूप्यवाद का उल्लंघन कर, उन्होंने न्याय सम्मत पञ्चरूप्यवाद का अनुसरण करते हुए लिखा है कि आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा भागासिद्ध पक्षसत्त्व के अभाव में; व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध और साधारण अनैकान्तिक, विपक्षासत्त्व के अभाव में; असाधारण तथा अनुपसंहारी अनैकान्तिक, सपक्षसत्त्व के अभाव में एवं बाधित और सत्प्रतिपक्ष, अबाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व का विरह होने पर ही हेत्वाभास कहलाते हैं।[३७८] किन्तु यह सब वैशेषिक परम्परा से असंगत जान पड़ता है।

प्रोफेसर कीथ का मत है कि प्रशस्तपाद ने त्रैरूप्यवाद के आधार पर जो हेत्वाभासों की व्याख्या की है, वह दिङ्नाग से प्रभावित जान पड़ती है, क्योंकि 'प्रशस्तपादभाष्य' में उद्धरित काश्यप प्रणीत दो कारिकाओं की व्याख्या न्यायप्रवेशनिष्ठ त्रैरूप्य विवेचना का ही अनुगमन है। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने लिखा है कि उद्योतकर[३७९] का समर्थन करते हुए, वाचस्पति[३८०] मिश्र ने त्रैरूप्यवाद के खण्डन के प्रसङ्ग में दिङ्नाग का नामोल्लेख भी किया है। दिङ्नाग की भांति प्रशस्तपाद ने भी प्रसिद्ध हेत्वाभास के चार भेद प्रतिपादित किये हैं, उनके विरुद्ध हेत्वाभास के द्वितीय भेद—धर्मविशेष-विपरीतसाधन (जिसका कि धर्मकीर्ति ने 'इष्टविघातकृत' नाम से खण्डन किया है) को प्रशस्तपाद ने आगमबाधित के रूप में अपनाया है।[३८१] परन्तु यह मत तर्क की कसौटी पर यथार्थ नहीं उतरता, कारण यह सही है कि प्रशस्तपादभाष्य' के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में त्रैरूप्यवाद का स्पष्टतः उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, किन्तु 'न्यायसूत्र' तथा 'न्यायभाष्य' में यह बीज रूप से निहित अवश्य है। जैसे न्यायसूत्रकार के साधर्म्य-वैधर्म्य हेतु, उपनय, और उदाहरण के लक्षणों में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्त्व आदि तीनों भली प्रकार ध्वनित होते हैं। हेतु लक्षण की व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है—

> "साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय
> तस्य साधनतावचनं हेतुः'[३८२]

इन पंक्तियों में पक्षधर्मत्व एवं सपक्षसत्त्व का निश्चित रूप से बोध हो जाता है। इन्हीं को उदाहरण-वैधर्म्य के साथ अन्वित करने पर विपक्षासत्त्व का भी बोध हो जाता

है ।[३८३] उदाहरण की व्याख्या करते हुए उन्होंने साध्य के रूप में धर्मविशिष्ट धर्मी अर्थात् पक्ष का भी ग्रहण किया है ।[३८४] इसी प्रकार उपनय लक्षण की व्याख्यानिष्ठ 'साध्यसाधर्म्ययुक्त———साध्यस्थ शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते ।'[३८५] साध्य-वैधर्म्ययुक्ते——————उपसंह्रियते ।'[३८६] —इन भाष्य पंक्तियों में त्रैरूप्य और भी विशदरूप से प्रतिध्वनित होता है । उदाहरण लक्षण की विवेचना में लिखी गई——' 'तस्य——————भवति स च उदाहरणमिष्यते ।'[३८७] 'साध्यवैधर्म्यात् ——————स तस्मिन न भवतीति ।'[३८८] —इन पंक्तियों में भी यही बात कही गई है ।' असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत । उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः[३८९]— भाष्यकार के उक्त उद्धरणों की व्याख्या पञ्चम अध्याय ने भली प्रकार से की जा चुकी है । पक्ष और सपक्षभूत साधर्म्यदृष्टान्त में हेतु की स्थिति और विपक्षभूत वैधर्म्यदृष्टान्त में हेतु का अभाव होने के व्यापक सिद्धान्त को प्रदर्शित करने के लिये ही साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम आदि चौबीस जातियों की पञ्चम अध्याय के प्रथम आह्निक में न्यायसूत्रकार ने कल्पना की है । भाष्यकार ने भी लिखा है कि केवल साधर्म्य और वैधर्म्य के अवलम्बन पर आधारित होने तथा हेतु के उक्त रूपों के वैकल्य होने के कारण ही जाति आदि दोषों की सर्जना होती है, यदि हेतु और दृष्टान्त को यथार्थतः गृहीत किया जाय तो प्रतिवादी इन दोषों का उद्भावन नहीं कर सकता ।[३९०] सव्यभिचार की व्याख्या करते हुए न्याय-भाष्यकार ने लिखा है कि एकत्र अव्यवस्था का नाम ही व्यभिचार है । एक अधिकरण में रहनेवाला हेतु एकान्तिक एवं उनके विपरीत अर्थात् अभाव वाले अधिकरण में रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक कहलाता है ।[३९१] इस व्याख्या से भलीभांति विदित हो जाता है कि पक्ष में हेतु की विद्यमानता के साथ-साथ उसका साध्य के साथ सपक्ष रूप एक अधिकरण में वृत्ति रहना और साध्याभावीय अधिकरण में विद्यमान न रहना भी आवश्यक है । संभवतः प्रशस्तपाद ने उक्त 'न्यायसूत्र' और 'न्यायभाष्य' की व्याख्याओं को दृष्टि में रखते हुए भी त्रैरूप्यवाद की आधार शिला पर कणादकृत हेत्वाभासों की नींव रखी हो । दूसरे दिङ्नाग की भाषा और विवेचना शैली प्रशस्तपाद से उत्कृष्ठ एवं परिष्कृत जान पड़ती है । असिद्ध के चार भेदों में भी दिङ्नाग की परिमार्जित विशुद्ध भाषा प्रतिलक्षित होती है, क्योंकि उन्होंने प्रशस्तपाद के प्रथम दो भेदों को रूढ़ रखते हुए अंतिम दो 'संदिग्धासिद्ध' तथा 'आश्रयासिद्ध' कहा है । इसके साथ-साथ दिङ्नाग ने विरुद्ध तथा संदिग्ध के भी चार तथा तीन अवान्तर भेद किये हैं, जो उनकी व्यापकता का प्रतीक है । प्रशस्तपाद के विवेचन में इन भेदों का अभाव ही पाया जाता है । प्रशस्तपाद ने महर्षि कणाद प्रणीत उदाहरणों के माध्यम से ही असिद्ध भेदों को छोड़कर, अन्य दो हेत्वाभासों को प्रदर्शित किया है । अनध्यवसित की व्याख्या करते हुए, उन्होंने अनेक वैशेषिक सूत्रों का, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष मण्डित करने के लिये अवलम्बन लिया है । इससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि प्रशस्तपाद ने सूत्रकार की व्याख्या करते हुए ही अपने हेत्वाभासों का प्रतिपादन किया है । फिर दिङ्नाग के पूर्व भी त्रैरूप्यवाद, वसुबन्धु के 'तर्कशास्त्र' में दृष्टिगोचर होता है । वसुबन्धु ने महर्षि कणाद के तीन हेत्वाभासों का समर्थन करते हुए, वही उदाहरण थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ, प्रतिपादित किये हैं । उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग प्रतिपादित त्रैरूप्य सिद्धान्त विशेष का खण्डन किया है, किन्तु इतने पर से ही उन्हें, इनका प्रवर्तक नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार 'इष्टविघातकृत' विरुद्ध भेद का आधार भी सारहीन जान पड़ता है, क्योंकि न्यायभाष्यकार ने स्पष्टतः लिखा है 'यत्

पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति ।'[३९२] अतः आगमबाधित के लिये प्रशस्तपाद दिङ्नाग के नहीं, प्रत्युत न्यायभाष्यकार से प्रभावित जान पड़ते हैं। इसलिये प्रो० कीथ का सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि त्रैरूप्यवाद और तीन हेत्वाभासों की विवेचना महर्षिगौतम, वात्स्यायन तथा महर्षि कणाद के ग्रन्थों में भली प्रकार प्रतिध्वनित होती है।

न्याय परंपरा

भासर्वज्ञ के अतिरिक्त शेष सभी प्राचीन और नव्य नैयायिकों ने महर्षि गौतम के पाँच––सव्यभिचार, विरुद्ध प्रकरणसम, साध्यसम, एवं कालातीत हेत्वाभासों को मान्य किया है। भासर्वज्ञ ने प्रशस्तपाद सम्मत अनध्यवसित को भी अतिरिक्त रूप से छठा भेद माना है। वाचस्पति मिश्र के पश्चात् प्रायः सभी प्राचीन और नव्य नैयायिकों ने उनके तथा उनके पूर्ववर्ती आचार्य उद्योतकर द्वारा परिष्कृत––सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध तथा बाधित नामों को प्रकरणसम, साध्यसम एवं कालातीत के स्थान में व्यवस्थापित किया है। महर्षि कणाद से, महर्षि गौतम का हेत्वाभास विवेचन, इसलिये अधिक परिष्कृत जान पड़ता है कि इन्होंने पाँचों हेत्वाभासों के लक्षण भी दिये हैं, परन्तु इनके उदाहरण न देने के कारण, महर्षि कणाद की अपेक्षा इनकी न्यूनता भी ज्ञापित होती है।

'न्यायसूत्र' व 'न्यायभाष्य' में किसी भी हेत्वाभास के अवान्तर सूक्ष्म भेद प्रदर्शित नहीं किये गये हैं। उद्योतकर के पश्चात् अवान्तर भेदों की सर्जना प्रायः उपलब्ध होती है। यद्यपि उद्योतकर ने अनैकान्तिक के भेद ज्ञापित नहीं किये हैं, फिर भी उन्होंने प्रशस्तपाद सम्मत संदिग्ध लक्षण को साधारण तथा अनध्यवसित (जिसे प्रशस्तपाद ने असाधारण भी कहा है) को असाधारण के रूप में गृहीत कर, सव्यभिचार के विषय में उठनेवाली शंकाओं का परिहार किया है; इनके इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि इन्हें भी ये दो भेद इष्ट थे। किन्तु उनके साध्य व्यापक आदि सौलह भेदों में साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी भेद, जिन्हें आगे जाकर प्रायः सभी नव्य नैयायिकों ने अपनाया है, बीज रूप से निहित हैं। इस प्रकार इन्होंने आचार्य दिङ्नाग के हेतुचक्र में आयी हुई न्यूनता को पूरी करने का प्रयास किया। वाचस्पति मिश्र ने इन्हीं का अनुगमन किया है। भासर्वज्ञ के अनैकान्तिक भेदों पर उद्योतकर का ही प्रभाव जान पड़ता है। उनके अवान्तर आठ भेद निष्प्रयोजक ही दिखाई देते हैं, क्योंकि सबका अन्तर्भाव साधारण में किया जा सकता है। संभवतः इसीलिये जयन्त ने अपनी न्यायमञ्जरी में दिङ्नाग प्रणीत सभी छः भेदों का खण्डन किया है। गङ्गेश के बाद सभी न्याय दार्शनिकों ने इसके तीन––साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी भेद माने हैं। भासर्वज्ञ को छोड़कर प्रायः सभी नैयायिकों ने एक प्रकार का ही विरुद्ध माना है। किन्तु भासर्वज्ञ ने इसके आठ भेद किये हैं, जो उद्योतकर के साध्यव्यापक धर्म आदि सौलह-सौलह भेदों से प्रभावित जान पड़ते हैं, किन्तु ये सभी भेद प्रयोजनविहीन, अन्यथा विस्तारमय ही दिखाई देते हैं। प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष को प्रायः सभी नैयायिकों ने एक ही प्रकार का माना है। साध्यसम या असिद्ध के सर्वप्रथम तीन––स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध भेद प्रधानतः उद्योतकर ने किये हैं। एवं संख्या निर्धारण के समय समर्थ, असमर्थ-संदिग्ध तथा व्यधिकरण-विशेषणासिद्ध-विशेष्यासिद्ध नामक अवान्तर भेद भी सोदाहरण ज्ञापित किये हैं। वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट ने भी इनके उक्त तीन भेदों का समर्थन किया है, किन्तु उदयन ने उनके तृतीय

भेद अन्यथासिद्ध के स्थान पर व्याप्यत्वासिद्ध मान्य किया है। भासर्वज्ञ ने, पूर्व की भांति उद्योतकर से प्रभावित हो, इसके चौदह भेद ज्ञापित किये हैं, जो अनर्थक से जान पड़ते हैं, क्योंकि उन सभी का अन्तर्भाव उद्योतकर-उदयन समर्थित तीन भेदों में सुगमता से किया जा सकता है। गङ्गेश ने मुख्यतः उदयन सम्मत तीन भेदों को स्वीकार किया है। इनमें से प्रथम दो के जो अवान्तर सूक्ष्म भेद मथुरानाथ ने ज्ञापित किये हैं, वह सब निरर्थक कल्पना जाल और दुरुह जटिलता का छिद्रान्वेषण है। अन्तिमव्याप्यत्वासिद्ध के मथुरानाथ के तीन भेद साध्य विशेषणासिद्ध, साधनविशेषणासिद्ध एवं व्याप्ति-विरहरूपासिद्ध अधिक समीचीन जान पड़ते हैं, किन्तु इनके भी जो अनेक सूक्ष्म भेद उपन्यस्त किये हैं, वे पूर्वोक्त, भेदों की तरह निष्प्रयोजक हैं। विश्वनाथ ने गङ्गेश के मुख्य भेदों को मानते हुए मथुरानाथ के तृतीय भेद व्याप्यत्वासिद्ध के तीन भेद—साध्याप्रसिद्ध, साधनाप्रसिद्ध एवं व्याप्ति-विरहरूपासिद्ध भी व्यक्त किये हैं। तर्कामृतकार, तथा अन्नमभट्ट ने गङ्गेशकृत मुख्य भेदों का ही अनुसरण किया है। केशव मिश्र ने भी यही बात कही है, किन्तु उन्होंने व्याप्तिविरहासिद्ध का एक सोपाधिक हेतु-असिद्ध भेद और भी प्रदर्शित किया है। संभवतः कालातीत या बाधित के प्रत्यक्षविरुद्ध, आगमविरुद्ध ये दो भेद सर्वप्रथम वात्स्यायन ने ही किये जान पड़ते हैं। इनमें अनुमान विरुद्ध और जोड़कर उद्योतकर ने इनके तीन भेद ज्ञापित किये हैं, जिनका समर्थन वाचस्पति मिश्र ने भी किया है। भासर्वज्ञ ने इनके अतिरिक्त प्रत्यक्षैक-अनुमानैक तथा आगमैकदेशविरुद्ध भेद और भी ज्ञापित किये हैं, जो निरर्थक जान पड़ते हैं, क्योंकि ये पूर्वोक्त तीन में ही गतार्थ हो सकते हैं। गङ्गेश ने इसके दस भेद किये हैं, जो कुमारिल प्रणीत विरुद्ध भेदों का ही विस्तार और परिष्कार जान पड़ता है। केशवमिश्र, विश्वनाथ, अन्नमभट्ट आदि ने इसका एक ही भेद माना है।

मीमांसक परंपरा

'मीमांसासूत्र' और 'शाबरभाष्य' में पूर्वोक्त वैशेषिक न्याय सूत्र-भाष्य की भांति हेत्वाभास निरूपण नहीं किया गया है। शाबरभाष्य के अनुमान लक्षण घटक पदों की व्याख्या करते हुए कुमारिल और शालिकनाथ ने विभिन्न हेत्वाभासों की रचना की है कुमारिल ने, महर्षि कणाद कृत असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास माने हैं। पार्थसारथि मिश्र एवं चिन्नस्वामी ने भी इन्हीं तीन हेत्वाभासों का समर्थन किया है किन्तु नारायणभट्ट ने इन तीन का समर्थन करते हुए भी विकल्प से असाधारण को भी चौथा हेत्वाभास माना है। शालिकनाथ ने असाधारण, बाधक, साधारण एवं असिद्ध ये चार हेत्वाभास स्वीकार किये हैं। इनके सभी लक्षणों पर न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का पर्याप्त अभाव दिखाई पड़ता है।

कुमारिल ने असिद्ध के मुख्यतः दो भेद स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध मानकर पुनः इनको तीन-तीन भेदों—विपर्ययासिद्ध, संदिग्धासिद्ध तथा अज्ञानासिद्ध में वर्गीकृत किया है। यह भेद-विवेचन प्रशस्तपाद, दिङ्नाग एवं उद्योतकर आदि से अधिक परिष्कृत जान पड़ता है। पार्थसारथि मिश्र एवं चिन्नस्वामी ने इसके जो पाँच तथा नारायण भट्ट ने चौदह भेद किये हैं, वे सारविहीन जान पड़ते हैं, क्योंकि वे कुमारिल प्रणीत भेदों में भली प्रकार समाविष्ट किये जा सकते हैं। शालिकनाथ ने इसके दो ही भेद—स्वरूपासिद्ध तथा भागासिद्ध ज्ञापित किये हैं। कुमारिल ने बाध का मुख्यतः एक धर्मस्वरूपबाध तथा अन्य पाँच भेद मिलाकर, जो छः भेद ज्ञापित किये हैं, वे दिङ्नाग प्रणीत भेदों का ही विस्तार है। पार्थसारथि मिश्र और नारायण भट्ट ने कुमारिल के प्रथम दो भेदों को ही

मान्य किया है । शालिकनाथ ने बाधक के रूप में विरुद्ध एक ही प्रकार का बतलाया है । अनैकान्तिक भेदों के प्रसङ्ग में भी कुमारिल ने दिङ्नाग का अनुसरण किया है । इन्होंने उनके तीन भेद साधारण, असाधारण तथा विरुद्धाव्यभिचारी मान्य किये हैं । पार्थसारथि मिश्र एवं चिन्नस्वामी ने प्रथम को साधारण और तृतीय को सप्रतिसाधन के रूप में व्यक्त किया है, नारायण भट्ट ने साधारण अनैकान्तिक और संदिग्ध अनैकान्तिक ये दो भेद माने हैं । शालिकनाथ ने केवल साधारण को ही प्रशस्तपाद की भांति अनैकान्तिक माना है एवं असाधारण को उनकी तरह पृथक् हेत्वाभास घोषित किया है । फिर भी भाट्ट मीमांसकों की अपेक्षा इन पर बौद्ध प्रभाव अपेक्षाकृत न्यून है ।

सांख्य परंपरा

माठर ने असिद्ध, अनैकान्तिक एवं विरुद्ध तथा इनके चौदह भेदों का केवल संकेत ही किया है, लक्षण, उदाहरण अथवा भेद विन्यास नहीं ।

बौद्ध परंपरा

इस परम्परा को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है—प्रथम में नागार्जुन के 'उपाय-हृदय' को लिया जा सकता है, जिसमें न्यायसूत्रकार सम्मत हेत्वाभासों के अतिरिक्त कुछ छल और जातियों को भी हेत्वाभास कहा गया है । द्वितीय में असङ्ग कृत दो हेत्वाभास भेदों को गृहीत किया जा सकता है । तृतीय वर्ग में आचार्य वसबन्धु तथा उनके उत्तरवर्ती सभी बौद्ध आचार्यों को समाविष्ट किया जा सकता है । आचार्य वसुबन्धु ने महर्षि कणाद की भांति असिद्ध, अनैकान्तिक और विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास माने हैं, जिनका समर्थन दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, अर्चट धर्मोत्तर आदि सभी ने किया है । दिङ्नाग के विवेचन पर प्रशस्तपाद का ही प्रभाव जान पड़ता है । क्योंकि इन्होंने भी उनकी तरह त्रैरूप्य की विकलता के आधार पर, हेत्वाभासों की रचना की है, जिसका स्पष्ट निरूपण धर्मकीर्ति की विवेचना से ज्ञात होता है ।

दिङ्नाग ने प्रशस्तपाद के चार प्रसिद्ध भेदों को ही परिष्कृत रूप में अपनाया जान पड़ता है । इनमें से प्रथम दो तो उसी नाम से विवेचित किये गये हैं, जिन्हें प्रशस्तपाद ने प्रणीत किया है । तृतीय के स्थान में संदिग्धासिद्ध और चतुर्थ के स्थान में आश्रयासिद्ध को रखा गया है । दिङ्नाग के इस चतुर्थ परिष्कारपूर्ण नाम को उनके बाद प्रायःसभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है । धर्मकीर्ति ने भी इन्हीं का समर्थन किया है, किन्तु उनके लक्षण विन्यास में प्रशस्तपाद तथा कुमारिल दोनों का समन्वय हो गया है । यद्यपि प्रशस्तपाद ने स्पष्ट रूप से संदिग्ध या अनैकान्तिक को ही साधारण की संज्ञा दी है । प्रथमतः अनध्यवसित या असाधारण को विरुद्ध में अन्तर्भूत करते हुए, अन्त में उन्होंने इसे पृथक् हेत्वाभास ज्ञापित किया है । संभवतः भारतीय तर्कशास्त्र में साधारण और असाधारण दोनों को अनैकान्तिक भेद सिद्ध कहने वाले दार्शनिक आचार्य दिङ्नाग ही जान पड़ते हैं । यही नहीं उन्होंने अपने 'हेतुचक्रडमरु' की रचना द्वारा उसके जो तीन भेद 'न्यायप्रवेश' में और भी ज्ञापित किये हैं वे साधारण में ही सन्निविष्ट हो जाने के कारण, सारहीन जान पड़ते हैं । दिङ्नाग का विरुद्धाव्यभिचारी के रूप में सत्प्रतिपक्ष को अनैकान्तिक का भेद बतलाना भी प्रशस्तपाद की उक्त पूर्व पक्ष विवेचना से प्रभावित होना है । इसलिये धर्मकीर्ति ने इनके इस भेद का खण्डन किया है और इसका मुख्यतः साधारण नामक एक भेद ही स्वीकार किया है । धर्मोत्तर ने इनके सूत्र की व्याख्या द्वारा न्यायप्रवेशकार के प्रथम, चतुर्थ और

पञ्चम भेदों को मान कर चार प्रकार के अनैकान्तिक माने हैं। असाधारण को भी धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर दोनों में इष्टविघातकृत की आलोचना के प्रसङ्ग में किसी तरह मान लिया है। विरुद्ध के उक्त चार भेदों की कल्पना दिङ्नाग की अपनी मौलिक विचारणा जान पड़ती है, क्योंकि इस रीति से भेद ज्ञापित करने वाला कोई पूर्ववर्ती ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। इन्हीं चार में दो भेद और जोड़कर कुमारिल ने छः बाध भेद और उनका परिष्कार करते हुए गङ्गेश ने बाध के दस भेदों का प्रणयन किया है। धर्मकीर्ति के लक्षण विन्यास पर प्रशस्तपाद का प्रभाव जान पड़ता है और उन्होंने, उनकी भांति एक ही प्रकार का विरुद्ध माना है।

चतुर्थ वर्ग में अर्चट ने, न्याय मीमांसकों के नाम से हेतु के पाँच रूपों के अतिरिक्त छटे ज्ञातत्व रूप का भी उल्लेख किया है, इसके अभाव में फलित होने वाले हेत्वाभास 'अज्ञात' की कल्पना की जा सकती है। उपलब्ध न्याय-मीमांसा ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई हेतु रूप अथवा हेत्वाभास उपलब्ध नहीं होता। संभवतः अर्चट के सामने कोई प्राचीन न्याय-मीमांसक परम्परा रहीं होगी, जिसके आधार पर उन्होंने इस हेतु रूप का संकेत किया है। मुख्य भेद न होने के कारण, बौद्ध हेत्वाभास निरूपण के प्रसङ्ग में इसकी पूर्व में चर्चा की गयी है। (हे० बि० टी० पृ० २०५-६)

जैन परम्परा

श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर ने असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास माने हैं। इनका अनुसरण उत्तरवर्ती जैनाचार्य वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजय ने किया है। दिगम्बर जैन परम्परा में अकलंक ने इन तीनों के अतिरिक्त अकिञ्चित्कर को भी चौथा भेद मानकर चार हेत्वाभास माने हैं, जिनका समर्थन माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, धर्मभूषण आदि ने किया है।

सिद्धसेन दिवाकर ने केवल तीन हेत्वाभासों के लक्षणों का निर्वचन किया है, उदाहरण और भेदों का विवेचन नहीं। अकलंक का अनुगमन करते हुए माणिक्यनन्दी ने असिद्ध के दो भेद स्वरूपासिद्ध-संदिग्धासिद्ध ज्ञापित किये हैं। प्रभाचन्द्र तथा धर्मभूषण ने भी इन्हीं का समर्थन किया है। देवसूरि और यशोविजय ने उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध ये दो भेद प्रदर्शित किये हैं। हेमचन्द्र ने मुख्यतः स्वरूपासिद्ध, संदिग्धासिद्ध ये दो भेद मानकर द्वितीय के पुनः तीन भेद वादी-प्रतिवादी तथा उभयासिद्ध ये तीन भेद किये हैं। 'न्यायसार' में वर्णित विशेष्यासिद्ध आदि नौ भेदों को हेमचन्द्र ने इन्हीं
किया है। अकलंक माणिक्यनन्दी, वादिदेवसूरि तथा धर्मभूषण ने एक
माना है, किन्तु प्रभाचन्द्र, तथा हेमचन्द्र ने न्यायसार निष्ठ आठ भेद
माणिक्यनन्दी ने अनैकान्तिक के दो भेद—निश्चित-विपक्षवृत्ति
वृत्तिक व्यक्त किये हैं। इन्हीं का समर्थन प्रायः सभी आचार्यों
तथा हेमचन्द्र ने न्यायसार प्रणीत समस्त भेदों को भी मान्य
दो भेद—सिद्धसाधन तथा बाधितविषय माणिक्यनन्दी
ने द्वितीय के चार भेद—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा
पूर्ववर्ती आचार्य माणिक्यनन्दी ने केवल प्रथम भेद
लक्षण भेद तथा उदाहरणों के प्रसङ्ग में जैनों ने ... भेदों का ही
अनुसरण किया है। फिर भी अविनाभाव के ... र्म दो भेदों को ही

हेत्वाभासों की व्याख्या करना इनकी विशेषता है। किन्तु यह विशेषता उनकी अपनी मौलिक देन नहीं है, क्योंकि महर्षि कणाद ने अपने हेत्वाभास सूत्र में यही बात कही है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के लक्षणों को अन्य दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप से मान्य किया है। इनमें प्रशस्तपाद, उद्योतकर तथा गङ्गेश का विशेष महत्व है, क्योंकि इन्होंने पूर्वाचार्यों की पृष्ठभूमि पर, अपनी अनुपम गवेषणा द्वारा, जिन लक्षणों का विन्यास किया है, उदाहरणों की रचना की है तथा अवान्तर भेद ज्ञापित किये हैं, उन्हीं को आधार बनाकर अन्य दार्शनिकों ने अपने-अपने हेत्वाभासों के भव्य-प्रासाद स्थापित किये हैं।

भारतीय तर्कशास्त्र में हेत्वाभासों के साथ-साथ प्रतिज्ञा या पक्षाभासों तथा निदर्शन-दृष्टान्त या उदाहरण आभासों का भी विवेचन किया गया है। इन तीन दोषों के अतिरिक्त, जैन दार्शनिकों ने, अनुमानाभासों के अन्तर्गत उपनय तथा निगमन आभासों की भी सर्जना की है। प्रतिज्ञाभास तथा निदर्शनाभास को इसी नाम से स्पष्टतः निर्वचित करने का श्रेय प्रशस्तपाद को है, जिन्होंने सर्वप्रथम उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों में इनकी व्याख्या की है। उत्तरवर्ती सभी न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध तथा जैन आचार्यों ने किसी न किसी रूप में थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ इन्हीं का समर्थन किया है।

प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास

वैशेषिक मत—

प्रशस्तपाद द्वारा प्रतिज्ञा लक्षण में, अविरोधी पद का उपादान इसीलिये किया गया है कि उसके विरोधी आभासों का निराकरण किया जा सके। प्रत्यक्ष, अनुमान आगम, स्वशास्त्र एवं स्ववचन-विरुद्ध भेद से उन्होंने इनके पाँच भेद माने हैं।[३९३] हेत्वाभासों की तरह यहाँ इन आभासों के ठोस लक्षण नहीं दिये गये हैं, वरन् उदाहरणों द्वारा इन्हें समझाने का प्रयास किया गया है। इनको इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) प्रत्यक्षविरुद्ध

'अग्नि अनुष्ण है।' यहाँ त्वाच प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि में उष्णत्व का बोध होने के कारण, वह्नि में उष्णता का प्रतिषेध प्रत्यक्ष विरुद्ध कहलाता है।

(२) अनुमानविरुद्ध

'आकाश (के अवयव) घन है।' यहाँ जिस प्रमाण द्वारा आकाश की सत्ता का बोध होता है, उसी प्रमाण से उसमें नित्यत्व और अवयव शून्यत्व भी निश्चित होता है। अतः उक्त प्रतिज्ञा धर्मी आकाश के ज्ञापक अनुमान के विरुद्ध है।

(३) आगमविरुद्ध

'ब्राह्मण द्वारा किया गया सुरापान पाप का कारण नहीं है।' यह प्रतिज्ञा आगम विरुद्ध इसलिये कहलाती है कि आगम द्वारा मद्यपान वर्जित है, इसलिये इस प्रतिज्ञा का उद्भावन आगम विरुद्ध है।

(४) स्वशास्त्र विरुद्ध

'कार्य सत् है।' वैशेषिकों द्वारा उद्भावित उक्त, प्रतिज्ञा स्वशास्त्र विरुद्ध है, क्योंकि वे सिद्धान्ततः असत्कार्यवादी हैं।

(५) स्ववचन विरुद्ध

'शब्द अर्थ बोध का कारण नहीं है ।' इस प्रतिज्ञा द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द द्वारा किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता । इसी तथ्य को समझाने के लिये यदि वादी 'शब्द अर्थ का प्रत्यायक नहीं है' इस प्रतिज्ञा वाक्य का उद्भावन करता है, तो वह स्वयं ही शब्द को अर्थ का बोधक मान लेता है । इसलिये यह स्ववचन विरुद्ध कहलाता है, कारण वादी अपने अभीष्ट अर्थ को समझाने के लिये शब्दों का प्रयोग भी करे और उसे अर्थ का अवभासक भी न मानें, यह दोनों परस्पर विरोधी तथ्य एक साथ संभव नहीं हो सकते ।[३९४] व्योमशिवाचार्य, उदयन एवं श्रीधर ने भी इन्हीं पाँच प्रतिज्ञाभासों का समर्थन किया है ।[३९५] शिवादित्य और शंकर मिश्र इस प्रसङ्ग में मौन दिखाई देते हैं ।

न्यायमत

प्रतिज्ञा दोषों के रूप में, 'न्यायवार्तिक' तथा 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' में वात्स्यायन सम्मत न्यायभास प्रत्यक्षविरुद्ध और आगमविरुद्ध रूप न्यायाभासों[३९६] का उल्लेख किया गया है और दोनों के उदाहरण प्रशस्तपाद भाष्य के समान दिये गये हैं । अनुमानविरुद्ध और उपमानविरुद्ध को न्यायाभास माननेवालों की आलोचना करते हुए, उद्योतकर ने लिखा है कि एक ही अर्थ में दो अनुमानों का समावेश असंभव होने के कारण कोई अनुमान विरोध नहीं होगा, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक सम्पन्न अनुमान में उक्त समावेश एक अर्थ में नहीं हो सकता ।[३९७] इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि एक अर्थ में दो अनुमान अर्थात् सत्प्रतिपक्षी अनुमानों का समावेश इसलिये असंभव है कि अन्वयव्यतिरेक विशिष्ट अनुमान में पक्षधर्मता, असत्प्रतिपक्षत्व आदि भली प्रकार उपलक्षित रहते हैं ।[३९८] इसी प्रकार पूर्व प्रमाण के विरोध का अनुविधान होने से उपमान विरुद्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि आगमाहित संस्कार की स्मृति से जो सारूप्य ज्ञान होता है, वही उपमान कहलायगा, और यह पूर्व प्रमाण (आगम) का अनुविधायी होने के कारण, उपमान विरोध नहीं होगा ।[३९९] वाचस्पति मिश्र ने भी इसी बात की पुष्टि की है ।[४००] अतः न्यायभाष्यकार का समर्थन करते हुए इन दोनों ने केवल प्रत्यक्ष विरुद्ध और आगम विरुद्ध को ही न्यायाभास माना है ।[४०१] उद्योतकर ने इन दोषों को अर्थ-दोष अथवा वचन-दोष नहीं, प्रत्युत वक्ता-दोष ही घोषित किया है । इनको अर्थ दोष इसलिये नहीं कहा जा सकता कि अर्थ यथावस्थित रहने के कारण उसको प्रतिषेध अथवा स्वीकार कर लेने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता । इसलिये जब कोई व्यक्ति किसी विषय के प्रति किसी बात का विधान अथवा निषेध करता है, तो वह अपने वचनों को विधि-निषेध पूर्वक गृहीत करता है । इसलिये इन्हें वचन दोष होने के कारण वक्ता के दोष मानना उपयुक्त जान पड़ता है; क्योंकि, वक्ता, वचनों का जैसा प्रयोग करता है, वैसा ही विधि-निषेध भी निष्पन्न होता है । जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वक्रिया की सामर्थ्य रखता है, उसी प्रकार वचन भी अपने-अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते हैं । वचनों के द्वारा, अपने से भिन्न, किसी अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती । उपचारवश ही वचनों में क्रिया का आभास होता है, अन्यथा क्रिया प्रयोक्ता द्वारा ही सम्पन्न होती है । इस प्रकार जब भी वचनों द्वारा अपना अभिव्यक्त अर्थ प्रकट न होकर, अन्य अर्थ प्रकाशित होता है, तब वह वचनों का दोष नहीं होता । अपितु वह प्रयोक्ता का दोष होता है, जो उसे उस रीति से प्रयुक्त करता है ।[४०२] वाचस्पति

मिश्र ने भी इन्हीं का समर्थन करते हुए इन दोषों को वक्ता दोष कहा है ।[४०३] प्रशस्तपाद के प्रत्यक्षविरोध दोष की व्याख्या करते हुए श्रीधर ने भी इस दोष को अनुमाता का दोष कहा है, कारण प्रत्यक्षविरोध दोष न तो पक्ष दोष है और है न हेतु दोष ही ; क्योंकि पक्ष तो ज्यों का त्यों बना रहता है । हेतु में, अपने व्यापक साध्य को ही सिद्ध करने की क्षमता रहती है, उसके विपरीत अन्य किसी हेतु के साध्य का निश्चय करने की सामर्थ्य किसी भी हेतु में नहीं रहती । इसलिये यह अनुमाता का दोष है, जो इसका प्रयोग करता है ।[४०४] अत. पक्ष दोष की अपेक्षा इनको प्रतिज्ञा दोष कहना समीचीन जान पड़ता है ।[४०५] जयन्त ने न्याय-प्रवेश-निष्ठ नौ भेदों में एक भेद और मिलाकर दस भेदों का उल्लेख किया है । न्याय-प्रवेश-निष्ठ उदाहरणों की अपेक्षा इनके उदाहरण अधिक परिष्कृत जान पड़ते हैं । जैसे---

(१) **प्रत्यक्षविरुद्ध**---अग्नि अनुष्ण होती है ।
(२) **अनुमानविरुद्ध**---चक्षु इन्द्रिय रूप की ग्राहक नहीं है ।
(३) **आगमविरुद्ध**---ब्राह्मणों को सुरापान करना चाहिये ।
(४) **स्ववचनविरुद्ध**---मेरी माता वन्ध्या है अथवा मेरे पिता ब्रह्मचारी है ।
(५) **लोकप्रसिद्धिविरुद्ध**---चन्द्र शब्द शशी का वाचक नहीं है ।
(६) **उपमानविरुद्ध**---गवय शब्द "अयं गौ सदृशः" 'यह गाय के समान है,' इसका वाचक नहीं है ।
(७) **अप्रसिद्धविशेषण**---चैत्र ने आकाश कुसुम धारण कर रखा है ।
(८) **अप्रसिद्धविशेष्य**---आकाश कुसुम सौरभमय है ।
(९) **अप्रसिद्धोभय**---वन्ध्या पुत्र ने आकाश कुसुम का शेखर धारण कर रखा है ।
(१०) **सिद्ध[illegible]**---अग्नि शीतल नहीं, अपितु उष्ण होती है ।[४०६]

नव्यन्याय में, इन दोषों को, भासर्वज्ञ की तरह, बाधित हेत्वाभास के भेदों में सन्निविष्ट कर लिया गया है ।

मीमांसा भट्ट मत

हेत्वाभासों की तरह प्रतिज्ञाभासों का विवेचन भी 'मीमांसासूत्र' तथा 'शाबरभाष्य' में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु 'शाबरभाष्य' के टीकाकार कुमारिल भट्ट ने इनका विवेचन किया है । भाष्य में वर्णित अनुमान के लक्षण में आये हुए 'असन्निकृष्ट' पद से प्रतिज्ञाभासों का निरास किया गया है ।[४०७] कुमारिल भट्ट के विवेचन से ऐसा प्रतिभासित होता है कि मूलतः उन्हें बाधित रूप से एक प्रकार का प्रतिज्ञाभास ही अभीष्ट है, किन्तु पुनः इनको दो वर्गों में विभक्त कर, उन्होंने दोनों के अनेक अवान्तर भेद भी माने हैं, जो इस प्रकार है---

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सिद्धविशेषण, अप्रसिद्धविशेषण एवं बाधितविशेषण को समाविष्ट किया गया है ।

१. सिद्धविशेषण

जब प्रतिज्ञा, अनुमान प्रयोग के पूर्व प्रत्यक्ष आदि प्रबल प्रमाण द्वारा ज्ञात हो जाय और फिर साध्यसिद्धि के लिये यदि उसका उद्भावन किया जाय तो वह सिद्धविशेषण

कहलाता है जैसे, हाथी को प्रत्यक्ष देखकर पुनः सूँड-पैर आदि से उसका अनुमान करना। अथवा अग्नि उष्ण होती है यह प्रतिज्ञा भी सिद्धविशेषण से ग्रहित है, कारण प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि का उष्ण होना सर्वजनसिद्ध है।[४०८]

२. अप्रसिद्धविशेषण

सर्वथा अप्रसिद्ध अर्थ को साध्य रूप से यदि प्रतिज्ञा में प्रयुक्त किया जाय, तो यह दोष होता है। जैसे, पृथ्वी आदि की रचना सर्वज्ञ द्वारा हुई है। यहाँ सर्वज्ञ कर्तृकत्व साध्य सर्वथा अप्रसिद्ध है, कारण अन्यत्र कहीं भी घट, पट आदि में सर्वज्ञ कर्तृकत्व की प्रसिद्धि नहीं है।[४०९]

३. बाधितविशेषण

कुमारिल मत में छः प्रकार के प्रमाण माने जाने के कारण, यह भी छः प्रकार का होता है।[४१०]

(१) प्रत्यक्ष बाध

उत्तरकाल में बाध हो जाने के कारण शून्यवादी बौद्ध अथवा मायावादी अद्वैत वेदान्ती की यह प्रतिज्ञा–'नाम रूप प्रपञ्च असद्भावमूलक है' प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा उनका सद्भाव ही देखा जाता है। इसी 'प्रकार वह्नि अनुष्ण है', 'शब्द प्रत्यक्ष गम्य नहीं है' ये दोनों प्रतिज्ञायें भी प्रत्यक्ष बाधित हैं, क्योंकि त्वाच प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि की उष्णता तथा कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होता है।[४११]

(२) अनुमान बाध

एक अनुमान के स्पष्टतः किसी अन्य प्रबल अनुमान द्वारा बाधित होने पर यह दोष होता है जैसे, 'शब्द अश्रावण है।' बौद्धों ने इस प्रतिज्ञा को प्रत्यक्षविरुद्ध घोषित किया है, जो समीचीन नहीं जान पड़ता। उद्योतकर[४१२] का समर्थन करते हुए उन्होंने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि श्रावणत्व प्रत्यक्ष द्वारा अवगम्य नहीं होता, क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के अभाव में शब्द की सत्ता नहीं रह पाती जैसे, बधिर पुरुष को शब्द का भान नहीं होता। श्रोत्रेन्द्रिय के होने पर शब्द का ग्रहण अवश्यमेव होता है, जैसे, अंधे आदमी को शब्द का श्रवण होता है। इस अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि श्रोत्रेन्द्रिय ही शब्द श्रावणत्व का कारण है। अतः उक्त अनुमान से कथित प्रतिज्ञा 'शब्द अश्रावण है' का 'श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से शब्द श्रावण है' इस अनुमान द्वारा बाध होता है, इसलिये इसे अनुमान बाधित प्रतिज्ञा दोष कहना उचित जान पड़ता है।[४१३]

(३) शब्द बाध

शब्द विरोध तीन प्रकार का होता है—(अ) प्रतिज्ञाविरोध, (ब) पूर्वसंजल्प-विरोध एवं (स) सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध।[४१४]

(अ) प्रतिज्ञाविरोध

प्रतिज्ञाविरोध पुनः तीन प्रकार का है—(क) उक्तिबाध, (ख) धर्मबाध एवं (ग) धर्मिबाध।

(क) उक्तिबाध—'जीवनभर मैंने मौन व्रत धारण किया है।

इस प्रतिज्ञा वाक्य का उच्चारण करते हुए यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जाय, तो उक्ति विरोध होगा; क्योंकि उच्चारण करने पर उसका मौन भङ्ग हो जाता है।[४१५]

(ख) धर्म बाध—सकल वाक्य मिथ्या है, इस प्रतिज्ञा प्रयोग में मृषात्व धर्म की उक्ति के द्वारा, प्रतिज्ञा अर्थ मृषात्व का बाध होता है, क्योंकि सकल वाक्यों के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर प्रतिज्ञा वाक्य भी मिथ्या प्रमाणित होगा। प्रतिज्ञा वाक्य का मृषात्व, सभी वाक्यों का मृषात्व होने के कारण, यहाँ मृषात्व धर्म द्वारा मृषात्व का बाध होता है।[४१६]

(ग) धर्मि बाध—'मेरी माता वन्ध्या है।' इस प्रतिज्ञा द्वारा धर्मी जननी का बाध होता है, क्योंकि 'मेरी माता' इतने मात्र के कहने का अर्थ होगा कि वह बाँझ नहीं है।[४१७]

(ब) पूर्वसंजल्प विरोध—

'शब्द नित्य है।' इस प्रतिज्ञा का उद्भावन यदि बौद्धों द्वारा किया जाय, तो यह उनके पूर्व अभ्युपगम सिद्धान्त का विरोध होगा, क्योंकि वे सिद्धान्ततः क्षणिकवादी है[४१८] जैसा कि उनका सिद्धान्त है—'सर्वं क्षणिकम्'—सकल पदार्थ क्षणिक है।

(स) सर्ववोकप्रसिद्धिविरोध

'चन्द्र शब्द का अर्थ शशी नहीं है।' इस प्रतिज्ञा द्वारा उक्त विरोध होता है, क्योंकि चन्द्र, शशी शब्द का वाचक है, यह सर्वजनसिद्ध है।[४१९]

(४) उपमान बाध

'गाय गवय के समान नहीं है।' इस प्रतिज्ञा का प्रयोग यदि कोई व्यक्ति ऐसे व्यक्ति के सम्मुख करता है, जो दोनों के स्वरूप को असंदिग्ध रूप से जानता है कि 'गाय गवय के समान ही होती है' तो उपमान बाध होगा।[४२०]

(५) अर्थापत्तिबाध

अर्थापत्तियाँ छः प्रकार की होने के कारण अर्थापति बाध भी छः प्रकार के होते हैं

(क) प्रत्यक्षपूर्विकाअर्थापत्तिबाध

प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात दाह से अग्नि में दहन शक्ति की कल्पना करना प्रत्यक्षपूर्विका-अर्थापत्ति है। इसका विरोध करते हुए—'अग्नि में दहन शक्ति नहीं होती' इत्याकारक प्रतिज्ञा उद्भावित करना प्रत्यक्षपूर्विकाअर्थापत्तिबाध है।[४२१]

(ख) अनुमानपूर्विकाअर्थापत्तिबाध

देशान्तर प्राप्ति द्वारा सूर्य में गति के अनुमान से, सूर्य में गमन शक्ति की कल्पना करना अनुमानपूर्विकाअर्थापत्ति है। इसके विरोध में 'सूर्य में गमन शक्ति नहीं है' इत्याकारक प्रतिज्ञा का उद्भावन उक्त बाध होगा। इसी प्रकार 'शब्द में अभिधायक शक्ति नहीं है' इत्याकारक प्रतिज्ञा कथन भी उक्त बाध होगा।[४२२]

(ग) श्रुतार्थापत्तिबाध

'देवदत्त दिन में नहीं खाता' फिर भी मोटा है,' इस वाक्य को सुनकर यह कल्पना

होती है कि वह रात्रि में खाता होगा, यह श्रुतार्थापत्ति न है। 'वह रात्रि में भी नहीं खाता' इत्याकारक प्रतिज्ञाप्रयोग उक्त अर्थापत्तिबाध होगा।[४२३]

(घ) उपमानपूर्विकाअर्थापत्तिबाध

गवय से उपमित गाय में, उस ज्ञान के विषय होने की शक्ति की कल्पना उपमानपूर्विकाअर्थापत्ति है।' गाय में इस ज्ञान के विषय होने की शक्ति नहीं है'—यह प्रतिज्ञा प्रयोग उक्त अर्थापत्तिबाध होगा।[४२४]

(ङ) अर्थापत्तिपूर्विकाबाध

शब्द-वाचक-शक्ति युक्त है, अन्यथा उससे अर्थ प्रतीति नहीं हो सकती। इस अर्थापत्ति से सिद्ध वाचक शक्ति से शब्द में नित्यत्व को सिद्ध करना अर्थात् 'शब्द नित्य है, अन्यथा वाचक शक्ति नहीं हो सकती' यह अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति है। इसका 'शब्द नित्य नहीं है' इस प्रतिज्ञा प्रयोग से उक्त बाध होगा।[४२५]

(च) अभावपूर्विकाअर्थापत्तिबाध

अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा, जीवित चैत्र का अभाव घर में जानकर, उसके बाहर होने की कल्पना अभावपूर्विका अर्थापत्ति है। वह बाहर भी नहीं है' ऐसा प्रतिज्ञा कथन उक्त अर्थापत्ति बाध होगा [४२६]।

(६) अनुपलब्धिबाध

'खरगोश के सींग होते हैं', 'अग्नि शीतल होती है', 'पृथ्वी के समान, द्रव्य होने से, वायु रूपवान् होती है', आदि सब अनुपलब्धिविरोध के उदाहरण हैं, क्योंकि अनुपलब्धि-प्रमाण द्वारा यह ज्ञात होता है कि खरगोश के सींग नहीं होते, अग्नि शीतल नहीं होती एवं वायु में रूप नहीं होता।[४२७]

द्वितीय वर्ग में (१) धर्मस्वरूपबाध, (२) धर्मविशेषबाध, (३) धर्मिस्वरूप-बाध, (४) धर्मिविशेषबाध, (५) उभयस्वरूपबाध एवं (६) उभयविशेषबाध ये छः भेद समाहित किये गये हैं। इन दोषों में धर्म और धर्मी यथार्थ रहते हैं। धर्म का धर्मी के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसका किसी प्रबल प्रमाण द्वारा बाध होता है। जैसे, कोई व्यक्ति तृण आदि विक्रिया हेतु द्वारा (जले हुए तिनकों को देखकर)' 'हिम अग्निमान् है। ऐसी प्रतिज्ञा का उद्भावन करता है, तो उचित नहीं; कारण यहाँ प्रतिज्ञा का प्रत्यक्ष द्वारा बाध होता है। यद्यपि धर्मी हिम और धर्म-अग्निमत्त्व दोनों यथार्थ हैं, फिर भी उनका सम्बन्ध दोषविहीन नहीं है। इसलिये शैत्य के द्वारा, उष्णत्व का बाध हो जाने पर, धर्म-स्वरूपबाध और उष्णत्व का बाध होने पर, अग्निमत्त्व का धर्म-विशेष बाध होगा। इसी प्रकार 'अग्निषोमीयहिंसा अधर्म है' इस प्रतिज्ञा का आगम प्रमाण द्वारा बाध होता है। जिसका शास्त्र के द्वारा विधान होता है, वह अधर्म नहीं होता और अधर्म का शास्त्र द्वारा कभी विधान नहीं होता, इसलिये उक्त, प्रतिज्ञा आत्मघाती है। यहाँ अधर्म स्वरूप धर्मी का बाध होना धर्मिस्वरूपबाध और आगम द्वारा ऐसा बाध हो जाने पर अग्निषोमीय हिंसा में दुःख निमित्तत्व रूप धर्मी का बाध धर्मिविशेषबाध है। बौद्धों का यह प्रतिज्ञा प्रयोग 'सकल ज्ञान अयथार्थ है' धर्मधर्मिस्वरूप तथा धर्मधर्मिविशेष बाध द्वारा ग्रसित है, कारण ज्ञानस्वरूप तद्विशेष क्षणिकत्व और यथार्थत्व एवं तद्विशेष आत्यन्तिकत्व का बाध उभयस्वरूप एवं उभयविशेष बाध होगा। इन दोनों की ग्राहक बुद्धियों में भी

मिथ्यात्वाघात हो जाने से, उक्त प्रतिज्ञा द्वारा धर्मधर्मि स्वरूप तथा विशेष दोनों का बाध होने के कारण यह स्ववचन बाध भी है।[४२८] इस प्रकार 'श्लोकवार्तिक' के इन व्यापक विभेदों में प्रशस्तपाद और दिङ्नाग के प्रतिज्ञाभासों का समन्वय हो जाने पर भी कुमारिल की अपनी विशेषता अक्षुण्ण है, किन्तु द्वितीय वर्ग के छः भेदो का उपवर्णन निरर्थक-सा जान पड़ता है; क्योंकि इनको प्रथम वर्ग के भेदों में भली प्रकार से समाविष्ट किया जा सकता है। उनके टीकाकार उम्बेक भट्ट, सुचरित मिश्र पार्थसारथि मिश्र आदि सभी ने इन भेदों की व्यापक व्याख्या की है।[४२९] पार्थसारथि मिश्र ने 'शास्त्रदीपिका' में प्रत्यक्ष-विरोध आदि एवं अप्रसिद्ध-विशेषणत्व आदि प्रतिज्ञा दोषों को श्लोकवार्तिक में प्रपञ्चित होने का उल्लेख मात्र किया है।[४३०] चिन्न स्वामी ने भी यही बात कही है।[४३१] 'मान-मेयोदय' में इन दोनों के अतिरिक्त सिद्धविशेषण को भी प्रतिज्ञामास माना है। इस प्रकार, उन्होंने कुमारिल प्रणीत प्रथम वर्ग के तीनों मुख्य भेदों को स्वीकार किया है। बाधित-विशेषण के उन सभी उपभेदों का विभिन्न उदाहरणों द्वारा विवेचन किया है, जिनका वार्तिककार ने उल्लेख किया है। कुमारिल के द्वितीय वर्गीय भेदों का निरूपण 'मान-मेयोदय' में नहीं हुआ है' एवं कुमारिल के षड़ार्थापत्ति बाधों में से इसमें केवल एक अनुप-लब्धिपूर्विकाअर्थापत्तिबाध का उदाहरण दिया गया है।[४३२]

प्राभाकर मत

प्रभाकर मत संपादित करते हुए शालिकनाथ ने पक्षाभास तथा प्रतिज्ञाभास का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। भाष्यघटक 'अबाधिते' पद से प्रमाणान्तर बाधित विषय में होने वाले दोषों का परिहार करते हुए उन्होंने छः प्रकार के बाध दोषों अर्थात् पक्षाभास का परिगणन किया है—(१) प्रत्यक्षबाध, (२) अनुमानबाध, (३) शास्त्रबाध, (४) उपमानबाध, (५) अर्थापत्तिबाध तथा (६) अप्रसिद्धिविशेष्यक इनमें से प्रथम पाँच प्रकारों का विवेचन कुमारिल के बाधित विशेषण के प्रथम पाँच भेदों के समान है। तृतीय भेद के अतिरिक्त, शालिकनाथ ने कुमारिल के सभी उदाहरणों का अनुगमन किया है। तृतीय भेद शास्त्रबाध का उदाहरण इस प्रकार है—कर्म और फल का सम्बन्ध नहीं है' इस प्रतिज्ञा के उद्भावन से शास्त्रबाध होता है, क्योंकि शास्त्रों में कर्म और फल का अभिधान किया गया है। इसी प्रकार पञ्चम भेद में भी अभावपूर्विका अर्थापत्तिबाध का ही यहाँ उदाहरण दिया गया है। छठे भेद का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि एकदेशी में साध्यत्व का प्रदर्शन करने के लिए प्रसिद्ध धर्मी को उद्देश्य करके साध्य का विधान करना चाहिए। इसलिये अनुमान में धर्मी को सर्वदा ज्ञात रहना चाहिये, अन्यथा अप्रसिद्धिविशेष्यक पक्षाभास होगा, जैसे 'सर्वज्ञ वीतरात है' यहाँ विशेष्य सर्वज्ञ अप्रसिद्ध होने के कारण उक्त दोष होगा।[४३३] इसी प्रकार 'मेरी माता वन्ध्या है' इस प्रतिज्ञा का उद्भावन करना प्रतिज्ञाभास कहलाता है, क्योंकि माता को उद्देश्य कर वन्ध्यात्व का विधान नहीं किया जा सकता।[४३४] शालिकनाथ ने इस तरह कुमारिल का अनुमान किया है।

सांख्य मत

सांख्य दर्शन में आचार्य माठर ने प्रत्यक्ष विरुद्ध आदि नौ पक्षाभासों का संकेत मात्र किया है, निरूपण नहीं।[४३५] योग और वेदान्त ग्रन्थों में इनकी कोई चर्चा उप-लब्ध नहीं होती।

बौद्ध मत

बौद्ध दर्शन में 'न्यायद्वार' और 'न्यायप्रवेश' में पक्षाभासों का उल्लेख मिलता है, इनसे पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं। प्रथम में पाँच तथा द्वितीय में नौ प्रकार के पक्षाभास भेद ज्ञापित किये गये हैं। दोनों ग्रन्थों में उदाहरण के माध्यम से इन आभासों को समझाया गया है। 'न्यायप्रवेश' के अनुसार इनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है —

(१) **प्रत्यक्षविरुद्ध**—शब्द अश्रावण है।

(२) **अनुमानविरुद्ध**—घट नित्य है।

(३) **आगमविरुद्ध**—वैशेषिक द्वारा उद्भावित कथन–'शब्द नित्य है।'

(४) **लोकविरुद्ध**—नर कपाल पवित्र है, प्राणि-अङ्ग होने से, शङ्ख-शुक्ति के समान।

(५) **स्ववचनविरुद्ध**—मेरी माता वन्ध्या है।

(६) **अप्रसिद्धविशेषण**—बौद्धों का सांख्यों के प्रति यह कथन–'शब्द विनाशी है।'

(७) **अप्रसिद्धविशेष्य**—सांख्यों का बौद्धों के प्रति यह कथन–'आत्मा चेतन है।'

(८) **अप्रसिद्धोभय**—वैशेषिक का बौद्धों के प्रति यह कथन–'आत्मा सुख आदि का समवायी कारण है।'

(९) **प्रसिद्धसम्बन्ध**—शब्द श्रावण है।[४३६]

डॉ० रेण्डल मत का निराकरण

'न्यायद्वार' में वर्णित पक्षाभास के पाँच भेदों—(१) प्रत्यक्षविरुद्ध, (२) विकल्प-विरुद्ध, (३) प्रसिद्धिविरुद्ध, (४) आगमविरुद्ध एवं (५) स्ववचनविरुद्ध—में से प्रथम और चतुर्थ के उदाहरण 'न्यायप्रवेश' के समान ही प्रयुक्त किये गये हैं। द्वितीय, तृतीय और पञ्चम के उदाहरण डा० रेण्डल ने इस प्रकार दिये हैं—

(२) **विकल्पविरुद्ध**—सूर्य को अस्ताचलगामी देखकर यह कथन 'यह सुन्दर प्रातः वेला है।'

(३) **प्रसिद्धिविरुद्ध**—नारी और धन हेय पदार्थ हैं।

(५) **स्ववचनविरुद्ध**—शब्द अर्थ के ग्राहक नहीं है।[४३७]

प्रोफेसर टुची ने डॉ० रेण्डल मत की समीक्षा करते हुए लिखा है कि उनका मत सुगिरा के ग्रन्थ पर आधारित होने के कारण, समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि न्याय-शास्त्र से अनभिज्ञ होने के कारण सुगिरा ने अनेक जगह भ्रांतिमूलक लक्षण और उदाहरणों का प्रतिपादन किया है। चीनी अनुवाद के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'न्यायद्वार' में 'विकल्पविरुद्ध' के स्थान पर अनुमानविरुद्ध और 'घटनित्य है' यह उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार 'प्रसिद्धिविरुद्ध' का—'शशी, चन्द्र शब्द का वाचक नहीं है' यह उदाहरण दिया गया है।[४३८] उद्योतकर की प्रत्यक्षविरुद्ध, आगमविरुद्ध तथा प्रसिद्धिविरुद्ध की आलोचना से भी प्रोफेसर टुची का मत संगत जान पड़ता है। जैसा कि उद्योतकर ने लिखा है—'शब्द अश्रावण है', इसको प्रत्यक्षविरुद्ध इसलिये नहीं कहा जा सकता कि शब्द श्रव्य है या नहीं अर्थात् श्रवणेन्द्रिय का कार्य है अथवा नहीं ? यह बात प्रत्यक्ष द्वारा अवगम्य नहीं हो सकती, अपितु इन्द्रियों के कार्य अनुमान द्वारा ही जाने जा सकते हैं। जैसे, रूप आदि ज्ञान के अन्वयव्यतिरेक से इन्द्रियों की वृत्ति का अनु-

मान किया जाता है। इसलिये प्रत्यक्षविरुद्ध का सही उदाहरण है—'अग्नि अनुष्ण है।' इसी प्रकार वैशेषिकों द्वारा कथित–शब्द नित्य है' यह उदाहरण आगमविरुद्ध नहीं कहला सकता, कारण शब्द की अनित्यता को वैशेषिक आगम के आधार पर सिद्ध नहीं करते, वरन् अनुमान के आधार पर ही करते हैं। इसलिये इसका वास्तविक उदाहरण—'ब्राह्मणों को सुरापान नहीं करना चाहिये' होगा एवं प्रसिद्धिविरुद्ध के रूप में जो 'अचन्द्रः-शशीति' उदाहरण प्रयुक्त किया गया है वह भी उपयुक्त नहीं जान पड़ता, कारण यह भी वस्तुतः अनुमानविरुद्ध है, क्योंकि वृद्ध पुरुषों के चन्द्र शब्द को शशी अर्थ में प्रयुक्त करने से ही छोटे लोग उसे जान पाते हैं।[४३९] धर्मकीर्ति के उदाहरणों से भी यही बात पुष्ट होती है। उनके पक्ष लक्षण में अनिराकृत पद पक्षाभासों के निराकरण हेतु ही दिया गया है।[४४०] इन्होंने दोनों ग्रन्थों के विरुद्ध पद की अपेक्षा निराकृत पद का प्रयोग किया है, जो संभवतः 'न्यायद्वार' से लिया गया है, क्योंकि 'न्यायद्वार' में प्रत्यक्ष-अनुमान विरुद्ध तथा लोकविरुद्ध की व्याख्या इस प्रकार दी गयी है–'धर्मिणि एव यत् साध्यं तत् प्रसिद्ध प्रत्यक्षानुमानाभ्यांनिराकृतम् यथा शब्दोऽश्रावणः; नित्योघटः '(तथा तत्र साधारणवान् निरनुमाने ?) प्रसिद्ध वचन विरुद्धार्थ निराकृतम् यथा शशी न चन्द्रः।'[४४१] तदनुसार प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत, प्रतीतिनिराकृत, स्ववचननिराकृत आदि चार भेद उन्हें अभीष्ट हैं। इनमें से प्रथम का उदाहरण तो वही है, जो दोनों ग्रन्थों में प्रयुक्त किया गया है। द्वितीय में घट की जगह शब्द प्रयुक्त कर 'शब्द नित्य है' यह उदाहरण दिया गया है। तृतीय का उदाहरण प्रो० टुची द्वारा संशोधित 'न्यायद्वार' के प्रसिद्धिविरुद्ध के उदाहरण के समान है। चतुर्थ का उदाहरण है—'अनुमान प्रमाण नहीं है।'[४४२] 'न्यायद्वार' के प्रसिद्धिविरुद्ध 'न्यायप्रवेश' के लोकविरुद्ध तथा न्यायबिन्दु के 'प्रतीतिनिराकृत' तीनों अर्थातः एक ही अर्थ के परिचायक है, किन्तु शब्दतः भिन्न हैं। 'न्यायद्वार' तथा 'न्यायप्रवेश' पर प्रशस्तपाद का तथा धर्मकीर्ति पर प्रशस्तपाद और कुमारिल दोनों के पक्षाभास विवेचन का प्रभाव अंकित जान पड़ता है।

जैनमत

जैन परम्परा में पक्षाभासों का स्पष्ट संकेत प्रथमतः 'न्यायावतार' में उपलब्ध होता है। उन्होंने प्रतिपाद्यसिद्ध तथा बाधित दो पक्षाभास मुख्यतः मानकर, बाधित के पुनः दो भेद—लोकबाधित तथा स्ववचन बाधित भी ज्ञापित किये हैं।[४४३] उन्होंने केवल इन भेदों का ही परिगणन किया है, लक्षण व उदाहरण का निरूपण नहीं। इसकी व्याख्या करते हुए सिद्धर्षिगणि ने लिखा है कि जो पक्ष के स्थान में प्रयुक्त होकर भी पक्ष-कार्य सम्पादन नहीं करता एवं वस्तुतः पक्ष न होकर पक्ष के समान प्रतिभासित होता है, वह पक्षाभास कहलाता है।[४४४] प्रतिवादी के लिये जो सिद्ध रहता है, वही प्रतिपाद्य-सिद्ध कहलाता है; कारण जो सिद्ध रहता है वह पक्ष नहीं बनाया जा सकता। जैसे 'घट पौद्गलिक है' अथवा बौद्धों के प्रति 'सकल पदार्थ क्षणिक है' इत्याकारक पक्षकथन उक्त पक्षाभास होंगे। इन्होंने सिद्धसेन के लोक तथा स्ववचन बाधित में प्रत्यक्ष तथा अनुमान बाधित और जोड़कर चार बाधित भेदों को सउदाहरण व्यक्त किया है।[४४५] द्वितीय अध्याय में जैन साध्य लक्षण निरूपण के प्रसङ्ग में यह बतलाया जा चुका है कि अकलंक ने साध्य लक्षण में शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध ये तीन विशेषण प्रयुक्त किये हैं। इन विशेषणों के विरुद्ध अशक्य, अनभिप्रेत, प्रसिद्ध आदि विशेषणों का उपादान होने पर,

साध्य, साध्य न रहकर साध्याभास अर्थात् पक्षाभास में परिणित हो जाता है।[४४६] इन्हीं का अनुसरण करते हुए माणिक्यनन्दी ने उक्त तीन विशेषणों के स्थान पर इष्ट, अबाधित तथा असिद्ध इन तीनों विशेषणों को व्यवस्थित करते हुए, उनके विपरीत स्वरूप वाले अनिष्ट, बाधित तथा सिद्ध ये तीन पक्षाभास माने हैं।[४४७] (१) अनिष्ट—मीमांसकों का यह कथन—'शब्द अनित्य है' अनिष्ट पक्षाभास होगा, क्योंकि उन्हें शब्द की नित्यता ही इष्ट है।[४४८] (२) सिद्ध—'शब्द श्रावण है'—यह सिद्ध पक्षाभास है, क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुना ही जाता है।[४४९] बाधित के पुनः पाँच भेद किये गये हैं—(१) प्रत्यक्षबाधित, (२) अनुमानबाधित, (३) आगमबाधित, (४) लोकबाधित एवं (५) स्ववचनबाधित। इस प्रकार उन्होंने सिद्धर्षिगणि के उक्त चार भेदों में आगम-बाधित और जोड़कर, विभिद्ध उदाहरणों द्वारा इसके पाँच भेद किये हैं।[४५०] वादि देवसूरि ने, माणिक्यनन्दी का शब्दान्तर एवं उदाहरणवैभिन्य द्वारा समर्थन किया है। जैसे, इन्होंने माणिक्यनन्दी के उक्त तीन विशेषणों के स्थान पर अभीप्सित, अनिराकृत और अप्रतीत अपनाकर[४५१], इनके विपरीत स्वरूपवाले अनभीप्सित, निराकृत तथा प्रतीत इन तीन को पक्षाभास माना है।[४५२] और अनभीप्सित तथा प्रतीत का उसी प्रकार विवेचन कर[४५३] निराकृत के उक्त पाँच भेद माने हैं।[४५४] यद्यपि हेमचन्द्र ने भी साध्य लक्षण में उक्त तीन विशेषणों के स्थान पर सिषाधयिषित, असिद्ध तथा अबाध्य विशेषणों का प्रयोग किया है,[४५५] किन्तु इन्होंने पक्षाभास के रूप में, प्रथम दो के विपरीत स्वरूपवाले विशेषणों—असिषाधयिषित तथा सिद्ध का प्रयोग न करते हुए, केवल बाध के ही उक्त पाँच भेदों के अतिरिक्त, धर्मकीर्ति के 'प्रतीतिबाध' को वैसे का वैसा मानकर, छः भेद प्रतिपादित किये हैं।[४५६] सिद्धसेन से लेकर हेमचन्द्र तक जिन बाधित भेदों का विवेचन जैन ग्रन्थों में पाया जाता है, उसमें और वैशेषिक-मीमांसा-बौद्ध-विवेचन में कोई विशेष अन्तर-नहीं है, फिर भी उदाहरणों की विलक्षणता अवश्य देखी जाती है। अतः पुनरुक्ति भय से इनका यहाँ विवेचन नहीं किया गया है। इस प्रकार जैन पक्षाभासों पर वैशेषिक, मीमांसा एवं बौद्ध दार्शनिकों का प्रभाव स्पष्टतः प्रतिभासित होता है। दिगम्बर जैन तार्किकों का यह पक्षाभास विवेचन निरर्थक सा जान पड़ता है, क्योंकि ये सभी भेद किसी न किसी रूप में अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के दोनों भेदों में समाहित किये जा सकते हैं। श्वेताम्बर जैनों ने अकिञ्चित्कर को नहीं माना है, इसलिये उनके लिये, यह निरूपण, एक सीमा तक उचित कहा जा सकता है।

उक्त सभी भेद-विभेदों का अनुशीलन करने के उपरान्त सारभूत तथ्य यही जान पड़ता है कि न्याय सम्मत आश्रयासिद्ध तथा बाध हेत्वाभासों में गतार्थ हो जाने के कारण पक्षाभास अथवा प्रतिज्ञाभास विवेचन अनर्गल प्रलाप-सा लगता है। यदि इनके मानने का आग्रह किया जाय, तो कुमारिल प्रणीत प्रथमवर्गीय पक्षाभासों का विवेचन, प्रशस्तपाद तथा बौद्ध दिङ्नाग से अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि उनके सिद्ध, अप्रसिद्ध तथा बाधितविशेषण इन तीन मुख्य भेदों में ही सभी भेद भलीभांति अन्तर्भावित किये जा सकते हैं। जैसे, उनके बाधित विशेषण के अन्तर्गत 'शब्दविरोध' में जो प्रतिज्ञाविरोध, पूर्वसंजल्पविरोध तथा सार्वलोकप्रसिद्धिविरोध का संकलन किया गया है, वह प्रायः सभी दार्शनिकों से श्रेष्ठ जान पड़ता है, क्योंकि अन्य सभी ने इनके लिये आगम विरुद्ध, स्वशास्त्र-विरुद्ध, स्ववचनविरुद्ध, लोकविरुद्ध आदि पृथक् भेदों की रचना की है।

दृष्टान्ताभास, निदर्शनाभास अथवा उदाहरणाभास

दृष्टान्त और उदाहरण में वाच्यवाचकभाव होता है इसीलिये दृष्टान्त वचन को उदाहरण कहा जाता है। दोषों का आरोपण दृष्टान्त में ही होता है, इसलिये उदाहरणाभास भी वस्तुतः दृष्टान्ताभास ही है। फिर भी तर्कशास्त्र में दोनों नाम प्रचलित हैं। उदाहरणाभास वचनात्मक स्वरूप होने के नाते इसमें अर्थगत एवं वचनगत दोनों दोष समाविष्ट रहते हैं। साधर्म्य-वैधर्म्य दो प्रकार के दृष्टान्त होने के कारण, ये दोष भी मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। जो दोष साधर्म्य दृष्टान्त से उत्पन्न होते हैं, वे साधर्म्य दृष्टान्ताभास एवं जो वैधर्म्य दृष्टान्त से जन्य होते हैं, वे वैधर्म्य दृष्टान्ताभास कहलाते हैं।

वैशेषिक मत

प्रशस्तपाद ने दष्टान्त को निदर्शन के रूप में वर्णित कर, उसके साधर्म्य निदर्शन तथा वैधर्म्य निदर्शन ये दो भेद ज्ञापित किये हैं।[४५७] यद्यपि उन्होंने निदर्शनाभास सामान्य का पृथक् से कोई लक्षण नहीं दिया है किन्तु उनके निदर्शन लक्षण तथा 'अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति' इस वाक्य में निदर्शनाभास-सामान्य लक्षण निहित जान पड़ता है। इस प्रकार जिस निदर्शन में, निदर्शन लक्षण का अभाव पाया जाय, वही निदर्शनाभास है तथा निदर्शन के यथार्थ लक्षण प्रतिपादन से वे अपास्त हो जाते हैं; श्रीधर के अनुसार जो वस्तुतः निदर्शन नहीं है, किन्तु निदर्शन के किसी सादृश्य द्वारा निदर्शन के समान प्रतीत होता है, वही निदर्शनाभास है।[४५८] साधर्म्य-वैधर्म्य दो प्रकार के निदर्शन होने से निदर्शनाभास भी दो प्रकार के होते हैं—साधर्म्यनिदर्शनाभास और वैधर्म्यानिदर्शनाभास। दोनों छः छः प्रकार के हैं—

साधर्म्यनिदर्शनाभास

इसके छः भेदों—(१) लिङ्गासिद्ध, (२) अनुमेयासिद्ध, (३) उभयासिद्ध, (४) आश्रयासिद्ध, (५) अननुगत एवं (६) विपरीतानुगत को इस प्रकार समझा जा सकता है—भाष्यकार ने अत्यन्त संक्षेप पद्धति अपनाकर इन सभी को उदाहरण द्वारा समझाने का ही प्रयास किया है। अतः इनके आशय को भलीभांति समझने के लिये कन्दलीकार की व्याख्या के अनुसार ही इसका निरूपण किया जा रहा है।

(१) लिङ्गासिद्ध

'शब्द नित्य है, अमूर्त होने से, परमाणु की तरह।

यहाँ धर्मी शब्द में, हेतु अमूर्तत्व के द्वारा, साध्य नित्यत्व का साधन करने के लिये यदि कोई इस प्रकार का निदर्शन—'जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है, जैसे, परमाणु प्रयुक्त करता है, तो वह लिङ्गासिद्ध निदर्शनाभास कहलायगा। कारण निदर्शननिष्ठ परमाणु मूर्त होने के नाते, उसमें लिङ्ग अमूर्तत्व सिद्ध नहीं है। वस्तुतः निदर्शन में साध्य की भांति साधन का निश्चित रहना ही अत्यावश्यक है।

(२) अनुमेयासिद्ध

उक्त अनुमान में यदि कोई यह निदर्शन—'जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है जैसे, कर्म 'प्रयुक्त करता है, तो यह अनुमेयासिद्ध निदर्शनाभास होगा; कारण निदर्शनगत कर्म (क्रिया) में अनुमेय नित्यत्व सिद्ध नहीं है।

(३) उभयासिद्ध

पूर्वोक्त अनुमान में यदि कोई इस निदर्शन—'जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है जैसे, स्थाली' उद्‌भावित करने का प्रयास करता है, तो यह उभयासिद्ध निदर्शनाभास होगा; क्योंकि निदर्शननिष्ठ स्थाली में लिङ्ग अमूर्तत्व तथा अनुमेय नित्यत्व दोनों सिद्ध नहीं है।

(४) आश्रयासिद्ध

यदि उक्त अनुमान में इस निदर्शन—'जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है जैसे, तम, का प्रयोग किया जाय, तो आश्रयासिद्ध निदर्शनाभास होगा; कारण तम नामक कोई भाव पदार्थ ही विद्यमान नहीं है, जिसमें साध्य और साधन की व्याप्ति का निश्चित प्रदर्शन किया जा सके तथा प्रकृत पक्ष में साध्य का निश्चय करने के लिये उसे प्रयुक्त किया जाय।

(५) अननुगत

यदि उक्त अनुमान में साधर्म्य निदर्शन में केवल 'आकाश के समान' इतने अंश का ही प्रयोग किया जाय और 'जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है' इस अन्वय व्याप्ति-मूलक अंश को प्रयुक्त न किया जाय, तो अननुगत निदर्शनाभास होगा; कारण यद्यपि आकाश में अमूर्तता और नित्यता दोनों रहती हैं, फिर भी व्याप्तिमूलक उक्त द्वितीय अंश के प्रयोग किये बिना, पहले से अज्ञात साध्य और साधन दोनों की सत्ता का, आकाश में ज्ञान होना दुष्कर है। इसलिये साध्य और साधन, निदर्शन आकाश में, अनुगत रूप से ज्ञापक न होने के कारण, यह दोष होता है।

(६) विपरीतानुगत

'वायु द्रव्य है, क्रियायुक्त होने से, तीर की तरह। यहाँ भाष्यकार ने 'यद् द्रव्यं' 'तत् क्रियावद्‌दृष्टमिति' तथा कन्दलीकार ने इसमें वायु और जोड़कर' 'द्रव्यं वायु क्रिया-वत्त्वात्' केवल इतना ही प्रयोग किया है, किन्तु किसी निदर्शन का संकेत नहीं किया है। इसका कारण संभवतः यही हो सकता है कि प्रकृत में यहाँ विपरीत-अनुगतता का प्रदर्शन वस्तुतः अभिप्रेत है, जिसके कारण किसी निदर्शन का विधान नहीं हो पाया है। किन्तु पञ्चम निदर्शनाभास में निष्क्रिय आकाश से विपरीत क्रिया युक्त तीन का उदाहरण यहाँ भली प्रकार प्रयुज्य किया जा सकता है। तदनुसार 'जो क्रियायुक्त होता है वह द्रव्य होता है जैसे, तीर 'इस प्रकार अनुगततामूलक निदर्शन का उचित प्रयोग न करते हुए, इससे विपरीत क्रम—जो द्रव्य होता है वह क्रिया युक्त होता है' का यदि विन्यास किया जाय, तो विपरीतानुगत निदर्शनाभास होगा; क्योंकि नियमतः व्याप्ति में, पहले व्याप्य का प्रयोग होने के अनन्तर ही व्यापक का उल्लेख किया जाता है; कारण अनुमान उपयोगी व्याप्ति व्याप्य में ही रहती है। इसलिये व्यापक का व्याप्य के पहले प्रयोग होने के कारण, विपरीतानुगतता उपन्यस्त होने से इसको इस प्रकार निर्वचित किया गया है।[४५१]

वैधर्म्यनिदर्शनाभास

साधर्म्य निदर्शनाभासों की तरह, वैधर्म्य निदर्शनाभास भी छः प्रकार के होते हैं—(१) लिङ्गाव्यावृत्त, (२) अनुमेयाव्यावृत्त, (३) उभयाव्यावृत्त, (४) आश्रया-

व्यावृत्त, (५) अव्यावृत्त एवं (६) विपरीतव्यावृत्त। इनको इस प्रकार अवगम करना चाहिये —

(१) लिङ्गाव्यावृत्त

शब्द नित्य है, अमूर्त होने से, कर्म के समान।

यहाँ साधन अमूर्तत्व द्वारा धर्मी शब्द में साध्य 'नित्यत्व' की सिद्धि के लिये, यदि व्यतिरेक व्याप्तिमूलक वैधर्म्य निदर्शन, इस प्रकार—'जो अनित्य होता है वह मूर्त होता है जैसे, कर्म 'व्यक्त किया जाय, तो लिङ्गाव्यावृत्त निदर्शनाभास होगा; क्योंकि वैधर्म्य निदर्शन कर्म में अमूर्तत्व लिङ्ग की व्यावृत्तिदृष्ट नहीं होती। इसलिये कर्म में साध्य नित्यता का अभाव होने पर भी, साधन अमूर्तत्व का अभाव होने से, उक्त दोष होगा।

(२) अनुमेयाव्यावृत्त

उक्त अनुमान में, यदि वैधर्म्य निदर्शन के रूप में परमाणु को उपस्थित किया जाय, तो अनुमेयाव्यावृत्त निदर्शनाभास होगा; कारण 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता जैसे, परमाणु' इस रूप में परमाणु को वैधर्म्य निदर्शन के रूप में व्यक्त किया जाना इसलिये समीचीन नहीं है कि परमाणु नित्य होने के कारण, उसमें अनुमेय नित्यत्व का अभाव नहीं पाया जाता। इसलिये साध्य नित्यत्व की व्यावृत्ति न होने के कारण, साधन अमूर्तत्व की व्यावृत्ति मूर्त परमाणु में होने पर भी उक्त दोष होता है।

(३) उभयाव्यावृत्त

उक्त अनुमान में यदि कोई, 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता जैसे, आकाश' इस प्रकार से आकाश को वैधर्म्यनिदर्शन के रूप में व्यक्त करता है, तो उभयाव्यावृत्त निदर्शनाभास होता है; क्योंकि आकाश में साध्यनित्यत्व और साधन अमूर्तत्व दोनों का अभाव नहीं है।

(४) आश्रयाव्यावृत्त

इसी प्रकार उक्त अनुमान में, 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता जैसे तम 'इस प्रकार से तम को वैधर्म्यनिदर्शन के रूप में यदि उपस्थित किया जाय, तो आश्रयाव्यावृत्त निदर्शनाभास होता है क्योंकि तम नामक,कोई पदार्थ ही प्रसिद्ध नहीं है जिसमें कि साध्यव्यावृत्ति और साधनव्यावृत्ति का प्रदर्शन किया जा सके।

(५) अव्यावृत्त

उक्त अनुमान में, वैधर्म्य निदर्शन के प्रदर्शन के लिये, यदि 'घट के समान' इतने अंश का ही उद्भावन किया जाय और व्यतिरेक व्याप्तिमूलक' जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता' इस अंश को उपस्थित नहीं किया जाय, तो अव्यावृत निदर्शनाभास होता है; कारण यद्यपि घट रूप वैधर्म्यनिदर्शन में, साध्य व्यावृत्ति अनित्यत्व और साधन व्यावृत्ति मूर्तत्व दोनों हैं, फिर भी जब तक साध्याभाव–साधनाभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति का 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता'—इत्याकारक प्रदर्शन नहीं हो जाता, तब तक विरुद्ध मतिवाले पुरुष को साध्य के अभाव और साधन के अभाव की उपयुक्त प्रतीति नहीं हो पाती' इसलिये द्वितीय अंशविहीन केवल प्रथम अंश का उद्भावन होने के नाते, घट उक्त दोष से ग्रसित है।

(६) विपरीतव्यावृत्त

वायु द्रव्य है, क्रियायुक्त होने से, सत्ता की तरह। यहाँ भी विपरीतानुगत की भांति भाष्यकार ने केवल, 'यन्निष्क्रियंतद् द्रव्यंचेति' तथा इसमें वायु पद जोड़कर कन्दली-कार ने 'द्रव्यं वायु निष्क्रियावत्वात्' इतना ही प्रयोग किया है, किसी निदर्शन का प्रयोग नहीं। संभवतः इसका कारण विपरीत व्यावृत्ति का प्रदर्शन ही जान पड़ता है। इसीलिए दोनों ने निदर्शन की अपेक्षा विपरीत व्यावृत्तिमूलक उक्त अंशों का उपादान किया है। अव्यावृत्त निदर्शनाभास में प्रयुक्त निष्क्रिय घट के विपरीत क्रियायुक्त सत्ता का यहाँ वैधर्म्यनिदर्शन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है तदनुसार नियमतः 'जो द्रव्य नहीं होता वह क्रियायुक्त भी नहीं होता' जैसे सत्ता 'इत्याकारक व्यतिरेक व्याप्ति का प्रदर्शन ही फलदायक है; किन्तु 'यद्द्रव्यं' इत्याकारक साध्याभाव के बोधक पद का प्रथमतः प्रयोग न करके, यदि कोई इसके विपरीत हेत्वभाव के बोधक 'यन्निष्क्रियम्' इत्याकारक पद का प्रयोग करता है, तो यह विपरीतव्यावृत्त नामक निदर्शनाभास होगा। इस प्रकार 'जो क्रियायुक्त नहीं है वह द्रव्य भी नहीं है' इस रूप से व्यतिरेक व्याप्ति को विपरीत क्रम से प्रदर्शित करना ही उक्त दोष है।[४६०] श्रीधर के पूर्ववर्ती टीकाकार व्योमशिवाचार्य ने भी इन समस्त भेदों का समर्थन किया है।[४६१] शिवादित्य ने इस प्रसङ्ग में कोई टिप्पणी नहीं की है। शंकर मिश्र ने नैयायिकों को तरह दृष्टान्ताभासों का पर्यवसान हेत्वाभास तथा निग्रह स्थान में किया है। जैसा कि उन्होंने लिखा है, 'साध्य-साधन-उभय-विकल आदि दृष्तान्ताभाषों को चाहे हेत्वाभासविधया अथवा स्वतन्त्र रूप से दृष्टान्ता-भासतया दोष माना जाय, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, कारण दोनों अवस्थाओं में उक्त, -प्रकार के दोष, सद्हेतु के द्वितीय रूप सपक्षसत्त्व—निश्चय के अभाव में ही अनिवार्यतः उपन्यस्त होते हैं। इसलिये इनको हेत्वाभासों में अन्तर्भूत किया जा सकता है। इसी प्रकार अनुपदर्शित-अन्वय-व्यतिरेक तथा विपरीत-उपदर्शित-अन्वय-व्यतिरेक रूप दृष्टान्ताभास भी (वक्ता दोष होने के कारण) न्यून, अप्राप्तकाल आदि निग्रह स्थानों में पर्यवसित हो सकते हैं।[४६२]

न्याय मत

न्यायदर्शन में दृष्टान्ताभासों की चर्चा 'न्यायसूत्र' 'न्यायभाष्य' तथा 'न्यायवार्तिक' में उपलब्ध नहीं होती, किन्तु वाचस्पति मिश्र की 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में इनकी स्पष्ट रूप से व्याख्या की गयी है। यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने साधर्म्य-वैधर्म्य भेद से दो प्रकार के दृष्टान्तों का समर्थन किया है, किन्तु उन्होंने केवल पाँच प्रकार के साधर्म्य दृष्टान्ताभासों की व्याख्या की है। सूत्रकार के साधर्म्यदृष्टान्त लक्षण में प्रयुक्त 'साध्य-साधर्म्य' पद का ग्रहण साधन-साध्य-उभय-विकल आदि दृष्टान्ताभासों के निराकरण के लिये ही किया गया है। पञ्चमी विभक्ति विशिष्ट साध्य साधर्म्य प्रयुक्त तद्धर्मभावी होना ही उदाहरण का प्रयोजन नहीं है, अपितु उसे साध्यधर्म हेतु की साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति से भी युक्त होना चाहिये। इसलिये जहाँ इस व्याप्ति का प्रदर्शन नहीं किया जाय, अथवा विपरीत व्याप्ति उपदर्शित की जाय, तो अप्रदर्भितान्वय तथा विपरीतान्वय दृष्टान्तभास दोष होंगे।[४६३] जयन्त भट्ट ने वाचस्पति मिश्र के उक्त चतुर्थ भेद के स्थान पर अनन्वय को अवस्थापित कर साधर्म्यदृष्टान्ताभासों के शेष सभी पदों को उसी रूप में अपनाया है। इसके साथ ही साथ उन्होने वैधर्म्य दृष्टान्ता-

भास के भी पाँच भेद—इस प्रकार से माने हैं—(१) साध्याव्यावृत्त, (२) साधनाव्यावृत्त, (३) उभयाव्यावृत्त, (४) अव्यतिरेक एवं '५) विपरीत व्यतिरेक। दोनों वर्गों में प्रथम तीन साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास वस्तु दोष तथा अन्तिम दो आभास वचन दोष हैं। जयन्त भट्ट ने इस प्रकार दस प्रकार के दृष्टान्ताभासों का विवेचन किया है।[४६४] भासर्वज्ञ ने इनमें आश्रयविकल और आश्रयाव्यावृत्त ये दो भेद और मानकर—मुख्यतः बारह भेदों का विधान किया है। इनमें से प्रथम तीन साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का नाम वाचस्पति मिश्र एवं जयन्त भट्ट के अनुसार है। चतुर्थ भेद आश्रयविकल तथा आश्रयाव्यावृत्त है, जिसका उल्लेख उक्त दोनों आचार्यों ने नहीं किया है। अन्तिम दो नाम इस प्रकार है—अव्याहृयभिधान—और विपरीतव्याहृयभिधान' इन्होंने भी जयन्त भट्ट की तरह, दोनों वर्गों के प्रथम चार को अर्थ दोष एवं अन्तिम दो को वचनदोष कहा है।[४६५] गङ्गेश ने भी इन्हीं बारह भेदों का उल्लेख किया है, अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने अन्तिम चार भेदों को—अनुपदर्शितान्वय, विपरीतउपदर्शितान्वय, अनुपदर्शितव्यतिरेक, एवं विपरीतउपदर्शितव्यतिरेक इस रूप से व्यक्त किया है।[४६६]। 'न्यायसार' में साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों के प्रथम चार भेदों में संदिग्ध पद जोड़कर अन्य चार-चार भेद का भी अन्य मतानुसार प्रतिपादन किया गया है।[४६७] अन्य मत द्वारा धर्मकीर्ति मत सम्भावित हो सकता है; क्योंकि उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में संदिग्ध पद का प्रयोग प्रायः उपलब्ध नहीं होता और इन आठ भेदों की विवेचना पद्धति, उदाहरण विन्यास आदि भी धर्मकीर्ति के विवेचन के समान ही जान पड़ता है। वाचस्पति मिश्र द्वारा समर्थित पाँच, जयन्त भट्ट द्वारा अनुमोदित दस, भासर्वज्ञ द्वारा स्वीकृत प्रथम बारह एवं गङ्गेश द्वारा मान्य बारह भेदों का उल्लेख निरूपण एवं उदाहरण विवेचन, थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ, प्रशस्तपाद के बारह भेदों का ही विभिन्न शब्दावली में समर्थन है। और परिष्कृत नामों के अतिरिक्त इनमें कोई नवीन तथ्य प्रतिपादित नहीं होता। इसलिये इनका पुनः वर्णन करना पिष्टपेषण होगा। यद्यपि इन दोषों का वर्णन नैयायिकों ने किया भी है, किन्तु सिद्धान्ततः वे इनको हेतु दोषों में ही समाहित मानते हैं। जयन्त ने कहा भी है "ये सभी दोष वस्तुवृत्तेन हेतु दोष ही है, इसलिये इनका अनुविधान हो जाने के कारण सूत्रकार गौतम ने इन्हें हेत्वाभासों के समान पृथक् रूप से उपदिष्ट नहीं किया। जहाँ जो इनका वर्णन किया गया है, वह शिष्यों के हित अर्थात् ज्ञान परिवर्धन के लिये ही है,[४६८] सिद्धान्त प्रतिपादन के लिये नहीं।

मीमांसा-भाट्ट मत

'मीमांसासूत्र' और 'शाबरभाष्य' में दृष्टान्ताभासों का विवेचन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु उनके भाष्य टीकाकार कुमारिल ने इनका निरूपण अवश्य किया है। कुमारिल भट्ट ने दो प्रकार के दृष्टान्त भेद माने हैं—साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त। तदनुसार दृष्टान्ताभास भी दो प्रकार के—साधर्म्य दृष्टान्ताभास तथा वैधर्म्यदृष्टान्ताभास, स्वीकार किये गये हैं। पुनः इन्होंने इनको रचनादोष और अर्थअन्यथात्व दोषों में वर्गीकृत किया है। रचना दोष प्रशस्तपाद के विपरीतानुगत और विपरितव्यावृत्त के संयुक्त रूप का तथा अर्थअन्यथात्व लिङ्गासिद्धअनुमेयासिद्ध-उभयासिद्ध तथा लिङ्गाव्यावृत्त-अनुमेयाव्यावृत्त-उभयाव्यावृत्त के संयुक्त रूप का अपर नाम है। नियतव्याप्ति रचना क्रम के अनुसार, साधर्म्य दृष्टान्त में, साधन को व्याप्य तथा साध्य को व्यापक के रूप में, तथा वैधर्म्य

दृष्टान्त में, साध्याभाव को व्याप्य तथा साधनाभाव को व्यापक के रूप में, प्रतिपादित किया जाता है। इस प्रकार व्याप्यव्यापक भाव के नियतक्रम के अतिलंघन होने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हें रचना दोष कहा जाता है जैसे 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः यथा महानसः' तथा 'यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः यथा ह्रदः'। प्रथम साधर्म्य दृष्टान्त पाकशाला तथा द्वितीय वैधर्म्य दृष्टान्त जलाशय में नियत व्याप्तिक्रम की व्यवस्था की गयी है। किन्तु इसके विपरीत यदि 'यत्र तत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः' अथवा 'यत्र यत्र धूमाभावः तत्र तत्र वह्न्यभावः' इस प्रकार से व्याप्ति की रचना की जाय, तो वह रचना दोष होगा। इस प्रकार विपरीत व्याप्ति क्रम को ही इनके मत में रचना दोष माना गया है। जब वाक्य का सम्यक् प्रयोग करने पर भी, साध्य हेतु तथा व्याप्ति का अभाव होने के कारण, यदि उस प्रकार का अर्थ निष्पन्न न हो, तो वहाँ पर अर्थअन्यथात्व दोष होता है। जैसे, ध्वनि, नित्य है, अमूर्त होने से, कर्म, परमाणु अथवा घट की तरह। यहाँ प्रथम दृष्टान्तकर्म साध्यशून्य, द्वितीय दृष्टान्त परमाणु, साधनविहीन तथा अन्तिम दृष्टान्त घट में व्याप्ति का अभाव होने के कारण उभयवैकल्य है। इसी प्रकार—'ध्वनि अनित्य है, भूत होने से', अणु, बुद्धि अथवा आकाश के समान। इस प्रयोग में प्रथम दृष्टान्त अणु साध्याभाव, द्वितीय दृष्टान्त बुद्धि साधनाभाव तथा अंतिम दृष्टान्त आकाश व्याप्ति के अभाव अर्थात् उभय से शून्य है। अतः दृष्टान्त में, उचित क्रम के अनुसार, व्याप्ति प्रतिपादन न होने से, केवल साहित्यमात्र से व्याप्ति प्रतिपादन करना रचना दोष और लिङ्गलिङ्गी अथवा सम्बन्ध शून्य होने पर अर्थअन्यथात्व दोष होता है।[४६९] तात्पर्य टीकाकार, का शिकाकार तथा न्यायरत्नाकरकार आदि सभी वार्तिक टीकाकारों ने इन भेदों की विशद व्याख्या की है।[४७०] पार्थसारथि मिश्र ने 'शास्त्र-दीपिका' में साध्य विकल तथा साध्याभावविकल आदि साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का निर्देश करते हुए, वार्तिक में ही देखने का संकेत किया है।[४७१] चिन्नस्वामी ने भी इसी परिपाटी का अनुगमन किया है।[४७२] मानमेयोदयकार ने वार्तिककार के उक्त चार भेदों में अव्याप्यभिधान तथा आश्रय विकल और जोड़कर प्रशस्तपाद समर्थित छः-छः दृष्टान्ताभासों का वर्णन भासर्वज्ञ की तरह ही किया है।[४७३]

प्राभाकर मत

प्रभाकर मत संपादित करते हुए, शालिकनाथ ने साध्यविकल, साधन विकल तथा उभयविकल सम्बन्ध-नियम-विकल आदि चार प्रकार के साधर्म्य दृष्टान्ताभास ही माने हैं। इन्होंने वैधर्म्य दृष्टान्त की उपयोगिता स्वीकार नहीं की है, अतः वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों के निरूपण का इनके मत प्रश्न ही नहीं उठता। इनमें से प्रथम तीन का निरूपण वार्तिककार तथा अन्य दार्शनिकों के समान है और सम्बन्ध नियम की विकलता सम्बन्ध नियम के अप्रदर्शन तथा विपरीत प्रदर्शन से निष्पन्न होती है।[४७४] इस प्रकार इन्होंने वाचस्पति मिश्र समर्थित पाँच दृष्टान्ताभासों का अक्षरशः अनुसरण किया है, किन्तु वार्तिककार के रचना दोष तथा अन्यदार्शनिकों के अननुगत, विपरीतानुगत, अनन्वय, अप्रदर्शितान्वय, विपरीतान्वय आदि नामों की अपेक्षा शालिकनाथ समर्थित सम्बन्ध नियमविकल नाम अधिक समीचीन जान पड़ता है।

सांख्य मत

सांख्याचार्य माठर ने दस साधर्म्य दृष्टान्ताभासों की संख्या मात्र का उल्लेख

किया है।[४७५] इनके अतिरिक्त किसी अन्य सांख्य ग्रन्थ में दृष्टान्ताभासों का संकेत नहीं पाया जाता। इसी प्रकार योग और वेदान्त ग्रन्थों में भी इन आभासों का निर्वचन नहीं हो पाया है।

बौद्ध मत

बौद्ध दर्शन में 'न्यायप्रवेश' के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में दृष्टान्ताभासों का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। 'न्यायप्रवेश' में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दृष्टान्ताभासो के पाँच-पाँच भेद व्यक्त किये गये हैं। साधनधर्मासिद्ध, साध्यधर्मासिद्ध, उभयधर्मासिद्ध, अनन्वय, विपरीतान्वय आदि पाँच साधर्म्य दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, व्यतिरेक, विपरीतव्यतिरेक आदि पाँच वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है।[४७६] यह भेद विवेचन प्रशस्तपाद के चौथे आश्रयासिद्ध तथा आश्रयाव्यावृत्त को छोड़कर परिष्कृत शब्दावली में उनके पाँच-पाँच भेदों का ही समर्थन जान पड़ता है। कारण न्यायप्रवेशनिष्ठ अनुमान प्रयोग और उदाहरण प्रायः वही हैं, जिन्हें प्रशस्तपाद ने प्रयुक्त किया है। केवल साधर्म्य दृष्टान्ताभास के द्वितीय और तृतीय उदाहरण—बुद्धि और घट विभिन्न हैं। धर्मकीर्ति ने इन दस भेदों का समर्थन करते हुए अन्य आठ भेद और प्रतिपादित करते हुए नौ साधर्म्य दृष्टान्ताभास[४७७] तथा नौ वैधर्म्य दृष्टान्ताभास[४७८] ज्ञापित किये हैं। इस प्रकार उन्होंने अठारह प्रकार के दृष्टान्ताभास माने हैं। धर्मकीर्ति के उक्त अट्ठारह दृष्टान्ताभासों में से, संदिग्धसाध्य, संदिग्धसाधन, संदिग्धोभय, संदिग्धसाध्यव्यतिरेक, संदिग्धसाधनव्यतिरेक, संदिग्धोभयव्यतिरेक अनन्वय एवं अव्यतिरेक इन आठ दृष्टान्ताभासों के अतिरिक्त शेष दस दृष्टान्ताभासों का विवेचन प्रशस्तपाद के समान है। अतः अन्तिम दस का पुनः निरूपण करना निष्प्रयोजक होगा। प्रथम आठ भेदों को इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) **संदिग्धसाध्य**	—	यह (पुरुष) राग आदि से युक्त है, वक्ता होने से, रथ्या (मार्ग-गामी) पुरुष के समान।
(२) **संदिग्धसाधन**	—	यह (पुरुष) मरणधर्मा है, राग आदि से युक्त होने से, रथ्या पुरुष के समान।
(३) **संदिग्ध-उभय**	—	वह (पुरुष) सर्वज्ञ है, राग आदि से युक्त होने से, रथ्या पुरुष के समान।

यहाँ तीनों प्रयोगों में दृष्टान्त समान ही है, किन्तु साध्य-साधन की विशिष्ट अवस्थिति के कारण, उक्त दोष सम्भावित होते हैं। जैसे, प्रथम में साध्य 'रागादिमानत्व' निश्चित न होने के कारण संदिग्ध है, क्योंकि मार्गगामी पुरुष राग आदि विशिष्ट हो भी सकता है और नहीं भी। इसीलिये पुरुष के राग आदि विशिष्ट होने में संदेह होने के कारण, इसको संदिग्धसाध्यविकल कहते हैं। इसी प्रकार द्वितीय में साधन रागादिमानत्व एवं तृतीय में साध्य सर्वज्ञत्व तथा साधन रागादिमानत्व निश्चित न होने के कारण संदिग्ध होने पर संदिग्धसाधनविकल तथा संदिग्ध उभयविकल दृष्टान्ताभास कहलाते हैं।

(४) अनन्वय

जहाँ दृष्टान्त में साध्य व साधन के अन्वय के बिना केवल सम्भावनामूलक सहभाव ही प्रदर्शित किया जाय उसे अनन्वय कहा जाता है। जैसे, उक्त पञ्चम दृष्टान्त का इस प्रकार निर्वचन—रथ्या पुरुष में साधन वक्तृत्व तथा साध्य रागादिमानत्व दोनों सहदृष्ट हैं—अनन्वय कहलाता है, 'न्यायप्रवेश' में घट में कृतकत्व तथा अनित्यत्व के सहभाव को अनन्वय कहा गया है।

(५) संदिग्धसाध्यव्यतिरेक

प्रतिज्ञा	—	कपिल आदि असर्वज्ञ अथवा अनाप्त हैं,
हेतु	—	क्योंकि उनमें सर्वज्ञता का लिङ्गभूत प्रमाणातिशय शाशन नहीं पाया जाता,
वैधर्म्यदृष्टान्त	—	जो-जो सर्वज्ञ या आप्त होते हैं वे-वे ज्योतिष आदि ज्ञानों के उपदेष्टा होते हैं जैसे, ऋषभ और वर्धमान आदि।

यहाँ दृष्टान्तभूत ऋषभ और वर्धमान में साध्य धर्म असर्वज्ञता अथवा अनाप्तता में व्यतिरेक संदिग्ध है, क्योंकि ऐसा भी सम्भव है कि एक व्यक्ति ज्योतिष आदि ज्ञान का उपदेष्टा तो हो, किन्तु सर्वज्ञ या आप्त न हो। इसलिये साध्य-व्यतिरेक का निश्चय न होने के नाते यहाँ संशय बना रहता है। अतः इसको संदिग्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहा जाता है।

(६) संदिग्धसाधनव्यतिरेक

प्रतिज्ञा	—	कोई पुरुष त्रयीवित् (ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदों का ज्ञाता) ब्राह्मण से ग्राह्यवचन विशिष्ट) जिसके वचन ग्रहण किये जाने योग्य हों) नहीं है,
हेतु	—	क्योंकि वह राग आदि से युक्त है,
वैधर्म्यदृष्टान्त	—	जिन-जिन का वचन ग्रहण करने योग्य होता है वे-वे राग आदि से युक्त नहीं होते, जैसे, धर्मशास्त्र के प्रणेता गौतम आदि।

यहाँ दृष्टान्तभूत गौतम में साधनधर्म रागादिमानत्व का व्यतिरेक व्यक्त किया गया है, किन्तु उनमें रागादिमानत्व के अभाव का निश्चय न होने से, यह संदिग्धसाधनाव्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहलाता है, क्योंकि गौतम रागादिमान हो भी सकते हैं और नहीं भी।

(७) संदिग्धउभयव्यतिरेक

प्रतिज्ञा	—	कपिल आदि वीतराग नहीं हैं,
हेतु	—	क्योंकि उनमें परिग्रह और आग्रह पाया जाता है,
वैधर्म्यदृष्टान्त	—	जो-जो वीतराग होते हैं वे-वे अपरिग्रही और अनाग्रही होते हैं, जैसे, ऋषभ देव आदि।

यहाँ दृष्टान्तभूत ऋषभ देव आदि तीर्थंकारों में साध्यधर्म अवीतरागत्व तथा साधन धर्म परिग्रहत्व और आग्रहत्व' में व्यतिरेक निश्चित नहीं हैं, क्योंकि वे वीतरागी एवं परिग्रही और अनाग्रही हैं भी या नहीं, यह संदेह बना ही रहता है। इसलिये इसे संदिग्ध उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहा जाता है।

(८) अव्यतिरेक

'न्यायप्रवेश' में इन तीनों भेदों का अभाव है। जिस दृष्टान्तभाव में साध्य-साधन की निवृत्ति के बिना दोनों का सम्भावनामूलक असहभाव प्रदर्शित किया जाता है, उसे अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहा जाता है। जैसे, घट में नित्यत्व और अमूर्तत्व का असहभाव है। इस न्यायप्रवेशनिष्ठ व्याख्या से सर्वथा विलक्षण व्याख्या करते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है कि जिस दृष्टान्त में व्यतिरेक उपपन्न न होने पाता हो उसे अव्यतिरेक कहा जाता है जैसे, जो वीतराग होता है, उसमें वक्तृत्व नहीं होता, पाषाण खंड के समान। इस पाषाण खंड दृष्टान्त में वीतरागत्व तथा वक्तृत्व दोनों की व्यावृत्ति है फिर भी सभी वीतराग वक्ता नहीं होते इस व्याप्ति से व्यतिरेक की सिद्धि न होने से व्यतिरेक अविद्यमान है।[४७९] धर्मोत्तर तथा पं० दुर्वेक मिश्र ने भी अपनी-अपनी टीकाओं में इन समस्त अट्ठारह भेदों की भली प्रकार व्याख्या की है।[४८०]

भासर्वज्ञ के संदिग्ध-साध्य, संदिग्ध साधन तथा संदिग्ध-उभय एवं संदिग्धसाध्याव्यावृत्त, संदिग्धसाधनाव्यावृत्त तथा संदिग्धउभयाव्यावृत्त भेदों पर धर्मकीर्तिका प्रभाव जान पड़ता है। किन्तु उन्होंने अव्याप्त्यभिमान के रूप में जिस भेद का ज्ञापन किया है, उसी में अनन्वय—अप्रदर्शितान्वय तथा अव्यतिरेक-अप्रदर्शितव्यतिरेक ये चारों भेद समाविष्ट हो जाने के कारण, उनका भेद विवेचन धर्मकीर्ति से अधिक समीचीन जान पड़ता है। इन्होंने धर्मकीर्ति के इन नौ-नौ भेदों के अतिरिक्त संदिग्धआश्रय संदिग्ध-आश्रयव्यावृत्त ये दो भेद और भी ज्ञापित किये हैं—

संदिग्ध आश्रय —— यह सर्वज्ञ नहीं है, वाचाल होने से, भविष्य में होने वाले देवदत्त के पुत्र के समान।

यहाँ दृष्टान्तभूत भविष्य देवदत्त पुत्र में प्राणाभाव होने से यह संदिग्धआश्रय दृष्टान्ताभाव कहलाता है; क्योंकि दृष्टान्ताभूत आश्रय भविष्य देवदत्त पुत्र में साधन बहुवक्तृत्व तथा साध्य असर्वज्ञत्व का अन्वय निश्चित नहीं होने के कारण यह संदिग्ध-आश्रय दृष्टान्ताभास कहा जाता है।

संदिग्धआश्रयव्यावृत

उक्त प्रयोग में यदि वैधर्म्यदृष्टान्त का 'जो सर्वज्ञ नहीं होता वह वह वाचाल भी नहीं होता जैसे, भविष्यदेवदत्त पुत्र' इत्याकारक प्रतिपादन किया जाय, तो यहाँ भी उक्त रीति के अनुसार दृष्टान्त भविष्य देवदत्त पुत्र में आश्रय की व्यावृत्ति न पायी जाने से यह संदिग्धआश्रयाव्यावृत्त दृष्टान्ताभास कहलाता है। क्योंकि उक्त दृष्टान्तभूत आश्रय में साध्याभाव असर्वज्ञत्वाभाव तथा हेत्वभाव-बहुवक्तृत्वाभाव का व्यतिरेक निश्चित न होने से यह संदिग्धआश्रय-व्यावृत्त दृष्टान्ताभास कहलाता है।[४८१]

जैन मत

जैन परम्परा में हेत्वाभास तथा पक्षाभास की तरह दृष्टान्ताभास का लक्षण तथा भेदों का स्पष्टतम संकेत 'न्यायावतार' में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। इनकी चर्चा

करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'साध्य के सद्भाव में हेतु का होना' इस तथोपपत्ति तथा 'साध्य के अभाव में हेतु का कदापि न होना' इस अन्यथानुपपत्ति का जिस स्थल विशेष में बोध होता है, उसे साधर्म्य तथा वैधर्म्य दृष्टान्त कहा जाता है। इसलिये दोनों प्रकार के दृष्टान्तों में साध्य तथा साधन का निश्चित रूप से रहना नितान्त आवश्यक है। उक्त दोनों लक्षणों से विरहित हेतु से उत्पन्न होने वाले साध्य आदि विकल तथा संदिग्ध और साध्याभाव आदि से विकल तथा संदिग्ध, साधर्म्य तथा वैधर्म्य मात्र से प्रतिभासित होने वाले दृष्टान्त, दृष्टान्त न होकर दृष्टान्त दोष अर्थात् साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास कहलाते हैं। इस प्रकार इन दोषों के लक्षण विन्यास के साथ-साथ इनके अवान्तर भेदों का भी भास हो जाता है। तदनुसार उनके उक्त विवेचन में साधर्म्य दृष्टान्ताभास के अन्तर्गत (१) साध्यविकल, (२) साधनविकल, (३) उभयविकल, (४) संदिग्ध-साध्यधर्म, (५) संदिग्धसाधनधर्म एवं संदिग्धउभयधर्म तथा वैधर्म्यदृष्टान्ताभासों के अन्तर्गत (१) साध्याव्यतिरेक, (२) साधनाव्यतिरेक (३) उभयाव्यतिरेक, (४) संदिग्धसाध्यव्यतिरेक (५) संदिग्धसाधनव्यतिरेक एवं (६) संदिग्धउभय-व्यतिरेक, ये सभी अवान्तर भेद निहित जान पड़ते हैं। इस निरूपण से यह ज्ञात होता है कि उन्हें दृष्टान्ताभासों के रूप में अर्थ दोषही अभिप्रेत थे। संदिग्धसाध्यधर्म आदि तथा संदिग्धसाध्यव्यतिरेक आदि छः भेदों की जो चर्चा धर्मकीर्ति के माध्यम से भासर्वज्ञ के विवेचन में उपलब्ध होती है इसके मूल प्रवर्तक सिद्धसेन दिवाकर ही जान पड़ते हैं। क्योंकि धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में ऐसी चर्चा उपलब्ध नहीं होती। सिद्धर्षिगणि ने उक्त सभी भेदों का अपनी टीका में उदाहरण सहित प्रतिपादन किया है,[४८२] जिसका कि न्यायावतार में सर्वथा अभाव पाया जाता है।[४८३] माणिक्यनन्दी ने सिद्धर्षिगणि के प्रथम तीन-तीन भेदों में विपरीतान्वय तथा विपरीतव्यतिरेक भेद जोड़कर केवल आठ प्रकार के साधर्म्य-वैधर्म्य-दृष्टान्ताभासों का निरूपण किया है।[४८४] प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य ने भी इन्हीं भेदों का समर्थन किया है।[४८५] वादि देवसूरि ने धर्मकीर्ति सम्मत नौ-नौ भेद व्यक्त करते हुए अट्ठारह भेदों का निरूपण किया है।[४८६] सिद्ध-र्षिगणि[४८७] का समर्थन करते हुए इन्होंने भी, धर्मकीर्ति ने जो संदिग्धसाध्यव्यतिरेक आदि भेदों के विवेचन-प्रसंङ्ग में वैदिक मुनियों तथा जैन तीर्थङ्करों पर प्रहार किया था उसके प्रतिवाद स्वरूप अपने निरूपण में शुद्धोधन, सुगत, बोधिसत्त्व आदि को दष्टान्त में अवस्थित करते हुए प्रतिशोध लेने का प्रयास किया है।[४८८] हेमचन्द्र ने अनन्वय और अव्यतिरेक भेदों को छोड़कर शेष आठ-आठ भेद मानकर सोलह भेदों को स्वीकार किया है।[४८९] उनके विवेचन में आरोप, प्रत्यारोप आदि का भासर्वज्ञ के विवेचन की तरह अभाव है। उदाहरणाभासों की व्याख्या करते हुए धर्मभूषण ने लिखा है कि जो उदाहरण लक्षण से रहित हो, किन्तु उदाहरण के समान प्रतीत हो, उसे उदाहरणाभास कहा जाता है। उदाहरण लक्षण का राहित्य (अभाव) दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—दृष्टान्त का सम्यक् वचन न होना और अदृष्टान्त का सम्यक् वचन होना। जैसे, 'जो-जो अग्नियुक्त होता है वह-वह धूम युक्त भी होता है, यथा पाकशाला' तथा 'जहाँ-जहाँ धूम नहीं होता वहाँ-वहाँ अग्नि भी नहीं होती यथा सरोवर। इस प्रकार उन्होंने विपरीतान्वय और विपरीतव्यतिरेक के रूप में दो प्रकार के उदाहरणाभास स्वीकार किये हैं, क्योंकि इनमें व्याप्य-व्यापक का विपरीत कथन किया जाता है। अतः दृष्टान्त का सम्यक् वचन उदाहरणाभास कहलाता है।[४९०] सिद्धसेन दिवाकर से

लेकर धर्मभूषण तक सभी जैनाचार्यों के दृष्टान्ताभास विवेचन पर प्रशस्तपाद, धर्मकीर्ति और भासर्वज्ञ का प्रभाव जान पड़ता है तथा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ इन्होंने उन्हीं के उदाहरणों और भेद निरूपण को अपनाया है। अतः इनका पुनः विवेचन करना पुनरुक्ति होगी।

अनन्वय, अप्रदर्शितान्वय, विपरीतान्वय एवं व्यतिरेक, अप्रदर्शित-व्यतिरेक, विपरीतव्यतिरेक इन छः भेदों को समीक्षा करते हुए सिद्धर्षिगणि ने लिखा है कि उक्त दोषों को दृष्टान्ताभासों में परिगणित नहीं किया जा सकता; कारण अनन्वय तथा अव्यतिरेक वस्तुतः हेतु के ही दोष हैं, क्योंकि जैन सिद्धान्त में साध्य-साधन की व्याप्ति दृष्टान्त के आधार पर नहीं, अपितु तर्क द्वारा गृहीत की जाती है। जिस समय पूर्व अनुभत व्याप्ति सम्बन्ध को गृहीत करने वाले प्रमाण तर्क के स्मरणार्थ सिद्धान्ततः दृष्टान्त का कथन किया जाता है, उस समय भी अन्वय या अव्यतिरेक हेतु दोष ही रहता है, दृष्टान्त-दोष नहीं; कारण अविनाभाव सम्बन्ध की प्रस्थापना प्रमाण द्वारा अभी तक नहीं होने पायी है इसलिये अविनाभाव सम्बन्ध के बिना अन्वय या व्यतिरेक निष्पन्न नहीं हो सकते, इसलिये हेतु दोष को दृष्टान्तदोष के सिर पर मढ़ने पर अतिप्रसङ्गदोष होगा। इसी प्रकार अप्रदर्शितान्वय-अप्रदर्शितव्यतिरेक तथा विपरतान्वय-विपरीतव्यतिरेक आदि भी दृष्टान्त-दोष नहीं कहला सकते; कारण अन्वय-व्यतिरेक का अप्रदर्शन एवं विपरीत प्रदर्शन वस्तुतः वक्ता के दोष हैं, क्योंकि उनकी न्यायशास्त्र से अनभिज्ञता एवं अकुशलता के कारण ही उक्त दोषों का प्रसरण होता है। इस प्रकार वक्ता दोषों को भी यदि दृष्टान्ताभासों के रूप में अभिव्यक्त किया जाय तो उनकी किसी संख्या का निर्धारण नहीं हो पायेगा, कारण वक्ता के दोष अनन्त होने के कारण ये दोष भी असंख्य ही मानने पड़ेंगे।[४९१] इस दृष्टि से बौद्धों से प्रभावित होने के कारण माणिक्यनन्दी, वादिदेवसूरि तथा हेमचन्द्र द्वारा जो इन दोषों का वर्णन किया गया है, वह जैन सिद्धान्त से असंगत और सिद्धर्षिगणि का मत तर्कसम्मत एवं सारगर्भित जान पड़ता है।

उक्त सभी मतों का अनुशीलन करने के उपरान्त निष्कर्ष यही निसृत होता है कि साध्य-साध्याभाव आदि विकल छः दोष तथा संदिग्ध साध्य-संदिग्धव्यतिरेक आदि छः दोष सद्हेतु के द्वितीय रूप सपक्षसत्त्व के निश्चित अभाव तथा संदिग्ध होने पर ही होते हैं। इन दोनों प्रकार के दोषों में दृष्टान्त में व्याप्ति या तो रहती ही नहीं अथवा संदिग्ध रूप से रहती है। इसलिये व्यभिचरित व्याप्ति होने के कारण अथवा व्याप्ति के अभाव में संदेह होने के कारण इन दोषों को अनैकान्तिक अथवा व्याप्यत्वासिद्धि के साध्याप्रसिद्धि, साधनाप्रसिद्धि और व्याप्तिविरहरूपा असिद्ध भेदों में समाविष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार वक्ता दोष उत्पन्न होने वाले अप्रदर्शितान्वय-व्यतिरेक, विपरीतान्वयव्यतिरेक आदि दोष भी उक्त कारणों से उत्पन्न होते हैं। अतः इनका भी हेत्वाभासों में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है, अन्यथा अप्राप्तकाल, न्युन आदि निग्रहस्थानों में भी इनकी परिगणना की जा सकती है। इसलिये इनको पृथक् दोष मानना निरर्थक है और यदि मानमेयोदयकार के "जहाँ जिस आभास का स्फुरण हो, वहाँ उसको उसी रूप में मानना चाहिये"[४९२] इस सिद्धान्त के अनुसार दृष्टान्ताभास मान्य किये जांय तो भासर्वज्ञ प्रणीत अवान्तर भेदों का अनुसरण किया जाना चाहिये, क्योंकि उनके विवेचन में सभी भेद परिनिष्ठित हो जाते हैं।

प्रो. कीथ-मत का खण्डन––

प्रोफेसर कीथ का मत है कि प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञाभास तथा दृष्टान्ताभासों की रचना दिङ्नाग से प्रभावित होकर की है, इसलिये दिङ्नाग को इनका प्रवर्तक मानना चाहिये। कारण इनका स्पष्ट विवेचन दिङ्नागकृत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उनके पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ जैसे 'वैशेषिक-न्याय-मीमांसा-योग-वेदान्त सूत्र,' 'योगभाष्य' शाबर-भाष्य' 'न्यायभाष्य' आदि में नहीं होता।[४९३] किन्तु यह मत भ्रांतिमूलक और तथ्यों से सर्वथा परे है; क्योंकि दिङ्नाग के सैकड़ों वर्ष पूर्व महर्षि गौतम ने इन दोषों का वर्णन जाति और निग्रहस्थानों दोषों के अन्तर्गत कर दिया था। मूलतः पदार्थ विवेचक होने के नाते वैशेषिक सूत्रों में, इन दोषों का वर्णन नहीं हो पाया है, किन्तु प्रशस्तपाद को ग्रन्थ-वरासत्त के रूप में 'न्यायसूत्र' और 'न्यायभाष्य' भी उपलब्ध थे, जिनके आधार पर उन्होंने अपनी स्वतन्त्र गवेषणा तथा बुद्धिकौशल्य से नवीन तथ्यों का उद्भावन किया है। प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्षविरोधी, अनुमानविरोधी, आगमविरोधी स्वशास्त्र-विरोधी तथा स्ववचनविरोधी इन पाँच प्रकार के प्रतिज्ञाभासों का उल्लेख किया है। इन सभी का मूल स्रोत न्यायसूत्रनिष्ठ निग्रहस्थान विवेचन जान पड़ता है। स्वयं महर्षि गौतम ने प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध तथा प्रतिज्ञासन्यास इन चार प्रतिज्ञा-दोषों का वर्णन किया है।[४९४] इनमें से तृतीय प्रतिज्ञाविरोध का प्रशस्तपाद ने पाँच भेदों में प्रदर्शित किया है। इनके प्रथम एवं तृतीय भेदों का विवेचन इसी रूप में न्यायभाष्य में भी उपलब्ध होता है। जैसा कि भाष्यकार ने लिखा है––जो अनुमान प्रत्यक्ष व आगम विरुद्ध होता है, वह न्यायाभास कहलाता है।[४९५] न्यायसूत्रकार के 'अपसिद्धान्त'[४९६] निग्रहस्थान का ही विस्तार 'स्वसिद्धान्तविरोधी' तथा 'स्ववचनविरोधी' के रूप में अभिव्यक्त हुआ जान पड़ता है। न्यायसूत्र के बाइस निग्रहस्थानों में उक्त प्रथम चार निग्रहस्थानों के अतिरिक्त 'हेत्वन्तर', 'अप्राप्तकाल', 'न्यून', 'अधिक', 'अपसिद्धान्त' एवं 'हेत्वाभास' अनुमान से सम्बन्ध रखते हैं, शेष 'अर्थान्तर', निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान,' अप्रतिभा', 'विक्षेप', 'मतानुज्ञा', 'पर्यनुयोज्यो-पेक्षण' एवं 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रहस्थान शास्त्रार्थ में वादी और प्रतिवादी के वाद-विवाद में उपयोगी है। वस्तुतः ये सभी वक्ता के दोष हैं, अर्थगत दोष नहीं, इसलिये 'न्यायसूत्रकार' ने इनका हेत्वाभासों से पृथक् वर्णन किया है। दूसरी बात यह है कि प्रशस्तपाद ने कहीं भी पक्ष अथवा पक्षाभास पदों का प्रयोग नहीं किया है, उन्होंने पक्ष के लिये अनुमेय एवं सपक्ष और विपक्ष के लिये "तत्सजातीय" और 'तद्विपरीत' पदों का प्रयोग किया है। दिङ्नाग कृत पक्ष-सपक्ष और विपक्ष पदों का प्रयोग प्रशस्तपाद की अपेक्षा अधिक परिष्कृत जान पड़ता है। इसलिये दिङ्नाग को उत्तरवर्ती कहना अधिक संगत जान पड़ता है। इसी प्रकार निदर्शनाभासों के लिये भी प्रशस्तपाद महर्षि गौतम के ऋणी जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के आधार पर प्रतिपादित किये जाने वाले दृष्टान्तों का निरास करने के लिये चौबीस प्रकार के जाति दोषों का वर्णन पञ्चम अध्याय के प्रथम आह्निक में किया है। प्रशस्तपाद के––लिङ्गासिद्ध-लिङ्गा-व्यावृत्त, अनुमेयासिद्ध अनुमेयाव्यावृत्त; उभयासिद्धउभयाव्यावृत्त एवं आश्रयासिद्ध-आश्रयाव्यावृत्त का साधर्म्यसम-वैधर्म्यसम आदि जातियों में पर्यवसान किया जा सकता है क्योंकि सभी में किसी न किसी रूप में यथार्थ व्याप्ति का उद्भावन नहीं हो पाया है।

तथा अननुगत अव्यावृत्ति एवं विपरीतानुगत—विपरीत व्यावृत्ति को न्यून तथा अप्राप्तकाल निग्रहस्थानों में सन्निविष्ट किया जा सकता है। प्रशस्तपाद ने न्यायसूत्रकार के जाति और निग्रहस्थानों को संक्षिप्त रूप में उपनिबद्ध कर अपने प्रतिज्ञाभासों तथा निदर्शनाभासों की रचना की है। अतः वे अपनी कल्पना के लिये महर्षि गौतम और वात्स्यायन के ऋणी जान पड़ते हैं, दिङ्नाग के नहीं। इन तथ्यों के अतिरिक्त उनके पूर्ववर्ती आचार्य वसुबन्धु के 'तर्कशास्त्र' में 'स्ववचनविरुद्ध', प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमान-लोकविरुद्ध आदि चार पक्षाभासों का उदाहरण सहित स्पष्ट विवेचन उपलब्ध होता है।[४९७] इसलिये कहा जा सकता है कि दिङ्नाग ने पूर्व की तरह, इन आभासों को भी प्रशस्तपाद से गृहीत कर न्याय दार्शनिकों से अपने मत की विलक्षणता ज्ञापित करने हेतु, इन आभासों को परिष्कृत भाषा एवं परिमार्जित उदाहरणों द्वारा स्थापित किया है।

जयन्त भट्ट के साथ निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षविरुद्ध आदि पक्ष दोष तथा साधनविकलत्व आदि दृष्टान्त दोष, वस्तुस्थिति के अनुसार हेतु दोष हैं, इसलिये पक्ष-दृष्टान्त दोषों का निरूपण करना प्रपञ्च मात्र है। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए महर्षि गौतम ने पक्षाभास, दृष्टान्ताभास आदि दोषों के वर्णन की उपेक्षा करते हुए केवल हेत्वाभासों का वर्णन किया है।[४९८] यह मत इसलिये समीचीन जान पड़ता है कि आभासों के दो पृथक् वर्ग स्वीकार करने की अपेक्षा हेत्वाभास के अवान्तर भेदों में उक्त पक्षाभास तथा दृष्टान्ताभासों के समाहित करने में लाघव है। इसलिये पक्षाभासों को बाधित, एवं दृष्टान्ताभासों को आश्रयासिद्ध-व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास भेदों में समाविष्ट करना श्रेयस्कर है।

उपनयाभास, निगमनाभास एवं बालप्रयोगाभास

वादि देवसूरि ने उपनय और निगमन लक्षणों के उल्लंघन होने पर अर्थात् लक्षणों का विपरीत कथन होने पर उपनयाभास तथा निगमनाभास की सर्जना की है।[४९९] आशय यह कि जो उपनय-निगमन लक्षणों से शून्य हों और उपनय-निगमन की भांति प्रतिभासित हों, तो उन्हें उपनय-निगमन आभास कहा जायगा। इनकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि साध्यधर्मी (पक्ष) में हेतु का उपसंहार होना ही उपनय का लक्षण है और इस लक्षण से विहीन यदि साध्यधर्म का साध्यधर्मी में अथवा साधन धर्म का दृष्टान्त धर्मी (सपक्ष) में उपसंहार कर दिया जाय, तो उपनयाभास दोष होगा। जैसे, शब्दपरिणामी है, कृतक होने से, जो कृतक होता है, वह परिणामी होता है जैसे घट, इन तीन अवयवों के उपाख्यान के पश्चात् उपनय रूप में 'शब्द कृतक है' ऐसा न कहकर 'शब्द परिणामी है' अथवा 'घट कृतक है' ऐसा कहना उपनयाभास होगा।[५००] इसी प्रकार साध्यधर्म का साध्यधर्मी में उपसंहार होना निगमन है और इस लक्षण से रहित यदि साधनधर्म का साध्यधर्मी में अथवा साध्यधर्म का दृष्टान्तधर्मी में उपसंहार कर दिया जाय, तो निगमनाभास होगा। जैसे, उक्त चार अवयवों के प्रयोग के पश्चात् 'इसलिये शब्द परिणामी है', ऐसा निगमन न कहते हुए 'शब्द कृतक है अथवा घट परिणामी है' ऐसा प्रयोग निगमनाभास कहलाता है।[५०१] इसी प्रकार माणिक्यनन्दी ने अवयवों के हीन अथवा विपरीत क्रम प्रयोग को भी आभास माना है, जिसे बालप्रयोगाभास कहा जाता है, क्योंकि ऐसा प्रयोग होने पर बालक, शिष्य आदि को प्रकृत वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता।[५०२] किन्तु उपनयाभास तथा निगमनाभास को स्वतन्त्र रूप से

आभास मानना निरर्थक जान पड़ता है, कारण ये सभी हेत्वाभास में ही गतार्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार बालप्रयोगाभास के अन्तर्गत हीन अथवा विपरीत क्रम से अवयव प्रयोग करना न्यून और अप्राप्तकाल निग्रहस्थान रूप वक्ता-दोष है, अवयवाभास नहीं।

सारांशतः हेत्वाभास के अवान्तर भेदों में भली प्रकार समाहित हो जाने के कारण, प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास; निदर्शन, दृष्टान्त अथवा उदाहरणाभास; उपनयाभास एवं निगमनाभास आदि दोषों को स्वतंत्र आभास मानना समीचीन नहीं जान पड़ता।

संदर्भ निर्देश

१. अथ हेत्वाभासास्तत्त्वनिर्णयविजयप्रयोजकत्वान्निरूप्यन्ते। त० चि० पृ० १५७९। २. गा० पृ० १५७९-८०। ३. वै० सू० ३।१।१५। ४. न्याय सू० १।२।४ ५. हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः। न्या० भा० पृ० ३६३। ६. न्या० वा० पृ० ३६३। ७. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३६३। ८. न्या० मं० २ पृ० १५३। ९. न्या० सा० पृ० ३४। १०. दी० पृ० १५८०; गा० पृ० १५८०-८१। ११. तत्रानुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थज्ञानविषयत्वम्। त० चि० पृ० १५८०। १२. तत्र अनुमितिपदं अनुमितिनिष्ठकार्यतानिरूपकसम्बन्धित्वेनानुमितितत्कारणज्ञानपरम्। दी० पृ० १५८०। १३. वही पृ० १५८५। १४. दी० पृ० १५८५; गा० पृ० १५८५-८८; सा० गं० टी० पृ० ८६। १५. यद्विषयत्वेन लिङ्गज्ञानस्याऽनुमितिविरोधित्वम्। त० चि० पृ० १५८०। १६. दी० पृ० १५९०। १७. वही पृ० १५९०। १८. सि० मु० २ पृ० ५९-६०; वि० टी० २ पृ० ५९-६१। १९. वि० टी० २ पृ० ५९। २०. अवच्छेदकत्वंचेहानतिरिक्तवृत्तित्वम्। दी० पृ० १५९०। २१. गा० पृ० १५९४-९५। २२. गा० पृ० १५९५। २३. दी० पृ १५९१। २४. वही पृ० १६०४। २५. वही पृ० १६०४–५। २६. वही पृ० १६०६। २७. वही पृ० १६०६–७। २८. ज्ञायमानं सदनुमितिप्रतिबन्धकं यतत्त्वं हेत्वाभासत्वम्। त० चि० पृ० १५८०। २९. सा० गं० टी० पृ० ३५५। ३०. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य। वै० सू० ३।१।१४। ३१. अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् संदिग्धश्चानपदेशः। वही ३।१।१५। ३२. यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः। वै० सू० ३।१।१६; उ० पृ० ९६। ३३. यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम्। वै० सू० ३।१।१७; उ० पृ० ९६। ३४. प्र० भा० पृ० २९०-९३। ३५. वही पृ० २९१। ३६. वही पृ० २९३। ३७. वही पृ० ३४२। ३८. न्या० कं० पृ० ४९०। ३९. वही पृ० ५७६–७७। ४०. तदाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः। स० प० ३४ : ४१. वै० सू० ३।१।१५। ४२. उ० पृ० ९५–९६। ४३. वै० सू० ३।१।१५। ४४. उ० पृ० ९९। ४५. प्र० भा० पृ० ३४१; न्या० कं० पृ० ५७७–७९। ४६. न्या० कं० पृ० ५७९–८०। ४७. स० प० १५८। ४८. उ० पृ० ९५। ४९. वही पृ० ९६–९७। ५०. प्र० भा० पृ० ३४२। ५१. न्या० कं० पृ० ५८०–८१। ५२. स० प० १५९। ५३. विपरीतव्याप्तिकः

विरुद्धः । उ० पृ० ९५ । ५४. प्र० भा० पृ० ३४१–४२ । ५५. न्या० कं० पृ० ५८१-८२ ५६. स० प० १६० । ५७. वै० सू० ३।१।१५ । . ५८. उ० पृ० ९५-९६ । ५९. प्र० भा० पृ० ३४२ । ६०. न्या० कं० पृ० ५९३-९४ । ६१. उ० पृ० ९५-९६ । ६२ प्र० भा० पृ० ३४२–४३ । ६३. न्या० कं० पृ० ५९५–९८ । ६४. सं० प० १६१ । ६५. वही १६२ । ६६. वही १६३ । ६७. न्या० सू० १।२।४ । ६८. असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः । न्या० सा० पृ० ३५ । ६९. न्या० सू० १।२।५ । ७०. न्या० भा० पृ० ३७३–७४ । ७१. वही पृ० ३७४–७६ । ७२. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३७४–७५ । ७३. न्या० भा० पृ० ३७६ । ७४. न्या० वा० पृ० ३७३; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३७३; न्या० सू० वृ० पृ० ३७३ । ७५. न्या० वा० पृ० ३७३ । ७६. वही पृ० ३७२–७३ । ७७. न्या० मं० २ पृ० १५४ । ७८. वही पृ० १५४–५६ । ७९. न्या० सा० पृ० ३५ । ८०. वही पृ० ४३ । ८१. त० चि० पृ० १६३९ । ८२. वही पृ० १६३७ । ८३. 'सव्यभिचारप्रकरणम्' पर वामाचरण भट्टाचार्यकृत टीका पृ० २६९ । ८४. त० चि० तृ० १६८५ । ८५. सि० मु० २ पृ० ७१ । ८६. त० भा० पृ० ९४ । ८७. त० सं० पृ० ४४ । ८८. त० पृ० १७ । ८९. न्या० सू० वृ० पृ० ३७६; का० व० का० ७२ । ९०. त० सं० पृ० ४४ । ९१. त० चि० पृ० १६२७ । ९२. त० भा० पृ० ९४ । ९३. त० चि० पृ० १७०२ । ९४. त० भा० पृ० ९४ । ९५. त० पृ० १७ । ९६. न्या० सूत्र वृ० पृ० ३७६; का० व० का० ७३; सि० मु० २ पृ० ७१–७२, ९७ । ९७. त० सं० पृ० ४४ । ९८. त० चि० पृ० १७२१ । ९९. त० भा० पृ० ९४ । १००. त० सं० पृ० ४४ । १०१. का० व० का० ७३ सि० मु० २ पृ० ९७–९८ । १०२. सि० मु० २ पृ० ७२, । १०३. वही पृ० ९७–९८ । १०४. त० चि० पृ० १७४७–४८ । १०५. वही पृ० १७४८ । १०६. का० व० का० ७४; सि० मु० २ पृ० ९८; ७३ । १०७. न्या० सू० १।२।६ । १०८. न्या० भा० पृ० ३७७ । १०९. न्या० भा० पृ० ३७७-७८ ११०. तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति । कस्मात् । नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतमप्यस्ति । विनाशप्रतिषेधात् । यो० भा० पृ० ११२ । १११. न्या० भा० पृ० ३७८–७९ । ११२. न्या० वा० पृ० ३७९–८०; न्या० सू० ५।२।४ । ११३. वही पृ० ३७७ ११४. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३७७ । ११५. न्या० मं० २ पृ० १५७–५८ । ११६. वही पृ० १५६ । ११७. न्या० सा० पृ० ३५ । ११८. वही पृ० ३९–४० । ११९. वही पृ० ४१ । १२०. त० चि० पृ० १७७६ । १२१. त० भा० पृ० ९४ : १२२. त० सं० पृ० ४५; त० पृ० १७ । १२३. न्या० सू० वृ० पृ० ३७९ । १२४. सि० मु० २ पृ० ७३ १२५. वही पृ० ७३ । १२६. न्या० सू० १।२।७ । १२७. न्या० भा० पृ० ३८०–८१ । १२८. न्या० वा० पृ० ३८१ । १२९. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३८१ । १३०. न्या० भा० पृ० ३८१; न्या० वा० पृ० ३८१–८२; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३८१ । १३१. न्या० भा० पृ० ३८१–८३ । १३२. न्या० वा० पृ० ३८२–८३ । १३३. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३८१–८३ । १३४. न्या० मं० २ पृ० १५८ । १३५. न्या० सा० पृ० ३६ । १३६. वही पृ० ४७ । १३७. दी० पृ० १७८७ । १३८. त० चि० पृ० १७८४ । १३९. गा० पृ० १७८५ । १४०. बलंच व्याप्तिपक्षधर्मते त० चि० पृ० १७८७ । १४१. वही पृ० १७८७ । १४२. त० भा० पृ० ९४–९५ । १४३. सि० मु० २ पृ० ७५ । १४४. त० सं० पृ० ४६ । १४५. न्या०

सू० १।२।८। १४६. न्या० भा० पृ० ३८४–८६। १४७. न्या० वा० पृ० ३८५–८७। १४८. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३८४–८७। १४९. न्या० वा० ता० टी० प० सू० १।२।८ पर—Quoted in Dr. G. N. Jho's English Translation of Nyāya Sūtra with Ņyāya Bhāṣya & Nyāya Vārtika VOL. I. Footnote p. 149. १५०. न्या० मं० २ पृ० १६२। १५१. वही पृ० १६२। १५२. वही पृ० १६२–६३। १५३. न्या० सू० १।२।४। १५४. न्या० मं० २ पृ० १६६। १५५. वही पृ० १६६-६७। १५६. न्या० सा० पृ० ३५। १५७. वही पृ० ३६–३८। १५८. वही पृ० पृ० ३९। १५९. त० चि० पृ० १८५२। १६०. दी० पृ० १८५३–५४। १६१. त० चि० र० पृ० १८६१। १६२. वही पृ० १८६२। १६३. वही पृ० १८५७। १६४. वही पृ० १८६३। १६५. वही पृ० १८६४। १६६. वही पृ० १८६५। १६७. वही पृ० १८६५। १६८. वही पृ० १८६५-६६। १६९. वही पृ० १८६६। १७०. वही पृ० १८६६। १७१. वही पृ० १८६६। १७२. त० चि० पृ० १८६६। १७३. त० चि० र० पृ० १८६६। १७४. न्या० सु० वृ० पृ० ३८५-८७; का० व० का० ७५-७७; सि० मु० २ पृ० ८३-८५; ९९-१००। १७५. त० भा० पृ० ९१-९२। १७६. त० सं० पृ० ४६-४७। १७७. त० पृ० १७। १७८. न्या० सू० १।२।९। १७९. न्या० भा० पृ० ३८८। १८०. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३८८-८९। १८१. न्या० भा० पृ० ३८८-८९। १८२. न्या० मं० २ पृ० १६७-६८। १८३. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३८८। १८४. न्या० मं० पृ० १०१; न्या० मं० २ पृ० १६७। १८५. न्या० वा० ता० टी० प० ३८८। १८६. न्या० भा० पृ० ३९। १८७. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३८८-८९। १८८. न्या० मं० २ पृ० १६७। १८९. न्या० भा० पृ० ३९०; न्या० वा० पृ० ३९०; न्या० वा० टा० टी० पृ० ३९०। १९०. न्या० सू० गं० ५।२।११। १९१. न्या० भा० पृ० ३९०। १९२. न्या० वा० पृ० ३९०-९१। १९३. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३९०-९१। १९४. न्या० मं० २ पृ० १६७। १९५. न्या० सा० पृ० ३५। १९६. उद्धृत-न्या० सा० पृ० ४६। १९७. उद्धृत-न्या० वा० ता० टी० प० ३७९। १९८. न्या० सा० पृ० ४५-४६। १९९. त० चि० पृ० १८८२। २००. वही पृ० १९२५। २०१. दी० पृ० १८८५। २०२. त० भा० पृ० ९५। २०३. त० सं० पृ० ४८। २०४. न्या० सू० वृ० पृ० ३८८। २०५. वही पृ० ३९०। २०६. सि० मु० २ पृ० ८५। २०७. का० व० का० ७८; सि० मू० २ पृ० १०१-१०२। २०८. सि० मु० २ पृ० ९५-९६। २०९. न्या० सा० पृ० ३५। २१०. वही पृ० ४३-४४। २११. त० सं० दी० पृ० ४९। २१२. शा० दी० पृ० १८०; त० सि० र० पृ० ६१। २१३. मा० मे० पृ० ६९। २१४. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ७५-७६। २१५. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ७५-८१; न्या० र० पृ० ३७०-७१। २१६. शा० दी० पृ० १८०। २१७. वही पृ० १८०-८२। २१८. त० सि० र० पृ० ६१। २१९. मा० मे० पृ० ६९। २२०. वही पृ० ७०-७३। २२१. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ८३-८४। २२२. वही श्लो० ८४-८५। २२३. शा० दी० पृ० १८२; त० सि० र० पृ० ६१। २२४. मा० मे० पृ० ७५-७७। २२५. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ८४-८६। २२६. शा० दी० पृ० १८२। २२७. त० सि० र० पृ० ६१। २२८. मा० मे० पृ० ७५-७६। २२९. वही पृ० ७६। २३०. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ८४-८६। २३१. वही श्लो० ८६-९१। २३२. काशिका एवं न्या० र० उक्त श्लोकों पर। २३३. शा० दी० पृ० १८१।

२३४. काशिका पृ० ५९-६० । २३५. काशिका एवं न्या० र० उक्त श्लोकों पर । २३६. मा० मे० पृ० ७५-७६ । २३७. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ८५, न्या० र० पृ० ३७४ । २३८. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ९१-९३; न्या० र० पृ० ३७६-७७ । २३९. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ८४ । २४०. शा० दी० पृ० १८२ । २४१. त० सि० र० पृ० ६१ । २४२. प्र० पं० पृ० २१३-१४ । २४३. मा० मे० पृ० ७८-८० । २४४. शा० दी० पृ० १८२-८४ । २४५. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ८३-८४, ९६ । २४६. वही श्लो० ९६ । २४७. शा० दी० पृ० १८५-८६ । २४८. त० सि० र० पृ० ६२। २४९. मा० मे० पृ० ६२ । २५०. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ९७-१०० । २५१. शा० दी० पृ० १८८ । २५२. मा० मे० पृ० ७४-७५ : २५३. त० सि० र० पृ० ६२ । २५४. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १००-१०१ । २५५. वही श्लो० १०२-१०३ । २५६. वही श्लो० १०३-१०४ । २५७. वही श्लो० १०४-१०७ । २५८. शा० दी० पृ० १८५-१८८ । २५९. प्र. पं० पृ० २०७ । २६०. वही पृ० २०८ । २६१. वही । २६२. वही । २६३. वही । २६४. वही पृ० २०९ । २६५. ऋ० वि० पृ० ७५ । २६६. अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दशः । असिद्ध अनैकातिकविरुद्धादयः । मा० बृ० पृ० १२-१३ । २६७. खं० पृ० ३७५-७८ । २६८. उ० हृ० पृ० १४-१७ । २६९. HIL p. 260 । २७०. BLBD p. 480 । २७१. Ibid p. 481 । २७२. पृ० ४० । २७३. प्र० वा० का० २।१ । २७४. म० बृ० पृ० २८३ । २७५. न्या० बि० ३।५५ । २७६. प्र० वा० ३।१४; न्या० बि० ३।१०९ । २७७. Quoted in HIL. p. 299; FFD p. 31; उद्धृत—प्र० मी० भा० टि० पृ० १४४ । २७८. FFD. p. 34 २७९. FFD.p. 46 । २८०. न्या० प्र० पृ० ३ । २८१. न्या० प्र० पृ० ३ । २८२. न्या० बि० ३।५६-५७ । २८३. वही ३।६१ । २८४. वही ३।५८, ६२ । २८५. वही ३।५९, ६३ । २८६. वही ३।६५ । २८७. न्या० प्र० पृ० ३-४ । २८८. न्या० बि० टी० पृ० २२४ । २८९. न्या० बि० ३।११०-१११ । २९०. न्या० बि० टी० पृ० २२५ । २९१. न्या० बि० ३।११२-१३; न्या० बि० टी० पृ० २२५-२६ । २९२. हे० बि० टी० पृ० २१५-२० । २९३. FFD. p. 68–69 । २९४. प्र० भा० पृ० ३४२ । २९५. वही । २९६. वै० सू० ३।२।२२ । २९७. वही ३।२।१८ । २९८. वही ३।२।१९ । २९९. वै० सू० ७।१।२३ । ३००. प्र० भा० पृ० ३४२ । ३०१. व्यो० पृ० ६०७, ६०८ । ३०२. न्या० कं० पृ० ५८४, ५८७, ५८८, ५८९, ५९४ । ३०३. न्या० बि० ३।६६ । ३०४. न्या० बि० ३।६७-७० । ३०५. न्या० बि० टी० पृ० १९६ । ३०६. न्या० प्र० पृ० ५ । ३०७. न्या० बि० ३।८१-८५ । ३०८. न्या० बि० टी० पृ० २१०-११ । ३०९. न्या० बि० ३।८६-८७ । ३१०. न्या० बि० टी० पृ० २११-१२ । ३११. न्या० बि० ३।४५-४७ । ३१२. वही ३।८८-९५ । ३१३. वही ३।९७-९८ । ३१४. न्या० बि० टी० पृ० २१५-१६ । ३१५. न्या० बि० ३।९८-१०८; न्या० बि० टी० पृ० २१६-२२ । ३१६. न्या० व० का० २२-२३ । ३१७. न्या० बि० श्लो० २।१९७; सि० बि० २ श्लो० ६।३२ । ३१८. न्या० व० का० २३ । ३१९. प्र० न० त० ६।४८ । ३२०. प्र० सं० का० ४८; सि० वि० वृ० २ पृ० ४३० । ३२१. प० मु० सू० ६।२२ । ३२२. प्र० मी० २।१।१७ । ३२३. न्या. दी० पृ० १०० । ३२४. जै० त० भा० पृ० १८ । ३२५. प० मु० सू० ६।२३-२८ । ३२६. प्र० न० त० ६।४९-५१; जै० त० भा० पृ० १८ । ३२७. प्र० मी० २।१।१७-१८

एवं वृत्ति पृ० ५४-५५। ३२८. न्या० दी० पृ० १००। ३२९. प्र० मी० वृ० पृ० ५४। ३३०. प्र० क० मा० पृ० ६२३-३५। ३३१. प्र० मी० २।१।१९ एवं वृत्ति पृ० ५५। ३३२. न्या० व० का० २३। ३३३. प्र० सं० का० ४८; सि० वि० वृ० २ पृ० ४३०। ३३४. प० मु० सू० ६-२९। ३३५. प्र० न० त० ६।५२-५३। ३३६. प्र० मी० २।१।२० एवं वृ० पृ० ५६। ३३७. न्या० दी० पृ० १०१। ३३८. जै० त० भा० पृ० १८। ३३९. प्र० क० मा० पृ० ६३६-३७। ३४०. प्र० मी० वृ० पृ० ५६। ३४१. जै० द० पृ० ४२९; सि० वि० टी० १ भूमिका पृ० १२०। ३४२. न्या० व० का० २३। ३४३. सि० वि० वृ० २ पृ० ४३०। ३४४. प्र० सं० का० ४९। ३४५. प० मु० सू० ६।३०। ३४६. प्र० न० त० ६।५४; जै० त० भा० पृ० १८। ३४७. प्र० मी० २।१।२१ एवं वृ० पृ० ५६। ३४८. न्या० दी० पृ० १०१। ३४९. प० मु० सू० ६।३१-३४। ३५०. प्र० न० त० ६।५५-५७; जै० त० भा० पृ० १८। ३५१. प्र० मी० वृ० पृ० ५६। ३५२. न्या० दी० पृ० १०१-१०२। ३५३. प्र० क० मा० पृ० ६३८-३९; प्र० मी० वृ० पृ० ५६-५७। ३५४. प्र० सं० का ४९; सि० वि० वृ० २ पृ० ४३०। ३५५. न्या० वि० श्लो० २।१९७; सि० वि० २ श्लो० ६।३२। ३५६. न्या० वि० श्लो० २।२०२। ३५७. प० मु० सू० ६।३५। ३५८. न्या० दी० पृ० १०२। ३५९. वही। ३६०. वही पृ० १०२-३। ३६१. प० मु० सू० ६।३६। ३६२. न्या० दी० पृ० १०१। ३६३. प० मु० सू० ३।३७-३८। ३६४. न्या० दी० पृ० १०१-१०२। ३६५. प० मु० सू० ६।३९। ३६६. स्या० र० पृ० १२३०। ३६७. जै० त० भा० पृ० १८-१९। ३६८. प्र० मी० भा० टि० पृ० ९७। ३६९. न्या० दी० भूमिका पृ० ६३-६५। ३७०. उद्धृत—न्या० वा० ता० टी० पृ० ३००; BL. Vol. I. p. 321-24; HIL. p. 283–85, 298; EFD. p. 29-31 ३७१. न्या० वा० पृ० ३६४-६५। ३७२. न्या० वा० पृ० ३६५; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३६४-६५। ३७३. न्या० वा० पृ० ३६५-६७। ३७४. वही पृ० ३६७। ३७५. वही पृ० ३६७-६८। ३७६. वही पृ० ३६८। ३७७. न्या० वा० पृ० ३६३-६९; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३६३-६९। ३७८. उ० पृ० ९८। ३७९. न्या० वा० पृ० १६३-६७। ३८०. न्या० वा० ता० टी० पृ० १६३, १६३-६७। ३८१. ILA. p. 105–106, 136–43 ३८२. न्या० भा० पृ० २८३-८४। ३८३. वही पृ० २९०। ३८४. वही पृ० ३०८। ३८५. वही पृ० ३१३-१४। ३८६. वही पृ० ३१४। ३८७. वही पृ० ३०८। ३८८. वही पृ० ३०९-१०। ३८९. वही पृ० ३१७। ३९०. वही पृ० ३१७-१८। ३९१. वही पृ० ३७३, ३७६। ३९२. न्या० भा० पृ० ३८। ३९३. प्र० भा० पृ० ३३७। ३९४. वही पृ० ३३७-४०। ३९५. व्यो० पृ० ६०२-६०३; कि० पृ० ३३७-४०; न्या० कं० पृ० ५७२-७४। ३९६. न्या० भा० पृ० ३९। ३९७. न्या० वा० पृ० ४३। ३९८. न्या० वा० ता० टी० पृ० ४३। ३९९. न्या० वा० पृ० ४३-४४। ४००. न्या० वा० ता० टी० पृ० ४४। ४०१. न्या० वा० पृ० ३९-४४; न्या० वा० ता० टी० पृ० ३९-४४। ४०२. न्या० वा० पृ० २७९। ४०३. न्या० वा० ता० टी० पृ० २७८-७९। ४०४. न्या० कं० पृ० ५७२। ४०५. न्या० वा० पृ० २७९। ४०६. न्या० मं० २ पृ० १३३। ४०७. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ५७। ४०८. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ५६; न्या० र० पृ० ३६३; मा० मे० पृ० ६६। ४०९. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ५७; मा० मे० पृ० ६६। ४१०. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ५८। ४११. वही श्लो० ५९।

४१२. न्या० वा० पृ० २७७-७८ । ४१३. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ६०-६१ । ४१४. वही श्लो० ६१-६२ । ४१५. वही श्लो० ६२ । ४१६. वही श्लो० ६३ । ४१७. वही श्लो० ६३ । ४१८. वही श्लो० ६४ । ४१९. वही श्लो० ६४-६५ । ४२०. वही श्लो० ६५-६६ । ४२१. वही श्लो० ६७ । ४२२. वही श्लो० ६७ । ४२३. वही श्लो० ६८ । ४२४. वही श्लो० ६६ । ४२५. वही श्लो० ६८ । ४२६. वही श्लो ६६ -६७ । ४२७. वही श्लो० ६९ । ४२८. वही श्लो० ७०-७५ । ४२९. ता० टी० पृ० ३१८-२३; काशिका ३ पृ० ४०-५४; न्या० र० पृ० ३६३-७० । ४३०. शा० दी० पृ० १८० । ४३१. त० सि० र० पृ० ६३ । ४३२. भा० मे० पृ० ६६-६९ । ४३३. प्र० पं० पृ० २०९-११, २२१ । ४३४. वही पृ० २२१ । ४३५. मा० वृ० पृ० १२-१३ । ४३६. न्या० प्र० पृ० २-३ । ४३७. FFD. p. 62-64 । ४३८. JRAS. 1928 Prof. Tuccis articlè on the Fragments from Diñnāga p. 388 । ४३९. न्या० वा० पृ० २७७-७९ । ४४०. न्या० बि० ३।३८, ४८ । ४४१. JRAS 1928 Prof. Tuccis same article p. 388 । ४४२. न्या० बि० ३।४९-५३ । ४४३. न्या० व० का० २१ । ४४४. न्या० व० टी० पृ० ७४ । ४४५. वही पृ० ७४-७५ । ४४६. न्या० बि० २।३ । ४४७. प० मु० सू० ३।१६, ६।१२ । ४४८. वही ६।१३ । ४४९. वही ६।१४ । ४५०. वही ६।१५-२० । ४५१. प्र० न० त० ३।१४ । ४५२. वही ६।३८ । ४५३. वही ६।३९, ४६ । ४५४. वही ६।४०-४५ । ४५५. प्र० मी० १।२।१३ । ४५६. वही १।२।१४ एवं वृत्ति पृ० ४६ । ४५७. प्र० भा० पृ० ३४३ । ४५८. वही पृ० ३४३; न्या० कं० पृ० ५९९ । ४५९. वही पृ० ३४३-४४; न्या० कं० पृ० ६००-६०२ । ४६०. प्र० भा० पृ० ३४४; न्या० कं० पृ० ६०३-५ । ४६१. व्यो० व० पृ० ६१२-१३ । ४६२. उ० पृ० ९८ । ४६३. न्या० वा० ता० टी० पृ० ३०७ । ४६४. न्या० मं० २ पृ० १४० । ४६५. न्या० सा० पृ० ५०-५२ । ४६६. त० चि० पृ० १५७२ । ४६७. न्या० सा० पृ० ५२-५४ । ४६८. न्या० मं० २ पृ० १४० । ४६९. श्लो० वा० अनुमान श्लो० १०७-३६ । ४७०. ता० टी० पृ० ३३१-३८; काशिका ३ पृ० ७१-८१; न्या० र० पृ० ३८१-९० । ४७१. पृ० १९३ । ४७२. त० सि० र० पृ० ६३ । ४७३. मा० मे० पृ० ८९-९१ । ४७४. प्र० पृ० पृ० २२२ । ४७५. मा० वृ० पृ० १२-१३ । ४७६. न्या० प्र० पृ० ५-६ । ४७७. न्या० बि० ३।१२४-२८ । ४७८. वही ३।१२९-३५ । ४७९. वही ३।१२५-२६, १३०-३३ । ४८०. न्या० बि० टी० पृ० २४०-५२; ध० प्र० पृ० २४०-५३ । ४८१. न्या० सा० पृ० ५३-५४ । ४८२. न्या० व० का० २४-२५ । ४८३. न्या० व० टी० पृ० ८०, ८२-८३ । ४८४. प० मु० सू० ६-४०, ४१-४३; ४४-४५ । ४८५. प्र० क० मा० पृ० ६४०-४१; प्र० र० मा० पृ० ३२७-२९ । ४८६. प्र० न० त० ६।५८, ५९-६८, ६९, ७०-७९ । ४८७. न्या० व० टी० पृ० ८२-८३ । ४८८. प्र० न० त० ६।७४-७६ । ४८९. प्र० मी० २।१।२२, २३-२७ एवं वृत्ति पृ० ५७-५९ । ४९०. न्या० दी० पृ० १०५-६ । ४९१. न्या० व० टी० पृ० ८०-८१, ८३-८४ । ४९२. मा० मे० पृ० ८४-८६ । ४९३. ILA p. 108 । ४९४. न्या० सू० ५।२।२-५ । ४९५. न्या० भा० पृ० ३९ । ४९६. न्या० सू० ५।२।२३ । ४९७. त० शा० पृ० ४-५ । ४९८. न्या० मं० २ प० १३३-३४ । ४९९. प्र० न० त० ६।८० । ५००. वही ६।८१ । ५०१. वही ६।८२ । ५०२. प० म० सू० ६।४६-५० ।

७

अनुमान और अन्य प्रमाण

प्रमाणों की संख्या

अनुमान के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निरूपण कर देने के पश्चात् उसकी अन्य प्रमाणों में विशिष्ट स्थिति जानने के लिये, अन्य प्रमाणों से उसका क्या सम्बन्ध है, यह जान लेना भी आवश्यक है।[१] दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिये, विभिन्न प्रकार से प्रमाणों की संख्या निर्धारित की है। इसलिये प्रमाण-संख्या-मान्यता के प्रसङ्ग में पर्याप्त विप्रतिपत्तियां परिलक्षित होती हैं। जैसे—सामान्यतः चार्वाक मतावलम्बी एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक सूत्रकार ने यद्यपि यह स्पष्ट निर्देशन नहीं किया है कि उन्हें कितने प्रमाण इष्ट हैं, फिर भी उनके टीकाकार शंकरमिश्र की सूत्र विवेचना से यह भलीभांति विदित हो जाता है कि उन्हें प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण इष्ट हैं।[२] शिवादित्य ने भी इन्हीं दो प्रमाणों को मान्य किया है।[३] 'प्रशस्तपादभाष्य' में 'विद्या' के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति तथा आर्ष इन चार प्रकार के ज्ञानों का उल्लेख किया गया है[४] किन्तु उनके प्रमाण-अन्तर्भाव-प्रकरण से ऐसा ज्ञात होता है कि वे भी उक्त दो ही प्रमाण मानने के पक्ष में हैं।[५] उदयन तथा श्रीधर ने अपनी-अपनी टीकाओं में प्रशस्तपाद का ही समर्थन किया है। बौद्ध मत में यद्यपि दिङ्नाग के पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'उपायहृदय'[६] में न्यायसूत्रकार सम्मत चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। फिर भी दिङ्नाग ने, वैशेषिकों की भांति प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकार किये हैं,[७] जिन्हें उत्तरवर्ती सभी बौद्ध आचार्यों ने माना है। सांख्य-योग दर्शन के 'सांख्यकारिका'[८] तथा 'योगसूत्र'[९] में इन दो के अतिरिक्त शब्द प्रमाण को मानकर तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। उत्तरवर्ती सभी सांख्य-योगाचार्यों ने इन तीन प्रमाणों का ही समर्थन किया है। न्यायसूत्रकार ने चार प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है,[१०] जिन्हें प्राचीन और नव्य सभी नैयायिकों ने मान्य किया है, किन्तु भासर्वज्ञ ने सांख्य-योग दार्शनिकों की तरह तीन ही प्रमाण—प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द माने हैं।[११] इन चार प्रमाणों में अर्थापत्ति और जोड़कर प्रभाकर ने पाँच प्रमाण स्वीकार किये हैं।[१२] इन्हीं पाँच प्रमाणों को उत्तरवर्ती प्राभाकर आचार्य शालिकनाथ आदि ने भी स्वीकार किया है। इनमें छटा प्रमाण अनुपलब्धि और सम्मिलित कर भाष्यकार शबर स्वामी ने छः प्रमाणों का अनुमोदन किया है,[१३] जिन्हें कुमारिल के पश्चात् सभी भाट्ट मीमांसकों ने स्वीकार किया है। इन्हीं छः प्रमाणों का अद्वैत वेदान्त के प्रमाण स्थापक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी अनुगमन किया है,[१४] जिनका समर्थन 'शिखामणि', 'मणिप्रभा', 'अर्थदीपिका' आदि सभी टीकाओं में पाया जाता है। उक्त इन छः प्रमाणों में संभव और ऐतिह्य और जोड़कर, पौराणिकों

ने आठ प्रमाणों को स्वीकार किया है । नागार्जुन मत को छोड़कर इन सभी मतों को संग्राहक रूप में 'तार्किकरक्षा'[१५] 'मानमेयोदय'[१६] 'वेदान्तकारिका'[१७] दर्शन-मीमांसा[१८] आदि ग्रन्थों में संकलित किया गया है । इन आठ प्रमाणों के अतिरिक्त, आलंकारिकों के प्रतिभा प्रमाण का, उल्लेख 'माठरवृत्ति', 'गौडपादभाष्य' तथा 'तत्त्व-संग्रह' में उपलब्ध होता है ।[१९] तांत्रिकों के चेष्टा प्रमाण का भी प्रशस्तपाद ने निर्देश किया है ।[२०] यद्यपि आगमकालीन जैन आगम ग्रन्थों—जैसे, 'अनुयोगद्वारसूत्र' 'स्थानांग सूत्र' एवं 'भगवतीसूत्र' में न्याय सम्मत चार प्रमाणों का संकेत उपलब्ध होता है,[२१] किन्तु बाद में उमास्वाति ने 'राजप्रश्नीयसूत्र' 'उत्तराध्ययनसूत्र' 'भगवतीसूत्र', 'नन्दीसूत्र' आदि आगम ग्रन्थों[२२] में वर्णित पंचज्ञानों—(१) आभिनिबोधिक, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यय एवं (५) केवल को संकलित एवं उनमें प्रमाणता का विधान करते हुए लिखा है कि आद्य दो ज्ञान—अभिनिबोध (इसे उन्होंने मति के रूप में व्यक्त किया है) अर्थात् मति और श्रुत परोक्ष तथा अन्तिम तीन—अवधि, मतःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत समाहित किये जा सकते हैं । मतिज्ञान के पुनः पाँच भेद किये गये हैं—(१) मति, (२) संज्ञा, (३) स्मृति, (४) चिन्ता एवं (५) अभिनिबोध । एवं मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने के कारण मति, स्मृति आदि सभी ज्ञान मतिज्ञान से भिन्न नहीं है अर्थात् मतिज्ञान रूप है ।[२३] इस प्रकार आगमिक परम्परा का समर्थन करते हुए उन्होंने आत्ममात्र-सापेक्ष अन्तिम तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है । उनके पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इस व्यवस्था का समर्थन किया है ।[२४] किन्तु यह व्यवस्था विलक्षण ही जान पड़ती है, क्योंकि लोक में सभी दार्शनिकों ने इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है । प्रत्यक्ष में प्रयुक्त 'अक्ष' पद भी इसी व्यवस्था को पुष्ट करता है । यद्यपि उमास्वाति का अनुगमन करते हुए, सिद्धसेन दिवाकर ने भी मूलतः दो प्रमाण—प्रत्यक्ष और परोक्ष माने हैं; किन्तु इन्होंने उनके अवान्तर भेदों का समर्थन करते हुए, परोक्ष के अन्तर्गत अनुमान और आगम ये दो भेद व्यवस्थापित कर प्रत्यक्ष को सम्मिलित करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन प्रमाण स्वीकार किये हैं ।[२५] सिद्धर्षिगणि ने भी इन्हीं तीन प्रमाणों को मान्य किया है । उक्त सभी परम्पराओं, लोकप्रसिद्धि और जैनेतर दार्शनिकों ने प्रमाण लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए अकलंक ने भी मुख्यतः दो प्रमाण—प्रत्यक्ष और परोक्ष को स्वीकार किया है । प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद—मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञापित करते हुए उन्होंने प्रथम के अन्तर्गत अतीन्द्रिय अवधि, मनःपर्यय एवं केवल ज्ञान तथा द्वितीय के पुनः दो भेद—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष व्यक्त करते हुए प्रथम में अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा आदि ज्ञान तथा द्वितीय में शब्द योजना से पूर्व की अवस्थावाले मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता एवं अभिनिबोध ज्ञानों को समाहित किया है ।[२६] इस प्रकार मति, स्मृति आदि ज्ञान, शब्द योजना के पूर्व सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और शब्द योजना के पश्चात् श्रुतज्ञान होने से परोक्ष कहलाते हैं । 'लघीस्त्रय' में, मति, स्मृति आदि ज्ञानों को अवस्था विशेष में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष[२७] कहने के उपरान्त भी उन्होंने 'न्यायविनिश्चय' में उन स्मृति आदि ज्ञानों के एकान्तिक परोक्ष होने का विधान किया है, परिणामस्वरूप उन्होंने 'न्यायविनिश्चय' में परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध एवं श्रुत-आगम इन पाँच भेदों का अवधारण किया है ।[२८] इस प्रकार उमास्वाति के उक्त आगमिक परम्परा समर्थित प्रत्यक्ष भेद को लेकर

जो लोकाप्रसिद्धि एवं दर्शनान्तराप्रसिद्धि की आपत्ति होने के कारण, असंगति आ गई थी, उसका अकलंक ने, प्रत्यक्ष के उक्त अवान्तर भेद मानकर, निराकरण करने का प्रयास किया है, क्योंकि इन्द्रियजन्यज्ञान एकदेश से विशद होने के कारण, उसमें वैशद्यांश का सद्भाव होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। अकलंक का अनुसरण करते हुए माणिक्यनन्दी ने भी प्रधानतः दो प्रमाण—प्रत्यक्ष और परोक्ष मानकर[२९] ये दो भेद स्वीकार किये हैं,[३०] और 'न्यायविनिश्चय' निष्ठ भेदों के समान, परोक्ष के अन्तर्गत उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम प्रमाणों को सन्निविष्ट किया है।[३१] प्रायः सभी उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने अकलंक-माणिक्यनन्दी प्रणीत प्रमाण भेदों का किसी न किसी रूप में समर्थन किया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष के अन्तर्गत जैन तार्किकों ने सामान्यतः प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम ये छः प्रमाण माने हैं। इन मान्यताओं के अतिरिक्त एक ऐसी भी परम्परा पायी जाती है, जिसमें सभी प्रमाणों का खण्डन किया गया है। आचार्य नागार्जुन का समर्थन करते हुए श्री हर्ष और चित्सुखाकार्य ने पारमार्थिक दृष्टिकोण से सभी प्रमाणों का खण्डन किया है, जबकि व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रमाणभेदों की सर्जना की है। इसी विचारधारा में जयराशि भट्ट को भी समाविष्ट किया जा सकता है, जिन्होंने अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य सभी प्रमाणों का खण्डन किया है।

दार्शनिकों की उक्त भिन्न-भिन्न प्रमाण मान्यताओं का परिशीलन करने के पश्चात् प्रमाण मानने की प्रक्रिया पर सुगमतापूर्वक विचार किया जा सकता है। मुख्यतः इन प्रक्रियाओं को तीन धाराओं में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम धारा के अन्तर्गत उन वितण्डावादी दार्शनिकों को समाविष्ट किया जा सकता है, जिन्होंने केवल खण्डन के लिये ही प्रमाणों का खण्डन किया है। इस कोटि में बौद्धाचार्य नागार्जुन, जयराशिभट्ट, वेदान्ती, श्रीहर्ष एवं उनके अनुगामी चित्सुखाचार्य की परिगणना की जा सकती है। द्वितीय धारा में, उन दार्शनिकों को समाहित किया जा सकता है, जिन्होंने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार माने गये प्रमाणों के अतिरिक्त सभी अन्य प्रमाणों को अप्रमाण घोषित किया है। इस कोटि में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति, मोक्षाकरगुप्त एवं किसी सीमा तक शान्तरक्षित, कमलशील आदि तार्किकों को रखा जा सकता है। तृतीय धारा के अन्तर्गत, उन दार्शनिकों को लिया जा सकता है, जिन्होंने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित प्रमाणों को मानकर भी अन्य प्रमाणों का, केवल खण्डन के लिए खण्डन अथवा अप्रमाण समझ कर खण्डन नहीं किया है, वरन् उनको प्रमाण मानते हुए भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है तथा अपने द्वारा मान्य प्रमाणों में ही उनका अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य विषय, इसी तृतीय धारा के परिप्रेक्ष्य में सर्जित किया गया है। अतः इस अध्याय में केवल इसी समस्या पर विचार करना अभीष्टदायक समझा गया है कि अनुमान में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव किया भी जा सकता है अथवा नहीं। यदि नहीं तो उनको स्वतन्त्र प्रमाण मानने में क्या-क्या युक्तियां दी जा सकती है और वे कहाँ तक समीचीन मानी जा सकती है? इसलिये अन्य प्रमाणों के लक्षण, उनका समर्थन अथवा स्वतंत्र खण्डन यहाँ विचारणीय प्रश्न नहीं है, अपितु अनुमान से सम्बन्धित खण्डन अथवा समर्थन सामग्री ही यहाँ अपेक्षित है।

अनुमान और प्रत्यक्ष

दोनों की पारस्परिक संगति को समझने के लिये, संगति वस्तुतः क्या है, इसे जान लेना परम आवश्यक है। कहा भी गया है—'नासंगतं प्रयुञ्जीत'[३२] अर्थात् सम्बन्ध रूप संगति से रहित अर्थ का निरूपण नहीं किया जाता, प्रत्युत पूर्व निरूपित अर्थ के साथ, जिस अर्थ की संगति होती है, उसी विषय का निरूपण निष्पादित होता है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार विषय विवेचन के लिए संगति-निरूपण अत्यन्त उपयोगी है। जो अर्थ, जिस अर्थ के अनन्तर निरूपित किया जाता है, वह उससे संगति रखता है। प्रमाणों की परस्पर संगति का वर्णन अन्य दार्शनिकों ने नहीं के बराबर किया है, किन्तु न्यायदर्शन में विशेषकर नव्यन्याय में इस विषय का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। नव्यन्याय की शब्दावली में 'संगतिलक्षण' इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—अनन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयोह्यर्थः संगतिः[३३] 'अनन्तर अभिधान (पूर्ववर्णित विषय के पश्चात् होने वाले आगामी अर्थ कथन) की प्रयोजिका शिष्य जिज्ञासा के कारणीभूत ज्ञान के विषय के अनुकूल जो सम्बन्ध होता है, वही अनन्तर निरूपणीय अर्थनिष्ठ संगति है 'जैसे, प्रत्यक्ष निरूपण के उपरान्त, अनुमान-निरूपण में प्रयोजक 'अनुमानज्ञानं मे भवतु' अनुमान का ज्ञान मुझे हो—इत्याकारक शिष्य की जिज्ञासा का जनक 'अनुमानज्ञानंमदिष्टसाधनम्'—अनुमानज्ञान मेरे इष्ट का साधन है—इत्याकारक ज्ञान के विषय अनुमान में, जो प्रत्यक्ष का कार्यत्व रूप अनुकूल सम्बन्ध है, वही अनुमान में प्रत्यक्ष की संगति है।

इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए, उद्योतकर ने यह समस्या उपस्थित की है कि प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान का ही निरूपण क्यों किया जाय ? सूत्रकार गौतम ने अपने अनुमान लक्षण—'अथ तत्पूर्वकं अनुमानम्[३४] में इस कथन को संपादित किया है। भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में कोई उल्लेखनीय व्याख्या नहीं की है। सूत्रकार के उक्त अनुमान लक्षण में प्रयुक्त 'अथ' शब्द के 'अमरकोष' में कई अर्थ दिये गये हैं, यथा मंगल, अनन्तर आरम्भ (अधिकार), प्रश्न, पूर्णता आदि।[३५] प्रकृत में प्रथम और तृतीय अर्थ घटित नहीं हो सकते, क्योंकि इस सूत्र से ग्रन्थ के निर्विघ्न पूर्ण होने की कोई मंगल कामना नहीं की गई है, फिर मंगल ग्रन्थ के आदि में ही किया जाता है, किन्तु इस सूत्र से ग्रन्थ का प्रारम्भ नहीं हुआ है। अतः तृतीय विकल्प आरम्भ या अधिकार भी धराशायी हो जाता है। चतुर्थ एवं पञ्चम अर्थ यहाँ इसलिये उपयुक्त नहीं है कि इस सूत्र द्वारा न तो कोई प्रश्न उपस्थित किया गया है और न इसके द्वारा ग्रन्थ की समाप्ति (पूर्णता) प्रदर्शित की गयी है। अतः द्वितीय अर्थ के अनुसार 'अथ' पद आनन्तर्य का बोधक है। उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र एवं विश्वनाथ ने इसी तथ्य का समर्थन किया है।[३६] इसी बात को समझाने के लिये, उद्योतकर ने 'तत्' शब्द का 'तानि' 'ते' एवं 'तत्' रूप से विग्रह किया है। यदि 'तत्' शब्द का अर्थ 'तानि' लगाया जाय, तो विग्रह होगा—'प्रत्यक्ष अनुमानादि पूर्वाणियस्य तत् अनुमानम्'—'प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण जिसके पूर्व में हो, उसे अनुमान कहा जाता है।' द्वितीय 'ते' के अनुसार यदि 'तत्' शब्द का अर्थ गृहीत किया जाय, तो विग्रह होगा—'ते द्विविध प्रत्यक्षे पूर्वेयस्य—तत अनुमानम्'—'जिसके पूर्व में दो प्रत्यक्ष हों, उसे अनुमान कहा जायगा। 'द्विविध प्रत्यक्ष से लिङ्ग-लिङ्गि-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष और लिङ्ग-दर्शन अभिप्रेत है। लिङ्ग-लिङ्गि का सम्बन्ध अर्थात् व्याप्तिज्ञान प्रथम प्रत्यक्ष

और लिङ्ग-दर्शन यानी पक्षधर्मताज्ञान दूसरा प्रत्यक्ष है । आशय यह है कि पर्वत आदि किसी धर्मी में, लिङ्गदर्शन से, अनुमित्सावाले अनुमाता के मन में, पाकशाला आदि में पूर्वगृहीत लिङ्ग लिङ्गी सम्बन्ध का संस्कार उद्‌बुद्ध होने के उपरान्त उस लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध का स्मरण होता है उसके पश्चात् 'यह धर्मी लिङ्गी सम्बन्ध युक्त लिङ्गवाला है इत्याकारक विशिष्ट लिङ्ग दर्शन होता है, जिसे लिङ्गपरामर्श अर्थात् अनुमान कहा जाता है। इस लिङ्ग परामर्श के तत्काल बाद अनुमिति हो जाती है । यदि 'तत्' पद का अर्थ 'तत्' ही किया जाय तो विग्रह होगा—'तत्पूर्वकमस्यतत् अनुमानम्' इस व्याख्या के अनुसार, 'तत्' शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष होगा अतः यहाँ 'प्रत्यक्षपूर्वक ज्ञान को ही अनुमान कहा जायगा ।[३७] इसी बात का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि वार्तिककार ने 'तत्पूर्वक' शब्द को त्रिरावृत्त माना है, तदनुसार उन्होंने 'तानिपूर्वाणि यस्य तत् अनुमानम्' आदि तीन विग्रहों की ओर संकेत किया है । प्रथम-विग्रह से कथित तीसरे सूत्र में उपदर्शित प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों को समझना चाहिए, इसका तात्पर्य यह है कि व्याप्तिज्ञान जनित प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से उत्पन्न लिङ्गपरामर्श अनुमान प्रमाण है । और इसी प्रकार अनुमानमूलक परामर्श भी अनुमान है । इससे स्पष्ट पता चलता है कि किसी न किसी रूप में अनुमान में प्रत्यक्ष की आवश्यकता स्वीकार की गई है । द्वितीय विग्रह के अनुसार 'तत्' शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों को लिया जा सकता है' 'ते द्वे प्रत्यक्षे' में प्रयुक्त 'प्रत्यक्ष' पद उपलक्षण परक है, वास्तव में उससे अनुमानादि अन्य प्रमाणों का ही ग्रहण करना चाहिए । अतः वार्तिककार के प्रथम दोनों विग्रहों से यही अर्थ निष्पन्न होता है कि जिस किसी प्रमाण के द्वारा, जिस किसी रीति से उत्पन्न यथार्थलिङ्ग परामर्श, यदि उत्पन्न होता है, तो वह यथार्थ अनुमिति का ही जनक होता है । तीसरे विग्रह के अनुसार 'तत्' शब्द से लिङ्ग-लिङ्गी-सम्बन्ध तथा लिङ्ग के प्रत्यक्ष और कथित लिङ्ग स्मृति से उत्पन्न परामर्श को ही अनुमान कहा जाता है । ये तीनों विग्रह यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी उनमें परस्पर भेद की अविवक्षा के द्वारा, एक ही 'तत्' शब्द से तीनों का ग्रहण किया गया है ।[३८]

पूर्वाचार्यों का समर्थन करते हुए, गङ्गेश ने भी कहा है कि प्रत्यक्ष का उपजीवक और बहुवादी सम्मत होने के कारण, अनुमान का, प्रत्यक्ष के पश्चात् और उपमान के पूर्व निरूपण किया जाता है ।[३९] दीधितिकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के पौर्वापर्य में संगति को ही नियामक माना गया है । यह नियम है कि 'उपजीव्य' (कारण) के निरूपण के अनन्तर ही 'उपजीवक' (कार्य) का निरूपण हुआ करता है; क्योंकि कारण, कार्य का नियम से अव्यवहित पूर्ववर्ती हुआ करता है और कार्य, उसका अव्यवहित उत्तरवर्ती । इसलिये दोनों की फलतः (प्रत्यक्ष-अनुमितिप्रमा) और स्वरूपतः (प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण) उपजीव्य-उपजीवकभाव संगति मानी गयी है । दूसरी बात यह है कि अनुमितिकरण सभी अनुमान, इन्द्रियापेक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के उपजीवक होते हैं ।[४०] अतः उपजीव्यनिरूपण के अनन्तर ही उपजीवक का निरूपण होना चाहिये, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सर्वदा उपजीव्य का निरूपण करके ही उपजीवक का निरूपण किया जाय; क्योंकि कहीं कार्य का निरूपण करने के उपरान्त भी कारण का निरूपण किया जाता है जैसे, स्वयं तत्त्वचिन्तामणिकार ने अनुमान के पूर्व में ही अनुमिति का निरूपण किया है—अनुमान कारण है अनुमिति कार्य । इसलिए कारण निरूपण से पहिले भी कार्य का निरूपण हो सकता है । अतः जैसे, अनुमान से पूर्व

अनुमिति का निरूपण कर लेने में, कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, वैसे ही प्रत्यक्ष से पहले किसी स्थल विशेष में यदि अनुमान का निरूपण कर दिया गया हो, तो कोई क्षति नहीं है; क्योंकि कार्य का कारण के पूर्व निरूपण कर देने से ही उनकी उपजीव्य-उपजीवकभाव संगति का व्याघात नहीं होता।[४१] गदाधर ने भी इसी बात की पुष्टि की है।[४२]

इसलिए प्रत्येक अनुमान, चाहे वह किसी भी विषय का हो अथवा किसी भी प्रकार के हेतु से उत्पन्न हुआ हो, उसमें प्रत्यक्ष की सत्ता कहीं न कहीं अवश्यमेव विद्यमान रहती है। प्रत्यक्षज्ञान के बिना अनुमिति ज्ञान निष्पन्न नहीं हो सकता। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से' इस अनुमान में जब तक हेतु धूम का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक साध्य अग्नि को सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये न्यायसूत्रकार ने 'तत्पूर्वकम्' अर्थात् प्रत्यक्षपूर्वक ही अनुमान बतलाया है, जिसका समर्थन प्रायः सभी दार्शनिकों ने किया है। जैसे जो विद्वान लोग अनुमिति के करण के रूप में लिङ्ग, लिङ्ग-ज्ञान, ज्ञायमान लिङ्ग अथवा परामर्शात्मक विशिष्टलिङ्ग का उपन्यास करते हैं, वे लिङ्ग रूप में प्रत्यक्ष की ही स्थापना करते हैं एवं जिन लोगों ने व्याप्तिज्ञान को करण माना है, उन्हें भी व्याप्ति उद्बोधन-अथवा स्मरण के लिये लिङ्ग का दर्शन होना आवश्यक है। फिर अनुमिति के आधारभूत सिद्धान्त व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान प्रत्यक्ष के बिना निष्पादित नहीं हो सकते, कारण व्याप्ति में कहीं न कहीं अन्वय सहचार दर्शन अथवा व्यतिरेक सहचार दर्शन की अपेक्षा अवश्य रहती है, बिना उसके वह सम्पन्न नहीं हो सकती और पक्षधर्मता साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस प्रकार पक्ष पर्वत में हेतु धूम को प्रत्यक्ष देखकर, अप्रत्यक्ष साध्य अग्नि का अनुमान किया जाता है। इसलिये कहा जा सकता है कि अनुमान अपनी उत्पत्ति के लिये प्रत्यक्ष पर निर्भर रहता है, किन्तु प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति के लिये अनुमान की अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी प्रत्यक्ष के लिये अनुमिति की उपयोगिता बिल्कुल न हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण प्रत्यक्ष ज्ञान की ग्राहक चक्षु आदि इन्द्रियां प्रत्यक्ष द्वारा नहीं अपितु अनुमान द्वारा ही सिद्ध होती है। इसलिये प्रत्यक्ष अपने प्रामाण्य के लिये अनुमान की अपेक्षा रखता है।[४२/१] इस बात पर चतुर्थ अध्याय में यथेष्ट रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। अतः अनुमितिज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये प्रत्यक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान अपने प्रामाण्य के लिये अनुमितिज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण परस्पर सापेक्ष है।

वितण्डावादी जयराशि भट्ट ने न्याय, बौद्ध, मीमांसा एवं सांख्य दार्शनिकों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष लक्षणों का स्वतन्त्र खण्डन किया है;[४३] इसी प्रकार खण्डनकार ने भी 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' आदि नौ प्रत्यक्ष लक्षणों[४४] तथा चित्सुखाचार्य ने महर्षि गौतम और जैमिनि सम्मत प्रत्यक्ष लक्षणों की आलोचना की है।[४५] इसके अतिरिक्त वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग, वेदान्त, बौद्ध, जैन एवं चार्वाक दार्शनिको ने प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण माना है। अतः इसको अप्रमाण अथवा अन्य प्रमाणों में अन्तर्विष्ट करने की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती।

अनुमान और शब्द—

आद्य दो धाराओं के अन्तर्गत, द्वितीय धारा में, धर्मकीर्ति और मोक्षाकर गुप्त ने, अविसंवादी न होने के कारण, शब्द को अप्रमाण घोषित किया है।[४६] मीमांसकों के अपौरुषेयवाद,[४७] तथा शब्द और अर्थ में, नित्य अथवा कल्पित किसी भी प्रकार

के सम्बन्ध[४८] मानने की इन्होंने आलोचना की है। इसी धारा को उद्वेलित करते हुए प्रथम धारावादी जयराशिभट्ट ने शब्द और अर्थ के न्यायसम्मत सामयिक एवं मीमांसा सम्मत स्वाभाविक सम्बन्ध का खण्डन करते के उपरान्त[४९] न्याय-मीमांसक सम्मत शब्द लक्षण और मीमांसकों के अपौरुषेयवाद की भी आलोचना की है।[५०] इसी परिपाटी को अक्षुण्ण रखते हुए श्रीहर्ष ने न्यायनिष्ठ शब्द प्रमाण की आलोचना की है,[५१] जिसे मीमांसा-न्याय शब्द लक्षण और शब्द-अर्थ सम्बन्ध का खण्डन करते हुए चित्सुखाचार्य ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।[५२] उक्त सभी दार्शनिकों का खण्डन-मण्डन, शब्द लक्षण, उसके भेद तथा शब्द-अर्थ सम्बन्ध तक ही सीमित हैं, इसलिये अनुमान-शब्द-सम्बन्ध विवेचन में इसका कोई विशिष्ट प्रयोजन प्रतिलक्षित नहीं होता।

तृतीय धारा का सूत्रपात करते हुए, महर्षि कणाद ने शाब्दज्ञान को, लैङ्गिक ज्ञान के समान व्याख्यात होने के कारण, उसको स्वतंत्र प्रमाण न मानते हुए, लैङ्गिक ज्ञान में ही समाविष्ट किया है,[५३] इसी सूत्र को दृष्टि में रखते हुए संभवतः प्रशस्तपाद ने भी अनुमान और शब्द को समानविधि द्वारा उत्पन्न होने के नाते शब्द को पृथक् प्रमाण नहीं माना है, अपितु इसे अनुमान में ही सन्निविष्ट किया है। समान विधि से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुमान की प्रवृत्ति व्याप्ति-पक्षधर्मताबल के आधार पर होती है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण की प्रवृत्ति भी समय बल के अवलम्बन पर होती है। जैसे, जिस पुरुष को पूर्व में व्याप्ति सम्बन्ध गृहीत है, उसी पुरुष को लिङ्ग के निश्चय अर्थात् लिङ्ग दर्शन (पक्षधर्मता) और व्याप्ति के स्मरण से अप्रत्यक्ष अर्थ की अनुमिति होती है। उसी प्रकार शब्द प्रमाण से भी समय के गृहीत होने पर, अतीन्द्रिय अर्थ की सिद्धि होती है। अनुमान की तरह शब्द भी अपने अर्थ का बोधन तब तक नहीं कर सकता, जब तक अर्थ के साथ उसका अव्यभिचार गृहीत नहीं हो जाता। इसलिये प्रसिद्ध समय के बल पर जैसे अनुमान में, हेतुधूम, अप्रत्यक्ष साध्य वह्नि का ज्ञापक होता है, उसी प्रकार शब्द भी समय बल से, अपने अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञापक होने से अनुमान-लिङ्ग ही होगा।[५४] भाट्ट मीमांसकों ने शब्द मात्र को नित्य मानते हुए उसके दो भेद पौरुषेय तथा अपौरुषेय ज्ञापित किये हैं—पौरुषेय से आप्त वाक्य और अपौरुषेय से वैदिक वाक्य को गृहीत किया गया है। दोनों अनाप्तप्रणीतत्व दोष से मुक्त होने के कारण स्वतः प्रमाण है। शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर, इन्होंने शब्द मात्र को नित्य कहा है।[५५] परन्तु महर्षि कणाद ने, शब्द और अर्थ में संयोग[५६] और समवाय[५७] सम्बन्धों का खण्डन करने के उपरान्त उनमें सामयिक सम्बन्ध[५८] मानते हुए, शब्द को अनित्य[५९] घोषित किया है। महर्षि कणाद का समर्थन करते हुए प्रशस्तपाद ने भी शब्द और अर्थ में समय सम्बन्ध के आधार पर उक्त रीति से लौकिक शब्द को अनुमान में समाविष्ट किया है। मीमांसकों के उक्त वैदिक वाक्यों को अपौरुषेय मानने वाली मान्यता का खण्डन करने के लिये ही संभवतः उन्होंने लिखा है कि लौकिक शब्द की भांति श्रुतिस्मृतिमूलक वैदिक शब्द भी, शब्द होने के नाते, अपने प्रमात्मक बोध के उत्पादन के लिये, वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये लौकिक शब्दों की भांति, वैदिक शब्द भी पौरुषेय हैं।[६०] इस तरह 'प्रशस्तपादभाष्य' में शब्द को पौरुषेय सिद्ध करने के लिये, उसके वचन होने से आम्नायवेद प्रमाण है[६१] 'एवं शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये, 'उत्पत्तिरूप लिङ्ग होने से शब्द अनित्य है'[६२] 'वेद में जो उपदेश किया गया है, वह सब

बुद्धिपूर्वक है'[६३] एवं 'वेदों में जो दान का विधान किया गया है, वह भी बुद्धिपूर्वक कर्त्तव्य है।'[६४] इन चार वैशेषिक सूत्रों को उद्धृत किया गया है। इनमें से प्रथम सूत्र से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि वैदिक शब्दों का कोई न कोई उपदेष्टा अवश्य है, जिसके कारण उसके वचन होने से वेदों को प्रमाण कहा गया है तथा तृतीय सूत्र में प्रयुक्त 'वाक्यकृतिः' अर्थात् शब्द-सम्बन्ध प्रयत्न विशेष भी उपदेश का ही द्योतक है। सम्पूर्ण वैदिक शब्द भाण्डार बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक उपदेशों से परिप्लावित है। जिस उपदेश के अनुसार अनुष्ठान करने से, सुख तथा दुःख निवृत्ति रूप फल की प्राप्ति होती है, वह बुद्धिपूर्वक तथा इसके विपरीत को अबुद्धिपूर्वक उपदेश कहा जाता है। चतुर्थ सूत्र द्वारा भी यही बात कही गयी है। उच्चैःदिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः'[६५] —'दानशील पुरुष सबसे उन्नत तथा आलोकमान लोकों में स्थिति पाते हैं' इत्यादि वेदमन्त्रों में, दान की स्तुति करके, जो पशुधन, धान आदि के दान का उपदेश किया गया है, उसका अनुष्ठान भी बुद्धिपूर्वक ही होना चाहिए। इस प्रकार इन तीनों सूत्रों से वेदों के उपदेष्टा की सिद्धि हो जाने से वेद अपौरुषेय नहीं कहे जा सकते। द्वितीय सूत्र में, जो उत्पत्ति लिङ्ग की व्याख्या की गयी है, उसके द्वारा भी शब्द की अनित्यता का निर्धारण होता है; क्योंकि इस सूत्र के पहले जिस सूत्र 'संयोग, विभाग तथा शब्द से, शब्द की उत्पत्ति होती है'[६६] की रचना की गयी है, उसके द्वारा शब्द उत्पत्तिमूलक सिद्ध किया गया है। इसलिये मीमांसकों की शब्द नित्यत्व मान्यता और वैदिक शब्द-अपौरुषेयता का आग्रह उक्त विवेचन से निरस्त हो जाता है, कहा भी गया है 'शब्द में कारणों के द्वारा जितने भी दोष भासित होते हैं, वे सभी वस्तुतः वक्ता में रहने वाले दोषों के कारण ही उद्भावित होते हैं। दुर्गन्ध की तरह शब्द स्वभावतः स्वयं दुष्ट नहीं होते।[६७] अतएव जिस प्रकार अविच्छिन्न मूल एवं ऊर्ध्वमुखी रेखा से युक्त धूम में वह्नि का अव्यभिचार सम्भव है, उसी प्रकार आप्त से उच्चरित शब्द में भी अर्थ का अव्यभिचार हो सकता है।[६८] किन्तु अनुमान की तरह शब्द भी तब तक अपने अर्थ के बोध का उत्पादन नहीं कर सकता, जब तक अर्थ के साथ उसका समय अर्थात् अव्यभिचार सम्बन्ध गृहीत नहीं हो जाता। इसलिये प्रसिद्ध समय ज्ञात अव्यभिचार सम्बन्ध के द्वारा जब धूम की भांति शब्द भी अपने अर्थ का ज्ञापक है, तो वह भी धूम की तरह ज्ञापक लिङ्ग होगा।[६९] इस प्रकार सूत्रकार का समर्थन करते हुए भाष्यकार ने दोनों प्रकार के लौकिक और वैदिक शब्दों को अनुमान में अन्तर्भावित किया है। कन्दलीकार ने भी इन्हीं का समर्थन किया है। शंकरमिश्र ने सूत्रकार की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार लैङ्गिक ज्ञान, हेतु तथा उसकी व्याप्ति और पक्षधर्मता के प्रतिसंधान की अपेक्षा रखता है, वैसे ही शब्द जन्य ज्ञान भी हेतु और उसके व्याप्ति तथा पक्षधर्मता स्मृति के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे, 'गामम्याज्' इस वाक्य के द्वारा उपस्थित होने वाले पदार्थों के समूह आकाङ्क्षा, योग्यता आदि युक्त पदों के द्वारा उपस्थित किये जाते हैं, अतः इन सभी पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध की सत्ता ज्ञापित होती है। इसी प्रकार आकाङ्क्षा, योग्यता आदि से युक्त पदों के द्वारा, उपस्थित सभी अर्थ भी परस्पर उपर्युक्त संसर्ग से युक्त होते हैं। अर्थों के उपर्युक्त सम्बन्ध का ज्ञान रूप यह अन्वयबोध भी अनुमान है। यह दूसरी बात है कि कहीं यह अनुमान पदार्थपक्षक होता है और कहीं पद पक्षक। 'गौरस्ति'—'गाय' है 'इस वाक्य से पदार्थपक्षक अनुमान का आकार यह होगा—जैसे 'घटोस्ति' इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का विषय घट अस्तित्व से युक्त है, क्योंकि वह उक्त बोध के अनुकूल आकाङ्क्षाश्रयीभूत घट पद के द्वारा उपस्थित है। इसी

प्रकार गौ रूप अर्थ भी स्वधर्मिक अस्तित्व बोध के अनुकूल आकाङ्क्षा से विशिष्ट गौ पद के द्वारा उपस्थित है। अतः उसमें भी अवश्य अस्तित्व है। पदपक्षक अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार है—उक्त 'गोरस्ति' वाक्य में प्रयुक्त गो पद अस्तित्व से युक्त गाय विषयक ज्ञान से प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वह अस्तिपद की आकाङ्क्षा से युक्त गौ पद है। इस प्रकार उन्होंने शब्द के अनुमान में अन्तर्भाव होने की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है।[७०]

सारांशतः अनुमान और शब्द की समानताएं इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है—

(१) अनुमान और शब्द दोनों ही परोक्ष विषयक हैं।

(२) दोनों में सामान्य को ही प्रकाशित करने की क्षमता है, विशेष को नहीं।

(३) किसी भी वस्तु का असाधारण धर्म प्रत्यक्ष द्वारा ही गृहीत किया जा सकता है, इसलिये दोनों के द्वारा साधारण धर्म ही बोधित होता है।

(४) अनुमान जैसे अपने कार्य अनुमिति के लिये हेतु और साध्य के अव्यभिचरित सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण भी अपने कार्य शाब्द बोध के लिए शब्द और अर्थ के व्यभिचारविहीन सम्बन्ध की अनिवार्यता प्रतीत करता है। इसलिए दोनों ही सम्बन्धापेक्षी है, क्योंकि उक्त सम्बन्धों का ज्ञान न रहने पर, दोनों में से किसी की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

(५) जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा धूम को देखकर वह्नि का अनुमान निष्पन्न होता है, वैसे ही श्रावण प्रत्यक्ष द्वारा शब्द को सुनकर उसके अर्थ का अनुमान होता है।

(६) जैसे लिङ्ग का साध्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक देखकर अनुमान होता है। वैसे ही शब्द का अर्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक समझ लेने के उपरान्त शाब्दबोध की उत्पत्ति होती है।

(७) इसी प्रकार अनुमान की तरह, शब्द में अर्थवत्ता होने के कारण शब्द के द्वारा अर्थ के बोध में पक्षधर्मता भी है।

(८) जिस प्रकार हेतु धूम से साध्य वह्नि की अनुमिति के लिये पर्वत आदि पक्ष की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार शाब्द बोध में भी पक्ष की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार विषय और कारण दोनों में समता रहने के कारण अनुमिति और शाब्द बोध की अभिन्नता सिद्ध हो जाती है। इसलिये दोनों में कुछ अंशों की विभिन्नता परिलक्षित होने पर भी, इनमें अत्यन्त भेद की कल्पना की जा सकती है। जैसे, अनुमान की प्रवृत्ति वस्तुस्थिति के अनुसार होती है इसलिए यह पुरुष सापेक्ष नहीं होता, किन्तु शब्द की प्रवृत्ति पुरुष की विवक्षा के अनुसार होने से पुरुष की भी अपेक्षा रहती है। एवं शब्द का प्रयोग आबालवृद्ध सभी साधारण पुरुष भी कर सकते हैं, किन्तु अनुमान का प्रयोग सबके बस की बात नहीं है। इन दोनों विशेष तथ्यों से भी शब्द की अनुमान से पृथकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि हाथ आदि की चेष्टा द्वारा साधारण जनों की भी अनुमान-प्रवृत्ति देखी जाती है। शब्द में, दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं रहती किन्तु अनुमान में व्याप्ति प्रदर्शन के लिये दृष्टान्त की अपेक्षा रहती है; लेकिन इस कारण भी शब्द को अनुमान से विलक्षण नहीं माना जा सकता; कारण अत्यन्त अभ्यस्त विषय की जो अनुमिति होती है, उसमें दृष्टान्त की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अनभ्यस्त विषय की जो शाब्द प्रतीति अथवा अनुमिति होती है, उन दोनों में क्रमशः पदार्थस्मृति और व्याप्ति स्मरण की अपेक्षा

रहती है। इसलिये अनुमान से शब्द में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता, अतः अनुमान के द्वारा शब्द का भी परिचय दिया जा सकता है; क्योंकि दोनों अभिन्न है।[७१]

अविसंवादी न होने के कारण, शान्तरक्षित ने भी पूर्वाचार्यों की भांति शब्द को प्रथमतः अप्रमाण घोषित किया है,[७२] तत्पश्चात् उन्होंने भाट्ट मीमांसक समर्थित अपौरुषेय[७३] और पौरुषेय[७४] शब्द भेदों की आलोचना की है। शब्द सामान्य खण्डन के अन्तर्गत शब्द-अर्थ सम्बन्ध[७५] की समीक्षा करते हुए अन्त में उन्होंने लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह से शब्द को प्रमाण स्वीकार करता है, तो उसका अन्तर्भाव अनुमान में किया जा सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण वचनों द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान किया जाता है। विवक्षा वचनों की हेतु तथा वचन उसके कारण हैं। इनमें कार्य-कारणभाव का निश्चय प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से किया जाता है। इसलिये शब्द को अनुमान में अन्तर्भावित किया जा सकता है।[७६] कमलशील ने शान्तरक्षित द्वारा प्रतिपादित तथ्यों का समर्थन किया है।[७७]

प्रभाकर मत में शास्त्र (अर्थात् अपौरुषेय वैदिक वाक्यों) को प्रमाण माना गया है, लौकिक पौरुषेय शब्द को नहीं।[७८] लौकिक वाक्यों में असत्यता के आधिक्य रहने से अर्थ व्यभिचार की संभावनाएं सर्वदा बनी रहती है। इसलिये स्वयं निश्चय के उत्पादक न होने के कारण लौकिक वाक्य स्वयं प्रमाण कोटि में अन्तर्विष्ट नहीं किये जा सकते, अपितु अनुमानविधया ही उनमें प्रामाण्य गृहीत किया जा सकता है। अनुमान का आकार इस प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है—

प्रतिज्ञा — सकल दोष रहित अभ्रान्त पुरुषोच्चरित वाक्य अन्वय ज्ञानपूर्वक होगा,

हेतु — क्योंकि उसमें अन्वयज्ञान जनकता सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार सकल दोष रहित पुरुषोच्चरित वाक्य पक्षक, अन्वयज्ञान पूर्वकत्व साध्यक एवं वाक्य प्रयोग हेतुक अनुमान से अन्वयज्ञानपूर्वकत्व साध्य की सिद्धि हो जाने के उपरान्त—

प्रतिज्ञा—यह वाक्य अन्वयविशिष्ट है,

हेतु— जनकता सम्बन्ध द्वारा अन्वयबोध रूप हेतु के रहने से।

इत्याकारक वाक्यपक्षक, अन्वयवैशिष्ट्य साध्यक एवं अन्वयज्ञान हेतुक अनुमान से अन्वय की भी सिद्धि हो जाती है। अन्वय शब्द का अर्थ शाब्द बोध है, क्योंकि अन्वयबोध, शाब्दबोध, संसर्गबोध एवं सम्बन्धबोध ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। इस रीति से उक्त अनुमानों द्वारा लौकिक वाक्यों में अनुमानविधया निश्चायकता रहती है, शब्द-विधया नहीं।[७९]

किन्तु समस्त मानवीय ज्ञान का मूल्यांकन केवल प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के आधार पर नहीं हो सकता, कारण विश्व में ऐसे भी अनेक अतीन्द्रिय और परोक्ष पदार्थ हैं, जिनका ज्ञान उक्त प्रमाणों द्वारा न होकर, आगम प्रमाण द्वारा ही होता है। जैसा कि वात्स्यायन और माठर का समर्थन करते हुए गौडपाद ने लिखा है, 'देवताओं के राजा इन्द्र हैं' 'उत्तर में कुरु (कुरुक्षेत्र) एवं स्वर्ग में अप्सरायें रहती हैं' इत्याकारक ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा निष्पादित न होकर, आप्त वाक्य रूप शब्द प्रमाण द्वारा होता है।[८०] इसीलिए महर्षि गौतम ने अनुमान और शब्द में, अर्थ, प्रवृत्ति एवं सम्बन्ध की साम्यता

तथा शब्द और अर्थ में नियत व्यवस्था होने से, शब्द को अनुमान से अभिन्न मानने की मान्यता को चार सूत्रों[८१] द्वारा पूर्व पक्ष में रखकर, खण्डन करते हुए, शब्द का स्वतंत्र प्रामाण्य स्थापित करते हुए लिखा है कि आप्त पुरुष के उपदेश की सामर्थ्य से ही शब्द अर्थ का प्रत्यायन करते हैं,[८२] इसलिये शब्द अनुमान से अर्थतः और प्रवृत्तितः भिन्न हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अनुमेय के सम्बन्ध ज्ञान से अनुमान किया जाता है उसी, प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी अनुमेय होगा। जैसे, ज्ञात लिङ्ग के पश्चात् अज्ञात लिङ्गी का अनुमान होता है, उसी तरह ज्ञात शब्द के द्वारा, अज्ञात अर्थ का भी बोध होता है। इसलिये दोनों में अर्थतः कोई भिन्नता नहीं दिखाई पड़ती। दूसरी बात यह है कि इन दोनों ज्ञानों की उक्त विवरण के अनुसार एक जैसी प्रवृत्ति दिखाई देती है, अतः उपलब्धि की प्रवृत्ति साम्यता से भी इसको प्रमाणान्तर नहीं माना जा सकता[८३] किन्तु ये दोनों आक्षेप समीचीन नहीं जान पड़ते, कारण शब्द और अर्थ की प्रतीति आप्त पुरुष के उपदेश की सामर्थ्य से होती है, जैसे, स्वर्ग, अप्सरा, उत्तर-कुरु, लोक और सप्तसमुद्र विशिष्ट विश्व आदि शब्दों से होने वाली परोक्ष अर्थ विषयक प्रतीतियां केवल शब्द होने से प्रमाणित नहीं मानी जाती, अपितु आप्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट होने के कारण शब्द प्रमाण मानी जाती है। इसलिये विश्वसनीय पुरुषों के उपदेशों के आधार पर शब्द और अर्थ का बोध होता है, किन्तु व्याप्तिज्ञान की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित होने से अनुमान इस प्रकार विश्वास के सहारे उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें लिङ्ग-लिङ्गी के नियत अव्यभिचरित सम्बन्ध का ज्ञान होना अत्यावश्यक है, विश्वसनीय पुरुष का उपदेश नहीं। इसलिये दोनों में उक्त विवेचना पद्धति द्वारा अर्थतः और प्रवत्तितः पर्याप्त वैलक्षण्य दिखाई देता है दूसरी बात यह है कि "गामानय"—'गायलाओ' इत्या-कारण वाक्य श्रवण के अनन्तर श्रोता को 'शब्दावर्थम् अनुमिनोमि'—'शब्द से अर्थ का अनुमान करता हूं' ऐसा भान नहीं होता, अपितु 'शब्दादर्थं प्रत्येमि'—शब्द से अर्थ को उपलब्ध करता हूं' यह अनुव्यवसाय होता है। अतः इस अनुव्यवसाय के आधार पर भी शब्द को पृथक् प्रमाण मानना उचित है।[८४] इसी प्रकार यह कहना भी उचित नहीं जान पड़ता कि लिङ्ग-लिङ्गी का जैसा सम्बन्ध अनुमान में पाया जाता है, वैसा ही शब्द और अर्थ में भी उपलब्ध होता है,[८५] कारण प्रमाणतः यह सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता।[८६] सूत्रकार की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि शब्द और अर्थ में किसी प्रकार सम्बन्ध तो विद्यमान है, क्योंकि षष्ठीविभक्ति द्वारा यह ज्ञापित होता है; किन्तु यह अनुमान में पाया जाने वाला लिङ्ग-लिङ्गी का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि, शब्द और अर्थ में इस प्रकार का व्याप्ति सम्बन्ध गृहीत नहीं होता। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा इसलिये नहीं हो सकता कि जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, उससे शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ग्रहण नहीं होता। धूम को पर्वत पर प्रत्यक्षतः देखकर वहाँ जाकर उससे सिद्ध होने वाली अग्नि को भी देखा जा सकता है, किन्तु श्रवणेन्द्रिय से आप्तोपदिष्ट शब्द सुनकर यह भान होता है कि भारत में कुरुक्षेत्र, दिल्ली आदि नगर विद्यमान हैं, किन्तु इन शब्दों को सुनकर श्रवणेन्द्रिय द्वारा उनको देखा नहीं जा सकता, जैसा कि उक्त अनुमान में सम्भव है। फिर शब्द की प्रवृत्ति इन्द्रियातीत विषयों में भी पायी जाती है, इसलिये शब्द और अर्थ का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा सम्भावित नहीं है।[८७] यदि यह कहा जाय कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में अनुमान को प्रमाण माना जा सकता है, तो ऐसी स्थिति में शब्द में अर्थ की अथवा अर्थ में शब्द की अथवा दोनों में दोनों की व्याप्ति

पायी जाती—ऐसे तीन विकल्प हो सकते हैं।[८८] प्रथम विकल्प का निराकरण करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि पूरण, प्रदाह व पाटन के उपलब्ध न होने से उक्त सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है।[८९] इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि शब्द में अर्थ की यदि व्याप्ति पायी जाय, तो अन्न, अग्नि अथवा तलवार शब्द के उच्चारण से मुख, (अन्न से) भर अर्थात् परिपूरित, (अग्नि से) जल अथवा (असि से) कट जाना चाहिये। तात्पर्य यह कि 'व्याप्य के होने पर व्यापक अवश्यमेव होता है और व्यापक के अभाव में व्याप्य कदापि नहीं होता' ऐसा नियम है। इसलिये व्याप्य अन्न आदि शब्द के उच्चारण से व्यापक मुख आदि अर्थ को उक्त नियम के अनुसार परिपूरित आदि हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिये शब्द में अर्थ की व्याप्ति नहीं पायी जाती। द्वितीय विकल्प—अर्थ में शब्द की व्याप्ति यदि मानी जाय तो पदार्थ और स्थान, करण आदि के समानाधिकरण वृत्ति न होने से शब्द का उच्चारण असंभव हो जायगा। जहाँ से वर्ण प्रस्फुटित होता है, उन कण्ठ आदि को स्थान तथा स्पृष्ट आदि जिस प्रयत्न विशेष से शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसे करण कहा जाता है। जैसे, गाय आदि शब्द से बोधित सास्नादिविशिष्ट गाय रूप पदार्थ का अधिकरण गौशाला आदि प्रदेश ही होंगे, किन्तु उस अधिकरण में गाय शब्द के उच्चारण का जो स्थान कण्ठ आदि एवं करण स्पृष्ट आदि प्रयत्न है, उसकी वृत्ति नहीं पायी जाती, क्योंकि गाय आदि शब्दों का अधिकरण आकाश है। इसलिये समानाधिकरण में वृत्ति न होने के कारण अर्थ में शब्द की व्याप्ति नहीं पायी जाती। भाष्यकार के मन्तव्य को सरल शब्दों में इस प्रकार समझाया जा सकता है—यदि यह कहा जाय कि शब्द में अर्थ की व्याप्ति पायी जाती है तो इसलिये उचित नहीं कि घट, पट आदि शब्दों के अभाव में भी घट, पट आदि पदार्थों की सत्ता रहती है। और यदि यह कहा जाय कि अर्थ में शब्द की व्याप्ति पायी जाती है तो भी समीचीन नहीं कारण घट, पट आदि पदार्थों के अभाव में भी 'घट, पट आदि नहीं है' इत्याकारक शब्द व्यवहार होता है। इसलिए दोनों ही विकल्प व्यभिचरित होने के कारण मान्य नहीं है। अतः उक्त दोनों विकल्पों के निरस्त हो जाने से तृतीय पक्ष भी अपने आप निराकृत हो जाता है। इसलिये शब्द और अर्थ में व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध का किसी प्रमाण द्वारा ग्रहण न होने के कारण, शब्द को अनुमान से पृथक् प्रमाण माने जाने में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होता।[९०] इस पर वादी पुनः आशंका कर सकता है कि शब्द और अर्थ की व्यवस्था होने से उक्त व्याप्ति सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता।[९१] अभिप्राय यह कि घट से कम्बुग्रीवादिविशिष्ट तथा पट से शरीराच्छादन योग्य चतुष्कोणादिविशिष्ट अञ्चल आदि व्यक्ति विशेष पदार्थों का बोध होता है, अन्य का नहीं। यदि उक्त व्यवस्था, न मानी जाय तो घट शब्द से पट और पट शब्द से अर्थ का भी भान हो सकता है। इस तरह शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न माना जाय, तो जिस किसी शब्द से जिस किसी पदार्थ का बोध होने लगेगा और समस्त व्यवहार व्यवच्छिन्न हो जायगा। अतः यह मानना होगा कि जिस शब्द के साथ जो अर्थ नियत है, उस शब्द से वही अर्थ गृहीत किया जा सकता है। अतः इस प्रकार शब्द और अर्थ में नियत व्यवस्था पायी जाने से, उसमें व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध माना जा सकता है। पूर्व सूत्रों में मुख पूरण आदि दोषों का, जो कथन किया गया है, उनमें वस्तुतः संयोग सम्बन्ध है, व्याप्यव्यापकभाव-सम्बन्ध नहीं। इसलिये उक्त समीक्षा युक्तिपूर्ण नहीं जान पड़ती।[९२] इस आक्षेप का समाधान देते हुए महर्षि गौतम ने कहा है कि शब्द-अर्थ-प्रतीति सामयिक सम्बन्ध द्वारा ही

होती है,[९३] व्याप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध से नहीं। इस शब्द का यह अर्थ है—यह जो अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक) के नियम का निश्चय है इसी का नाम संकेत या समय है। इस नियम से होने वाले सम्बन्ध को सामयिक सम्बन्ध कहा जाता है। इसी को शक्ति सम्बन्ध भी कहा जाता है जो ईश्वरइच्छा तथा पुरुषइच्छा स्वरूप है। सामयिक सम्बन्ध के ज्ञान से, शब्द श्रवण करने के उपरान्त, अर्थ का बोध होता है और जिस व्यक्ति का संकेत ज्ञान नहीं है, उसे शब्द श्रवण होने पर भी अर्थ का बोध नहीं होता। लौकिक पुरुषों को इस सामयिक सम्बन्ध का ज्ञान व्याकरण शास्त्र द्वारा होता है।[९४] जाति विशेष में नियम न होने से भी यह बात पुष्ट होती है कि[९५] शब्द और अर्थ में सामयिक या ऐच्छिक सम्बन्ध है, स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं क्योंकि, आर्य तथा म्लेच्छ दोनों अपनी-अपनी इच्छानुसार अर्थ ज्ञान के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं। यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता, तो इच्छानुसार शब्द प्रयोग कदापि निष्पन्न नहीं हो पाता। जैसे, प्रकाश और वस्तुओं के रूप प्रकाशन में स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण प्रकाश से सर्वत्र अव्यभिचरित रूप से एक समान ही वस्तुओं का प्रकाशन होता है। किन्तु शब्द और अर्थ में ऐसा सम्बन्ध होना संभावित नहीं है, क्योंकि शब्द से अर्थ का जो प्रकाशन होता है, वह इच्छा प्रसूत है।[९६] तात्पर्य यह है कि प्रकाश द्वारा समस्त वस्तुओं का प्रकाशन एक समान होता है, उसमें देशकृत या कालकृत कोई भेद नहीं होता। किन्तु लोगों ने अपनी-अपनी इच्छानुसार वस्तुओं के प्रकाशन के लिये, जो शब्द प्रयुक्त किये हैं वे अपने-अपने दायरे तक प्रचलित होते हैं। इसलिये शब्द से, अर्थ का प्रकाशन समस्त जातियों में क्या एक जाति में भी समान रूप से नहीं हो पाता। एक भाषा में किसी शब्द का अर्थ कुछ और होता है और दूसरी भाषा में कुछ और। जैसे 'गदहा' शब्द संस्कृत भाषा में औषधि या वैद्य के लिये प्रचलित है, किन्तु हिन्दी भाषा में वही खर के रूप में प्रयुक्त होता है। इसलिये शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है वरन् इच्छा प्रसूत होने के कारण देशकालानुसार सामयिक सम्बन्ध है। यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता, तो सर्वत्र अर्थ सम्बद्ध शब्द का एक समान ही व्यवहार पाया जाता। अत्युत्पन्न व्यक्ति, जिसे अर्थ में शब्द का संकेत ज्ञात नहीं है, उसे भी अर्थ का बोध होने लगेगा, कारण शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध तो वहाँ विद्यमान है। लेकिन यह अनुभवगम्य तथ्य नहीं है, इसलिये शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर, सामयिक सम्बन्ध है। और शब्द सामयिक होने के कारण आप्तोपदेश द्वारा प्रमाणित होता है। अतः शब्द और अर्थ में व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव होने से शब्द अनुमान में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। उद्योतकर और वाचस्पति ने भी इसी प्रकार भाष्यकार का समर्थन किया है।[९७]

वैशेषिक दर्शन में समानविधिक—'जिस प्रकार अनुमान में व्याप्ति ग्रह, लिङ्ग-दर्शन एवं व्याप्ति स्मरण होने के पश्चात् अनुमिति होती है, उसी प्रकार शब्द में शक्ति-ग्रह, वाक्यश्रवण एवं पदार्थस्मरण के पश्चात् वाक्यार्थ बोध होता है' होने से शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत करने के लिये जो पदार्थपक्षक और पदपक्षक अनुमानों का अवलम्बन लिया गया है, उनका खण्डन करते हुए उदयन ने लिखा है कि प्रथम पदार्थपक्षक अनुमान द्वारा संसर्ग का निश्चय होने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास और संसर्ग की संभावना मात्र कोअनुमान द्वारा सिद्ध करने पर कोई निर्णय नहीं हो पाता। द्वितीय पद-पक्षक अनुमान में आकाङ्क्षा 'स्वरूपसत्' होकर ही वाक्यार्थ बोध में हेतु बन सकती है। इसलिये अनुमान नहीं हो सकता और आकाङ्क्षा को छोड़कर यदि केवल योग्यता और आसत्ति को ही

अनुमान में हेतु बनाया जाय, तो व्याप्ति शून्य होने पर उनमें अनुमापकता नहीं आ सकती ।[९८] इसकी व्याख्या करते हुए हरिदास ने लिखा है कि 'एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः एव योग्यता-आकाङ्क्षा-आसत्तिमत्पदस्मारितत्वात्' ये पदार्थ परस्पर संसर्ग विशिष्ट ही हैं, योग्यता, आकाङ्क्षा एवं आसत्तिमतपदों से स्मारित होने से' इस पदार्थ-पक्षक अनुमान में साध्य 'संसर्गवत्त्व' की सिद्धि निर्णीत रूप से अपेक्षित है अथवा संभावना रूप से ? प्रथम पक्ष इसलिये निष्पन्न नहीं हो सकता कि 'पयसासिञ्चति' स्थल में उसका व्यभिचार होगा । 'पयस्' शब्द द्विविध अर्थ का बोधक है—जल और दूध । सिञ्चत क्रिया दोनों द्वारा हो सकती है । 'पयसासिञ्चिति' इन पदों में योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति ये सब होने से इन पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध की सिद्धि की जा सकती है । परन्तु जहाँ 'पयसा' शब्द जल के अभिप्राय से बोला गया है, वहाँ जल का सिञ्चन के साथ संसर्ग वक्ता की बुद्धि में पाया जाता है, दूध का नहीं । परन्तु आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति युक्त पदों से स्मारित होने से' इस हेतु के अनुसार दूध के साथ भी उसका संसर्ग होना चाहिये जो कि है नहीं । इसलिये सम्बन्ध के निर्णीत होने पर यहाँ अनैकान्तिक दोष होगा,क योंकि हेतु दोनों जल और दूध में साधारणतया पाया जाता है । द्वितीय पक्ष संसर्ग की केवल संभावना होने से मान्य नहीं हो सकता, कारण इसके द्वारा केवल इतना बोध हो सकता है कि संसर्ग हो सकता है, संसर्ग का निश्चय नहीं । अतः इस संभावनामूलक पक्ष में सम्बन्ध का निर्णय नहीं होने से, संसर्गवत्त्व साध्य की सिद्धि उक्त अनुमान द्वारा नहीं हो सकती । दूसरी बात यह है कि 'संभावितसंसर्गाः' इस द्वितीय पक्ष में, संसर्ग स्वरूप योग्यता ही साध्य है और हेतु में पठित योग्यताशब्द का अर्थ भी यही है, इसलिये अन्वयप्रयोजक-स्वरूपवत्त्व रूप योग्यता, हेतु का विशेषण होने के कारण सिद्धसाधन दोष भी है ।[९९] अतः उक्त अनुमान से संसर्ग का बोध न होने के कारण शब्द को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है । इसी प्रकार द्वितीय पदपक्षक 'एतानि पदानि स्वस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमा-पूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदत्वात्'— 'ये पद अपने द्वारा स्मारित पदार्थों के संसर्ग ज्ञानपूर्वक है, आकाङ्क्षादियुक्त पद होने से' इत्याकारक अनुमान भी समीचीन नहीं जान पड़ता, कारण प्रत्येक अनुमान में लिङ्ग का ज्ञान अपेक्षित होता है, क्योंकि उसी के द्वारा अनुमिति होती है । इसलिये अनुमान में हेतु रूप आकाङ्क्षा ज्ञान स्वरूप ही उपयोगिनी हो सकती है । इस प्रकार आकाङ्क्षा स्वरूपतः विद्यमान न होकर भी, उसके ज्ञान मात्र से अनुमान का कार्य चल सकता है, किन्तु शाब्द बोध स्थल में अविद्यमान आकाङ्क्षा से कार्य नहीं चल सकता, कारण वहाँ आकाङ्क्षा स्वरूप-सत् होकर अर्थात् विद्यमान होकर हेतु होती है । इसलिये इस अनुमान के द्वारा भी संसर्ग की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः शब्द और अनुमान में पर्याप्त भेद होने से शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता ।[१००] इस आपत्ति के निवारण के लिये यदि आकाङ्क्षा पद को निकालकर केवल योग्यता और आसत्ति को हेतु बना दिया जाय, तो भी समीचीन नहीं, कारण ऐसा मानने पर योग्यता आसत्ति की संसर्ग के साथ व्याप्ति नहीं बन पायेगी, 'क्योंकि जहाँ-जहाँ योग्यता और आसत्ति हों वहाँ-वहाँ संसर्ग भी हो' यह आवश्यक नहीं । जैसे, 'अयमेतिपुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्'—यह राजकुमार आ रहा है, पुरुष को हटाओ, इस वाक्य में 'राज्ञः' पद का अन्वय पुत्र और पुरुष दोनों के साथ हो सकता है एवं उसकी योग्यता व आसत्ति दोनों के साथ है । किन्तु वक्ता ने उसका सम्बन्ध किसी एक के साथ रखकर, उसका उच्चारण किया है । इसीलिए दूसरे अर्थ के साथ उसका संसर्ग नहीं

होगा। अतएव दूसरे अर्थ के साथ योग्यता और आसत्ति रहने पर भी, संसर्ग का अभाव होने के कारण, योग्यता आसत्ति का संसर्ग के साथ व्यभिचार होने से, व्याप्ति नहीं बन पाती। अतः 'आकाङ्क्षाविरहित योग्यताआसत्तिपद वाला पद होने से' यह हेतु भी संसर्ग का अनुमापक नहीं हो सकता।[१०१] इसलिये अनुमान में शब्द को किसी प्रकार भी अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता।

प्रभाकर, अपौरुषेय होने के कारण (उनका कोई वक्ता नहीं होने से) वैदिक वाक्य को तो प्रमाण मानते हैं, किन्तु पौरुषेय लौकिक वाक्यों को नहीं। कारण यह है कि लौकिक वाक्यों का कोई न कोई वक्ता अवश्य होता है। उस वक्ता की प्रमाणिकता पर ही वाक्य का प्रामाण्य अवलम्बित है, इसलिये उपयुक्त अनुमान से प्रथमतः संसर्गबोध हो जाता है, तत्पश्चात् शब्द विधि से भी संसर्ग बोध हो सकता है, अतः लौकिक वाक्य अनुवादक मात्र है, प्रमाण नहीं। इसका खण्डन करते हुए उदयन ने कहा है कि वैदिक वाक्यों में जिनकी संसर्ग बोध की शक्ति का निर्णय हो चुका है, उसी प्रकार के लौकिक वाक्य में भी अनुमान की अपेक्षा पहिले ही शाब्द बोध की प्रक्रिया द्वारा संसर्ग का निर्णय हो जाने से, अनुमान का ही अनुवादकत्व मानना चाहिये क्योंकि, उससे संसर्ग बोध में, व्याप्तिस्मृति के कारण विलम्ब होने से, शब्द के द्वारा पहिले ही संसर्ग निर्णय हो जाता है। इस पर प्रतिपक्षी प्रभाकर पुनः आशंका करता है कि लौकिक वाक्य में आप्तोक्तत्व का संशय अथवा व्यतिरेक (अभाव) होने पर भी, शाब्द बोध न होने से, आप्तोक्तत्व के निर्णय को शाब्दबोध का कारण कहना होगा। आप्तोक्तत्व का अर्थ प्रस्तुत वाक्यार्थ विषक यथार्थज्ञान जन्यत्व है। इसलिये वक्ता के ज्ञान में अवच्छेदक रूप से संसर्गरूप वाक्यार्थ का ज्ञान पहिले अनुमान में मानना होगा। शाब्दबोध की प्रक्रिया से बोध बाद में होगा। अतः लौकिक वाक्य अनुवादक है।

प्रतिबन्दी उत्तर देते हुए उदयन ने इस आक्षेप का परिहार करते हुए कहा है कि लौकिक वाक्य में भी शाब्द बोध के लिये आप्तोक्तत्व निश्चय ही कारणता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसकी उपयोगिता प्रामाण्य निश्चयन में ही है। अयोग्य अर्थात् अनाप्तोक्त वाक्य के संसर्गबोध (शाब्दबोध) में यदि विलम्ब होता है, तो उसका कारण बाधकज्ञान का अभावरूप योग्यता के ज्ञान में होने वाला विलम्ब है। अन्यथा लौकिक वाक्य में आप्तोक्तत्व निश्चय के समान ही वैदिक वाक्य में अपौरुषेयत्व निश्चय को कारण मानना होगा और उस दशा में—

ये वैदिक पदार्थ परस्पर संसर्ग युक्त है,

पुरुषदोष (भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि) की शंका से रहित अपौरुषेय वैदिक पदों से स्मारित होने से।

इस अनुमान से वैदिक वाक्यों में भी पहिले अनुमान द्वारा ही संसर्ग का निर्णय हो जाता है। बाद में वाक्य मर्यादा से संसर्गबोध होने के कारण यह अनुवादकत्व वैदिक वाक्यों में भी क्यों नहीं माना जा सकेगा। अर्थात् विनिगमक के अभाव में लौकिक वाक्य के समान वैदिक वाक्य को भी अनुवादक ही मानना होगा अन्यथा फिर वैदिक वाक्य को प्रमाण मानने पर लौकिक शब्द को ही प्रमाण मानना होगा। अतः वैदिक वाक्यों को शब्द प्रमाण मानना और लौकिक वाक्यों को अनुवादक यह 'अर्धजरतीयन्याय' उचित नहीं है क्योंकि, यदि लौकिक वाक्य में आप्तोक्तत्व निश्चय अपेक्षित है तो उसी प्रकार

वैदिक वाक्यों में भी अपौरुषेयत्व निश्चय अपेक्षित है । इसलिये वैदिक वाक्यों में भी अनुमान द्वारा संसर्ग का निर्णय हो सकता है । उस दशा में वैदिक वाक्य में अनुवादकत्व की आपत्ति होगी ।[१०२]

जयन्त ने भी शब्द को अनुमान में अन्तर्भाविता की समीक्षा करते हुए लिखा है कि पद और वाक्य भेद से शब्द दो प्रकार का है इनमें से वाक्य अपने वाक्यार्थ बोध के उत्पादन में, वाक्य और वाक्यार्थ के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि अभिनव श्लोक सुनने के पश्चात् वाक्य व अर्थ के साथ वाक्य के सम्बन्ध का ज्ञान न रहने पर भी, केवल तद्घटक पदों के ज्ञान से ही वाक्यार्थ ज्ञान निष्पन्न हो सकता है । अतः वाक्यार्थ बोध के प्रति सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु सभी अनुमानों में हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है । दूसरी बात यह है कि अनुमान की तरह, पद द्वारा अर्थ विषयक बोध में सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है, किन्तु अनुमिति की सामग्री से पद ज्ञान जन्य शाब्द बोध की सामग्री भिन्न है । तीसरे शाब्द बोध और अनुमिति के विषय भी भिन्न-भिन्न है । चौथे धूम आदि हेतुओं से जो वह्नि विशेषणक पर्वत विशेष्यक प्रतिपत्ति रूप अनुमिति होती है, उसमें पर्वत आदि विशेष्यों की प्रतिपत्ति की आवश्यकता रहती है, किन्तु पद से जो अर्थ विषयक अनुमिति होती है, उसमें विशेष ज्ञान के बदले विशेषण ज्ञान की ही अपेक्षा रहती है । इसलिये दोनों एक नहीं है । पाँचवें जैसे अनुमान में धर्म-विशिष्ट-धर्मी को पक्ष माना जाता है. उसी प्रकार शब्द से जो अर्थ विषयक बोध होता है, उसमें अर्थविशिष्ट-शब्द को पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि शाब्दबोध में शब्द हेतु है और हेतु कभी भी पक्ष नहीं बन सकता ।[१०३]

इसी प्रकार नैयायिकों की भांति, मीमांसक[१०४] सांख्य[१०५] और जैन[१०६] दार्शनिको नें भी शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण माना है और उनके अनुमान में अन्तर्भूत होने का खण्डन किया है । इसलिये निष्कर्षतः शब्द को पृथक् प्रमाण मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है ।

शाब्दज्ञान 'शक्ति' अर्थात् शब्द और अर्थ से सम्बन्ध ज्ञान के अभाव में संभव नहीं हो सकता । शक्ति बोध अनुमान प्रमाण के बिना नहीं हो सकता इसलिये अनुमान शब्द प्रमाण में परम्परया कारण है । इसी कारण प्रायः सभी दार्शनिकों ने अनुमान के पश्चात् शब्द प्रमाण का निरूपण किया है । अमुक शब्द अमुक अर्थ को ही प्रकट कर सकता है अर्थात् अमुक शब्द में अमुक अर्थ प्रकट करने की शक्ति है यह बात तब तक नहीं जानी जा सकती, जब तक शक्तिज्ञान नहीं हो जाय । 'गामानय' 'गाय को लाओ' इत्याकारक ज्ञान, शक्तिज्ञान के बिना सम्भव नहीं है । अनुमान इस शक्ति ज्ञान में किस प्रकार उपयोगी सिद्धि होता है, यह निम्न प्रक्रिया से भली भांति ज्ञात हो जायगा शक्ति ज्ञान की दृष्टि से समस्त मानव जाति दो भागों में विभाजित की जा सकती है । एक तो वे जिन्हें शक्तिज्ञान है वे वृद्ध अथवा व्युत्पन्न और दूसरे वे जिन्हें शक्ति का बोध नहीं है अव्युत्पन्न या कनीयान् कहलाते हैं । शब्द-संख्या असंख्य है और समस्त वाङ्मय को जानने वाले अर्थात् उनके अर्थ को समझने वाले बिरले होते हैं। [परन्तु फिर भी वृद्ध या विद्वजनों को कुछ शब्दराशि का ज्ञान तो रहता ही है, शेष के लिये वे भी अव्युत्पन्न ही रहते हैं । जैसे कोई विद्वान् संस्कृत वाङ्मय का अच्छा पाण्डित्य प्राप्त किये हुए हैं पर वह भी फ्रेंच, रशियन आदि भाषाओं का ज्ञान न रखने के कारण अविज्ञ रहता है । फिर भी सामान्य

ज्ञान की व्यवहार दशा में ये दो कोटियाँ हमारे समक्ष आती है जिन्हें जिस विषय के सामान्य व्यवहार में आने वाले सभी शब्दों (अधिकतर शब्दों) के अर्थ का ज्ञान रहता है, वे व्युत्पन्न कहलाते हैं। इस दृष्टि से अज्ञ बालक ही मुख्य रूप से अव्युत्पन्न कोटि में आते हैं। बालक के ज्ञान में प्रथम कोटि के व्युत्पन्न वक्ता जो कि शब्दों द्वारा अपने अनुज (अपने से छोटे) व्यवहारज्ञ शिष्य, पुत्र, भाई आदि को कार्यों में प्रेरित करते हैं तथा दूसरे श्रोता श्रेणी के वे लोग हैं, जो व्यवहारज्ञ होने के कारण अपने पिता, आचार्य या ज्येष्ठों आदि के वचन सुनकर तदनुसार कार्य में प्रवृत्त होते हैं। व्युत्पन्न पुरुष प्रयोजक अथवा प्रेरक कहे जाते हैं एवं अव्युत्पन्न श्रेणी के लोग (बालक) प्रयोज्य या आज्ञा पालक कहलाते हैं।

अनुमान और शब्द की संगति पर विचार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि जब आचार्य आदि कोई प्रेरक पुरुष, किसी व्युत्पन्न शिष्य आदि को कार्य विशेष का आदेश करने के लिये शब्दों जैसे, 'गाय को लाओ' का प्रयोग करता है, तो आज्ञा पालन के लिये व्युत्पन्न शिष्य, आदेशानकूल प्रवृत्त होता है और गाय को ले आता है। इस समस्त प्रक्रिया को, समीपस्थ बैठा हुआ अव्युत्पन्न बालक, ध्यान पूर्वक देखता है, तो सर्वप्रथम, उसे, प्रयोज्य शिष्य की गाय लाने की चेष्टा को देखकर गाय विषयक प्रवृत्ति का अनुमान होता है, क्योंकि किसी विषय में प्रवृत्ति होने पर ही चेष्टा उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् वह गाय लाने वाली चेष्टा के विषय में होने वाली प्रवृत्ति के कारण-भूत ज्ञान का अनुमान करता है, क्योंकि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उसके विषय में प्रवृत्ति या निवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। पुनः वह प्रयोजक आचार्य द्वारा उच्चारित शब्द समूह के श्रवण के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण, उस ज्ञान की शब्दजन्यता का अनुमान करता है, जिसमें उसे शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध विशेष ('गामानय' शब्द गाय को प्रकट करने में समर्थ है, इस शब्द शक्ति') का ज्ञान होता है शब्द और अर्थ के इस शक्तिरूप सम्बन्ध विशेष का बोध होने पर ही शब्द अपने अर्थ की प्रतीति करा सकता है। इस प्रकार शनैः-शनैः और प्रयोज्य का व्यवहार देकर, अव्युत्पन्न बालक अनुमान द्वारा क्रमशः शक्ति-ज्ञान प्राप्त करके व्युत्पन्न हो जाता है। इसलिये शाब्द ज्ञान की अनमानपूर्वकता सिद्ध होती है। इसी कारण प्रायः सभी दार्शनिकों ने अनुमान के पश्चात् ही शब्द प्रमाण का निरूपण किया है।[१०७] अतः अनुमान से पृथक् प्रमाण होते हुए भी शब्द प्रमाण अपनी उत्पत्ति के लिये अनुमान की अपेक्षा रखता है।

अनुमान और उपमान

प्रथम धारा का सूत्रपात करते हुए चार्वाक जयराशि भट्ट ने, भाट्ट मीमांसक समर्थित उपमान लक्षण को प्रत्यक्ष मूलक, प्रभाकर अनुमोदित उपमान लक्षण को प्रत्यक्ष और स्मृतिमूलक एवं न्याय दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत अनुमान लक्षण को सामान्यज्ञान-मूलक होने के कारण उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का खंडन किया है।[१०८] इसी प्रकार खण्डनकार ने भी प्रभाकर, भाट्ट मीमांसा एवं न्याय उपमान लक्षणों का खण्डन किया है।[१०९] चित्सुखाचार्य ने भाट्ट मीमांसा समर्थित उपमान लक्षण को प्रत्यक्ष में, सादृश्य को पृथक् पदार्थ स्वीकार करने की मान्यता का खण्डन करते हुए उनके द्वारा सम्पादित उपमान लक्षण को अर्थापत्ति में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया है।[११०] खण्डनकार का समर्थन[१११] करते हुए इन्होंने भी न्याय सम्मत उपमान लक्षण को श्रीधर

की भांति अनुमान में अन्तर्भूत किया है।[११२] श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य दोनों ने न्याय सम्मत उपमान का अनुमान में जो अन्तर्भाव किया है, वह किरणावलीकार, एवं न्याय कन्दलीकार से काफी प्रभावित जान पड़ता है। इस प्रकार उपमान के प्रत्यक्ष, सामान्यज्ञान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों में गतार्थ हो जाने के कारण, इन वितण्डावादी दार्शनिकों ने इसे पृथक् प्रमाण नहीं माना है।

द्वितीय धारावादी प्रज्ञाकर गुप्त[११३] और मोक्षाकर गुप्त[११४] ने उपमान को अविसंवादी न होने के कारण, अप्रमाण घोषित किया है। शान्तरक्षित ने भी प्रथमतः इसे अप्रमाण घोषित किया है। किन्तु अन्त में 'गवय को देखने पर जो गाय का सादृश्य-ज्ञान होता है' इस मीमांसा प्रणीत तथा 'संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध प्रतिपत्ति रूप न्याय उपमान लक्षणों को स्मृत्ति कहा है। इस तरह मीमांसा और न्याय दार्शनिकों के उपमान लक्षणों को अप्रमाण तथा स्मृति घोषित करने के उपरान्त, उन्होंने दोनों लक्षणों की वैसादृश्य के आधार पर आलोचना करते हुए सादृश्याभावमूलक उपमान को अभाव प्रमाण में अन्तर्विष्ट होने का भी संकेत किया है। इतना खण्डन होने के उपरांत भी उपमान समर्थक दार्शनिक यदि उपमिति को प्रमा मानकर उपमान को प्रमाणान्तर मानने का दृढ़ाग्रह करते हैं, तो उसका अन्तर्भाव निम्न अनुमान में किया जा सकता है—

दृष्टिगोचर गवय शब्द का विषय है,
गाय के सदृश होने से,
संकेत काल में प्रतिभासित होने वाले बुद्धिस्थ गवय के समान।[११५]

कमलशील ने भी इन्हीं का अनुगमन किया है।[११६] उनके इस अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव निरूपण पर सांख्यतत्त्वकौमुदीकार तथा वैशेषिक दार्शनिक का प्रभाव जान पड़ता है।

तृतीय धारानिष्ठ 'वैशेषिक सूत्र' में उपमान के अन्तर्भाव का स्पष्टतः संकेत उपलब्ध नहीं होता। प्रशस्तपाद ने उपमान का शब्द में अन्तर्भाव करते हुए लिखा है कि 'प्रसिद्ध साधर्म्यमूलक गाय के समान ही गवय होता है'—इस आप्त वाक्य पर आधारित होने से अर्थात् आप्त वचन द्वारा ही अर्थप्रतिपत्ति होने से उपमान शब्द प्रमाण है।[११७] इस समीक्षा का लक्ष्य न्यायभाष्यकार का उपमान लक्षण जान पड़ता है। आशय यह कि गवय से अनभिज्ञ कोई नागरिक अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिये किसी आरण्यक से यह पूछता है कि गवय कैसा होता है तब वह काननवासी पुरुष उसको समझाने के लिये कहता है कि 'गाय के समान गवय होता है' इस प्रकार आप्त द्वारा उच्चारित वाक्य से नागरिक को वन में जाकर गवय को प्रत्यक्ष देखकर, जो ज्ञान होता है वह उपमिति कहलाता है। इस अतिदेश वाक्य रूप आप्त वचन द्वारा प्रतिपादित होने के कारण उपमान आप्तवचन में गतार्थ किया जा सकता है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्रशस्तपाद मत में आप्तवचन अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है, अतः उपमान का आप्तवचन के माध्यम से अनुमान में परम्परया अन्तर्भाव किया जा सकता है। भाष्यकार ने केवल यही अन्तर्भाव प्रयुक्त किया है, किन्तु कन्दलीकार ने मीमांसा समर्थित 'मेरी गाय इस गवय के समान है' इस शाबरभाष्य प्रणीत तथा उत्तरवर्ती न्याय दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित—'इसी पिण्ड का नाम गवय है' इत्याकारक उपमितिमूलक प्रतीतियों को भी क्रमशः स्मृति और शब्द में ही अन्तर्भावित किया है। एवं गाय के सदृश गवय में, गवय

शब्द की वाच्यता का जो ज्ञान होता है, वह भी अनुमान है। अनुमान का आकार इस प्रकार है—

प्रतिज्ञा — गवय शब्द गवय का वाचक है,

अपदेश — गवय शब्द की वृत्ति न होने पर भी आप्तजनों द्वारा प्रयुक्त होने से।

निदर्शन — वृत्ति न होने पर भी जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, वह उसका वाचक होता है, जैसे गाय शब्द गोत्व अर्थ का वाचक होता है।

अनुसंधान — गवय शब्द भी ऐसा है।

प्रत्याम्नाय — इसलिये गवय शब्द गवय का वाचक है।

इसके अतिरिक्त गवय में जो गाय सादृश्य का ज्ञान अर्थात् गवय पिण्ड लोकनिष्ठ अन्य सभी पिण्डों से भिन्न है इत्याकारक ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है। तथा मीमांसक लक्षण की भांति गवय रूप यही अर्थ—'गवय शब्द रूप संज्ञा का संज्ञी है' अर्थात् 'वाच्य है' इत्याकारक संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध का जो अनुसंधान होता है वह भी स्मरण है। उपमान नहीं।[११८] इन सभी उपपत्तियों से सिद्ध होता है कि उपमान नामक कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। कन्दलीकार के विवेचन में पूर्वाचार्य, व्योमशिवाचार्य उदयन आदि का समर्थन जान पड़ता है।[११९] शंकरमिश्र ने वैशेषिक सूत्र—'अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात्'[१२०] की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उपमान, अर्थापत्ति, संभव एवं अभाव ये सूत्र में शेष हैं। इस व्यापक का यह व्याप्य है, इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह उत्पन्न होने वाले की आवश्यकता रखती है एवं जिसकी उसको आवश्यकता रहती है, इसकी सत्ता को उसके लिये आवश्यक कहा जाता है। उसका यह कारण है अथवा कार्य है इस ज्ञान अथवा सम्बन्ध की अपेक्षा रखनेवाले होने से उक्त चारों प्रमाण अनुमान में अन्तर्विष्ट हो सकते हैं। कन्दलीकार की भांति उन्होंने उपमान को शब्द और अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है।[१२१] दोनों का निरूपण प्रायः समान है। इस प्रकार सभी वैशेषिक दार्शनिकों ने उपमान को पृथक् प्रमाण न मानते हुए, उसका प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, स्मरण आदि में अन्तर्भाव किया है।

नैयायिक एकदेशी दार्शनिक भासर्वज्ञ ने भी उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। उन्होंने मीमांसक उपमान लक्षण को वैशेषिकों की भांति स्मरण और न्याय भाष्यकार तथा न्याय वार्तिककार समर्थित उपमान लक्षणों को शब्द में अन्तर्भावित किया है।[१२२] किन्तु न्याय सूत्रकार ने प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में तृतीय सूत्र द्वारा जो चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द प्रमाणों का उल्लेख किया है, उससे इस मत का विरोध होना अपरिहार्य है। इस आक्षेप के समाधान में भासर्वज्ञ ने लिखा है कि सूत्र विरोध नहीं होगा; क्योंकि जिस प्रकार दृष्टान्त और हेत्वाभास का प्रमाण और निग्रह-स्थान में अन्तर्भाव होते हुए भी सूत्रकार ने प्रयोजनवश प्रथम सूत्र में इनका पृथक् निर्देश किया है, उसी प्रकार उपमान का भी, शब्द प्रामाण्य के प्रसङ्ग में उठने वाली आशंकाओं का निराकरण करने के लिये, शब्द प्रामाण्य समर्थन के अभिप्राय से दृष्टान्तरूप में पृथक् निरूपण किया है।[१२३] दूसरी बात यह है कि प्रमाण परीक्षा प्रकरण में जो उपमान का कथन किया गया है, उसका भी अर्थापत्ति के समान, न्याय अभिमत प्रमाणों में अन्त-

भाव हो सकता है—और अनुमान में अन्तर्भाव न होने का जो उपमान परीक्षा प्रकरण में कथन किया गया है, वह अनुमान में उसके अन्तर्भाव न होने का ही सूचक है,[१२४] शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव होने का नहीं। तीसरे उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव निर्विवाद रूप से किया जा सकता है। इसीलिये सूत्रकार ने जहाँ कहीं प्रमाण चतुष्टय का कथन किया है, वह पञ्चत्व संख्या के निराकरण के अभिप्राय से किया है, प्रमाण त्रित्व के प्रतिषेध के लिये नहीं। यदि यह कहा जाय कि सूत्रकार ने कहीं भी प्रमाण त्रित्व का निर्देश नहीं किया है इसलिये केवल तीन ही प्रमाण मानना सर्वथा अनुपयुक्त है तो यह आशंका ठीक नहीं जान पड़ती; क्योंकि कहीं-कहीं सूत्रकार ने अपने स्वाभाविक सिद्धान्तों का भी कथन स्पष्टतः नहीं किया है, लेकिन अन्ततोगत्वा वह उन्हें अभिप्रेत अवश्य है, जैसे, अवयवि-निराकरण काल में उन्होंने 'कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः'[१२५] इस सूत्र का कथन किया है। सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से कथन न करने का अभिप्राय यह है कि शिष्यगण अपनी ज्ञानवृद्धि के लिये सिद्धान्त के सबन्ध में अधिक से अधिक ऊहापोह करें। इस प्रकार उपमान का शब्द में अन्तर्भाव हो जाने पर भी सूत्रकार से कोई विरोध नहीं होता। इसलिये उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानना निष्प्रयोजक एवं सारविहीन है।[१२६]

सांख्य दर्शन में 'सांख्यकारिका' तथा 'सांख्यसूत्र' में उपमान के किसी प्रमाण में अन्तर्भाव होने का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। आचार्य माठर ने 'जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है इत्याकारक उपमान को अनुमान कहा है।[१२७] गौडपाद ने इस उदाहरण के अतिरिक्त—'समुद्र के समान तालाब भी होता है' इस उदाहरण का प्रयोग कर दोनों को शब्द में अन्तर्भावित किया है।[१२८] दोनों आचार्यों की भांति उदाहरण न देते हुए विज्ञानभिक्षु ने और भी संक्षिप्त पद्धति अपनाकर केवल इतना ही निर्देश किया है कि उपमान, ऐतिह्य आदि प्रमाणों का अनुमान और शब्द में ही अन्तर्भाव होता है।[१२९] उपमान का अन्तर्भाव किन प्रमाणों में हो सकता है केवल यही बात इन कृतियों में विज्ञापित की गयी है, किन्तु अन्तर्भाव का साङ्गोपाङ्ग वर्णन 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में उपलब्ध होता है। माठर और गौडपाद निर्देशित 'न्यायभाष्य' के उपमान लक्षण को वाचस्पति मिश्र ने भी गौडपाद की तरह आगम प्रमाण में अन्तर्भावित किया है, क्योंकि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस अतिदेश वाक्य को न्यायभाष्यकार ने उपमान प्रमाण कहा है जो वाक्य से उत्पन्न होने के कारण, शब्द प्रमाण ही है। इस अभियोग से मुक्त होने के लिये उद्योतकर ने 'गोसदृशोगवयः' इस अतिदेश वाक्य को सुनकर जो 'अयं गवय पदवाच्यः' इत्याकारक ज्ञान होता है, उसे उपमिति कहा है, किन्तु यह प्रतीति भी अनुमान में समाविष्ट की जा सकती है। अनुमान का आकार इस प्रकार समझना चाहिये—

प्रतिज्ञा — गवय शब्द गो सदृश्य पिण्ड का वाचक है,

हेतु — क्योंकि वृद्ध पुरुषों के द्वारा जो शब्द जिस पदार्थ के लिये प्रयुक्त होता है, वह अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि अन्य वृत्ति के न होने पर, उसी का वाचक होता है,

उदाहरण — जैसे, गौ शब्द गोत्व का वाचक है,

उपनय — गवय शब्द भी गौ–सदृश पिण्ड लिये प्रयुक्त होता है,

निगमन — इसलिए गवय गो सदृश पिण्ड का वाचक है।

इस प्रकार वात्स्यायन और उद्योतकर प्रणीत उपमान लक्षणों को शब्द और अनुमान में अन्तर्भूत करने के उपरान्त उन्होंने शबर स्वामी प्रणीत कुमारिल भट्ट समर्थित मीमांसा उपमान लक्षण को भी प्रत्यक्ष में समाविष्ट किया है।[१३०] इस प्रकार सांख्य दार्शनिकों ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण न मानते हुए उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों में अन्तर्भावित होने का संकेत किया है।

जैनाचार्य अकलंक ने उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान में कर, उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। उन्होंने 'लघीस्त्रय' में केवल न्यायसम्मत उपमान लक्षण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञा में किया है[१३१] किन्तु उनके टीकाकार प्रभाचन्द्र ने व्यापक रूप से न्याय और मीमांसा प्रणीत लक्षणों को भी प्रत्यभिज्ञान में समाविष्ट किया है[१३२] वादिराजसूरि और यशोविजय ने भी इन्हीं का अनुगमन किया है।[१३३] उत्तरवर्ती सभी जैनाचार्यों ने उपमान को प्रत्यभिज्ञा में अन्तर्भूत किया है।

उपमान प्रमाण अन्तर्भाव अथवा उसका स्वतंत्र खण्डन ज्ञापित करने वाले दार्शनिकों की तरह न्याय और मीमांसक दार्शनिकों ने भी एक दूसरे के उपमान लक्षणों पर आक्षेप किये हैं। जैसे, उदयन ने प्रभाकर सम्मत सादृश्य को पदार्थान्तर मानने की मान्यता का खण्डन करने के उपरान्त[१३४] भाट्ट मीमांसा के उपमान लक्षण की भी शान्तरक्षित के समान आलोचना की है।[१३५] जयन्त भट्ट ने भी मीमांसा उपमान लक्षण की समीक्षा करते हुए लिखा है कि मीमांसा अभिमत उपमान प्रमाण अनुपपन्न है क्योंकि उक्त प्रकार की प्रतीति ही नहीं होती। वस्तुस्थिति यह है कि जिस नागरिक ने 'गोसदृशोगवयः' इस अतिदेश वाक्य को न भी सुना है वह भी अगर वन में घूमने के लिये यदि जाता है और देवयोग से वन में घूमते हुए किसी ऐसे गऊ सदृश पिण्ड को देखता है, तो उसे यह भान होता है कि यह गाय के सदृश कोई प्राणी है। ऐसा ही वह बोलता भी है। वह ऐसा नहीं समझता कि नगरस्थ गाय इसी पिण्ड के समान है और न ऐसा शब्द प्रयोग करता है। अतः उक्त प्रमाण की कोई प्रतीति नहीं हो पाती, इसलिये इसके लिये पृथक् उपमान प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस प्रकार का भान यदि हो भी, तो वह स्मृति कहा जा सकता है। यद्यपि उक्त ज्ञान केवल गाय पिण्ड के प्रसङ्ग में स्मृति रूप तथा गवय के प्रसङ्ग में प्रत्यक्षात्मक है किन्तु प्रत्यक्ष दृष्ट इस गवय का सादृश्य तो अभी ज्ञात होता है, पूर्व ज्ञात नहीं है। अतः इस अंश में अज्ञात ज्ञापकत्व होने के नाते उक्त उपमान प्रमाण हो सकता है। किन्तु यह भी कोई विशेष तथ्य नहीं है क्योंकि उक्त सादृश्य का बोध अनुमान के द्वारा भी निष्पन्न हो सकता है। उसमें 'स्मर्यमाण गाय पक्ष, 'एतद्सादृश्य' साध्य 'एतद् अवयव सामान्य योगित्व' हेतु तथा 'सन्निहित गवय पिण्ड' दृष्टान्त होगा। प्रयोग इस प्रकार है—

स्मर्यमाण गाय इस गवय के समान है,
क्योंकि उसमें गवय के बहुत से सादृश्य हैं,
जैसे कि इस गवय के सन्निधि में रहने वाला दूसरा गवय।[१३६]

इसी प्रकार कुमारिल ने भाष्यकार वात्स्यायन समर्थित उपमान का खण्डन करते हुए लिखा है कि यह लक्षण आगम प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाता है, क्योंकि जो व्यक्ति गवय को नहीं जानता वह आप्तपुरुष के वचन से, यह बात—'गाय के समान गवय होता है' जान लेता है। तब, जिस वस्तु को वह पूर्व में नहीं जानता था, उसका भान आप्तवचन

द्वारा हो जाता है। जैसे, अज्ञानी पुरुष को, शास्त्र वचनों के मनन द्वारा धर्म क्या है, इसका बोध होता है अथवा एक प्यासा आदमी जिसको यह ज्ञान नहीं है कि पानी कहाँ उपलब्ध होगा, दूसरे पुरुष के इस कथन 'घाटी में पानी प्राप्त होगा'—द्वारा जान लेता है।[१३७] न्यायरत्नाकरकार ने भी इस बात का समर्थन किया है।[१३८] न्याय उपमान लक्षण का शालिकनाथ ने खण्डन करते हुए लिखा है कि गाय के सदृश गवय होता है यह अतिदेश मूलक ज्ञान पुरुष वाक्य मात्र से उत्पादित होने के कारण उपमान नहीं कहला सकता, अपितु प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष है। और उद्योतकर के अनुसार गवय, गवय पद का वाच्य है, इस वाच्यताज्ञान को उपमिति रूप फल मानना भी उचित नहीं, क्योंकि यह भी गवय शब्द के प्रयोग से अनुमान द्वारा प्रतीत हो जायगा। अनुमान का आकार प्रकार पूर्व निरूपण जैसा ही है।[१३९] इस प्रकार वार्तिककार ने केवल न्याय भाष्यकार के उपमान लक्षण तथा शालिकनाथ ने न्याय-भाष्य व वार्तिककार के लक्षणों को आगम, प्रत्यभिज्ञा व अनुमान से गतार्थ किया है।

उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव करने वालों की दृष्टि यही रही है कि प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि[१४०] अर्थात् जिस प्रकार धूम आदि लिङ्ग के प्रत्यक्ष से वह्नि आदि परोक्ष साध्य की अनुमिति द्वारा ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार गाय निष्ठ सादृश्य रूप लिङ्ग के प्रत्यक्ष से परोक्ष गवय आदि का, गवय पद वाच्यत्व अर्थात् पुरोवर्ती प्राणी विशेष गवय पद का वाच्य है, जो ज्ञान होता है वह अनुमिति रूप है, उपमिति रूप नहीं।[१४१] इस आक्षेप का निराकरण करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि गवय के परोक्ष होने पर उपमान का प्रमितिरूप फल उपलब्ध नहीं होता।[१४२] इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि जब गाय देखने वाले पुरुष को उपमान का 'गोसदृशोगवयः' इत्याकारक उपदेश किया जाता है और उसके अनन्तर जब वह वन में जाकर गाय के समान किसी प्राणी विशेष को देखता है, तब उसे यह ज्ञान होता है कि इस जन्तु का नाम गवय है। इसी गाय निष्ठ सादृश्यज्ञान से जो गवयविषयक संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध का ज्ञान होता है, उसे उपमिति कहा जाता है। यह ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक उपमाता पुरुष गवय को प्रत्यक्ष नहीं देख लेता, इसलिये गवय के प्रत्यक्ष होने पर भी उपमान की प्रवृत्ति होती है, परोक्ष होने पर नहीं। किन्तु अनुमान में ऐसी व्यवस्था नहीं पायी जाती। कारण 'पर्वतो वह्निमान् धूमात' इस अनुमान में पक्ष पर्वत में धूम को प्रत्यक्ष देखकर अनुमाता अप्रत्यक्ष वह्नि का अनुमान निर्विरोध रूप से कर सकता है, उसके लिये अप्रत्यक्ष अग्नि को प्रत्यक्षतः पर्वत में देखना अनिवार्य नहीं है। अतः ऐसी व्यवस्था उपमान में नहीं पाई जाने के कारण गाय के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से गवय का अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपमिति ज्ञान में गवय का प्रत्यक्ष होना भी नितान्त आवश्यक है। इसलिए वह्नि की सिद्धि में धूम लिङ्ग की भांति गवयपद वाचत्व ज्ञान में गाय वृत्ति सादृश्य लिङ्ग न होने के कारण, अनुमान में उपमान प्रमाण को समाविष्ट नहीं किया जा सकता, प्रत्युत स्वतंत्र प्रमाण ही मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि अनुमान में साध्य और साधन के सम्बन्ध का ग्रहण महानस अथवा पर्वत आदि अधिकरण में एक ही काल में में होना आवश्यक है। ऐसा नहीं होता कि साध्य अग्नि आदि को किसी अधिकरण में आज देखा जाय और साधन धूम आदि को कल या परसों; क्योंकि ऐसा मानने पर साध्य-साधन के स्वाभाविक सम्बन्ध को गृहीत नहीं किया जा सकता। किन्तु उपमान में ऐसी बात नहीं पायी जाती, क्योंकि इसमें गाय के समान गवय होता है। इत्याकारक ज्ञान

किसी काल में तथा गाय सादृश्यविशिष्ट पिण्ड का ज्ञान किसी अन्य काल में होने पर भी उपमान यथार्थ रूप से निष्पन्न हो सकता है। तीसरे उपमान और अनुमान में मुख्य अन्तर यह भी है कि अनुमान स्वयं और दूसरे व्यक्ति दोनों के लिये हो सकता है किन्तु उपमान सर्वदा दूसरों के लिये ही प्रयुक्त होता है क्योंकि जिसे उपमान और उपमेय दोनों का भली प्रकार से ज्ञान है, उसी व्यक्ति द्वारा, अन्य व्यक्ति को, जिसे उपमेय का ज्ञान नहीं है, प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य (उपमान) से साध्य उपमेय का ज्ञान कराया जाता है। इस पर प्रतिवादी आशंका करते हुए कहता है कि उपमान को पदार्थ कहना उचित नहीं कारण उसमें जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वयं व्यक्ति को होता है और गाय के समान गवय होता है—इत्याकारक उपमान प्रमाण के प्रतिपादन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी उसी व्यक्ति में स्वअध्यवसाय रूप है। आशंका का परिहार करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि अध्यवसाय का यहाँ प्रतिषेध नहीं किया जाता, किन्तु प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य निश्चय के रूप में जो उपमान निष्पन्न होता है, उसमें स्वयं उपमाता के अध्यवसाय को उपमान नहीं कहा जाता, कारण उसे उपमेय और उपमान का भलिभांति ज्ञान रहता है। इसलिये उसको दोनों का ज्ञान रहने पर साध्य-साधनभाव सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होगी।[१४३] अतः 'यह वैसा है' अर्थात् 'जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है' इस प्रकार समान धर्म के उपसंहार ज्ञान विशेष से सिद्ध है कि उपमान स्वतंत्र प्रमाण है, अनुमान के अन्तर्गत नहीं।[१४४] तात्पर्य यह कि उपमान साध्य-साधन के परस्पर व्याप्ति सम्बन्ध के बिना उपपन्न हो सकता है किन्तु, अनुमान व्याप्तिज्ञान के विरह में कदापि संभव नहीं। इसलिए उपमान को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है। न्यायवार्तिककार और वाचस्पति मिश्र ने भी इन्हीं का समर्थन किया है।[१४५] उदयन ने भी शक्तिग्रह के लिये उपमान को पृथक् प्रमाण माना है, क्योंकि यह शब्द अथवा अनुमान से संभावित नहीं है। कारिका प्रणयन द्वारा उन्होंने शब्द से शक्तिग्रहण होने का खण्डन किया है, किन्तु वृत्तिकार ने अनुमान को शक्ति ग्राहक प्रमाण मानने का भी खण्डन किया है।[१४६] जिन दार्शनिकों ने उपमान को अनुमान में अन्तर्भावित करने के लिये अनुमान प्रयोगों को प्रयुक्त किया है, उनको दृष्टि में रखते हुए हरिदास ने दो प्रयोगों का उल्लेख कर उनके खण्डन द्वारा उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का समर्थन इस प्रकार किया है—

गवय पद सप्रवृत्तिनिमित्तक है,
साधु होने से,

इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान में पक्षधर्मता द्वारा इतर अर्थात् अन्य धर्मों के प्रवृत्ति निमित्तत्व का बाध हो जाने से गवय पद में गवयत्व प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तकत्व सिद्ध हो जाता है। आशय यह कि गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त कोई न कोई धर्म अवश्य होगा। घटत्व, पटत्व आदि धर्म उसके प्रवृत्ति निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे घट, पट आदि के ही प्रवृत्ति निमित्त हैं। इसलिये गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व को मानना होगा। किन्तु यह अनुमान प्रयोग समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि व्याप्यतावच्छेदक रूप से ही व्यापक विषयक अनुमिति संभव हो सकती है। प्रकृत अनुमान में 'साधुपदत्व'—हेतु, 'सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व'—साध्य एवं 'गवय'-पद पक्ष है। इसलिये सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व धर्म व्यापकतावच्छेदक धर्म होगा, गवयत्व व्यापकतावच्छेदक धर्म नहीं। अतः व्यापकतावच्छेदक रूप सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व रूप से अनुमिति हो सकती है। गवयत्व रूप से नहीं। इस पर पूर्वपक्षी द्वितीय अनुमान का प्रयोग करता है :

"गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व है, अन्य किसी के प्रवृत्तिनिमित्तकत्व संभव न होने के साथ गवय पद के सप्रवृत्तिनिमित्त होने से।" शक्यतावच्छेदक को ही प्रवृत्तिनिमित्त कहा जाता है अर्थात् गवय पद की गवय रूप अर्थ में शक्ति रहती है अतः गवय पद की जब गवय रूप अर्थ में ही शक्ति पायी जाती है, तो गवय रूप अर्थ का गवय पद शक्य अर्थात् शक्ति का आश्रय होगा और शक्यतावच्छेदक धर्म होगा गवयत्व। इस प्रकार उक्त अनुमान द्वारा गवय पद के प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व का ज्ञान होकर अनुमान द्वारा शक्तिग्रह निष्पादित हो सकता है। इसके लिये उपमान को पृथक् प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस अनुमान में गवयपद पक्ष, गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तत्व' साध्य तथा इतराप्रवृत्तिनिमित्तत्व हेतु है। किन्तु यह व्यतिरेकी अनुमान युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, कारण यह साध्याप्रसिद्धि नामक असिद्ध हेत्वाभास से ग्रस्त है। कारण गवयत्व का ज्ञान अभी तक उपपन्न नहीं हो पाया है, इसलिये साध्य के अप्रसिद्ध होने के कारण उक्त अनुमान प्रयोग संभव नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि व्यतिरेक व्याप्ति के बिना भी गवयत्व का आश्रय गवय पद का वाच्य हो सकता है। यह निर्विवाद रूप से अनुभव सिद्ध होने के नाते उपमान को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है।[१४७] विश्वनाथ ने पूर्वपक्ष में इन दोनों अनुमान प्रयोगों का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने दूसरे प्रयोग को विभिन्न रूप से प्रकट किया है—

प्रतिज्ञा—गवय पद गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक है,

हेतु—लक्षणा आदि वृत्तियों के न रहने पर भी वृद्धों द्वारा प्रयुक्त होने से,

उदाहरण—लक्षणा आदि वृत्तियों के न रहने फिर भी वद्ध लोग जिस अर्थ में जिस अर्थ का प्रयोग करते हैं, वह अर्थ उस पद की शक्ति का आश्रय एवं उस अर्थ में रहने वाला असाधारण धर्म प्रवृत्तिनिमित्त होता है, जैसे गो पद का प्रवृत्तिनिमित्त गोत्व होता है।[१४८]

विश्वनाथ, दिनकर तथा रामरुद्राचार्य ने इन पूर्व पक्षीय प्रयोगों के खण्डन के लिये कोई युक्ति प्रतिपादित नहीं की है[१४९] किन्तु विलासिनीकार[१५०] ने उक्त हरिदासी वृत्ति का अनुसरण करते हुए उनकी समीक्षा हेतु उपमान के उक्त दोनों अनुमान प्रयोगों में अन्तर्भाव होने का खण्डन किया है। अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव के खण्डन के साथ-साथ जयन्त भट्ट ने इसके शब्द और प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होने की भी आलोचना की है।[१५१] भासर्वज्ञ को छोड़कर इस प्रकार प्रायः सभी नैयायिकों ने उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण माना है।

भाट्ट कुमारिल ने उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हुए लिखा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यद्यपि गाय स्मरण के माध्यम से सादृश्य ज्ञात रहता है तथापि सादृश्य-विशिष्ट–गाय–विषयक ज्ञान तो असिद्ध अर्थात् अज्ञात अवस्था में रहता है, इसलिये इस ज्ञान के लिये उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है।[१५२] इसी बात की पुष्टि करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने भी लिखा है कि उपमान, प्रत्यक्ष, अनुमानादि के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'अनेन सदृशी मदीयागौः' इस प्रतीति का विषय नगरस्थ गाय है, जो इन्द्रिय सन्निकृष्ट नहीं है इसलिए यह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। अनुमान में उपमान को इसलिये समाविष्ट नहीं किया जा सकता कि अनुमान

में साध्य-साधन के सम्बन्ध का ज्ञान होना आवश्यक है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है—

प्रतिज्ञा—गाय गवय के समान होती है,

हेतु—उसमें गवय सादृश्य की प्रतियोगिता होने से,

उदाहरण—जो जिस सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके समान होता है जैसे, यमल, यज्ञदत्त, देवदत्त आदि।

किन्तु उक्त प्रयोग युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि दो अर्थ यदि परस्पर एक साथ समान दिखाई दें, तो उक्त व्याप्ति बनाई जा सकती है, किन्तु यहाँ पर ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गाय और गवय दोनों एक साथ दृष्ट नहीं होते अपितु पूर्व में गाय विषयक ज्ञान होने पर भी वन में कुछ काल पश्चात् जो व्यक्ति गवय को देखता है, वह गाय में गवय सादृश्य वैशिष्ट्य का ज्ञान करता है। इसलिये यह अनुमान का विषय नहीं हो सकता।[१५३] उपमान का पृथक् प्रामाण्य सिद्ध करते हुए शालिकनाथ ने भी लिखा है कि सादृश्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असन्निकृष्ट गो विशेष्यक ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा संभावित नहीं है। इसे स्मृति भी नहीं कहा जा सकता, कारण गाय व्यक्ति का पूर्व में अनुभव हुआ रहता है, तथापि गवय प्रतियोगिक सादृश्य विशिष्ट गाय का अनुभव नहीं रहने के कारण उसका स्मरण नहीं हो सकता। लिङ्ग एवं सम्बन्ध नियम से निरपेक्ष अनुभव होने के कारण इसे अनुमान भी नहीं कहा जा सकता। सर्वत्र शब्द व्यवहार की अपेक्षा न रहने से यह शब्द में भी समाविष्ट नहीं हो सकता। अतः सादृश्य ज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।[१५४] अनुमान में उपमान की अन्तर्भाविता का खण्डन[१५५] करने के उपरान्त प्रकरण समापन करते हुए कुमारिल ने उपमान की प्रयोजकता इस प्रकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि सौर्य-याग में प्रक्रिया का निर्देश न होने पर उपमान द्वारा उसके सादृश आग्नेय याग से उसकी प्रक्रिया जानी जा सकती है, क्योंकि दोनों का एक ही देवता रहता है। इसी प्रकार किसी याग में प्रयुक्त होने वाले 'ब्रीहि' (धान) यदि किसी कारण विशेष से नष्ट हो जाय या चुरा लिये जायें, तो उसके समान होने के कारण 'नीवार' का वहाँ उपयोग किया जा सकता है। इस रीति से वैदिक याग प्रक्रिया में उपमान की सार्थकता सिद्ध होती है।[१५६]

वेदान्तपरिभाषाकार ने उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हुए लिखा है कि गवयनिष्ठ सादृश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण को प्रत्यक्ष में समाविष्ट नहीं किया जा सकता, कारण उस काल में गाय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं रहता। अनुमान प्रमाण में भी इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, कारण गवय में रहने वाले गाय के सादृश्य को गाय में रहने वाले गवय के सादृश्य का साधक लिङ्ग नहीं बनाया जा सकता। यद्यपि इस यथार्थ अनुमान प्रयोग—

प्रतिज्ञा — मेरी गाय इस गवय जैसी है,

हेतु — क्योंकि एतद् गवय में रहने वाले सादृश्य की प्रतियोगिता है।

उदाहरण — जो पदार्थ जिस पदार्थनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह पदार्थ उस पदार्थ के समान होता है। जैसे, चैत्र, मैत्रनिष्ठ अपने सादृश्य का प्रतियोगी है, इसलिये वह मैत्र के समान है—

से ही उपमान का कार्य सम्पादित हो जाता है फिर भी प्रत्येक सादृश्य प्रमात्मक ज्ञान के लिये ऐसा अनुमान सर्वदा किया जाय, इस प्रकार नियम नहीं बनाया जा सकता। उक्त अनुमान के प्रयोग के विरह में भी 'अनेन सदृशी मदीयागौः'—'इस गवय के समान ही मेरी गाय है'—इत्याकारक यथार्थ एवं अबाधित प्रतीति निष्पन्न होती है। जहाँ साध्य वह्नि प्रत्यक्षतः ज्ञात है वहाँ भी सिषाधयिषा होने पर वह्नि की अनुमिति हो सकती है, किन्तु इतने मात्र से प्रत्यक्ष प्रमाण की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती। वैसे ही अनुमान से कहीं-कहीं सादृश्य ज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी उपमितिमूलक प्रमात्मक ज्ञान का पृथक् अनुभव होने के नाते उपमान को अनुमान में गतार्थ नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि सादृश्यज्ञान होने के पश्चात् 'अहम् अनुमिनोभि'—'मैं गो निष्ठ गवय सादृश्य का अनुमान करता हूं'—यह अनुव्यवसाय नहीं होता प्रत्युत 'अहम् उपमिनोमि'—'मैं गवय सादृश्य का ज्ञान उपमान द्वारा गृहीत करता हूं', इत्याकारक अनुव्यवसाय होता है। इस प्रकार अनुव्यवसाय की पृष्ठभूमि में भी गायनिष्ठ गवय सादृश्य ज्ञान अनुमित्यात्मक न होकर उपमित्यात्मक सिद्ध होता है। इसलिये उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है।[१५७] 'शिखामणि' और 'मणिप्रभा' में भी उपमान का इसी प्रकार समर्थन किया गया है।[१५८]

सारांशतः कहा जा सकता है कि सादृश्यज्ञान एक प्रकार की विशिष्ट प्रतीति है, अतः इसके असाधारण करण के रूप में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानना समीचीन जान पड़ता है। जिन दार्शनिकों ने इसे प्रमाण अथवा अप्रमाण समझकर अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है वे एकाङ्गी जान पड़ते हैं। ध्यान से परिशीलन करने पर न्यायसम्मत उपमान मीमांसक–और वेदान्तियों से अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने केवल साधर्म्य के आधार पर ही उपमान का आकलन नहीं किया है, वरन् वैधर्म्य को भी अपनी विवेच्य सामग्री में समाभूत किया है।

अनुमान और अर्थापत्ति

प्रथम धारावादी चार्वाक जयराशि भट्ट ने पूर्वपक्ष में कुमारिल प्रणीत छः अर्थापत्तियों का व्याख्यान करते हुए अर्थापत्ति को अप्रमाण सिद्ध किया है। इन्होंने प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का खण्डन करने के उपरान्त अन्त में कहा है कि सभी अर्थापत्तियां प्रत्यक्षमूलक होने के कारण उससे ही गतार्थ हो सकती है, इसलिये इसको स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।[१५९]

वेदान्ती श्री हर्ष[१६०] और चित्सुखाचार्य[१६१] ने भी वितण्डावादी चार्वाक जयराशि भट्ट की तरह अनुपपत्तिमूलक, विरोधमूलक और संशयकारणक अर्थापत्तियों का निराकरण करने के लिए सूक्ष्म युक्तियों का प्रतिपादन किया है। अर्थापत्ति मात्र से सम्बन्धित होने के कारण इनकी समीक्षा का विवेचन करना यहाँ उपयोगी नहीं है, क्योंकि, अनुमान में अर्थापत्ति की अन्तर्भाविता पर उक्त तर्कों द्वारा कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

द्वितीयधारा को प्रवाहित करते हुए बौद्ध दार्शनिकों में शान्त रक्षित ने अर्थापत्ति को अप्रमाण मानकर कुमारिल समर्थित सभी अर्थापत्तियों की समीक्षा करते हुए उनका निरास और अन्तर्भाव इस प्रकार ज्ञापित किया है—प्रत्यक्ष, उपमान और अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्तियों का जिन युक्तियों से निरास किया गया है वे प्रकृत में अनुमान

सम्बन्धी विवेचन न होने से यहाँ उपयोगी नहीं है।[१६२] अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया जा सकता है। जैसे, उपादान कारण स्वरूप स्वस्थान का परित्याग करके ही किसी वस्तु की अन्य स्थान में प्राप्ति होती है, यथा ज्वाला आदि एक स्थान से दूसरे स्थान में उपलब्ध होती है। सूर्य की भी इसी प्रकार देशान्तर प्राप्ति होती है। इस प्रकार यहाँ स्वभाव हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान हो जाने पर अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति अनुमान से अतिरिक्त नहीं कही जा सकती।[१६३] शब्दपूर्विका अर्थापत्ति में पुष्ट देवदत्त दिवाअभोजी है' इस वाक्य को सुनकर 'रात्रिभोजी है' इस वाक्य की कल्पना की जाती है। इसका अन्तर्भाव निम्न अनुमान में किया जा सकता है—

यह पुरुष रात्रि भोजन विशिष्ट है,
दिवाअभोजी होने पर पुष्ट होने से,
दूसरे पुरुषों की तरह।

यहाँ कार्य हेतु पीनत्व द्वारा कारण रात्रि भोजन का अनुमान किया गया है, क्योंकि दोनों में कार्यकारणभाव (रूप अविनाभाव) सम्बन्ध है।[१६४] अभावपूर्विका अर्थापत्ति में चैत्र के गृहाभाव होने से उसके बहिर्भाव की कल्पना की जाती है। किन्तु ऐसी कल्पना उचित नहीं जान पड़ती, कारण बहिर्भाव के बिना भी गृहाभाव निष्पन्न हो सकता है अर्थात् यह भी संभव है कि चैत्र की जीवनलीला समाप्त हो गयी है। ऐसी स्थिति में गृहाभाव की सिद्धि बहिर्भाव के बिना भी की जा सकती है। इसलिये यहाँ अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा। इस दोष का परिहार करने के लिये 'जीवित' पद का निवेश करके यदि अर्थापत्ति को इस प्रकार प्रतिपादित किया जाय कि जीवित चैत्र घर में नहीं है इसलिए उसके बहिर्भाव की कल्पना अभावपूर्विका अर्थापत्ति के रूप में की जा सकती है अर्थात् चैत्र के गृहाभाव से, उसके बहिर्भाव का ज्ञान उपपन्न हो सकता है। किन्तु ऐसा मान लेने पर भी निर्दोष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ हेतु संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास दोष से ग्रसित है। जब चैत्र को घर में नहीं देखा जाता तब वह बाहर जीवित ही होगा, इस बात का कोई निश्चायक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।[१६५] अन्य प्रमाणों की भांति इसे भी अप्रमाण घोषित करते हुए अर्थापत्ति प्रमाण की समीक्षा मोक्षाकरगुप्त ने इस प्रकार की है—अर्थापत्ति में प्रमाण दृष्ट अर्थ का अदृष्ट अर्थ से कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं? सम्बन्ध मानने पर वह तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही होगा। प्रथम कल्प में स्वभाव लिङ्ग जन्य अनुमिति तथा द्वितीय पक्ष में कार्यलिङ्ग जन्य अनुमिति होगी। सम्बन्ध न होने की स्थिति में प्रमाणदृष्ट अर्थ से, अदृष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे घट से पट का ज्ञान उपपन्न नहीं होता। इसलिये 'अर्थापत्ति में पृथक् प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता।[१६६]

तृतीय धारा के अन्तर्गत न्यायसूत्रकार ने अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भावित किया है।[१६७] इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि अर्थापत्ति अनुमान से अतिरिक्त नहीं है, कारण जिस प्रकार किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने के पश्चात् उसके द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है, उसी प्रकार एक वाक्य के अर्थों का बोध होने पर, उससे सम्बद्ध दूसरी वस्तु का बोध भी हो जाता है। इसलिये अर्थापत्ति अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।[१६८] उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र ने श्रुतार्थापत्ति के प्रचलित उदाहरण का प्रयोग करते हुए भाष्यकार के समर्थन में लिखा है कि

प्रत्यक्षगम्य देवदत्त की दृष्टता से अप्रत्यक्ष रात्रि भोजन का ज्ञान अनुमान है, अर्थापत्ति नहीं।[१६९] भाष्यकार के अर्थापत्ति लक्षण एवं उदाहरण (जहाँ किसी एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ का लाभ हो जाता है, उसी का नाम अर्थापत्ति है। जैसे, मेघों के न होने से वर्षा नहीं होती)[१७०] से सिद्ध होता है कि वृष्टि, मेघों के होने से होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थापत्ति के रूप में उन्हें श्रुतार्थापत्ति ही इष्ट थी, जिसका अन्तर्भाव उन्होंने अनुमान में किया है। उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र के उदाहरण निरूपण से भी यही बात ज्ञापित होती है। उदयन ने अनुपपत्ति तथा विरोधमूलक अर्थापत्तियों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि अनियम्य की युक्ति नहीं होती और अनियन्ता उपपादक नहीं हो सकता। इसलिये अनुपपद्यमान अर्थ से उपपादकीभूत अर्थ की कल्पना को नियम्य से नियन्ता के ज्ञान अर्थात् अनुमान में ही समाविष्ट किया जा सकता है। इसलिये अनुपपत्तिमूलक अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना निष्प्रयोजक है। तात्पर्य यह कि जिसे अर्थापत्ति वादियों ने अनुपपद्यमान तथा उपपादक कहा है उसे ही अनुमान वादी नियम्य या व्याप्य तथा नियन्ता या व्यापक कहते हैं। इसलिए अनियम्य अव्याप्य में अनुपपद्यमानता तथा अनियन्ताअव्यापक में उपपादकता गृहीत नहीं की जा सकती अपितु अनुपपद्यमान-व्याप्य से ही उपपादक व्यापक का ज्ञान होता है। एवं दो प्रमाणों में वस्तुतः कोई विरोध उपपन्न नहीं होगा। इसलिए उनकी विषय व्यवस्था के लिये भी विरोधमूलक अर्थापत्ति मानना अपेक्षित नहीं है। इस पर भी यदि अर्थापत्ति मानने का आग्रह किया जाय, तो प्रसिद्ध अनुमान स्थलों में अनुपपद्यमान धूम के द्वारा उसके उपपादकीभूत अर्थवह्नि की कल्पना को भी अर्थापत्ति की आपत्ति दी जा सकती है, क्योंकि इन प्रसिद्ध स्थलों में भी वही समान प्रक्रिया पायी जाती है। किन्तु प्रायः सभी अर्थापत्तिवादियों के अनुमान के लोप प्रसङ्ग को स्वीकार न करने व पृथक् प्रमाण मानने के कारण यह आपत्ति निर्मूल सिद्ध होती है। इसलिये अर्थापत्ति को अनुमान में समाविष्ट किया जा सकता है।[१७१] इसकी व्याख्या करते हुए हरिदास ने लिखा है कि 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' इस ज्ञान के बाद 'बाहर है' इत्याकारक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को अर्थापत्ति कहा जाता है। इसमें भी 'अनियम्य-अव्याप्यकी अयुक्ति अर्थात् अनुपपत्ति नहीं है तथा अनियन्ता अव्यापक अर्थात् उपपादक नहीं होता। कारण व्यापक के अभाव अर्थात् उपपादकीभूत अर्थ—"बहिसत्ता' का अभाव होने पर व्याप्य अर्थात् अनुपपद्यमान अर्थ—'गृहाभाव' का भी सर्वदा अभाव पाया जाता है। इस प्रकार इस अनुपपत्तिज्ञान में व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान कारण होने से, उक्त दृष्टार्थापत्ति को केवलव्यतिरेकी अनुमान में सुगमता पूर्वक समाविष्ट किया जा सकता है। अनुमान का आकार होगा—

प्रतिज्ञा—जीवित देवदत्त बाहर है,

हेतु—जीवित होने पर भी घर में उपस्थित न होने से।

उदाहरण—जो-जो व्यक्ति बाहर नहीं रहता वह-वह जीवित होने पर घर में अनुपस्थित नहीं अपितु उपस्थित ही रहता है, जैसे, हम स्वयम् अथवा गृह में विद्यमान यज्ञदत्त आदि।

इस व्यतिरेक व्याप्ति का ग्रहण स्वयं हमको अपने शरीर में हो जाता है क्योंकि जब हम घर में नहीं रहते, तो बाहर अवश्यमेव रहते हैं। इसलिये घर में विद्यमान यज्ञदत्त आदि को भी व्यतिरेक उदाहरण बनाया जा सकता है।[१७२] इसी रीति से श्रुतार्थापत्ति भी

निम्न केवलव्यतिरेकी अनुमान में समाविष्ट की जा सकती है—

प्रतिज्ञा—देवदत्त रात्रि में भोजन करता है,

हेतु—दिन में भोजन न करते हुए पुष्ट होने से।

उदाहरण—जो-जो रात्रि तथा दिन में भोजन नहीं करता वह-वह पुष्ट भी नहीं दिखाई देता जैसे, नवरात्र उपवासी यज्ञदत्त।

इस प्रकार व्यापक उपपादकीभूत अर्थ रात्रि भोजन के अभाव में व्याप्य अनुपपद्यमान अर्थ—पुष्टत्व का भी विरह पाया जाता है। अतः अनुपपत्ति मूलक अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

द्वितीय विरोधमूलक अर्थापत्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे लिखा है 'कहीं है' किन्तु 'घर में नहीं है' इत्याकारक ज्ञान के अनन्तर इस विरोधज्ञान में अविरोध उपपादन के लिये 'कहीं है' अर्थात् घर से भिन्न किसी अन्य स्थान में है—इस ज्ञान को अर्थापत्ति का विषय, माना जाय तो भी समीचीन नहीं जान पड़ता, कारण दो प्रमाणों में वस्तुतः विरोध नहीं हो सकता। यदि उनमें विरोध रहता है, तो उनमें से एक का प्रामाण्य अवश्य बाधित होगा। यदि भ्रमवश कहीं उनमें विरोध उत्पन्न हो जाता है, तो इसका निराकरण अनुमान द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है—

विरोध भिन्न विषयक है,

एक विषय में विरोध होने तथा प्रमाण सिद्ध होने से।

और यदि अर्थापत्ति को मानने का आग्रह किया जाय, तो प्रथम अनुपपत्तिमूलक अर्थापत्ति के अनुसार धूम भी अनुपपद्यमान होकर, वह्नि का बोधक होगा। एवं द्वितीय विरोधमूलक अर्थापत्ति से भी यही बात ज्ञापित होगी। जैसे, 'सामने की ओर अग्नि दिखलाई नहीं पड़ती' तथा 'धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है' इन दोनों ज्ञानों में विरोध होने से अविरोध उपपादन के लिये—'पिछले भाग में अग्नि है' ऐसी व्यवस्था अर्थापत्ति द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार प्रसिद्ध अनुमान भी अर्थापत्ति द्वारा गम्य हो सकने से अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा। किन्तु यह बात स्वयं अर्थापत्तिवादियों को भी इष्ट नहीं है। इसलिये अर्थापत्ति को उक्त रीति के अनुसार अनुमान में अन्तर्विष्ट करना उचित जान पड़ता है।[१७३] हरिदास ने दोनों—अनुपपत्तिमूलक तथा विरोधमूलक अर्थापत्तियों के प्रसङ्ग में दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण प्रयुक्त किया है, श्रुतार्थापत्ति का नहीं किन्तु उदयन की कारिका में प्रयुक्त नियम की व्यापकता में दोनों प्रकार की अर्थापत्ति अनुमान में समाविष्ट की जा सकती है। जयन्त ने भाट्ट मीमांसाभिमत अर्थापत्ति को अनुमान में समाविष्ट करते हुए लिखा है कि विचार करने से अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं जान पड़ती, क्योंकि व्याप्ति के बिना एक वस्तु, दूसरी वस्तु की बोधक नहीं हो सकती। 'तेन विना न उपपद्यते' यही अर्थापत्ति प्रवृत्ति का बोधक वाक्य है किन्तु यह वस्तुतः व्याप्ति के ग्राहक व्यतिरेक का बोधक है। उक्त वाक्य 'तस्मिन्सति उपपद्यते' इत्याकारक वाक्य का अन्वय होने पर ही उपपन्न हो सकता है। साध्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों हेतु में साध्य-ज्ञापकता के प्रयोजक हैं। ऐसी स्थिति में अर्थापत्ति अनुमान नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।[१७४] अभावपूर्विका अर्थापत्ति की जो चर्चा की गयी है, वह भी अनुमान है, कारण वहाँ जीवन विशिष्ट चैत्र धर्मी है जैसे, वह्नि विशिष्ट पर्वत धर्मी होता है और गृह आदि में लिङ्ग न होने की जो शंका की गयी है वह केवल शब्द आडम्बर है।[१७५]

इसी प्रकार श्रुतार्थापत्ति भी अनुमान से भिन्न नहीं है क्योंकि, अर्थ की अनुपपत्ति होने से जो वचनैकदेश की कल्पना की जाती है, वह भी कार्यलिङ्ग द्वारा निष्पादित हो सकती है। जैसे, क्षितिधरकन्दरा रूप अधिकरण में कार्य धूम का अवलोकन करने पर उसके कारण अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही आगम द्वारा पीनत्व का आख्यान होने पर कार्य अवधारण से, उसके कारण भोजन का भी अनुमान हो जाता है। इसलिये इसे अनुमान से विशेष नहीं माना जा सकता।[१७६] इसी प्रकार उन्होंने कुमारिल समर्थित छः अर्थापत्तियों का पूर्वपक्ष में विस्तृत वर्णन कर उक्त दोनों अर्थापत्तियों के निराकरण के साथ ही साथ शक्ति ग्राहिका–प्रत्यक्ष–अनुमान–उपमानपूर्विका अर्थापत्तियों का भी खंण्डन किया है। अर्थापत्ति ग्राहिका अथापत्ति जिसमें शब्द की नित्यता की कल्पना की जाती है, उसका शब्द-परीक्षा-प्रकरण में निराकरण होने का उल्लेख किया गया है।[१७७] प्रभाकर ने उपपादक से अनुपपन्न ज्ञान को अर्थापत्ति कहा है। इसका खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उपपादक अर्थात् गम्य यदि पहले से अज्ञात रहता है, तो उसमें रहने वाली अनुपपद्यमानता कैसे गृहीत होगी। और गम्य यदि पहले गृहीत हो जाता है, तो उसमें रहने वाली अनुपपद्यमानता से कौनसा अर्थ सिद्ध होगा, क्योंकि गम्य तो पहले से ही ज्ञात हो चुका है।[१७८] भासर्वज्ञ ने भी अविनाभाव बल के आधार पर अर्थ प्रतिपत्ति होने से, इसे केवलव्यतिरेकी अनुमान का अपर नाम बतलाते हुए, अनुमान में अन्तर्भावित किया है।[१७९]

गङ्गेश ने शालिकनाथ सम्मत संशयकारणक और भाट्ट मीमांसक, प्रभाकर एवं अद्वैत वेदान्ती समर्थित अनुपपत्तिकारणक अर्थापत्तियों को पूर्वपक्ष में उत्थापित करते हुए[१८०] दोनों को व्यतिरेकी में अन्तर्भावित किया है।[१८१] केशवमिश्र[१८२] ने केवल श्रुतार्थापत्ति का उल्लेख करते हुए उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान में तथा विश्वनाथ ने गङ्गेश का समर्थन करते हुए दोनों दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्तियों को एवं 'न्याय-सूत्रवृत्ति' में उन्होंने भाष्यकार का अनुगमन करते हुए श्रुतार्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत किया है।[१८३] इस प्रकार प्रायः सभी नैयायिकों ने अर्थापत्ति को व्यतिरेकी अनुमान में अन्तर्भावित किया है।

'वैशेषिक सूत्र' में अर्थापति के अन्तर्भाव का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु प्रशस्तपाद ने दो प्रकार की दर्शनार्थापत्ति तथा श्रवणार्थापत्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ज्ञात अर्थ से, अर्थ की जो अवगति होती है, वह दर्शनार्थापत्ति तथा वाक्य के श्रवण से, जो अर्थ की अवगति होती है, वह श्रवणार्थापत्ति कहलाती है। प्रथम विरोधी (अर्थात् व्यतिरेकी) अनुमान तथा द्वितीय अनुमितानुमान होने के कारण इसे अनुमान से पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता।[१८४] भाष्यकार के 'दर्शनार्थ' पद की व्याख्या करते हुए व्योमशिवाचार्य ने लिखा है कि दिखाई देने योग्य उपलभ्य-मान अर्थ ही दर्शन अर्थ का तात्पर्य है।[१८५] किरणावलीकार ने भी यही बात कही है,[१८६] किन्तु श्रीधर ने कुमारिल की भांति प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन पाँचों प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के द्वारा अवगत होने वाले अर्थ का ग्रहण किया है।[१८७] 'किरणावली' और 'न्यायकन्दली' में इसके प्रचलित उदाहरण दिये गये हैं, किन्तु, व्योमशिवाचार्य ने द्वितीय के प्रचलित उदाहरण के साथ-साथ एक और भी उदाहरण दिया है। जीवित देवदत्त घर में नहीं है, इसलिये वह बाहर होगा' ऐसी

कल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहा जाता है। इसका विरोधी अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है, जैसे, जीवित देवदत्त के गृहाभाव को देखकर उसके विरोधी बहिर्भाव का अनुमान किया जाता है। प्रायः तीनों टीकाकारों एवं शंकरमिश्र ने भाष्यकार के प्रथम भेद की व्याख्या करने हेतु इसी उदाहरण का प्रयोग किया है।[१८८] इस विरोधी अनुमान का आकार प्रकार पूर्वोक्त व्यतिरेकी अनुमान जैसा है। द्वितीय श्रवणार्थापत्ति में एक शब्द के अनुपपन्न होने पर दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है। जैसे 'पुष्ट देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' इस वाक्य को सुनकर 'रात्रि में भोजन करता है' इस वाक्य की कल्पना की जाती है। यह भी अनुमितानुमान होने से प्रमाणान्तर नहीं कहला सकता। जैसे, पीनः इस वाक्य रूप लिङ्ग में अनुमित पीनत्व के द्वारा इसके कारणीभूत, रात्रि, भोजन का अनुमान होता है।[१८९] अनुमितानुमान का आकार होगा—

देवदत्त पुष्ट है,
दिवाअभोजी होने से,

उक्त वाक्य द्वारा देवदत्त की पुष्टता का अनुमान किया जाता है। इसके आधार पर पुनः निम्न लिखित अनुमान निष्पादित किया जा सकता है—

देवदत्त रात्रिभोजी है,
दिवाअभोजी होते हुए पुष्ट होने से।

यहाँ प्रथम अनुमान में पीनत्व का अनुमान किया गया है और द्वितीय अनुमान में पीनत्व द्वारा रात्रि भोजन का। इसलिये इसको अनुमितानुमान कहा जाता है। 'व्योमवती' 'किरणावली' और 'उपस्कार' में भी इसी उदाहरण द्वारा इस भेद की व्याख्या की गयी है।[१९०] न्यायकन्दलीकार ने किरणावलीकार का समर्थन करते हुए उक्त श्रवणार्थापत्ति को भी प्रभाकर मतावलम्बियों की तरह शब्द कल्पक न कहकर अर्थकल्पक सिद्ध किया है।[१९१] इस प्रकार 'शाबर-भाष्य' के अर्थापत्ति लक्षण में प्रयुक्त (दृष्टः श्रुतो वा'[१९२] इस विकल्पमूलक पद के आधार पर प्रशस्तपाद ने दो प्रकार की अर्थापत्तियों—दर्शनार्थापत्ति और श्रवणार्थापत्ति का पूर्वपक्ष में विन्यास किया है। भाट्ट कुमारिल ने जो मुख्यतः दो प्रकार की अर्थापत्तियां ज्ञापित की हैं उनमें भी पूर्वकल्पना के रूप में प्रशस्तपाद का यह विवेचन जान पड़ता है। उदयन और श्रीधर ने प्रशस्तपाद सम्मत केवल दो अर्थापत्तियों का विवेचन किया है, व्योमशिवाचार्य ने कुमारिल भट्ट का एक श्लोक उद्धृत करते हुए उनके द्वारा प्रणीत छः अर्थापत्तियों का अनुमान में अन्त-अन्तर्भाव[१९३] करने के उपरान्त, भाष्यकार समर्थित दो अर्थापत्तियों को विरोधी अनुमान एवं अनुमितानुमान में समाविष्ट किया है। वैशेषिकसूत्र[१९४] की व्याख्या करते हुए शंकर मिश्र ने अनुपपत्तिमूलक दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्तियों का विरोधी तथा अनुमितानुमान में अन्तर्भाव करते हुए संशयकारणक और विरोधीमूलक अर्थापत्तियों को भी अनुमान में अन्तर्भूत होने का संकेत किया है।[१९५]

सांख्य दर्शन में अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भावित करने वाले सर्वप्रथम आचार्य माठर जान पड़ते हैं। इन्होंने केवल श्रुतार्थापत्ति का प्रचलित उदाहरण—'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' इस वाक्य को सुनकर 'रात्रि में भोजन करता है' इस वाक्य की कल्पना ही अर्थापत्ति है' देते हुए उसे अनुमान कहा है।[१९६] गौडपाद ने दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति भेद से दो प्रकार की अर्थापत्तियों का उल्लेख किया है। इनमें से द्वितीय

का उदाहरण तो वही है जो माठर ने दिया है । दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण इस प्रकार है—एक पक्ष में आत्मा की सत्ता गृहीत होने पर, अन्य पक्ष में भी उसकी सत्ता का ग्रहण किया जाता है ।[१९७] इस प्रकार उक्त दोनों आचार्यों ने, उदाहरणों के माध्यम से, 'अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है,' केवल इतना ही निर्देश किया है, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने केवल विरोधकारणक दृष्टार्थापत्ति के प्रचलित उदाहरण—'चैत्र के गृहाभाव को देखकर उसके बहिर्भाव की कल्पना ही अर्थापत्ति है' को प्रयुक्त करते हुए उसे अनुमान में समाविष्ट किया है ।[१९८] अनुमान का आकार प्रकार पूर्वोक्त आकार प्रकार के समान है । अन्त में उन्होंने यह भी कहा है कि दृष्टार्थापत्ति के अतिरिक्त अन्य अर्थापत्तियों के उदाहरणों को भी अनुमान में समाविष्ट किया जा सकता है ।[१९९] इस प्रकार माठर के पश्चात् सभी सांख्याचार्यों ने अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भावित किया है ।

जैन दार्शनिकों ने भी अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण न मानकर अनुमान में उसका अन्तर्भाव किया है । अर्थापत्ति के समर्थक कहते हैं कि अनुमान में अविनाभाव का निश्चय सपक्ष में होना तथा हेतु का पक्ष में होना आवश्यक है, किन्तु अर्थापत्ति में यह बात आवश्यक नहीं है । इन तथ्यों की समालोचना करते हुए अकलंक की व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्र ने लिखा है कि जैन मत में हेतु में अन्यथानुपपत्ति को ही साध्य की प्रयोजिका माना गया है, हेतु के सपक्षसत्त्व और पक्षधर्मत्व रूप नहीं । कारण कृत्तिकोदय आदि हेतु पक्षधर्मत्व से रहित होकर भी यथार्थ लिङ्ग हैं तथा मित्रातनयत्व आदि लिङ्गों में सपक्षसत्त्व आदि सभी रूप पाये जाने पर भी गमकता नहीं रहती । इसलिए व्याप्ति निश्चय के लिये सपक्षसत्त्व आदि का अवलम्बन लेना जैन मत में आवश्यक नहीं है । व्याप्ति तत्काल गृहीत हो अथवा कुछ काल अनन्तर गृहीत हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु उसका यथार्थ रूप से निश्चय होना आवश्यक है । दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति दोनों अन्यथानुपपत्ति द्वारा सिद्ध हो जाने के कारण, इनको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता । दृष्तार्थापत्ति में जीवित चेत्र का गृह में अभाव होने पर उसके बहिभाव की तथा श्रुतार्थापत्ति में 'पुष्ठ देवदत्त दिवाअभोजी है' इस वाक्य को सुन कर 'वह रात्रि भोजी है' इस वाक्य की कल्पना की जाती है । दोनों क्रमशः अविनाभाव द्वारा इस प्रकार सिद्ध की जा सकती है—'जो-जो जीवत रहने पर घर में नहीं रहता वह-वह बाहर अवश्य ही होगा' तथा 'जो-जो दिवाअभोजी रहते हुए पुष्ट दिखाई देता है वह-वह रात्रि भोजी अवश्य होगा । उक्त प्रकार से व्याप्ति निष्पन्न हो जाने से अर्थापत्ति अनुमान में गतार्थ की जा सकती है ।[२००] 'न्यायविनिश्चय' कारिका की व्याख्या करते हुए वादिराजसूरि ने भी यही बात कही है ।[२०१]

अर्थापत्ति का स्वतंत्र प्रामाण्य स्थापित करने के लिये कुमारिल ने लिखा है कि अर्थापत्ति को अनुमान में समाविष्ट नहीं किया जा सकता, कारण अनुमान में लिङ्ग की व्याप्ति सपक्षभूत दृष्टान्त में पहले से ही गृहीत रहती है, किन्तु अर्थापत्ति में अविनाभाव इसी समय गृहीत होता है । दूसरे अर्थापत्ति में पक्षधर्मत्व का रहना भी आवश्यक नहीं है, किन्तु अनुमान में वह आवश्यक है । जो लोग अर्थापत्ति को अनुमिति रूप ही मानते हैं वे प्रकृत में इस अनुमान का प्रयोग करते हैं—

चैत्र बाहर है,
जीवित होते हुए घर में न रहने से ।

यहाँ बहिर्भाव विशिष्ट चैत्र अनुमेय है । उसके हेतु के विषय में चार विकल्प—(१) गृहाभावविशिष्ट चैत्र है, (२) चैत्राभावविशिष्टगृह है (३) गृहवृत्ति चैत्राभाव अथवा (४) चैत्र का अदर्शन है, हो सकते हैं । किन्तु इनमें से एक भी पक्षधर्मता रूप से पक्ष का धर्म नहीं है । इसलिये इनमें से किसी भी हेतु में गमकता न रहने के कारण, इनसे उक्त अनुमिति की संभावना नहीं की जा सकती । इसलिये प्रमाणतः अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न है । इसी प्रकार प्रमेय के प्रसङ्ग में भी अर्थापत्ति विलक्षण है, क्योंकि अर्थापत्ति, शब्द प्रमाण से अवगत जीवनविशिष्ट चैत्र के बहिर्भाव की कल्पना करती है । यदि ऐसा न माना जाय, तो मृत चैत्र में भी उपलब्ध होने के कारण यह हेतु अनैकान्तिक सिद्ध होगा । जीवनविशिष्ट चैत्र में, गृहवृत्तित्वाभाव का ज्ञान जिस समय होगा, उसी समय यथाकथञ्चित बहिसत्ता का भी ज्ञान हो जाता है, क्योंकि जहाँ कहीं भी चैत्र का अस्तित्व होगा वहाँ जीवन भी होगा । इसलिए अर्थापत्ति जीवन बहिरस्तित्व पर्यवसित भी हो सकती है । इस प्रकार पक्षधर्मताज्ञान के समय भी अर्थापत्ति द्वारा साध्य का यथाकथञ्चित भान हो जाता है, किन्तु धूम से जो वह्नि का अनुमान होता है, वहाँ पक्षधर्मता के समय साध्य का कोई भान नहीं रहता । इसलिये अनुमान प्रमाण से अर्थापत्ति का प्रमेय भी भिन्न है ।[२०२] प्रभाकर[२०३] का समर्थन करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने अनुमान में इसके अन्तर्भाव का खण्डन करते हुए लिखा है कि अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव तभी संभावित हो सकता है, जबकि अनुपपन्न को गमक कहा जाय । किन्तु यहाँ तो अनुपपन्न ही गम्य होता है जैसे, गृहाभाव के बिना बहिर्भाव अनुपपन्न नहीं होता, क्योंकि बहिर्भाव ही गम्य होता है इसलिये अनुमान और अर्थापत्ति का विषय भिन्न-भिन्न है ।[२०४] संशयकारणक अर्थापत्ति मानते हुए शालिकनाथ ने भी लिखा है कि अर्थापत्ति में गमक संशयित रहता है, किन्तु अनुमान में यदि गमक अर्थात् संदिग्ध हो, तो कार्य नहीं चल सकता; क्योंकि वहाँ असंदिग्ध लिङ्ग ही साध्य की अनुमिति में प्रयोजक है ।[२०५] इसके अतिरिक्त रात्रि भोजन का जो ज्ञान अर्थापत्ति द्वारा निष्पादित होता है, उससे, 'मैं रात्रि भोजन का अनुमान करता हूं' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, अपितु दिवाभोजी पुष्ट पुरुष के पीनत्व से' मैं उसके रात्रि भोजन की कल्पना करता हूं' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है । वेदान्त मत में अन्वयी लिङ्ग ही साध्यानुमिति का साधक माना गया है, व्यतिरेकी लिङ्ग नहीं । इसलिये अन्वयव्याप्ति द्वारा अर्थापत्ति का ज्ञान न होने से इसे पृथक् प्रमाण माना जाता है ।[२०६]

अर्थापत्ति निरूपण के विषय में उक्त मत-मतान्तरों का अनुशीलन करने पर विदित होता है कि व्यतिरेकी अनुमान न मानने के कारण, मीमांसकों और अद्वैतवेदान्तियों ने अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना है । वस्तुतः अर्थापत्ति का उदय, श्रुतियों के विरुद्ध प्रमाणों के विषय की व्यवस्था हेतु उनके अविरोध का आपादान करने के लिये ही हुआ है । जैसे, 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' और 'अग्निषोमीयं पशुमालमेत' ये दोनों श्रुतिवाक्य होने के कारण प्रमाण है, किन्तु दोनों एक दूसरे के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, कारण प्रथम द्वारा हिंसा का निषेध और द्वितीय द्वारा पशु के आलम्भन (हिंसा) का विधान किया गया है । इसी विरोध की निवृत्ति के लिये अर्थापत्ति की कल्पना मीमांसकों

ने की है, जिसका समर्थन उत्तरमीमांसक होने के नाते अद्वैतवेदान्तियों ने भी किया है। विषय का व्यवस्थापन अर्थापत्ति कल्पना द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है—आलम्भन श्रुति का क्षेत्र केवल अग्निषोमीय याग प्रदेश है, उसके बाहर उस श्रुति की गति नहीं रहती। एवं अहिंसापरक श्रुति का क्षेत्र अग्निषोमीय याग प्रदेश से व्यतिरिक्त प्रदेश है, इसलिए अग्निषोमीय यागप्रदेश में यह श्रुति कार्यकारी नहीं है। निष्कर्षतः, श्रुति के क्षेत्र में प्रयोजिका होने के कारण, कुमारिल भट्ट के साथ अर्थापत्ति को किसी न किसी रूप में पृथक् प्रमाण माना भी जा सकता है,[२०७] लेकिन लौकिक व्यवहार के लिये केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा अर्थापत्ति का कार्य निष्पन्न हो जाने से, उसे स्वतंत्र प्रमाण मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

अनुमान और अनुपलब्धि

प्रथम धारावादी चार्वाक जयराशिभट्ट,[२०८] वेदान्ती श्रीहर्ष[२०९] एवं चित्सुखाचार्य[२१०] ने सूक्ष्म युक्तियों द्वारा, अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानने की मान्यता पर जो आक्षेप किये हैं, वे अनुपलब्धि मात्र से सम्बन्धित होने के कारण, प्रकृत में उपयोगी नहीं है।

इसी प्रकार द्वितीय धारा का आरम्भ करते हुए शान्तरक्षित[२११] और मोक्षाकर[२१२] गुप्त ने भी अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन करते हुए उसे प्रत्यक्ष से अभिन्न घोषित किया है।

तृतीय धारा के अन्तर्गत न्यायसूत्रकार ने इसे अनुमान में समाविष्ट किया है।[२१३] अपनी अभाव व्याख्या में वैशेषिक[२१४] सूत्र प्रयुक्त करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि विरोधी अभूत अर्थात् अविद्यमान विरोधी पदार्थ से भूत अर्थात् विद्यमान पदार्थ की कल्पना को अभाव कहा जाता है। जैसे, अविद्यमान वर्षा के अभाव से उसके विरोधी वायु-अभ्र संयोग का प्रतिपादन होता है [२१५] किन्तु इस अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव किया जा सकता है, क्योंकि कार्य की अनुपपत्ति से (कार्य के अभाव से) कारण के प्रतिबन्धक (कारण का अभाव) का अनुमान किया जाता है।[२१६] अभाव का अन्तर्भाव किस अनुमान में होता है, इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये उद्योतकर ने लिखा है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान में अभाव का अन्तर्भाव होता है।[२१७] वाचस्पति मिश्र ने भी यही बात कही है।[२१८] विश्वनाथ ने 'न्यायसूत्रवृत्ति' में यद्यपि भाष्यकार के समर्थन हित अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए लिखा है कि अभाव व्याप्ति सापेक्ष होने के कारण, अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं है,[२१९] किन्तु 'सिद्धान्तमुक्तावली'[२२०] में इन्होंने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में किया है। यह आश्चर्यजनक बात है कि उद्योतकर और उनके टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने संयोग, संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्ष[२२१] के अन्तर्गत अन्तिम छटे विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष की कल्पना, अभाव प्रतीति के लिये करने के उपरान्त भी, उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं, अपितु भाष्यकार की भांति अनुमान में ही ज्ञापित किया है, किन्तु उदयन और उसके उत्तरवर्ती हरिदास, केशवमिश्र, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अभाव का अन्तर्भाव इसी विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्ष में किया है।[२२२] महर्षि गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर एवं वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य दोनों का समन्वय करते हुए जयन्तभट्ट ने अभाव को अनुमान और प्रत्यक्ष में समाहित करने का प्रयास किया है।[२२३] भासर्वज्ञ ने अभाव

प्रतिपत्ति को आगम, अनुमान और प्रत्यक्ष तीनों में समाहित किया है। जैसे, कौरव आदि के अभाव का; आत्मादि में रूप के अभाव का एवं भूतल में घट आदि के अभाव का ज्ञान क्रमशः आगम, अनुमान तथा प्रत्यक्ष में समाविष्ट किया जा सकता है।[२२४] इस प्रकार नैयायिकों ने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों में किया है।

'वैशेषिक सूत्र' में अनुपलब्धि का अन्तर्भाव विवेचन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु प्रशस्तपाद ने वात्स्यायन की तरह अभाव को अनुमान के अन्तर्गत माना है, कारण जिस प्रकार उत्पन्न कार्य अपने कारण की सत्ता का ज्ञापक हेतु है, उसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य भी अपने कारण की असत्ता का अनुमापक होता है।[२२५] तात्पर्य यह कि जिस वस्तु की जहाँ उपलब्धि हो सकती है, वहाँ यदि उस वस्तु की उपलब्धि नहीं हो, तो ऐसा समझा जाता है कि वह वस्तु वहाँ नहीं है। इसी प्रकार योग्यानुपलब्धि के साथ, योग्य वस्तु के अभाव की नियत व्याप्ति पायी जाती है। किन्तु प्रत्यक्षायोग्य वस्तुओं के अभाव के साथ, उस वस्तु की अनुपलब्धि की नियत व्याप्ति नहीं पायी जाती, क्योंकि अयोग्य पिशाच आदि प्रमेयों के रहने पर भी उनकी उपलब्धि न होने से उक्त व्याप्ति व्यभिचरित हो जाती है। अतः अभाव प्रमाण में योग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि की अभाव की ज्ञापक होती है, अयोग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि नहीं। उक्त अभाव प्रमाण भी उक्त प्रमेयाभाव का ज्ञापक लिङ्ग है, कारण व्याप्ति द्वारा ही उसका ज्ञापन हो सकता है, अन्यथा नहीं। यदि इसमें व्याप्ति को अपेक्षित न माना जाय, तो सभी अभावों से सभी अभावों की प्रतीतियों की आपत्ति हो सकती है, जिसका वारण करना सर्वथा असम्भव है।[२२६] इसलिये योग्यानुपलब्धि के साथ योग्य वस्तु के अभाव की नियत व्याप्ति होने से, अभाव को अनुमान में समाविष्ट किया जा सकता है। कन्दलीकार के इस विवेचन में पूर्वाचार्य व्योमशिवाचार्य और उदयन का समर्थन जान पड़ता है, कारण अनुमान में अभाव का अन्तर्भाव ज्ञापन करने के पश्चात् इन्होंने भी उक्त दोनों आचार्यों की भांति विशेषण विशेष्यभाव रूप से अभाव को प्रत्यक्ष में भी समाहित किया है।[२२७] शंकरमिश्र ने भी वैशेषिकसूत्र[२२८] की व्याख्या में उक्त आचार्यों का अनुसरण करते हुए अभाव को अनुमान और प्रत्यक्ष में अन्तर्भावित किया है।[२२९] इस प्रकार वैशेषिक दार्शनिकों ने अभाव को प्रत्यक्ष व अनुमान में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है।

प्रभाकर मत में अधिकरण से अतिरिक्त अभाव नामक कोई प्रमाण न होने से, अनुपलब्धि को प्रमाणान्तर स्वीकार नहीं किया गया है। जैसे 'भूतले घटाभावः'—'पृथिवी पर घट का अभाव है' ऐसा कथन करने पर दृश्य घट में भूतल मात्र का ही बोध होता है। भूतल से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का बोध नहीं होता।[२३०] इसलिए अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता।

सांख्य दार्शनिक माठर ने अभाव के चार भेद—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव एवं अत्यन्ताभाव ज्ञापित करते हुए अभाव को अनुमान में अन्तर्भावित किया है।[२३१] गौडपाद ने उक्त चारों भेदों का उदाहरण सहित वर्णन करते हुए अभाव को शब्द में अन्तर्भावित करने का संकेत किया है।[२३२] वाचस्पति मिश्र ने अभाव को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना है।[२३३] इस प्रकार सांख्य दार्शनिकों ने अभाव को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण में समाहित किया है।

जैन दार्शनिक वादिराजसूरि ने अकलंक कारिका की व्याख्या करते हुए अभाव प्रतीति को प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान एवं आगम में समाहित होने का संकेत किया है।[२३४] डा० महेन्द्रकुमार जैन ने भी इसी प्रकार अभाव प्रमाण के प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान एवं अनुमान में गतार्थ होने का समर्थन किया है।[२३५] किन्तु सिद्धर्षिगणि ने, बौद्धों की तरह, अभाव को अप्रमाण कहते हुए, उसकी पृथक् प्रमाण मान्यता पर सारगर्भित युक्तियों द्वारा अनेक प्रहार किये हैं।[२३६] वादिराज की व्याख्या में पूर्वाचार्य वादीभसिंह तथा प्रभाचन्द्र के सिद्धान्तों का विस्तार झलकता है।[२३६/१]

योग्यानुपलब्धि का स्वतंत्र प्रामाण्य स्थापित करते हुए कुमारिल ने लिखा है 'पृथिवी पर घट नहीं है' इत्याकारक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता और अभाव ज्ञान बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के भी उत्पन्न होता है। अभाव के साथ, इन्द्रिय का संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध भी निष्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों सम्बन्ध भाव पदार्थों के साथ ही हो सकते हैं। यदि यह कहा जाय कि विशेषणविशेष्यभाव के द्वारा यहाँ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, तो यह भी समीचीन नहीं है; कारण संयुक्तविशेषणता आदि भौतिक संयोग आदि सम्बन्ध से घटित है। इसलिये संयोग आदि के न होने पर वह भी नहीं हो सकता। यह अभाव ज्ञान अनुमान के अन्तर्गत भी नहीं है, कारण अनुमान में लिङ्ग सर्वदा ज्ञात होकर ही अपने साध्य की सिद्धि कराता है, किन्तु अज्ञायमान अनुपलब्धि को ही चक्षु आदि इन्द्रियों के समान करण माना जाता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि एक अनुपलब्धि दूसरी अनुपलब्धि से ज्ञात होगी और दूसरी से तीसरी इस प्रकार अनेक युक्तियों द्वारा कुमारिल भट्ट ने अभाव के प्रत्यक्ष अथवा अनुमान में अन्तर्भाव होने का खण्डन किया है।[२३७] पार्थसारथि मिश्र ने भी इन्हीं का समर्थन किया है।[२३८]

उक्त अनुपलब्धि-विवेचन पर मनन करने के पश्चात् विदित होता है कि दृढ़ वेदानुयायी होने के कारण ही भाट्ट मीमांसक एवं वेदान्तियों ने इसे पृथक् प्रमाण स्वीकार किया है। जैसा कुमारिल ने कहा है कि अनुपलब्धि प्रमाण के बिना, समस्त (वैदिक और लौकिक) कर्मों के साथ फलों के संकर का अभाव, परस्पर संकर का अभाव, अङ्गाङ्गीभाव का अभाव आदि तथ्य निर्धारित नहीं किये जा सकते।[२३९] इसलिये वैदिक क्षेत्र में, वैदिक प्रक्रिया को भली प्रकार समझने के लिये अनुपलब्धि को किसी सीमा तक पृथक् प्रमाण माना जा सकता है, किन्तु लौकिक व्यवहार में इसे उदयन समर्थित विशेषण-विशेष्यभाव रूप में प्रत्यक्ष[२४०] में समाहित करना ही न्यायसंगत जान पड़ता है।

अनुमान और संभव

प्रथम धारावादी चार्वाक जयराशिभट्ट ने संभव को न्यायसूत्रकार की भांति अनुमान में अन्तर्भावित होने का संकेत किया है,[२४१] जबकि वेदान्ती श्रीहर्ष एवं उनके अनुगामी चित्सुखाचार्य इस विषय में मौन दिखाई पड़ते हैं।

द्वितीय धारा का अनुमोदन करते हुए शान्तरक्षित तथा उनके टीकाकार कमलशील ने न्यायभाष्यकार की पदावली को प्रयुक्त करते हुए संभव प्रमाण को कार्यलिङ्ग से उत्पन्न होने वाले कारण के अनुमान में अन्तर्विष्ट किया है।[२४२] मोक्षाकर गुप्त ने इस प्रसङ्ग में कोई टिप्पणी नहीं की है।

तृतीय धारा उद्वेलित करते हुए महर्षि गौतम ने लिखा है कि संभव प्रमाण को, अनुमान में अन्तर्भूत हो जाने के कारण, पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता।[२४३] सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि समुदाय और समुदायी, अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होने के कारण, एक के गृहीत होने पर दूसरे का ग्रहण होना अवश्यंभावी है, इसलिये इसको अनुमान के अन्तर्गत भली प्रकार अवस्थित किया जा सकता है।[२४४] उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, भासर्वज्ञ, जयन्त भट्ट, विश्वनाथ आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[२४५] वात्स्यायन का अनुगमन करते हुए वैशेषिक दार्शनिक प्रशस्तपाद ने लिखा है कि संभव प्रमाण में अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा ही अर्थ का अवबोधन होता है, इसलिये यह अनुमान ही है।[२४६] भाष्यकार की व्याख्या करते हुए व्योमशिवाचार्य ने कहा है, 'जहाँ हजार संख्या होती है, वहाँ सौ संख्या अवश्य होती है', इस व्याप्ति के ग्रहण होने पर, लिङ्ग 'सहस्त्र संख्या' द्वारा साध्य 'सौ संख्या' का ज्ञान होना अनुमान ही है।[२४७] इसी उदाहरण को प्रयुक्त करते हुए उदयन, श्रीधर तथा शंकर मिश्र ने भी संभव प्रमाण को अनुमान में समाहित किया है।[२४८] इसी प्रकार मीमांसक भाट्ट कुमारिल का अनुगमन[२४९] करते हुए उम्बेक भट्ट, सुचरित मिश्र, पार्थसारथि मिश्र आदि टीकाकार, नारायण भट्ट प्रभृति उत्तरवर्ती भाट्ट मीमांसकों ने भी संभव प्रमाण को अनुमान में गतार्थ किया है, प्रभाकर मत संपादित करते हुए शालिकनाथ मिश्र ने भी उक्त परिपाटी का अनुमोदन किया है।[२५०] विभिन्न उदाहरण प्रयुक्त करते हुए सांख्याचार्य माठर ने भी[२५१] संभव को अनुमान में ही समाभूत करने का प्रयास किया है। इनका उदाहरण प्रयुक्त करते हुए गौडपाद ने इसे, शब्द प्रमाण[२५२] एवं वाचस्पति मिश्र ने, अनुमान प्रमाण में अन्तर्भावित किया है।[२५३] इसी तथ्य का अनुसरण करते हुए जैनाचार्यों ने भी संभव को स्वतंत्र प्रमाण न मानते हुए उसे अनुमान में ही अन्तर्भावित किया है।[२५४]

निष्कर्षतः निश्चयात्मक न होने एवं संभावनामूलक होने के कारण, संभव को पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उक्त विवेचन के आधार पर इसका अनुमान में भलीभांति अन्तर्भाव किया जा सकता है। आचार्य माठर के 'प्रस्थ कुडव' तथा कुमारिल भट्ट के 'सहस्त्र-शत' उदाहरणों के माध्यम से ही प्रायः सभी उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने इस प्रमाण का निर्वचन और (गौडपाद को छोड़कर) अनुमान में अन्तर्भाव होने का निरूपण किया है।

अनुमान और ऐतिह्य

प्रथम धारा के समर्थक चार्वाक जयराशिभट्ट ने इस प्रमाण का विवेचन करते हुए लिखा है कि शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाने के कारण ऐतिह्य को न तो स्वतंत्र प्रमाण माना जा सकता है और न अनुमान के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।[२५५] श्रीहर्ष एवं चित्सुखाचार्य ने इस प्रमाण के विषय में कोई चर्चा नहीं की है।

द्वितीय धारा का अनुमोदन करते हुए शान्तरक्षित एवं कमलशील ने, ऐतिह्य प्रमाण को, अनेक प्रकार के व्यभिचारों से दूषित होने के कारण, अप्रमाण कहा है।[२५६] मोक्षाकार गुप्त ने इस प्रसङ्ग में कोई टिप्पणी नहीं की है।

तृतीय धारा का सूत्रपात करते हुए महर्षि गौतम ने, इसे शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव किया है।[२५७] सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि परम्पराश्रित

ऐतिह्य कथन यदि आप्त पुरुष द्वारा उद्भावित किया गया हो, तो उसे शब्द प्रमाण में अन्तर्भावित किया जा सकता है इसके विपरीत यदि वह अनाप्त पुरुष द्वारा कथित किया गया हो, तो उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।[२५८] वात्स्यायन के पश्चात् प्रायः सभी उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने, जैसे उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, भासर्वज्ञ, जयन्तभट्ट, विश्वनाथ आदि नैयायिक,[२५९] प्रशस्तपाद का अनुगमन करने वाले व्योमशिवाचार्य, उदयन, श्रीधर, शंकर मिश्र आदि वैशेषिक[२६०] कुमारिल भट्ट का समर्थन करने वाले उम्बेक भट्ट, सुचरित मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, नारायणभट्ट, प्रभृति भाट्ट मीमांसक एवं शालिकनाथ मिश्र आदि प्रभाकर मीमांसक;[२६१] आचार्य माठर का अनुमोदन करने वाले गौडपाद, वाचस्पतिमिश्र आदि सांख्य[२६२] एवं अकलंक आदि जैन दार्शनिकों[२६३] ने इसको आगम प्रमाण में ही अन्तर्भावित किया है।

सारांशतः, परम्पराश्रित कथन होने से, ऐतिह्य प्रमाण अत्यन्त उपयोगी है, कारण इसी प्रमाण के आधार पर अनेक प्राचीन ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण संभावित हो सका है, क्योंकि प्राचीनकालीन अधिकतर ग्रन्थों में लेखक का नाम, समय आदि का उल्लेख नहीं पाया जाता। यही नहीं समस्त वैदिक ज्ञान भी परम्पराश्रित होने के कारण ही आज तक अक्षुण्ण चला आ रहा है, किन्तु कथन स्वरूप होने के कारण इसको पृथक् प्रमाण मानने की अपेक्षा आगम प्रमाण में समाभूत करना अधिक समीचीन जान पड़ता है।

अनुमान और प्रतिभा-चेष्टा

प्रथम धारावादी दार्शनिक ग्रन्थों में इन प्रमाणों का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

द्वितीय धारावादी शान्तरक्षित और कमलशील ने प्रतिभा प्रमाण में अनेक प्रकार से व्यभिचार संभावित होने के कारण उसे अप्रमाण घोषित किया है।[२६४] चेष्टा प्रमाण पर उन्होंने कोई टिप्पणी नहीं की है। मोक्षाकर गुप्त की 'तर्कभाषा' में भी इन दोनों प्रमाणों पर कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

तृतीय धारा के अन्तर्गत चेष्टा प्रमाण की व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद ने लिखा है कि जिस पुरुष को चेष्टा के संकेतित अर्थ का ज्ञान रहता है, उसी को चेष्टा द्वारा किसी अर्थ का भान होता है, अतः चेष्टा भी अनुमान प्रमाण के ही अन्तर्गत है, अतिरिक्त प्रमाण नहीं।[२६५] भाष्यकार की व्याख्या करते हुए श्रीधर ने लिखा है कि हाथ के आकुञ्चन तथा प्रसारण आदि विशेष प्रकार के अभिनय से बुलाने अथवा बाहर लौटने की क्रिया का बोध उसी पुरुष को होता है, जिसको इन संकेतों का ज्ञान रहता है। इसके विपरीत जिस पुरुष को संकेत ज्ञान नहीं रहता, उसे चेष्टा द्वारा किसी अर्थका अवबोधन नहीं होता। अतः चेष्टा रूप लिङ्ग से होने वाले अर्थावबोध को अनुमान में ही समाहित किया जा सकता है।[२६६] इनके पूर्ववर्ती आचार्य व्योमशिवाचार्य तथा उदयन ने भी विभिन्न उदाहरणों द्वारा यही बात कही है।[२६७] इसी प्रकार सूत्रकार[२६८] की व्याख्या करते हुए शंकर मिश्र ने भी उदयन समर्थित कृत समय तथा अकृत समय दोनों चेष्टा भेदों को पृथक् प्रमाण न मानते हुए, अनुमान में ही अन्तर्भावित किया है।[२६९] नैयायिक भासर्वज्ञ ने भी चेष्टा प्रमाण को अनुमान में ही समाभूत किया है।[२७०] सांख्य दार्शनिक आचार्य माठर ने प्रतिभा को अनुमान प्रमाण में अन्तर्भावित किया है।[२७१] किन्तु गौडपाद ने

इसको आगम प्रमाण में समाहित किया है।[२७२] शेष दार्शनिक कृतियों में इस प्रमाण की चर्चा प्रायः उपलब्ध नहीं होती। जैन दार्शनिक विद्यानन्द ने प्रातिभ-ज्ञान को अनुमान में समाविष्ट किया है।[२७३]

यद्यपि अलंकार-शास्त्र में प्रातिभ ज्ञान की कुछ उपयोगिता सिद्ध की जा सकती है, क्योंकि प्रतिभा द्वारा अनेक निहित तथ्यों की संभावना की जाती है। किन्तु इसे पृथक् प्रमाण की संज्ञा नहीं दी जा सकती, कारण मात्र संभावनामूलक होने के कारण इसे निश्चयात्मक प्रमा ज्ञान का साधन नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार तांत्रिकों तथा नाट्यशास्त्र के अभिनेताओं के लिये चेष्टा की प्रयोजकता निर्धारित की जा सकती है, किन्तु स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में इसका अवधारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि संकेत का ज्ञान होने पर ही चेष्टा द्वारा किसी अर्थ का बोध हो सकता है। इसलिए इसको अनुमान प्रमाण में अन्तर्विष्ट करना श्रेयस्कर है।

उक्त सभी मतों को अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी परिपाटी एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुरूप प्रमाणों का खण्डन अथवा अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। फिर भी वस्तुस्थिति को देखते हुए सम्बद्ध एवं वर्तमान पदार्थों की प्रतीति के लिये प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष अनुभूत पदार्थों के माध्यम से सम्बद्ध, असम्बद्ध एवं अतीन्द्रिय पदार्थों की अधिगति के लिये अनुमान, तथा इन दोनों से ज्ञात होने वाले विप्रकृष्ट-अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिये शब्द कम से कम तीन प्रमाण मानना आवश्यक है। शेष अन्य प्रमाण इन्हीं में किसी प्रकार समाहित किये जा सकते हैं। अपने-अपने विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये, दार्शनिकों ने इनसे अतिरिक्त प्रमाणों की व्यवस्था की है। जैसे नैयायिकों ने शक्तिग्राहक होने के कारण, उपमान; मीमांसक और वेदान्तियों ने याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त होने वाली समान सामग्री, वैदिक ऋचाओं का सही-सही अर्थ लगाने एवं कर्म और फल के परस्पर संकराभाव के परिज्ञान के लिये, उपमान, अर्थापत्ति अनुपलब्धि; पौराणिकों ने दिव्य कल्पनाओं की संभावना एव इतिहास के लिये संभव और ऐतिह्य एवं तान्त्रिकों और आलंकारिकों ने शारीरिक हावभावों एव प्रातिभ ज्ञान के लिये चेष्टा, प्रतिभा आदि प्रमाणों की कल्पना उक्त तीन प्रमाणों से अतिरिक्त की है। किन्तु इनका कार्य उक्त तीन प्रमाणों से संपादित किया जा सकता है। इसी प्रकार जैन दार्शनिकों ने अपनी दार्शनिक ज्ञान प्रक्रिया की विशिष्ट स्थिति के कारण उक्त तीन प्रमाणों के साथ साथ स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि को भी पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है, किन्तु अन्य सभी दार्शनिकों ने प्रथम को अप्रमाण, तृतीय को प्रमाणों का अनुग्राहक (सहायक) एव द्वितीय को प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाने के कारण, तीनों को पृथक् प्रमाण नहीं माना है। वितण्डावादी, दार्शनिकों का खण्डन भी अन्य दार्शनिकों द्वारा खंडित प्रमाण-लक्षणों की निस्सारता प्रदर्शित करने के लिये संभवतः प्रस्फुटित हुआ है, किन्तु अपनी ओर से किसी सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन न करने के कारण इनकी आलोचना शुष्क जान पड़ती है।

संदर्भ निर्देश

१. बृ० सू० २०-२१, २५ उद्धृत-चा० द० शा० स० वृ० १३८-३९; स० द०

सं० पृ० ३। २. उ० पृ० २१५। ३. स० प० ३२, १४५-४६। ४. प्र. भा० पृ० २४६।
५. वही पृ० ३०९-३०। ६. उ० हृ० पृ० १३-१४। ७. प्र० स० १।२। ८. सां०
का० का० ४। ९. यो० सू० १।७। १०. न्या० सू० १।१।३। ११. न्या० सा०
पृ० ९। १२. बृ० पृ० ३४-३५, ६९-९०। १३. शा० भा० पृ० २१-२२, ३६-३९।
१४. वे० प० पृ० ३३। १५. पृ० ५६। १६. पृ० ८। १७. उद्धृत—भा० द० प० टि०
पृ० २७; तर्क शा० ३ पृ० २२। १८. उद्धृत त० भा० पृ० १२८। १९. मा० वृ०
पृ० ११-१२; गौ० भा० पृ० ६; तत्त्व० सं० का० १७००। २०. प्र० भा० पृ० ३११।
२१. सू० ५९; सू० ५।३।१९१, १९२; सू० ३३८। २२. सू० १६५; अध्ययन २३;
सूत्र ८८।२।३१७; सू० ३५। २३. त० सू० १।९-१३। २४. प्रवचनसार गा० ५८।
२५. न्या० व० का० १, ४, ५, ८। २६. ल० का० ३-३, १०, ६१ एवं वृत्ति पृ० २-३,
२१। २७. ल० का० ६१। २८. न्या० वि० का० ३।८७; न्या० वि० टी० २ पृ० ३६३।
२९. प० मु० सू० २।१-२। ३०. वही २।५, ११। ३१. वही ३।१-२। ३२. न्याय-
प्रकाश पृ० ६८९। ३३. दी० पृ० १४। ३४. न्या० सू० १।१।५। ३५. अमरकोष
३।३।२४६। ३६. अथेत्यानन्तर्यं। न्या० वा० पृ० १३२; न्या० वा० ता० टी० पृ०
१३३ न्याय० सू० वृ० पृ० १३३। ३७. न्या० वा० पृ० १३३-१४०। ३८. न्या० वा०
ता० टी० पृ० १३३-३४। ३९. त० चि० पृ० ५। ४०. दी पृ० ७। ४१. वही पृ०
७-१४। ४२. गा० पृ० १८। ४२।१. प्रत्यक्षपरिकलित——————तर्करसिकाः
त० चि० पृ० ४२४; अष्टशती पृ० २३४। ४३. त० सि० पृ० २-४, ११-१२, १३-
१७, १९-२१, २१-२२, ३२-३४, ५८-६१; ६१-६४। ४४. खं० पृ० १९८-२४८।
४५. त० प्र० पृ० ३५६-६२, ३७६-७८। ४६. प्र० वा० का० ३।२१२-१६; बौ०
त० भा० पृ० ४। ४७. प्र० वा० का० ३।२२४-३२; बौ० त० भा० पृ० ४-५।
४८. प्र० वा० का० ३।२३१-३८; बौ० त० भा० पृ० ४-५। ४९. त० सि० पृ० ११४।
५०. वही पृ० ११५-१२०। ५१. खं० पृ० २९७-९९। ५२. त० प्र० ४१४-२८।
५३. एतेन शाब्दं व्याख्यातम् वै० सू० ९।२।३। ५४. प्र. भा. पृ० ३०९। ५५. शा०
दी० पृ० २०३-४। ५६. वै० सू० पृ० ७।२।१४-१८। ५७. वही ७।२।१९।
५८. वही ७।३।२०। ५९. वही २।२।३१-३२। ६०. प्र. भा. पृ० ३०९-१५।
६१. वै० सू० १।१।३, १०।२।९। ६२. वही २।२।३२। ६३. वही ६।१।१।
६४. वही ६।१।३। ६५. ऋग्वेद ८।६।३।२। ६६. वै० सू० २।२।३१। ६७. न्या०
कं० पृ० ५१९-२२। ६८. वही पृ० ५१६। ६९. कि० पृ० ३०९। ७०. उ० पृ०
२२०-२३। ७१. न्या० मं० १ पृ० १३९-४०। ७२. तत्त्व० सं० का० १४८७-८८।
७३. वही का० १५००-९। ७४. वही का० १५१०-१२। ७५. वही का० १५१३-१४।
७६. वही का० १५१५-२५। ७७. तत्त्व० सं० पं० पृ० ४३६-४१। ७८. बृहती
पृ० ८१-८२; ऋ० वि० पृ० ८१-८२; प्र० पं० पृ० २२८, २४२-४५। ७९. प्र० पं०
पृ० २४३-४५; ऋ० वि० पृ० ८२। ८०. न्या० भा० पृ० ५३६; भा० वृ० पृ० ११;
गौ० भा० पृ० ७। ८१. न्या० सू० २।१।४९-५०, ५४। ८२. वही २।१।५२।
८३. न्या० भा० पृ० ५३४। ८४. वही पृ० ५३६-३९। ८५. न्या० सू० २।१।५१।
८६. न्या० भा० पृ० ५३९। ८७. वही पृ० ५३९। ८८. वही पृ० ५४०। ८९. न्या०
सू० २।१।५३। ९०. न्या० भा० पृ० ५४०-४१। ९१. न्या० सू० २।१।५४।
९२. न्या० भा० पृ० ५४२। ९३. न्या० सू० २।१।५५। ९४. न्या० भा० पृ० ५४३-

४५। ९५. न्या० सू० ५।१।५६। ९६. न्या० भा० पृ० ५४६। ९७. न्या० वा० पृ० ५३४-४६; न्या० वा० ता० टी० पृ० ५३४-४७। ९८. न्या० कु० का० १३। ९९. ह० बृ० १२७। १००. वही पृ० १२७-२८। १०१ वही पृ० १२८। १०२. न्या० कु० का० १४-१५; ह० बृ० पृ० १२९-३१। १०३. न्या० मं० १ पृ० १४०। १०४. श्लो० वा० शब्द श्लो० १५-९८। इन श्लोकों पर दृष्टव्य–ता० टी०, काशिका एवं न्या० र०; शा० दी० पृ० २०५-७; मा० मे० पृ० १०३-१०७; प्र० पं० पृ० २४५-४७, २६४। १०५. सां० त० कौ० पृ० ५०। १०६. जैन त० भा० पृ० १९; जैन द० पृ० ३८०-८१; सि० वि० टी० १ प्रतावना पृ० १२७। १०७. सां० त० कौ० पृ० ४४-४५; सां० त० कौ० प्र० पृ० ४४-४७। १०८. त० सिं० पृ० ११०-११, १११, ११२। १०९. खं० पृ० २८८-८९, २८९-९१, २९१-९७। ११०. त० प्र० पृ० ४०५-७, ४०७-१०, ४१०। १११. खं० पृ० २९६-९७। ११२. त० प्र० पृ० ४१०-१४। ११३. प्र० वा० लं० पृ० ५७४। ११४. बौ० त० भा० पृ० ६। ११५. तत्त्व सं० का० १५४३-४५, १५४७-४९, १५६४-६५, १५६१- १५७५-७६। ११६. तत्त्व सं० पं० पृ० ४४७-४८, ४५१-५४। ११७. प्र. भा० पृ० ३२१। ११८. न्या० कं० प० ५३१-३४। ११९. व्यो० व० पृ० ५८७-९०; कि० पृ० ३२१-२२। १२०. वै० सू० ९।२।५। १२१. उ० पृ० २२५-२६। १२२. न्या० सा० पृ० १०३-४। १२३. न्या० सू० २।१।५७-६०। १२४. वही २।१।४४-४५, ४६-४८। १२५. न्या० सू० गं० ४।२।७। १२६. न्या० सा० पृ० १०४-११२। १२७. भा० वृ० पृ० ११। १२८. गौ० भा० पृ० ६। १२९. सां० प्र० भा० पृ० ४८। १३०. सां० त० कौ० पृ० ५१-५२। १३१. ल० का० १९-२१; न्या० वि० २ का० ८६-८६। १३२. न्या० कु० चं० पृ० ४९०-५०२। १३३. न्या० वि० दि० पृ० ३६१-६२; जै० त० भा० पृ० १०। १३४. न्या० कु० का० ३।७; ह० बृ० पृ० ११७-११८। १३५. न्या० कु० का० ३।८; ह० बृ० पृ० ११९। १३६. न्या० मं० १ पृ० १३३-३४। १३७. श्लो० वा० उपमान श्लो० १-३। १३८. न्या० र० पृ० १४४। १३९. प्र० पं० पृ० २७१। १४०. न्या०सू०२।१।४६। १४१. न्या०भा० पृ० ५२९। १४२. न्या० सू० २।१।४७। १४३. न्या० भा० पृ० ५३०-३१। १४४. न्या० सू० २।१।४८। १४५. न्या० वा० पृ० ५२८-३३; न्या० वा० ता० टी० पृ० ५२८-३३। १४६. न्या० कु० का० ३।११-१२; ह० बृ० पृ० १२३। १४७. ह० बृ० प० १२३। १४८. सि० मु० ३ पृ० १७२-७३। १४९. सि० मु० ३ पृ० १७२-७६; दि० पृ० ४९९-५००; रा० पृ० ४९९-५००। १५०. वि० ३ पृ० १७६-७७। १५१. न्या० म० १ पृ० १२८-२९। १५२. श्लो० वा० उपमान श्लो० ३७-३८। १५३. शा० दी० पृ० २१२-१३। १५४. प्र० पं० पृ० २६९-७०। १५५. श्लो० वा० अनुमान श्लो० ४३-५१। १५६. वही श्लो० ५२-५३। १५७. वै० प० पृ० २०२-६। १५८. शि० म० पृ० २०२-६; म० प्र० पृ० २०२-७। १५९. त० सिं० पृ० ११०-११। १६०. खं० पृ० ३०५-९। १६१. त० प्र० पृ० ४२९-३४। १६२. तत्त्व स० का० १५८८, १६०७, १५९९, १६१२; १६००-१, १६२५। १६३. वही का० १६१८-१९। १६४. वही का० १५९२, १६२०, २३-२४। १६५. वही का० १६०२, १६४१-४३। १६६. बौ० त० भा० पृ० ७। १६७. न्या० सू० २।२।२। १६८. न्या० भा० पृ० ५७६। १६९. न्या० वा० पृ० ५७६-७८ न्या० वा० ता० टी० पृ० ५७६-७८। १७०. न्या० भा० पृ० ५७३।

१७१. न्या० कु० का० ३।१९। १७२. ह० वृ० पृ० १४०। १७३. वही पृ० १४०-४१। १७४. न्या० मं० १ पृ० १३७-३८। १७५. वही पृ० ४०। १७६. वही पृ० ४२। १७७. वही पृ० ३३-३७, ३८-४०। १७८. वही पृ० ४२। १७९. न्या० सा० पृ० १११-१३। १८०. त० चि० पृ० १४३५-४१, १४५९-५४। १८१. वही पृ० १४४१-४९, १४५४-५९। १८२. त० भा० पृ० ११५-१६। १८३. का० व० का० १४४ एवं सि० मु० ३ पृ० १८७-९०; न्या० सू० वृ० ५७७-७८। १८४. प्र० भा० पृ० ३२३। १८५. व्यो० व० पृ० ५९०। १८६. कि० पृ० ३२४। १८७. न्या० कं० पृ० ५३६। १८८. व्यो० व० पृ० ५९१, कि० पृ० ३२४-२५; न्या० कं० पृ० ५३५-३७; उ० पृ० २२६-२७। १८९. न्या० कं० पृ० ५३७। १९०. पृ० ५९०; पृ० ३२५; पृ० २२७। १९१. कि० पृ० २२५-२६; न्या० कं० पृ० ५३७-३८। १९२. शा० भा० पृ० ३८। १९३. श्लो० वा० अर्थापत्ति श्लो १; व्यो० व० पृ० ५९०-९१। १९४. वै० सू० ९।२।५। १९५. उ० पृ० २२६-२७। १९६. मा० वृ० पृ० ११। १९७. गौ० भा० पृ० ५। १९८. सां० त० कौ० पृ० ५४-५६। १९९. वही पृ० ५६-५७। २००. ल० का० ६१ एवं वृत्ति पृ० २१; न्या० कु० च० ५०५-२०; त० श्लो० वा० २।२३।३८९-९०; स्या० सि० ९।९-१५; प्र० क० मा० २।२ पृ० १९४। २०१. न्या० वि० का० ३।८६; न्या० वि० वि० पृ० ३६३। २०२. श्लो० वा० अर्थापत्ति श्लो० १०-२९। २०३. बृहती पृ० ८६-८७। २०४. शा० दी० पृ० २१५-१६। २०५. प्र० पं० पृ० २७४-७५। २०६. वे० प० पृ० २७५। २०७. श्लो० वा० अर्थापत्ति श्लो ८७-८८। २०८. त० सि० पृ० ११२-१३। २०९. खं० पृ० ३०९-१४। २१०. त० प्र० पृ० ४३४-४८। २११. तत्त्व० सं० का० १६६०-९१। २१२. बौ० त० भा० पृ० ७। २१३. न्या० सू० २।२।२। २१४. वै० सू० ३।१।११। २१५. न्या० भा० पृ० ५७४। २१६. वही पृ० ५७७। २१७. न्या० वा० पृ० ५७८। २१८. न्या० वा० ता० टी० पृ० ५७८। २१९. न्या० सू० वृ० पृ० ५७८। २२०. सि० मु० ३ पृ० १९१। २२१. न्या० वा० पृ० ९४-९५; न्या० वा० ता० टी० पृ० ९५-९७। २२२. न्या० कु० ३।२२; ह० वृ० पृ० १५२-५३; त० भा० पृ० ११७-२५; सि० मु० ३ पृ० १९१। २२३. न्या० मं० १ पृ० ४८-५१। २२४. न्या० सा० पृ० ११४। २२५. प्र० भा० पृ० ३२६। २२६. न्या० कं० पृ० ५४३-४४। २२७. व्यो० व० पृ० ५९१-९३; कि० पृ० ३२७-३०; न्या० कं० पृ० ५४४-५४। २२८. वै० सू० ९।२।५। २२९. उ० पृ० २२८। २३०. बृहती पृ० ९३-९४; ऋ० वि० पृ० ९३-९५; प्र० पं० पृ० २८६-८८: २३१. मा० वृ० पृ० ११। २३२. गौ० भा० पृ० ५-६। २३३. सां० त० कौ० पृ० ५७। २३४. न्या० वि० का० ३।८६; न्या० वि० वि० पृ० ३६३। २३५. जै० द० पृ० ३६६-६७। २३६. न्या० व० टी० पृ० ३१-३३। २३६।१. स्या० सि० १२।१-८; प्र० क० मा० २।२ पृ० २०३। २३७. श्लो० वा० अभाव० श्लो० १७-४४, ५३-५४। २३८. शा० दी० पृ० २४३-४६। २३९. श्लो० वा० अभाव० श्लो० ५६। २४०. न्या० कु० का० ३।२२; ह० वृ० पृ० १५३। २४१. त० सिं० पृ० ११३। २४२. तत्त्व० सं० का० १६९९; तत्त्व० सं० पं० पृ० ४८४। २४३. न्या० सू० २।२।२। २४४. न्या० भा० पृ० ५७७। २४५. न्या० वा० पृ० ५७८; न्या० सा० पृ० ११४; न्या० मं० १ पृ० ५९; न्या० सू० वृ० पृ० ५७८। २४६. प्र० भा० पृ० ३२६। २४७. व्यो० व० पृ० ५९१।

२४८. कि० पृ० ३२६; न्या० कं० ५४२; उ० पृ० २२७। २४९. श्लो० वा० अभाव श्लो० ५८। २५०. ता० टी० पृ० ४२३; काशिका ३ पृ० २१२; न्या० र० उक्त श्लोक पर एवं शा० दी० पृ० २४६; मा० मे० पृ० १४४-४५; प्र० पं० पृ० २९२। २५१. मा० वृ० पृ० ११। २५२. गौ० भा० पृ० ६। २५३. सां० त० कौ० प० ५८। २५४. त० रा० वा० पृ० ७८; जै० द० प० ३६५; त० श्लो० वा० १।१३।८८-८९ पृ० २१७। २५५. त० सि० पृ० ११४। २५६. तत्त्व सं० का० १७००; तत्त्व सं० पं० पृ० ४८४। २५७. न्या० सू० २।२।२। २५८. न्या० भा० पृ० ५७५। २५९. न्या० वा० पृ० ५७६; न्या० वा० ता० टी० पृ० ५७६; न्या० सा० पृ० ११६ न्या० मं० १ पृ० ५९; न्या० सू० वृ० पृ० ५७६। २६०. प्र० भा० पृ० ३३०; व्यो० व० पृ० ५९४; कि० पृ० ३३०; न्या० कं० पृ० ५५८; उ० पृ० २२८। २६१. श्लो० वा० श्लो० ५८; ता० टी० पृ० ४२३; काशिका ३ प० २१२; न्या० र० उक्त श्लोक पर एवं शा० दी० पृ० २४६; मा० मे० पृ० १४५; प्र० पं० पृ० २९२-९३। २६२. मा० वृ० पृ० ११-१२; गौ० भा० पृ० ६; सां० त० कौ० पृ० ५९। २६३. त० रा० वा० पृ० ७८। २६४. तत्त्व सं० का० १७००; तत्त्व सं० पं० पृ० ४८४। २६५. प्र० भा० पृ० ३१९। २६६. न्या० कं० पृ० ५२९-३०। २६७. व्यो० व० पृ० ५९४-९५; कि० पृ० ३१९-२०। २६८. वै० सू० ९।२।३। २६९. उ० पृ० २२३-२४। २७०. न्या० सा० पृ० ११६। २७१. मा० वृ० पृ० ११-१२। २७२. गौ० भा० पृ० ६। २७३. त० श्लो० वा० १।१३।३८८ पृ० २१७।

८

उपसंहार

तर्क शास्त्रीय पाश्चात्य तथा भारतीय सिद्धान्त

भारतीय दर्शनों में विवेचित आनुमानिक सिद्धान्तों का निरूपण करने के पश्चात् पाश्चात्य अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्तों से यहाँ के सिद्धान्तों की तुलना करके उनका मूल्यांकन करना ही इस अध्याय का विषय है। यद्यपि भारतीय तर्कशास्त्र अपने आप में परिपूर्ण है तथा किसी अन्य तार्किक प्रणाली से उसकी तुलना करने अथवा न करने से उसका महत्व घट या बढ़ नहीं जाता, फिर भी तुलनात्मक अध्ययन से विभिन्न तर्कविद्याओं के उद्देश्य, प्रयोजन, दृष्टिकोण एवं पद्धतियों का विश्लेषण सुगम हो जाता है, जिसके आधार पर उनके उत्तरोत्तर विकास अथवा गुण-दोषों का मूल्यांकन भली प्रकार से किया जा सकता है।

सामान्य परिचय

भारतीय दर्शन तथा तर्कशास्त्र की भांति, पाश्चात्य दर्शन और तर्कशास्त्र का प्रयोजन और लक्ष्य, प्राणीमात्र को निर्दुःख तथा निरतिशय रूप से सुखी बनाने के लिये विश्व के परम तत्त्व ब्रह्म आ आत्मा के अन्वेषण द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति करना नहीं है, प्रत्युत दृश्यमान जगत् के मूलतत्त्व की खोज एवं उसे बुद्धिगम्य बनाने की मानसिक जिज्ञासा की शांति तक ही सीमित हैं। इस प्रकार उद्देश्य की समानता होते हुए भी दोनों में प्रयोजन का भेद है। यहाँ ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक धर्म या गुण माना गया है, इसलिये ज्ञान और उसके साधनों के विषय में यहाँ पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है। इस ग्रन्थ के सातवें अध्याय की प्रमाण-मान्यता-विषयक समस्या पर दृष्टिपात करने पर विदित होगा कि चार्वाकों को छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों को स्वीकार किया है। अनुमान ही नहीं अपितु शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित है। प्रत्यक्ष के बिना उक्त सभी प्रमाणों का आविर्भाव होना असम्भूत है, इसीलिये प्रत्यक्ष को यहाँ सभी प्रमाणों का उपजीव्य प्रमाण कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा ज्ञान पर बहुत कम चिन्तन किया गया है। वहाँ दर्शन का झुकाव सर्वदा बुद्धिवाद की ओर रहा है।[१] योरोपीय दर्शन के प्राचीन युगीन आयोनिया-दार्शनिकों का चिन्तन जगत् के मूलकारण के लिये भौतिक तत्त्वों की खोज की ओर ही केन्द्रित रहा है, मानवीय ज्ञान पर नहीं। जैसे थैलीज ने 'जल'; एनेक्जिमेण्डर ने 'असीम भौतिक तत्त्व' एवं एनेक्जिमिनीज ने 'वायु' को संसार का मूल कारण बतलाया है।[२] किन्तु भौतिकवादी तत्त्वों के द्वारा जगत् की सत्ता और परिणाम विषयक समस्याओं का समाधान होना दुष्कर कार्य था, इसलिये बौद्धिक प्रत्ययों का आश्रयण लिया जाना आवश्यक प्रतीत हुआ। पाईथागोरस ने संख्या के

रूप में बौद्धिक प्रत्यय की स्थापना की। उसने संख्याओं को वस्तुओं का सार घोषित किया और संख्या के यथार्थज्ञान के लिये बुद्धिज्ञान को क्षमताशील ठहराया।[३] अतः इन्हें आकार और वस्तुमूलक भेद तथा बुद्धिवाद का आदि प्रवर्तक कहा जाता है। इनके पश्चात् प्रायः सभी यूनानी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी विचारधाराओं के अनुसार तत्त्व-जिज्ञासा के लिये इन्द्रियज्ञान को अक्षम एवं बुद्धिज्ञान को क्षमताशील मानने का प्रयास किया है। जैसे, हेराक्लिस्टस[४] ने 'सतत प्रवाहमय अग्नि तत्त्व'; पारमेनीडीज[५] ने 'अचल, अनादि अनन्त, एक तत्त्व'; एम्पीडोक्लिज[६] ने 'जल, वायु, अग्नि, पृथिवी' आदि चार तत्त्वों, ल्यूसीपस तथा डेमोक्रिटस[७] ने 'असंख्य परमाणुओं' एवं एनेक्जागोरस[८] ने 'नाउस' के ज्ञान के लिये इन्द्रिय जन्य ज्ञान की नितान्त अवहेलना की है तथा बुद्धिज्ञान को ही एकमात्र तत्त्व-जिज्ञासा का निर्वाहक माना है। सोफिस्ट चिन्तकों का लक्ष्य भी सत्य या असत्य युक्तियों द्वारा बुद्धिवाद का मण्डन करना था।[९] सुकरात का धारणात्मक ज्ञान भी बुद्धिवाद को पुष्ट करता है।[१०] प्लेटो ने यद्यपि इन्द्रिय जन्य ज्ञान को पारमेनिडीज की भांति मिथ्या नहीं घोषित किया, अपितु उसे अपूर्ण ज्ञान बतलाया एवं विशुद्ध प्रत्यय ज्ञान को पूर्ण तथा वास्तविक ज्ञान माना।[११] अरस्तू ने दर्शन सम्बन्धी सैद्धान्तिक ज्ञान के लिये बुद्धिवाद का आश्रयण लिया है।[१२] पाश्चात्य दर्शन का मध्य युग दार्शनिक सिद्धान्तों के लिये तमाच्छन्न युग कहलाता है। इस युग के चिन्तकों का ध्यान धर्म और गिरजाघर की आज्ञाओं के पालन तक सीमित रहा है। इसलिए दार्शनिक जिज्ञासा वृत्ति का इस युग में अभाव पाया जाता है। आधुनिक युग के डेकार्ट, स्पिनोजा तथा लाइबनीज ने बुद्धि तथा निगमनात्मक पद्धति पर इतना अधिक बल दिया कि वे बुद्धिवादी दार्शनिकों के नाम से पुकारे जाते हैं; कान्ट, हीगल, ब्रेडले आदि का ध्यान भी बुद्धिवाद की ओर विशेष आकर्षिक दिखाई देता है एवं बरट्रेन्ड रसेल की वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति में भी बुद्धिवाद की विशिष्ट छाप है।[१३] इस प्रकार बुद्धिवाद की आधारशीला पर अवस्थित होने के कारण समीक्षात्मक होते हुए भी पाश्चात्य दर्शन का दृष्टिकोण सदैव व्यक्तिवादी रहा है। लेकिन अनुभूतियों एवं श्रद्धामूलक प्रवृत्तियों के अवलम्बन पर आश्रित रहने का कारण भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण सदैव समीक्षात्मक तथा सम्प्रदायवादी रहा है। तार्किक सिद्धान्तों के विकास में भी इस दृष्टिकोण की व्यापकता देखी जा सकती है। प्रयोजन तथा दृष्टिकोण की विभिन्नता के साथ-साथ दोनों तर्कशास्त्र की पद्धतियों में भी साम्य नहीं है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र विशेषकर आनुमानिक सिद्धान्तों की प्रवृत्ति परस्पर भिन्न दो धाराओं—आकारिक या निगमनमूलक और वस्तुमूलक या आगमनपरक पद्धतियों में विभक्त हैं, किन्तु भारतीय तर्कशास्त्र में ऐसी भिन्न-भिन्न पद्धतियां परिलक्षित नहीं होतीं। क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान की आधारशिला पर अवस्थित होने के कारण भारतीय अनुमान में दोनों पद्धतियों का समन्वय हो गया है।

अरस्तू ने अपने पूर्वाचार्यों के तर्कशास्त्र, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, खगोलशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, साहित्य-समीक्षा आदि से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का मंथन कर, उन्हें एकत्र संकलित करते हुए, अध्यायों में व्यवस्थित करने का सर्वप्रथम प्रयास किया है। इसीलिए उन्हें उक्त शास्त्रों का जनक कहा जाता है। उन्होंने पाइथागोरस के आकार और वस्तुमूलक

भेद में से प्रथम पर अधिक बल देते हुए 'विभिन्न आकार'; पारमेनिडीज़ के अचल एक तत्व के सिद्धान्त से 'तादात्म्य तथा अविरोध नियम'; एम्पीडोक्लीज के सिद्धान्त—'समान द्वारा समान जाना जाता है' के आधार पर 'सब कुछ और कुछ नहीं' का सिद्धान्त सुकरात की वादात्मक सहज उदाहरण वाली परीक्षण-विधि से 'आगमनमूलक पद्धति एवं परिभाषा'; प्लेटो के प्रत्ययजगत् के श्रेणी विभाग से 'सामान्य-विशेष भेद, पृथक्-करण, विभाग एवं निगमनमूलक पद्धति' को बीज रूप से गृहीत करते हुए अनेक स्वरचित तार्किक सिद्धान्तों की सर्जना की है। अरस्तू के तर्कशास्त्र से सम्बन्धित विचारों का संकलन 'आर्गेनान' में संकलित छः पुस्तकों—(१) 'केटेगरी', (२) 'डी इन्टर-प्रिटेशनी', (३) 'एनालिटिका प्रायरा', (४) 'एनालिटिका पोस्टीरिओरा', (५) (५) 'टापिका', एवं (६) 'डी सोफिस्टिस एलैंकिस' में किया गया है। प्रथम में सत्तासूचक द्रव्य, परिमाण, गुण आदि दस पदार्थों का विवेचन किया गया है। द्वितीय का प्रतिपाद्य विषय वाक्य और निर्णय है। तृतीय में अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्त और चतुर्थ में उपपत्ति, परिभाषा एवं विभाग की व्याख्या की गयी है। पञ्चम में अविरोध नियम का पालन करते हुए प्रस्तुत समस्याओं पर तर्क करने की रीतियों पर विचार किया गया है तथा छठी में तर्काभासों की व्याख्या की गयी है। उत्तरवर्ती प्रायः सभी पाश्चात्य तार्किक किसी न किसी रूप में अरस्तू के विचारों से प्रभावित हैं। यद्यपि बेकन और मिल ने अरस्तू की निगमनमूलक प्रणाली को दूषित एवं वैज्ञानिक-विश्लेषण में निरर्थक सिद्ध करते हुए आगमनमूलक पद्धति पर विशेष बल दिया है, फिर भी, अपने मूल सिद्धान्तों की विवेचना के लिये, वे अरस्तू के ऋणी हैं। गणीतिय तार्किकों का आकर्षण भी अरस्तू के आकार सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतीकों द्वारा सूक्ष्म मण्डन प्रतीत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों प्रणालियों के तर्कशास्त्रों का आविर्भाव दृश्यमान जगत् के मूलकारण की ऊहापोह में होनेवाले वाद-विवादों का ही परिणाम है।

पाश्चात्य तर्कविद्या, भारतीय आन्वीक्षिकी विद्या की तरह प्रत्यक्ष, आगम आदि प्रमाणों द्वारा ईक्षित विषय का अनुवीक्षण नहीं है, प्रत्युत ग्रीकभाषा के 'लाजिके' शब्द से निष्पन्न होने के कारण, शब्द और तर्क (विचार) दोनों अर्थों में प्रयुक्त होने से, भाषा में अभिव्यक्त तर्कों की विद्या कहलाती है। यद्यपि तर्क भी एक विशिष्ट विचार प्रक्रिया है, फिर भी तर्कविद्या के अन्तर्गत विचारों की मूल प्रक्रिया के मानविक व्यापारों का अध्ययन नहीं किया जाता, वरन् उनके परिणाम—प्रत्यय, निर्णय तथा तर्क या अनुमान तथा इनके भाषा में प्रकाशित रूप—पद, तर्कवाक्य तथा न्याययुक्ति का सत्य के मूल्यों अथवा आदर्शों की पृष्ठ भूमि में निर्धारण करना है। अतः पद, तर्कवाक्य तथा न्याययुक्ति अथवा प्रत्यय, निर्णय और तर्क या अनुमान आदि पाश्चात्य तर्कविद्या के प्रमुख अङ्ग कहलाते हैं।[१४] साथही परिभाषा, विभाजन, वर्गीकरण आदि कुछ गौण समस्याओं का भी इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। भारतीय तर्कशास्त्र के प्रधान अङ्गों का विभाजन इस प्रकार नहीं हुआ है। यहाँ ज्ञान और उसके विभिन्न साधन ही तर्कशास्त्र के प्रमुख अङ्ग माने जाते हैं, तथा प्रमेय, आत्मा, ईश्वर आदि विषयक सिद्धान्तों की चर्चा भी इसके अन्तर्गत की जाती है।

विचार दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। 'वीरेन्द्र' एक विशेष

व्यक्ति का विचार है, जबकि 'मनुष्य' सामान्य व्यक्तियों का। मनुष्य के विचार में उन समान तथा अनिवार्य गुणों का बोध होता है, जो प्रत्येक मनुष्य में आवश्यक रूप से पाये जाते हैं। सामान्य विचार ही प्रत्यय या धारणा कहलाता है। इसलिये मनुष्य का विचार प्रत्यय है, क्योंकि उसमें समस्त मनुष्यों में पाये जाने वाला 'मनुष्यत्व' समान तथा अनिवार्यगुण पाया जाता है। निर्णय उस मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें दो प्रत्ययों की परस्पर तुलना की जाती है। जैसे 'मनुष्य मरणशील है' इस निर्णय में मनुष्य और मरणशील इन दो प्रत्ययों की तुलना संयुक्त की गयी है। इसी प्रकार अनुमान उस मानसिक क्रिया का फल है, जिसमें एक या एक से अधिक निर्णयों के द्वारा, एक ऐसे नवीन निर्णय की ओर अग्रसर हुआ जाता है, जो उनसे आवश्यक रूप से फलित होता है। जैसे, सब मनुष्य मरणशील हैं।

∴ कुछ मरणशील प्राणी मनुष्य हैं।

अथवा

सब मनुष्य मरणशील हैं,

वीरेन्द्र एक मनुष्य है,

∴ वीरेन्द्र मरणशील है।

प्रथम दो अङ्गों का सम्बन्ध भारतीय शब्द प्रमाण से होने के कारण, यहाँ उनका लम्बा चौड़ा विवरण देना अनावश्यक प्रतीत होता है, फिर भी अनुमान में उपयोगी होने के कारण उनका संक्षिप्त परिचय देना संदर्भ से विलग नहीं होगा। विचार का सरलतम परिणाम निर्णय होता है और उसे भाषा में अभिव्यक्त करने पर तर्कवाक्य या वाक्य कहा जाता है। जब तर्कवाक्य अपने सम्पूर्ण तार्किक स्वरूप में उपस्थित किया जाता है, तब उसके तीन अङ्ग होते हैं—उद्देश्य, विधेय और संयोजक। उद्देश्य वह है, जिसके बारे में कुछ कहा जाता है। जिसका उद्देश्य के सम्बन्ध में विधान अथवा निषेध किया जाय, उसे विधेय कहा जाता है। संयोजक उद्देश्य और विधेय के सम्बन्ध का प्रतीक है। तर्कवाक्य के उद्देश्य और विधेय को पद कहा जाता है। पद को अंग्रेजी में 'टर्म' कहा जाता है, जो लेटिन भाषा के 'टर्मिनस' शब्द का संक्षिप्त रूप है, जिसका अर्थ है सीमा या छोर। उद्देश्य तर्कवाक्य के आदि छोर में अवस्थित रहता है, जबकि विधेय अन्तिम छोर पर।[१५] जैसे, मनुष्य मरणशील है 'मनुष्य पूर्ण नहीं है' इन तर्कवाक्यों में 'मनुष्य' उद्देश्य 'मरणशील' तथा 'पूर्ण' विधेय तथा 'है' और 'नहीं है' संयोजक हैं। यहाँ मनुष्य को इसलिए उद्देश्य कहा गया है कि उसके बारे में मरणशीलता का विधान हुआ है तथा दूसरे वाक्य में पूर्णता का निषेध। मरणशील और पूर्ण को इसलिए विधेय कहा गया है कि उद्देश्य 'मनुष्य' के बारे में प्रथम का विधान तथा द्वितीय का निषेध किया गया है। संयोजक उद्देश्य और विधेय के बीच केवल संगति या असंगति के सम्बन्ध का परिचायक प्रतीक है। इसलिये यह सर्वदा वर्तमान काल में ही प्रयुक्त किया जाता है। तर्कशास्त्र की दृष्टि से समस्त शब्दों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—पद योग्य और पद संयोज्य। जो शब्द निरपेक्ष रूप से स्वयं पद की तरह प्रयुक्त किया जा सकता हो, उसे पद योग्य तथा जो स्वयं पद की तरह प्रयुक्त न होकर, किसी पद योग्य शब्द के साथ संयुक्त होकर, पद योग्य शब्द बनाने में सहायक हो, उसे पद संयोज्य कहते हैं। इस प्रकार व्याकरण के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि शब्द पद योग्य हैं। किन्तु क्रिया, क्रियाविशेषण, संकेत-

सम्बन्ध-विस्मयादिबोधक शब्द नहीं। अतः प्रत्येक पद व्याकरण का शब्द अथवा शब्द समूह हो सकता है, किन्तु व्याकरण का प्रत्येक शब्द पद नहीं।[१६] पाश्चात्य तर्कशास्त्र में पदों के अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। जैसे, एक शब्दात्मक, और अनेक शब्दात्मक; विशिष्ट और सामान्य; समूहवाचक और असमूहवाचक; वस्तुवाचक और भाववाचक; विधानात्मक, निषेधात्मक एवं राहित्यबोधक; निरपेक्ष और सापेक्ष; गुणवाचक और अगुणवाचक आदि।[१७] इसी प्रकार प्रत्ययों के उस संयोग का नाम निर्णय है, जिसमें किसी वस्तु की सत्यता अथवा असत्यता का परिचय मिलता है। भाषा में प्रकाशित होने पर निर्णय तर्कवाक्य कहलाता है। किन्तु प्रत्येक वाक्य तर्कवाक्य नहीं हो सकता, केवल उन्हीं वाक्यों को तर्कवाक्य कहा जा सकता है, जिसमें किसी वस्तु की यथार्थता अथवा अयथार्थता निहित रहती हो।[१८] जैसे, उक्त दोनों वाक्य तर्कवाक्य है, जिनमें मनुष्य के बारे में मरणशीलता का विधान तथा पूर्णता का निषेध किया गया है, किन्तु 'एक प्रार्थना' वाक्य हो सकता है, लेकिन तर्कवाक्य नहीं, क्योंकि इसमें सत्यता अथवा मिथ्यात्व दोनों का अवधारण नहीं होता। ऊपर बतलाया जा चुका है कि तर्कवाक्य, उद्देश्य, विधेय और संयोजक इन तीन अङ्गों में विश्लेषित किया जाता है, जिसमें दो पदों के मध्य किसी सम्बन्ध का विधान अथवा निषेध होता है। इसमें उद्देश्य तथा विधेय के गुण तथा परिमाण का स्पष्ट अवबोध होता है। इसलिये प्रत्येक तर्कवाक्य व्याकरण का वाक्य हो सकता है, किन्तु हरएक व्याकरण वाक्य तर्कवाक्य नहीं। इस प्रकार इच्छार्थक, आज्ञाबोधक, विस्मयादिबोधक आदि वाक्य तर्कवाक्य नहीं हो सकते।[१९] सामान्यतः कान्ट के पदार्थ-विभाजन का अनुगमन करते हुए परिमाण, गुण, सम्बन्ध और विधि के अनुसार प्रत्येक के तीन-तीन भेद मानते हुए तर्कवाक्यों के बारह भेद किये जाते हैं—

१. परिमाण के अनुसार—(१) विशिष्ट (व्यक्तिवाचक या एक व्यापी)—यह उ वि है।
(२) विशेष या अंशव्यापी—कुछ उ वि है।
(३) सामान्य या सर्वव्यापी—सब उ वि हैं।

२. गुण के अनुसार —(१) विधानात्मक या विधायक—सब उ वि हैं।
(२) निषेधात्मक या निषेधक—कोई उ वि नहीं है।
(३) अपरिमित—सब अ अ-वि हैं।

३. सम्बन्ध के अनुसार —(१) निरपेक्ष या निरूपाधित—उ वि है।
(२) अभ्युपगत या हेत्वाश्रित—यदि उ वि है तो क र है।
(३) वैकल्पिक या वियोजक—या तो उ वि है या क र है।

४. विधि के अनुसार —(१) संभावित या अनिश्चयात्मक—उ वि हो सकता है।
(२) प्रतिज्ञात या अस्तिवाचक—उ वि है।
(३) आवश्यक या अनिवार्य—उ को वि होना ही चाहिये।[२०]

जोसेफ[२१] ने गुण के तृतीय भेद को न मानते हुए शेष ग्यारह भेद, वेलटन[२२] ने चतुर्थ वर्ग और द्वितीय वर्ग के तृतीय भेद के अतिरिक्त सभी सात भेदों को मान्य किया है। स्टेबिंग[२३] और कोहेन तथा निगल[२४] ने रचना के अनुसार तर्कवाक्यों के तीन भेद किये हैं—(१) साधारण, (२) मिश्रित और (३) सामान्य तथा मिश्रित में तृतीय वर्ग के तीनों भेदों को समाविष्ट किया है। इन तीन भेदों के अतिरिक्त दोनों ने कुछ भेद और

भी पारम्परिक तर्कशास्त्र के अनुसार प्रतिपादित किये हैं ।[२५] शिलर[२६] ने कीनेस द्वारा समर्थित सभी बारह भेदों को संक्षिप्त रूप से विवेचित करते हुए, उनकी आलोचना की है । साथ ही इन्होंने कान्ट द्वारा समर्थित विश्लेषक और संश्लेषक वाक्यों का भी खण्डन किया है, जिन्हें वेल्टन ने भी, सम्बन्ध वर्ग के प्रथम भेद को दो उपभेदों के रूप में व्यक्त करते हुए, उचित नहीं ठहराया है ।[२७]

पदों और वाक्यों के संक्षिप्त परिचय के उपरान्त पदों के वस्त्वर्थ निर्देश तथा गुणार्थ एवं तर्कवाक्यों में पदों की व्याप्ति को भी समझ लेना आवश्यक है । प्रत्येक पद का अर्थ दो प्रकार से समझा जा सकता है—निर्देश अथवा गुणार्थ द्वारा । निर्देश के द्वारा उन समस्त व्यक्तियों को प्रदर्शित किया जाता है, जिनके लिये वह पद प्रयुक्त हुआ है । गुणार्थ द्वारा उन विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो उस पद द्वारा निर्दिष्ट व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहती हैं । उदाहरणार्थ 'त्रिभुज' पद समस्त त्रिभुजों का निर्देश करता है और उस अनिवार्य गुण को अभिव्यक्त करता है जो सब त्रिभुजों में समान रूप से पाया जाता है—'तीन सीधी रेखाओं से वेष्ठित समतल आकृति का होना ।'[२८] मिल[२९] के इन पदों को पारम्परिक तर्कशास्त्रियों ने 'विस्तार' और 'स्वभाव' के रूप में व्यक्त किया गया है, जिनका विस्तृत विवेचन जोसेफ की पुस्तक में उपलब्ध होता है ।[३०] निर्देश और गुणार्थ में प्रतिलोम-अनुपात का सम्बन्ध रहता है । आशय यह कि जब प्रथम बढ़ता है तो द्वितीय घटता है तथा जब द्वितीय बढ़ता है तो प्रथम घटता है ।[३१] गुण और परिमाण के आधार पर तर्कवाक्य चार प्रकार के हो सकते हैं । (१) सामान्य विधानात्मक, (२) सामान्य निषेधात्मक, (३) विशेष विधानात्मक एवं (४) विशेष निषेधात्मक । इनको सांकेतिक भाषा में 'ए', 'ई', 'ऐ', और 'ओ' तथा उद्देश्य को 'उ' और विधेय को 'वि' के रूप में व्यक्त किया जा सकता है । पारम्परिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से तर्कशास्त्र के उद्देश्य और विधेय पद कहलाते हैं, जो किसी न किसी वर्ग का निर्देश करते हैं । जब कोई पद, वर्ग के सम्पूर्ण विस्तार या निर्देश में गृहीत हो तो वह पूर्ण-व्यापी या व्याप्त कहलाता है और जब उसका ग्रहण वर्ग के केवल एक भाग के विस्तार में हो तब अंशव्यापी अथवा अव्याप्त ।[३२] सामान्य विधानात्मक ए तर्कवाक्य—'सब उ वि हैं'—'सब मनुष्य मरणशील हैं' में उद्देश्य पद 'मनुष्य' अपने सम्पूर्ण विस्तार में गृहीत होने से व्याप्त तथा विधेय पद 'मरणशील' के पूर्ण निर्देश के बारे में कोई स्पष्ट संकेत न होने से अव्याप्त कहलाता है । सामान्य निषेधात्मक ई तर्कवाक्य—'कोई भी उ वि नहीं है'—'कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है' में उद्देश्य और विधेय दोनों पद सम्पूर्ण विस्तार में गृहीत किये गये हैं, अतः दोनों व्याप्त हैं । विशेष विधानात्मक ऐ तर्कवाक्य—'कुछ उ वि हैं'—'कुछ मनुष्य चतुर हैं' में उद्देश्य पद आंशिक विस्तार तथा विधेय पद का निर्देश स्पष्टतः अंकित न होने से उद्देश्य अंशव्यापी और विधेय अव्याप्त है । विशेष निषेधात्मक तर्कवाक्य—'कुछ उ वि नहीं हैं'—'कुछ मनुष्य चतुर नहीं हैं' में उद्देश्य के बारे में कोई निर्देश न होने से वह अव्याप्त है, किन्तु विधेय व्याप्त है, कारण निषेधात्मक तर्क वाक्य में, विधेय या तो सम्पूर्ण उद्देश्य के सम्बन्ध में अस्वीकार किया जाता है (ई तर्कवाक्य के समान) अथवा आंशिक उद्देश्य के बारे में अस्वीकार किया जाता है, जैसा कि प्रकृत वाक्य में । सारांशतः ए तर्कवाक्य में उद्देश्य व्याप्त विधेय अव्याप्य रहता है, ई तर्कवाक्य में उद्देश्य और विधेय दोनों व्याप्त रहते हैं, ऐ तर्कवाक्य में उद्देश्य तथा

विधेय दोनों अव्याप्त रहते हैं तथा आ तर्कवाक्य में उद्देश्य अव्याप्त तथा विधेय व्याप्त रहता है।[33] उद्देश्य की भांति हेमिल्टन ने विधेय पद का परिमाण भी व्यक्त किया है,[34] किन्तु तर्क की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण उनके सिद्धान्त की उत्तरवर्ती तर्कशास्त्रियों ने कटु आलोचना की है।[35]

भारतीय तर्कशास्त्र में पद और वाक्य का विवेचन शब्द प्रमाण के अन्तर्गत किया जाता है। यहाँ शब्द और अर्थ की वाचकता पर जितना गहन चिन्तन हुआ है, उतना पाश्चात्य दर्शन में नहीं। शब्द के साथ अर्थ का जो सम्बन्ध रहता है, उसे शक्ति कहा जाता है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार 'इस शब्द से यह अर्थ निस्सरित होता है' इस प्रकार के सम्बन्ध को, जो सृष्टि के आदि में ईश्वर द्वारा निश्चित किया जाता है, अर्थात् ईश्वर इच्छा को संकेत माना जाता है, किन्तु नव्यन्याय में इच्छामात्र को शक्ति स्वीकार किया गया है, जिसमें ईश्वरेच्छा तथा मनुष्य-इच्छा दोनों सम्मिलित हैं।[36] जिस शब्द में अर्थ को प्रकाशित करने की शक्ति रहती है, उसे पद कहा जाता है।[37] इस प्रकार बालक के मुंह से होने वाले 'आक', 'आबा' आदि शब्द पद नहीं कहलाते अर्थात् प्रत्येक शब्द पद नहीं है, किन्तु शक्तियुक्त शब्द ही पद कहलाता है। शक्ति के आधार पर पदों के चार भेद किये जाते हैं—(१) रूढ़, (२) यौगिक, (३) योगरूढ़ तथा यौगिक-रूढ़।[38] पदों के उस समूह को वाक्य कहा जाता है,[39] जो आसत्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा एवं तात्पर्य से युक्त हो।[40] वाक्य की सार्थकता के लिये उक्त चार विशेषण आवश्यक है। इसलिये पदों के हर किसी समुदाय, जैसे, 'कलम घड़ी लोटा घोड़ा' आदि को वाक्य नहीं कहा जाता, वरन् जिसमें अर्थवाहकता की दृष्टि से आसत्ति आदि चार विशेषण पाये जाते हैं, वही वाक्य कहलाता है। सामान्यतः सभी दार्शनिकों ने वाक्य के दो भेद माने हैं—वैदिक और लौकिक।[41] इन्हें न्यायसूत्रकार ने अदृष्टार्थ और दृष्टार्थ कहा है[42] और जैन दार्शनिकों ने लौकिक और लोकोत्तर।[43] प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार वैदिक वाक्य ही प्रमाण माने गये हैं, लौकिक वाक्य नहीं। इस प्रकार यहाँ पदों और वाक्यों का विभाजन भिन्न प्रकार से हुआ है। लक्षण की दृष्टि से पद और वाक्य भेद पाश्चात्य तर्कशास्त्रीय भेदों से अधिक उपयुक्त हैं।

भारतीय दर्शन में शब्द प्रमाण पर मीमांसकों ने व्यापक रूप से विचार किया है। उसके अनुसार वाक्य का विश्लेषण उद्देश्य और विधेय में किया जा सकता है। संस्कृत भाषा में विभक्ति का प्रयोग शब्दों के साथ होता है, अतः यहाँ पाश्चात्य तर्कशास्त्र के तृतीय घटक 'संयोजक' की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।[44] पाश्चात्य तर्कशास्त्री बोसांके तथा जानसन ने भी यह मत प्रतिपादित किया है कि आकारिक दृष्टि से ही संयोजक का कुछ मूल्य है, किन्तु इसे वाक्य का अवियोज्य अङ्ग नहीं कहा जा सकता, कारण उद्देश्य और विधेय इन दो मुख्य अंगों में ही वह परिसमाप्त हो जाता है।[45]

पदों की व्याप्ति के विषय में भी यहाँ भिन्नता देखी जाती है। यहाँ पक्ष पद सदैव स्थिर रहता है। उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन न होने के कारण, उसके व्याप्त होने का प्रश्न नहीं उठता। अन्वय और व्यतिरेक अनुमान प्रयोगों में साधन और साध्य की स्थिति अवश्य बदल जाती है लेकिन दोनों अवस्थाओं में अनुमानोपयोगी व्याप्ति हेतु में ही रहती है। साधन, साध्य से कम अथवा समान व्याप्ति रखने के कारण व्याप्य तथा साध्य, साधन से अधिक अथवा समान व्याप्तियुक्त होने के कारण व्यापक कहलाता है।

अन्वय प्रयोग में साधन व्याप्य और साध्य व्यापक तथा व्यतिरेक प्रयोग में इसके विपरीत साध्याभाव व्याप्य तथा साधनाभाव व्यापक होता है। सम व्याप्ति वाले स्थलों में यद्यपि व्याप्य और व्यापक समान व्याप्ति रखते हैं, फिर भी व्याप्ति व्याप्य में ही रहती है, व्यापक में नहीं। विषय व्याप्तिविशिष्ट स्थलों में साध्य की व्याप्ति साधन से अधिक होती है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की भांति यहाँ अंशव्यापी अथवा अव्याप्त पदों के लिये कोई स्थान नहीं है, कारण अंशव्यापी हेतु भागासिद्ध तथा अव्याप्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है, क्योंकि साध्य के साथ साधन की अपवादविहीन, सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वदृष्टान्तिक व्याप्ति होना आवश्यक है, अंशिक व्याप्ति नहीं। इसके उपरान्त केवल व्याप्तियुक्त होना ही हेतु की यथार्थता के लिये पर्याप्त नहीं है क्योंकि पक्षधर्मता के अभाव में यथार्थ व्याप्ति वाला हेतु भी दूषित हो जाता है, अतः यहाँ दोनों का होना आवश्यक है। इस समस्या पर, तृतीय अध्याय में, यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

अनुमान लक्षण

अरस्तू की 'एनालिटिका प्रायरा' में दी गयी अनुमान परिभाषा से दो प्रकार के व्यवहित अनुमानों का बोध होता है—सामान्य से विशेष की ओर तथा (२) विशेष से सामान्य की ओर अग्रसर होने वाले अनुमान। प्रथम को उन्होंने न्याययुक्ति या निगमन-मूलक तथा द्वितीय को आगमनमूलक अनुमान कहा है।[४६] कान्ट के अनुसार किसी एक निर्णय की अन्य निर्णय से निष्पत्ति करना ही अनुमान है। यह निष्पत्ति मध्यम-निर्णय की सहायता से अथवा उसके अभाव में भी निष्पन्न हो सकती है, कान्ट की इसी परिभाषा के आधार पर उत्तरवर्ती तार्किकों ने अव्यवहित और व्यवहित दो प्रकार के अनुमान भेद स्वीकार किये हैं। कान्ट ने प्रथम को बुद्धिमूलक तथा अन्तिम को तर्क मूलक अनुमान कहा है।[४७] मिल के शब्दों में ज्ञात तथ्यों से वास्तविक नवीन सत्य का उद्भावन करना अनुमान है।[४८] अतः व्यापक रूप से ज्ञात तथ्यों से किसी अन्य निर्णय को निष्पादित करना अनुमान है। एक निर्णय द्वारा निष्पन्न अनुमान को अव्यवहित तथा कम से कम दो निर्णयों द्वारा निस्सरित होने वाले अनुमान को व्यवहित अनुमान कहा जाता है।[४९] वेल्टन और शीलर ने भी इसी परिभाषा का समर्थन किया है।[५०] उक्त सभी तथ्यों को संकलित करते हुए स्टेबिंग के अनुमान लक्षण को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है 'अनुमान वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें अनुमाता एक अथवा अनेक निर्णयों के आधार पर उनके परामर्श द्वारा एक ऐसे नवीन निष्कर्ष की ओर अग्रसर होता है, जो निश्चितरूप से उनसे फलित होता है।[५१] जोसेफ ने भी प्रायः इसी लक्षण का समर्थन किया है।[५२] वस्तुतः देखा जाय, तो उक्त सभी परिभाषाएं अरस्तू की न्याययुक्ति की परिभाषा—'उस युक्ति को न्याय युक्ति कहते हैं, जिसमें दिये हुए आश्रय तर्कवाक्यों के आधार पर एक नवीन निष्कर्ष निगमित होता है, जो आश्रय तर्कवाक्यों से आवश्यक रूप में फलित होता है'[५३] में निहित हैं। यद्यपि उन्होंने अव्यवहित अनुमान की ओर कोई संकेत नहीं किया है, किन्तु निगमनमूलक सभी अनुमान लक्षण उनके लक्षण से किसी न किसी रूप में उपपन्न किये जा सकते हैं। उक्त विवरण के अनुसार इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में न्यूनाधिक रूप से प्रायः सभी ने अरस्तू द्वारा प्रतिपादित अनुमान लक्षण का समर्थन किया है।

अनुमिति लक्षण और उसके कारण को लेकर जो ऊहापोह भारतीय दर्शन में

पायी जाती है, उसका वहाँ सर्वथा अभाव है । भद्रबाहु को छोड़कर किसी भी भारतीय दार्शनिक मत में मध्यम पद हेतु के अभाव में अनुमान निष्पन्न नहीं होता । पाँचवें अध्याय में बतलाया जा चुका है कि यद्यपि भद्रबाहु ने हेतु का उल्लंघन कर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के आधार पर भी अनुमान की सम्भावना व्यक्त की है, किन्तु उत्तरवर्ती जैन तथा अन्य दार्शनिकों ने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया । प्रथम अध्याय में वर्णित अनुमिति लक्षण और करण विषयक मन्तव्यों का परिशीलन करने पर विदित होगा कि समस्त भारतीय दार्शनिकों ने हेतु को ही अनुमितिकरण अनुमान कहा है । यह दूसरी बात है कि दार्शनिकों ने अपने-अपने मतानुसार उसमें यथार्थता अंकित करने के लिये, लिङ्ग-ज्ञान, ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यमान लिङ्ग, व्याप्ति युक्तलिङ्ग व्याप्ति और पक्षधर्मता विशिष्ट लिङ्ग आदि विशेषण लिङ्ग में निवेषित किये हैं । अतः भारतीय तर्कशास्त्र में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अव्यवहित अनुमान, जिसमें अनुमान प्रक्रिया बिना किसी मध्यम पद के निष्पन्न होती है, के लिये कोई स्थान नहीं है । इस दृष्टि से भारतीय अनुमान लक्षण पाश्चात्य अनुमान लक्षण से अधिक मौलिक, परिष्कृत तथा ठोस है ।

प्रत्येक निरपेक्ष न्याययुक्ति में तीन निरपेक्ष वाक्य तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले तीन और केवल तीन ही पदों का होना आवश्यक है । अरस्तू के अनुसार प्रत्येक निरपेक्ष वाक्य में दो पद होते हैं । इसलिये इस न्याययुक्ति में प्रत्येक पद की दो बार आवृत्ति होती है । जो पद वाक्यों में प्रयुक्त किये जाते हैं, वे एक ओर तो वाक्यों में प्रयोग किये जाते हैं और दूसरी ओर निष्कर्ष के उद्देश्य और विधेय के रूप में रखे जाते हैं । इन्हीं उद्देश्य और विधेय पदों को अरस्तू द्वारा आत्यन्तिक पद कहा गया है । जो पद, उक्त दोनों आत्यन्तिक पदों में सामञ्जस्य स्थापित करता है, उसे मध्यम पद, निष्कर्ष के विधेय को गुरुपद एवं निष्कर्ष के उद्देश्य को लघुपद कहा जाता है । गुरु, लघु तथा मध्यम पदों से विशिष्ट होने के कारण ही गुरु पद युक्त वाक्य को गुरुवाक्य, लघुपद विशिष्ट वाक्य को लघुवाक्य तथा मध्यमपद वाले वाक्य को मध्यम वाक्य कहा जाता है । मध्यम पद का कार्य केवल दोनों आत्यन्तिक पदों में परस्पर परिचय अथवा संगति स्थापित करना है, इसीलिए अपना कार्य सम्पादित करने के पश्चात् वह निष्कर्ष से लुप्त हो जाता है ।[५४] कीनेस ने भी कहा है 'जो पद निष्कर्ष का उद्देश्य बनकर अन्य किसी वाक्य में आवृत्त होता है, वह लघु-पद और जो पद निष्कर्ष का विधेय होता हुआ अन्य किसी वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है, उसे गुरूपद कहा जाता है । जो पद दो वाक्यों में प्रयुक्त होने पर भी निष्कर्ष में लुप्त रहता है, वह मध्यम पद कहलाता है । इसी पद द्वारा अन्य दो पदों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है । न्याययुक्ति के प्रथम दो वाक्य आश्रय अथवा आधार वाक्य तथा अन्तिम वाक्य निष्कर्ष कहलाता है । साधारणतया पाश्चात्य न्याययुक्ति में गुरू-वाक्य को प्रथम तथा निष्कर्ष वाक्यों को अन्त में रखा जाता है, किन्तु वाक्यों की क्रम व्यवस्था पर ही अनुमान की यथार्थता अवलम्बित नहीं रहती ।[५५] 'सम्भवतः पदों की व्याप्ति के आधार पर अरस्तू ने पदों और वाक्यों को इस रूप से अभिहित किया हो । सारांशतः पाश्चात्य न्याययुक्ति के तीन पद मौलिक घटक हैं, जो तीन ही वाक्यों में दो-दो बार आवृत्त होते हैं ।

भारतीय अनुमान में भी तीन ही मौलिक घटक माने जाते हैं—पक्ष, साध्य और हेतु, जिनकी तुलना पाश्चात्य अनुमान के लघुपद, गुरूपद तथा मध्यम पद से की जा

सकती है। सुविधा की दृष्टि से यहाँ गुरु, लघु तथा मध्यम पदों के स्थान में साध्य, पक्ष तथा हेतु पदों तथा सांकेतिक रूप में 'सा', 'प' तथा 'हे' के रूप में प्रयुक्त किया गया है। द्वितीय अध्याय में विवेचित इन घटकों के लक्षणों से विदित होगा कि केवल वाक्य में उद्देश्य, विधेय अथवा दोनों पदों के संयोजक होने से पक्ष, साध्य अथवा हेतु नहीं बन जाते, वरन् वे अपनी-अपनी विशिष्टताओं से युक्त होकर ही इन नामों से अभिहित किये जाते हैं। अवयव वाक्यों में पदों की दो बार आवृत्ति होना भी यहाँ आवश्यक नहीं है, क्योंकि तीन अवयव वाक्य माननेवाली मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध और जैन परंपराओं में तो इस प्रकार की आवृत्ति पाई जाती है, किन्तु दो और एक अवयव माननेवाली बौद्ध और जैन परम्परा में नहीं। इसी प्रकार पञ्चावयवी न्याय दर्शन के अवयव प्रयोग में प्रत्येक पद की तीन बार आवृत्ति होती है, जबकि दशावयववादी न्याय जैन परम्परा में अनेक। अतः भारतीय अनुमान की मौलिक घटक व्याख्या, पाश्चात्य व्याख्या से अधिक परिमार्जित है, क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान को विधिवत ग्रहण करने के लिये ही यहाँ अवयव वाक्यों में पदों की आवृत्ति होती है।

अनुमान के भेद, आवश्यक नियम तथा अवयव प्रयोग

यद्यपि अरस्तू ने अनुमान को व्यवहित ज्ञान मानते हुए उसके दो भेद निगमन-मूलक और आगमनमूलक ज्ञापित किये हैं, किन्तु कान्ट के पश्चात् पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान के दो मुख्य भेद—अव्यवहित अनुमान और व्यवहित अनुमान प्रचलित हो गये हैं। इन दोनों के और भी अवान्तर भेद किये गये हैं।

अव्यवहित अनुमान

उस युक्ति को अव्यवहित अनुमान कहा जाता है, जिसमें निगमन बिना किसी मध्यम निर्णय की सहायता से एक ही निर्णय द्वारा निगमित किया जाता है।[५६] कान्ट की इस परिभाषा का प्रायः सभी उत्तरवर्ती तर्कशास्त्रियों ने अनुगमन किया है।[५७] कान्ट ने अपनी पदार्थ विवेचना के आधार पर अव्यवहित अनुमान के चार भेद माने हैं—(१) परिमाण के अनुसार उपाश्रितता, (२) गुण के अनुसार विरोध, (३) सम्बन्ध के अनुसार परिवर्तन एवं (४) विधि के अनुसार परिवर्तित प्रतिवर्तन।[५८] उबरवेग ने इनमें सम्बन्ध रूपान्तर, प्रतिवर्तन और विध्यनुकूल परिणाम ये तीन भेद और जोड़कर सात भेद स्वीकार किये हैं।[५९] कीनेस ने, परिवर्तन, प्रतिवर्तन, परिवर्तित प्रतिवर्तन, विपर्यय इन चार भेदों को मुख्य मानते हुए विशेषण संयोजनात्मक, मिश्रधारणात्मक, सम्बन्ध रूपान्तर एवं विध्यनुकूल परिणाम इन चार भेदों को गौण रूप से प्रतिपादित कर, आठ भेद माने हैं।[६०] उन्होंने विरोध का विवेचन पृथक् रूप से किया है।[६१]

इन सभी भेदों को संकलित करते हुए वेल्टन ने अव्यवहित अनुमान के प्रथमतः दो मुख्य भेद—विरोध (अथवा वाक्य विरोध) तथा निष्कर्षण मानते हुए प्रथम के अन्तर्गत उपाश्रितता, व्याघातकता, विपरीतता, अनुविपरीतता आदि चार भेद तथा द्वितीय में प्रतिवर्तन, परिवर्तन, परिवर्तित प्रतिवर्तन, विपर्यय आदि चार भेद समाविष्ट किये हैं। इन आठ भेदों के अतिरिक्त, उन्होंने विशेषणसंयोजनात्मक तथा मिश्रधारणाश्रित ये दो भेद भी गौण रूप से प्रतिपादित किये हैं।[६२] स्टेबिंग ने कीनेस प्रतिपादित प्रथम चार मुख्य भेदों को माना है।[६३] जबकि कोहेन और निगल ने उनके अन्तिम गौणभेद विध्यनुकूल परिणाम के अतिरिक्त सभी सात भेदों का विवेचन किया है।[६४]

विरोध

दो वाक्यों के पारस्परिक उस सम्बन्ध को विरोध कहते हैं, जिनमें वाक्यों के उद्देश्य और विधेय तो समान होते हैं, किन्तु गुण, परिमाण अथवा दोनों में अन्तर होता है।[६५] यह चार प्रकार का होता है—उपाश्रितता, व्याघातकता, विपरीतता एवं अनु-विपरीतता।[६६]

उपाश्रितता

इस सम्बन्ध की सत्ता समान गुणयुक्त सामान्य-विशेष वाक्यों में पायी जाती है अर्थात् जहाँ दो वाक्यों में परिमाण सम्बन्धी अन्तर तो हो, किन्तु गुण सम्बन्धी अन्तर नहीं। इस प्रकार यह सम्बन्ध ए और ऐ तथा ई और ओ वाक्यों में पाया जाता है।[६७] इनमें दिये हुए सामान्य वाक्य से समान गुणवाला विशेष वाक्य निगमित किया जा सकता है, किन्तु विलोम नहीं।[६८] उदाहरणार्थ—

(१) ए — सब मनुष्य मरणशील हैं;
∴ ऐ — कुछ मनुष्य मरणशील हैं।
(२) ई — कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है;
∴ ओ — कुछ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं।

व्याघातकता

दो वाक्यों के ऐसे सम्बन्ध को व्याघातकता कहा जाता है, जिनके गुण और परिणाम दोनों में अन्तर रहता है। यह सम्बन्ध ए और ओ तथा ई और ऐ वाक्यों में पाया जाता है।[६९] इस सम्बन्ध की विशिष्टता यह है कि इसके दोनों वाक्य न तो सत्य हो सकते हैं और न मिथ्या ही।[७०] जैसे—

(१) ए — सब मनुष्य मरणशील हैं;
∴ ओ — कुछ मनुष्य मरणशील नहीं हैं।
(२) ई — कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है;
∴ ओ — कुछ मनुष्य पूर्ण हैं।

विपरीतता

दो सामान्य वाक्यों के ऐसे सम्बन्ध को विपरीतता कहा जाता है, जहाँ वाक्यों में विरोधी गुण पाये जाते हों। आशय यह कि इस सम्बन्ध में विशिष्ट वाक्यों में गुणों में अन्तर रहता है, परिमाण में नहीं। यह सम्बन्ध ए तथा ई वाक्यों में प्रयुक्त होता है।[७१] तात्पर्य यह कि दोनों वाक्य मिथ्या तो हो सकते हैं, किन्तु सत्य नहीं।[७२] जैसे—

ए — सब मनुष्य मरणशील हैं;
∴ ई — कोई भी मनुष्य मरणशील नहीं है।

अनुविपरीतता

विशेष वाक्यों में एक दूसरे के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है। यह सम्बन्ध ऐ तथा ओ वाक्यों में उपलब्ध होता है।[७३] इस सम्बन्ध की विशेषता यह कि इसके अन्तर्गत दोनों वाक्य सही तो हो सकते हैं, मिथ्या नहीं।[७४] जैसे—

ऐ — कुछ मनुष्य विद्वान् होते हैं;
∴ ओ— कुछ मनुष्य विद्वान् नहीं होते ।

अरस्तू ने व्याघातकता और विपरीतता सम्बन्ध को ही विरोध मूलक माना है ।[७५] जानसन का समर्थन करते हुए स्टेबिंग ने वाक्यों के बीच स्थापित होने वाले इन चार सम्बन्धों के अतिरिक्त स्वाधीनता, समानता तथा अधिआश्रितता सम्बन्ध और भी माने हैं[७६] जिनका समर्थन कोहेन और निगल ने भी किया है ।[७७]

इस विशेष सिद्धान्त से दो महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्भावन होता है—दो वाक्यों का पारस्परिक सम्बन्ध और दो समान उद्देश्य और विधेय वाले वाक्यों में से, एक के सत्य अथवा मिथ्या होने से अन्य सब वाक्यों में से कौन सही, मिथ्या अथवा संदिग्ध है इस बात का अनुमान किया जा सकता है । पारिभाषिक रूप से ए, ई, ऐ तथा ओ इन चार वाक्यों में एक के विरोधी शेष तीन वाक्य होते हैं । इस प्रकार द्वितीय तथ्य को दृष्टि में रखते हुए निम्न लिखित तालिका दी जा सकती है, जिसके आधार पर एक वाक्य के सत्य अथवा मिथ्या होने पर अन्य वाक्यों की सत्यता, मिथ्यात्व अथवा संदिग्धता का अनुमान किया जा सकता है ।[७८]

दिये गये आधार वाक्य		अनुमानित वाक्य			
		ए	ओ	ई	ऐ
१	ए सत्य हो	—	मिथ्या	मिथ्या	सत्य
२	ए असत्य हो	—	सत्य	संदिग्ध	संदिग्ध
३	ई सत्य हो	मिथ्या	सत्य	—	मिथ्या
४	ई असत्य हो	सन्दिग्ध	सन्दिग्ध	—	सत्य
५	ऐ सत्य हो	सन्दिग्ध	सन्दिग्ध	मिथ्या	—
६	ऐ असत्य हो	मिथ्या	सत्य	सत्य	—
७	ओ सत्य हो	मिथ्या	—	सन्दिग्ध	सन्दिग्ध
८	ओ असत्य हो	सत्य	—	मिथ्या	सत्य

कीनेस द्वारा प्रतिपादित इस तालिका का स्टेबिंग, कोहन और निगल, बेल्टन, फिशर आदि सभी तार्किकों ने अनुगमन किया है ।[७९]

निष्कर्षण या सद्योऽनुमान

अव्यवहित अनुमान के वे रूप निष्कर्षण कहलाते हैं, जिनमें दिये हुए एक वाक्य को सत्य मानकर, ऐसे अन्य वाक्य निगमित किये जाते हैं, जिनके उद्देश्य, विधेय अथवा दोनों ही दिये गये वाक्य से भिन्न हों तथा जिनका सत्य उसमें ध्वनित रहता है ।[८०] प्रत्येक निरपेक्ष वाक्य में दो पद-उद्देश्य और विधेय होते हैं, जिसमें विधेय का उद्देश्य के बारे में विधान अथवा निषेध किया जाता है । इस प्रकार प्रत्येक विधानात्मक पद का कोई न कोई निषेधात्मक पद अवश्य होता है । अतः प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से निरपेक्ष वाक्य में चार पद हो सकते हैं—उद्देश्य, विधेय, अ-उद्देश्य एवं अ-विधेय । इन चारों से संयोग से निष्कर्षण के मुख्यतः चार भेद—प्रतिवर्तन, परिवर्तन, परिवर्तितप्रतिवर्तन एवं विपर्यय किये जा सकते हैं ।[८१]

प्रतिवर्तन

अनुमान के उस रूप को प्रतिवर्तन कहा जाता है, जिसमें दोनों वाक्यों का उद्देश्य तो समान रहता है, किन्तु एक का विधेय दूसरे का निषेधक अथवा व्याघातक होता है और दोनों वाक्यों के गुण भिन्न-भिन्न होते हैं।[८२] इस परिभाषा में कीनेस, वेल्टन तथा स्टेबिंग के लक्षणों का समन्वय पाया जाता है।[८३] जिस मूल वाक्य का परिवर्तन किया जाता है, वह प्रतिवर्त्य तथा जिसके आधार पर इस वाक्य का अनुमान किया जाता है, वह प्रतिवर्तित कहलाता है। यथार्थ प्रतिवर्तन के लिये यह नियम आवश्यक है कि प्रतिवर्त्य के विधेय को प्रतिवर्तित के विधेय में इस प्रकार बदला जाय कि वह उसका निषेधक अथवा व्याघातक हो और उसके गुणों में भिन्नता होने पर भी परिमाण में भिन्नता न हो। इस प्रकार ए, ई, ऐ एवं ओ वाक्यों का प्रतिवर्तन क्रमशः ई, ए, ओ तथा ऐ वाक्यों में होता है—[८४]

(१) ए — सब मनुष्य मरणशील हैं,
∴ ई — कोई भी मनुष्य अ-मरणशील नहीं है।

(२) ई — कोई भी विचारशील मनुष्य अन्धविश्वासी नहीं है,
∴ ए — सब विचारशील मनुष्य अ-अन्धविश्वासी होते हैं।

(३) ऐ — कुछ मनुष्य सुखी हैं,
∴ ओ — कुछ मनुष्य अ-सुखी है।

(४) ओ — कुछ मनुष्य धनवान नहीं हैं;
∴ ऐ — कुछ मनुष्य अ-धनवान हैं।

सामान्यतः इसे रूप प्रतिवर्तन भी कहा जाता है, किन्तु फोवलर, रे, स्टाक, उबरवेग; बोवेन, रे; बोवेन, जेवन्स, डी. मार्गन स्पाल्डिंग आदि तार्किकों ने इसको विभिन्न नामों से भी अभिहित किया है।[८५]

परिवर्तन

पदों के स्थानान्तरण द्वारा एक वाक्य से दूसरे वाक्य के निष्कर्षण को परिवर्तन कहा जाता है।[८६] कीनेस, स्टेबिंग तथा कोहेन और निगल के ग्रन्थों में भी यही लक्षण मान्य किया गया है।[८७] दिये हुए मूलवाक्य, जिसमें परिवर्तन किया जाता है, उसे परिवर्त्य तथा उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकाला जाता है, वह परिवर्तित कहलाता है। यथार्थ परिवर्तन में दो नियमों का पालन होना आवश्यक है—वाक्यों के गुण अपरिवर्तित रहना चाहिये तथा कोई भी पद परिवर्तित वाक्य में तब तक व्याप्त नहीं हो सकता, जब तक वह परिवर्त्य में व्याप्त नहीं हो।[८८] ए, ऐ तथा ई का परिवर्तन क्रमशः ऐ, ऐ तथा ई वाक्यों में होता है, ओ वाक्य का परिवर्तन नहीं होता।[८९] जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
(१) ए — सब मनुष्य मरणशील हैं,	∴ ऐ — कुछ मरणशील प्राणी मनुष्य हैं।
(२) ऐ — कुछ मनुष्य विद्वान् हैं,	∴ ऐ — कुछ विद्वान् लोग मनुष्य हैं।
(३) ई — कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है,	∴ ई — कोई भी पूर्ण प्राणी मनुष्य नहीं है।

ओ तर्कवाक्य का परिवर्तन इसलिये नहीं हो सकता कि प्रथम नियम के अनुसार इसका परिवर्तन निषेधमूलक ही होगा, इसलिये परिवर्त्य का उद्देश्य अव्याप्त रहेगा, किन्तु परि-

र्वतित में वह विधेय बन जाने के कारण व्याप्त हो जायगा, जो द्वितीय नियम के प्रतिकूल है।[९०]

कीनेस ने परिवर्तन के दो भेद प्रतिपादित किये हैं—साधारण और संकुचित। जहाँ परिवर्त्य और परिवर्तित वाक्यों का परिमाण समान रहता है, वहाँ साधारण तथा जहाँ भिन्न रहता है वहाँ संकुचित परिवर्तन होता है। जैसे ई और ऐ वाक्यों का परिवर्तन ई ओ ऐ अर्थात् सामान्य का सामान्य तथा विशेष का विशेष में होने के कारण साधारण परिवर्तन है। किन्तु ए का परिवर्तन यदि ऐ में किया जाय तो वह संकुचित होगा, क्योंकि दोनों के परिमाण भिन्न-भिन्न है।[९१] स्टेबिंग और वेल्टन ने भी इन भेदों की चर्चा की है।[९२]

वस्तुतः ही दोनों रूप ये मुख्य हैं, क्योंकि अन्तिम दो रूपों में इन्हीं का संयुक्त रूप सम्मिलित रहता है।

परिर्वतित प्रतिवर्तन

उस अव्यवहित अनुमान को परिर्वतित प्रतिवर्तन कहा जाता है, जिसमें दिये हुए वाक्य से एक ऐसा वाक्य निगमित किया जाता है, जिसका उद्देश्य मूल वाक्य के विधेय का व्याघातक हो।[९३] वेल्टन तथा स्टेबिंग ने भी इसी लक्षण को स्वीकार किया है।[९४] इस अनुमान में परिवर्तन और परिवर्तन दोनों का सम्मिलित प्रयोग होता है। इसीलिए इसकी यथार्थता के लिये जो नियम प्रतिपादित किया जाता है, उसमें पहले प्रतिवर्तन पश्चात् परिवर्तन किया जाना आवश्यक है।[९५] ए, ई तथा ओ का परिर्वतित प्रतिवर्तन क्रमशः ई, ऐ तथा ऐ वाक्यों में किया जाता है —[९६]

(१) मूल्यवाक्य—	ए	— सब मनुष्य मरणशील हैं;
प्रतिर्वतित वाक्य—	∴ई	— कोई भी मनुष्य अमर नहीं है;
परिर्वतित प्रतिर्वतित वाक्य—	∴ई	— कोई भी अमर प्राणी मनुष्य नहीं है।
(२) मूल वाक्य—	ई	— कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है;
प्रतिर्वतित वाक्य—	∴ए	— सब मनुष्य अपूर्ण हैं;
परिर्वतित प्रतिर्वतित वाक्य—	∴ऐ	— कुछ अपूर्ण प्राणी मनुष्य हैं।
(३) मूलवाक्य—	ओ	— कुछ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं;
प्रतिर्वतित वाक्य—	∴ए	— सब मनुष्य अपूर्ण हैं;
परिर्वतित प्रतिर्वतित वाक्य—	∴ऐ	— कुछ अपूर्ण प्राणी मनुष्य हैं।

ऐ वाक्य का परिर्वतित प्रतिवर्तन इसलिये नहीं होता कि उसका प्रतिवर्तन करने पर ओ वाक्य निगमित होगा, जिसका आगे परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[९७]

विपर्यय

उस अव्यवहित अनुमान को विपर्यय कहा जाता है, जिसमें दिये हुए वाक्य से एक ऐसा वाक्य अनुमित किया जाता है, जिसका उद्देश्य दिये हुए वाक्य के उद्देश्य का व्याघातक होता है। जिस मूल वाक्य का विपर्यय करना इष्ट हो, उसे विपर्येय तथा जो निष्कर्ष उससे फलित होता है, उसे विपर्यस्त कहा जाता है।[९८] वेल्टन और स्टेबिंग ने भी इसी लक्षण का समर्थन किया है।[९९] इसकी व्याख्या करते हुए स्टेबिंग ने इसके दो रूपों की चर्चा की है—निष्कर्ष का विधेय मूल विधेय के समान हो तथा निष्कर्ष का विधेय मूलविधेय का व्याघातक हो।[१००] प्रथम का आंशिक तथा द्वितीय को पूर्ण विपर्यय कहा

जा सकता है। इस अनुमान की यथार्थता के लिये परिवर्तन तथा प्रतिवर्तन दोनों की संयुक्त प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। परिवर्तन प्रक्रिया में परिवर्तन के पश्चात् प्रतिवर्तन तथा प्रतिवर्तन पद्धति में प्रतिवर्तन के अनन्तर परिवर्तन प्रक्रियाओं को एक के पश्चात् एक तब तक दोहराया जाता है, जब तक वांछित निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो जाता।[१०१] उदाहरणार्थ---

परिवर्तन पद्धति–

सब उ वि है,	मू. वा. (१) ए – सब मनुष्य मरणशील हैं,
∴ कुछ वि उ है,	∴ ऐ – कुछ मरणशील प्राणी मनुष्य हैं, परिवर्तन से
∴ कुछ वि अ-उ नहीं है।	∴ ओ – कुछ मरणशील प्राणी अ-मनुष्य नहीं हैं। प्रतिवर्तन से।
	किन्तु ओ वाक्य का परिवर्तन आगे सम्भव न होने से इस क्रिया को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।
कुछ उ वि हैं,	मू.वा. (२) ऐ – कुछ मनुष्य विद्वान् हैं,
∴ कुछ वि उ हैं,	∴ ऐ – कुछ विद्वान् मनुष्य हैं–परिवर्तन से
∴ कुछ वि अ-उ नहीं हैं।	∴ ओ – कुछ विद्वान् अ-मनुष्य नहीं हैं। प्रतिवर्तन से
	पूर्व की भांति इस क्रिया को भी आगे कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।
कोई भी उ वि नहीं है,	मू. वा. (३) ई – कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है,
∴ कोई भी वि उ नहीं है,	∴ ई – कोई भी पूर्ण प्राणी मनुष्य नहीं है,– परिवर्तन से
∴ सब वि अ-उ हैं,	∴ ए – समस्त पूर्ण (प्राणी) अ-मनुष्य हैं,– प्रतिवर्तन से
∴ कुछ अ-उ वि हैं,	∴ ऐ – कुछ अ-मनुष्य पूर्ण हैं,–परिवर्तन से– आंशिक विपर्यय
∴ कुछ अ-उ अ-वि नहीं है।	∴ ओ – कुछ अ-मनुष्य अ-पूर्ण नहीं है। प्रतिवर्तन से–पूर्ण विपर्यय
कुछ उ वि नहीं हैं	मू. वा. (४) ओ – कुछ मनुष्य विद्वान नहीं हैं, प्रथम, द्वितीय रूपों की तरह इसमें भी आगे परिवर्तन क्रिया लागू नहीं होगी।

प्रतिवर्तन पद्धति–

सब उ वि हैं,	मू. वा. (१) ए – सब मनुष्य मरणशील हैं,
∴ कोई भी उ अ-वि नहीं है,	∴ ई – कोई भी मनुष्य अ-मरणशील नहीं है,– प्रतिवर्तन से
∴ कोई भी अ-वि उ नहीं है,	∴ ई – कोई भी अ-मरणशील प्राणी मनुष्य

	नहीं है,–परिवर्तन से
∴ सब अ-वि अ-उ हैं,	∴ ए – सब अ-मरणशील प्राणी अ-मनुष्य हैं,–प्रतिवर्तन से
∴ कुछ अ-उ अ-वि हैं,	∴ ऐ – कुछ अ-मनुष्य अ-मरणशील हैं,–परिवर्तन से–पूर्ण विपर्यय
∴ कुछ अ-उ वि नहीं हैं।	∴ ओ – कुछ अ-मनुष्य मरणशील नहीं हैं।–प्रतिवर्तन से–आंशिक विपर्यय
कुछ उ वि हैं,	मू. वा. (२) ऐ – कुछ मनष्य विद्वान् हैं,
∴ कुछ उ अ-वि नहीं है।	∴ ओ – कुछ मनुष्य अ-विद्वान् नहीं हैं–प्रतिवर्तन से
	ओ का आगे परिवर्तन न होने से इस क्रिया द्वारा कोई फल उत्पन्न नहीं होता।
कोई भी उ वि नहीं है,	मू. वा. (३) ई – कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है,
∴ सब उ अ-वि हैं,	∴ ए – सब मनुष्य अ-पूर्ण हैं–प्रतिवर्तन से
∴ कुछ अ-वि उ हैं	∴ ऐ – कुछ अपूर्ण प्राणी मनुष्य हैं,–परिवर्तन से
∴ कुछ अ-वि अ-उ नहीं हैं।	∴ ओ – कुछ अ-पूर्ण प्राणी अ-मनुष्य नहीं हैं।–प्रतिवर्तन से
	पूर्व की तरह आगे परिवर्तन न हो सकने के कारण यह क्रिया निष्प्रयोजक सिद्ध होगी।
कुछ उ वि नहीं हैं,	मू. वा. (४) ओ – कुछ मनुष्य विद्वान् नहीं हैं,
∴ कुछ उ अ-वि हैं,	∴ ऐ – कुछ मनुष्य अ-विद्वान् हैं,–प्रतिवर्तन से
∴ कुछ अ-वि उ हैं,	∴ ऐ – कुछ अ-विद्वान् मनुष्य हैं–परिवर्तन से
∴ कुछ अ-वि अ-उ नहीं हैं।[१०२]	∴ ओ – कुछ अ-विद्वान् अ-मनुष्य नहीं हैं।–प्रतिवर्तन से
	पूर्व की भांति आगे की क्रिया यहाँ भी सम्पन्न नहीं होगी। अतः प्रथम पद्धति में ई वाक्य का ऐ वाक्य में आंशिक और ओ वाक्य में पूर्ण विपर्यय होता है।

द्वितीय क्रिया में ए वाक्य का ऐ में पूर्ण तथा ओ में आंशिक विपर्यय होता है, शेष वाक्यों का विपर्यय नहीं होता। कीनेस का समर्थन करते हुए वेल्टन और स्टेबिंग ने भी इन चार भेदों के अतिरिक्त प्रतिवर्तन का संयोग करते हुए प्रतिवर्तित परिवर्तन, प्रतिवर्तित परिवर्तित प्रतिवर्तन, तथा परिवर्तित विपर्यय आदि भेदों को भी अपनी तालिका में निर्दशित करते हुए व्याख्या की है।[१०३]

ब. गौण भेद—

विशेषण संयोजनात्मक अनुमान

इस अनुमान में किसी दिये हुए वाक्य के उद्देश्य तथा विधेय दोनों के साथ एक ही विशेषण जोड़ते हुए, उनको सीमित बनाकर संकीर्ण प्रयोग द्वारा एक नवीन वाक्य निग-

मित किया जाता है। इसकी यथार्थता के लिये यह नियम आवश्यक है कि निगमित निष्कर्ष दी हुई जाति का एक उपविभाग हो, क्योंकि जो तथ्य सम्पूर्ण जाति के लिए सत्य होता है, वह अंशों के लिये भी सत्य होता है।[१०४] उदाहरणार्थ—

सब ब्राह्मण मनुष्य हैं, ∴ सब तपस्वी ब्राह्मण तपस्वी मनुष्य हैं।

यहाँ उद्देश्य 'ब्राह्मण' और विधेय 'मनुष्य' में तपस्वी विशेषण जोड़कर उनके विस्तार को संकीर्ण बनाया गया है। किन्तु अनेकार्थक विशेषण के संयोग से अनुमान यथार्थ न रहकर अयथार्थ हो जाता है। जैसे—

कबूतर एक पक्षी है, ∴ बड़ा कबूतर एक बड़ा पक्षी है।

यह प्रयोग दोषयुक्त है, क्योंकि 'बड़े' का प्रयोग उद्देश्य और विधेय में भिन्न-भिन्न है।

मिश्रधारणानुमान

इस अनुमान में किसी दिये हुए वाक्य के उद्देश्य और विधेय में एक ही वाक्यांश जोड़कर उसे अधिक मिश्र विचारों का अङ्ग बनाते हुए संकुचित प्रयोग द्वारा एक ऐसा निष्कर्ष निगमित किया जाता है, जिससे उनके पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार का अन्तर प्रतिलक्षित न हो।[१०५] जैसे—

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, ∴ मनुष्य का मस्तिष्क एक विचारशील प्राणी का मस्तिष्क है।

पूर्व अनुमान की तरह इसमें अनेकार्थक वाक्यांश का संयोजन नहीं होना चाहिए, अन्यथा अनुमान यथार्थ नहीं होगा। जैसे—

सब प्राध्यापक अध्यापक होते हैं, प्राध्यापकों की अधिक संख्या अध्यापकों की अधिक संख्या है।

सम्बन्ध रूपान्तरण

यह अनुमान साधारण परिवर्तन के समान है, किन्तु इसका सम्बन्ध सम्बन्धियों से होता है अर्थात् इसमें उद्देश्य और विधेय परस्परापेक्ष होते हैं। इसकी यथार्थता के लिये पदों को एक दूसरे के साथ परिवर्तित कर दिया जाता है और दिये हुए सम्बन्ध के स्थान पर उसका विलोम। जैसे—

अ ब से बड़ा है, ∴ ब अ से छोटा है।

सिकन्दर फिलिप का पुत्र था, ∴ फिलिप सिकन्दर का पिता था।[१०६]

विध्यनुकूल अनुमान

इस अनुमान में एक विधि वाक्य की सत्यता अथवा मिथ्यात्व से दूसरे विधि वाक्यों की सत्यता अथवा मिथ्यात्व का अनुमान किया जाता है। इसकी यथार्थता अंकित करने के लिये यह नियम आवश्यक है कि अधिक बल या निश्चययुक्त वाक्य की सत्यता से न्यूनबल या निश्चय वाले वाक्य का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु विलोम नहीं। इस प्रकार आवश्यक वाक्य की सत्यता से प्रतिज्ञात तथा सम्भावित एवं प्रतिज्ञात वाक्य की सत्यता से सम्भावित वाक्य की सत्यताओं का अनुमान किया जा सकता है।[१०७] उदाहरणार्थ—

दो और दो चार होना चाहिये, — आवश्यक वाक्य
∴ दो और दो चार होते हैं। — प्रतिज्ञात वाक्य
∴ दो और दो चार हो सकते हैं। — सम्भावित वाक्य
पृथिवी गोल है, — प्रतिज्ञात वाक्य
∴ पृथिवी गोल हो सकती है। — सम्भावित वाक्य

किन्तु इके विपरीत यदि सम्भावित वाक्य की सत्यता से प्रतिज्ञात तथा आवश्यक वाक्यों की सत्यताओं का अनुमान किया जाय, तो अनुमान यथार्थ नहीं होगा। जैसे—

सूर्य मनुष्यों का आश्रय स्थल हो सकता है, — सम्भावित वाक्य
∴ सूर्य मनुष्यों का आश्रय स्थल है। — प्रतिज्ञात वाक्य
∴ सूर्य मनुष्यों का आश्रय स्थल होना चाहिये। — आवश्यक वाक्य

किसी नवीन सत्य का निर्वाहक न होने तथा शाब्दिक परिवर्तन मात्र पर आधारित होने के कारण मिल और बेन ने इन अनुमानों को अनुमान कहने में सन्देह प्रकट किया है।[१०८] शिलर ने भी परिवर्तन और प्रतिवर्तन भेदों को अनुमानों की वास्तविक विचारप्रक्रिया से परे होने के कारण इनकी आलोचना की है—परिवर्तन अनुमान वहाँ निष्प्रयोजक है, जहाँ विधेय पद का विस्तार के सम्बन्ध में विचार न हुआ हो। इसी प्रकार यह अनेक ए तर्कवाक्यों के सम्पूर्ण तात्पर्य को गृहीत करने में असमर्थ है। इसी प्रकार प्रतिवर्तन भी वास्तविक विचार प्रक्रिया के मौलिक विधि-निषेध मूल्यों पर कुठाराघात करता है, क्योंकि इसके द्वारा ए वाक्य का निषेध अ–ए के विधान से किया जाता है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अक्षम्य है।[१०९] वेल्टन ने इन आक्षेपों का निराकरण करते हुए इन अनुमान भेदों की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है।[११०]

भारतीय तर्कशास्त्र में अव्यवहित अनुमान और उसके इस प्रकार के भेद-प्रभेद उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि कोई भी अनुमान मध्यवर्ती पद व्याप्ति-पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु पद के बिना उपपन्न नहीं हो सकता। अनुमान केवल शाब्दिक अभिव्यञ्जना पर आधारित नहीं हैं, वरन् हेतु के अनिवार्य व्याप्ति और पक्षधर्मता गुणों पर अवलम्बित रहता है, जो त्रैरूप्यवाद तथा पञ्चरूप्यवाद में पर्यवसित होते हैं।

व्यवहित अनुमान

व्यवहित अनुमान में किसी मध्यवर्ती पद के द्वारा दो वाक्यों के सम्मिलित योग से एक ऐसा नवीन वाक्य निगमित किया जाता है, जो उनसे तार्किक आवश्यकता के रूप में फलित होता है। 'तार्किक आवश्यकता' का तात्पर्य है कि जो बात आश्रय वाक्यों में सत्य मान ली जाती है वह निष्कर्ष में भी सत्य मानी जाती है। यद्यपि आश्रय वाक्यों का सत्य वस्तुगत ज्ञान की यथार्थता पर निर्भर है, फिर भी आकारिक आवश्यकता एवं सङ्गति उससे प्रभावित नहीं होती। दो आश्रय वाक्यों के सम्मिलित योग तथा समान मध्यवर्ती पद द्वारा निष्कर्षित होने के कारण इस अनुमान का निष्कर्ष आश्रय वाक्यों से अधिक व्यापक नहीं होता।[१११] इस प्रकार यथार्थता की दृष्टि से अनुमान तार्किक आवश्यकता से उद्भावित, नवीन सत्य का उत्थापक एवं आकारिक सङ्गति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होना चाहिये।[११२]

व्यवहित अनुमान का विभाजन कई प्रकार से किया जाता है। अरस्तू ने इसके दो भेद ज्ञापित किये हैं—निगमनमूलक या न्याययुक्ति तथा आगमनमूलक अनुमान। उनकी न्याययुक्ति की परिभाषा ऊपर अनुमान लक्षण निरूपण के प्रसङ्ग में दी जा चुकी है। निगमनिक व्यवहित अनुमान के वेल्टन ने दो मुख्य भेद प्रतिपादित किये हैं—शुद्ध और मिश्र। प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद किये गये हैं—(१) शुद्ध निरपेक्ष या निरपेक्ष, (२) शुद्ध अभ्युगत, (३) शुद्ध वैकल्पिक तथा (१) अभ्युपगत निरपेक्ष, (२) (२) वैकल्पिक निरपेक्ष, (३) अभयतोपाश।[११३] इनके अतिरिक्त लुप्तावयव तथा न्यायमाला अनुमानों को भी निगमनिक अनुमान भेदों में समाविष्ट किया जा सकता है।

निगमनिक अनुमान—शुद्ध न्याययुक्ति

निरपेक्ष न्याययुक्ति या निरुपाधिक न्यायवाक्य

व्यवहित अनुमान के उस रूप को निरपेक्ष न्याययुक्ति कहा जाता है, जिसमें तीन वाक्य तथा तीन और केवल तीन ही पद होते है।[११४] जैसे—

सब मनुष्य मरणशील हैं,
सब लेखक मनष्य हैं,
∴सब लेखक मरणशील हैं।

इस न्याययुक्ति में उक्त तीन वाक्य तथा उनमें प्रयुक्त होनेवाले 'मनुष्य' 'मरणशील' 'लेखक आदि केवल तीन पद ही विद्यमान हैं, जिनकी दो बार आवृत्ति हुई है। इस न्याययुक्ति में निम्नलिखित नियमों का पालन होना आवश्यक है—

(१) प्रत्येक निरपेक्ष न्याययुक्ति में तीन और केवल तीन पद होना चाहिये।

(२) प्रत्येक निरपेक्ष न्याययुक्ति में तीन और केवल तीन ही निरपेक्ष वाक्यों का प्रयोग होना चाहिये।

(३) (अ) न्याययुक्ति के तीनों पदों में से कोई भी पद अनेकार्थक नहीं होना चाहिये तथा (आ) मध्यम पद कम से कम एक बार अवश्य ही आश्रय वाक्यों में व्याप्त रहना चाहिये।

(अ) का उल्लंघन होने पर अनेकार्थक साध्य, अनेकार्थक पक्ष तथा अनेकार्थक हेतु तथा चतुष्पदी दोष और (आ) की अवहेलना करने पर अव्याप्त हेतु दोष होंगे जैसे—

अनेकार्थक साध्य— धोबी की पत्नी स्त्री नहीं है,
धोबिन धोबी की पत्नी है,
∴ धोबिन स्त्री नहीं है।

यहाँ साध्य 'स्त्री' अनेकार्थक है। साध्य वाक्य में वह 'आयरन' का तथा निष्कर्ष में 'औरत' का परिचायक है।

अनेकार्थक पक्ष— जलाशय जलीय जन्तुओं का स्थान है,
चश्मा जलाशय है,
∴ चश्मा जलीय जन्तुओं का स्थान है।

यहाँ पक्ष 'चश्मा' अनेकार्थक है। पक्ष वाक्य में उसका अर्थ 'जलस्रोत' और निष्कर्ष में 'ऐनक' होने से अनेकार्थक पक्षदोष होगा।

अनेकार्थक हेतु— द्विज जनेउ धारण करते हैं,
पक्षी द्विज है,
∴ पक्षी जनेउ धारण करते हैं।

यहाँ हेतु 'द्विज' अनेकार्थक दोष से ग्रस्त है, क्योंकि साध्य वाक्य में वह 'ब्राह्मण' और पक्ष वाक्य में 'पक्षी' का बोधन करता है।

चतुष्पदी दोष— अ ब से बड़ा है,
ब स से बड़ा है,
∴ अ स से बड़ा है।

इस युक्ति में चार पद—'अ' 'ब से बड़ा' 'ब' और 'स से बड़ा' होने के कारण यहाँ चतुष्पदी दोष है।

अव्याप्त हेतु— सब मनुष्य मरणशील हैं,
सभी पशु मरणशील हैं,
∴ सभी पशु मनुष्य हैं।

यहाँ हेतु 'मरणशील' अव्याप्त है, क्योंकि वह एक बार भी आश्रय वाक्यों में व्याप्त नहीं है।

(४) कोई भी पद आश्रय वाक्यों में व्याप्त हुए बिना निष्कर्ष में व्याप्त नहीं होना चाहिये, अन्यथा अवैध साध्य और अवैध पक्ष दोष होंगे। यथा—

अवैध साध्य— सभी अश्व चतुष्पद होते हैं,
कोई भी श्वान अश्व नहीं है,
∴ कोई भी श्वान चतुष्पद नहीं है।

यहाँ अवैध साध्य दोष इसलिये आक्रान्त है कि साध्य 'चतुष्पद' निष्कर्ष में व्याप्त है, किन्तु आश्रय वाक्यों में नहीं।

अवैध पक्ष— कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है,
सभी मनुष्य प्राणी हैं,
∴ कोई भी प्राणी पूर्ण नहीं है।

यह युक्ति अवैध पक्ष दोष से ग्रस्त है, क्योंकि पक्ष 'प्राणी' निष्कर्ष में व्याप्त है, किन्तु आश्रय वाक्यों में नहीं।

(५) दो निषेधात्मक अनुमान वाक्यों से कोई निष्कर्ष निगमित नहीं होता।

(६) यदि एक आश्रय वाक्य निषेधात्मक हो, तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा तथा निष्कर्ष के निषेधात्मक सिद्ध होने पर एक आश्रय वाक्य का निषेधात्मक होना आवश्यक है।

इन नियमों से तीन उपनियम और भी निर्मित किये जा सकते हैं—

(१) दो विशेष वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। दो विशेष वाक्यों का योग निम्नांकित तीन योगों में किया जा सकता है—

(अ) जब दोनों वाक्य निषेधात्मक हों,

(आ) दोनों विधानात्मक हों,

(इ) एक निषेधात्मक और एक विधानात्मक हो।

नियम पाँच के अनुसार (अ) में कोई निष्कर्ष प्राप्त नहीं होगा।

(आ) में विशेष विधानात्मक वाक्यों का कोई भी पद व्याप्त न होने के कारण हेतु पद भी व्याप्त नहीं होगा, अतः नियम तीन के अनुसार कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा। अंतिम संयोग में यदि किसी प्रकार का निष्कर्ष सम्भावित हो, तो वह नियम छः के अनुसार निषेधात्मक ही होगा। इसलिये साध्य पद को निष्कर्ष में व्याप्त होना आवश्यक है और इसी प्रकार नियम तीन और चार के अनुसार दो पद-हेतु और साध्य पदों को आश्रय वाक्यों में व्याप्त होना चाहिये। किन्तु विशेष निषेधात्मक तथा विशेष विधानात्मक वाक्यों में परस्पर एक ही पद व्याप्त रहता है, इसलिये कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

(२) यदि एक आश्रय वाक्य विशेष हो, तो निष्कर्ष भी विशेष होगा। इस दशा में ये तीन संयोग उपस्थित किये जा सकते हैं—

(अ) दो निषेधात्मक वाक्य हों,

(आ) दो विधानात्मक वाक्य हों,

(इ) एक विधानात्मक और एक निषेधात्मक हो।

नियम पाँच के अनुसार (अ) में कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

(आ) के अन्तर्गत दोनों विधानात्मक वाक्य और उनमें से एक विशेष वाक्य होने के कारण दोनों में एक ही पद व्याप्त होगा, जो नियम तीन के अनुसार हेतु पद होना चाहिये। इसलिये पक्ष पद निष्कर्ष में अव्याप्त रहेगा और नियम चार के अनुसार निष्कर्ष विशेष होगा। अन्तिम संयोग में दोनों आश्रय वाक्यों में दो और केवल दो ही पद व्याप्त होंगे। नियम तीन और चार के अनुसार ये हेतु और साध्य पद ही होंगे, क्योंकि नियम छः के अनुसार उक्त संयोग में एक वाक्य निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा इसलिए साध्य पद का निष्कर्ष में व्याप्त रहना आवश्यैक है। नियम चार के अनुसार पुनः पक्ष पद आश्रय वाक्यों में अव्याप्त रहेगा और निष्कर्ष विशेष होगा।

(३) विशेष साध्य और निषेधात्मक पक्ष वाक्यों के योग में कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।

जब पक्ष वाक्य निषेधात्मक हो, तो नियम पाँच के अनुसार साध्य-वाक्य विधानात्मक होना चाहिये, किन्तु साध्य वाक्य विशेष होने के कारण उसमें कोई पद व्याप्त नहीं हो सकता। अतः नियम चार के अनुसार वह निष्कर्ष में भी व्याप्त नहीं हो

सकता अर्थात् निष्कर्ष विधानात्मक होना चाहिये किन्तु नियम छः के अनुसार निष्कर्ष निषेधात्मक होना आवश्यक है। इस व्याघातमूलक परिस्थिति में किसी भी निष्कर्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।[११५]

सारांशतः नियम प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय का (अ) अंश अनुमान की यथार्थता की ओर निर्देश नहीं करते, वरन् उसकी रचना और परिभाषा तक ही केन्द्रित रहते हैं, तृतीय का (आ) अंश तथा चतुर्थ परिमाण अर्थात् व्याप्ति से सम्बन्ध रखते हैं एवं पञ्चम और षष्ठ का सम्बन्ध गुण से है।[११६] कीनेस द्वारा प्रतिपादित इन नियमों और उनकी व्याख्या का वेल्टन, शीलर, स्टेबिंग, कोहेन और निगल आदि ने भी समर्थन किया है।[११७] नियम पाँच की सार्वभौमिकता की समीक्षा करते हुए जेवन्स ने लिखा है कि प्राचीन तार्किकों ने इस नियम विशेष की कार्यवाहकता अथवा निषेध के लिये प्रमाणों का प्रतिपादन नहीं किया है। ऐसे भी अनुमान सम्भावित हो सकते हैं, जिनमें दो निषेधात्मक वाक्यों के संयोग से यथार्थ निगमन निगमित किया जा सकता है। जैसे—

जो भी अधातुक होता है वह चुम्बकीय शक्ति के प्रभाव से मुक्त होता है, कारबन अधातुक है,

∴ अतः कारबन चुम्बकीय शक्ति के प्रभाव से मुक्त होता है। इस प्रकार अपने स्पष्ट और सामान्य कथन के संदर्भ में उक्त नियम मिथ्या सिद्ध होता है।[११८] 'पोर्टरायल लाजिक' में भी विभिन्न उदाहरण द्वारा यही बात प्रतिपादित की गयी है।[११९] उबरवेग[१२०] का समर्थन करते हुए कीनेस ने इन आक्षेपों का निराकरण करते हुए लिखा है कि यद्यपि यह अनुमान—

कोई भी 'अ-हे' वि नहीं है;
कोई भी उ हे नहीं है;
∴ कोई भी उ वि नहीं है।

निश्चयात्मक रूप से यथार्थ है, किन्तु विशुद्ध निरपेक्ष न्याययुक्ति के न्यायमूलक स्वरूप को देखते हुए यह ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें (नियम दो का उल्लंघन करते हुए) उ, वि, है और अ-हे इन चार पदों का प्रयोग किया गया है।[१२१] सम्भवतः इन्हीं आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए कीनेस के पूर्ववर्ती तार्किक ब्रेडले ने लिखा है "निस्सन्देह उक्त न्याययुक्ति में चार पद प्रयुक्त किये जाने के कारण पारिभाषिक रूप से उसे न्यायसङ्गत नही कहा जा सकता, किन्तु दो निषेधों से जो तृतीय निषेध सिद्ध किया जाता है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। जैसे—

अ ब नहीं है;
जो ब नहीं है वह स भी नहीं है;
∴ अ स नहीं है।

इस अनुमान में भी वाक्य निषेधात्मक हैं। अ को अ-ब कहना अर्थात् विधानात्मक मानना अथवा अ और अ-ब में कोई संयोग न मानना दुराग्रह प्रतीत होता है। यदि निषेधात्मक आश्रय वाक्यों से भी मैं निष्कर्ष निगमित करने में समर्थ हूं तो ऐसी आपत्ति उठाना निरर्थक है कि मैंने इस क्रिया के पूर्व प्रथमतः एक वाक्य का रूपान्तरण किया है, क्योंकि इस आक्षेप द्वारा कहीं भी यह बात प्रदर्शित नहीं होती कि आश्रय वाक्य निषेधात्मक नहीं

है और इसलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि मैं अपना निष्कर्ष निगमित करने में असफल रहा हूं" ।[१२२] इसी प्रकार चतुर्थ अध्याय में जेवन्स और ब्रेडले के सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय तर्कशास्त्र में उद्योतकर ने दो निषेधात्मक अवयव वाक्यों से होने वाले व्यतिरेक अनुमान को यथार्थ बतलाया है, जिसे उत्तरवर्ती तार्किकों ने केवल व्यतिरेकी अनुमान के नाम से अभिहित किया है। किन्तु निरपेक्ष न्याययुक्ति को यदि अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थापित किया जाय, तो दो निषेधात्मक वाक्यों से यथार्थ निष्कर्ष नहीं निकल पायगा। जेवन्स और ब्रेडले ने भी इस तथ्य को अस्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[१२३]

शुद्ध निरपेक्ष न्याययुक्ति की तरह वेल्टन ने शुद्ध अभ्युपगत और शुद्ध वैकल्पिक न्याययुक्तियों की भी सर्जना की है, कीनेस ने इनके अतिरिक्त शुद्ध सापेक्ष न्याययुक्ति की और भी कल्पना की है। जिन न्याययुक्तियों में दोनों आश्रयवाक्यों के अभ्युपगत, वैकल्पिक और सापेक्ष होने पर निष्कर्ष भी अभ्युपगत, वैकल्पिक और सापेक्ष हो, उन्हें शुद्ध अभ्युपगत, शुद्ध वैकल्पिक तथा शुद्ध सापेक्ष अनुमान कहा जा सकता है। इनमें निरपेक्ष न्याययुक्ति के सभी नियम लागू होते हैं। अतः इन भेदों का विशेष महत्व नहीं है। उदाहरणों द्वारा इन तीनों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

शुद्ध अभ्युपगत

यदि क सही है तो र भी सही है,
यदि प सही है तो क भी सही है,
∴ यदि प सही है तो र भी सही है।

शुद्ध वैकल्पिक

स या तो प है या क,
स या तो अ-प है या र,
∴ स या तो र है या क।

शुद्ध सापेक्ष

जब भी कभी स द होता है तो इ फ होती है,
जब भी कभी अ ब होता है तो स द होता है,
∴ जब भी कभी अ ब होता है तो ई फ होती है।[१२४]

मिश्र न्याययुक्ति

उन अनुमानों को मिश्र न्याययुक्ति कहा जाता है, जिनके वाक्य विविध सम्बन्ध वाले होते हैं।[१२५] सम्बन्ध के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—निरपेक्ष, अभ्युपगत और वैकल्पिक। यह बतलाया जा चुका है कि निरपेक्ष न्याययुक्ति में तीनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं, जो अपनी स्थिति के लिये अन्य वाक्यों की अपेक्षा नहीं करते, किन्तु अभ्युपगत तथा वैकल्पिक न्याययुक्तियों में इस निरपेक्षता के दर्शन नहीं होते, कारण दोनों अन्य वाक्यों पर अवलम्बित रहती हैं। मिश्र न्याययुक्ति तीन प्रकार की होती है—अभ्युपगत निरपेक्ष, वैकल्पिक निरपेक्ष तथा उभयतोपाश।[१२६]

अभ्युतगत निरपेक्ष

उस मिश्र न्याययुक्ति को अभ्युपगत निरपेक्ष कहा जाता है, जिसमें एक आश्रय

वाक्य अभ्युपगत तथा अन्य आश्रय वाक्य तथा निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होते हैं।[१२७] इसमें साध्यवाक्य के दो अंश होते हैं—पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग। दोनों का सम्बन्ध कारण-कार्य जैसा है। अतः इसकी यथार्थता के लिये दो नियमों का पालन करना आवश्यक है। (१) पूर्वाङ्ग को स्वीकार कर लेने के उपरान्त उत्तराङ्ग को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु विलोम नहीं तथा (२) उतराङ्ग निषेध के अनुसार पूर्वाङ्ग का निषेध किया जा सकता है, किन्तु विलोम नहीं।[१२८] इन नियमों की अवहेलना करने पर उत्तराङ्ग विधान तथा पूर्वाङ्ग निषेध दोष होते हैं।[१२९] उदाहरणार्थ—

(१) यदि प सही है तो क भी सही है,
प सही है,
∴ क भी सही है।

(२) यदि प सही है तो क भी सही है,
क सही नहीं है,[१३०]
∴ प भी सही नहीं है।

इनके विपरीत ये प्रयोग—

(१) यदि प सही है, तो क भी सही है,
क सही है,
∴ प भी सही है।

(२) यदि प सही है तो क भी सही है,
प सही नहीं है,
∴ क भी सही नहीं है।

उत्तराङ्ग विधान तथा पूर्वाङ्ग निषेध होने से दूषित है।

वैकल्पिक निरपेक्ष

उस न्याययुक्ति का नाम वैकल्पिक निरपेक्ष है, जिसमें साध्य वाक्य वैकल्पिक और पक्ष (तथा निष्कर्ष) वाक्य निरपेक्ष होते हैं, इसके निरपेक्ष पक्ष वाक्य में (साध्य वाक्य में उपस्थापित दो विकल्पों में से) किसी एक विकल्प का विधान अथवा निषेध होता है जबकि निष्कर्ष में दूसरे विकल्प का निषेध अथवा विधान किया जाता है।[१३१] सर्वत्र ऐसे उदाहरण मिलना प्रायः दुष्कर है, जो दो अथवा तीन कल्पनाओं द्वारा समस्त सम्भावनाओं में परिसमाप्त हो जाय।

इसकी यथार्थता दो नियमों पर अवलम्बित है—(१) जहाँ साध्यवाक्य के विकल्प पारस्परिक रूप से व्यावर्तक न हों, वहाँ पक्ष वाक्य में एक विकल्प का निषेध करने के उपरान्त निष्कर्ष में दूसरे विकल्प का विधान किया जा सकता है किन्तु विलोम नहीं तथा (२) जहाँ साध्यवाक्य के विकल्प परस्पर व्यावर्तक हों, वहाँ पक्ष वाक्य में एक विकल्प का निषेध करके निष्कर्ष में दूसरे का विधान तथा पक्ष वाक्य में एक विकल्प का विधान करके निष्कर्ष में इसका निषेध किया जा सकता है।[१३२] उदाहरणार्थ—

या तो अ ब है या स,.....विलोम असत्य
अ ब नहीं है,
∴ अ स है।

या तो अ ब है या अ - ब,....विलोम सत्य
अ ब नहीं है,
∴ अ अ-ब है।

या तो अ ब है या अ-ब,....विलोम सत्य
अ ब है,
∴ अ अ-ब नहीं है।

उभयतोपाश

उस मिश्र न्याययुक्ति को उभयतोपाश कहते हैं, जिसमें साध्य वाक्य दो या अधिक अभ्युपगत वाक्यों से निष्पन्न होता है और द्वितीय पक्ष वाक्य वैकल्पिक होता है, जिसके विकल्प, अभ्युपगत साध्यवाक्य के या तो पूर्वाङ्ग का विधान करते हैं अथवा उत्तराङ्ग का निषेध।[133] इसकी यथार्थता के लिये अभ्युपगत और वैकल्पिक न्याययुक्तियों के सभी नियमों का पालन करना आवश्यक है, क्योंकि यह उन्हीं दो वाक्यों के योग से निष्पन्न होता है। वैकल्पिक पक्ष वाक्य में वैकल्पिक रूप से जब अभ्युपगत साध्यवाक्य के पूर्वाङ्गों का विधान अथवा उत्तराङ्गों का निषेध किया जाय, तो उसे विधायक या विघातक कहा जाता है। इसी प्रकार उभयतोपाश का निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य तथा वैकल्पिक वाक्य होने पर उसे सरल तथा जटिल कहा जाता है। इस प्रकार उभयतोपाश चार प्रकार का होता है—सरल विधायक, सरल विघातक, जटिल विधायक, एवं जटिल विघातक।[134] उदाहरणार्थ—

१. सरल विधायक

यदि अ ब है तो, इ फ है; यदि स द है तो इ फ है;
या तो अ ब है या स द है;
∴ इ फ है।

सरल विघातक

यदि अ ब है तो स द है; यदि अ ब है तो इ फ है;
या तो स द नहीं है या इ फ नहीं है;
∴ अ ब नहीं है।

जटिल विधायक

यदि अ ब है तो इ फ है; यदि स द है तो ज ह है;
या तो अ ब है या स द है;
∴ या तो इ फ है या ज ह है।

जटिल विघातक

यदि अ ब है, तो इ फ है यदि स द है तो ज ह है;
या तो इ फ नहीं है या ज ह नहीं है;
∴ या तो अ ब नहीं है या स द नहीं है।[135]

असत्य उभयतोपाश का खण्डन तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(१) शृङ्गान्तर्निर्गति

वैकल्पिक पक्षवाक्य के दोनों विकल्प शृङ्ग कहलाते हैं। यदि वैकल्पिक वाक्य में यह सिद्ध कर दिया जाय कि उसके विकल्प परस्पर व्यावर्तक नहीं है, तो उसे शृङ्गान्त-निर्गति कहते हैं।

(२) शृङ्गनिग्रह

यदि साध्यवाक्य के पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग को अवास्तविक सिद्ध कर दिया जाय अर्थात् जब उसके एक अथवा दोनों उत्तराङ्ग पूर्वाङ्ग से वस्तुतः निष्कषित नहीं हो, तो उसे शृङ्गनिग्रह कहा जाता है।

(३) प्रतिक्षेप

किसी दोषयुक्त उभयतोपाश को उलटकर एक ऐसा प्रत्युभयतोपाश उपस्थित कर दिया जाय, जो उसी के समान बलशाली तथा जिसका निष्कर्ष उसके निष्कर्ष से उल्टा हो। इस प्रक्रिया के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्युभयोपाश में प्रथम उभयतोपाश के उत्तराङ्गों को परिवर्तित करके उसके गुणों को बदल दिया जाय।[१३६]

संक्षिप्त न्याययुक्ति

प्रायः सभी लोग अनुमान प्रक्रिया के अनुसार बातचीत करते हैं, किन्तु बातचीत के दौरान अनुमान के समस्त अवयवों का उल्लेख नहीं किया जाता। क्योंकि सामान्य व्यवहार में स्पष्टतः केवल उतनी बात कही जाती है, जितनी कि नितान्त आवश्यक समझी जाती है, सभी अवयवों को ज्ञापित कर, व्यर्थ का पांडित्य प्रदर्शन नहीं किया जाता। अनुभव बताता है कि वक्ता अपने अभिप्राय के स्फूरण के लिए सर्वप्रथम निष्कर्ष का कथन करता है, तत्पश्चात् उसकी पुष्टि अथवा खण्डन के लिये अन्य वाक्यों का उद्भावन करता है, किन्तु न्याय-नियमों के अनुसार प्रथमतः साध्यवाक्य फिर पक्षवाक्य और उनके अनन्तर निष्कर्ष का उल्लेख किया जाता है। जब किसी वाक्य को लुप्त रखकर न्याय-युक्ति संक्षिप्त कर दी जाती है, तो उसे संक्षिप्त न्याययुक्ति कहा जाता है। तार्किक ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रायः सभी स्थानों पर इस प्रकार की न्याययुक्तियों का प्रयोग होता है।[१३७] इसीलिये जोसेफ ने कहा है कि संक्षिप्त न्याययुक्ति, न्याययुक्ति का विशेष भेद अथवा रूप नहीं है, प्रत्युत उसके अभिधान करने की विशेष विधि है।[१३८] अतः संक्षिप्त न्याय-युक्ति वह न्याययूक्ति है, जो मन में तो पूर्ण, किन्तु कथन में अपूर्ण रहती है, इसका कोई एक वाक्य, अधिक स्पष्ट और विख्यात होने के कारण लुप्त रहता है, और वह लुप्त वाक्य श्रोता के मन में सुगमतापूर्वक उद्भावित किया जा सकता है।[१३९] उबरवेग, कीनेस, वेल्टन, कोहेन और निगल, जोसेफ आदि की परिभाषाओं में इसी व्यापक लक्षण का समर्थन पाया जाता है।[१४०] कीनेस ने तीन प्रकार की संक्षिप्त न्याय युक्तियाँ मानी है—

प्रथम श्रेणी—इसमें साध्यवाक्य लुप्त रहता है।

(किन्तु लघु और निष्कर्ष वाक्य व्यक्त) जैसे, सुकरात मरणशील है, क्योंकि वह मनुष्य है। यहाँ 'सब मनुष्य मरणशील हैं' यह साध्यवाक्य लुप्त है ?

द्वितीय श्रेणी—इसमें पक्ष वाक्य लुप्त रहता है (किन्तु साध्य और निष्कर्ष, वाक्य व्यक्त)। जैसे—

'सुकरात मरणशील है,' क्योंकि सभी मनुष्य मरणशील होते हैं।' 'यहाँ सुकरात एक मनुष्य है' यह पक्ष वाक्य लुप्त है।

तृतीय श्रेणी—इसमें निष्कर्ष लुप्त रहता है (किन्तु साध्य और पक्ष वाक्य व्यक्त)। जैसे 'सब मनुष्य मरणशील हैं' और 'सुकरात एक मनुष्य है'। यहाँ 'सुकरात मरणशील है' यह निष्कर्ष लुप्त है।[१४१] वेल्टन, जोसेफ तथा कोहेन और निगल आदि ने इन्हीं तीन भेदों को मान्य किया है।[१४२]

न्यायमाला

दो या अधिक न्याययुक्तियों की ऐसी शृङ्खला को न्यायमाला कहा जाता है, जिसका पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा होता है कि एक का निष्कर्ष दूसरे का आधार वाक्य बनता है और अन्त में एक ही निष्कर्ष निगमित होता है। इसी को संयुक्त न्यायमाला या संयुक्त न्याययुक्ति कहा जाता है। संयुक्त न्याययुक्ति में जिस न्याययुक्ति का निष्कर्ष दूसरी न्याययुक्ति का आधार वाक्य बनता है वह दूसरे के सम्बन्ध में उपजीव्य या पूर्वन्याययुक्ति तथा जिस न्याययुक्ति का एक आधार वाक्य दूसरी न्याययुक्ति का निष्कर्ष बनता है वह दूसरे के सम्बन्ध में उपजीवक या उत्तरन्याययुक्ति कहलाती है।[१४३] जैसे—

सब स द है,
सब ब स है, } उपजीव्य न्याययुक्ति
∴ सब ब द हैं।
सब अ ब हैं, } उपजीवक न्याययुक्ति
∴ सब अ द हैं।

यह दो प्रकार की होती है—

(१) अनुलोम, अग्रगामी या संश्लेषणात्मक—इसमें दो या अधिक न्याययुक्तियों का ऐसा संयोग होता है, जिसमें पूर्वन्याययुक्ति से उत्तर न्याययुक्ति की ओर अर्थात् आधार वाक्यों से निष्कर्ष की ओर अग्रसर होते हैं और निष्कर्ष कई आधार वाक्यों के संयोग का फल होता है।

(२) विलोम, पश्चाद्गामी या विश्लेषणात्मक—इसम उन दो या अधिक न्यायों का संयोग होता है, जिनमें उत्तर न्याययुक्ति से पूर्व न्याययुक्ति अर्थात् निष्कर्ष से आधार वाक्यों की ओर प्रयाण किया जाता है और अन्तिम निष्कर्ष के कारणों का विश्लेषण किया जाता है।[१४४]

संक्षिप्त प्रगामी या अनुलोम न्यायमाला

यह संयुक्तन्यायमाला का वह रूप है, जिसमें अंतिम निष्कर्ष के अतिरिक्त सभी निष्कर्ष (तथा सम्बन्धित आधार वाक्य) लुप्त रहते हैं और दिये हुए आधार वाक्यों में ऐसा क्रम होता है कि किन्हीं भी दो क्रमिक वाक्यों में एक समान पद रहता है। यह दो प्रकार की होती है—अरस्तवी तथा गोक्लीनी। अरस्तवी में जो वाक्य प्रथमतः पूर्व में कहा जाता है उसमें निष्कर्षका उद्देश्य रहता है तथा क्रमिक दो वाक्यों में जो समान पद रहता है वह पहले विधेय पश्चात् उद्देश्य बनता है। गोक्लीनी में जो वाक्य प्रथमतः

कथित किया जाता है, उसमें निष्कर्ष का विधेय होता है, और क्रमिक दो वाक्यों में जो समान पद आता है, वह पहले उद्देश्य बनता है, बाद में विधेय।[१४५] इनकी यथार्थता के लिये, दो नियमों का पालन होना आवश्यक है—(१) केवल एक ही आधार वाक्य निषेधात्मक हो सकता है, अरस्तवी में अन्तिम तथा गोक्लीनी में प्रथम। इस नियम की अवहेलना करने पर, दो निषेधात्मक आधार वाक्यों का दोष होगा (२) केवल एक ही आधार वाक्य विशेष हो सकता है, अरस्तवी में प्रथम तथा गोक्लीनी में अन्तिम। इस नियम का उल्लंघन होने पर अव्याप्त हेतु दोष होगा।[१४६] उदाहरणार्थ—

अरस्तवी—सब अ ब है,
सब ब स है,
सब स द है,
सब द इ है,
∴ सब अ इ है।

गोक्लीनी—सब द इ है,
सब स द है,
सब ब स है,
सब अ ब है,
∴ सब अ इ है।[१४७]

संक्षिप्त विलोम या प्रतीयगामी न्यायमाला

संयुक्त न्यायमाला के उस रूप को संक्षिप्त विलोम या प्रतीयगामी न्यायमाला कहा जाता है, जिसमें पूर्वन्याययुक्तियों को संक्षिप्त रूप से प्रकट किया जाता है।[१४८] आशय यह है कि इसमें उत्तर न्याययुक्ति से पूर्वन्याययुक्ति की ओर अग्रसर होते हैं। प्रत्येक न्याययुक्ति का एक आधार वाक्य लुप्त रहता है, किन्तु उत्तरन्याययुक्ति सम्पूर्ण रूप से व्यक्त रहती है। यह दो प्रकार की होती है—एकाकी और उभय। प्रथम में उत्तरन्याययुक्ति के केवल एक ही आधारवाक्य को एक संक्षिप्त न्याययुक्ति से सिद्ध किया जाता है। द्वितीय में उत्तरन्याययुक्ति के दोनों आधार वाक्यों को संक्षिप्त न्याययुक्ति से सिद्ध किया जाता है। उदाहरणार्थ—

एकाकी— सब ब द है, ∵ क्योंकि वह स है;
सब अ ब है,
∴ सब अ द है।

उभय— सब प य है, ∵ क्योंकि वह क्ष है;
सब स प है, ∵ क्योंकि सब म प है;
∴ सब स य है।[१४९]

प्रथम में 'क्योंकि वह स है' तथा द्वितीय में 'क्योंकि वह क्ष है' तथा 'क्योंकि सब मप है' में एक और दो आधार वाक्य लुप्त है।[१५०] न्याय मालाओं के विवेचन के प्रसंग में वेल्टन स्टेबिंग आदि ने कीनेस का समर्थन किया है।[१५१]

आगमनिक अनुमान

निगमनात्मक अनुमान के विभिन्न भेदों पर विचार करते हुए यह बतलाया जा

चुका है कि इन अनुमानों के आधार वाक्य सत्य मान लिये जाते हैं, तथा निष्कर्ष आधार वाक्यों से अधिक व्यापक नहीं होता। आकारिक सङ्गति के निर्धारण हेतु आकारमूलक नियमों का पालन करना ही यह अभीष्ट प्रदायक है। वस्तुमूलक सत्य की ओर इनमें ध्यान नहीं दिया जाता। न्याययुक्ति के 'साध्यवाक्य'—'सब मनुष्य मरणशील हैं' रूपी सामान्य कथन तक कैसे पहुँचा जाय? इस समस्या का समाधान इन अनुमानों के सहारे नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह आगमनात्मक अनुमान की महत्त्वपूर्ण समस्या है। यद्यपि असत्य आधार वाक्यों से भी आकार मात्रिक सही निष्कर्ष निगमित होना सम्भावित होता है जैसे—

मनुष्य चतुष्पद होते हैं,
श्वान मनुष्य होते हैं,
∴ श्वान चतुष्पद होते हैं।

तथापि आधार वाक्यों की वस्तुमूलक सत्यता स्थापन के अभाव में उक्त निष्कर्ष की सत्यता का अवधारण नहीं हो सकता। कभी-कभी अनुमान में आधार वाक्यों की पुष्टि भी की जाती है, उस पुष्टि को भी पुनः जब सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है, तब उपजीवक अनुमानों की एक शृङ्खला बन जाती है। अन्त में किसी न किसी सिद्धान्त सूचक वाक्य का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसे सिद्धान्तों को प्राप्ति या आगमन करने को ही आगमन कहते हैं। इस प्रकार निगमनात्मक अनुमानों की तरह आगमन में सिद्धान्तों से नियमों की ओर गमन नहीं किया जाता तथा उनके अन्तर्गत जो विशेष घटनाए या उदाहरण आते हैं, उनको स्पष्ट नहीं किया जाता, अपितु विशेष घटनाओं या उदाहरणों से व्यापक सिद्धान्तों की प्राप्ति अथवा सिद्धि की जाती है। अरस्तू ने इस भेद पर बहुत कम विचार किया है। उसके अनुसार विशेष द्वारा समान्य को अनुमान करना आगमन है। इसलिए इसमें पूर्व अनुमानों की तरह अधोगमन नहीं, वरन् ऊर्ध्वगमन किया जाता है।[१५२] सामान्य तथा इसके तीन भेद पाये जाते हैं—(१) गणनाश्रित—(अ) पूर्ण आगमन, (ब) आंशिक गणनाश्रित आगमन, (२) वैज्ञानिक आगमन, (३) तथा सादृश्यमूलक आगमन।

गणनाश्रित—अ. पूर्ण आगमन

उस सामान्य वाक्य का प्रस्थापन पूर्ण आगमन कहलाता है, जो उसके अन्तर्गत समाविष्ट होने वाले सभी विशेष दृष्टान्तों की परीक्षा पर आधारित रहता है। उदाहरणतः निरीक्षण द्वारा एक आलमारी में रखी हुई सभी दार्शनिक पुस्तकों की पृथक्-पृथक् परीक्षा करने के उपरान्त यह, सामान्य कथन करना कि 'वे सभी दार्शनिक ग्रन्थ हैं।' अरस्तू ने भी इसी प्रक्रिया को आगमन कहा है, उसके अनुसार किसी जाति, सामान्य या श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक विशेष की परीक्षा कर, उस जाति या श्रेणी विषयक सामान्य सत्य का अवगाहन करना आगमन है। जैसे—

मनुष्य, अश्व, खच्चर इत्यादि दीर्घजीवी होते हैं,
मनुष्य, अश्व, खच्चर इत्यादि सब पित्त रहित होते हैं,
∴ सब पित्त रहित पशु दीर्घजीवी होते हैं।

इस अनुमान में पक्ष—'मनुष्य, अश्व, खच्चर इत्यादि' द्वारा हेतु 'पित्तरहित पशु' के बारे में साध्य 'दीर्घजीवी' कोसिद्ध किया गया है।[१५३] इस प्रक्रिया से विदित होता है कि अरस्तू

आगमनात्मक अनुमान के प्रसङ्ग में पूर्ण गणना पर आश्रित थे। किन्तु उनके 'विशेष' विशेष व्यक्ति नहीं है, वरन् किसी जाति में समाविष्ट होने वाली उपजातियाँ ही है।[१५४] इस आगमन को 'पूर्ण' नाम से अभिहित करने का तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष सर्वथा निसंदिग्ध होते हैं। यह आगमन तभी सम्भावित हो सकता है, जब जाति सीमित हो अर्थात् उसमें समाविष्ट होने वाली उपजातियां निश्चित हों, किन्तु जहाँ जाति या श्रेणी अनन्त हो, तब इस प्रकार का अनुमान नहीं हो सकता।[१५५] सम्भवतः मिल[१५६] ने इसीलिए इस प्रक्रिया को आगमन न कहते हुए ज्ञात तथ्यों का संक्षिप्तकरण मात्र कहा है और जानसन ने उक्त आगमन 'सारांश आगमन' कहा है।[१५७]

आ. आंशिक गणनाश्रित आगमन

किसी जातिगत समस्त दृष्टान्तों की अपेक्षा कुछ दृष्टान्तों की परीक्षा करने के उपरान्त जो सामान्यीकरण किया जाता है, उसे आंशिक गणनाश्रित अनुमान कहा जाता है। उदाहरणार्थ अनुभव में कौवे काले ही अवलोकित होते हैं, किसी अन्य रंग का कौवा कहीं देखने अथवा सुनने में नहीं आता। इसलिये समरूप और अबाधित अनुभव के आधार पर 'सब कौवे काले होते हैं' यह सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है।[१५८] इसे 'आंशिक गणनाश्रित' आगमन इसलिये कहा जाता है कि इसमें कुछ दृष्टान्तों की गणना करने के उपरान्त, सामान्य वाक्य की स्थापना की जाती है।[१५९] यद्यपि इस प्रकार के आगमन साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव में आते हैं और ज्ञात से अज्ञात में जाने की 'आगमनात्मक छलांग' रूपी विशेषता भी इसमें पायी जाती है, फिर भी इसे वैज्ञानिक आगमन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बेकन के अनुसार 'जो आगमन केवल दृष्टान्तों की गणना को आधार बनाकर सम्पादित होता है, वह बच्चों के खेल के समान है और उसमें विरोधी दृष्टान्तों का सर्वदा भय बना रहता है। जितने दृष्टान्तों पर उसे आश्रित रहना चाहिये, उनसे कम और केवल सुलभ होने वाले दृष्टान्तों पर ही यह आधारित होता है।[१६०] मिल की सम्मति में भी 'लौकिक सिद्धान्तों के आधार इसी प्रकार के आगमन होते हैं, किन्तु विज्ञान में इससे कार्य नहीं चल पाता। यद्यपि किसी तरह इसे प्रारम्भिक सोपान समझा जा सकता है, और अधिक विश्वसनीय साधन के अभाव में इस पर काम चलाऊ विश्वास भी किया जा सकता है, परन्तु प्रकृति के वास्तविक अध्ययन के लिये इससे अधिक निश्चित और सबल साधन की आवश्यकता होती है।[१६१] इसका उदाहरण है—क्ष नामक अमुक दृष्टान्तों में य नामक धर्म पाया जाता है, ऐसा कोई भी दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता, जिसमें य धर्म नहीं होता है, ∴ सभी क्ष दृष्टान्तों में य धर्म पाया जाता है।

वैज्ञानिक आगमन

विज्ञान और कला में अन्वेषण और प्रमाण के लिये जो आगमन उपयोगी होता है, उसे तथ्यों को उचित पद्धति से छांटकर और हटाकर पृथक् करना चाहिये और तब निषेधों की पर्याप्त बड़ी संख्या के पश्चात् विधानात्मक निष्कर्ष निकालना चाहिये।[१६२] अतः बेकन की उक्त परिभाषा के अनुसार 'प्रकृति से कोई आशा करने की अपेक्षा उसकी व्याख्या करना अभीष्ट प्रदायक है।' इसके लिये स्वभावगत, जातिगत, वैयक्तिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होना आवश्यक है।[१६३] मिल के अनुसार आगमन

सामान्य वाक्यों के अन्वेषण और सिद्ध करने का व्यापार है।[१६४] इसको विस्तृत करते हुए उन्होंने लिखा है 'आगमन वह क्रिया है, जिसके माध्यम से हम यह अनुमान करते हैं कि जो बात एक अथवा अधिक विशेष घटना अथवा घटनाओं के विषय में सत्य पायी गयी है, वह उन सब घटनाओं के विषय में भी सत्य पायी जायेगी जो कि उस अथवा उन घटनाओं से कुछ निर्दिष्ट बातों में सादृश्य रखती हों।' अन्य शब्दों में आगमन वह क्रिया है, जिसके द्वारा हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जो बात किसी जाति के कुछ व्यक्तियों के बारे में सत्य है वह सारी जाति के बारे में भी सत्य होती है अथवा जो कभी-कभी सत्य होती है वह समान परिस्थितियों में सदैव सत्य होती है।[१६५] इस प्रकार विशेष दृष्टान्तों के निरीक्षण के आधार पर, प्रकृति की समरूपता और कारणकार्य नियमों में आस्था रखते हुए एक सामान्य वाक्य की स्थापना करना ही वैज्ञानिक आगमन है। प्रकृति की समरूपता और कारणकार्य नियम पर आधारित होने के कारण इसमें 'आगमनात्मक छलांग' रूपी विशेषता पायी जाती है तथा इसके निष्कर्ष निसंदिग्ध होते हैं इसलिए एक ही निरीक्षण द्वारा यथार्थ आगमन हो सकता है यदि वह दशाओं के सही और पूर्ण विश्लेषण पर आधारित हो।[१६६] आगमनिक छलांग का तात्पर्य निरीक्षित कुछ दृष्टान्तों के आधार पर ऐसे दृष्टान्तों की ओर अग्रसर होना है, जिनका निरीक्षण नहीं किया गया है अर्थात् भूत-भविष्य तथा विप्रकृष्ट दृष्टान्तों को अवगम करना है। मिलके अनुसार इस प्रकार वैज्ञानिक पूर्ण आगमन, गणितीय आगमन, तर्कसाम्य, तथ्य सञ्चय आदि प्रक्रियाओं से नितान्त भिन्न है।[१६७] उनका अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—

समान परिस्थितियों में सर्वदा समान घटनाएं होंगी,
क, ख, ग परिस्थितियों में अ होता है,
∴ क, ख, ग परिस्थितियों में अ सर्वदा होगा।

विशेष घटनाओं के आधार पर सामान्य तथ्य का निर्धारण करने के लिये आगमनात्मक प्रक्रिया की कुछ विशिष्ट विधियां हैं, जिनका पालन न होने पर आगमन यथार्थ नहीं रहता। अरस्तू ने 'नाउस' यानी बुद्धि के व्यापार, जिसे जानसन ने 'अंतः दृष्टिक विधि' कहा है तथा जातिगत सभी विशेषों की परीक्षा द्वारा सामान्यीकरण की विधियों का अवलम्बन लिया है।[१६८] शास्त्रीययुगीन तार्किकों ने अबाधित और समरूप अनुभव के आधार पर आंशिक गणना पर अधिक जोर दिया है। बेकन के अनुसार सामान्य वाक्य प्राप्त करने के लिये निरीक्षण (जिसके अन्तर्गत दृष्टान्तों का एकत्र अवलोकन किया जाता है), विश्लेषण, (में निरीक्षित दृष्टान्तों को उपस्थिति सूची, अभाव सूची तथा परिमाणसूची में विश्लेषित किया जाता है), और अन्त में पृथक्करण (के सिद्धान्त पर कारण-कार्य सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाली आवश्यक परिस्थितियों से भिन्न आकस्मिक तथा निष्प्रयोजक दशाओं को पृथक करना), आवश्यक हैं।[१६९] इन्हीं के आधार पर मिल ने अपनी जाँच प्रायोगिक विधियों—१ अन्वय २ व्यतिरेक ३ संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक, ४ सहगामी विचरण, तथा ५ परिशेष की कल्पना की है। मिल ने इन विधियों को वैज्ञानिक अन्वेषण और प्रमाण दोनों के लिये उपयोगी बतलाया है।[१७०] मिल द्वारा प्रतिपादित सभी विधियों पर वेल्टन, स्टेबिंग, कोहेन और निगल आदि ने यथेष्ट प्रकाश डाला है।[१७१]

सादृश्यमूलक अनुमान

अरस्तू ने सादृश्य को 'अनुपात की समता' अर्थ में प्रयुक्त किया है।[१७२] इसी

तथ्य को आधार मानते हुए व्हेटली ने सम्बन्धों के सादृश्य को सादृश्य कहा है।[१७३] उदाहरणतः २:४::३:६

स्वास्थ्य : शरीर :: सदगुण : आत्मा
अ का ब के साथ वही सम्बन्ध है जो स का द के साथ है,
अ के ब से सम्बन्ध का फल क है,
∴ स के द से सम्बन्ध का फल भी क है।

तात्पर्य यह कि दो का अथवा स्वास्थ्य का जो चार अथवा शरीर से सम्बन्ध है, वही तीन अथवा सद्गुण का छः अथवा आत्मा से है। इसी प्रकार तृतीय उदाहरण भी समझा जा सकता है। मिल[१७४] का समर्थन करते हुए वेल्टन ने लिखा है कि वस्तुओं की आंशिक एकता से अन्य बातों में एकता का अनुमान करना सादृश्य है जैसे—

अ कुछ गुणों में च. छ, ज, इत्यादि में ब के सदृश है,
ब में एक अन्य गुण म पाया जाता है,
∴ अ में भी म गुण है।

हालांकि म और च, छ, ज, इत्यादि गुणों में किसी सम्बन्ध का होना ज्ञात नहीं है। अपूर्ण समानता पर अवलंबित होने के कारण इस अनुमान के निष्कर्ष सम्भाव्य मात्र होते हैं, फिर भी इसकी सम्भाव्यता शून्य से लेकर असंदिग्धता तक कोई भी मात्रा हो सकती है।[१७५] साधारणतया यह अनुमान दूषित है, क्योंकि अव्याप्त हेतु दोष होने के कारण यह आकारिक दोष से ग्रस्त है, किन्तु यदि कोई गुण अ के लिये और अ, ब, म के लिये इतना आवश्यक हो कि वह एक दूसरे के बिना उपलब्ध न होता तो उक्त आकारिक अव्याप्त हेतु दोष निरस्त हो जाता है। कीनेस के अनुसार सादृश्य विधायक अथवा निषेधात्मक तथा पूर्ण अथवा ज्ञात हो सकता है। जैसे दो पदार्थ—स और न परस्पर एक दूसरे से प, ^{१}प, ^{२}प^{३} . . . में सादृश्य तथा र, ^{१}र, ^{२}र^{३} में वैसा दृश्य रखते हैं तो वे प्रथम विधायक एवं द्वितीय निषेध सादृश्य कहलाते हैं। स और न पदार्थों का ज्ञान कभी पूर्ण न होने के कारण सादृश्य के अन्तर्गत ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार के धर्म रहेंगे। इसलिए इस आधार पर पूर्ण विधायक तथा निषेधक एवं ज्ञात विधायक तथा निषेधक सादृश्य हो सकते हैं।[१७६]

भारतीय तर्कशास्त्र में, व्यवहित अनुमान के दो मुख्य प्रकारों (निगमनात्मक और आगमनात्मक अनुमानों) को भी कोई प्रश्रय नहीं मिल सका, कारण कि यहाँ निगमन और आगमन दो निरपेक्ष प्रणालियां न होकर समन्वित और सापेक्ष प्रणालियां हैं। भारतीय न्याय की दृष्टि से कोई भी अनुमान तार्किक रूप से तब तक प्रामाणिक नहीं माना जाता, जब तक वह आगमन अर्थात् व्याप्ति पर आधारित न हो। इसी प्रकार अनुमान की सम्भावना के लिये पक्षधर्मता अर्थात् निगमन का स्वीकार करना भी परम आवश्यक है। दोनों अथवा किसी भी एक पहलू का अभाव होने पर अनुमान की यथार्थता स्थिर नहीं रह पाती। इसीलिये यहाँ इन दोनों को आधारभूत स्तम्भ कहा गया है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में भी आजकल अनुमान की दो आवश्यक शर्तें मानी जाती हैं। जानसन के अनुसार प्रथम को तार्किक या मौलिक तथा द्वितीय को मनोवैज्ञानिक या ज्ञानात्मक शर्त कहा जा सकता है।[१७७] प्रथम शर्त को तार्किक कहने का अभिप्राय यह है कि यह अनुमाता निरपेक्ष है। द्वितीय शर्त अनुमाता पर निर्भर रहती है,

इसीलिये इसे मनोवैज्ञानिक कहा गया है। उदाहरणतः यदि क पद से ख को निगमित करना हो, तो यह आवश्यक है कि क तार्किक रूप से ख को निहित (ध्वनित) करे तथा वह स्वयं भी सत्य हो। दूसरे जो अन्य बातें पदों के बारे में कही जा सकती हैं, उन्हें अनुमाता स्वयं जानता है, क्योंकि अनुमान में, अनुमाता कुछ ज्ञात वस्तुओं से अज्ञात अर्थात् अनुमेय वस्तु की ओर अग्रसर होता है। इसलिये पदों और उनके पारस्परिक सम्बन्ध से अनुमाता भलीभांति अवगत रहता है। इस प्रकार जानसन का समर्थन करते हुए स्टेबिंग ने दोनों शर्तों को आवश्यक माना है,[१७८] किन्तु बरट्रेन्ड रसेल के अनुसार अनुमान के लिये केवल तार्किक शर्त ही आवश्यक है, मनोवैज्ञानिक नहीं। जैसा कि उन्होंने कहा है, 'यह स्पष्ट है कि जहाँ यह प्रामाणिक रूप से एक वाक्य को दूसरे से अनुमित करते हैं, तो वह दोनों वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही निर्भर रहता है। इसके लिये हम उसका प्रत्यक्ष करें अथवा नहीं, यह आवश्यक नहीं क्योंकि वास्तविक रूप से अनुमान में मन (उसी प्रकार वस्तुओं का) ग्राहक मात्र रहता है, जैसा कि वह व्यावहारिक ज्ञान में।[१७९] किन्तु भारतीय तर्कशास्त्र में दोनों का होना अनिवार्य है अन्यथा अनुमान दूषित हो जाता है। जानसन, स्टेबिंग तथा बरट्रेन्ड रसेल द्वारा प्रतिपादित ये शर्तें निगमनात्मक अनुमान तक ही सीमित हैं, क्योंकि भारतीय तर्कशास्त्र की तरह उनकी तार्किक शर्त व्याप्ति अर्थात् आगमन पर आधारित नहीं है। इसलिये व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों ज्ञानों की संग्राहक होने के कारण भारतीय अनुमान प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है।

यहाँ निगमनिक अनुमान के अवान्तर भेदों (शुद्ध—शुद्ध निरपेक्ष, शुद्ध अभ्युपगत, शुद्ध वैकल्पिक, मिश्र-अभ्युपगत-निरपेक्ष, अभ्युपगत-वैकल्पिक, एवं उभयतोपाश) तथा आगमनिक अनुमान के प्रकारों (पूर्ण गणनाश्रित, आंशिक गणनाश्रित, वैज्ञानिक तथा सादृश्यमूलक आगमन) को भी संतोषजनक नहीं समझा गया, क्योंकि निगमनात्मक अनुमान भेदों का आकारिक सङ्गति के अतिरिक्त कोई मूल्य नहीं है, और आगमनमूलक भेद केवल विशेष वस्तुओं की परीक्षा पर आधारित होने के कारण एकाङ्गी है। लुप्तावयव अनुमानों को यहाँ दोषपूर्ण माना गया है, जो न्यायसूत्रकार के मत में 'हीन' नामक निग्रह स्थान है। इसी प्रकार विभिन्न न्यायमाला अनुमान भी निरर्थक है, क्योंकि वे या तो कुछ निरपेक्ष न्याययुक्ति के योग हैं अथवा लुप्तावयवी अनुमानों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। भारतीय दर्शन में इस प्रकार की न्यायमालाओं का सर्वथा अभाव नहीं है, क्योंकि उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[१८०] फिर भी न्याय की परिष्कृत प्रक्रिया के अनुसार महर्षि गौतम ने इन्हें दूषित माना है, क्योंकि ये 'अधिक' नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त हैं।

यहाँ अनुमान के भेद विभिन्न प्रकार से अवश्य प्रतिपादित किये गये हैं, जैसे, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट, स्वार्थ और परार्थ, वीत और अवीत एवं केवलान्वयी आदि भेद केवल आकारिक अथवा वस्तुमूलक नहीं हैं, वरन् व्याप्ति प्रकार भेद, प्रयोजन, विधि-निषेध और व्याप्ति स्थापन प्रणाली के सुदृढ़ सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण आकार और वस्तुमूलक दोनों तथ्यों से सुसज्जित हैं। अरस्तू की न्याययुक्ति और उपपत्तिमूलक अनुमानों की तुलना भारतीय परार्थ और स्वार्थानुमानों से की जा सकती है, क्योंकि न्याययुक्ति-परार्थानुमान दोनों शब्द मूलक हैं जबकि स्वार्थानुमान और उपपत्तिमूलक अनुमान ज्ञानमूलक हैं।

नियमों की पृष्ठभूमि में भी भारतीय आनुमानिक नियम पाश्चात्य तार्किक नियमों से अधिक परिष्कृत, व्यापक, सूक्ष्म तथा परिमार्जित हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में विभिन्न प्रकार के अनुमान भेदों के लिये अनेक नियम प्रतिपादित किये गये हैं। जबकि अनुमान मात्र के लिये यहाँ तीन अथवा पाँच आवश्यक नियम निर्धारित किये गये हैं— पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व अथवा इनमें दो—अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व और जोड़कर ये पाँच नियम। इन नियमों का वर्णन द्वितीय अध्याय में भली प्रकार से किया गया है।

अरस्तू से लेकर आज तक प्राय: सभी पाश्चात्य तार्किकों ने अनुमान में प्रयुक्त होने वाले केवल तीन वाक्य ही माने हैं—साध्य या दीर्घवाक्य, पक्ष या लघुवाक्य तथा निष्कर्ष वाक्य। अवयव प्रयोग के विषय में वहाँ कोई विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती और इन तीनों के लक्षण के प्रसङ्ग में भी प्राय: सभी उत्तरवर्ती तार्किकों ने अरस्तू का समर्थन किया है। किन्तु भारतीय तर्कशास्त्र में अवयव लक्षण और अवयव प्रयोग विभिन्न दर्शनानुसार विभिन्न प्रकार से प्रतिपादित किये गये हैं। इसीलिये भारत में दस, पाँच, तीन दो और एक अवयवी परम्परायें उपलब्ध होती हैं। अवयव लक्षण और अवयव प्रयोग का विवरण अध्याय पाँच में दिया गया है। भारतीय उदाहरण वाक्य से पाश्चात्य साध्य वाक्य की तुलना की जा सकती है, किन्तु द्वितीय की तरह प्रथम में साध्य वाक्य परमुखापेक्षी नहीं, वरन् व्याप्ति के ठोस आधार पर स्थित है, क्योंकि पाश्चात्य साध्य वाक्य आगमन पर आधारित नहीं रहता। इसी प्रकार पाश्चात्य साध्य वाक्य में आगमन मूलक उदाहरण का भी अभाव रहता है। न्यायदर्शन के पक्षधर्मता प्रतिपादित उपनय वाक्य में पक्ष, साध्य, हेतु तीनों की विशिष्ट प्रतीति रहती है जबकि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में इस प्रकार का कोई अवयव नहीं पाया जाता। भाट्ट मीमांसा गत अवयव प्रयोग निष्ठ प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण अथवा उदाहरण-उपनय-निगमन से पाश्चात्य तर्कशास्त्र से निष्कर्ष, पक्ष, साध्य अथवा साध्य, पक्ष, निष्कर्ष वाक्य की तुलना की जा सकती है। समस्त भारतीय अनुमान प्रयोगों में आगमन और निगमन दोनों का समावेश है। अवयव प्रयोग में उदाहरण को आवश्यक रूप में समाविष्ट करने का अभिप्राय यह कि ऐसे उदाहरणों को व्याप्तिग्रह के साधनों द्वारा नियम रूप में प्राप्त किया जाता है और उदाहरण इस बात का भी प्रमाण है कि नियम मनगढ़न्त नहीं, प्रत्युत अनुभव सिद्ध है। क्योंकि जो अनुभव के प्रतिकूल हो, वह उदाहरण नहीं बन सकता। इसीलिये हेत्वाभासों के साथ-साथ यहाँ दृष्टान्ताभासों की भी विवेचना की गयी है। यहाँ पाश्चात्य दर्शन की भाँति निगमन और आगमन दो नितान्त भिन्न प्रतिकूल क्रियायें नहीं है, वरन् सम्पूर्ण विचार प्रक्रिया के दो सापेक्ष अङ्ग है। भेद केवल इतना है कि प्रथम में व्यापक नियम से उदाहरणों की ओर तथा द्वितीय में विचार की दिशा उदाहरणों से व्यापक नियम की ओर अग्रसर होती है। दोनों एक दूसरे के अभाव में पंगु हैं। बिना आगमन अर्थात् व्याप्ति के निगमन क्रिया सिद्ध नहीं हो पाती कारण व्याप्तिसूचक साध्य या उदाहरण वाक्य की जिसे सत्य मानकर चला जाता है अन्तिम सिद्धि आगमन द्वारा ही होती है। जैसे, लेखक मनुष्य होने के कारण नश्वर है 'यह अनुमान 'मनुष्य नश्वर है' इस सामान्य सिद्धान्त पर निर्भर है। किन्तु इस सिद्धान्त की सत्यता अनेकानेक मनुष्यों के उदाहरणों को लेकर आगमन द्वारा ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार आगमनात्मक अनुमान की सिद्धि भी निगमन के बिना

सम्पन्न नहीं होती, क्योंकि आगमनमूलक अनेक परिकल्पनाओं को तब तक सिद्धान्त का रूप नहीं दिया जा सकता, जब तक निगमन विधि से निष्कर्षित उन परिकल्पनाओं को अनुभव सिद्ध निष्कर्षों के रूप में स्वीकार नहीं कर लिया जाता। इस प्रकार निगमनात्मक अनुमान इस बात का द्योतक है कि किसी व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत कौन-कौन से उदाहरण समाविष्ट किये जाते हैं और आगमनात्मक अनुमान द्वारा यह बोध होता है कि विशेष उदाहरण जो आपाततः भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं वे वस्तुतः अभेद रूप से एक ही सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत हैं। भारतीय अनुमान में आगमनिक उपायों द्वारा उदाहरण वाक्य की सर्जना की जाती है और फिर उपनय वाक्य द्वारा निगमन प्रक्रिया से निष्कर्ष को निगमित किया जाता है। उदाहरण और निगमन के लक्षणों से भी यही बात प्रतिपादित होती है। इसी प्रकार निगमन वाक्य में अन्य सभी वाक्यों का सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है। अतः भारतीय अनुमान प्रयोग पद्धति पाश्चात्य पद्धति से अधिक व्यापक तथा परिष्कृत है।

आगमनात्मक अनुमानों में प्रयुक्त होने वाली, अन्तःदृष्टि गणना, पूर्ण गणना, आंशिक गणना); निरीक्षण-विश्लेषण-पृथक्करण; अन्वय, व्यतिरेक, संयक्त अन्वय व्यतिरेक, सहगामी विचरण, परिशेष आदि विधियों की अपेक्षा व्याप्तिगृह के उपायों के बारे में यहाँ पाश्चात्य चिन्तन से अधिक गहन विचार किया गया है। अरस्तू की अन्तःदृष्टि और गणना विधि की अन्तर प्रत्यक्ष और सकृद् दर्शन अथवा भूयोदर्शन से तुलना की जा सकती है। बेकन की निरीक्षण–विश्लेषण–पृथक्करण रीतियों की अपेक्षा उपाधि निरास विधि अधिक श्रेयस्कर है, जिसमें उक्त तीनों प्रक्रियायें सम्मिलित हैं। इसी प्रकार मिल की विधियाँ भी अपूर्ण हैं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक-सहचार अथवा उनकी संयुक्त सहचार पद्धति को भारतीय दार्शनिकों ने दोष पूर्ण सिद्ध किया है उसकी परिशेष विधि को वात्स्यायन के परिशेषानुमान में बहुत पहले निर्णीत किया जा चुका है। मिल ने अपनी विधियों को कार्यकारणभाव की उपलब्धि में आवश्यक बतलाया है। अध्याय तीन में कार्यकारणभाव की भारतीय प्रणाली पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने मिल की विधियों की तुलना बौद्ध कार्य-कारणभाव की संयुक्त व्यतिरेक अन्वय विधि से करते हुए दोनों को दोषयुक्त बतलाते हुए न्यायविधि को श्रेष्ठ सिद्ध किया है।[१८१] आधुनिक तर्कशास्त्री आर० एम० ईटन ने, नैयायिकों के व्याप्तिग्रह साधन सामान्यलक्षणा सिद्धान्त की भांति विशेष पदार्थों में सामान्य तत्त्व गृहीत करने के लिये आगमन प्रक्रिया के विकास पर बल दिया है,[१८२] किन्तु व्याप्तिग्राहक प्रमाणों पर भारतीय तर्कशास्त्र में जितना व्यापक और स्पष्ट विवरण मिलता है उतना पाश्चात्य तर्कशास्त्रों में नहीं।

आकार, संयोग एवं आकारान्तरण

आकार और संयोग

यह बतलाया जा चुका है कि न्याययुक्ति में साध्य तथा पक्ष पद की भांति हेतु पद भी दो बार प्रयुक्त किया जाता है। हेतु पद की आधार वाक्यों में विशिष्ट स्थिति को देखकर ही पाश्चात्य तर्कशास्त्र में विभिन्न आकारों की कल्पना की गयी है। अरस्तू के अनुसार, न्याययुक्ति के उस रूप को आकार कहा जाता है, जिसमें आधार वाक्यों में प्रयुक्त होने वाले, आत्यन्तिक साध्य और पक्ष पदों के सम्बन्ध में हेतु पद की विभिन्न

स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। आकार तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम आकार में हेतु पद एक आधार वाक्य में उद्देश्य तथा द्वितीय आधार वाक्य में विधेय, द्वितीय आकार में वह दोनों आधार वाक्यों में विधेय एवं तृतीय आकार में वह दोनों आधार वाक्यों में उद्देश्य रहता है।[१८३] अरस्तू ने केवल इन्हीं तीन आकारों को मान्य किया है, किन्तु बाद में गेलन नामक तर्कशास्त्री ने एक चौथे आकार की भी सर्जना की है, जिसमें हेतु पद एक आधार वाक्य में विधेय तथा दूसरे आधार वाक्य में उद्देश्य रहता है।[१८४] अरस्तू और गेलन की इस व्याख्या का कीनेस, वेल्टन, स्टेबिंग, जोसेफ, कोहेन और निगल आदि सभी ने समर्थन किया है।[१८५] इनको इस प्रकार समझना चाहिये:—

प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ
हे—सा	सा—हे	हे—सा	सा—हे
प—हे	प—हे	हे—प	हे—प [१८६]
∴ प—सा	∴ प—सा	∴ प—सा	∴ प—सा

न्याययुक्ति के उस रूप को संयोग कहा जाता है, जिसका निर्धारण न्याययुक्ति के घटक वाक्यों (दोनों आधार वाक्य तथा निष्कर्ष वाक्य) के गुण तथा परिमाण के आधार किया जाता है।[१८७] गुण तथा परिमाण के आधार पर वाक्य चार प्रकार के होते हैं— ए, ई, ऐ एवं ओ। वाक्यों के परस्पर संयोग से दो सो छप्पन संयोग बनाये जा सकते हैं।[१८८] किन्तु यथार्थतः उनमें से उन्नीस संयोग ही सत्य होते हैं।[१८९] अरस्तू ने चौदह यथार्थ संयोग माने हैं।[१९०] उन्होंने तीनों आकारों के संयोगों की प्रामाणिकता की परीक्षा करने के लिये एक सामान्य सिद्धान्त तथा कुछ विशेष नियमों की व्यवस्था की है। उन्होंने न्याययुक्ति के सामान्य सिद्धान्त को 'सब कुछ और कुछ नहीं' का सिद्धान्त कहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार, 'जिस किसी का भी विधान अथवा निषेध एक समग्र वर्ग या जाति के लिये किया जाता है, उसका विधान अथवा निषेध उसी तरह उस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली किसी भी वस्तु के बारे में किया जा सकता है।'[१९१] उदाहरण के माध्यम से इसको इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) सब मनुष्य मरणशील हैं,	(२) कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है,
सुकरात एक मनुष्य है,	सुकरात एक मनुष्य है,
∴ सुकरात मरणशील है।	∴ सुकरात पूर्ण नहीं है।

प्रथम न्याययुक्ति में 'नश्वरता का विधान' 'मनुष्यों' की सम्पूर्ण जाति के लिये हुआ है, 'सुकरात' मनुष्य जाति के अन्तर्गत है, अतः 'नश्वरता' का विधान उसके लिये भी किया गया है। द्वितीय में 'पूर्णता' का निषेध सम्पूर्ण 'मनुष्य' जाति के लिये हुआ है, 'सुकरात' मनुष्य जाति के अन्तर्गत होने के कारण, उसके लिये भी पूर्णता का निषेध किया गया है। कीनेस ने इस सामान्य सिद्धान्त से निरपेक्ष न्याययुक्ति के उक्त सभी नियमों को निष्कर्षित करने का प्रयास किया है।[१९२] किन्तु यह सामान्य सिद्धान्त प्रथम आकार पर ही पूर्ण रूप से लागू होता है, इसीलिये अरस्तू ने प्रथम आकार को पूर्ण तथा द्वितीय और तृतीय को अपूर्ण कहा है। किन्तु अरस्तू की इस मान्यता को उत्तरवर्ती तार्किकों ने स्वीकार नहीं किया है अ।९ उन्होने कहा है कि यदि सभी आकारों में सिद्धान्त और नियमों का पालन किया जाय, तो सभी आकार पूर्ण कहला सकते हैं। इसी दृष्टि से

द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आकार की यथार्थता के परीक्षण के लिये क्रमशः भेद-सिद्धान्त, निदर्शन-सिद्धान्त तथा पारस्परिक सम्बन्ध सिद्धान्त की कल्पना की गयी है।[१९३] प्रत्येक आकार के विशिष्ट नियमों की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—

प्रथम आकार—(१) पक्ष वाक्य विधानात्मक (२) तथा साध्यवाक्य सामान्य होना चाहिये।

द्वितीय आकार—(२) एक आधार वाक्य निषेधात्मक (२) तथा साध्य वाक्य सामान्य होना चाहिये।

तृतीय आकार—(१) पक्ष वाक्य विधानात्मक (२) तथा निष्कर्ष विशेष होना चाहिये।

चतुर्थ आकार—(१) यदि साध्यवाक्य विधानात्मक हो तो पक्षवाक्य सामान्य, (२) यदि कोई एक आधारवाक्य निषेधात्मक हो, तो साध्य वाक्य सामान्य एवं (३) यदि पक्षवाक्य विधानात्मक हो तो, निष्कर्ष, विशेष, होना चाहिये।[१९४] इन नियमों का प्रायः सभी तर्कशास्त्रियों ने अनुगमन किया है।[१९५]

इन नियमों का पालन करने पर निम्नांकित संयोग निगमित किये जा सकते हैं—

प्रथम आकार	द्वितीय आकार	तृतीय आकार	चतुर्थ आकार
ए ए ए	ई ए ई	ए ए ऐ	ए ए ऐ
ए ऐ ऐ	ए ई ई	ए ऐ ऐ	ए ई ई
ई ए ई	ए ओ ओ	ए ए ऐ	ई ए ओ
ई ऐ ओ	ई ऐ ओ	ई ए ओ	ई ऐ ओ
ए ए ऐ	ई ए ओ	ई ऐ ओ	ऐ ए ऐ
ई ए ओ	ए ई ओ	ओ ए ओ	ए ई ओ

इन चौबीस संयोगों में से पंद्रह संयोग मौलिक तथा यथार्थ संयोग कहलाते हैं, जिनमें उक्त सभी नियमों का पालन किया जाता है। तृतीय आकार के 'ए ए ऐ' और 'ई ए ओ', चतुर्थ आकार के 'ए ए ऐ' और 'ई ए ओ' संयोग सबल तथा प्रथम आकार के 'ए ए ऐ' और 'ई ए ओ', द्वितीय आकार के 'ई ए ओ' और 'ए ई ओ' एवं चतुर्थ आकार के 'ए ई ओ' संयोग संकुचित होने से यथार्थ संयोग नहीं हैं। सबल संयोग में एक आधार वाक्य निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होने से अधिक सबल होता है तथा सङ्कुचित संयोग में विशेष निष्कर्ष निगमित किया जाता है जबकि वहाँ उचित रूप से सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है।[१९६] मिल ने इन सभी आकार और संयोगों की आलोचना करते हुए केवल प्रथम आकार के प्रथम और द्वितीय आकार के द्वितीय संयोग को पर्याप्त माना है, क्योंकि शेष सभी संयोगों का इन दो में पर्यवसान हो सकता है।[१९७]

विभिन्न आकारों की विशेषताएं और उपयोगिताएं लेम्बर्ट के शब्दों में इस प्रकार रखी जा सकती है—प्रथम आकार किसी वस्तु के गुणों की खोज अथवा उपपत्ति, के लिये, द्वितीय आकार वस्तुओं के भेद का अन्वेषण अथवा उपपत्ति के लिये, तृतीय आकार अपवादों का अन्वेषण अथवा उपपत्ति के लिये एवं चतुर्थ आकार किसी जाति की विभिन्न उपजातियों के अन्वेषण अथवा पृथक्ता सिद्ध करने के लिये विशेष उपयोगी

है।[१९८] कीन्नेस, वेल्टन तथा स्टेबिंग ने इन विशेषताओं पर विशद प्रकाश डाला है।[१९९]

आकारान्तरण

अरस्तू का 'कुछ नहीं और सब कुछ' का सिद्धान्त प्रथम आकार पर सीधा लागू होता है, इसीलिये उन्होंने इसको पूर्ण वैज्ञानिक आकार कहा है और शेष सभी को अपूर्ण। अपूर्ण आकार भी प्रथम आकार द्वारा आकारान्तरण की अनुलोम व विलोम प्रक्रियाओं द्वारा पूर्ण बनाये जा सकते हैं।[२००] प्रथम प्रक्रिया में आधार वाक्यों का परिवर्तन किया जाता है, जब कि द्वितीय में उसके व्याघातक वाक्य को मिथ्या सिद्ध किया जाता है।[२०१] किन्तु कालान्तर में इस सङ्कुचित मान्यता को मान्य नहीं किया गया और कि किसी भी आकार के संयोगों का किसी अन्य आकार के संयोग में आकारान्तरण होना सम्भावित बतलाया गया है, यदि वे संयोग सबल अथवा सङ्कुचित वाक्य दोषों से ग्रसित न हो।[२०२] कीनेस के अनुसार आकारान्तरण उस प्रक्रिया का नाम है, जिसमें दी गयी न्याययुक्ति को किसी अन्य आकार या संयोग में व्यक्त किया जाता है।[२०३] वेल्टन और कोहेन तथा निगल ने भी इसी लक्षण का समर्थन किया है।[२०४] कीनेस ने अरस्तू की उक्त व्याख्या का समर्थन करते हुए आकारान्तरण दो प्रकार का माना है— अनुलोम और विलोम।[२०५]

अनुलोम आकारान्तरण

अनुलोम आकारान्तरण उस प्रक्रिया का नाम है, जिसमें निष्कर्ष आधार वाक्यों के परिवर्तन द्वारा प्राप्त होता है। जैसे तृतीय आकार के 'ए ए ऐ' संयोग का परिवर्तन प्रथम आकार के 'ए ऐ ऐ' में होता है—

हे ए सा,	हे ए सा,
हे ए प,	प ऐ है,
———	———[२०६]
∴ प ऐ सा।	∴ प ऐ सा।

कीनेस ने केवल यही उदाहरण दिया है, किन्तु वेल्टन ने इसका विस्तार करते हुए अन्य उदाहरणों के साथ-साथ वाक्य स्थानान्तरण तथा प्रतिवर्तन प्रक्रिया द्वारा भी अनुलोम आकारान्तरण को समझाया है।[२०७]

विलोम आकारान्तरण में एक वाक्य की विलोमतः प्रस्थापित तब किया जाता है जब उसके व्याघातक वाक्य को मिथ्या सिद्ध कर दिया जाता है।[२०८] आशय यह कि इस प्रक्रिया में एक ऐसी नवीन न्याययुक्ति निर्मित की जाती है, जिसमें मूल निष्कर्ष की यथार्थता को स्थापित करने के लिये उसके व्याघातक वाक्य को मिथ्या सिद्ध किया जाता है। उदाहरणार्थ द्वितीय आकार के 'ए ओ ओ' संयोग को लिया जा सकता है—

सब सा हे हैं,
कुछ प हे नहीं हैं,
———
∴ कुछ प सा नहीं है।

यदि इस निष्कर्ष को सही नहीं माना जाय, तो निर्मध्यम सिद्धान्त के अनुसार इसके व्याघातक वाक्य---'सब प सा हैं' को सही होना चाहिये और दिये हुए आधार वाक्यों के सत्य होने पर निम्नलिखित तीन सही वाक्य बनाये जा सकते हैं---

सब सा हे हैं,
कुछ प हे नहीं हैं,
सब प सा हैं।

∴ प्रथम और तृतीय वाक्यों के सम्मिलन से प्रथम आकार का 'ए ए ए' संयोग निर्मित किया जा सकता है---

सब सा हे हैं,
सब प हे हैं,
∴ सब प हे हैं।

अतः 'कुछ प हे नहीं हैं' तथा 'सब प हे हैं' ये दोनों वाक्य सत्य होंगे, किन्तु व्याघात सिद्धान्त के अनुसार ये निरर्थक हैं, क्योंकि दोनों व्याघातक हैं। परिणामतः 'कुछ प हे नहीं हैं' को मिथ्या मानने पर आत्मव्याघात होगा, अतः उसे सत्य निगमित किया जा सकता है। इसी प्रकार तृतीय आकार के 'ओ ए ओ' संयोग को भी सिद्ध किया जा सकता है।[२०९] अरस्तू ने, प्रतिवर्तन, परिवर्तित प्रतिवर्तन आदि प्रक्रियाओं से परिचित न होने के कारण, इस प्रक्रिया का अवलम्बन किया है, किन्तु अब प्रतिवर्तन द्वारा उक्त संयोगों का भी अनुलोम आकारान्तरण किया जा सकता है।

अरस्तू के समय में आकारान्तरण ही एक ऐसी प्रक्रिया ज्ञात थी, जिसके द्वारा तथाकथित अपूर्ण आकारों के संयोगों की यथार्थता का परीक्षण किया जाता था। इसलिए उस काल में इसका अत्यधिक महत्व था। किन्तु आधुनिक समय में, यथार्थता समीक्षण के लिये, अनेक प्रक्रियायें उपलब्ध होने से, इसका महत्व घट गया है। लेम्बर्ट के साथ कुछ तार्किकों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक आकार अपने-अपने सिद्धान्तों और विशिष्ट नियमों पर आधारित है, इसलिए उनके अनुसार ही उनकी यथार्थता का परीक्षण किया जा सकता है अतः आकारान्तरण प्रक्रिया अस्वाभाविक और अनावश्यक है।[२१०] इतना होने पर भी आकारान्तरण को पूर्णतया व्यर्थ प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता, कारण एक आकार के संयोगों का अन्य आकार के संयोगों में बदल सकने के कारण यह सिद्ध हो जाता है कि विभिन्न आकार यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु मूल रूप से वे अनन्य हैं।

अभ्युपगत न्याययुक्ति के आकार और संयोग

इस न्याययुक्ति को दो संयोगों में व्यक्त किया जा सकता है---विधायक तथा विघातक संयोग।

विधायक---इस संयोग को विधायक उस अवस्था में कहा जाता है, जब अभ्युपगत (साध्यवाक्य) के पूर्वाङ्ग का निरपेक्ष (पक्ष वाक्य) द्वारा विधान हो जाने के उपरान्त, अभ्युपगत वाक्य के उत्तराङ्ग को निष्कर्ष में स्वीकार किया जाता है। जैसे---

यदि प सही है तो क भी सही है,

प सही है,
∴ क भी सही है ।

विघातक—इसे विघातक कहने का तात्पर्य यह है कि (साध्य) अभ्युपगत वाक्य के उत्तराङ्ग का निरपेक्ष (पक्ष वाक्य) में निषेध हो जाने के उपरान्त अभ्युपगत वाक्य के पूर्वाङ्ग को निष्कर्ष में अस्वीकार कर दिया जाता है—

यदि प सही है तो क भी सही है,
क सही नहीं है,
∴ प भी सही नहीं है ।

इन संयोगों की रचना निरपेक्ष न्याय के प्रथम और द्वितीय आकार के 'बेरेबेरे' और 'केमेस्ट्रस' संयोग के अनुरूप है ।[२११]

वैकल्पिक वाक्य के आकार और संयोग

वैकल्पिक न्याययुक्ति के संयोगों की संख्या इस बात पर निर्भर है कि वैकल्पिक साध्य वाक्य के विकल्प परस्पर व्यावर्तक होते हैं अथवा उनका एक साथ रहना भी सम्भव है ।

या तो क ख है या ग घ इस कथन का तात्पर्य 'एक किन्तु दोनों नहीं हैं या एक, किन्तु सम्भवतया दोनों भी हैं । ऐसी स्थिति में जहाँ परस्पर व्यावर्तक विकल्प उपस्थित हों, वहाँ इसके दो रूप होते हैं—बाधन द्वारा साधन और साधन द्वारा बाधन, किन्तु जहाँ विकल्प परस्पर व्यावर्तक नहीं होते वहाँ केवल प्रथम रूप ही रहता है—
उदाहरणार्थ—

बाधन द्वारा साधन

वीरेन्द्र या तो साक्षर है या निरक्षर,
वीरेन्द्र साक्षर नहीं है,
∴ वीरेन्द्र निरक्षर है ।

साधन द्वारा बाधन

वीरेन्द्र या तो साक्षर है या निरक्षर,
वीरेन्द्र साक्षर है,
∴ वीरेन्द्र निरक्षर नहीं है ।

यहाँ दोनों विकल्प परस्पर व्यावर्तक हैं ।

यह पुस्तक या तो मनोरञ्जक है या शिक्षाप्रद,
यह पुस्तक मनोरञ्जक नहीं है ।
∴ यह पुस्तक शिक्षाप्रद है ।

यहाँ विकल्प परस्पर व्यावर्तक नहीं है, कारण एक ही पुस्तक मनोरञ्जक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हो सकती है । अतः एक विकल्प के विधान को स्वीकार कर लेने पर, दूसरे विकल्प का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों विकल्पों के एक साथ सही होने की सम्भावना रहती है, किन्तु एक विकल्प का निषेध कर देने पर दूसरे की

सिद्धि हो जाती है, कारण दो संभावनाओं में एक का निषेध हो जाने पर, दूसरी अपने आप सिद्ध हो जाती है।[२१२]

भारतीय तर्कशास्त्र में अरस्तू के कई सौ वर्ष पूर्व अवयव विवेचन के प्रसङ्ग में महर्षि गौतम ने साधर्म्य और वैधर्म्य नामक आकारों को निर्धारित कर दिया था, जिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी दार्शनिकों ने अन्वय और व्यतिरेक आकार के रूप में गृहीत किया है। पाश्चात्य तर्क शास्त्र में हेतु की विभिन्न स्थिति को देखकर जो चार प्रकार के आकार सम्डित किये गये हैं, वे निरर्थक जान पड़ते हैं, कारण विधि-निषेध रूप दो आकारों में प्रायः सभी आकार समाविष्ट हो जाते हैं। पञ्चम अध्याय में दोनों प्रकार के आकारों में अवयव प्रयोग भली प्रकार समझाया गया है।

इसी प्रकार निष्कर्ष और आश्रय वाक्यों के गुण और परिमाण की दृष्टि से जो २५६ संयोग पाश्चात्य तर्कशास्त्र में व्यक्त किये गये हैं, वे भी निष्प्रयोजक हैं, कारण उनमें से केवल १९ संयोग ही सिद्ध संयोग माने गये हैं। और मिल की सम्मति में प्रथम और द्वितीय आकार के 'बेरबेरे' तथा 'केमेस्ट्रस' ये दो संयोग ही पर्याप्त हैं। भारत में अनुमान सामान्य व्याप्ति की आधारशिला पर अवस्थित होने के कारण विशेष व्याप्तिमूलक संयोगों को सिद्ध संयोग नहीं माना जाता। शरबाद्स्की ने भी इस बात की पुष्टि की है।[२१३] इसलिए प्रथम आकार के 'ए ए ए,' 'ई ए ई', द्वितीय आकार के 'ए ई ई', चतुर्थ आकार के 'ए ई ई' को छोड़कर शेष सभी संयोग तथा तृतीय आकार के संपूर्ण संयोग विशेष से सम्बन्धित होने के कारण निरर्थक हैं। अनुमान में प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट संयोगों की ओर अध्याय छः में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है, जिसमें दिङ्नाग और उद्योतकर का विवेचन उल्लेखनीय है।

आकारान्तरण की समस्या भारतीय अनुमान में उत्पन्न नहीं होती, कारण यहाँ अन्वय व्यतिरेक अन्यतर प्रकार के व्याप्तिमूलक प्रयोग से सद् अनुमान होता है। अरस्तू की तरह, निर्बल संयोगों को यहाँ आकारान्तरण द्वारा सिद्ध संयोगों में आकारान्तरित नहीं किया जाता, कारण यहाँ निर्बल या अंशव्यापी संयोग सदैव उचित नहीं माने जाते, क्योंकि उनमें विभिन्न हेत्वाभास दोषों की आपत्ति दी जा सकती है। अरस्तू कृत अनुलोम आकारान्तरण यहाँ साध्य वाक्य में ही सम्भावित हो सकता है, पक्ष वाक्य में नहीं, कारण पक्ष पद सर्वदा स्थिर रहता है, इसलिये पक्ष पद के आकारान्तरण का प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार विशेष वाक्यमूलक संयोग अनावश्यक होने के कारण उनके आकारान्तरण की समस्या भी यहाँ निरस्त हो जाती है। यद्यपि सामान्य निषेधात्मक साध्यवाक्य के अनुलोम आकारान्तरण को यहाँ किसी प्रकार सह्य माना जा सकता है, किन्तु सामान्य विधानात्मक साध्य वाक्य के अनुलोम आकारान्तरण को नहीं, क्योंकि उसमें अनैकान्तिक दोष उत्थापित हो जाता है, जैसे, 'सब धूमयुक्त पदार्थ अग्नियुक्त होते हैं' इस सामान्य विधानात्मक वाक्य को परिवर्तन प्रक्रिया द्वारा, 'सब अग्नियुक्त पदार्थ धूमयक्त होते हैं' इस प्रकार आकारान्तरित किया जाय, तो यह प्रयोग अयोगोलक में व्यभिचरित होने के कारण दूषित सिद्ध होगा। अरस्तू की भांति यहाँ आकारान्तरण प्रक्रिया पदों के स्थानान्तरण द्वारा निष्पन्न नहीं होती, वरन् व्याप्यव्यापकभाव के अवलम्बन पर होती है, जिसमें व्यभिचार होने की कोई गुञ्जाइश नहीं रहती। अन्वय आकार से व्यतिरेक आकार में आकारान्तरण करने का नियम यह है कि जो साधन और साध्य अन्वय आकार

में व्याप्य-व्यापक रहते हैं, इसके विपरीत, व्यतिरेक आकार में, साध्याभाव व्याप्य तथा साधनाभाव 'व्यापक होता है। अरस्तू की विलोम आकारान्तरण की प्रक्रिया को यहाँ प्रमाणानुग्राहक तर्क प्रक्रिया से तुलित किया जा सकता है, लेकिन तीसरे अध्याय में विवेचित व्याप्यव्यापकभाव प्रक्रिया तथा तर्कप्रक्रिया का भारतीय विवरण पाश्चात्य प्रक्रियाओं से अधिक समीचीन है।

अनुमान के आधारभूत सिद्धान्त

निगमनिक तथा आगमनिक अनुमानों में आकारिक संगति और वस्तुमूलक सत्य की स्थापना के लिये पाश्चात्य तर्कशास्त्र में कुछ स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। निगमनिक अनुमानों के लिये तादात्म्य, व्याघात तथा निमर्ध्यम सिद्धान्त मुख्यतः तथा पर्याप्त हेतु सिद्धान्त गौण रूप से आवश्यक समझे जाते हैं। अरस्तू ने अपने 'तत्त्वशास्त्र' में द्वितीय तथा तृतीय की स्पष्ट व्याख्या की है और द्वितीय की आलोचना परिहार के प्रसङ्ग में प्रथम भी निहित हो जाता है।[२१४] चतुर्थ सिद्धान्त लाइबनीज़ द्वारा बाद में जोड़ा गया है।[२१५] अरस्तू ने इन सिद्धान्तों को विचार और वस्तु दोनों की स्वयं-सिद्धियाँ घोषित किया है, जिसका समर्थन जोसेफ ने भी किया है,[२१६] किन्तु शीलर[२१७] का समर्थन करते हुए वेल्टन, स्टेबिग तथा कोहेन और निगल ने इन्हें विचारों तक ही सीमित रखा है।[२१८] उबरवेग ने उक्त चारों को अनुमान की स्वयं-सिद्धियां कहा है।[२१९] इसी बात का समर्थन करते हुए वेल्टन ने लिखा है कि विचार के सिद्धान्त या ज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्त होने के नाते ये आधारभूत, अनिवार्य, ज्ञानगत आकार सम्बन्धी एवं अनुभव निरपेक्ष सिद्धान्त हैं, जिनसे किसी भी प्रकार का विरोध न रखते हुए सभी विचार सम्पादित किये जाने चाहिये।[२२०] मिल ने इसकी आलोचना करते हुए आगमनिक अनुमानों के लिये प्रकृति की समरूपता और कार्यकारणभाव नियमों की प्रस्थापना की है।[२२१] इस प्रकार उन्होंने अनुभव निरपेक्ष सिद्धान्तों की अपेक्षा अनुभव पर आधारित उक्त सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया है।

अरस्तू की निगमनिक न्याययुक्ति का साध्य वाक्य अपने सत्य के लिये परमुखापेक्षी रहता है, जबकि मिल का आगमनिक अनुमान का निष्कर्ष विशेषों की प्रत्याभूति तक ही सीमित रहता है। इसके विपरीत भारतीय अनुमान के आधार स्तम्भ उदाहरण और उपनय वाक्य में आगमन और निगमन दोनों प्रक्रियायें सम्मिलित रहती हैं। इसलिए अनुमान यहाँ अनुभव निरपेक्ष नहीं, अपितु अनुभवमूलक है। शर्बाट्स्की ने एक स्थान पर लिखा है कि योरोपीय तार्किक चिन्तन में जहाँ तीन मौलिक या व्यापक सिद्धान्त माने गये हैं, वहाँ भारतीय तर्कशास्त्र में केवल व्याघात सिद्धान्त ही प्रतिपादित किया गया है।[२२२] किन्तु विचार की कसौटी पर यह कथन खरा नहीं उतरता, कारण गङ्गेश की प्रमा व्याख्या' तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः में तादात्म्य सिद्धान्त तथा 'तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवः' रूप अप्रमा व्याख्या में व्याघात नियम परिलक्षित होते हैं। इसी बात को 'श्रीमद्भगवद्गीता'[२२३] और 'सांख्य-सूत्र[२२४] में भी व्यक्त किया गया है। उदयन की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में ये तीनों सिद्धान्त स्पष्टतः मुखरित होते हैं।[२२५] इसी प्रकार 'न्यायमञ्जरी' का उद्धरण देते हुए डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने तीनों सिद्धान्तों को निहित बतलाया है।[२२६] 'सर्वदर्शनसंग्रह' में भी व्याघात तथा निमर्ध्यम सिद्धान्त भली प्रकार विवेचित हैं।[२२७] प्रकृति की समरूपता का सिद्धान्त कार्यकारणभाव

सिद्धान्त में ही परिसमाप्त होता है और कार्यकारणभाव सिद्धान्त की जितनी ऊहापोह भारतीय दर्शन में की गयी है, उतनी पाश्चात्य तर्कशास्त्र में नहीं, । मिल का कारण लक्षण न्याय लक्षण का अंग्रेजी रूपान्तर ही प्रतिभासित होता है ।

हेत्वाभास

आभास या दोष का अर्थ सामान्य बोलचाल के व्यवहार में मिथ्या कथन, मिथ्या विश्वास या मानसिक भ्रांति के रूप में लगाया जाता है ? इस व्यापक अर्थ में सभी प्रकार के भ्रमों अथवा त्रुटियों को आभास की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु अधिक निश्चित भाषा में दोष को परिभाषित करने के लिये कहा जा सकता है 'दोष वह है जो आपाततः यथार्थ दिखाई दे, किन्तु वस्तुतः उसमें तार्किक नियमों का उल्लङ्घन किया गया हो ।' अतः उन युक्तियों को जो देखने में यथार्थ प्रतिभासित हों, परन्तु वास्तव में यथार्थ नहीं होती, उन्हें आभास कहा जाता है । यद्यपि तर्कविद्या में उन सब नियमों का विवेचन किया जाता है, जो विचारों को नियमित और सुसम्बद्ध बनाते है, परन्तु जहाँ नियम रहते हैं, वहाँ उनका उल्लङ्घन होना भी स्वाभाविक है । दोष हालाँकि अनन्त है, अतः इनकी नियत संख्या का निर्धारण दुष्कर है, इसीलिये कुछ तार्किकों ने अपने विवेचन में आभासों का वर्णन नहीं किया है, किन्तु यह मान्यता भ्रान्ति से आवृत्त जान पड़ती है, कारण युक्ति के दोषों को भली भांति जानकर उनसे बचा जा सकता है तथा यथार्थता के अधिक समीप पहुँचने में सहायता मिलती है । मनुष्य स्वभावतः भूलें करता है, कभी वह स्वयं भूल में पड़ जाता है और कभी वह जानबूझकर दूसरों को भूल में डालता है । प्रथम को कान्ट ने 'पेरालागिज्म' तथा द्वितीय को 'सोफिज्म' कहा है ।[२२८] डी मार्गन ने प्रथम को अनुमान के आकारित नियमों का उल्लङ्घन बतलाया है ।[२२९] अरस्तू ने केवल 'सोफिज्म' दोषों का ही विवेचन किया है । उनके अनुसार सोफिज्म उस चातुर्ययुक्त उक्ति को कहते हैं, जिसमें वादी का उद्देश्य केवल प्रतिवादी को धोका देना रहता है ।[२३०]

भाषा और विचार की दृष्टि से दोष दो प्रकार के हो सकते हैं—या तो दोष भाषा अभिव्यञ्जन में हो सकते हैं या विचार में । विचार सम्बन्धी दोष विचार के आकार सम्बन्धी नियमों अथवा विचार की सामग्री विषयक नियमों के उल्लङ्घन से उद्भावित होते हैं । अरस्तू ने इस दृष्टि से दोषों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया है—(१) जिनकी उत्पत्ति भाषा से हो तथा (२) जिनकी उत्पत्ति भाषा से बाहर हो । पुनः उन्होंने प्रथम के छः भेद—(१) अनेकार्थक दोष, (२) वाक्य छल, (३) रचना छल, (४) विभाग-दोष, (५) भ्रामक उच्चारण दोष एवं (६) अनुप्रास[२३१] दोष तथा द्वितीय के सात भेद—(१) उपाधिभेद, (२) अनुलोम उपाधिभेद दोष, (३)और उसका प्रतिलोम, (३) प्रतिवाद के अज्ञान का दोष, (४) समक्रमिक दोष, (५) आत्माश्रय दोष, (६) अ-कारण दोष एवं (७) बहु प्रश्नात्मक दोष[२३२] प्रतिपादित किये हैं । व्हेटली ने इन भेदों को स्पष्ट सिद्धान्त पर आधारित न होने के कारण निम्नलिखित भेद-विवेचन ज्ञापित किया है—आभास मुख्यतः दो प्रकार के हैं—तार्किक आभास और वस्तुविषयक आभास । प्रथम के दो भेद हैं—(१) शुद्ध तार्किक दोष, इसके अन्तर्गत दोष केवल अभिव्यक्ति के आकार में होते हैं, पदों के अर्थ पर इनमें विशेष ध्यान नहीं दिया जाता । इस भेद में न्याययुक्तियों के उल्लङ्घन से उत्पन्न होने वाले सभी दोष समाहित किये जा सकते हैं तथा (२) अर्धतार्किक दोषों में वे सभी दोष आते हैं, जो मध्यमपद की

अव्याप्ति के अतिरिक्त उसके अनेकार्थक दोष से उत्पन्न होते हैं। इसमें अरस्तू द्वारा वर्णित सोफिज्म के सभी भेद केवल वस्तुविषयक भेदों के अन्तर्गत आने वाले तीन भेदों—प्रतिवाद के अज्ञान का दोष, आत्माश्रयदोष तथा अ-कारण दोष को छोड़कर समाहित किये जा सकते हैं। वस्तुविषयक भेद में उक्त तीन दोष होते हैं।[२३३] ध्यान से देखने पर विदित होता है कि व्हेटली का शुद्धतार्किक और अर्धतार्किक दोष भेद यथार्थता से परे हैं, क्योंकि दोनों में समान रूप से अनुमान नियमों का उल्लङ्घन होता है और उनके स्वयं के कथनानुसार, 'अतार्किक दोषों का तर्कशास्त्र में कोई स्थान नहीं है'—अतः संगति के आधार पर इनको उन्मूलित करना आवश्यक जान पड़ता है। मिल ने सभी प्रकार के बौद्धिक दोषों को व्यापक रूप से गृहीत करते हुए इनके पाँच भेद माने हैं—(१) विशुद्ध निरीक्षण के दोष (२) निरीक्षण के दोष (३) सामान्यीकरण के दोष (४) चिन्तन के दोष एवं (५) भ्रम के दोष।[२३४] यद्यपि ये भेद पूर्णता और व्यापकता की दृष्टि से सराहनीय हैं, क्योंकि ये बौद्धिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं, फिर भी इनमें दोषों के उद्‌गम पर ही अधिक ध्यान दिया गया है, उनके स्वभाव के परीक्षण पर नहीं। अतः तार्किक नियमों की अवहेलना के आधार पर होने वाले दोषों को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

क. धारणा दोष

(१) दूषित परिभाषा—
- अ. व्यर्थविशेषण संयोजन तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित भेद
- आ. अनेकार्थकदोष
- इ. अनुप्रास दोष
- ई. अनुलोम-उपाधि-भेद-दोष और उसका प्रतिलोम
- उ. रचना और विभाग दोष

(२) दूषित विभाग
- अ. मूल सिद्धान्त परिवर्तन दोष
- आ. अपूर्ण विभाग दोष
- इ. क्रमहीन विभाग दोष

ख. निर्णय दोष

(१) आत्मघाती निर्णय दोष

(२) निरपेक्ष वाक्यों का गलत अर्थापन

अरस्तू के (अ) वाक्य छल और (आ) भ्रामकोच्चारण दोष

(३) अभ्युपगत वाक्यों का गलत अर्थापन

(४) वैकल्पिक वाक्यों का गलत अर्थापन

ग. अव्यवहित अनुमान दोष

(१) मिथ्याविरोध, इसी के अन्तर्गत अरस्तू का बहुप्रश्नात्मक दोष भी समाहित किया जा सकता है।

(२) अवैध परिवर्तन

अ. ए और ओ वाक्यों का परिवर्तन
आ. अरस्तू का उपाधिदोष
इ. अरस्तू का समक्रमिक दोष

(३) *अवैध परिवर्तित प्रतिवर्तन
(४) अवैध विपर्यय

घ. व्यवहित-अनुमान दोष

(१) आकारमूलक
अ. अव्याप्त हेतु
आ. अवैध साध्य
इ. अवैध पक्ष

(२) वस्तुविषयक—
अ. चतुष्पदी दोष जिसमें अरस्तू के भेद के प्रथम भाग के आ, इ, ई तथा उ एवं ख भेद के द्वितीय भाग के दोनों दोष सम्मिलित हैं।

ङ. आगमनिक अनुमान दोष

(१) मिथ्या सादृश्य, जो गलत कल्पना को जन्म देता है।
(२) अपूर्ण निरीक्षण
(३) अवैध सामान्यीकरण

च. विधि दोष

(१) जो स्वयंसिद्ध न हों, उन्हें स्वयंसिद्ध मान लेना
(२) अरस्तू के आत्माश्रय,
(३) प्रतिवाद के अज्ञान का दोष तथा
(४) अ-कारण दोष।[२३५]

इन दोषों में से केवल भेद घ—ही विशेष उपयोगी है, भेद क के प्रथम और द्वितीय वर्गों का सम्बन्ध परिभाषा तथा विभाग दोषों से; भेद ख का सम्बन्ध निर्णय दोषों से; भेद ग का सम्बन्ध अव्यवहित अनुमान दोषों से; भेद ङ का सम्बन्ध आगमिनिक अनुमान दोषों तथा भेद च का सम्बन्ध विधि दोषों से होने के कारण, भारतीय आनुमानिक दोषों की तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वशील नहीं है। भेद घ में अन्तर्निहित सभी दोषों के उदाहरण पूर्व में समझाये जा चुके हैं।

भारतीय तर्कशास्त्र में अनुमान के मौलिक घटक पक्ष, साध्य, तथा हेतु के लक्षणों का उल्लङ्घन होने पर पक्षाभास, दृष्टान्ताभास तथा हेत्वाभास तथा उनके अवान्तर भेदों की सर्जना की गयी है। अरस्तूक्त विभिन्न दोषों को वादी-प्रतिवादी के वाद-विवाद में धोका देने वाले भाषामूलक उनके अज्ञान अथवा जय-पराजय के दोष-छल, जाति, निग्रह-स्थान, तर्काभास आदि दोषों में समाविष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार निगमनिक अनुमान के अव्याप्त हेतु, अवैध, साध्य तथा अवैध पक्ष दोषों को हेत्वाभास और पक्षाभासों में अन्तर्निहित किया जा सकता है। किन्तु निगमनिक दोषों की उत्पत्ति जहाँ वाक्यों में हेतु, पक्ष अथवा साध्य की विशिष्ट स्थिति रूप व्याप्ति का अभाव होने से उत्पन्न होती है, वहाँ भारतीय अनुमान में ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ दोष केवल विचार-

मूलक ही नहीं वरन् वास्तविक भी है। भारतीय तर्कशास्त्र में हेत्वाभासें व्याप्ति और पक्षधर्मता का विघटन होने पर ही उत्थापित होते हैं, अतः ये सभी दोष विशुद्ध तार्किक दोष हैं, जबकि अरस्तू कृत दोष अधिकतर भाषा सम्बन्धी अथवा वाद-प्रतिवाद में प्रयुक्त होने वाले मनोवैज्ञानिक दोष हैं। छल, जाति, निग्रहस्थान तर्काभास आदि भाषा सम्बन्धी तथा मनोवैज्ञानिक दोषों का इसीलिये यहाँ पृथक् निरूपण किया गया है। अतः तार्किक दृष्टि से भारतीय हेत्वाभास विवेचन अधिक ठोस तथा परिष्कृत हैं।

क्या अनुमान से नवीन ज्ञान प्राप्त होता है ?

पाश्चात्य और भारतीय दोनों तार्किकों ने इस समस्या पर गम्भीर रूप से विचार किया है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में, आकारिक तर्कशास्त्र द्वारा मण्डित न्याययुक्ति को आत्माश्रय दोष से ग्रसित बतलाते हुए मिल ने लिखा है "यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक न्याययुक्ति में, जिसे निष्कर्ष सिद्ध करने के लिये युक्त समझा जाता है, आत्माश्रय दोष होता है; क्योंकि सामान्यों से विशेष की ओर अग्रसर होने वाला अनुमान (तर्क) कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता, कारण एक सामान्य नियम से विशेष तथ्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। उसके द्वारा केवल उसी तथ्य का अनुमान किया जा सकता है, जिसे नियम स्वयं ज्ञात रूप से कल्पित करता है"।[२३६] इस आपत्ति का मूल स्रोत सेक्सटस एम्पेरिकस के इस दोषारोपण—'साध्यवाक्य को उन सब दृष्टान्तों का फल होना चाहिये, जो उसके अन्तर्गत आते हैं। अतः एक सामान्य नियम से विशेष तथ्य अनुमित करना चक्र में तर्क करना है' में निहित है।[२३७] तात्पर्य यह कि न्याययुक्ति में निष्कर्ष साध्य वाक्य के अवलम्बन पर सिद्ध होता है और साध्य वाक्य निगमन पर आश्रित होता है, इसलिए साध्यवाक्य में निष्कर्ष पहले से ही विद्यमान होने के कारण न्याययुक्ति द्वारा ज्ञान की कुछ वृद्धि नहीं होती। उदाहरणार्थ—'सब मनुष्य नश्वर हैं', लेखक लोग मनुष्य हैं', अतः लेखक लोग नश्वर हैं' इस न्याययुक्ति में 'सब मनुष्य नश्वर हैं' इस सामान्य वाक्य का कथन तभी किया जा सकता है, जब हमको यह विदित हो जाय कि 'लेखकगण नश्वर हैं' और जब 'सब मनुष्य नश्वर हैं' यह सामान्य वाक्य लेखकों के नश्वर होने पर निर्भर है, तो इस वाक्य द्वारा यह निष्कर्ष निगमित करना कि लेखकगण नश्वर हैं' अतार्किक और निरर्थक है। इस प्रकार जहाँ साध्यवाक्य के सत्य होने से पूर्व निगमन का यथार्थ होना आवश्यक है, तब उसके आधार पर निष्कर्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, और यदि सिद्धि की भी जाय, तो वह पिष्टपेषण ही होगा। इसलिये अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सामान्य से विशेष को अनुमित करने वाली न्याययुक्ति आत्माश्रय दोष से ग्रस्त होने के कारण नवीन ज्ञान की उत्थापिका नहीं होती।

इस आक्षेप के समाधान में कहा जा सकता है कि मिल के सिद्धान्त के अनुसार, 'सामान्यवाक्य विशेष उदाहरणों का संक्षिप्त कथन' मात्र नहीं होता। जैसे, 'सब मनुष्य नश्वर हैं' यह सामान्य वाक्य भूत, भविष्य, वर्तमान काल के सभी मनुष्यों का गिनकर नहीं बताया गया है। यदि ऐसा होता तो इसे पूर्ण आगमन कहा जाता, किन्तु ऐसा आगमन सम्भव नहीं है, अतः प्रकृति की समरूपता और कार्यकारणभाव सिद्धान्तों के आधार पर कतिपय उदाहरणों में सर्वदा मनुष्यत्व गुण के साथ विनाशत्व गुण देखकर ऐसा सामान्य वाक्य बनाया जाता है। यदि मिल के अनुसार 'ज्ञात से अज्ञात में कुदान' जिसके द्वारा कुछ निरीक्षित दृष्टान्तों से सभी दृष्टान्तों की ओर गमन किया जाता है, ही वैज्ञानिक

आगमन है तो इसके द्वारा प्राप्त सामान्य वाक्य कथन करने पर विशेष निष्कर्ष अनिवार्यतः ज्ञात नहीं होता। इसलिये निष्कर्ष—'लिबकगण नश्वर हैं', सामान्य वाक्य—'सब मनुष्य नश्वर हैं' पर आश्रित नहीं रहता, क्योंकि सामान्य वाक्य का कथन करते समय हमारे मन में विशेष उदाहरणों के सत्य विद्यमान नहीं रहते। यदि ऐसा होता तो अल्पज्ञ मनुष्य और सर्वज्ञ ईश्वर में कोई भेद न होता। दूसरे सामान्य वाक्य द्वारा हमें सामान्य सिद्धान्त का परिचय तो हो जाता है, किन्तु यह ज्ञात नहीं रहता कि कौन कौनसी विशेष बातें उसके अन्तर्गत हैं। उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि 'गरमी पाकर सभी पदार्थ बढ़ते हैं', तो हमारे मन में सब पदार्थों की सूची विद्यमान नहीं रहती। इस प्रकार सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत समाविष्ट होने वाले सभी उदाहरणों की परीक्षा अथवा ज्ञान के पूर्व ही सामान्य वाक्य के सत्य को मान लिया जाता है, जो कि आवश्यक होता है। जैसे केपलर के नियमों की न्याय प्रक्रिया द्वारा नवीन खोज द्वारा ज्ञात सभी ग्रह-उपग्रहों पर निसन्दिग्ध रूप से लागू किया जा सकता है।[२३८]

न्याययुक्ति का निष्कर्ष साध्य अथवा केवल पक्षवाक्यों से निगमित नहीं होता, वरन् वह दोनों के सम्मिलन से ही होता है। यदि उक्त आपत्ति को स्वीकार कर लिया जाय, तो पक्ष वाक्य बिलकुल निरर्थक सिद्ध होगा। मिल का यह कथन 'जब साध्यवाक्य मान लिया जाता है, तो निष्कर्ष भी उसी समय ज्ञात हो जाता है',[२३९] सही नहीं है; कारण, सामान्य वाक्य द्वारा प्रतिपादित किसी सामान्य सिद्धान्त में सैकड़ों विशेष उदाहरणों का समावेश रहता है, किन्तु जब तक उसे किसी खास विशेष उदाहरण में लागू नहीं किया जाय, तब तक कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। इसी प्रकार सामान्य वाक्य के अभाव में विशेष पक्ष वाक्य द्वारा भी कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अतः पक्ष वाक्य की आवश्यकता ही इस बात की प्रतीक है कि निष्कर्ष का सत्य साध्य वाक्य में निहित नहीं है, क्योंकि न्याययुक्ति का निष्कर्ष केवल साध्य अथवा केवल पक्ष वाक्य से निगमित नहीं होता, वरन् वह दोनों के सम्मिलन का फल है।[२४०]

यदि न्याययुक्ति वस्तुतः आत्माश्रय दोष से ग्रस्त होती, तो उसके द्वारा ज्ञान में कोई वृद्धि न होती। इस आपत्ति का कारण मिल का वस्तुवादी दृष्टिकोण पर अत्यधिक महत्व देना है। बाह्य संसार के तथ्यों और उनके बारे में हमें जो ज्ञान होता है, उन दोनों में अन्तर है। निश्चय ही यह सही है कि अनुमान द्वारा, लोक में जिसकी सत्ता है, उसके अतिरिक्त और कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह अधिकांश तथ्यों को समझने में सहायक हो सकता है। हमारा ज्ञान सापेक्ष और अपूर्ण है। इसी कारण अनुमान सम्भव होता है। यदि हमारा ज्ञान पूर्ण और साङ्गोपाङ्ग होता, तो अनुमान की कोई आवश्यकता न रहती। निष्कर्ष का सत्य, वस्तुतः उन आधार वाक्यों के सत्य का सहचारी होता है, जिनसे हम उसे निकालते हैं, वह उनके बाद नहीं होता, यद्यपि उसका प्रत्यक्ष हमें उनके प्रत्यक्ष के बाद हो सकता है। यह सत्य है कि निष्कर्ष का सत्य आधार वाक्यों के सत्य में निहित रहता है, किन्तु ऐसा बोध हमें तभी होता है, जब आधार वाक्यों से स्पष्टतया हम निष्कर्ष निकाल चुकते हैं। अतः अन्तर्निहित या अव्यक्त बात से व्यक्त ज्ञान की ओर अग्रसर होना वास्तविक ज्ञान वृद्धि है।[२४१]

फिर उपपत्ति नवीनता पर आश्रित नहीं रहती, यदि न्याययुक्ति में वास्तविक ज्ञानवृद्धि न भी हो, तो यह मनोवैज्ञानिक आपत्ति होगी, तर्कशास्त्रीय नहीं। किसी व्यक्ति

को पूर्णतया ज्ञात होने से उपपत्ति होना कम नहीं होता। ज्यामिति के निष्कर्ष, उदाहरणार्थ, इसलिए गणित के मूल सिद्धान्तों से निकाले हुए निष्कर्ष होना कम नहीं होते कि जिस तर्क विधि से वे प्राप्त होते हैं, वह समझी और याद रखी जाती है। हम विधिपूर्वक लिखी हुई न्याययुक्ति को निगमनात्मक अनुमान की प्रक्रिया के विश्लेषण के रूप में देख सकते हैं, और यही गुप्त तत्त्वों को प्रकट करना हैं किन्तु सब निगमनात्मक अनुमानों में एक सामान्य निर्णय का विशेष तथ्य में उपनय होना चाहिए।[२४२] कोहेन और निगल ने अनेक उदाहरणों द्वारा मनोवैज्ञानिक और तार्किक नवीनता के अन्तर पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।[२४३] इस प्रकार न्याययुक्ति के विरुद्ध आत्माश्रय दोष से दूषित होने की आपत्ति के खण्डन में अपने समाधानों को सारांश में इस प्रकार कहा जा सकता है, 'साध्यवाक्य आवश्यक रूप से निरीक्षत दृष्टान्तों का संक्षिप्त कथन नहीं होता, प्रत्येक न्याययुक्ति में पक्षवाक्य एक आवश्यक अङ्ग होता है; निष्कर्ष निकाले बिना आधार वाक्यों को स्वीकार करना सम्भव है, और इसलिए न्याययुक्ति के द्वारा ज्ञान वृद्धि सम्भव है, अनुमान का तथ्य उपपत्ति की कठोरता पर आश्रित है न कि उसकी नवीनता पर।'[२४४] इस प्रकार मिल की आपत्ति का मूल उसका पूर्णव्याप्तिवाले वाक्यों के वास्तविक अभिप्राय से अनभिज्ञ होना है। क्योंकि ये वाक्य गणना पर नहीं, अपितु गुणों की परीक्षा पर आधारित होते हैं। तर्कशास्त्र का उद्देश्य जितना ज्ञान की वृद्धि करना है, उससे अधिक प्रमाणों द्वारा उसकी पुष्टि करना भी है। अतः अनुमान द्वारा गुप्त स्पष्ट होता है और संकोच विस्तृत, यही ज्ञान की वृद्धि है, क्योंकि समस्त मानवीय ज्ञान सापेक्ष है, इसलिए जो बात एक के लिये स्पष्ट और हस्तामलकवत होती है, वह दूसरे के लिये जटिल और स्पष्ट होती है। अतः अनुमान नवीन ज्ञान का उत्थापक है।

भारतीय तर्कशास्त्र में, अनुमान के गृहीतग्राही होने की आलोचना के प्रसङ्ग में, इस समस्या पर विचार करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि अनुमान लक्षण के विवरण में 'ताद्रूप्य————सा अनुमानम्' इस उक्ति से ताद्रूप्य (तादात्म्य) के द्वारा अपरिच्छिन्न (अनिर्धारित) साध्य में ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा कहा जा चुका है। किन्तु इस विवरण पर यह आशंका की जा सकती है कि हेतु और साध्य के साहचर्य नियम रूप व्याप्ति निश्चय के अनन्तर ही जब अनुमान की प्रवृत्ति होती है और नियम का स्वरूप इस प्रकार है—'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है' या 'जो-जो पदार्थ रसयुक्त होते हैं, वे-वे अवश्य रूपयुक्त होते हैं, तो ऐसा मानने पर व्याप्ति के ज्ञान मात्र से ही समस्त धूम और अग्नि की सत्ता ज्ञात हो जाती है, तब 'पर्वत अग्नियुक्त है' इस अनुमान की विषयता को ताद्रूप्य से अपरिच्छिन्न किस प्रकार माना जाय? इसी आशंका के भय से कुछ विद्वानों (प्रभाकर प्रस्थानवादी) ने 'असन्निकृष्ट ग्रहण' की व्याख्या—'स्मृति पर अनुमितित्व के भ्रम का निराकरण करने के लिये' की है और इस प्रकार उन्होंने अनुमान की गृहीतग्राहिता अर्थात् ज्ञात ज्ञापकता स्वीकार की है, क्योंकि उनके अनुसार, अनुमान गृहीतग्राही होने पर भी, अप्रामाणिक नहीं होता, कारण अगृहीत को ही ग्रहण करना प्रमाण का लक्षण नहीं है, अपितु अनुभूति ही है। एतदर्थ अनुमान, गृहीतग्राही होने पर भी उपस्थित हेतु रूप कारण का कार्य होने से केवल संस्कार मात्र जन्य नहीं है, जिसके फलस्वरूप उसे स्मरणात्मक ज्ञान में अन्तर्भूत किया जा सके, इसलिये संस्कार मात्र जन्य न होने से अनुमिति भी एक प्रकार का अनुभूति ज्ञान है। यदि ऐसा है तो, इसे स्मृति का प्रमोष (रूपान्तर) क्यों न माना जाय? इसका समाधान

यह है कि स्मृति के कारण स्वरूप संस्कार के अतिरिक्त अनुमान में उपस्थित लिङ्ग आदि कारणों की भी सत्ता रहती है, इस कारण अनुमान को संस्कार मात्र जन्य स्मृति स्वरूप नहीं कहा जा सकता। 'इदं रजतम्' इत्याकारक अनुभवात्मक रजत ज्ञान को भी (किसी मत विशेष में) संस्कार के अतिरिक्त किसी अन्य कारण के न होने के कारण स्मृतित्व के सम्भव से स्मृतिरूपता मानी गयी है। किन्तु प्रकृत स्थल में 'वह्निमान्' इस अनुभव में कारणस्वरूप हेतु की सत्ता से सर्वप्रतीत अनुभवस्वरूपता को छिपाकर उसे स्मृति प्रमोषकता नहीं माना जा सकता। इस मत का 'खण्डन करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि यह कथन व्यर्थ 'अव्यापारेषुव्यापार' मात्र है, क्योंकि यदि संसार के (अतीत, अनागत तथा वर्तमान) सभी हेतुओं के व्यापक रूप में साध्य-सत्ता ज्ञात होती, तो उक्त प्रकार से गृहीतग्राहिता के आक्षेप को स्वीकार किया जा सकता था, किन्तु यह बात यहाँ पर लागू नहीं होती, कारण अनुमान के पूर्व अनुमाता को, पाकशाला आदि कतिपय स्थानों में ही धूम का अग्नि साहित्य ज्ञात रहता है, परन्तु किसी प्रमाण के अभाव में इसके अतिरिक्त सभी धूम और अग्नि व्यक्तियों का ज्ञान नहीं। सर्वविषयक ज्ञान के उत्पादक प्रमाण की असम्भवता पर 'न्यायरत्नमाला' में विशेष रूप से विचार किया गया है। प्रायः साध्य-निश्चययुक्त अनेक स्थलों (सपक्षों) में ही साध्य अग्नि के साहचर्य का जिस व्यक्ति को ज्ञान है, तथा साध्य के अभाव में प्रयत्न करने पर भी हेतु धूम जिसे साध्य अग्नि के बिना उपलब्ध नहीं हुआ है, उस व्यक्ति को, साध्यधर्मी (पक्ष) में अग्नि रूप साध्य वैशिष्ट्य का ज्ञान अनुमान द्वारा उत्पन्न होता है। कहा भी गया है, 'परिमित स्थलों में अग्नि और धूम का साहचर्य ज्ञान होने तथा उन सभी स्थलों अथवा अन्यत्र कहीं भी उनके व्यतिरेक का अनुभव न होने पर ही हेतु अपने साध्य का अनुमापक होता है।' अभिप्राय यह कि साध्य-हेतुओं में से (नित्य सहचरित) साध्य का अदर्शन होने पर ही हेतु अपने सहचारी का बोधक होता है। अतः अनुमानाभिलाषी व्यक्ति को न तो सभी धूमयुक्त स्थानों में अग्नि का ज्ञान होना आवश्यक है और न अग्नि रहित स्थानों में धूम के अभाव का ज्ञान होना ही। बहुतसी बार अग्नि का धूम के साथ साहित्य तथा कहीं भी व्यभिचार का अभाव होना मात्र इतनी सामग्री अनुमानार्थी के लिये आवश्यक है, अधिक नहीं। साहचर्य नियम का 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः' इत्याकारक बोध अनुमानात्मक ही है।'लेकिन व्याप्ति को इस प्रकार का सामान्यात्मक अनुमान ज्ञान मान लेने पर, इसी सामान्य अनुमान से सकल धूमयुक्त स्थलों में अग्निमत्ता का ज्ञान हो जाने से पर्वत आदि विशेष स्थलों में धूम के दर्शन से अग्नि के अनुमान में पुनः गृहीतग्राहित्व की आपत्ति स्थिर हो जायगी। किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि सामान्य-विशेष भेद से दो प्रकार के अनुमानों का भेद स्पष्टतः अंकित होता है। व्याप्ति के आकार में सामान्य रूप से सकल धूमयुक्त पदार्थों में सकल पदार्थों की अग्निमत्ता ही ज्ञात होती है किन्तु पर्वत आदि स्थल विशेष का स्वरूप अभी तक ज्ञात न होने के कारण अज्ञात रहता है, ऐसी अवस्था में उसमें अग्निमत्ता का ज्ञान होना दुष्कर है। इस पर भी ज्ञात होने का आग्रह किया जाय, तो पहले यह कहना अनिवार्य होगा कि पर्वत से दूरवर्ती व्यक्तियों के द्वारा पर्वत स्वरूप ही अज्ञात होने पर, किस प्रमाण द्वारा पर्वतविशिष्टवह्नि का अवगम होगा? यह बोध न तो प्रत्यक्ष द्वारा होगा और न किसी अन्य प्रमाण से ही, क्योंकि अज्ञात पर्वत की अग्निमत्ता का अवधारण कराने में उक्त प्रमाण समर्थ नहीं है। यदि वर्तमान पर्वत की अग्निमत्ता पहले ही ज्ञात होती, तो उस दशा में बिना धूम अवलोकन से ही अग्न्यर्थी अग्नि

प्राप्ति के लिये पर्वतारोहण करेगा, क्योंकि अग्नि का निश्चय होने पर अग्न्यर्थी को धूम दर्शन से कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा पर्वत स्वरूपतः अज्ञात होने पर ही धूम उपलक्षित रूप में उसका अग्नि सम्बन्ध ज्ञात ही है। इस कथन से सिद्ध होता है कि धूम सम्बन्ध भी अवगत है, क्योंकि कोई भी उपलक्षण अपने सम्बन्ध ज्ञान के बिना अपने उपलक्ष्य को 'उपलक्षित नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि प्रकृत स्थल में धूम अग्नियुक्त देश (स्थल) सामान्य का उपलक्षक होने पर भी किसी पर्वत आदि (पक्ष स्वरूप) देश विशेष का उपलक्षक नहीं है, तो देश सामान्य की अग्निमत्ता ही ज्ञात होगी, न कि देश विशेष की। अतः हेतु और साध्य की (विशिष्ट स्थान स्थिति के रूप में) कोई विशेषता न होने से यह कहना कि 'हेतु का देश-काल अतिरेक (व्यभिचार) है साध्य का नहीं' निरर्थक है। इतना ही नहीं जहाँ अग्नि और आर्द्र ईंधन का संयोग रहता है वहाँ धूम की सत्ता भी पायी जाती है, किन्तु इतने मात्र से अब धूम ज्ञान से कोई भी विषय ज्ञातव्य नहीं रहेगा। इस पर भी आग्रहवश अनुमान की ज्ञातज्ञापकता मानी जाती है, तो वह अनुमान ज्ञान स्मरण ही होगा, जिसका स्मृति स्वरूपत्व प्रच्छन्न हो गया है। यदि यह कहा जाय कि अनुमान स्मृति की भांति संस्कार मात्र जन्य नहीं है, प्रत्युत उपस्थित कारण (लिङ्ग) जन्य है, (स्मृति संस्कार मात्र से उत्पन्न होती है) अतः स्मृति नहीं है, तो भी न्यायसङ्गत नहीं है, कारण उक्त अनुमान की उक्त उपस्थित कारणजन्यता भी सिद्ध नहीं है। अन्यतर सम्बन्धी के ज्ञान से सदृश व्यक्ति के दर्शन की तरह, अन्यतर सम्बन्धी के दर्शन से दूसरे सम्बन्धी के विषय में भी संस्कार उद्बुद्ध होता है, क्योंकि संस्कार उद्बोध में सम्बन्धी दर्शन की कारणता सर्ववादी सम्मत है और वह उद्बोधित संस्कार ही स्मृति को उत्पन्न कराता है। इस प्रकार अनुमान को स्मृति न कहकर अनुमान कहने में जो स्मृति रूप का प्रमोष (अपलाप) किया जाता है, वह भी शुक्ति-रजत आदि स्थल में 'इदं रजतम्' इस वास्तविक स्थिति को छिपाकर भ्रमात्मक रूप में (प्रभाकर मत) में माना जाता है। इस प्रकार संस्कार और स्मरण के लिये स्वीकृति सम्बन्धी दर्शन से संस्कार-उद्बोध की प्रणाली के द्वारा ही धूम से अग्नि ज्ञान की उत्पत्ति मानना छोड़कर लिङ्ग के लिये लिङ्गी ज्ञान हेतुता की एक विलक्षण कल्पना करना असङ्गत होगा। यदि इस कल्पना को युक्त समझा जाय, जो शुक्ति-रजत ज्ञान भी अनुभवात्मक होने से, उसकी उपपत्ति के लिये दोष को स्मरण ही क्यों न माना जाय? यदि वहाँ ऐसा नहीं माना जाय, तो प्रकृत में भी अनुमान की प्रमुषित स्मृतिरूपता स्वीकार की जायगी, ऐसी स्थिति में उसका अप्रामाण्य सिद्ध होगा। इसलिए अनुमान में गृहीतग्राहित्व स्वीकार करना आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि पर्वत आदि विशेष स्थलीय अग्नि की पर्वतीय धूम के साथ व्याप्ति का ज्ञान (क्योंकि पर्वतीय अग्नि का प्रत्यक्ष अभी तक नहीं हुआ है) न होने से अनुमान नहीं हो सकता अतः अग्नि सामान्य का ही अनुमान करना होगा। किन्तु यह मान्यता भी उचित नहीं है, क्योंकि वह तो पहले से ही ज्ञात है, इसलिए अगृहीतग्राहिता सिद्ध नहीं होती। कहा भी गया है, 'साध्य विशेष में व्याप्ति-निश्चय का अभाव रहता है। और साध्य सामान्य की अनुमिति में सिद्धसाधनता दोष आक्रान्त होता है, इस प्रकार अनुमान की आधारशिला भङ्ग होने से पंक में फंसे हुए कुञ्जर के समान अनुमानवादियों की दुर्गति होगी। 'परन्तु (चार्वाकों) का यह आक्षेप तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु का भी देशान्तर और कालान्तर के साथ अगृहीत सम्बन्ध का ग्रहण करने से प्रमेय एवं उसके ज्ञापक अनुमान की प्रमाणता उपपन्न हो सकती है। अनुमान के गृहीतग्राहिता

के विषय में आग्रही एकदेशीय विद्वान् को भी यह कहना होगा कि धूम दर्शन की अग्नि-ज्ञान हेतुता किस प्रमाण से अधिगत होती है ? यदि यह कहा जाय कि आनन्तर्यमूलक (कार्यकारणभाव) प्रमाण के द्वारा यह ज्ञात होती है, तो ठीक नहीं, कारण धूम ज्ञान और अग्नि ज्ञान के आनन्तर्य की उपपत्ति धूम ज्ञान जनित संस्कार के द्वारा भी उपपन्न हो सकती है और इस प्रकार संस्कार द्वारा उपपत्ति मानने पर अग्नि ज्ञान में अनुभवरूपता उपपन्न नहीं होगी। किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है, क्योंकि स्मरणात्मक अग्निज्ञान में भी स्मृतित्व के प्रमोष के द्वारा उसके अनुभवत्व का अभिमान हो सकता है। परन्तु यह अभ्युपगम युक्त नहीं है, कारण वादी के मत में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके द्वारा अग्नि ज्ञान की अनुभवता सिद्ध की जाय, क्योंकि वैसा मानने के लिये न तो प्रत्यक्ष प्रमाण सक्षम है और न कोई अन्य प्रमाण ही। यदि अग्नि ज्ञान को स्मृति प्रमोष मानने में कोई बाधा उपस्थित होती, तो उसे स्मृति प्रमोष कहा जाता, किन्तु अग्नि ज्ञान में 'नेदं रजतम्' की तरह कोई बाधक न होने से इसे स्मृति प्रमोष नहीं कहा जा सकता। यह समाधान भी न्यायसङ्गत नहीं है, क्योंकि कहीं-कहीं स्मृति प्रमोष की भी बाधा नहीं होती। उदाहरणार्थ मणिप्रभा दर्शक का मणिज्ञान किसी प्रकार का बाधक न होते हुए भी स्मृतिप्रमोष ही माना जाता है, अन्यथा विपरीत ख्याति माननी होगी। मणि-प्रभा दर्शन के उपरान्त होने वाले मणिलाभ के कारण कोई बाधक भी उपस्थित नहीं होता। इसलिए वादी एकदेशीय विद्वान् के मत में उक्त प्रकार से स्मृति रूप होने के कारण अनुमान में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। वादी को अभिप्रेत गृहीतग्राहित्व की अनुपपत्ति दर्शित करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि अनुमान की गृहीतग्राहिता किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट देश और काल में अग्नि का अनुमान होता है। उस अग्नि का ज्ञान किस प्रमाण से होगा ? प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष विद्यमान इन्द्रिय सन्निकृष्ट वस्तुओं का ही ग्राहक होता है और किसी अन्य प्रमाण से भी नहीं। यदि वादी के अनुसार, देश और काल से अपरिच्छिन्न अग्नि-धूम का पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष से ज्ञात होगा, स्वीकार कर लिया जाय, तो इतने मात्र से अग्नि का देशान्तर और कालान्तर से सम्बन्ध ज्ञात नहीं हो सकता। इसलिए अनुमान अगृहीतग्राही ही कहा जायगा। जिज्ञासा के शमन के लिये अन्त में पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि सामान्य अग्नि तो गृहीत रहती है और पर्वत भी प्रत्यक्ष द्वारा अवगत हो जाता है, किन्तु अग्निविशिष्ट पर्वत किसी प्रमाण द्वारा ज्ञात नहीं है, इसलिए वही अनुमान का विषय होगा। ऐसी अवस्था में 'प्राप्त-अप्राप्त-न्याय' के अनुसार (धूम सम्बन्ध विशिष्ट अग्नि का पर्वत से) सम्बन्ध मात्र ही अनुमान का मुख्य प्रमेय है। जिस प्रकार 'दध्ना-जुहोति' इस वाक्य में (सामान्यतः गुणरहित होम मात्र की विधि' 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस व्युत्पत्ति वाक्य के द्वारा ही अभिहित होती है, तथापि दधिरूप गुणविशिष्ट होम विधान न होने से) गुणविशिष्ट विषयक विधि को भी विशेषण मात्र विधिपरक माना जाता है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी पर्वत-सम्बन्ध-विशिष्ट अग्नि विषयक 'पर्वतो-वह्निमान्' यह अनुमान वाक्य होने पर भी विशेषण अग्नि और विशेष्य पर्वत दोनों की प्रमाणान्तर से प्राप्ति होने के कारण, 'यजुर्युक्तं रथं अध्वर्युं ददाति'—'अध्वर्यु को यजुर्वेद-मंत्र सहित रथदान करना चाहिये' इस वाक्य में यजु-सम्बन्ध मात्र अपूर्व होने के कारण विधेय माना जाता है, इसी प्रकार पर्वत, अग्नि, धूम इत्यादि अंश पूर्व ही ज्ञात होने से पर्वत-अग्नि सम्बन्ध मात्र ही अनुमान का प्रमेय अंश सिद्ध होता है, जो अभी तक

अज्ञात है।[२४५] निष्कर्षतः इस नवीन अंश का ग्राहक होने से अनुमान गृहीतग्रहित्व, अननुगम अथवा सिद्धसाधन दोष से आक्रान्त नहीं है।' अतः इस प्रसङ्ग में जो आपत्तियां मिल, प्रभाकर एवं चार्वाक विद्वानों द्वारा उठाई गयी हैं वे एकाङ्गी, भ्रामक और तथ्यों से परे हैं।

पारस्परिक प्रभाव—डॉ. विद्याभूषण-मत की समीक्षा

भारतीय और पाश्चात्य तर्कशास्त्रों के एक दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव की की समस्या का समुचित मूल्यांकन करने के लिये उनके प्रवर्तकों का काल निर्धारण करना अत्यावश्यक है। इस महत्वपूर्ण तथ्य का निर्णय होने के उपरान्त ही यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि कौन किससे प्रभावित है अथवा उनका उद्‌गम और विकास स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम है। 'भूमिका' में इस बात पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा डाला जा चुका है कि न्यायशास्त्र के प्रणेता महर्षि गौतम के पूर्व भी न्याय अथवा तर्क-विद्या विद्यमान थी। इसी प्रकार इसी अध्याय में यह चर्चा भी की गयी है कि तर्कशास्त्र के संस्थापक अरस्तू के पूर्व भी तर्कविद्या का प्रसार पाश्चात्य देशों में हो चुका था। अरस्तू काल प्रायः निर्णीत है। डॉ० विद्याभूषण ने इन्हें ३८८-३२२ ई. पूर्व का घोषित किया है।[२४६] परन्तु महर्षि गौतम का काल निर्णय करना इतना सरल नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य तार्किकों की अपेक्षा भारतीय तार्किकों ने ऐतिहासिक तिथिक्रम पर बहुत कम निर्देश किया है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानों जैसे प्रो. जेकोबी,[२४७] शरबट्स्की,[२४८] विद्याभूषण,[२४९] हरप्रसाद शास्त्री,[२५०] कीथ,[२५१] रेण्डल,[२५२] कविराज गोपिनाथ,[२५३] दासगुप्ता,[२५४] राधाकृष्णन,[२५५] बोडास,[२५६] जादुनाथ सिन्हा,[२५७] आचार्य विश्वेश्वर,[२५८] गुलाबराय,[२५९] पं. ऋषिगोपाल,[२६०] नरेशचन्द्रदेव शर्मा[२६१] आदिने ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर ऋग्वेदकालीन ऋषि दीर्घतमा को महर्षि गौतम को दूसरा नाम बतलाते हुए छठी शताब्दी ई. पूर्व तक के व्यापक काल में अपनी-अपनी आनुसन्धानिक गवेषणाओं द्वारा विभिन्न प्रकार से उनके काल को निर्धारित करने का प्रयास किया है। महर्षि गौतम को मेधातिथि, अक्षपाद और गौतम के नाम से भी पुकारा जाता है। डॉ. विद्याभूषण ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास' में 'न्यायसूत्र' के विषयों को विभिन्न भेदों में वर्गीकृत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गौतम या गोतम तथा मेधातिथि एक ही आचार्य हैं, जो आन्वीक्षिकी विद्या के प्रवर्तक हैं, किन्तु अक्षपाद उनसे भिन्न व्यक्ति हैं, जो न्यायविद्या के संस्थापक कहे जाते हैं।[२६२] उबरवेग[२६३] का समर्थन करते हुए उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि अक्षपाद अपने न्याय अर्थात् पञ्चावयवी अनुमान के विवेचन के लिये अरस्तू के ऋणी हैं।[२६४] इसी प्रकार प्रो. कीथ का अनुमान है कि 'भारतीय व्याप्तिवाद जिसका विकसित रूप बौद्ध तर्कशास्त्री दिङ्नाग के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वह सम्भवतः यूनान से प्रभावित हुआ है।[२६५] जिन तर्कों के आधार पर डॉ. विद्याभूषण ने अक्षपाद की विभिन्न व्यक्ति सिद्ध किया है, उन सबका सबल युक्तियों और पुष्ट प्रमाणों द्वारा गुलाबराय ने खण्डन किया है।[२६६] यही नहीं उन्होंने महर्षि गौतम का समय पाँच हजार वर्ष ई. पूर्व भी घोषित किया है।[२६७] स्वयं डॉ. विद्याभूषण ने छः वर्ष के गंभीर अध्ययन द्वारा अपने दूसरे ग्रन्थ 'न्यायसूत्र'—अंग्रेजी अनुवाद' की भूमिका में अक्षपाद को महर्षि गौतम की उपाधि सिद्ध करते हुए

एवं उनसे अभिन्न मानते हुए उनको ५५० ई. पूर्व का सिद्ध किया है।[२६८] अतः इसी तथ्य से आचार्य विश्वेश्वर का यह मन्तव्य कि गौतम या मेधातिथि आन्वीक्षिकी-विद्या के प्रवर्तक और अक्षपाद चरक की भांति न्यायशास्त्र के प्रति-संस्कर्ता थे,[२६९] भी निरस्त हो जाता है। महर्षि गौतम के काल निर्णय पर उक्त विद्वानों ने व्यापक रूप से विचार किया है अतः इस समस्या में और अधिक उलझना श्रेयस्कर नहीं होगा, फिर भी न्यायविद्या पर अरस्तू के प्रभाव को लेकर जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसका उचित समाधान होना अपरिहार्य है। प्रथम तो गौतम का काल यदि ५५० ई. पूर्व मान लिया जाय तो अरस्तू के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। गोल्डस्टकर ने अपने ग्रन्थ 'पाणिनि' में लिखा है कि अरस्तू से पूर्व पाणिनि काल (५०० ई. पूर्व) में न्याय अर्थात् पञ्चावयवी अनुमान का पूर्ण रूप से विकास हो चुका था,[२७०] क्योंकि अनेक पाणिनि-सूत्रों[२७१] में यह शब्द व्यवहृत हुआ है। यही नहीं महर्षि पाणिनि ने 'ऋतुक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' इस सूत्र में आये हुए उक्थादि गण के 'गणपाठ' में 'न्याय' शब्द का पाठकर 'नैयायिक' शब्द की सिद्धि की है।[२७२] ठक् प्रत्यय का विधान करने वाला सूत्र— 'तदधीते तद्वेद' इस अर्थ में ठक् का विधान करता है, जिससे नैयायिक शब्द का अर्थ 'न्यायम् अधीते नैयायिकः' होता है। फिर विद्याभूषण की तरह अनुमान विवेचन से यदि पञ्चावयव विवेचन को बिल्कुल पृथक् मान लिया जाय, तो महर्षि गौतम की विभिन्न हेत्वाभास विवेचना और प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासन्यास, हेत्वन्तर, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक आदि निग्रहस्थानों का विवरण सर्वथा असम्बद्ध होकर निष्प्रयोजक सिद्ध होगा, क्योंकि अवयव-विवेचन को अनुमान व्याख्या से विलग मानने पर इनकी समबद्धता का निर्धारण नहीं हो सकता। महाभारत से उद्धरण देते हुए स्वयं डॉ. विद्याभूषण ने यह बात प्रतिपादित की है कि देवर्षि नारद पञ्चावयवी न्यायविद्या में निष्णात थे।[२७३] 'दीघनिकाय' के उदाहरणों द्वारा उनके शिष्यों ने यह बात प्रमाणित की है कि न्याय विद्या का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है।[२७४] अरस्तू को न्यायभाष्यकार का समकालीन माना जा सकता है। क्योंकि हेमचन्द्र तथा पुरुषोत्तम-देव के कोषों में वात्स्यायन को ही विष्णुगुप्त, कोटिल्य, चाणक्य, पक्षिलस्वामी आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। 'कामसूत्र', 'न्यायभाष्य' और 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' तीनों के रचयिता वात्स्यायन ही थे।[२७५] समकालीन होने पर भी अरस्तू का प्रभाव वात्स्यायन पर परिलक्षित नहीं होता, कारण उन्होंने एक ऐसी भी प्राचीन मान्यता का निर्देश किया है, जिसमें दस अवयव माने जाते थे। भद्रबाहूकृत 'दशवैकालिकनिर्युक्तिगाथा' में भी दशावयवी परम्परा का दो प्रकार से विवेचन किया गया है। उत्तरवर्ती तार्किकों ने इन्हीं परम्पराओं के आधार पर परिष्कृत रूप से पाँच, तीन, दो और एक अवयव मानने का संकेत किया है। अवयवों में न्यायसम्मत सभी प्रमाणों का पर्यवसान की क्षमता होने के कारण वात्स्यायन ने पञ्चावयवी अनुमान प्रयोग को 'परमन्याय' कहा है। अतः यह तो सम्भव हो सकता है कि अरस्तू ने अपनी अवयव व्यवस्था भारतीय दार्शनिक गौतम और वात्स्यायन से परिष्कृत रूप में अपनायी हो, क्योंकि अरस्तू-शिष्य सिकन्दर महान् भारत आक्रमण से लौटती बार अनेक भारतीय विद्वानों को अपने साथ ले गया था, जिन्होंने यूनान में जाकर अपनी-अपनी विद्याओं का प्रसार किया है, किन्तु इनका विलोम सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रो. कीथ की, भारतीय व्याप्तिवाद पर बौद्ध तथा यूनानी प्रभाव होने की कल्पना भी असङ्गत है क्योंकि व्याप्तिवाद की समस्या भारतीय दर्शन

की अन्तरङ्ग घटना है, जिसका सूत्रपात महर्षि कणाद से प्रारम्भ होता है। व्याप्तिग्रह के उपायों में कार्य कारणभाव का उद्भावन भी 'वैशेषिकसूत्र' में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। प्रो. कीथ की इस विप्रतिपत्ति का निराकरण अध्याय तीन में किया गया है। अतः इस प्रसङ्ग में भी बौद्ध अथवा यूनानी प्रभाव नहीं माना जा सकता। भारतवर्ष और यूनान क्रमशः पूर्व और पश्चिम के सूर्य और चन्द्र कहे जा सकते हैं, क्योंकि प्रथम से सम्पूर्ण एशिया महाखण्ड और द्वितीय से यूरोप महाखण्ड ने संस्कृति और सभ्यता का प्रकाश पाया है। परन्तु जहाँ प्रकाश के उद्गम स्त्रोत का प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि पश्चिम का शशी पूर्व के दिनकर का ऋणी है। अतः उबरवेग तथा डा० विद्याभूषण का यह मन्तव्य कि भारतीयों ने अवयव प्रयोग अरस्तू से सीखा है, नितान्त भ्रामक, सर्वथा युक्तिहीन और सुषिर है। डॉ०दासगुप्ता,[२७६] राधाकृष्णन,[२७७] जादुनाथ सिन्हा,[२७८] सत्कार्यमुकर्जी,[२७९] धीरेन्द्रमोहनदत्त,[२८०] प्रो० हिरयान्ना,[२८१] गुलाबराय,[२८२] आचार्य विश्वेश्वर[२८३] आदि ने भी डॉ० विद्याभूषण के मत से सहमत न होकर भारतीय विद्या के विकास को स्वतंत्र गवेषणा का परिणाम माना है। वस्तुतः यह बात उचित भी है, क्योंकि बुद्धि और विचारशक्ति सभी मनुष्यों में सार्वभौम है, इसलिए जिन-जिन विद्याओं का विकास यहाँ हुआ है, उन-उन का आविर्भाव अवसर और सुविधा मिलने पर अन्य देशों में भी हो सकता है, क्योंकि भारतीय और यूनानी दोनों तर्कशास्त्रों का विकास विश्व तत्त्व की खोज में होने वाले वादविवादों का ही परिणाम है। अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दोनों तर्कशास्त्रों का उदय स्वतंत्र चिन्तन द्वारा हुआ है, क्योंकि महर्षि गौतम और वात्स्यायन प्रणीत अनुमान विवेचन, व्याप्ति और पक्षधर्मता की सुदृढ आधार शिला पर अवस्थित होने के कारण, आकारिक और वस्तुविषयक सङ्गतियों से पूर्ण है, जबकि अरस्तू का अनुमान भाषा विषयक आकारवाद की ओर अधिक झुका हुआ है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित न्याययुक्ति 'वर्गसमावेश' के सिद्धान्त—'जो कुछ एक वर्ग के लिये सत्य हो सकता है वह उस वर्ग में अन्तर्भूत होने वाले सभी पदार्थों के विषय में भी सत्य होता है', पर आधारित है। उनकी न्याययुक्ति में आकार, संयोग तथा आकारान्तरण का विशेष महत्व रहा है। इसी प्रकार न्याययुक्ति का साध्यवाक्य अपने सत्य के लिये परमुखापेक्षी अर्थात् आगमन की अपेक्षा करता है, इसीलिये वहाँ निगमन और आगमनमूलक दो परस्पर विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं। इसके विपरीत भारतीय अनुमान में अरस्तू के 'कुछ नहीं और सब कुछ' सिद्धान्त, आकार, संयोग अथवा आकारान्तरण समस्याओं का कोई स्थान नहीं है। साथ ही निगमन और आगमन भी एक ही अनुमानमूलक उपपत्ति में समाविष्ट हो जाते हैं। अतः मेरे विचार से भारतीय तथा पाश्चात्य अनुमान प्रक्रियाओं का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है।

गणितीय अथवा प्रतीकात्मक तर्कशास्त्रीय अनुप्रयोग

इस अध्याय के पिछले कुछ प्रकरणों में हमने पाश्चात्य पारम्परिक तथा भारतीय आनुमानिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यहाँ गणितीय या प्रतीकात्मक तार्किक चिन्तन के महत्वपूर्ण मौलिक सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना और उसकी उपलब्धियों के आलोक में पारम्परिक तथा भारतीय तार्किक सिद्धान्तों पर इनका अनुप्रयोग ही केवल अभीष्ट है।

नव्य न्याय की युग-प्रवर्तक-क्रान्ति की भाँति पाश्चात्य तर्कशास्त्र के क्षेत्र में भी गणितज्ञों के प्रवेश से एक महान् परिवर्तन का सूत्रपात हुआ जिसने निगमनात्मक आकारिक तर्कशास्त्र को चिर-नवीन प्रतीक-परिधानों में सज्जित कर परिष्कृत प्रणालियों के माध्यम से सूक्ष्म और गूढ़ तार्किक सिद्धान्तों को सुस्पष्ट, संक्षिप्त एवं दोषविहीन अभिव्यक्ति दी। यही नहीं इसने अपनी महत्वपूर्ण गवेषणाओं के द्वारा तर्कशास्त्र को जहाँ एक ओर भाषा के अनावश्यक सन्देहशील विस्तार से बचाया है वहीं दूसरी ओर उसे अधिक वैज्ञानिक, सारपूर्ण, निर्भ्रान्त एवं पूर्ण बनाने का अनुपम प्रयास भी किया है। लाइबनीज के हाथों इस महान् क्रान्ति का बीज-वपन हुआ, जिसे बूल, डी मार्गन, श्रोडर, फ्रेग, पीआनो आदि ने अपनी-अपनी सारगर्भित कृतियों की वारिधारा से सींचकर पल्लवित और पोषित किया एवं अपने व्यापक-विपुल अन्वेषणों से अभिमण्डित कर रसेल, व्हाइटहेड, जरमिलो, हिलबर्ट, ब्रौवर, लेविस, पोस्ट, लुकसाइविक, शेफर, निकोड, टार्स्की, हण्टिङ्गटन, विटगेन्स्टीन, रेमजे, कारनेप, गोडेल, क्वाइन, जारगेन्सन, बोशेन्स्की रोजर, आदि ने इसे परिपुष्ट बनाकर सुमधुर-रसवन्ती फलों से आच्छादित कर अत्यन्त जीवन्त तथा समृद्ध[२८४] शास्त्र बनाने में अपना-अपना योगदान दिया है। समकालीन प्रतीकात्मक चिन्तन को तीन धाराओं में विभक्त किया जा सकता है— (१) रसेल-क्वाइन का गणित-तर्कशास्त्र तादात्म्यवाद, (२) हिलबर्ट-गोडेल का कठोर आकारिकवाद एवं (३) ब्रौवर-रोजर का अन्तःप्रज्ञावाद। रसेल ने इन सभी वादों की आलोचना करते हुए अपने मन्तव्य की स्थापना की है।[२८५] सन् १९३१ ई० पश्चात् की तार्किक विचार-धारा एक पृथक् मोड़ लेती हुई प्रतिलक्षित होती है जिसमें तर्क-गणितज्ञों का ध्यान, विशेषकर रसेल के प्ररूप (टाइप) सिद्धान्त, जरमिलो के समूह (सेट) सिद्धान्त एवं गोडेल के पूर्णता (कम्पलीटनेस) एवं अपूर्णता (इनकम्पलीटनेस) सिद्धान्तों की ओर आकर्षित हुआ है।

सामान्यतया इस प्रतीकात्मक-चिन्तन को पाँच मूलभूत स्तम्भों–(१) तर्क-वाक्य-कलन, (२) विधेय-या कायिक-कलन, (३) सम्बन्ध-कलन, (४) वर्ग-कलन एवं (५) प्रमाणीकरण-सिद्धान्त में व्यवस्थित किया जा सकता है। पीअर्स, फ्रेग, डी-मार्गन, बूल एवं डी-मार्गन तथा गरहार्ड गेण्टजेन इन विधाओं ने आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। इन सभी तथा अन्य कई तार्किक सिद्धान्तों को आधुनिक स्वरूप में सँजोने के श्रेय यद्यपि फ्रेग को दिया जा सकता है किन्तु प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र को सर्वाधिक लोकप्रिय रसेल ने ही बनाया है। व्हाइट हेड के साथ लिखी गयी इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'प्रिन्सिपिया-मेथेमेटिका' को भारतीय न्याय-ग्रन्थावली में 'तत्त्व-चिन्तामणि' कहा जा सकता है।

बूल, डी-मार्गन, पीअर्स, श्रोडर, फ्रेग आदि गणमान्य गणितीय तार्किकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की निर्दुष्ट और संक्षिप्त अभिव्यक्ति के लिये पृथक्-पृथक् प्रतीक प्रणालियां सर्जित की हैं परन्तु विकासमान तर्कशास्त्र में ये प्रणालियां आज ऐतिहासिक महत्व भर रखती हैं। इनके स्थान में अनेक तार्किकों ने कहीं श्रेष्ठ और सरल संक्षिप्त-प्रतीक-पद्धतियों को अन्वेषित किया है। इनमें प्रमुख हैं—(१) पीआनो-रसेल-प्रणाली, (२) हिलबर्ट-एकरमेन प्रणाली, (३) लुकसाइविक-बर्क-प्रायर प्रणाली, (४) पीअर्स-शेफर-निकोड प्रणाली। यहाँ हम प्रथम प्रणाली तथा चर्च की प्रतीक पद्धति आवश्यक परिवर्तन के साथ अपनायेंगे।

प्रत्येक विधा में दो प्रकार के प्रतीकों का प्रावधान है—स्थानापन्न या चर प्रतीक (वेरियेबल) तथा स्थायी या अचर प्रतीक (कान्स्टेण्ट)। उन प्रतीकों को चर कहा जाता है जिनका ना तो अपना कोई अर्थ होता है और ना ये किसी विशेष वस्तु का बोध कराते हैं। ये प्रतीक किसी पद, तर्कवाक्य, कार्य, वर्ग आदि के स्थान में अवस्थित किये जाते हैं। इसके विपरीत अचर प्रतीक सर्वदा निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, १, २, ३, +, × आदि अचर प्रतीक हैं जो निश्चित संख्याओं तथा योग और गुणनफल के लिये निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और 'क + ख = १३' में क, ख चर प्रतीक हैं जो निश्चित संख्याओं के स्थान पर रखे गये हैं। गणित की भांति तर्क शास्त्र में भी अनेक चर तथा अचर प्रतीकों का प्रयोग होता है। जैसे, क, ख, ग····आदि पदों, तर्कवाक्यों के स्थान में तथा ∼, ●, ∧. ⊃, (क), (∃ क) आदि निषेध, संयोग, विकल्प, आपादन, सर्वव्यापी, अंशव्यापी परिमाणकों के लिये निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

तर्कवाक्य-कलन

पारम्परिक तर्कशास्त्र के अनेक तर्कवाक्य-भेदों में से 'सरल-मिश्र' भेद अपनाकर तर्कवाक्य-कलन सर्जित किया गया है। इसी भेद के अन्तर्गत शेष सारे तर्कवाक्य-भेदों में परिगणित प्रायः सभी वाक्यों का संकलन यहाँ पाँच प्रकार के मौलिक तर्कवाक्यों में किया गया है। अधितर्कशास्त्र की भाषा में सरल तर्कवाक्य को अणु तर्कवाक्य तथा मिश्र तर्कवाक्य को परमाणु तर्कवाक्य कहा जाता है। अणु तर्कवाक्य वह है जिसमें कोई घटक तर्कवाक्य नहीं रहता। परमाणु तर्क वाक्य में एक से अधिक अणु तर्कवाक्य विभिन्न सम्बन्धों द्वारा आबद्ध रहते हैं। ये सारभूत सम्बन्ध पांच—(१) निषेध, (२) विकल्प, (३) संयोग, (४) आपादन एवं (५) तुल्यता है, जिन्हें मौलिक प्रवृत्तियाँ भी कहते हैं। इनमें निषेध केवल एक प्रवृत्तिक है शेष सभी द्विप्रवृत्तिक[१८१] जैसे—

तर्कवाक्य— प्रतीकात्मक अनुप्रयोग

(१) कागज श्वेत है।········'क'।

(२) कागज श्वेत नहीं है। यह बात नहीं कि कागज श्वेत है। यह असत्य है कि कागज श्वेत है।················∼क

(३) मंत्रीगण या विशेष आमंत्रित सज्जन इस द्वार से प्रवेश करें।·····क∨ख।

(४) समोसा या कचोरी दस पैसे में मिलती है।····क∧ख।

(५) राजेश और राकेश सहोदर हैं।········क ● ख।

(६) सर्वोदयवाद न तो साम्राज्यवाद है न पूंजीवाद।····क।ख।

(७) यदि परीश्रम करोगे तो सफलता प्राप्त होगी।·····क⊃ख।

(८) काशी विद्यापीठ की शास्त्री उपाधि अन्य विश्वविद्यालयों की बी. ए. उपाधि के समकक्ष है।.....क≡ख।

यहाँ प्रथम और द्वितीय तर्कवाक्य अणु तर्कवाक्य हैं क्योंकि ये मौलिक सरल तर्कवाक्य हैं। अन्य सभी तर्कवाक्य परमाणु तर्कवाक्य हैं क्योंकि इनमें दो-दो तर्कवाक्य विभिन्न सम्बन्धों के द्वारा घटक रूप से सम्बद्ध है। प्रथम तर्कवाक्य विधायक है और द्वितीय तीनों वाक्य, जो विभिन्न प्रकार से प्रदर्शित किये गये हैं, निषेधक हैं। चतुर्थ और

पञ्चम वैकल्पिक परमाणु तर्कवाक्य हैं। वैकल्पिक परमाणु तर्कवाक्य दो प्रकार का होता है जिसमें एक घटक विकल्प सर्वदा सत्य होता है। प्रथम संयुक्तक वैकल्पिक तर्कवाक्य वह होता है जिसमें एक अथवा दूसरा विकल्प तो यथार्थ होता ही है किन्तु दोनों विकल्प भी सही हो सकते हैं। तृतीय तर्कवाक्य में यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि एक द्वार विशेष से या तो मंत्रीगण जा सकते हैं या विशेष आमन्त्रित सज्जन अथवा दोनों जा सकते हैं। द्वितीय व्यावर्तक वैकल्पिक तर्कवाक्य इससे भिन्न है। इसमें घटक एक तर्कवाक्य ही सही होता है किन्तु दोनों सही नहीं हो सकते। चतुर्थ वाक्य का अभिप्राय यह है कि दस पैसे में एक ही वस्तु प्राप्त हो सकती है या तो समोसा या कचोरी किन्तु दोनों नहीं। अंग्रेजी भाषा में इन दोनों अर्थों को प्रकट करने वाले पृथक्-पृथक् शब्द नहीं हैं परन्तु लेटिन भाषा के 'वेल' और 'ऑट' शब्दों से ये दोनों प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं। पञ्चम और षष्ठ तर्कवाक्य में क्रमशः संयोग और संयोग-निषेध सम्बन्ध व्यक्त किये गये हैं। सप्तम तर्कवाक्य आपादन सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। इस तर्कवाक्य में दो घटक तर्कवाक्य रहते हैं प्रथम (यदि के पश्चात् आनेवाला) घटक पूर्वाङ्ग (इम्प्लीकेन या प्रोटासिस) तथा द्वितीय (तो के बाद रहने वाला) घटक उत्तराङ्ग (इम्प्लीकेट या एपोडोसिस) कहलाता है। यह आपादन सम्बन्ध, निगमन के प्रत्येक प्रकार में जहाँ एक तर्कवाक्य से दूसरे तर्कवाक्य का प्रामाणिक रूप से अनुमान किया जाता है, आवश्यक है।[२८७] आगमन भी या तो प्रच्छन्न निगमन है अथवा स्वीकार्य उपकल्पनाओं के निर्माण की मात्र एक विधि है[२८८] 'यदि क है तो ख है' इत्याकारक आपादनात्मक सम्बन्ध तभी सत्य होता है जब या तो (१) दोनों घटक सत्य हों अथवा (२) दोनों घटक असत्य हों या (३) क असत्य और ख सत्य हो। अन्यथा क सत्य और ख असत्य होने पर यह सम्बन्ध सत्य नहीं होकर असत्य हो जाता है। तुल्यता के आधार पर तृतीय को वस्तुपाती आपादान कहा जाता है। रसेल ने वस्तुपाती आपादान के अति-रिक्त आकारिक भेद मानकर इसके दो भेद प्रतिपादित किये हैं।[२८९] इनके आकारिक आपादन को अन्य तार्किकों ने कार्यिक या विधेय के रूप में स्वीकार किया है। अन्य तार्किकों ने आपादन के और भी कई भेद माने हैं।[२९०] वस्तुपाती आपादन (जैसे यदि मयङ्क वधु का पिता नहीं है तो उसका काका अवश्य है या यदि क असत्य है तो ख सत्य है') का विवेचन लेविस की कृतियों में इतनी व्यापक समालोचना के साथ हुआ है कि वस्तुपाती तथा नियत आपादन के साथ उनका नाम जुड़-सा गया है।[२९१] अष्टम वाक्य तुल्यता सूचक है।

इन तर्कवाक्यों को पुनरुक्तिमूलक, व्याघातक एवं आपातिक तर्क वाक्यों के रूप में भी समझा जा सकता है। तर्कवाक्य, दृष्टान्तों के केवल सत्य प्रतिस्थापन होने पर पुनरुक्ति मूलक जैसे क ∨ ∼ क ≡ ख ∨ ∼ ख; केवल असत्य प्रतिस्थापन होने पर व्याघातक, जैसे, क●∼ख एवं पुनरुक्तिपूर्ण तथा व्याघातक दोनों नहीं होने पर आपातिक जैसे क, ∼ क, क ∨ ख, क●ख, क ⊃ ख, कहलाते हैं। तात्पर्य यह कि तुल्यता मूलक तर्क-वाक्य के अतिरिक्त सभी आपातिक होते हैं।[२९२]

तालिका (१) में तर्कवाक्य-कलन में प्रयुक्त होने वाली अनेक प्रतीक-प्रणालियों का विवरण दिया गया है।[२९३]

कोष्ठक-बिन्दु विराम-चिह्न पद्धति

विभिन्न तर्कवाक्यों में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों का सही-सही अभिप्राय समझने के लिये प्रारम्भ में कोष्ठकों का प्रयोग किया जाता था। पीआनो का अनुसरण करते हुए रसेल ने कोष्ठकों के स्थान में बिन्दु प्रणाली का प्रचलन किया। पोलिश गणितज्ञ लुकसाइविक ने एक ऐसी पद्धति अन्वेषित की है जिसमें कोष्ठक और बिन्दु के प्रयोग के बिना भी यथार्थ अभिव्यक्ति की जा सकती है। उदाहरण द्वारा यह बात सुगमता से समझाई जा सकती है:—

(१) क●ख ∨ ग, (१′) क● (ख ∨ ग), (१″) (क●ख) ∨ ग।
(२) ∼ क ∨ ख, (२′) (∼ क) ∨ ख, (२″) ∼ (क ∨ ख)।

(१) और (२) तर्कवाक्य, कोष्ठकों का प्रयोग न होने के कारण, अर्थ स्पष्ट नहीं होने से अनेकार्थक सिद्ध किये जा सकते हैं। यथा (१) का अर्थ 'क' का 'ख' या 'ग' के साथ संयोग भी हो सकता है और क तथा ख का ग के साथ वियोग भी। इसी प्रकार (२) तर्कवाक्य भी द्विअर्थक है जैसे, केवल क के निषेध के साथ ख का वियोग है अथवा क या ख दोनों का निषेध। कोष्ठक का प्रयोग होने पर ऐसी द्वयर्थकता नहीं रहती। कोष्ठक के प्रयोग से (२) का अर्थ (२′) ही होगा (२″) नहीं। कोष्ठक विराम चिह्न प्रणाली में तीन प्रकार के लघु ( ), सर्पीय { } एवं वृहत् [ ] कोष्ठकों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु कहीं-कहीं यह प्रयोग बड़ा जटिल और क्लिष्ट हो जाता है अतः बिन्दु पद्धति अपनायी गयी। जैसे, [क ∨ (ख ∨ ग)] ⊃ [क ∨ {ख ∨ (क ∨ ग)}] को बिन्दु पद्धति में इस प्रकार—क ∨ ●ख ∨ ग :⊃:●क : ख●क ∨ ग रखा जा सकता है। लुकसाइ-विक—पद्धति का अनुसरण करते हुए क ⊃ (ख ⊃ ग) या क ⊃ ●ख ⊃ ग को 'सीकसीखग' या सीकएसीखग के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

विधेय या कायिक कलन

तर्कवाक्य कलन में, तर्कवाक्यों को पूर्ण मानते हुए, केवल बाह्य रचना के आधार पर निर्मित विभिन्न सम्बन्ध वाले तर्क वाक्यों को परिगणित किया गया है। इसमें घटक अणुवाक्यों द्वारा सर्जित मिश्र-परमाणु वाक्यों से बनने वाले मिश्र अनुमानों—हेत्वाश्रित, वैकल्पिक तथा उभयतोपाश की प्रामाणिकता सत्यता-मूल्यक तालिकाओं अथवा मौलिक नियम सूत्रों के आधार पर आँकी जाती है। यद्यपि इसमें गुण पर अवलम्बित विधायक तथा निषेध मूलक तर्कवाक्यों का समावेश है परन्तु परिमाण का किञ्चित् मात्र भी उल्लेख नहीं हुआ है। निरपेक्ष न्याय तथा अव्यवहित न्याय के अनेक रूपों में परिमाण सम्बन्धी विवेचन का होना परम आवश्यक है। अतः तर्कवाक्य-कलन के निष्कर्ष इन अनुमानों पर लागू नहीं होते। इसी न्यूनता की पूर्ति हेतु तार्किकों ने विधेय या कायिक-कलन की सृष्टि की है जिसमें तर्कवाक्यों की आन्तरिक रचना पर बल दिया गया है।[१९४]

पारम्परिक तर्क शास्त्र में तर्क वाक्य की आन्तरिक रचना तीन भागों—उद्देश्य, विधेय तथा संयोजक में सम्पन्न हुई है। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में व्याकरण-नियमों को दृष्टि में रखते हुए तर्क वाक्य के उद्देश्य और विधेय दो ही भाग किये गये हैं। परिमाण के आधार पर तर्क वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष या सर्वव्यापी और अंशव्यापी। एक व्यापी तर्कवाक्य उद्देश्य के निश्चित अथवा अनिश्चित होने पर सर्व-

व्यापी अथवा अंशव्यापी सिद्ध किये जा सकते हैं। (१) गांधीजी भारतीय थे तथा (२) एक भारतीय इमानदार है—इन तर्कवाक्यों में प्रथम उद्देश्य के निश्चित होने से सामान्य और द्वितीय उद्देश्य के अनिश्चित होने के कारण विशेष तर्कवाक्य है। सर्वव्यापी तर्कवाक्य में 'प्रत्येक', 'कोई', 'सब' आदि शब्दों का तथा अंशव्यापी तर्कवाक्य में 'कुछ' थोड़े-से, बहुत-से, 'अधिकतर' आदि शब्दों का प्रयोग होता है। निरपेक्ष न्याय में गुण तथा परिमाण के अनुसार चार वाक्य होते हैं जिन्हें ए, ई, ऐ तथा ओ कहा जाता है। ए तथा ऐ सर्वव्यापी विधायक तथा अंशव्यापी विधायक हैं एवं ई तथा ओ सर्वव्यापी निषेधक और अंशव्यापी निषेधक हैं।[२९५]

प्रत्येक निरपेक्ष सरल तर्कवाक्य में एक उद्देश्य तथा एक विधेय होता है। विधेय वह गुणधर्म होता है जिसका उद्देश्य के बारे में विधान अथवा निषेध किया जाता है। उद्देश्य सर्वदा किसी पदार्थ, व्यक्ति अथवा वस्तु की ओर संकेत करता है। उदाहरणत:

(१) सब केले | मीठे होते हैं।

(२) कोई भी केला | कडुवा नहीं होता।

(३) कुछ नेता | इमानदार हैं।

(४) कुछ नेता | इमानदार नहीं है।

यहाँ 'सब केले', 'कोई भी केला' उद्देश्य हैं जो सकल वस्तुओं की ओर निर्देश करते हैं तथा 'कुछ नेता' भी उद्देश्य हैं जो कुछ व्यक्तियों की ओर निर्देश करते हैं जबकि 'मीठे होते हैं', 'कडुवा नहीं होता', 'इमानदार हैं' एवं 'इमानदार नहीं है' गुणधर्म प्रदर्शित करने वाले विधेय हैं। वस्तु और गुणधर्म भिन्न-भिन्न होने के कारण इनको पृथक्-पृथक् चार प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करना आवश्यक है। वस्तुओं के लिए क, ख, ग . . . आदि तथा गुणधर्म के लिये प, फ, व . . . . आदि का प्रयोग किया जायगा। उदाहरणत:

(५) गांधीजी भारतीय है। . . . . . एक व्यापी

(६) नेहरूजी भारतीय हैं। . . . . . ,,

(७) शास्त्रीजी भारतीय हैं। . . . . ,,

विधेय कलन में इन तीनों तर्कवाक्यों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है भा (गां)', 'भा (ने)', 'भा (शा)'। इसमें 'भा' गुणधर्म भारतीय तथा 'गां', 'ने', 'शा' गांधीजी, नेहरूजी, शास्त्रीजी व्यक्तियों के सूचक हैं जिन्हें चर प्रतीकों प (क) में व्यक्त किया जा सकता है। तर्कवाक्यों के परिमाण व्यक्त करने के लिये दो अचर प्रतीक (क) तथा (∃क) का प्रयोग किया जाता है। इनमें से (क) सर्वव्यापी तथा (∃क) अंशव्यापी तर्कवाक्यों के द्योतक हैं। लुकसाईविक तथा फेरिस ने सर्वव्यापी के लिए II और (∀क) एवं अंशव्यापी के लिये Σ तथा (∃क) प्रतीकों का प्रयोग किया है। उक्त तीनों तर्कवाक्य एक व्यापी हैं सर्वव्यापी तथा अंशव्यापी तर्कवाक्यों के उदाहरण इस प्रकार है—

(८) सब भारतीय दयावान हैं। . . . . . ए . . . . सर्वव्यापी विधायक

(९) कुछ भारतीय दयावान हैं। . . . . . ऐ . . . . अंशव्यापी विधायक

इनको इस प्रकार रखा जा सकता है—(भा) द (भा) तथा (∃भा) द (भा) तार्किक

स्वरूप में इनको अन्य रीति से व्यवस्थित किया जा सकता है।

(५′) समस्त संभावित मूल्यों के लिये यदि क गांधीजी है तो क भारतीय है।
(क) गां (क) ⊃ भा (क).

(८′) समस्त संभावित मूल्यों के लिये यदि क भारतीय है तो क दयावान है।
(क) भा (क) ⊃ द (क)

(९′) कम से कम एक मूल्य के लिये क भारतीय है और क दयावान है।
(∃क) भा (क) ● द (क)
निषेधात्मक स्वरूप इस प्रकार है।

(१०) कोई भी भारतीय दयावान नहीं हैं।.....इ...सर्वव्यापी—निषेधक

(११) कुछ भारतीय दयावान नहीं हैं।.....ओ...अंशव्यापी—निषेधक

(१०′) समस्त संभावित मूल्यों के लिए यदि क भारतीय है तो क दयावान नहीं है।
(क) भा (क) ⊃ ∼ द (क)

(११′) कम से कम एक मूल्य के लिए क भारतीय है और वह दयावान नहीं है।
(∃क) भा (क) ● ∼ द (क)

कार्यिक प्रतीकों में ए, इ, ऐ, ओ तथा पञ्चम को इस प्रकार रखा जा सकता है।

(५″)—(क) [गां (क) ⊃ भा (क)]—पञ्चम

(८″)—(क) [प (क) ⊃ फ (क)]—ए

(१०″)—(क) [प (क) ⊃ ∼ फ (क)]—इ

(९″)—(∃क) [प (क) ● फ (क)]—ऐ

(११″)—(∃क) [प (क) ● ∼ फ (क)]—ओ

यहाँ ५) में गांधीजी और भारतीय तथा ८), ९), १०) एवं ११) में भारतीय और दयावान को विधेय के रूप में रखा गया है जिन्हें गुणधर्म चर प्रतीक—'गां' तथा 'भा' और 'प' तथा 'फ' द्वारा व्यक्त किया गया है। 'क' तर्कवाक्यीय चर प्रतीक है।

कार्यों की इस व्यवस्था द्वारा उद्देश्य को भी विधेय के रूप में रखा जा सकता है इसीलिये कार्यिक कलन को विधेय कलन भी कहा जाता है। पारम्परिक तर्कशास्त्र की ए-इ-ऐ-ओ व्यवस्था एवं विधेय- कलन को तुलनात्मक रूप से इस प्रकार से रखा जा सकता है।

(१२) प ए सा—सब प सा हैं—	—(क) [प (क) ⊃ सा (क)]
(१३) प इ सा—कोई भी प सा नहीं है	—(क) [प (क) ⊃ ∼ सा (क)]
(१४) प ऐ सा—कुछ प सा है	—(∃क) [प (क) ● सा (क)]
(१५) प ओ सा—कुछ प सा नहीं है	—(∃क) [प (क) ● ∼ सा (क)][११६]

इस कलन में तर्कवाक्य या पदों से सम्बन्धित चर प्रतीकों को सीमित तथा असीमित रूप से रखा जाता है। परिमाणकों द्वारा सम्बद्ध होने पर चर प्रतीक सीमित तथा उनसे मुक्त होने पर असीमित कहलाता है जैसे, (क) (पक), (ᴲक) (पक) में क समस्त तथा आंशिक मूल्यों में सीमित है तथा पक में ऐसा कोई बन्धन नहीं है।[२९७] प (क) ⊃ फ (क) को कोष्ठक हटाकर पक ⊃ फक के रूप में भी व्यवस्थित किया जा सकता है। निषेध के आधार पर सर्वव्यापी परिमाणक अंशव्यापी परिमाणक का निषेधक होता है। अतः चारों वाक्यों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

सामान्य आधार— ∼(क) पक≡(ᴲक) पक, ∼(ᴲक) पक≡(क) ∼पक

(१७) ए—(क) (पक ⊃ फक) ≡∼ ओ∼ (ᴲक) (पक●∼फक)

(१८) इ—(क) (पक ⊃ ∼फक) ≡∼ऐ∼ (ᴲक) (पक●फक)

(१९) ऐ—(ᴲक) (पक●फक) ≡∼इ∼ (क) (पक ⊃ ∼फक)

(२०) ओ—(ᴲक) (पक●∼फक) ≡∼ए∼ (क) (पक ⊃ फक)[२९८]

इस प्रकार विधेय कलन के द्वारा सभी प्रकार के निरपेक्ष मिश्र तर्कवाक्यों, अव्यवहित एवं व्यवहित अनुमानों को समझाया जा सकता है। यथा—

(२१) निरपेक्ष तर्कवाक्य —सब मनुष्य विवेकशील हैं, कोई मनुष्य विवेकशील नहीं है। कुछ मनुष्य विवेकशील है, कुछ मनुष्य विवेकशील नहीं है।

इनका विधेय-प्रतीकीकरण ऊपर दिया जा चुका है :

(२२) हेत्वाश्रित तर्कवाक्य —यदि सब मनुष्य परिश्रमी हैं तो वे सफल होंगे।
(म) (पम ⊃ सम)

(२३) वैकल्पिक तर्कवाक्य —रमेश या तो परिश्रमी है या बुद्धिमान।
(र) (पर ∨ बुर)

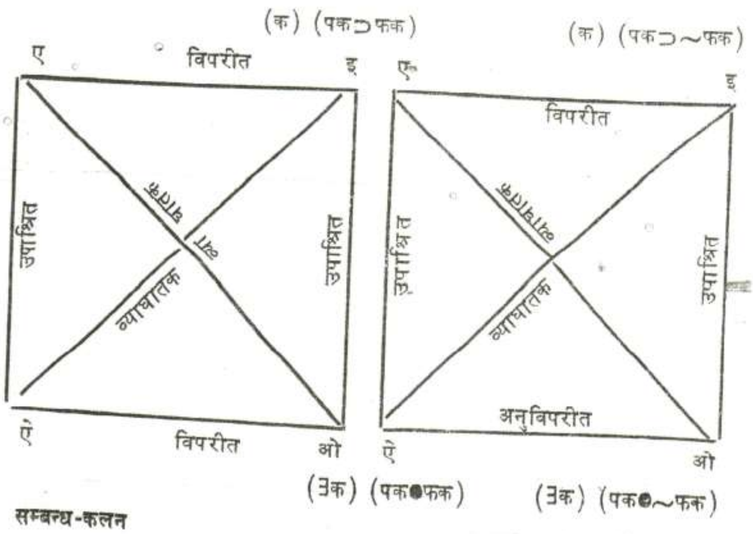
(२४) अव्यवहित अनुमान—परिवर्तन—सब सिन्धी व्यवसायी हैं–(क) (सिक ⊃ व्यक)
∴ कुछ व्यवसायी सिन्धी हैं– ∴ (ᴲक) (व्यक●सिक)

(२५) अव्यवहित अनुमान—प्रतिवर्तन–सब बंगाली विद्वान् होते हैं–(क) (बंक ⊃ विक)
कोई बंगाली अ-विद्वान् नहीं होते—
∴ (क) (बंक ⊃ ∼विक) या
∴ (क) (बंक ⊃ ∼∼विक)

(२६) व्यवहित अनुमान के चतुर्थ आकार का फ्रेसीसोन संयोग—
इ—कोई ईसाइ हिन्दु नहीं है—(क) (ईक ⊃ ∼हिक)
ऐ—कुछ हिन्दू ब्राह्मण हैं—(ᴲक) (हिक●ब्राक)
∴ ओ—कुछ ईसाइ ब्राह्मण नहीं है—(ᴲक) (ईक●∼ब्राक)

(२७) मिश्र अनुमान का मिश्र विधायक उभयतोपाश—
यदि प है तो थ है और यदि र है तो स है —[(पक ⊃ थक)●(रक ⊃ सक)]
या तो प है या र है —पक ∨ रक
या तो थ है या स है —∴ थक ∨ सक

(२८) अव्यवहित अनुमान का विरोध-प्रदर्शक-वर्ग—



सम्बन्ध-कलन

अरस्तू ने अपनी उद्देश्य-विधेय-परक न्याय-प्रणाली को आकारान्तरण-प्रक्रिया द्वारा 'यज्जातिविधेयम तद्व्यक्तिविधेयम' सिद्धान्त के आधार पर सिद्ध किया है। पारम्परिक तर्कशास्त्र में इस प्रणाली का काफी दिनों तक बोलबाला रहा किन्तु कालान्तर में कुछ ऐसे अनुमान भी सामने आये, जो सम्बन्ध मूलक अनुमान कहलाते हैं, उन पर यह प्रणाली कार्यान्वित नहीं की जा सकती। ऐसे अनुमानों के लिये यदि अरस्तवी-प्रणाली द्वारा कोई निष्कर्ष निगमित किया जाए तो या तो वह व्याप्ति दोष से ग्रसित होगा अथवा उसमें कोई उचित निष्कर्ष सम्भावित नहीं होगा। जैसे—

(१) मनीष अनिल से बड़ा है।
अनिल आलोक से बड़ा है।
∴ मनीष आलोक से बड़ा है।

(२) अ ब से आगे है।
ब स से आगे से।
∴ अ स से आगे है।

दूसरे आधुनिक युग में ऐसे वर्ग की भी कल्पना की गई है जिसकी सदस्य संख्या शून्य होती है।[११९] इसलिये यह प्रणाली उक्त वर्ग-अनुमानों पर भी लागू नहीं हो सकती। इन्हीं न्यूनताओं को दृष्टि में रखते हुए गणितीय तर्कशास्त्रियों ने सम्बन्ध-कलन तथा वर्ग-कलन की रचना की है। वर्ग-कलन की विवेचना अगले प्रकरण में की जायगी।

तर्कवाक्यों, पदों तथा वर्गों के बीच पाये जाने वाले अनेक प्रकार के सम्बन्धों की चर्चा प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में उपलब्ध होती है।

अरस्तू ने विरोध-प्रदर्शक-वर्ग में तर्कवाक्यों के बीच पाये जाने वाले दो सम्बन्धों—व्याघात तथा विपरीत सम्बन्ध प्रतिपादित किये हैं। इनमें उत्तरवर्ती तार्किकों ने दो सम्बन्ध—उपाश्रित और अनुविपरीत एवं आधुनिक तर्कशास्त्री जान्सन ने और तीन सम्बन्ध—स्वाधीनता, सह आपादन (कोइम्प्लीकेशन) तथा अति आपादन

(सुपरइम्प्लीकेशन) जोड़कर तर्क वाक्यों के बीच सात प्रकार के सम्बन्ध माने हैं। इन सभी को गणितीय तर्क-शास्त्र में पाँच मौलिक सम्बन्धों में अन्तर्भावित कर लिया गया है। तर्कवाक्य-कलन में इनकी चर्चा विस्तार से की जा चुकी है।

एक पदीय सम्बन्ध का विवरण पिछले विधेय-कलन में दिया जा चुका है। उसी का विस्तार दो, तीन, चार, पाँच अथवा अनेक पदों के बीच पाये जाने वाले द्विपदीय, त्रिपदीय, चतुष्पदीय, पञ्चपदीय या अनेक पदीय सम्बन्धों में सम्पादित हुआ है। उदाहरणतः

(१) स्वामी विवेकानन्द के गुरू स्वामी रामकृष्ण परमहंस थे।
(२) महेन्द्र ने सुरेश का परिचय रत्ना से करवाया।
(३) सुधा ने बनारसी-साड़ी कमल-वस्त्रालय से दो सौ रुपये में खरीदी।
(४) रमेश, प्रीति, महेश एवं सुरेन्द्र कॉफी पी रहे हैं।

यहाँ प्रथम द्विपदीय, द्वितीय त्रिपदीय, तृतीय चतुर्पदीय एव चतुर्थ पञ्चपदीय तर्कवाक्य हैं। अन्तिम में सुरेन्द्र के पश्चात् 'काफी-हाउस में' जोड़कर अनेक पदीय तर्क-वाक्य की रचना की जा सकती है।

विभिन्न पदों को चर प्रतीक क-ख-ग-घ-ङ. . . . तथा सम्बन्धों को अचर प्रतीक स द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। एक पदीय विधेय कलन में जिस प्रकार 'क मानव है' को मा (क) के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है उसी प्रकार उक्त वाक्यों को भी इस प्रकार रखा जा सकता है[३००]

(१) गु (क, ख) (अथवा कोष्ठक हटाकर) गुकख या कगुख भी रखा जा सकता है।
(२) प <क, ख, ग> (३) ख <क, ख, ग, घ> (४) पी <क, ख, ग, घ, ङ>[३०१]
गु = गुरू, प = परिचय, ख = खरीद, पी = पीना आदि सम्बन्ध बोधक विशिष्ट प्रतीकों के स्थान पर 'स' रखा जा सकता है।

सम्बन्ध-विवेचना में परिमाणकों की सहायता भी ली जा सकती है। जैसे–

(५) प्रत्येक वस्तु कुछ लोगों को आकर्षित करती है।
(६) प्रत्येक वस्तु प्रत्येक व्यक्ति को आकर्षित करती है।
(७) कुछ वस्तु सब लोगों को आकर्षित करती हैं।
(८) कुछ वस्तु कुछ लोगों को आकर्षित करती हैं।

इन तर्क वाक्यों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

(५′) (क) (∃ख) आ (क, ख)
(६′) (क) (ख) आ (क, ख)
(७′) (∃क) (ख) आ (क, ख)
(८′) (∃क) (∃ख) आ (क, ख)[३०२]

तर्कशास्त्र में द्विपदीय सम्बन्ध ही अधिक प्रयुक्त होता है। शेष सम्बन्धों का महत्व गणितशास्त्र में अत्यधिक है अतः स्थानाभाव के कारण इनकी चर्चा यहाँ नहीं कीजायगी।

द्विपदीय सम्बन्ध को गुणधर्म तथा दो पदों की संख्या के आधार पर मुख्य भेदों में बाँटा जा सकता है। गुण धर्म के अनुसार सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं और दो पदों की संख्या के अनुसार चार प्रकार के। इन सम्बन्धों के विवेचन के पूर्व निर्देश्य

(रेफेण्ट) तथा सम्बन्धी (रिलेटम) को समझ लेना आवश्यक है। सम्बन्ध का वह पद निर्देश्य कहलाता है जिससे सम्बन्ध प्रारम्भ होता है और जिस पद की ओर जाकर समाप्त होता है वह सम्बन्धी कहलाता है। प्रथम तर्कवाक्य में (क गु ख) क निर्देश्य तथा ख सम्बन्धी होगा। संभावित निर्देश्य-वर्ग को प्रदेश तथा संभावित सम्बन्धी-वर्ग को विलोम प्रदेश एवं दोनों के योग को क्षेत्र कहा जाता है।[३०३] अब उक्त सम्बन्धों को आसानी से समझा जा सकता है।

गुण-धर्म[३०४] के अनुसार सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—परावर्ती, सममित तथा संचारी। पदों में परस्पर सम्बन्ध होने, न होने तथा होने न होने पर ये सारे सम्बन्ध अवलम्बित होते हैं। जैसे यदि कोई पद, अपने आप से सम्बन्धित है तो उसे परावर्ती, न होने पर अपरावर्ती तथा होने न होने पर न परावर्ती कहलाता है। तादात्म्य, समकालीन होना, प्रथम के, विशिष्ट दिशा में, विवाह द्वितीय के एवं प्रेम, धोखा, मित्रता, आलोचना तृतीय के उदाहरण हो सकते हैं। इन सम्बन्धों को परिमाणकों के आधार पर सुगमता से समझा जा सकता है। जैसे—

(९) परावर्ती— (क) (ख) [(सकख) ⊃ (सकक ● सखख)].

(१०) अपरावर्ती—(क) (ख) [(सकख) ⊃ ∼ (सकक ● सखख)].

(११) न परावर्ती—(क) (ख) [(सकख) ⊃ M (सकक ● सखख)].

दो पदों के बीच पाये जाने वाले उस सम्बन्ध को सममित कहते हैं जिसमें यदि एक का जो सम्बन्ध दूसरे से होता है वही दूसरे का पहले से हो। ऐसा न होने पर असममित और होने न होने पर न सममित सम्बन्ध होते हैं। भिन्न, बराबर, विवाह प्रथम के तथा विशिष्ट दिशा में होना, माता-पिता होना द्वितीय के उदाहरण हैं। नपरावर्ती के उदाहरण न सममित पर भी लागू हो सकते हैं। जैसे—

(१२) सममित—(क) (ख) (स क ख ⊃ स ख क).

(१३) असममित—(क) (ख) (स क ख ⊃ ∼ स ख क.)

(१४) न सममित—(क) (ख) (स क ख ⊃ M स ख क.)

युग्मों के बीच उपलब्ध होने वाले सम्बन्ध को संचारी सम्बन्ध कहते हैं। यदि प्रथम का द्वितीय से और द्वितीय का तृतीय से सम्बन्ध हो तो प्रथम का तृतीय से सम्बन्ध होने पर संचारी; न होने से असंचारी तथा होने न होने से न संचारी सम्बन्ध होते हैं। पूर्वज होना, बराबर होना प्रथम के, अगला होना, पिता होना द्वितीय के उदाहरण हैं एवं न परावर्ती के उदाहरण न संचारी में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। जैसे

(१५) संचारी—(क) (ख) (ग) [(स क ख ● स ख ग) ⊃ स क ग].

(१६) असंचारी—(क) (ख) (ग) [(स क ख ● स ख ग) ⊃ ∼स क ग].

(१७) न संचारी—(क) (ख) (ग) [(स क ख ● स ख ग) ⊃ M स क ग].

अन्य वर्गीकरण द्वारा पदों की संख्या[३०५] के अनुसार चार प्रकार के सम्बन्ध निर्मित किये जाते हैं—एक-एक, एक-अनेक, अनेक-एक एवं अनेक-अनेक। इन सम्बन्धों में निर्देश्य अथवा सम्बन्धी की दी हुई एक संख्या से सम्बन्धी अथवा निर्देश्य की दूसरी संख्या निर्धारित की जाती है। इकलौते पुत्र का पिता से सम्बन्ध प्रथम का; पिता से अनेक पुत्रों का सम्बन्ध

द्वितीय का; मंत्री-परिषद् का एक मंत्री से सम्बन्ध तृतीय का एवं मंत्री परिषदों का मंत्रियों से सम्बन्ध चतुर्थ से उदाहरण हैं। जैसे

(१८) एक-एक— स ∈ १ → १.
(१९) एक-अनेक— स ∈ १ → व.
(२०) अनेक-एक— स ∈ व → १.
(२१) अनेक-अनेक— स ∈ व → व.

यहाँ M, १, व, ∈ को अचर प्रतीकों के रूप में रखा गया है जिनका अभिप्राय होना न होना, एक, वर्ग या अनेक एवं सदस्य होना है। सम्बन्ध प्रतीकों में सम्बन्धमूलक अनुमानों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

(२२) सचिव उपसचिव से बड़ा होता है — ब (स, उ)
उपसचिव अवर सचिव से बड़ा होता है, — ब (उ, अ)

∴ सचिव अवरसचिव से बड़ा होता है — ∴ ब (स, अ)
ब=बड़ा होना—सम्बन्ध। स=सचिव। उ=उपसचिव। अ=अवर सचिव

(२३) यदि अर्पणा अपने कुछ बच्चों की माँ है तो कुछ बच्चे अर्पणा के बेटे हैं,
अर्पणा अपने कुछ बच्चों की माँ है
∴ कुछ बच्चे अर्पणा के बेटे हैं।

(अ) (∃ब) [माँ (अ, ब)] ⊃ (∃ब) (अ) [बे (ब, अ)],
(अ) (∃ब) [माँ (अ, ब)]
∴ (∃ब) (अ) [बे (ब, अ)]

वर्ग-कलन

समान गुणधर्म वाले पदार्थों या सदस्यों के समूह को वर्ग कहा जाता है। गणितीय सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए बूल ने तीन प्रकार की मौलिक वर्ग प्रवृत्तियाँ मानी है—निषेध, तार्किक योग तथा तार्किक गुणनफल। उक्त वर्ग परिभाषा के अनुसार प्रत्येक वर्ग का एक निषेधक वर्ग भी होता है, जिसमें दिये हुए वर्ग के गुणधर्मों का अभाव पाया जाता है। दोनों के सम्मिलन से विषय क्षेत्र की रचना होती है जिसमें लोक-निष्ठ सभी पदार्थ समाविष्ट हो जाते हैं। जैसे गाय और अगाय दोनों का विषयक्षेत्र पशु है जिसमें सभी गायें तथा गायों से अतिरिक्त सभी प्रकार के पशुओं का समावेश है। व्यापक रूप से अगाय में संसार के गाय से अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस प्रकार वर्गों का योग, गुणनफल या विषय क्षेत्र भी वर्ग ही होगा। दो वर्गों के ऐसे वर्ग को योग कहा जाता है जिसमें सारे पदार्थ एक अथवा दूसरे में रहते हैं तथा ऐसे वर्ग को गुणनफल कहते हैं जिसमें सारे पदार्थ समानरूप से दोनों में वृत्ति हों। प्रतीकात्मक रूप से वर्गों को चर प्रतीक य-र-ल-व. . . . ., निषेधक वर्ग, योग तथा गुणनफल को— जैसे य, य + र या य ∪ र तथा यर या य ∩ र के रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है।[३०६]

वर्गों के बीच मुख्यतः दो सम्बन्ध पाये जाते हैं—वर्ग-समावेश या वर्ग अन्तर्भावन तथा वर्ग-सदस्यता सम्बन्ध।

वर्ग-समावेश[३०७] सम्बन्ध केवल वर्गों के बीच ही उपलब्ध होता है। कोई वर्ग य र में तभी समाविष्ट हो सकता है जब यदि और केवल यदि य के सारे सदस्य र के भी सदस्य हों। उदाहरणतया 'सभी मालवी भारतीय हैं' में वर्ग मालवी के सभी सदस्य वर्ग भारतीय में सम्मिलित हैं। यह सम्बन्ध न सममित तथा संचारी होता है। इस सम्बन्ध को अचर प्रतीक ⊂ ⊆ या ≦ के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जैसे य ⊂ र

वर्ग सदस्यता[३०८] सम्बन्ध वर्ग और सदस्य में पाया जाता है। जैसे, 'अकरम खां भोपाल निवासी हैं' में अकरम खां व्यष्टि रूप से वर्ग भोपाल निवासी का सदस्य है किन्तु 'भोपाल निवासी भारतवासी हैं', वर्ग समावेश सम्बन्ध होगा, वर्ग-सदस्यता सम्बन्ध नहीं; क्योंकि भोपाल निवासी तथा भारतवासी दोनों वर्ग हैं। इस प्रकार वर्ग भोपाल निवासी वर्ग भारतवासी में समाविष्ट है अथवा भोपाल निवासी भारतवासी वर्ग का उपवर्ग है। अतः समष्टि रूप में भोपाल निवासी तथा भारतवासी वर्ग समावेश सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध किया जा सकता है जबकि व्यष्टि रूप में एक भोपाल निवासी-अकरम खां दोनों वर्गों का सदस्य हो सकता है। यह सम्बन्ध असममित तथा प्रायः नसंचारी होता है किन्तु संचारी और असंचारी भी कहीं-कहीं होता है।

एक अन्य रीति से भी वर्गों को समझाया जा सकता है। इस रीति के अनुसार वर्ग दो प्रकार के 'सर्वव्यापी वर्ग' तथा 'शून्य या रिक्त वर्ग' होते हैं। जिस वर्ग में सभी सदस्य समाविष्ट रहते हों उसे सर्वव्यापी वर्ग तथा इसके निषेधक वर्ग को शून्य वर्ग कहते हैं जिसमें कोई सदस्य विद्यमान नहीं होता। जैसे, 'मनुष्य' वर्ग सर्वव्यापी वर्ग है जिसमें सभी मनुष्य समाविष्ट है तथा 'बीस फीट ऊंचा आदमी' शून्य वर्ग है क्योंकि यह एक ऐसा वर्ग है जिसमें ऐसा कोई सदस्य नहीं रहता। एकव्यापी वर्ग जब वर्ग की कोटि में प्रयुक्त होता है तब एकक वर्ग कहलाता है जैसे, 'थामस खिलाड़ी है' इसमें थामस की स्थिति वर्ग समावेश तथा वर्ग सदस्यता दोनों सम्बन्धों से समझायी जा सकती है यथा थामस एकक वर्ग के रूप में एक वर्ग है जिसमें वही एक सदस्य है अतः इस स्थिति में वर्ग थामस वर्ग खिलाड़ी में वर्ग समावेश सम्बन्ध द्वारा समाविष्ट होगा किन्तु जब थामस को खिलाड़ी वर्ग का एक सदस्य माना जाता है तब उसे वर्ग सदस्यता सम्बन्ध से सम्बद्ध करना होगा। इसके अतिरिक्त ऐसे भी वर्ग हो सकते हैं जिनमें केवल एक ही सदस्य होता है जैसे, भारत की वर्तमान प्रधानमंत्राणी। इसको भी एकक वर्ग में रखा जा सकता है। तात्पर्य यह एक अथवा एक से अधिक सदस्य होने पर वर्ग सर्वव्यापी कहलाता है और एक भी सदस्य न होने पर शून्य। वर्ग-सदस्यता सम्बन्ध को अचर प्रतीक ∈ तथा व्यक्तिगत सदस्य को चर प्रतीक त-थ-द...के रूप में रखा जाता है जैसे त ∈ य = त वर्ग य का सदस्य है। सर्वव्यापी वर्ग तथा शून्यवर्ग को १ या V तथा O या Λ से व्यक्त किया जायगा। इस कथन में दो अचर प्रतीक और भी होंगे : ≠ तथा = जो भिन्नता तथा बराबर के अर्थ में प्रयुक्त किये जायेंगे।[३०९]

अरस्तवी अंशव्याप्ति और सर्वव्याप्ति सिद्धान्त, जो सामान्य तथा विशेष तर्क-वाक्यों की व्याख्या हेतु अपनाया गया था उससे यह शून्य तथा सर्वव्यापी सिद्धान्त कहीं श्रेष्ठ और सारगर्भित है क्योंकि अरस्तवी व्यवस्था में शून्य सदस्य वाले पद की व्याख्या प्रायः असम्भव-सी थी। वस्तुतः बूलीय वर्ग सिद्धान्त अरस्तवी सिद्धान्त का पूर्ण विकसित रूप है।

वर्ग-सदस्यता सम्बन्ध को विधेय-कलन-निष्ठ परिमाणकों की सहायता से भी व्यक्त किया जा सकता है। जैसे, अकरम खां भोपाल निवासी है को अ ϵ भो के रूप में व्यक्त किया जाता है अर्थात् अकरमखां भोपाल निवासी का सदस्य है। विधेय-कलन से भोपाल निवासी को अकरम खां का कार्य या विधेय सिद्ध किया जा सकता है अतः इसे ऐसे भो (अ) भी लिखा जा सकता है और वर्ग सदस्यता सम्बन्ध सूचक प्रतीक अपना कर-भो ϵ अ। यहाँ क्ष और त-थ-द. . . . आदि को चर प्रतीक के रूप में परास के प्रत्येक सदस्य तथा विशिष्ट व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त किया जायगा। यथा—क्ष ϵ य का तात्पर्य होगा प्रत्येक व्यक्ति वर्ग य का सदस्य है एवं त ϵ य का अर्थ होगा विशिष्ट व्यक्ति वर्ग य का सदस्य है। य⊂र को परिमाणकों की सहायता से भी समझा जा सकता है—(क्ष) (क्ष ϵ य) ⊃ (क्ष ϵ र) इसका विस्तार अन्य प्रवृत्तियों से भी किया जा सकता है जैसे

(१) पूर्ण व्यापी-(क्ष) (क्षϵय) ⊃ (क्षϵर)
(२) अंशव्यापी-(Ǝक्ष) (क्षϵय)●(क्षϵर)
(३) य∨र = (क्षϵय) ∨ (क्षϵर)
(४) य●र = (क्षϵय)●(क्षϵर)
(५) य⊃र = (क्षϵय) ⊃ (क्षϵर)
(६) य≡र = (क्षϵय) ≡ (क्षϵर)[310]

वर्ग सिद्धान्त में कुछ नियमों तथा गणित के मूलभूत सिद्धान्तों का पालन होना आवश्यक है यथा

(१) कोई भी वर्ग विषय क्षेत्र में तथा कोई विषय क्षेत्र अथवा वर्ग अन्य विषय क्षेत्र या वर्ग में समाविष्ट हो सकता है।
(२) शून्य वर्ग सभी वर्गों तथा शून्य वर्ग में समाविष्ट हो सकता है।
(३) वर्ग परस्पर संयोजित (संयुक्त) किये जा सकते हैं तथा उनका संयोग भी वर्ग होगा।
(४) १+०=१; ०+१=१; १×१=१; १×०=०; ०×०=० एंव ०×१=०[311] $\bar{१}$=०, $\bar{०}$=१.

विभिन्न वर्ग प्रतीकों में ए, इ, ऐ तथा ओ वाक्यों तथा अन्य अनुमानों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

वर्गसमावेश सम्बन्ध में—

(७) ए—सब प सा है।—प⊃सा —वर्ग प पूर्णतया वर्ग सा में समाविष्ट है अथवा वर्ग प वर्ग सा का उपवर्ग है।

(८) इ—कोई प सा नहीं है।—प⊃$\bar{सा}$ —वर्ग प पूर्णतया वर्ग सा में समाविष्ट नहीं है अर्थात् $\bar{सा}$ में समाविष्ट है।

(९) ऐ—कुछ प सा है—∼(प⊃$\bar{सा}$) —वर्ग प अंशतः वर्ग सा में समाविष्ट है अर्थात् यह बात नहीं कि वर्ग प $\bar{सा}$ में समाविष्ट है।

(१०) ओ—कुछ प सा नहीं है—∼(प⊃सा)—वर्ग प अंशतः वर्ग सा में समाविष्ट है अर्थात् यह बात नहीं कि वर्ग प सा में समाविष्ट होगा।[312]

वर्ग-सदस्यता सम्बन्ध में—

(११) ए—सब प सा हैं—प $\overline{\text{सा}}$ = 0 —ऐसा कोई वर्ग विद्यमान नहीं है जो प और $\overline{\text{सा}}$ दोनों हों अर्थात् ऐसा कोई वर्ग नहीं है जिसके सदस्य वर्ग प में रहें और वर्ग सा में नहीं। इसलिए दोनों का गणनफल शून्य होगा।

(१२) इ—कोई प सा नहीं है—प सा = 0 —ऐसा कोई वर्ग विद्यमान नहीं है जो प और सा दोनों हो अर्थात् वर्ग प और वर्ग सा में ऐसे सदस्य नहीं है जो दोनों में समान हों। अतः दोनों का गुणनफल शून्य होगा।

(१३) ऐ—कुछ प सा है—प सा ≠ 0 —कुछ वर्ग ऐसे भी होते हैं जो प और सा दोनों हो अर्थात् वर्ग प का कम से कम एक सदस्य ऐसा होता है जो वर्ग सा का भी सदस्य है। अतः दोनों का गुणनफल शून्य से भिन्न होगा।

(१४) ओ—कुछ प सा नहो है—प$\overline{\text{सा}}$ ≠ 0 —कुछ वर्ग ऐसे भी होते हैं जो प और $\overline{\text{सा}}$ दोनों हों अर्थात् वर्ग प में कम से कम एक सदस्य ऐसा होता है जो सा का सदस्य नहीं होता इसलिए दोनों का गुणनफल शून्य से भिन्न होगा।[३१३]

विधेय-कलन में वर्ग सदस्यता सम्बन्ध—

(१५) (क्ष) (क्ष ∈ य) ⊃ (क्ष ∈ र) . . . ए.

(१६) (क्ष) (क्ष ∈ य) ⊃∼ (क्ष ∈ र) या (क्ष) (क्ष ∈ य) ⊃ (क्ष ∈ $\dot{\text{र}}$) . . . . इ.

(१७) (∃क्ष) (क्ष ∈ य) ● (क्ष ∈ र) . . . . ऐ

(१८) (∃क्ष) (क्ष ∈ य) ● ∼ (क्ष ∈ र) या (क्ष) (क्ष ∈ य) ● (क्ष ∈ $\dot{\text{र}}$) . . . ओ[३१४]

आनुमानिक अनुप्रयोग के लिये द्वितीय आकार का फेस्टिनो संयोग लिया जा सकता है—

(१९) इ—कोई हे सा नहीं है,
ऐ—कुछ हे प है,
ओ—कुछ प सा नहीं है।

(२०) वर्ग समावेश सम्बन्ध में—
हे ⊃ $\overline{\text{सा}}$
∼(हे ⊃ $\dot{\text{प}}$)
∴ ∼(प ⊃ सा)

(२१) वर्ग सदस्यता सम्बन्ध में—
हेसा = 0
हे प ≠ 0
∴ प$\overline{\text{सा}}$ ≠ 0

(२२) विधेय कलन में वर्ग सदस्यता सम्बन्ध—
(क्ष) (क्ष ∈ हे) ⊃ (क्ष ∈ $\overline{\text{सा}}$)
(∃क्ष) (क्ष ∈ हे) ● (क्ष ∈ प)
∴ (∃क्ष) (क्ष ∈ प) ● (क्ष ∈ $\overline{\text{सा}}$)

(२३) वर्ग-समावेश सम्बन्ध–आपादनात्मक रूप में---

$[\{(\text{हे} \supset \overline{\text{सा}}) \bullet \sim(\text{हे} \supset \text{प})\} \supset \sim(\text{प} \supset \text{सा})]$

(२४) वर्ग-सदस्यता सम्बन्ध–विधेय-कलन तथा आपादनात्मक रूप में---

$[\{(\text{क्ष})\ (\text{क्ष} \in \text{हे}) \supset (\text{क्ष} \in \overline{\text{सा}})\} \bullet \{(\exists \text{क्ष})\ (\text{क्ष} \in \text{हे}) \bullet (\text{क्ष} \in \text{प})\} \supset \{(\exists \text{क्ष})\ (\text{क्ष} \in \text{प}) \bullet (\text{क्ष} \in \overline{\text{सा}})\}]$

(२५) आपादनात्मक रूप में—$[\{(\text{हेसा} = \text{०}) \bullet (\text{हेप} \neq \text{०})\} \supset (\text{प} \neq \overline{\text{सा}})\}]$

प्रमाणीकरण-सिद्धान्त

गणितीय तार्किक चिन्तन में प्रमाणीकरण की समस्या बड़ी महत्वपूर्ण रही है। सत्यापन सिद्धान्तों के अभाव में किसी तर्कवाक्य अथवा उनसे बनने वाले विविध अनुमानों की परीक्षा नहीं की जा सकती। अरस्तू ने न्याय की यथार्थता के लिये 'यज्जातिविधेयम तद्व्यक्तिविधेयम' सिद्धान्त अपनाकर आकारान्तरण पद्धति का अन्वेषण किया था। उनकी विभिन्न हेत्वाभासों की कल्पना के मूल में भी संभवतः प्रमाणीकरण सिद्धान्त रहा है किन्तु कालान्तर में यह विधि उपयोगी नहीं समझी गयी और अनेक सत्यापन सिद्धान्तों का शनैः-शनै विकास होता रहा आजकल प्रतीकात्मक तार्किक चिन्तन में मुख्यतः तीन सिद्धान्त—मूल्य-सिद्धान्त, स्वयंसिद्धि-सिद्धान्त एवं स्वाभाविक निगमन-सिद्धान्त प्रचलित हैं।

मूल्य सिद्धान्त[३१५]

इस सिद्धान्त में सत्यता, असत्यता, आवश्यकता, संभावना, असंभावना आदि मूल्यों के आधार पर किसी तर्कवाक्य अथवा अनुमान का सत्यापन किया जाता है। अपनी तर्कवाक्यीय मौलिक प्रवत्तियों की सत्यता एवं असत्यता के लिये यद्यपि पी०अर्स का समर्थन करते हुए रसेल ने कुछ सत्यापन सिद्धान्त स्थापित किये हैं किन्तु सारणियों के रूप में मूल्यों का प्रतिपादन करने का श्रेय विटगेन्स्टीन, पोस्ट, लुकसाइविक आदि उत्तरवर्ती तार्किकों को है। प्रथम ने सत्यता तथा असत्यता रूपी द्विमूल्यक-सत्यता सारणी निर्मित की है किन्तु अन्तिम दोनों ने त्रिमूल्यक एवं अनेकमूल्यक सारणियां बनायी हैं। इस दिशा में क्वाइन और लेविस का योगदान भी महत्वपूर्ण है। मूल्य सिद्धान्त का प्रणयन प्रथमतः सत्यता एवं असत्यता रूपी दो मूल्यों के आधार पर हुआ फिर विधिमूलक तार्किक विधा के विकसित होने पर इसमें आवश्यक, संभाव्य, असंभाव्य आदि अनेक मूल्यक सारणियां स्थिर की गयीं। तर्कवाक्य कलन के मौलिक तर्कवाक्यों की सत्यता और असत्यता की परीक्षा करने हेतु द्विमूल्यक सारणी का प्रयोग किया जाता है। इसमें तर्कवाक्यों की प्रामाणिकता की परीक्षा सभी संभावित विकल्पों के आधार पर की जाती है। उदाहरण स्वरूप एक प्रवृत्तिक निषेधक अणुतर्कवाक्य की परीक्षा संभावित दो विकल्पों —सत्य और असत्य अथवा असत्य और सत्य के आधार पर की जा सकती है। इसी प्रकार दो अणु तर्कवाक्यों से निर्मित होने वाले चार परमाणु तर्क वाक्यों में २×२=४, तीन वाक्यों में २×२×२=८ विकल्प होंगे। चार, पाँच, छः. . . .तर्क वाक्यों में भी इस प्रकार २×२×२×२=१६. . . .विकल्प होंगे। मौलिक पाँच तर्कवाक्यों को दो प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है। दोनों रीतियों का विवरण तालिका (२) (३) तथा (४) में दिया गया है। तालिका (५) में तीन तर्कवाक्यों को आठ विकल्पों में प्रस्तुत किया गया है।

जिस प्रकार तर्कवाक्य-कलन सभी प्रकार के तर्कवाक्यों तथा अनुमानों का मूल्यांकन करने में असमर्थ है उसी प्रकार सत्यता मूल्यक सारणियां भी परिमाणमूलक सर्वव्यापी तथा अंशव्यापी तर्कवाक्यों का सत्यापन नहीं कर सकती। दो-तीन तर्कवाक्यों के प्रमाणीकरण के लिए इसे अपनाया जा सकता है किन्तु जहाँ चार, पाँच अथवा छः वाक्यों का निष्कर्ष प्रमाणित करना हो तो यह पद्धति बड़ी जटिल तथा लम्बी हो जाती है। अतः यह विधि अपूर्ण और एकाङ्गी तथा लम्बी और जटिल है। तार्किकों ने इसी न्यूनता की पूर्ति हेतु दो विशेष विधियों का अनुसरण किया है जो स्वयंसिद्धि तथा स्वाभाविक निगमन विधि कहलाती हैं। प्रक्रिया में प्रायः दोनों विधियां समान-सी हैं क्योंकि, तर्कवाक्य, विधेय सम्बन्ध एवं वर्ग कलन के विविध प्रतीक, प्रवृत्तियां, नियम सूत्र आदि दोनों में समान रूप से अपनाये जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न चरणों में प्रयुक्त होने वाली निगमन-प्रक्रिया भी समान है। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम में जहाँ स्वयंसिद्धियों के आधार पर समस्त प्रमेय और नियम निगमित किये जाते हैं वहाँ द्वितीय में कतिपय मौलिक नियमों के अनुमोदन पर निष्कर्ष कार्यान्वित किये जाते हैं।

स्वयंसिद्धि-प्रणाली—[३१६]

अरस्तू के स्वयंसिद्ध-सिद्धान्त-'यज्जातिविधेयम् तद्व्यक्तिविधेयम्' का अनुसरण करते हुए लाइबनीज, बूल, डी-मार्गन, श्रोडर आदि तार्किकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुरूप अनेक स्वयंसिद्धियां मानी हैं, जिन्हें फ्रेग ने छः, रसेल ने पाँच, हिलबर्ट ने चार; लुकसाइविक एवं रोज़र ने तीन-तीन तथा निकोड ने एक स्वयंसिद्धि में संकलित किया है। स्वयंसिद्धि वह मूलभूत सिद्धान्त होता है जिसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती वरन् वह वैसे ही मान लिया जाता है और उसके आधार पर अन्य प्रमेय तथा नियम निगमित किये जाते हैं। उक्त स्वयंसिद्धियों का परिचय तालिका (७) में दिया गया है। उदाहरण के लिये रोज़र के एक प्रमेय की उपपत्ति यहाँ दी जा रही है—

यथा—

⊢ ∼ (∼कक)

त १ : क ⊃क क.................................. स्व. १.

त २ : ∼ (कक∼क)..... .... स्व. २.

त ३ : क⊃कक . ⊃ . ∼(कक∼क) ⊃∼(⊃कक)............ स्व ३.

त ४ : ∼(कक∼क) ⊃∼(∼कक).................... विहे. १, ३

त ५ : ∼(∼कक) .... विहे. २, ४

स्वभाविक-निगमन-प्रणाली—[३१७]

इस प्रणाली का प्रवर्तन विधेय-कलन की विभिन्न प्रवृत्तियों की परीक्षा हेतु गरहार्ड गेण्टज़ेन ने किया जिसे स्टानिसला जास्कोवस्की ने स्वतंत्र रूप से विकसित और पल्लवित किया है। विधेय-कलन के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न तर्कवाक्य तथा अनुमानों केसत्यापन के लिये इस विधि में स्वयसिद्धियों से परे हट कर स्वतंत्र चिन्तन द्वारा मुख्यतया चार नियमों–(१) सर्वव्यापी दृष्टान्तीकरण, (२) सर्वव्यापी सामान्यीकरण, (३) अंशव्यापी दृष्टान्तीकरण एवं (४) अंशव्यापी सामान्यीकरण को प्रयुक्त किया गया है। सामान्यतया इन नियमों के मूल में ये सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा सकते हैं—(१) जो बात सभी

पदार्थों के लिए सत्य हो वह किसी यदृच्छ चुने हुए पदार्थ के लिए भी सत्य होती है; (२) बिलोमत: जो बात किसी यदृच्छ पदार्थ के लिए खरी उतरती है वह-सारे पदार्थों के लिये भी यथार्थ होती है; (३) जो बात कुछ पदार्थों के लिए सही है वह कुछ निर्दिष्ट पदार्थों के लिए भी सही होती है एवं (४) जो बात किसी दिये हुए पदार्थ के लिए सत्य है वह कुछ अनिर्दिष्ट पदार्थों के लिए भी सही होती है। यद्यपि यह विधि विधेय-कलन के प्रसंग में नई कही जा सकती है किन्तु विभिन्न तर्कवाक्य-कलनीय-प्रवृत्तियों के प्रमाणीकरण के लिए इनसे पूर्ववर्ती कई दार्शनिकों, गणितज्ञों एवं तार्किकों ने विभिन्न नियम प्रतिपादित किये हैं। डी. मार्गन का नियम इसके लिए ज्वलन्त प्रमाण सिद्ध हो सकता है। विभिन्न समय में विभिन्न तार्किकों द्वारा प्रतिपादित किये गये कतिपय मुख्य नियमों को तालिका ६ में प्रस्तुत किया गया है। तर्कवाक्य-कलन, विधेय-कलन एवं सम्बन्ध-कलन से एक-एक अनुमान लेकर इस विधि से उनकी उपपत्ति इस प्रकार दी जा सकती है—

(१) विधायक हेत्वाश्रित अनुमान— {(क⊃ख) . क} ⊢ ख

यदि क है तो ख है	१. क⊃ख . . . . त
क है	२. क . . . . त
∴ख है	३. ख . . . . विहे. १,२

(२) व्यवहित अनुमान के प्रथम आकार का द्वितीय संयोग—

कोई प्राणी पूर्ण नहीं है	हे. इ सा
सब मनुष्य प्राणी है,	प ए हे
∴कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है	∴प इ सा

१. (क)[हे(क)⊃∼सा(क) . . . . त
२. (क)[प(क)⊃ हे (क)]/ ∴ (क)[प(क)⊃∼सा(क)] त,नि,
३. प (य) ⊃ हे(य) . . . . स दृ. २
४. हे(य)⊃∼ सा(य) . . . . स दृं. १
५. प(य)⊃∼ सा(य) . . . . हे ३, ४.
६. (क)[प(क) ⊃∼ सा(क)] . . . . ससा. ५

(३) सम्बन्ध मूलक अनुमान—

सुनिता अर्चना को चाहती है,
जो-जो अर्चना को चाहता है वह-वह राकेश को भी चाहता है,
सुनिता केवल मेधावी व्यक्तियों को चाहती है,
∴राकेश मेधावी व्यक्ति है—

१. चा (सु, अ) . . . . त
२. (क)[चा (क, अ) ⊃ चा(क, रा) . . . . त
३. (क)[चा(सु क)⊃ मे(क)/∴ मे(रा) . . . . त, नि
४. चा(सु, अ) ⊃ चा(सु, रा) . . . . सदृ २
५. चा(सु, रा) . . . . विहे. ४, १
६. चा(सु, रा)⊃ मे(रा) . . . . सदृ. ३
७. मे(रा) . . . . विहे. ६, ५.

इस प्रकार तर्कवाक्य आदि चारों कलनों तथा प्रमाणीकरण सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया जा सकता है। आजकल प्रतीकात्मक विधा का विकास विधेय तथा सम्बन्ध कलनों के अन्तर्गत प्रथम क्रम, द्वितीय क्रम, तृतीय क्रम आदि विधेयों; वर्ग कलन के अन्तर्गत समूह सिद्धान्त; मूल्य सिद्धान्तों में, परोक्ष मूल्य सिद्धान्त तथा स्वतःसिद्ध सिद्धान्तों की पूर्णता-अपूर्णता आदि सिद्धान्तों में विशेष कर हो रहा है।

भारतीय आनुमानिक सिध्दान्त और प्रतीकात्मक अनुप्रयोग

पाश्चात्य पारम्परिक तर्कशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा भारतीय आनुमानिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन इसी अध्याय के पिछले कुछ प्रकरणों में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ केवल यही गवेषणा अभीष्ट है कि उक्त चार कलनों तथा प्रमाणीकरण के सिद्धान्तों के अनुरूप भारतीय तर्कशास्त्र में कहाँ—क्या उपलब्ध है तथा पाश्चात्य गणितीय प्रतीक पद्धति में यहाँ की न्याय-उपलब्धियों का आकलन किया जा सकता है अथवा नहीं। यद्यपि नव्य न्याय प्रणाली में तर्कशास्त्र सम्बन्धी अनेक अभिनव प्रयोग एवं पारिभाषिक पदावलियों का प्रयोग सम्पादित हुआ है किन्तु उन्हें प्रतीक-सज्जा में विभूषित करना अभी शेष है। फिर भी यह बात निश्चित है कि भारतीय तर्कशास्त्र के सूक्ष्म सिद्धान्तों को पाश्चात्य प्रतीक प्रणाली द्वारा प्रामाणिक रूप से यथार्थतः अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अतः हमें अपनी स्वतंत्र प्रतीक-पद्धति सर्जित करना होगी।

शब्द प्रमाण के अन्तर्गत यहाँ विभिन्न प्रकार के पदों और वाक्यों की विशद चर्चा पायी जाती है। शब्दार्थ-बोध के प्रसङ्ग में जो सिद्धान्त आजकल तर्कीय-प्रत्यक्षवादी, तर्क-गणितज्ञों, अधि-तर्कशास्त्रियों, अधि-भाषाविदों आदि के द्वारा संज्ञा सम्बन्ध मीमांसा (सिन्टेक्टिक्स), संज्ञा संज्ञी मीमांसा (सीमेण्टिक्स), संज्ञासंज्ञातृमीमांसा (प्रागमेटिक्स) आदि सिद्धान्तों के आलोक में प्रतिपादित किये जा रहे हैं वे भारतीय दर्शन में कई शताब्दियों पूर्व शब्द-नित्यत्व-अनित्यत्ववाद, स्फोटवाद, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद व्युत्पत्तिवाद आदि में अत्यन्त विकसित एवं सारगर्भित रूप से विस्तारपूर्वक विवेचित किये गये हैं। फ्रेग का अनुसरण करते हुए वाक्य की सार्थकता के लिये जिन आकारिक तथा वस्तुपाती दशाओं का विवरण पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों के चिन्तन में पाया जाता है वह भी यहाँ आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य में विद्यमान है। यही नहीं संसर्गबोध अथवा अर्थावबोध तथा शब्द-अर्थ-निर्देश के विषय में जो विचार, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदि शक्तियों; मीमांसकों के जातिवाद, बौद्धों के अपोहवाद, नैयायिकों के व्यक्ति-आकृति-जातिवाद एवं ध्वन्यात्मक शब्द के प्रसङ्ग में वीचीतरंग तथा कदम्ब-मुकुल न्याय के रूप में यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं वे किसी पाश्चात्य दार्शनिक, ध्वनि, व्याकरण अथवा भाषा सम्प्रदाय की तुलना में न्यून नहीं हैं। यौगिक, रूढ़, योगरूढ़, यौगिकरूढ़ आदि पद भेद तथा वैदिक और लौकिक वाक्य बोध के अन्तर्गत नैयायिक, मीमांसक, वैयाकरण प्रभति दार्शनिकों ने अपने-अपने दार्शनिक मन्तव्यों के अनुरूप विभिन्न पदों तथा वाक्यों की सर्जना की है। अनुमान के प्रसङ्ग में उपर्युक्त सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना यहाँ अपेक्षित नहीं है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अरस्तू से लेकर आज तक के समसामयिक गणितीय तार्किकों का चिन्तन तर्कवाक्य की खोज, उसके सम्बन्ध तथा उसकी प्रामाणिकता से सम्बद्ध समस्याओं में पर्यवसित हुआ है। परन्तु महर्षि गौतम से लेकर आज के नव्य

नैयायिकों तर्क की तर्कमूलक गवेषणाएं ज्ञान के स्वरूप, प्रामाण्य, प्रकार, साधन आदि की ऊहापोह से ओतप्रोत रही हैं। इन समस्याओं के बारे में भारतीय दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। यही कारण है कि ज्ञान के स्वरूप के अन्तर्गत सांख्य-वेदान्तियों की द्रव्य, वैयाकरणों की क्रिया तथा न्याय-वैशेषिक मीमांसकों की गुण मान्यता; प्रामाण्य के प्रसंग में विभिन्न मतावलम्बियों के स्वतः प्रामाण्य तथा परतः प्रामाण्यवादी सिद्धान्त; निर्विकल्पक-सविकल्पक, ज्ञान प्रत्यक्ष-परोक्ष, अनुभव-स्मृति, यथार्थ-अयथार्थ आदि भेद एवं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य, प्रतिभा, चेष्टा आदि विभिन्न प्रमाणों की चर्चा भारतीय न्याय ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

लोकनिष्ठ समस्त प्राणियों के समस्त कार्य-कलाप एवं व्यवहार जिस गुण के सहारे सम्पन्न होते हैं उसे बुद्धि, उपलब्धि अथवा ज्ञान कहा जाता है। उपर्युक्त ज्ञान-प्रकारों में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक भेद प्रायः सभी दार्शनिकों को किसी न किसी रूप में मान्य है। जिस ज्ञान में कोई वस्तु विशेष्य, विशेषण अथवा दोनों से सम्बद्ध विषय रूप से भासित न हो अर्थात् निष्प्रकारक प्रतीति हो उसे निर्विकल्पक तथा विशेष्य, विशेषण और उनके सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला ज्ञान विशिष्ट या सविकल्पक कहलाता है। न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार कोई भी ज्ञान वस्तु से पृथक् रहकर सम्पन्न नहीं होता। ज्ञान जब भी होगा, वह अर्थ से सम्बद्ध ही होगा। इसीलिए प्रशस्तपाद ने पदार्थ की परिभाषा देते हुए कहा है वह सत् वस्तु जो ज्ञान का विषय बनती हो और शब्द द्वारा अभिहित की जाती हो, पदार्थ कहलाती है।[३१७] महर्षि कणाद का समर्थन करते हुए प्रशस्तपाद ने भी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि छः भाव पदार्थों का अनुमोदन किया है किन्तु उनके टीकाकारों ने 'वैशेषिक सूत्र' के नवम अध्याय की व्याख्या के आधार पर अभाव को भी पृथक् पदार्थ स्वीकृत किया है।

भारतीय तर्कशास्त्री जहाँ एक ओर पदार्थ और यथार्थ ज्ञान के विश्लेषण में रत हैं, वहीं दूसरी ओर वह शास्त्रार्थ में विजय पाने हेतु निर्दिष्ट अभिनव परिभाषित पदावलियों और फक्किकाओं के प्रचुर प्रयोग में भी रूचि लेते हैं। यही कारण है कि प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के अमूर्त प्रतीकों की अपेक्षा यहाँ भाषागत परिष्कार अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। गणितीय चर प्रतीकों की भांति यहाँ घट, पट, धूम, वह्नि, पर्वत, पाकशाला, सरोवर आदि उदासीन पदार्थों का प्रयोग हुआ है। अचर प्रतीकों का कार्य साध्य, हेतु, पक्ष, अनुयोगी, प्रतियोगी, प्रतिज्ञा, उदाहरण, उपनय, निगमन, अनैकान्तिक, असिद्ध, विरुद्ध आदि पदों से लिया गया है।

एक पदीय या एक स्थानीय विधेय धर्मों की भांति यहाँ अवच्छेदक धर्मों जैसे, साध्यता, हेतुता, कार्यत्व, कारणता, अनुयोगिता आदि का प्रयोग किया गया है। विधेय परिमाणकों के लिये व्याप्यवृत्ति धर्म तथा अव्याप्यवृत्ति धर्म को परिगणित किया जा सकता है। वर्ग-समूह तथा सम्बन्ध सिद्धान्त, यहाँ पर-अपर-परापरजाति एवं तादात्म्य, संयोग, समवाय, स्वरूप सम्बन्ध के रूप में यहाँ जिस व्यापकता के साथ उपलब्ध होते हैं वह पाश्चात्य तर्कशास्त्र से कहीं श्रेष्ठ है। प्रमाणीकरण सिद्धान्तों की व्याख्या यहाँ प्रमा सिद्धान्त तथा लक्षणों के माध्यम से की गयी है।

विराम-चिह्न-कोष्ठक तथा मुक्त-बद्ध प्रतीक सज्जा भी यहाँ इति, निरूप्य-निरूपक भाव तथा निष्ठ, वत् प्रत्यय तथा अवच्छिन्न की धारणा में उपलब्ध है। अंग्रेजी

भाषा में जिस प्रकार कोष्ठक का कार्य 'रूट' शब्द से लिया जाता है उसी प्रकार संस्कृत में इति शब्द का प्रयोग होता है किन्तु निरूप्य-निरूपक भाव से कोष्ठकों का साक्षात् कार्य लिया जाता है। इसी प्रकार निष्ठ, वत् तथा अवच्छिन्न से नियमित होने वाले प्रतीक बद्ध और उनके दायरे से परे रहने वाले प्रतीक मुक्त कहलाते हैं।

ज्ञान, पदार्थ, प्रतीकों, नियमों, लक्षणों की इस संक्षिप्त भूमिका के पश्चात् अब तुलनात्मक अध्ययन करना सुगम होगा।

तर्क वाक्य-कलन

तर्कवाक्य-कलन में मुख्य पाँच प्रकार के मौलिक वाक्यों: (१) निषेधक, (२) वैकल्पिक, (३) संयोगमूलक, (४) आपादनात्मक एवं (५) तुल्यतामूलक वाक्यों की चर्चा ऊपर की गई है। भारतीय तर्कशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले आनुमानिक-वाक्यों को अवयव या न्याय वाक्य कहा जाता है। विभिन्न दार्शनिकों ने परार्थानुमान में एक, दो, तीन, चार, पाँच अथवा दस अवयव वाक्यों का प्रयोग किया है, जिनका विवरण अध्याय पाँच में दिया गया है। परार्थानुमान में प्रयुक्त समस्त अवयवों का यदि गम्भीर विश्लेषण किया जाए तो तर्कवाक्य-कलन में उपलब्ध सभी वाक्यों के अनुरूप यहाँ भी यथेष्ठ सामग्री मिल सकती है। उदाहरणार्थ प्रतिज्ञा में विधायक; हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन में विधायक और निषेधक; वात्स्यायन-युक्तिदीपिकाकार तथा भद्रबाहु के दशावयवी प्रयोग में प्रयुक्त जिज्ञासा-संशय-संशयव्युदास तथा आशंका-आशंका प्रतिषेध में वैकल्पिक; न्याय के विभिन्न प्रयोगों में संयोगमूलक; भद्रबाहु की विभिन्न विशुद्धियों तथा व्याप्तिग्राहक साधन तर्क में आपादनात्मक एवं अन्वय-व्यतिरेक सहचार सम्बन्धों-व्याप्तियों तथा केवलान्वयि अनुमान में तुल्यतामूलक तर्कवाक्यों के संकेत प्रसक्त होते हैं।

विधायक-निषेधक वाक्य

विधि-निषेध की प्रवृत्तियां भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त प्राचीन काल से पायी जाती हैं। ऋग्वेद के 'पुरुष' तथा 'नासदीय' सूक्तों में ये प्रवृत्तियां विशद रूप से मुखरित हुई है। पद-वाक्य-प्रमाण के लिये यहाँ व्याकरण-मीमांसा-न्याय शास्त्रों का अध्ययन अपरिहार्य माना जाता है। वाक्यों की संगति और सम्बन्ध को लेकर मीमांसा ग्रन्थों में व्यापक रूप से विचार किया गया है अतः वाक्यों के प्रसंग में मीमांसा शास्त्र का उल्लेख प्रसंगानुकूल होगा। मीमांसा दर्शन में वाक्यों के दो भेद—पौरुषेय तथा अपौरुषेय माने गये हैं। आप्तवाक्य पौरुषेय हैं और वैदिक वाक्य अपौरुषेय। दोनों पुनः दो प्रकार के होते हैं—सिद्धार्थक अर्थात् पदार्थ—अस्तित्व को प्रकट करने वाले तथा विधायक अर्थात् वेद-विहित यज्ञ-अनुष्ठान आदि की ओर प्रेरित तथा निषिद्ध कर्मों से निवृत्त करने वाले। उपदेशक अर्थात् 'ऐसा करना चाहिए' अथवा 'ऐसा नहीं करना चाहिये' और अतिदेश अर्थात् 'दर्शपूर्णमास याग द्वारा स्वर्ग का साधन करे' भेद से विधि वाक्य दो प्रकार के होते हैं।[३१८] विधि-निषेध की यह प्रवृत्ति न्याय दर्शन के माध्यम से अन्वय-व्यतिरेक के रूप में बाद में प्रचलित हुई।

व्युत्पत्ति के अनुसार—"विधिः—सत्ता, तद्बोधकः शब्दः 'विधि':—सद् इति शब्दः स मुखम् अभिलापको यस्य स विधिमुखः स चासौ प्रत्ययः' अर्थात् सत् शब्द से अभिहित होने वाले को विधि तथा 'निषेध नञ्' शब्दः मुखम् अभिलापकः यस्य तच्चेदं

प्रमाणं प्रत्ययः तेन गम्यत्वम् वेद्यत्वम्' अर्थात् नञ् शब्द से अभिलापित ज्ञान का विषय होने वाले को निषेध तथा तन्मूलक वाक्य विधिमूलक तथा निषेधमूलक वाक्य कहलाते हैं। जैसे, 'कमल-पुष्प लाल है' और 'कमल-पुष्प लाल नहीं है।' वैयाकरणों ने 'नञ' के छः अर्थ—सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अल्पत्व, अप्रशस्त एवं विरोध प्रतिपादित किये हैं।[३१९]

भारतीय दर्शन में निषेध प्रवृत्ति को अभाव द्वारा समझाया जा सकता है। अभाव पदार्थ और प्रमाण दोनों है। किन्तु इसकी पदार्थ एवं पृथक् प्रमाण मान्यता में दार्शनिकों में अनेक विप्रतिपत्तियाँ पायी जाती हैं।[३२०] अभाव मुख्यतया दो प्रकार का होता है—अन्योन्याभाव तथा संसर्गाभाव। संसर्गाभाव के पुनः तीन भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव।[३२१] इनके अतिरिक्त साहित्यिक, मीमांसा, व्याकरण, आलंकारिक एवं तार्किक ग्रन्थों में निषेध के और भी अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। जैसे, प्रसज्य प्रतिषेध, पर्युदास, विरोध, अपोह, बाध आदि।

निषेध के इन विभिन्न रूपों में अन्योन्याभाव, संसर्गाभाव तथा विरोध ही प्रमुख हैं। शेष सभी अभाव प्रतीतियां इनके अन्तर्गत समाविष्ट की जा सकती है। जैसे, क्रिया के साथ निषेध होने के कारण प्रसज्य प्रतिषेध स्पष्टतः अत्यन्ताभाव है तथा उत्तर पद प्रधान होने के कारण पर्युदास नञ तत्पुरुष समास के प्रयोग की भांति आपाततः निषेधात्मक होने पर भी यथार्थतः विधानात्मक है।[३२२] अपोह अन्योन्याभाव का अन्योन्याभाव है। भाव वस्तुओं को अपोह रूप में मानने की बौद्ध मान्यता का प्रायः अन्य सभी दार्शनिकों ने खण्डन किया है। इसी प्रसङ्ग में अभावीय प्रतियोगिता का चरम परिष्कार करते हुए दीधितिकार ने द्विनिषेध प्रक्रिया—अत्यन्ताभाव के अत्यन्ताभाव को भी भाव रूप नहीं माना है। क्योंकि भाव, अभावरूप तथा अभाव, भावरूप नहीं हो सकता। परन्तु वस्तु के अत्यन्ताभावाभाव के अभाव को वस्तु के अभावरूप में व्यक्त किया जा सकता है। बाध सामयिक अत्यन्ताभाव का ही अपर नाम है। विरोध अत्यन्ताभाव से भिन्न पूर्ण निषेध है, क्योंकि अत्यन्ताभाव केवल अभाव अथवा किसी वस्तु के निषेध का आधायक है। इसमें संदर्भ से विलग किन्हीं दो वस्तुओं की विभिन्न देश-काल में स्थिति मानी जा सकती है किन्तु विरोध में यह बात तार्किक रूप से असम्भव है। फलतः विरोध में अत्यन्ताभाव अन्तर्हित है परन्तु अत्यन्ताभाव में विरोध नहीं।

सामान्यतः अभावात्मक पद 'अ, अन, निस, निर, वि' आदि उपसर्ग तथा हीन, रहित, शून्य आदि प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं। जैसे, अपण्डित, अनुपस्थित, निस्संदेह, निरंकार, वियोग, धनहीन, भेदरहित, आकारशून्य आदि। न्याय ग्रन्थों में 'विपरीत', विपर्यय एवं विरोध पदों से भी निषेध प्रवृत्ति का कार्य सम्पन्न किया गया है।[३२३] वाक्यों में 'नहीं' लगाकर निषेध मूलक वाक्य बनाये जाते हैं। जैसे 'टेबल काली नहीं है। पाश्चात्य प्रतीकात्मक निषेध प्रवृत्ति $\sim$ इस प्रतीक एवं भेद प्रवृत्ति $\not\simeq$ इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की जाती है। विरोध को विधिमूलक संकेत और निषेध प्रक्रिया द्वारा समझाया जा सकता है। किन्तु वहाँ संसर्ग के लिये कोई प्रतीक नहीं है। अतः हम प्रतियोगी को λ अनुयोगी को $\smile$ और संसर्ग को । तथा सम्पूर्ण विशिष्ट ज्ञान को $\underset{\smile}{\uparrow}$ इस चिह्न द्वारा अभिव्यक्त करेंगे। प्राक्भाव $\dot{\sim}$ तथा प्रध्वंसाभाव $\underset{\cdot}{\sim}$, अत्यन्ताभाव $\sim$, अन्योन्याभाव $\neq$ प्रतीकों से व्यक्त किये जायेंगे। यहाँ विरोध के लिये लेविस-लेंगफोंड के चिह्न $\sim\Diamond$ का प्रयोग न करते हुए आस्कर बेकर का $\sim M$

चिह्न प्रयुक्त किया जायगा। इसी प्रकार आवश्यक वाक्य निषेध के लिये ∼□ के स्थान पर ∼N प्रतीक लिया जायगा।[३२४] नैयायिकों ने अभाव में सर्वदा स्वरूप सम्बन्ध माना है अत: । प्रतीक स्वरूप सम्बन्ध का निर्देश करेगा। इस प्रकार उक्त सभी अभाव प्रतीतियों को वाक्यों तथा प्रतीकों में इस प्रकार समझा जा सकता है।

(१) विधायक — राम बालक है।

क

(२) अयोन्याभाव — पुस्तक पेन से भिन्न है।

— पु ≠ पे

(३) प्राक्‌भाव — उत्पत्ति के पूर्व कागच में पुस्तक नहीं रहती। अर्थात् कागच में पुस्तक का प्रागभाव रहता है

— पु↑ स्व — पु = पुस्तक-प्रतियोगी

∼ पुका = कागच में पुस्तक का प्रागभाव अनुयोगी

∼ पु का स्व: = स्वरूप सम्बन्ध (अभावीय)

(४) प्रध्वंसाभाव — फट जाने के पश्चात् कागच में पुस्तक का अभाव हो जाता है अर्थात् कागच में पुस्तक का प्रध्वंसाभाव हो जाता है।

— पु↑ स्व — पु = पुस्तक-प्रतियोगी

∼पु का = कागच में पुस्तक का प्रध्वंसाभाव-अनुयोगी

∼ स्व = स्वरूप सम्बन्ध (अभावीय)

(५) अत्यन्ताभाव — कमरे में सोफा नहीं है। कमरे में सोफे का अत्यन्ताभाव है

— सो↑ स्व — सो = सोफा प्रतियोगी

स्व = स्वरूप सम्बन्ध (अभावीय)

∼सोक = कमरे में सोफे का अत्यन्ताभाव-अनुयोगी

(६) प्रसज्य प्रतिषेध — अछात्रों को पढ़ाना चाहिए।

— ∼ छा N — ∼ छा = अछात्र

N = पढ़ाना चाहिए

(७) विरोध — श्वेत अश्वेत नहीं हो सकता।

— क∼Mख — क = श्वेत

∼M ख = अश्वेत नहीं हो सकता।

(८) पर्युदास — टोपी लाल नहीं है। अर्थात् टोपी में लाल रंग का अभाव है।

— ला↑ स्व — ला = लाल-प्रतियोगी

स्व = स्वरूप सम्बन्ध (अभावीय)

∼ला टो — लाटो = टोपी लाल नहीं है-अनुयोगी

(९) अपोह — पुस्तक पुस्तक भिन्न पदार्थों से भिन्न है।

— पु = ≠ ≠ पु — पु = पुस्तक

(१०) बाध — बर्फ में ऊष्ण स्पर्श का अभाव रहता है।

— उ ↑ स्व — उ = ऊष्ण स्पर्श प्रतियोगी

स्व = स्वरूप सम्बन्ध (अभावीय)

~उ ब ~ बर्फ में ऊष्ण स्पर्श का अभाव अनुयोगी।

(११) द्विनिषेध (अत्यन्ताभाव) — ~~ क ≠ क

(१२) त्रिनिषेध (अत्यन्ताभाव) — ~~~ क = ~क

(१३) द्विनिषेध अन्योन्याभाव अपोह खण्डन — ≠ ≠ क ≠ क

(१४) त्रिनिषेध अन्योन्याभाव — ≠ ≠ ≠ क = ≠ क

वैकल्पिक वाक्य

यहाँ पर व्यावर्तक वैकल्पिक तथा संयुक्तक वैकल्पिक दोनों प्रकार के वाक्य संशयमूलक वाक्यों तथा अन्यतर-अन्यतम सिद्धान्तों में उपलब्ध होते हैं। महर्षि गौतम ने संशय को पृथक् पदार्थ मानते हुए भी इसे अपदार्थ ज्ञान की कोटि में रखा है। एक ही आश्रय में अनेक विरोधी धर्मों की प्रतीति करवाने वाला ज्ञान संशय ज्ञान कहलाता है, जो साधारण धर्म ज्ञान, अनेक धर्म ज्ञान, विरुद्ध दो पक्षों का अवगाहन करने वाले ज्ञान, उपलब्धि की अव्यवस्था एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था से उत्पन्न होता है।[३२५] अन्यतर का तात्पर्य है एक अथवा दूसरा या दोनों।[३२६] अन्यतम अनेक विकल्पों में से एक का ग्रहण है। भेदयुक्त उस पदार्थ को अन्यतर कहा जाता है जिसकी प्रतियोगिता दो भेदों में नियमित होती है तथा भेद विशिष्ट वह पदार्थ अन्यतम है जिसकी प्रतियोगिता भेद समूह से नियमित होती है।[३२७] अन्यतम अन्यतर का ही विकसित रूप है। इन सभी का वाक्य प्रतीकीकरण इस प्रकार है—

व्यावर्तक वैकल्पिक वाक्य

(१) समान धर्मोपपत्तिमूलक — यह मनुष्य है या ठूंठ।

— म ∧ ठूं — म = यह मनुष्य है ∧ = दोनों में से एक किन्तु दोनों नहीं

ठूं = यह ठूंठ है।

(२) अनेक धर्मोपपत्तिमूलक — शब्द द्रव्य है या गुण है या कर्म है।

— द्र ∧ गु ∧ क — द्र = द्रव्य है

गु = गुण है

क = कर्म है

(३) विप्रत्तिप्रत्तिमूलक — आत्मा है या नहीं

— आ ∧ ~आ — आ = आत्मा

~आ = आत्मा नहीं है।

(४) उपलब्ध्य व्यवस्था मूलक — प्रतीयमान वस्तु सत्य है या असत्य

— व स ∧ ~ वस

व स = प्रतियमान वस्तु सत्य है

~ व स = प्रतीयमान वस्तु असत्य है

(५) अनुपलब्ध्यव्यवस्थामूलक — अमुक वस्तु दिखाई नहीं दे रही है या वह है ही नहीं।
— ~ दिव ∧ ~ व   ~दिव = अमुक वस्तु दिखाई नहीं दे रही है।
~व = अमुक वस्तु नहीं है।

संयुक्त वैकल्पिक वाक्य

(६) अन्यतर — वर या वधु को उपहार दिये जा सकते हैं।
— क ∨ ख   क = वर को उपहार दिये जा सकते हैं
ख = वधु——,,——,,——
∨ = एक को, दूसरे को या दोनों को।

(७) अन्यतम — सुरेश या राजेश या मृदुल या कनु आदि केरम प्रतियोगिता में प्रतियोगी हैं।
— क ∨ ख ∨ ग ∨ घ.....

व्यावर्तक वैकल्पिक वाक्यों को डी-मार्गन-नियम के अनुसार भी व्यक्त किया जा सकता है। जैसे ~ (म●ठू) आदि। हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में 'या', 'अथवा' एवं 'वा' शब्दों द्वारा वैकल्पिक वाक्य बनाये जाते हैं। छटे अध्याय के असिद्ध भेद—अन्यतरासिद्ध में अन्यतर का प्रयोग देखा जा सकता है।

संयोजक वाक्य

संयोजक प्रवृत्ति का कार्य यहाँ हिन्दी तथा संस्कृत भाषा के 'और', 'एवं', 'तथा', 'च' आदि शब्दों से लिया जाता है। संस्कृत में बहुवचनान्त प्रत्यय से भी तथा का कार्य लिया जाता है। उभयाभाव में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः मुखरित है। तृतीय अध्याय के गंगेश पक्षता लक्षण में इस उभयाभाव को देखा जा सकता है।

(१) मनीष और दिव्या मित्र हैं।
—म●दि = म = मनीष मित्र है। दि = दिव्या मित्र है।

(२) घोड़ा, गाय एवं बकरी पशु हैं।
—घो●गा●ब.

(३) सीता, रानी, मृणालिनी तथा पुष्पा बहिने हैं।
—सी●रा●मृ●पु.

(४) "(वीतं द्वेधा) पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च।" अर्थात् (वीत दो प्रकार का होता है) पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट।[३१८]
—पू●सा.

(५) "पृथिवि आपस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि।" अर्थात् पथिवि, जल, तेज, वायु तथा आकाश भूत-द्रव्य हैं।[३१९]
—पृ●ज●ते●वा●अ।

(६) उभयाभाव—(१) विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव, (२) विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टा भाव एवं (३) उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव।
— (१) ~ क●ख, (२) क●~ख, (३) ~क●~ख

आपादनात्मक वाक्य

तत्त्व साधक तथा व्याप्ति ग्राहक साधन तर्क में आपादान प्रवृत्ति साक्षात् रूप से अवतरित हुई है। *जिस वस्तु का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध नहीं है, उसका तात्त्विक ज्ञान* प्राप्त करने के लिये कारण की उपपत्ति करते हुए एक पक्ष की ऊहा (संभावना) करना तर्क है।[३३०] तर्क के द्वारा किसी बात को सिद्ध करने के लिये दो रीतियां अपनायी जाती है—युक्तियों द्वारा अपने पक्ष की स्थापना और विपक्ष को लेकर उसकी असारता प्रतिपादित करना। जैन तार्किकों के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों ने इसे अप्रमाण माना है। जैन दार्शनिकों ने सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं सार्वघटनिक व्याप्ति का ग्रहण एकमात्र साधन तर्क से किया है। उक्त रीतियों का अनुसरण करते हुए उन्होंने इसके दो भेद उपलम्भ और अनुपलम्भ दिये हैं तथा चिन्ता, ऊह, ऊहापोह आदि तर्क के पर्याय वर्णित किये हैं। साध्य और साधन के सद्भाव को उपलम्भ द्वारा तथा साध्याभाव और साधनाभाव को अनुपलम्भ द्वारा गृहीत किया जाता है।[३३१] न्याय ग्रन्थों में यदि....तर्हि...., यदि....तदा...., यदि ....तत....अथवा यदि....तो....रूप में व्याप्य के आरोप द्वारा व्यापक का आरोप कर तत्त्व निर्णय किया जाता है। जैसे, जहाँ पर्वत पर धूम को देखकर प्रतिज्ञा आदि पंचावयव वाक्यों द्वारा साध्य अग्नि को सिद्ध किया जाता है वहीं यदि कोई इस बात को न माने तो वहाँ व्याप्य आरोप (अर्थात् 'यदि यहाँ अग्नि का अभाव है) से व्यापक के आरोप (अर्थात् तो धूम का भी अभाव होगा) किया जाता है जिससे व्याप्य आरोपण मिथ्या सिद्ध होने पर साध्य की सिद्धि हो जाती है। नव्य न्याय में इसके पाँच भेद दिये गये हैं किन्तु सर्व दर्शन संग्रहकार ने किसी प्राचीन न्यायग्रन्थ का अनुसरण करते हुए इसके ग्यारह भेद प्रतिपादित किये हैं। डा० बागची ने इन सभी भेदों का विस्तार से वर्णन किया है: वस्तुत: ये सभी दोष हैं और इनसे बचकर ही तत्त्व का अनुसन्धान किया जा सकता है।[३३२] जागदीशीकार ने तर्क के आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक एवं प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग ये पाँच भेद परिगणित किये हैं। सर्वदर्शनकार ने अन्तिम भेद को छोड़ उक्त चार के अतिरिक्त व्याघात, प्रतिबन्धी कल्पना, कल्पना लाघव, कल्पना गौरव, उत्सर्ग, अपवाद, एवं वैजात्य भेद और प्रतिपादित किये हैं। इनमें कल्पना लाघव अपर्याप्त कल्पना; कल्पना गौरव आवश्यकता से अधिक कल्पना करना; सामान्य नियम उत्सर्ग, विशेष नियम अपवाद एवं तर्क में विलक्षणता वैजात्य है।[३३३] शेष का वाक्य और प्रतीकीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

(१) प्रमाण बाधितार्थ प्रसंग—अ–पक्ष स्थापना, आ–विपक्ष की निसारता बतलाकर पक्ष का मण्डन करना।

अ.–पंचावयवी वाक्यों द्वारा पक्ष में साध्य की सिद्धि प्रदर्शित होती है।—

—क

आ—यदि यहाँ अग्नि का अभाव है तो धूम का भी अभाव होगा

— ~ अ ⊃ ~ धू

(२) आत्माश्रय—यदि आकाश शब्द वाला नहीं होता तो उसमें शब्द कैसे रहता अर्थात् नहीं रहता।

— ~ आ ⊃ ~ श

(३) अन्योन्याश्रय—यदि ईश्वर न होता तो जगत् की उत्पत्ति कैसे होती और यदि जगत् की उत्पत्ति नहीं होती तो ईश्वर की सत्ता कैसे होती।

— [(∼ ई ⊃ ∼ ज) ⊃ (∼ ज ⊃ ∼ ई)]

(४) चक्रक—यदि रमेश अनुत्तीर्ण नहीं होता तो घर से नहीं भागता और यदि सिनेमा में वह व्यर्थ समय नहीं गँवाता तो अनुत्तीर्ण कैसे होता एवं यदि वह घर से नहीं भागता तो वह सिनेमा आदि में कैसे समय गँवाता।



क = ∼ र = रमेश अनुत्तीर्ण नहीं होता

ख = ∼ घ = घर से नहीं भागता

ग = ∼ सि = सिनेमा आदि में व्यर्थ समय नहीं गँवाता।

[(∼क ⊃ ∼ख) ⊃ (∼ग ⊃ ∼क) ⊃ (∼ख ⊃ ∼ग)]

(५) अनवस्था—जाति में यदि जाति मानी जाय तो उस जाति की दूसरी जाति मानना होगी, दूसरी की तीसरी, तीसरी की चौथी....., कू।

—क ⊃ ख • ख ⊃ ग • ग ⊃ घ....., कू

(६) व्याघात—यद्यपि मैं मूक हूँ तो भी भाषण देता हूँ।

—मू ⊃ भा

(७) प्रतिबन्धी कल्पना—छात्र होने के नाते यदि राकेश उदण्ड है तो मुकेश भी उदण्ड है क्योंकि वह छात्र है।

—रा ⊃ उ ⊃ मु ⊃ उ

इस प्रकार यहाँ के प्रमाण बाधितार्थ प्रसंग, आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय चक्रक एवं अन्वस्था तर्क दोनों से पाश्चात्य तर्कशास्त्र के 'रिडक्शियो एड एब्सरडम', 'बेगिंग दी क्वश्चन', 'हिस्टेरान प्रोटेरान,' 'आरग्यूमेण्ट इन सर्कल' एवं 'आरग्यूमेण्टम एड इनफिनिटम' दोषों की तुलना की जा सकती है।

तुल्यतामूलक वाक्य—

वात्स्यायन तथा प्रशस्तपाद का अनुसरण करते हुए धर्मकीर्ति और कुमारिल ने अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियों को व्याप्य-व्यापकभाव की सिद्धि के लिए तुल्य माना है। इनके पूर्व महर्षि कणाद के दो सूत्रों "कारणगुण पुर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" तथा "कारणाभावात् कार्याभावः" में भी यही बात कही गयी है। परवर्ती नव्य नैयायिकों के व्याप्ति परिष्कारों में भी यही तथ्य झलकता है। सम व्याप्ति स्थल में हेतु और साध्य तुल्य विस्तार वाले होते हैं। उपाधियुक्त व्याप्ति स्थल में भी यही बात होती है। विषम व्याप्ति स्थल में अन्वय की व्यतिरेक से, केवलान्वयि व्याप्ति स्थल में अन्वय की अन्वय से एवं केवलव्यतिरेकिव्याप्तिस्थल में व्यतिरेक की व्यतिरेक के साथ तुल्यता प्रदर्शित की जाती है। लाघव की दृष्टि से अन्वय अथवा व्यतिरेक दोनों में से किसी एक का प्रयोग ही अभीष्टदायक समझा जाता है। यही कारण है कि तुल्यता को जातिबाधक भी माना गया

है।[३३५] इस प्रकार तुल्यता मूलक वाक्य हमारे यहाँ व्याप्तिमूलक सहचार वाक्यों में उपलब्ध होते हैं, जिनको इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है।

(१) यत्सत्वे यत्सत्त्वम्≡यदभावे यदभाव:
अन्वय सहचार—कारण के सत्य होने पर कार्य भी सत्य होता है≡
व्यतिरेक सहचार—कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है।
क⊃ख ≡ ∼ख ⊃ ∼क

(२) अन्वय व्याप्ति≡व्यतिरेक व्याप्ति
जहाँ-जहाँ हेतु होता है वहाँ-वहाँ साध्य होता है≡जहाँ-जहाँ साध्य का अभाव पाया जाता है वहाँ-वहाँ हेतु का अभाव होता है।
हे ⊃ सा ≡ ∼ सा ⊃ ∼ हे

(३) समव्याप्ति स्थल—जो-जो उत्पन्न होता है वह-वह नष्ट होता है≡जो-जो नष्ट होता है वह-वह उत्पन्न होता है।
— उ≡न ≡ (उ⊃न) (न⊃उ)

(४) उपाधिविशिष्ट व्याप्ति स्थल—जो-जो गीला ईंधन होता है वह-वह धुआँ देता है≡जो-जो धुआँ देता है वह-वह गीला ईंधन होता है।
गी≡धु≡(गी⊃धुं) • (धुं⊃गी)
इन दोनों के अन्वय की तुल्यता के समान व्यतिरेक की तुल्यता भी स्थापित की जा सकती है।

(५) विषम व्याप्ति स्थल—जहाँ-जहाँ धूप होती है वहाँ-वहाँ सूर्य होता है≡जहाँ-जहाँ सूर्य नहीं होता वहाँ-वहाँ धूप नहीं होती।
—धू⊃सू ≡ ∼सू ⊃ ∼धू

(६) केवलानवयि व्याप्ति स्थल—जो-जो सर्वज्ञ होता है वह-वह तीर्थंकर होता है≡जो-जो तीर्थंकर होता है वह-वह सर्वज्ञ होता है।
—स⊃ती ≡ ती⊃स

(७) केवल व्यतिरेकी व्याप्ति स्थल—जो-जो सात्मक नहीं होता वह-वह प्राणयुक्त नहीं होता≡जो-जो प्राणयुक्त नहीं होता वह-वह सात्मक नहीं होता।
— ∼ सा ⊃ प्रा ≡ ∼ प्रा ⊃ ∼ सा

(८) व्यावर्त्तक विकल्प— क∧ख ≡ ∼(क•ख) ≡ ∼ क ∧ ∼ ख

(९) संयुक्तक विकल्प—क∨ख ≡ ∼ (∼क•∼ख)

(१०) विशिष्टाभाव (उभयाभाव)— ∼ (क•ख)≡ ∼ क∨∼ख∨∼क•∼ख

विधेय-कलन–

विधेयकलन में एक पदीय या एकस्थानीय विधेय को दृष्टि में रखते हुए अंश-व्यापी तथा सर्वव्यापी परिमाणकों की व्याख्या की गयी है। भारतीय तर्कशास्त्र में यह कार्य अवच्छेदक धर्मों से लिया गया है। संस्कृत भाषा में 'तल्' या 'त्व' प्रत्यय द्वारा भाव या धर्मों का बोध होता है। हिन्दी भाषा में धर्मों के बोध के लिये भाववाचक प्रत्ययों जैसे, 'त्व', 'ता', 'पन', 'वट', 'हट', 'ई' आदि का प्रयोग किया जाता है जैसे, कार्यभाव

का अर्थ होगा कार्यता तथा मनुष्यत्व, बचपन, कारणता, बनावट, मुस्कराहट, इमानदारी आदि धर्म। नव्य न्याय में अवच्छेदक धर्मों द्वारा भाव प्रतीति, विशिष्ट बुद्धि एवं प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की व्यवस्था के लिये अवच्छेदकता को अपरिहार्य माना गया है।[३३६] शक्य होते हुए जो शक्य अर्थ को अन्य पदार्थों से व्यावर्तित करता है अथवा वाच्य होते हुए और वाच्य में रहते हुए जो वाच्य की उपस्थिति को प्रकार या विशेषण के रूप में सम्पन्न कराता है, उसे अवच्छेदक कहते हैं।[३३७] महर्षि गौतम के अनुसार 'मनुष्य' पद मनुष्य व्यक्ति मनुष्यत्व जाति, तथा मनुष्य आकृति का निर्देश कराता है।[३३८] यहाँ पर मनुष्यत्व धर्म अवच्छेदक कहलायेगा जो स्वयं शक्य होते हुए अपने शक्य अर्थ मनुष्य को अन्य घट, पट आदि पदार्थों से पृथक् करवाता है अथवा मनुष्यत्व स्वयं वाच्य होते हुए वाच्य अर्थ मनुष्य में वर्तमान रहकर उसका बोध विशेषण के रूप में सम्पन्न कराता है। स्वरूप सम्बन्ध अवच्छेदकता मुख्यतया एक ही प्रकार की होती है किन्तु गौण अर्थ में उसे कई अर्थों में प्रकट किया जाता है। जैसे, अन्यूनवृत्तित्व, अनतिरिक्तवृत्तित्व, अन्यूनातिरिक्त-वृत्तित्व, अधिकरण, आदि।[३३९] स्वरूप सम्बन्ध अथवा अनतिरिक्त वृत्तित्व रूपी अवच्छेदकता अनेक प्रकार से प्रयुक्त होती है, जिनमें प्रमुख हैं दैशिक-कालिक-अधिकरण अन्यूनत्व या व्यापकत्व, अनतिरिक्तवृत्तित्व या स्वव्यापकताकत्व या व्याप्यत्व, अन्यूना-तिरिक्त या समनियतत्व, सामानाधिकरण्य, व्यावर्तकत्व, स्वनिष्ठावच्छेद्यताकत्व, सम्बन्धविधया, धर्मविधया, विषयविधया आदि। इस प्रकार नव्य न्याय के कई ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए डा० गुहा ने प्रतियोगितावच्छेदक आदि कई अवच्छेदक धर्मों को उदाहरण सहित समझाया है।[३४०] पाश्चात्य प्रतीकात्मक चिन्तन में भी विधेयों को धर्मों के द्वारा भी समझाया गया है।

अवच्छेदक धर्मों के इन विपुल प्रयोगों द्वारा नैयायिकगण लक्षणों के सूक्ष्माति-सूक्ष्म परिष्कार कर उन्हें सर्वथा निर्दुष्ट बनाने में सफल हुए हैं। एक-स्थानीय विधेयों को सामान्य और विशेष परिमाण द्वारा अंकित करने के लिये पाश्चात्य प्रतीकात्मक चिन्तन में सर्वव्यापी तथा अंशव्यापी परिमाणकों का उपयोग किया जाता है। भारतीय दर्शन में यह कार्य अवच्छेदक धर्मों द्वारा किया गया है। सर्वव्यापी परिमाणक के लिये व्याप्यवृत्ति धर्म तथा अंशव्यापी परिमाणक के लिए अव्याप्यवृत्ति धर्म का प्रयोग किया जा सकता है। अधिकरण के संदर्भ में भर्तृहरि ने प्रथम को अभिव्यापक तथा द्वितीय को एकदेशिक अधिकरण कहा है। यद्यपि यहाँ परिमाण के सूचक-प्रत्येक, सकल, समस्त जो कुछ भी, कोई भी, जब कभी भी, सब, सभी, पूर्णतया, सर्वदा अवश्य ही आदि सर्व-व्यापी तथा कुछ, कभी-कभी, अधिकांश, बहुधा, प्रायः बहुत कम, सर्वदा, शायद, बारम्बार, साधारणतया, बहुत, कई आदि शब्दों का प्रयोग हिन्दी भाषा में भी पाया जाता है। किन्तु तर्कशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वव्यापी पद का कार्य अवच्छेदक धर्म में नियमित (अवच्छिन्न) पद तथा अंशव्यापी पद का कार्य यत्, तत्, किञ्चित, केचित आदि से नियमित पद से लिया जाता है। उदाहरणार्थ—

(१) सब आम पीले हैं।

(२) लंगड़ा-आम हरा होता है। कुछ आम हरे होते हैं।

दोनों को परिमाणकों तथा अवच्छेदक धर्मों द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया जा

सकता है। सर्वव्यापी तथा अंशव्यापी परिमाणक (अ) तथा (ए) से व्यक्त किये जायेंगे। प्रथम अभिव्यापक तथा दूसरा एकदेशिक है।

(३) सर्वव्यापी परिमाणक—(अक) (आक⊃पीक)
(४) सर्वव्यापी अवच्छेदक—आम्रत्व धर्म से अवच्छिन्न आम पीला है।
(५) अंशव्यापी परिमाणक—(एक) (लक ● हक)
(६) अंशव्यापी अवच्छेदक—लंगड़ात्व धर्म से अवच्छिन्न आम हरा है।

पारिभाषिक रूप से सामान्य धर्म से अवच्छिन्न पदों को व्याप्यवृत्ति पद अथवा निरुपित धर्म से अवच्छिन्न माना जाता है तथा विशेषधर्मों से अवच्छिन्न पदों को अव्याप्य-वृत्ति पद अथवा निष्ठत्व धर्म से अवच्छिन्न माना जाता है। और दैशिक-कालिक भेद से ये दोनों धर्म (व्याप्यवृत्ति तथा अव्याप्यवृत्ति) दो-दो प्रकार के होते हैं। सम्पूर्ण देश अथवा काल में रहने वाला धर्म दैशिक अथवा कालिक व्याप्यवृत्ति धर्म तथा कुछ देश अथवा काल में रहने वाला धर्म दैशिक अथवा कालिक अव्याप्यवृत्ति धर्म कहलाता है। जैसे—

(७) इस पर्वत के शिखर भाग में अग्नि है, नितम्ब (निचले) भाग में नहीं है या इस वृक्ष के शाखाभाग में बन्दर है मूलभाग में नहीं।

(८) इस समय पर्वत पर अग्नि है। इस समय वृक्ष पर बन्दर हैं।

(९) पर्वत के सभी भागों में अग्नि नहीं रहती।

(१०) सभी समयों में पर्वत पर अग्नि नहीं रहती।

(७′) शिखर से अवच्छिन्न पर्वत में अग्नि है, नितम्ब से अवच्छिन्न पर्वत में नहीं। शाखा से अवच्छिन्न वृक्ष पर बन्दर है, मूलावच्छिन्न वृक्ष पर नहीं।
—(एक) (शिक●अक)●(निक●∼अक)
(एक) (शाक●बक)●(मूक●∼बक)

(८′) इस समय से अवच्छिन्न पर्वत पर अग्नि है। इस समय से अवच्छिन्न वृक्ष पर बन्दर है।
—(एक) (सक●अक)
—(एक) (सक●बक)

(९′) सभी भागों से अवच्छिन्न पर्वत में अग्नि नहीं रहती।
—(अक) (भाक⊃∼अक)

(१०′) सभी समयों से अवच्छिन्न पर्वत पर अग्नि नहीं रहती।
(अक) (सक⊃∼अक)

(७″) पर्वतनिष्ठ अग्नि शिखरावच्छिन्न है, नितम्बावच्छिन्न नहीं। वृक्ष निष्ठ बन्दर शाखावच्छिन्न है, मूलावच्छिन्न नहीं।

(८″) पर्वतनिष्ठ अग्नि एतत् कालावच्छिन्न है। वृक्षनिष्ठ बन्दर एतत कालावच्छिन्न है।

(९″) पर्वत निरूपित अग्नि पर्वतत्वावच्छिन्न नहीं है।

(१०″) पर्वत निरूपित अग्नि महाकालावच्छिन्न नहीं है।

अधिकरण के प्रसंग में अवच्छेदक धर्मों की निर्दुष्टता सिद्ध करने हेतु ही निष्ठत्व सम्बन्धाभावच्छिन्न तथा निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्न धर्मों का अन्वेषण किया गया है। जैसे—

(११) मनुष्य में मनुष्यता है।

(१२) पर्वत पर अग्नि है।

इन दोनों वाक्यों को अधिकरणमूलक वाक्यों में इस प्रकार समझा जा सकता है—

(११) मनुष्य मनुष्यता का आधार है।

(१२) पर्वत अग्नि का अधिकरण (या आधार) है।

(११') एवं (१२') में मनुष्य या पर्वत को क तथा मनुष्यता या अग्नि को ख मानकर उन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है।

(१३) क ख का आधार है।

इस वाक्य का निषेध व्याघातक रूप से इस प्रकार होगा—

(१४) क ख का आधार नहीं है या क ख के अभाव (~ख) का आधार है? (११') में यह व्याघातकता खरी उतर सकती है किन्तु (१२') में नहीं। क्योंकि पर्वत अग्नि तथा अग्नि के अभाव दोनों का अधिकरण हो सकता है। इसी असंगति को हटाने के लिये उक्त निष्ठत्व तथा निरूपितत्व धर्मों की गवेषणा की गयी है। क्योंकि निष्ठत्व धर्म से अवच्छिन्न अधिकरण निरूपितत्व धर्म से अवच्छिन्न नहीं रहता।[३४१]

अवच्छेदक धर्मों के कारण ही विभिन्न भाव पदार्थों की व्याख्या सम्पादित की जा सकती है। जैसे घट, पट, मनुष्य, कुर्सी आदि पदार्थ सामान्य धर्मों—घटत्व, पटत्व, मनुष्यत्व, कुर्सित्व आदि के द्वारा ही एक दूसरे से पृथक् समझी जा सकती हैं यही नहीं मनुष्य आदि भाव पदार्थों के विशेष धर्म भी अवच्छेदक द्वारा ही ज्ञापित हो सकते हैं। जैसे ब्राह्मणत्व होने से, मनुष्य ब्राह्मण, सेवकत्व होने से मनुष्य सेवक, पितृत्व होने से पिता, पुत्रत्व होने से मनुष्य पुत्र आदि कहलाता है। दो पदों के बीच रहने वाले सम्बन्ध कार्यता, कारणता, प्रतियोगिता आदि भी अवच्छेदकों द्वारा भली प्रकार से विवेचित होते हैं। जैसे,

(१५) दण्ड घट का कारण है।

नव्यन्याय की पदावली में इसको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

(१५') दण्ड निष्ठ कारणता निरूपित कार्यता घट में रहती है। यहाँ पर दण्ड दण्डत्व धर्म से ही कारण है, प्रमेयत्व या द्रव्यत्व या धर्म से नहीं।

इसी प्रकार भावीय तथा अभावीय विशिष्ट प्रतीतियां भी अवच्छेदक धर्मों के बिना नहीं समझी जा सकती जैसे,

(१६) पुस्तक है।

(१७) पीली पुस्तक है।

(१८) पुस्तक नहीं है।

(१९) पीली पुस्तक नहीं है।

(१६) और (१७) विशिष्ट भावीय प्रतीतियों को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक पुस्तक को पुस्तकत्व तथा पीली पुस्तक को पीतत्व और पुस्तकत्व धर्म से विशिष्ट नहीं माना जाय। अवच्छेदक धर्मों के कारण ही दोनों की विलक्षणता अंकित की जा सकती है, अन्यथा 'विशिष्टं शुद्धात् नातिरिच्यते', इस नियम के अनुसार विशिष्ट–'पीली पुस्तक' वास्तव में शुद्ध–'पुस्तक' के अतिरिक्त नहीं है। इसी प्रकार (१८) और (१९) में व्यक्त अभावीय प्रतीतियों में भी 'पुस्तक नहीं है' इस प्रकार का सामान्याभाव तथा 'पीली पुस्तक नहीं है' इत्याकारक विशेषणाभाव की विषयताएँ तब तक नहीं समझी जा सकती है जब तक वे पुस्तकत्व तथा पीतत्व और पुस्तकत्व धर्मों से विशिष्ट न हों क्योंकि प्रतियोगिता सम्बन्ध द्वारा प्रथम अभाव पुस्तक तथा द्वितीय अभाव पीली पुस्तक से विशिष्ट होंगे और प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म अलग-अलग होंगे—प्रथम में पुस्तकत्व और द्वितीय में पीतत्व तथा पुस्तकत्व। इसी प्रकार पुस्तक का पुस्तकत्व धर्म से अवच्छिन्न जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसका प्रतिबन्धक पुस्तकाभाव ही हो सकता है, द्रव्याभाव या विषयाभाव नहीं।[३४२]

अवच्छेदक धर्मों के व्यापक प्रयोग के कारण ही नव्य नैयायिक अपने व्याप्ति और पक्षता लक्षणों को निर्दुष्ट बनाने में सक्षम हुए हैं। सकल हेतु तथा सकल साध्यों और विशेष हेतु तथा विशेष साध्यों की व्याप्ति के संकर दोष को बचाने तथा समवाय और संयोग सम्बन्धों की उचित व्यवस्था करने के लिये ही अवच्छेदकावच्छिन्न, किञ्चित धर्मावच्छिन्न, सम्बन्धावच्छिन्न आदि धर्मों की व्याख्या की गयी है। वस्तुतः पाश्चात्य परिमाणकों में सम्बन्धों का निवेश करके भारतीय परिमाण व्यवस्था समझायी जा सकती है। इसलिए यह व्यवस्था पाश्चात्य प्रणाली से श्रेष्ठ जान पड़ती है। उक्त अवच्छेदक धर्मों की व्याख्या अध्याय तीन में नव्य न्याय के संस्थापक आचार्य गङ्गेश की सिद्धान्त-व्याप्ति निरुपण में की गयी है। भारतीय अनुमानों का प्रतीकीकरण सम्बन्ध-कलन में दिया जायगा।

सम्बन्ध कलन

प्रतीकात्मक विधा में एक से अधिक पदीय या स्थानीय विधेयों की समुचित व्याख्या करने के लिये पदों के गुणधर्म तथा संख्या के अनुसार अनेक प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना की गयी है। जैसे, परावर्ती, सममित, द्विपदीय, त्रिपदीय, एक-एक, एक-अनेक आदि सम्बन्ध। भारतीय न्याय में सम्बन्ध चर्चा तात्त्विक चिन्तन पर आधारित है। क्योंकि संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध गुण, पृथक् पदार्थ के रूप में वास्तविक पदार्थों की कोटि में आते हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की भांति यहाँ भी दो या दो से अधिक पदार्थों, पदों, वाक्यों, वर्गों तथा वर्ग और उसके सदस्यों के बीच अनेक सम्बन्ध माने जाते हैं। नव्यन्याय में सम्बन्ध विवेचन वह आधार प्रस्तुत करता है जिस पर उसका भव्य प्रासाद अवस्थित है। हम बतला चुके हैं कि प्रत्येक विशिष्ट ज्ञान में तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) विशेष्य, (२) विशेषण तथा (३) इन दोनों को परस्पर सम्बद्ध करने वाला सम्बन्ध।

विशिष्ट ज्ञान की उस विषयता को सम्बन्ध कहा जाता है जो विशेष्यता और विशेषणता से भिन्न हो।[३४३] तर्कभाषाकार के मत से जो पदार्थ सम्बन्धियों से भिन्न, उभयाश्रित तथा एक होता है उसे सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे निम्नलिखित वाक्यों–

(१) टेबल पर पुस्तक है।

(२) साड़ी नीली है।

में टेबल और साड़ी विशेष्य तथा पुस्तक और नीला (रंग) विशेषण है। प्रथम में टेबल और पुस्तक द्रव्य तथा द्वितीय में साड़ी द्रव्य तथा नीला (रंग) गुण होने के कारण प्रथम विशेष्य-विशेषण को सम्बद्ध करने वाला संयोग गुण तथा द्वितीय विशेष्य-विशेषण को परस्पर मिलाने वाला सम्बन्ध समवाय पृथक् पदार्थ होने के कारण, सम्बन्ध-विषयता, दोनों विशेष्यों तथा विशेषणों में रहने वाली विषयता से भिन्न हैं। सम्बन्ध के विशेष्य और विशेषण ही सम्बन्धी कहलाते हैं। विषयता भिन्न होने के कारण सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न तथा दोनों में रहने के कारण उभयाश्रित और एक है। न्याय-पदावली में विशेष्य को अनुयोगी तथा विशेषण को प्रतियोगी कहा जाता है जो पाश्चात्य सम्बन्ध के रेफ्रेण्ट या निर्देश्य तथा सम्बन्धी या रिलेटम या तुलित किये जा सकते हैं।

व्यापक रूप से सम्बन्धों का वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है—अभेद सम्बन्ध तथा भेद सम्बन्ध। अभेद सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध का ही अपर नाम है। भेद सम्बन्ध, संयोग, समवाय, स्वरूप भेद से तीन प्रकार का होता है। यही चार सम्बन्ध मुख्य सम्बन्ध कहलाते हैं।[३४४]

अभेद सम्बन्ध-तादात्म्य

अभेद सम्बन्ध 'तादात्म्य' वस्तुता का नियामक होता है। यही कारण है कि 'गगन-कुसुम', 'वन्ध्या-पुत्र' आदि वास्तविक पदार्थों की कोटि में नहीं आते क्योंकि इनका किसी भी तात्त्विक पदार्थ के साथ तादात्म्य नहीं होता। 'तत्-स्वरूपता' 'तद्-एव' आदि पदों से तादात्म्य सम्बन्ध व्यक्त किया जाता है। इसीलिए स्व-वृत्ति असाधारण धर्म तादात्म्य कहलाता है और असाधारण्य एक और केवल एक ही पदार्थ में विद्यमान रहना है। यह एकमात्रवृत्तित्व धर्म 'स्व-सामानाधिकरण्य तथा स्व-प्रतियोगिवृत्तित्व उभय सम्बन्धों से विशिष्ट अन्योन्याभाव ही है। व्यक्तिगत असाधारण धर्म के अतिरिक्त सभी पुस्तकत्व आदि सामान्य धर्म उक्त दोनों सम्बन्धों द्वारा भेद विशिष्ट सिद्ध होंगे' क्योंकि दोनों में प्रयुक्त 'स्व' पद प्रथम सम्बन्धीपद है जो भेद का सूचक है और द्वितीय सम्बन्धी पद 'एक अधिकरण में रहना' तथा 'प्रतियोगी में रहना' है। उदाहरणतया पुस्तकत्व आदि सामान्य धर्म सभी पुस्तकों में पाया जाता है अतः यह सामान्य धर्म 'यह पुस्तक रामचरितमानस नहीं है' इत्याकारक विशेष अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होगा। इसी प्रकार इस विशेष अन्योन्याभाव की अधिकरण वे सभी पुस्तकें होंगी जो इस व्यष्टि विशेष पुस्तक के अलावा होंगी। अतः पुस्तकत्व आदि उक्त सम्बन्धों द्वारा भेद से विशिष्ट होंगे और तद्व्यक्तित्व असाधारण धर्म 'रामचरितमानसत्व' या तो अनुयोगी में रहेगा या प्रतियोगी में किन्तु दोनों में नहीं।[३४५]

भेद सम्बन्ध-संयोग

दो पृथक् रहने वाले अनित्य द्रव्यों के परस्पर मिलन को संयोग कहते हैं जो 'इससे यह संयुक्त है' इत्याकारक प्रतीति का कारणभूत गुण है। क्रियाशील एक द्रव्य से अन्य निष्क्रिय द्रव्य का संयोग अन्यतर कर्मज, दोनों की क्रिया से उत्पन्न संयोग उभयकर्मज तथा अवयवी के एक अवयव के साथ किसी द्रव्य का जो संयोग होता है वह संयोगज

संयोग कहलाता है। इस प्रकार संयोग तीन प्रकार का होता है—अन्यतर कर्मज, उभय-कर्मज तथा संयोगज। संयोग सम्बन्ध में परस्पर सम्बद्ध होने वाले दो पदार्थों का पहले से पृथक् रहना आवश्यक है इसीलिए दो सर्वव्यापक पदार्थों में संयोग सम्बन्ध नहीं होता।[३४७]

समवाय

समवाय सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध (ऐसे दो पदार्थों का सम्बन्ध है जिन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता) कार्य-कारणभावापन्न वस्तुओं का सम्बन्ध है जो परस्पर आधार-आधेय रूप में रहते हैं। आधार या आधेय की सत्ता पर्यन्त समवाय सम्बन्ध की स्थिति रहने के कारण ही इसे एक और नित्य सम्बन्ध कहा जाता है। यह सम्बन्ध 'इसके अन्दर वह है' इत्याकारक प्रतीति का आधार है जो अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति एवं विशेष–नित्य पदार्थों में पाया जाता है।[३४८]

स्वरूप सम्बन्ध

स्वरूप सम्बन्ध भी संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों की भांति पदार्थ भी है और सम्बन्ध भी। इस बात को दृष्टि में रखते हुए इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती स्वरूप सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जो एक ओर तो आवश्यक रूप से स्वीकृत पदार्थ रहता है और दूसरी ओर धर्म विशेष से युक्त होने के कारण सम्बन्ध भी। उदाहरण के लिये अभावीय प्रतियोगिता, भावीय कालिक-दैशिक तथा सखण्ड स्वरूप सम्बन्धों को लिया जा सकता है। 'पुस्तक नहीं है,' 'पुस्तक है' (पुस्तक रूपी) कार्य (कागच रूपी) कारण में रहता है' इत्याकारक स्वरूप सम्बन्धों को लिया जा सकता है। यहाँ 'यस्याभावः स प्रतियोगी' इस नियम के अनुसार प्रथम में पुस्तक प्रतियोगी तथा पुस्तकाभाव अनुयोगी, द्वितीय में पुस्तक प्रतियोगी तथा काल-देश विशेष अनुयोगी एवं तृतीय में कार्य प्रतियोगी और कारण अनुयोगी है। इन तीनों प्रतीतियों में प्रतियोगिता पुस्तक में ही रहती है जो एक स्वीकृत पदार्थ द्रव्य है। तथा प्रतियोगितावच्छेदक धर्म होगा पुस्तकत्व। दूसरी ओर पुस्तकत्व धर्म से विशिष्ट होने के कारण पुस्तकाभाव और पुस्तक, विशेष देश-काल तथा पुस्तक एवं कार्य पुस्तक तथा कारण कागच के मध्य जो सम्बन्ध स्थापित होगा वह अभावीय प्रतियोगिता, कालिक-दैशिक एवं सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध कहलायेंगे।[३४९] यह स्वरूप सम्बन्ध अखण्ड और सखण्ड भेद से दो प्रकार का है। अखण्ड स्वरूप सम्बन्ध के भी दो भेद हैं—भावीय स्वरूप तथा अभावीय स्वरूप। भावीय स्वरूप कालिक और दैशिक स्वरूप भेद से दो प्रकार का है। अभावीय प्रतियोगिता सम्बन्ध को अभावीय विशेषणता सम्बन्ध भी कहा जाता है। सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध में दो सम्बन्ध खण्डशः सम्बद्ध रहते हैं और इनका गठन अनेक पदार्थों को जोड़कर होता है। जैसे, कार्य-कारण-भाव, प्रतियोगि-अनुयोगिभाव, व्याप्य-व्यापकभाव, निरूप्य-निरूपकभाव, विषय-विषयि-भाव आदि। इस प्रकार ज्ञान और पदार्थों के व्यवहार के आधार पर सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध असंख्य हो सकते हैं। इस सम्बन्ध को विशेषणता सम्बन्ध भी कहा जाता है। अखण्ड भावीय तथा अभावीय विशेषणता सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ काल और देश में रहता है तथा अभावीय रूप में सर्वत्र रहता है। किन्तु नित्यकाल तथा नित्यदेश में अनुयोगि-प्रतियोगि भाव का व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये महाकाल (नित्यदेश) को क्षण, मिनिट, घण्टे, दिन, मास, वर्ष आदिकाल उपाधि तथा महादेश (नित्यदेश) को पूर्व,

पश्चिम, आदि दिगुपाधियों में बाँट दिया जाता है और फिर स्वरूप सम्बन्ध को भावरूप में उपाधि तथा उनके आश्रय और अभावीय रूप में अभाव तथा उनके आश्रयों के बीच स्थापित किया जाता है।

इन सम्बन्धों में समवाय सर्वदा आधार-आधेयभाव का नियामक होने के कारण वृत्तिनियामक तथा ऐसा नहीं होने के कारण तादात्म्य सम्बन्ध सदा वृत्ति अनियामक कहलाता है। साधारणतया संयोग तथा अखण्ड स्वरूप सम्बन्ध वृत्ति नियामक होते हैं किन्तु दोनों हाथ परस्पर जोड़ने के समय जो संयोग होता है वह और सारे सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध वृत्ति अनियामक कहलाते हैं। इसी प्रकार स्वतत्र रूप से सारे सम्बन्ध साक्षात् कहलाते हैं। किन्तु जब दो या दो से अधिक सम्बन्ध परस्पर मिलते हैं तो उन्हें परम्परा सम्बन्ध कहा जाता है।

इस प्रकार पदार्थों तथा उनके ज्ञानीय व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए भारतीय दार्शनिकों ने अनेक प्रकार के सम्बन्ध माने हैं। इन सम्बन्धों में तादात्म्य, संयोग तथा स्वरूप सम्बन्ध को प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं किन्तु समवाय के सम्बन्ध में विप्रतिपत्तियां पायी जाती हैं।[५०] विधेय परिमाणकों तथा विधेय-कार्यमूलक अवच्छेदक धर्मों के अनुसार इनका प्रतीकीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है:—

(१) तादात्म्य	— तुलसीदास तुलसीदास ही हैं।
	(अक) (ता) (तु क क)
संयोग—	
(२) अन्यतर कर्मज संयोग	— मुनीष कमरे में आता है।
	— (अमु) (अक) (सं) (आ मु क ⊃∼ आ क मु)
(३) उभयकर्मज संयोग	— केशव और सुधीर कुश्ती लड़ते हैं।
	— (अके) (असू) (सं) (कु के सु ⊃ कु सु के)
(४) संयोगज संयोग	— सरला पेन से कापी पर लिखती है।
	— (अस) (अपे) (अका) (सं) [(लि स पे•लि पे का) ⊃ लि स क]
समवाय—	
(५) अवयव-अवयवी	— पुर्जे घड़ी में रहते हैं।
	— (अपू) (अघ) (स) (र पु घ ⊃∼ र घ पु)
(६) गुण-गुणी	— ज्ञान आत्मा में रहता है।
	— (अज्ञा) (अआ) (स) (र ज्ञा आ ⊃∼ र आ ज्ञा)
(७) क्रिया-क्रियावान	— गति चेतन-प्रानी में रहती है।
	— (अग) (अचे) (स) (र ग चे ⊃∼ र चे ग)
(८) जाति-व्यक्ति	— मनुष्यता मनुष्य (व्यक्ति) में रहती है।
	— (अम) (अव्य) (स) (र म व्य ⊃∼ र व्य म)
(९) विशेष-नित्यद्रव्य	— आकाशत्व आकाश में रहता है।
	(अक) (अख) (स) (र क ख ⊃∼ र ख क)
	क = आकाशत्व। ख = आकाश

स्वरूप—

(१०) भावीय स्वरूप — पुस्तक है

— (एक) (स्व) (पुक) क — पुस्तक

भारतीय स्वरूप सम्बन्ध के द्वारा पदार्थों की स्थिति काल अथवा देश या दोनों में अंकित की जाती है किन्तु ज्ञानीय स्थिति में दसवां वाक्य समवाय सम्बन्ध से भी व्यक्त किया जा सकता है। वहाँ केवल (स्व) के स्थान में (स) रखने से कार्य चल सकता है।

(११) अभावीय स्वरूप — पुस्तक नहीं है

— (एक) (स्व) (~ पुक)

(१२) सखण्ड व्याप्य-व्यापक भाव—

अनतिरिक्त वृत्तित्व या व्याप्य भाव — व्याप्य व्यापक में व्यापकता सम्बन्ध से रहता है (अक) (अख) (य) (रकख)

अन्यून वृत्तित्व या व्यापकभाव — व्यापक व्याप्य में व्याप्यता सम्बन्ध से रहता है (अख) (अक) (ल) (रखक)

व्याप्य-व्यापकभाव — व्याप्य व्यापक में व्याप्यता सम्बन्ध तथा व्यापक व्याप्य में व्याप्यकता सम्बन्ध से रहता है

— (अक) (अख) (यल) (रकख ● रखक)

य = व्यापकता सम्बन्ध क = व्याप्य

ल = व्याप्यता सम्बन्ध ख = व्यापक

(१३) निरूप्य-निरूपक भाव — घट में रहने वाली कार्यता कारणता से निरूपित है तथा घट में रहने वाली कारणता की निरूपक कार्यता है।

— (अफ) [(एक) (पक)] (अफ)●(अप) [(एक) (फक)] (अप)

यहाँ सखण्ड स्वरूप सम्बन्ध को निरूप्य-निरूपकभाव के प्रतीक कोष्ठकों के रूप में व्यक्त किया गया है।

क = घट। प = कार्यता। फ = कारणता। [ ] = निरूपित/निरूपक

पञ्चावयवी अनुमान को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

(१४) पर्वत पर वह्नि है.....प्रतिज्ञा

(पर्वत पर) धूम होने से.....हेतु

जो-जो धूमवाला होता है वह-वह वह्नि वाला होता है....अन्वय दृष्टान्त

जो-जो वह्निवाला नहीं होता वह-वह धूमवाला भी नहीं होता.....व्यतिरेक दृष्टान्त

पर्वत पर भी धूम है.....उपनय

अतः पर्वत पर वह्नि है.....निगमन

— (एक) (सं) (पक●अक) . . . . . प्रतिज्ञा
(एकु) (सं) (पक●धूक) . . . . . हेतु
(अक) (सं) (धूक⊃वक) . . . . . अन्वय दृष्टान्त
(अक) (सं) (∼अक⊃∼धूक) . . . . . व्यतिरेक दृष्टान्त
(एक) (सं) (पक●धूक) . . . . . उपनय
(एक) (सं) (पक●वक) . . . . . निगमन

उक्त अनुमान एक स्थानीय विधेय को दृष्टिगत रखते हुए दिया गया है द्विस्थानीय वृत्तित्व सम्बन्ध की दृष्टि से भी इसका प्रतीकीकरण किया जा सकता है ।

(१५) पर्वत में वह्नि है. . . . . प्रतिज्ञा
क्योंकि उसमें (पर्वत) धूम है. . . . . हेतु
जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ वह्नि रहती है, जैसे महानस आदि. . . . . . अन्वय दृष्टान्त
जहाँ-जहाँ वह्नि रहती है वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं रहता, जैसे सरोवर. . . . . . . व्यतिरेक दृष्टान्त
पर्वत में भी धूम है. . . . . उपनय
अतः पर्वत में अग्नि है ।. . . . . निगमन

— (एक) (सं) (वृ ख क) . . . . . प्र.
(एक) (सं) (वृ ग क) . . . . . हे.
(अम) (सं) (वृगम) ⊃ (वृखम) . . . . . अ.दृ.
(अस) (सं) (∼वृखस) ⊃ (∼वृगस) . . . . व्यदृ.
(एक) (सं) (वृगक) . . . . . उ
∴ (एक) (सं) (वृखक) . . . . . नि

क = पर्वत
ख = अग्नि
ग = धूम
म = महानस
स = सरोवर

इसी प्रकार अन्य अनुमानों को भी समझा जा सकता है ।

'धूम अग्नि से व्याप्त है' या 'धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति है' इत्याकारक व्याप्ति मूलक वाक्य को नव्यन्याय में इस प्रकार व्यक्त किया जाता है—धूम अग्नि के अभाव-वाले अधिकरण में नहीं रहता । इसी के परिष्कार के लिये व्याप्य-व्यापक भाव में निखार लाने के लिये अन्यून वृत्तित्व, अनतिरिक्त वृत्तित्व, अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व आदि अवच्छेदक धर्मों का निवेष किया गया है । वृत्तित्व सम्बन्ध के प्रसंग में इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है । जैसे, 'क ख का अवच्छेदक है' को तीन प्रकार से समझा जा सकता है—

(१६) अन्यून वृत्तित्व — अवच्छेदक अपने अवच्छिन्न धर्म से न्यून नहीं होना चाहिए अर्थात् अपने धर्म से अवच्छिन्न सभी — अधिकरणों में रहना चाहिये ।
∼(एग) (य) (वृखग●∼वृकग) ≡
(अग) (य) (वृखग⊃वृकग)

(१७) अनतिरिक्त वृत्तित्व — अवच्छेदक अपने अवच्छिन्न धर्म से अधिक न होना चाहिए अर्थात् अपने धर्म से अवच्छिन्न अभाव वाले अधिकरणों में नहीं रहना चाहिए ।

— ~(एग) (य) (वृकग • ~वृखग) ≡
(अग) (य) (वृकग ⊃ वृखग)

(१८) अन्यूनानतिरिक्त वृतित्व—अवच्छेदक अपने अवच्छिन्न धर्म से न्यून तथा अतिरिक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् उसे अपने धर्म से अवच्छिन्न सभी आश्रयों में रहना तथा अपने धर्म से अवच्छिन्न अभाव वाले अधिकरणों मे नहीं रहना चाहिये।

—(अग) (य) (वृखग ≡ वृकग)

ग = अधिकरण
य = सम्बन्ध

इन्हीं अवच्छेदक धर्मों के कारण नव्य नैयायिक सकल-हेतु-साध्यक व्याप्ति तथा सम्बन्धों की विशिष्टता से संयोग सम्बन्ध वाली व्याप्ति को विशेष-हेतु-साध्यक व्याप्ति तथा समवाय सम्बन्धवाली व्याप्तियों को पृथक्-पृथक् रूप से निर्दिष्ट बनाने में समर्थ हुए हैं। अध्याय तीन के नव्य न्याय व्याप्ति लक्षणों में इन परिष्कारों की विशद व्याख्या की गयी है।

पाश्चात्य बड़े, छोटे, पास, दूर आदि सम्बन्धों को यहाँ परिमाण, परत्व, अपरत्व आदि गुणों के भेदों—अणुत्व, दीर्घत्व, महत्व, ह्रस्वत्व, वरिष्टता, कनिष्टता, निकटता, दूरी आदि के रूप में प्रकट किया गया है।

वर्ग-कलन—

प्रतीकात्मक चिन्तन में वर्ग-कलन का स्थान आजकल समूह सिद्धान्त लेता जा रहा है। इस कलन की तुलना यहाँ के सामान्य अथवा जाति तथा उपाधि धर्मों से की जा सकती है। पृथक् पदार्थ मानते हुए महर्षि कणाद ने सामान्य और विशेष पदार्थों को बुद्धि सापेक्ष माना है।[३५१] प्रशस्तपाद ने सामान्य की परिभाषा देते हुए कहा है सामान्य, अनेक आश्रयों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला एक और नित्य पदार्थ है।[३५२] महर्षि गौतम की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने भी यही बात कही है।[३५३] न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा दार्शनिकों ने इसे पृथक् पदार्थ माना है किन्तु जैन और वेदान्तियों ने व्यक्ति से भिन्न सामान्य की सत्ता नहीं मानी है। उत्तरवर्ती नैयायिकों ने प्रशस्तपाद के लक्षणों को अपनाते हुए इसके दो की अपेक्षा तीन भेद माने हैं, पर, परापर, अपर। जो जाति किसी जाति की अपेक्षा या व्याप्य न्यूनवृत्ति नहीं होती उसे पर कहते हैं : जैसे, सत्ता जाति किसी जाति की अपेक्षा न्यूनवृत्ति न होने से पर कहलाती है क्योंकि वह द्रव्य-गुण एवं कर्म तीनों पदार्थों में पायी जाती है। जो जाति किसी जाति की व्याप्य और किसी जाति की व्यापक होती है उसे परापर कहते हैं। जैसे द्रव्यत्व गुणत्व, आदि जातियां सत्ता जाति की व्याप्य तथा पृथिवीत्व, रूपत्व आदि जातियों की व्यापक होने से परापर है। इसी प्रकार जो जाति किसी जाति की अपेक्षा व्यापक या अधिक वृत्ति नहीं होती, उसे अपर कहते हैं। जैसे, घटत्व, पटत्व आदि जातियां किसी भी जाति की अपेक्षा व्यापक न होने के कारण अपर कहलाती है।[३५४] व्याप्य-व्यापक भाव में केन्द्रित होने के कारण ही जगदीश तर्कालंकार ने पर, परापर तथा अपर जातियों को व्यापक, व्याप्य व्यापक तथा व्याप्य कहा है।[३५५]

साधारणतया सामान्य शब्द से जाति ही अभिप्रेत है किन्तु सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो सामान्य के दो भेद हो सकते हैं—जाति और उपाधि। सामान्य सर्वगत, नित्य, नैसर्गिक एवं एक धर्म है उपाधि कृत्रिम, अनित्य, व्यक्तिनिष्ठ एवं अनेक होती है। तात्पर्य यह कि सामान्य स्वतः सिद्ध सत्तावाली वस्तु होने से कारण अपने आश्रयभुत सभी व्यक्तियों का परिचय करा सकता है किन्तु आरोपित तथा आगन्तुक धर्म होने के नाते उपाधि तत्त्वतः नहीं किन्तु व्यवहार के लिये ज्ञानतः निकटवर्ती किसी आश्रय में धर्म रूप से आरोपित होती है। इस प्रकार 'ता' 'त्व' अन्त में लगा हुआ होने से कोई शब्द सामान्य नहीं होता। जैसे, सकल मनुष्यों का बोध कराने वाला धर्म मनुष्यता ही जाति है किन्तु भाषा, वर्ण, धर्म आदि के विचार से पल्लवित होने वाले बंगाली, ब्राह्मणत्व, हिन्दुत्व आदि धर्म उपाधि होंगे। इस प्रकार भारतीय तर्कशास्त्र में सामान्य को वर्गीकरण का आधार माना गया है, उपाधि को नहीं। क्योंकि बंगाली होने से ही मनुष्य बंगाल में पाये जाने वाले नदी, तालाब, नगरों से पृथक् नहीं गिना जा सकता। अतः व्यक्ति मे पाये जाने वाले सभी विशेष धर्म उपाधि होते हैं, सामान्य नहीं। उदयन का समर्थन करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि केवल एक ही व्यक्ति में रहने वाला आकाश वृत्ति 'आकाशत्व' धर्म जाति नहीं है क्योंकि समस्त पुस्तकों का बोध कराने वाला धर्म पुस्तकत्व आदि धर्म ही जाति माना जाता है। इसलिये नित्य द्रव्य–आकाश, काल, दिक् आदि में रहने वाले धर्म आकाशत्व, कालत्व, दिकत्व उपाधियां है। हम क्षण, मिनिट, पूर्व, पश्चिम आदि में बहने वाले काल, दिशा उपाधियों का वर्णन ऊपर स्वरूप सम्बन्ध के प्रसङ्ग में कर चुके हैं। इसी प्रकार तुल्यता मूलक स्वर्णत्व, कनकत्व आदि समनियत (अर्थात् अन्यूनानतिरिक्त व्यक्तिकत्व) धर्म भी जातिबाधक हैं क्योंकि इन दोनों में तत्त्वतः व्यक्तित्व का भेद नहीं है। भिन्न-भिन्न वर्गों के पदार्थों का सम्मिश्रण हो अर्थात् एक दूसरे के अभाव के साथ रहने वाले दो धर्मों का किसी एक आश्रय में रहना सांकर्य होने के कारण जातिबाधक है जैसे 'भूतत्व' आकाश में मूर्तत्व के अभाव के साथ रहता है और मूर्तत्व मन में भूतत्त्वाभाव के साथ रहता है। अतः दोनों 'भूतत्व' और मूर्तत्व धर्म संकरग्रस्त होने से जाति नहीं बन सकते। सामान्य को सामान्य का आश्रय मानना भी असंगत है क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था होगी। अतः जाति की जाति उपाधि ही होगी। विशेष पदार्थ भी इसी प्रकार जाति का आश्रय नहीं बन सकते क्योंकि विशेष पदार्थ में यदि विशेषत्व नामक सामान्य माना जाये तो उसके स्वरूप लक्षण स्वतोव्यावृत्त या स्वतो भिन्नत्वरूप की हानि होगी। समवाय भी जाति का आश्रय नहीं है क्योंकि समवाय सम्बन्ध से ही जाति व्यक्ति में रहती है इसलिए समवाय में भी 'समवाय' सम्बन्ध से ही जाति रहेगी। अतः 'समवाय' पदार्थ में उससे भिन्न 'समवायत्व' जाति की स्थिति का निर्वाह करने वाला एक और समवाय मानना होगा जो सम्भव नहीं है। निष्कर्षतः समवाय में 'समवायत्व' जाति का नियामक कोई सम्बन्ध स्थापित न होने के कारण समवाय में जाति नहीं रहती।[३५६]

इस प्रकार पाश्चात्य तर्कशास्त्र के 'समम जिनस' तथा 'इन्फिमा स्पेसिस' की भांति यहाँ पर या सर्वोच्च तथा अपर या निम्मतम जाति मानी जाती हैं। वर्ग के वर्ग को वहाँ वर्ग एवं एक व्यक्तित्व विशिष्ट वर्ग 'होमो जिनस' को भी (यूनिट क्लास) वर्ग माना गया है किन्तु यहाँ दोनों का उपाधि की कोटि में रखा गया है। वहां के वर्गीकरण के सिद्धान्तों की भी जाति बाधक दोषों से तुलना की जा सकती है।

यहाँ पर-परापर-अपर जातियों के बीच वर्ग समावेश या अन्तर्भावन सम्बन्ध भी स्वीकार किया गया है। तथा वर्ग सदस्यता के रूप में व्यक्ति और जाति के बीच समवाय सम्बन्ध की कल्पना की गयी है। यही नहीं अंश और पूर्ण के बीच स्थापित होने वाला सम्बन्ध भी यहाँ अवयव-अवयवी समवाय सम्बन्ध के रूप में विद्यमान है।

जिस प्रकार अवयवों के समुदाय को अवयवी नहीं माना जाता उसी प्रकार अनेक व्यक्ति निष्ठ अनेक धर्मों को जोड़ने मात्र अथवा समूह में एकत्रित करने का नाम भी सामान्य धर्म नहीं। गेस्टाल्ट वादियों के इस सिद्धान्त (अवयव-अवयवी) सिद्धान्त को सदियों पूर्व महर्षि कणाद ने अपने सूत्रों में वर्णित किया है।

फ्रेग के द्विसदस्यीय वर्ग की तुलना यहाँ पर्याप्ति मूलक सिद्धान्तों से की जा सकती है। पर्याप्ति सम्बन्ध का तात्पर्य यह है कि जो बात समष्टि के लिए खरी होती है वह बात व्यष्टि के लिये खरी नहीं उतरती जो पर्याप्ति के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'पर्यवसानम् साकल्यम्' में निहित है। यह सम्बन्ध उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा जा सकता है संख्याओं के लिए प्राचीन नैयायिकों ने समवाय सम्बन्ध का ग्रहण किया है क्योंकि संख्या गुण होने के नाते अपने आश्रय द्रव्य में रहती है। अतः दो पदार्थों में रहने वाला द्वित्व धर्म युग्म के प्रत्येक सदस्य में रहेगा। किन्तु नव्यन्याय ने द्वित्व को परिष्कृत रूप से पर्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध द्वारा समझाया है। उनका कहना है कि संख्या १ संख्या दो से भिन्न है किन्तु संख्या २ = १ + १, एक और एक का योग है अतः द्वित्व धर्म सम्पूर्ण युग्म-धर्म ही होगा प्रत्येक संख्या का पृथक्-पृथक् धर्म नहीं। अतः फ्रेग का समर्थन करते हुए जिन द्वित्व, त्रित्व आदि को क्वाइन ने वर्ग का वर्ग कहा है उन्हें यहाँ पर्याप्तिमूलक व्यासज्य वृत्ति धर्मों के रूप में उपाधि कहा गया है। समूह प्रतीकों में भारतीय जाति सिद्धान्तों को इस प्रकार समझा जा सकता है।

अन्तर्भावन सम्बन्ध–(वर्ग-समावेश) सम्बन्ध

(१) घटत्व जाति द्रव्यत्व जाति में समाहित है या सब घट द्रव्य हैं।
— घ ⊂ द्र ≡ (क्ष) (क्ष ∈ घ) ⊃ (क्ष ∈ द्र)

(२) वर्ग-सदस्यता सम्बन्ध — सब मनुष्य विवेकशील है
— म वि = ○ ≡ (क्ष) (क्ष ∈ म) ⊃ (क्ष ∈ वि)
राम मनुष्यत्व जाति का सदस्य है।
— रा ∈ म

(३) समूह व्यापकता सिद्धान्त — सम त्रिभुजी धर्म सम त्रिकोणीय त्रिभुजीधर्म के बराबर है
— क = ख ≡ (क्ष) (क्ष ∈ क ≡ क्ष ∈ ख)

(४) पर्याप्ति सम्बन्ध — द्वित्व धर्म दोनों संख्याओं के युग्म का धर्म है अलग-अलग संख्याओं का नहीं
क्ष ∈ क ∩ ख • क्ष ~ ∈ क केवल; क्ष ~ ∈ ख केवल।

यही बात सांकर्य धर्मों में भी पायी जाती है

(५) संकर धर्म मूर्तत्व और भूतत्व धर्मों में पाया जाता है

सं ∈ मू ∩ भू) ≡ (स ∈ मू • स ∈ भू)

(६) परा जाति विभिन्न जातियों का योग है

— क ∪ ख = (क्ष) (क्ष ∈ क ∨ क्ष ∈ ख)

प्रमाणीकरण सिद्धान्त

यद्यपि सत्यतामूल्यक, स्वयंसिद्धि-प्रमेय मूलक तथा स्वाभाविक निगमन सिद्धान्तों की भांति हूबहू कोई सिद्धान्त इन रूपों में यहाँ उपलब्ध नहीं होता किन्तु परिष्कृत सामान्य विशिष्ट लक्षणों तथा नियमों से इन सिद्धान्तों की तुलना की जा सकती है। जैसे, 'एक सत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति' उभयाभाव, (द्वि सत्वेऽपि द्वयं अस्ति जो स्पष्टतः इस रूप में व्यक्त नहीं किया गया है) आदि नियमों में संयोगमूलक; अन्यतर, अन्यतम, विशिष्टाभाव नियमों में संयुक्तक वैकल्पिक; संशयमूलक नियमों में व्यावर्तक वैकल्पिक; तर्क नियमों में आपादनात्मक एवं विभिन्न अन्वय-व्यतिरेक सहचार नियमों में तुल्यता मूलक सत्यता मूल्यक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं।

प्रमा सामान्य लक्षणों तथा अनुमिति लक्षणों को स्वयंसिद्धियों के रूप में प्रकट किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के लिये भी उनके सामान्य लक्षणों को स्वयंसिद्ध सिद्धान्त मानकर उनसे उनके विशिष्ट नियम निगमित किये जा सकते हैं जो प्रमुय के रूप में रखे जा सकते हैं।

इसी प्रकार अवच्छेदकता, अनुयोगिता, प्रतियोगिता, सामानाधिकरण्य, व्यधिकरण आदि सिद्धान्तों तथा विभिन्न प्रमाणों की व्याख्या करने के लिये जो नियम प्रतिपादित किये गये हैं उनको स्वाभाविक निगमनिक सिद्धान्तों में रखा जा सकता है।

डॉ० इंगल[३५८] तथा बारलिंगे[३५९] ने सत्यतामूल्यक सिद्धान्तों के अनुरूप कुछ उदाहरण दिये हैं किन्तु केवल इतने से कार्य नहीं चल सकता। इसी प्रकार डॉ० बारलिंगे ने बौद्ध ११ अनुपलब्धियों को भी निगमनिक प्रणालियों द्वारा निगमित किया है[३६०] और डॉ० मतिलाल ने निगमनिक सोपानों में भारतीय अनुमान को अभिव्यक्त किया है।[३६१]

प्रस्तुत तुलनाएं केवल संकेत मात्र है। यहाँ पर अधिक विस्तार नहीं दिया जा सकता। मेरे विचार से भारतीय तर्कशास्त्र विशेषकर नव्यन्याय उपलब्धियों का यदि गंभीर आलोचन किया जाय और जहाँ पाश्चात्य प्रतीक नहीं हों या अपूर्ण हों तो उसके लिये पृथक् प्रतीक प्रणाली सर्जित कर तुलनात्मक कार्य किया जा सकता है और आशा है कि शीघ्र ही अधिक कुशल विद्वानों द्वारा यह कार्य सम्पादित होगा। मैं भी इस दिशा में प्रयासरत हूँ और इस भावना का मूर्त रूप मेरे अन्य ग्रन्थ 'प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की रूप रेखा' में शीघ्र दिखाई देगा।

संदर्भ निर्देश

1. Radhakrishnan S.: An Idealist view of Life p. 129-33. 2. HPU Vol. I. p. 32, 35, 37; HPE. Vol. I. p. 19, 21,-22, 23. 3. HPE. p. 29-32. 4. Ibid. p. 49. 5. Ibid. p. 41. 6. Ibid. p. 54-56. 7. Ibid. 58-60. 8. Ibid. p. 67-68. 9. Ibid. p. 69-73. 10. Ibid. p. 85-86; 11. Ibid. p. 111-12. 12. Ibid. p. 140-41. १३. देवराज एन० के०: पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ५९-६० । 14. FL. p. 12. 15. AML. Vol. I. p. 40-41 16. Ibid. p 42-43. 17. AMIL. p. 50; AML. Vol. I. p. 44; FL. p. 20-29. 18. AMIL. p. 33. 19. AMIL. p. 33-34; AML. Vol. I. p. 154. 20. SEFL. p. 37-38, Part II. Chapter I. 21. AIL. p. 171, Chapter VIII. 22. AML. Vol. I. p. 155. 23. AMIL. p. 37-44. 24. AILS p. 44-51. 25. AMIL. p. 44-48; AILS. p. 33-37. 26. FL. p. 134, 134-49, 149-51. 27. AML. Vol. I. p. 155, 160-61. 28. AMIL. p. 27. 29. L. Bk. I Ch. II. *65. 30. AIL. Ch. V. 31. SEFL. p. 39. 32. AMIL. p. 48; AIL. p. 216. 33. Ibid. p. 49; AIL. p. 217. 34. SEFL. p. 167-69; AML. Vol. I. p. 200-201; AIL. p. 222-23. 35. Ibid. p. 169-80; p. 201-7; 223-28. 36. सि० मु० ३ पृ० ५-८ 37. सि० मु० ३ पृ० ४४; त० सं० पृ० ५० । 38. सि० मु० ३ पृ० ४४; 39. त०सं० पृ० ५२।४०. वही पृ० ५२, का० व० का० ८२ । 41. त० भा० पृ० १११; त० सं० पृ० ५३; शा० दी० पृ० २०३-४ । 42. न्या० सू० १।१।८ । 43. प्र० न० त० ४।६-७ । 44. Datta D.M.: Six ways of knowing, p. 307-8. 45. Bosanquet: Logic. Vol. I. p. 81-84; Johnson: Logic. Pt. I. p. 11. 46. SL. p. 226. 47. Ibid. p. 227. 48. L. I. 185. 49. SL. p. 225. 50. AML. Vol. I p. 224; FL. p. 165. 51. AMIL. p. 212. 52. AIL. p. 232. 53. AIL. p. 249. 54. AMIL. p. 82; AILS. p. 77-78. 55. SEFL. p. 241-45. 56. SL. p. 227. 57. SL. p. 225; AML. Vol. I. p. 226; AIL p. 222. 58. SL. p. 288-89. 59. SL. p. 287. 60. SEFL. p. 93-120. 61. Ibid. pt. II. Ch. II. 62. AML. Vol. I. p. 227, 229, 249, 268-70. 63. AMIL. p. 62-67 64. AILS. 48-63, 73-74. 65. SEFL. p. 80; AMIL. p. 59. 66. AML Vol. I, p. 229. 67. Ibid. p. 229. 68, SEFL p. 81 69. AML. Vol. I. p. 232. 70. SEFL. p. 80. 71. AML. Vol. I. p. 234 72. SEFL. p. 80. 73. AML Vol. I. p. 236-37. 74. SEFL. p. 80. 75. DL. p. 55-56. 76. AMIL. p. 58-59. 77. AILS. p. 54-56. 78. SEFL. p. 82. 79. AMIL. p. 60; AILS. p. 67; AML. Vol. I. p. 243; FL. p. 158. 80. AML. Vol. I. p. 248. 81. Ibid. p. 248-49. 82. AILS. p. 59. 83. SEFL. p. 100 AML. Vol. I. p. 251; AMIL. p. 65, 84. AML. Vol. I. p. 251-52 85. Ibid. p. 254. 86. Ibid. p. 255. 87. SEFL. p. 93; AMIL. p. 63; AILS. p. 58. 88. SEFL. p. 94.; AML. Vol. I. p. 255-56. 89. SEFL. p. 94; AMIL. p. 64. 90. AML. Vol. I. p. 260-61. 91. SEFL. p. 95-96. 92. AMIL. p. 64; AML. Vol. I. p. 256-61. 93. SEFL. p. 101. 94. AML. Vol. I. p. 262; AMIL. p. 65. 95. SEFL. p. 102; AML. Vol. I. p. 262. 96. SEFL. p. 102; AML. Vol. I. p. 262-63.

97. SEFL. p. 103. 98. SEFL. p. 106. 99. AML. Vol. I. p. 265; AMIL. p. 66. 100. AMIL. p. 66. 101. SEFL. p. 104. 102. Ibid. p. 104-5. 103. SEFL. p. 109; AML. Vol. I. p. 267; AMIL. p. 68. 104. SEFL. p. 116-17; AML. Vol. I. p. 268-70. 105. Ibid. p. 117-18; p. 270. 106. SEFL. p. 118. 107. Ibid. p. 120. 108. L. II. 1. *2; Deductive Logic p. 108. 109. FL. p. 163-64. 110. AML. Vol. I. p. 226-27. 111. PL. p. 179. 112. Ibid. p. 166-67. 113. AML. Vol. I. p. 281. 114. SEFL. p. 239; AMIL. p. 82. AILS. p. 77. 115. SEFL. p. 241-45. 116. Ibid. p. 245. 117. AML. Vol. I. p. 289-304; FL. p. 181-82: AMIL. 87-90; AILS. p. 79-81. 118. Principles of Sciences, Chap. 4. *10; SEFL. p. 248-49. 119. Prof. Baynes's Translation p. 211 Quoted in SEFL. F. note 2 p. 251. 120. SL, *106. 121. SEFL. p. 250. 122. The Principles of Logic, p. 254. 123. SEFL. p. 251 124. AML. Vol. I. p. 280-81, 304-5, 348-51; SEFL. p. 300-1, 312-13, 125. SL. p. 451. 126. AML. Vol. I. p. 281. 127. SEFL. p. 301. 128. AML. Vol. I. p. 365. 129. SEFL. p. 305. 130. Ibid. 304. 131, AIL. p. 344. 132. Ibid. p. 347. 133. AML. Vol. I. p. 376; SEFL. p. 316. 134. SEFL. p. 316-17; AILS. p. 105-6. 135. SEFL. p. 317. 136. AILS. p. 107-108. 137. AML. Vol. I. p. 387. 138. AIL. p. 350. 139. Port Royal Logic, p. 229 Quoted in SEFL. Foot note no. 2 p. 323. 140. SL. p. 466; SEFL. p. 323; AML. Vol. I. p. 387; AILS p. 78; AIL. p. 350. 141. SEFL. p. 324. 142. SML. Vol. I. p. 388; AIL. p. 351-52; AILS. p. 351-52. 143. SEFL. p. 324. 144. Ibid. p. 324. 145. Ibid. p. 324-25. 146. Ibid. p. 325-26. 147. Ibid. p. 328-29. 148. Ibid. p. 326. 149. Ibid. p. 325. 150. Ibid. p. 325, Foot note No. 2 p. 325. 151. AML, Vol. I. p, 390-401; AMIL. p. 109-11. 152. AML. Vol. II. p. 32. 153. Ibid. p. 32. 154. Sigwart: Logic, Eng. Tr. Vol. II. p. 292 Quoted in AML. Vol II. p. 33. 155. AMIL. p. 244. 156. L. III., II., *1. 157. Logic Pt. III. p. 200. 158. AMIL. p. 246-47, 159. Ibid. 247. 160. Novum Organon. I. 105-106; AML. Vol. II. p. 36. 161. L. III. iii. *2 162. Novum Organon I. 105-106; AML. Vol. II. p. 36. 163. AML. Vol. II p. 35. 164. L. III. i. *2. 165. Ibid. III. ii. *1; III. ii. *5. 166. AML. Vol. II. p. 43-45. 167. SH. p. 91-95. 168. AMIL. p. 242-43 169. AML. Vol. II p. 36-37 Vol. II. p. 36-37. 170. L. BK. III. Ch. IX-X. 171. AML. Vol. II. p. 141-59,: AMIL. p 323-343; AILS. p. 249-67. 172. AML. Vol. II. p. 75. 173. Whately; Logic, p. 323 Quoted in AML. Vol. II. p. 75. 174. L. III. xx. *3. 175. AML. Vol II. p. 79. 176. AMIL. p. 250. 177. Logic. Pt. I. p. 2-3, Pt. II. p. 7-10. 178. AMIL. p. 215-16. 179. Principles of Mathematics, p. 33. 180. तै० उ० २।२।१; कठ० उ० ३।१०-११, ६।७-८; छा० उ० ६।३।३-४, ऐ० उ० १।१।४; श्रीमद्भगवद्गीता २।६२-६३, ३।१४-१५, ३।४२-४३। 181. PSAH. Ch. VII. 182. General Logic. p. 496. 183. DL. p. 68; SL. p. 357. 184. SL. p. 358. 185. SEFL. p. 264; AML. Vol. I. p. 306, AMIL. p. 85; AIL p. 257-58; AILS. p. 82. 186. AILS. p. 82; SEFL. p. 264. 187. SEFL.

p. 204; AILS. p. 82-83; AML. Vol. I. p. 315; AMIL. p. 85. 188. AILS. p. 83. 189. SEFL. p. 268-69. 190. DL. p. 72-73. 191. Quoted in SEFL. p. 256. 192. Ibid. p. 256-57. 193. AML. Vol. I. p. 308-10. 194. SEFL. p. 265-68; DL. p. 357-58. 195. AML Vol. I. 302-10; AMIL. p. 90-92; AILS. p. 84 87. 196. AML. Vol. I. p. 322-324; AMIL. p. 91-92. 197. SH. p. 58. 198. Quoted in AML. Vol. I. p. 314-15. 199. SEFL. p. 270-72; AML. Vol. I. p. 312-15; AMIL. p. 97-98. 200. AMIL. p. 92. 201. SEFL. p. 201. 202. AMIL. p. 92. 203. SEFL. p. 274. 204. AML. Vol. I. p. 355-358; AILS. p. 87-88. 205, SEFL. p. 274. 206. AML. Vol. I. p. 358. 207. SEFL. p. 274-75; AML. Vol. I. p. 126. 208. SEFL. p. 353. 209. AML. Vol. I. p. 358-59. 210. AML. Vol. I. p. 128. 211. SEFL. p. 304. 212. Ibid. p. 312-15. 213. Indian Theory excludes Particular propositions from the domain of Logic altogether. Logic is the province of universal and necessary propositions." BL. Vol. I. p. 303. 214. FL. p. 114-15. 215. SL. p. 227. 216. AIL. p. 13. 217. FL. p. 132-33. 218. AML. Vol. I. p. 30-31; AMIL. p. 471; AILS. p. 185-87. 219. SL. p. 228. 220. AML. Vol. I. p. 30. 221. Examination of Sir Hamilton's Philosophy, 3rd Ed. p. 430-480 Quoted in SL. p. 231. 222. BL. Vol. I. p. 416. 223. नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः । श्रीमद्भगवद्गीता २।१६ । 224. ना सदुत्पद्यते न सद्विनस्यति वही । 225. परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थिति । नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोघतः।। ३।८। 226. PSAH. p. 245. 227. p. 20. 228. AML. Vol. II. p. 227-28. 229. Ibid. p. 228. 230. SL. p. 475. 231. Ibid. 231. Ibid. 233. AML. Vol. II. p. 232-33. 234. Ibid. p. 234-35. 235. Ibid. p. 235-36. 236. L. BK. II. Ch. III. *2. 237. AML. Vol. I. p. 405. 238. Ibid. p. 406. 239. L. BK. II. Ch. III. *2. 240. AML. Vol. I. p, 406-7. 241. Ibid. p. 406-7. 242. Ibid. p. 408. 243. AILS. p. 174-176. 244. AML. Vol. I. p. 408-9. 245. शा० दी० पृ० १७१-७८. 246. HIL. p. 500. 247. JAOS. 1911 Prof. Jacobi's article: Dates of Philosophical Sūtras of the Brāhmaṇas p. 29. 248. BL. Vol. I. p. 26-27. 249. HIL. p. 17-21; Sacred Books of the Hindūs Vol. VIII The Nyāya Sūtras of Gautam, Introduction p. XI-XIII. 250. JRASB. 1905 p. 177-80. 251. ILA. p. 19-25. 252. ILES. Introduction p. 16-17. 253. Gautam's Nyāya Sūtras, Introduction. p. V-XVII. 254. A History of Indian Philosophy, Vol. I. p. 277. 255. Indian Philosophy, Vol. II. p. 36-38. 256. तं० सं० भूमिका पृ० २०-२४. 257. History of Indian Philosophy, Vol. I. p. 450-51. 258. त० भा० भूमिका पृ० १९-२४. 259. तर्कशास्त्र, भाग ३ पृ० १८७-२०४. 260. वेदवाणी 'वेदांक' नवम्बर-दिसम्बर १९५६ में लिखा गया लेख: 'न्यायशास्त्र का ऐतिहासिक अनुशीलन' । 261. न्यायदर्शनम् भूमिका पृ० ४-७ । 262. HIL. p. 49. 263. SL. p. 20. 264. BIL. p. 497-99. 265. ILA. p. 18. 266. तर्कशास्त्र, भाग ३ पृ० १८७-२०३ । 267. वही पृ० १९७ । 268. Sacred

Books of the Hindūs. Vol. III- The Nyāya Sūtras of Gautam, Introduction p. XI. 269. त० भा० भूमिका पृ० २५। 270. Pāṇini, p. 116 Quoted in त० भा० भूमिका पृ० २८। 271. पा० सू० ३।३।१२२, ३।३।३७। 272. वही ४।२।६०। 273. HIL. p. 43, 498. 274. HIL. Foot note 1. p. 500. 275. तर्कशास्त्र, भाग ३ पृ० १९८-९९। 276. A History of Indian Philosophy, Vol. I. p. 275. 277. Indian Philosophy, Vol. II. p. 84-86. 278. History of Indian Philosophy, Vol. I. p. 488-89. 279. The Philosophy of Universal Flux, p. 364-65. 280. The Six ways of knowing, p. 212. 281. Out lines of Indian Philpsophy, p. 255-57. 282. तर्कशास्त्र, भाग ३ पृ० २०३-४। 283. त० भा० भूमिका पृ० २७-२८। 284. See articles of A Church, A Brief Bilibography of symbolic Logic,' Proceedings of the American Academy of Arts and Science, Vol. 80. No. 2. 1952. and 'A Bibliography of Formal Logic,' JSL., Vol. I and III 1937-39. 285. POM. Second Edition, Introduclion, pp. V-VII. 286. ESL. p. 23. 287. POM. p. 33. 288. Ibid. Foot note p. 11. 289. Ibid. p. 33; PM. Vol. I. 290. SYL. p. 16-18; ESL. 29-21. 291. C. I. Lewis, 'A Survey of Symbolic Logic'; C. I. Lewis and C. H. Langford, 'Symbolic Logic'; C. I. Lewis, 'Implication and the Algebra of Logic,' Mind. N. S. Vol. ZI. pp. 522-31, 1912; A new Algebra of Strict Implication,' Ibid. Vol. 23, pp. 214-47, 1914; 'The Matrix Algebra for Implication,' JOP. Vol. 11. pp. 589-600, 1914 and 'Strict Implication—An emendation,' Ibid. Vol. 17 pp. 300-302, 1920. See also, A. N. Prior, 'The theory of Implication, ZML. Vol. 9. pp. 1-6, 1963; J. L. Pollock, The Paradox of Strict Implication,' LA. No. 34. Vol. 9. pp. 180-196, 1966. 292. SYL pp. 26-30. 293. (i) PM. Three Vols.; POM; Introduction to Mathematical Philosophy, A. N. Whitehead, Introduction to mathematics: Science and Modern World. (ii) Principles of Mathematical Logic. (iii) Aristotle's Syllogisic; On variable functors of Propositional arguments; Proceedings of the Royal Irish Academy; Vol. 54. pp. 25-35, 1951; A. W. Burks and others, 'Truth-Function Evaluation using the Polish Notations'; A. N. Prior 'Formal Logic'. (iv) Introduction to Mathematical Logic. (v) C.S. Peirce's Collectied Papers Vol. IV; H. M. Sheffer's article in Transactions of American Mathematical society Vol. XIV pp. 481-88, 1913. (vi) J. G. P. Nicod, 'A Reduction in the Number of the Primitive Propositions of Logic,' Proceedings of the Cambridge Philosophical Society Vol. 19 pp. 32-40, 1916. 294. SYL. p. 66; ESL. p. 80-81. 295. SYL. p. 67-68; ESL p. 81-82. 296. PMI. 14-5; POM p. 13, 38-39; LFM. p. 87-91; AILP. p. 84-90, 192-201, ESL 81-96; SYL. p. 66-74. 297. POM, p. 87-94; ESL. p. 87-91; FM, 87-88; PMI. p. 17-21, 127-28. 298. AILP p. 196; SYL p. 70-71; ESL. 91-96. 299. AILP. p. 177-186; ESL p. 206-208. 300. SYL. p. 120-121; AMIL p. 167. 301. Ibid. 302. SYL p. 124-25. 303. POM p, 24,

97; AMIL. p. 168; IMP Chap. III-IV. PM. Vol. I. p. 242-43; 247-48; ESL. p. 115. LFM. p. 297. 304. AMIL. pp. 168-69; SYL, 141-44, AILP. p. 158-59; POM. 218-19, IMP. Chap. III IV-IX. 305. PM. Vol. I. pp. 418-19, 426-28, 441-44; LFM Chap. XI. AMIL. p. 169-70, POM. 114, 246; 113. 130. 306. AIML. p. 154-58, 160-62; POM. 21, 129-36, 67, 308, SYL. p. 319-20. ESL. 192-93, PM. Vol. I. 302-304, 187, 23. 307. PMI. p. 205; POM. p. 78-80; LFM. p. 197, 226-27., AIML p. 156-57., 163-64., 166-67., ESL. p. 198-99. 308. PMI. p. 205., POM p. 77-78., LFM p. 234-38; AIML p. 164-67 166-67; ESL. p. 192-94. 309. PM. I. 216-17, 228-29; POM. 70-73, LFM 249-51; AIML p. 165-66; SYL. p. 323-25, 326-27; LFM. p. 226-27. 310. PMI. p. 205-212; POM. p. 19-20, 74-75; LFM. p. 197-209, AIM. p. 167-68; ESL. p. 192-197. 311. PM. I. p. 205-6; LFM. 207-10, MIL. p. 183-84. 312. AIM p. 156, 166-67. 313. SYL. p. 323-26; AIM. 166-67. 314. AIM. p. 167-168. 315. L. W. L. Wittgenstein, 'Tractatus Logico-philosophicus;' E. L. Post's article, 'Introcduction to a General Theory of Elementary Propositions'—American Journal of Mathematics Vol. 43. pp. 163-185, 1921; PM. Vol. I. p. 6-8; C. S. Peirce Collected Papers; W. V. Quine, Methods of Logic; SYL p. 12-30. AIM. p. 109-34, 201.18, Lewis 'A Survey of Symbolic Logic. For multi valued Truth Tables see. C. I. Lewis—A Survey of Symbolic Logic; G. H. Von wright, An Essry in Modal Logic; A. N. Prior 'Formal Logic'; J. Lukasiewicz, O Logice trojwartoocieoswej, Ruch Filozoficzny (Lwow) Vol. 5 pp. 169-171, 1920. Aristotle's Syllogistic; ESL p. 27-28, 35, 125-28: SYL. 316. SYL. p. 42-43, 240, 241, 58, 225, AIML p. 229-246. PM. I. p. 96. LFM. p. 55, 61. ESL. p. 38-39, 134-35; EFL. p. 21-22, 24-42, PML. p. 3-11; EML. p. 21-25. 317. Gerhard Gentzen, Untersuchungen über das Logische Schliessen' Mathematische Zeitschrift. 39 pp. 176-210, 405-31, 1934; SYL. p. 75-108; AIL. p. 246-270. ३१७।अ "षण्णामपि पदार्थं नामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि" प्र० भा० पृ० ४१ । ३१८. शा० दी० पृ० ७२-७३ । ३१९. NDN. p. 148. ३२०. वैशेषिक तथा भाट्ट दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों ने अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना है। इसी प्रकार भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्तपरिभाषाकार अभाव को पृथक् प्रमाण स्वीकार करते हैं। अन्य दार्शनिकों में बौद्ध, चार्वाक, जयराशि भट्ट तथा वेदान्ती श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य इसे अप्रमाण तथा न्याय वैशेषिक सांख्य, योग, प्राभाकर मीमांसकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार मान्य प्रमाणों में इसका अन्तर्भाव किया है। इस विवेचन की विशद व्याख्या के लिये देखिये सप्तम अध्याय का 'अनुमान और अनुपलब्धि' प्रकरण। ३२१. अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः । प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥१२॥ अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता का भावत्वम्। विनाशभावत्वं प्रागभावत्त्वम् । जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् । सि० मु० १. पृ० ७२-७३; यद्यपि महर्षि कणाद ने पदार्थ-निर्देश सूत्र में केवल छः भाव पदार्थों का उल्लेख किया है किन्तु नवम अध्याय की व्याख्या में उन्होंने चारों प्रकार के अभावों की व्याख्या की है।

वै० सू० १।१।४; ९।१।१-१०; भाष्यकार प्रशस्तपाद ने सूत्रों का ही अनुसरण किया है। किन्तु भाष्य-टीकाओं–किरणावली, न्यायकन्दली आदि में चार अभावों का विवेचन प्राप्त होता है। बाद के सभी ग्रन्थों में अभाव को स्वीकार किया गया है।

कि० व० पृ० ६; न्या० क० पृ० ५५६-५८; उ० ९।१।१-१० तर; स० प० पृ० १०-१३; त० सं० पृ० २६ : त० भा० पृ० २२१-२२।

भाट्टमीमांसक और वेदान्त परिभाषाकार ने भी इन चार अभावों की व्याख्या की है।

श० भा० पृ० ११८; श्लोक वार्तिक एवं शास्त्रदीपिका-अभाव प्रकरण; वेदान्त-परिभाषा अभाव प्रमाण-प्रकरण।

"संसृज्यते—एकं वस्तु अन्यवस्तुना आश्रीयते येन असौ संसर्गः": अर्थात् जिसके द्वारा एक वस्तु अन्य वस्तु की आश्रय होती है उसको संसर्ग कहते हैं। जिस अभाव में संसर्ग का निषेध होता है उसे संसर्गाभाव कहा जाता है। उत्पत्ति पूर्व तथा उत्पत्ति के पश्चात् कारण में कार्य के अभाव को प्राक्भाव तथा प्रध्वंसाभाव एवं संसर्ग के त्रैकालिक अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं इस तरह संसर्ग की विशेष स्थितियों के कारण संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है। नव्य न्याय में कारण को अनुयोगी तथा कार्य को प्रतियोगी के रूप में व्यवस्थापित किया गया है जो आश्रय और आधेय भी कहलाते हैं। सम्बन्ध व्याख्या में इन पर विशेष प्रकाश डाला गया है। तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा जिस अभाव की प्रतियोगिता अवच्छिन्न होती है उसके आश्रयीभूत वस्तु का अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। अथवा जो अभाव जिस अनुयोगी में रहता है, यदि उस अनुयोगी का अभाव भी प्रथम अभाव के प्रतियोगी में रहता हो तो वह अभाव अन्योन्याभाव है। संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव में अन्तर यह है कि प्रथम में प्रतियोगी और अनुयोगी के अभिज्ञापक वाक्य प्रथमान्त तथा सप्तम्यन्त होते हैं जबकि दूसरे में दोनों प्रथमान्त होते हैं। जैसे 'घर में कुर्सी नहीं है', 'कुर्सी टेबल नहीं है' आदि।

३२२. अप्राधान्यं विधर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता, प्रसज्य-प्रतिषेधोऽसौ क्रियाया सह यत्र नञ्। प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता, पर्युदास स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।

Quoted in B. K. Matilal : The Navya Nyāya Doctrine of Negation'. p. 157; मीमांसा सूत्र १०।८।४ पर शाबर भाष्य; जैमिनीय न्याय माला पृ० ६००; मीमांसा न्याय प्रकाश पृ० ३४५-६३; पाणिनि सूत्र २।२।६; नञ्वाद पृ० १९०-९१। ३२३. न्या० सू० १।१।३७; प० मु० १।१; न्या० वि० का० १७२। ३२४. For different Modal Symbols see Hughes & Cresswell; 'Introduction to Modal Logic' Appendix 4 pp. 347-49. ३२५. न्या० सू० १।१।२३। ३२६. MNL. p. 63. ३२७. वाचस्पत्यम्–शब्द–'अन्यतर' एवं 'अन्यतम': भेदद्वयावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवत् अन्यतरत्वम्। भेद कूटावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवत् अन्यतमत्वम्। ३२८. सा० त० कौ० का० ५ पृ० ३०-३१। ३२९. न्या० सू० १।१।१३। ३३०. न्या० सू० १।१।४०; सि० मु० का० १३७; त० सं० पृ० १७५; त० पृ० २१ त० भा० पृ० २४२-४३। ३३१. प्रमाण संग्रह का० १२; अकलंक ग्रन्थत्रयम् पृ० १००, ७४; न्या० वि० का० ३२९-३१; त० श्लो० वा० १।१३।८४-११९; प० मु० ३।११-१९ प्र० र० मा० पृ० ५७-६२; प्र० मी० १।२।६ तथा व्याख्या। ३३२. जागदीशी तर्क;

स० द० सं० पृ० ४६७; Inductive Reassing Chap. Kinds of Reasoning in Old Nyāya; हरिमोहन झा: भारतीय दर्शन (न्यायदर्शन) तर्क अध्याय; डा० शान्तिप्रकाश आत्रेय : भारतीय तर्कशास्त्र पृ० १८८-९० । ३३३. स० द० सं० तर्क पर अभ्यंकर टीका । ३३४. पीछे देखिये अध्याय ३ पृ० ३५९-६२; न्या० वि० २।२८-३५ एवं टीका श्लो० वा० श्लो० १२१-२३ । ३३५. त० पृ० २५ । ३३६. परिष्कार दर्पण पृ० १५; Cowell : Introducltion to Nyāya Kusmāñjali p. 26. ३३७. परिष्कार दर्पण पृ० १३; शक्तिवाद, गादाधरी पृ० ४१ । ३३८. न्या० सू० २।२।६३ । ३३९. NSL. pp. 25-28. ३४०. Ibid p. 31-40; 40-43; See also NDN p. 33-34; 71-81. ३४१. NDN. p. 71-73. ३४२. NSL. p. 34-36. ३४३. सिद्धान्तलक्षण जागदीशी पृ० २५६ । ३४४. पृ० १२२ । ३४५. ज्ञान लक्षणाविचार रहस्य पृ० ३ । ३४६. व्युत्पत्तिवाद पृ० ६३-६४ । ३४७. वै० सू० ७।२।९; प्र० भा० पृ० ३३५, ३४७-५४; त० भा० पृ० २०१ सि० मु० का० ११५-१७; त० सं० पृ० ५९ एवं दीपिका पृ० ५०-६० । ३४८. वै० सू० ७।२।२६; प्र. भा० पृ० ७७३-७५ त० भा० पृ० २२०; सि० मु० का० ११; त० सं० पृ० १८४ । ३४९. अवच्छेदकत्वनिरुक्ति पृ० १-३; NSL p. 25-26; NDN p. 43-44. ३५०. भारतीय सम्बन्धों के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये मेरा लेख "न्याय-वैशेषिक तर्कशास्त्र में सम्बन्ध चर्चा" जो राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, द्वारा आयोजित अखिल भारतीय दर्शन संगोष्ठि में पढ़ा गया था। ३५१. वै० सू० २।१।३ । ३५२. प्र० भा० पृ० ७४१; न्या० क० पृ० ७४१-४२ । ३५३. न्या० सू० २।२।६८, ६५; न्या० भा० पृ० २९२, २८९-९० । ३५४. प्र० भा० पृ० २९-३०, ७४१-४५; न्या० कं० पृ० ७४१-४७; उ० १।२।५ पर, १।२।१७-१८ पर; सि० मु० का ८-९, पृ० ५८-६२ त० भा० पृ० २१३-१८; त० सं० पृ० १८३ ता० र० पृ० १५७-६०, स० प० पृ० ११-१२ । ३५५. त० पृ० २४ । ३५६. कि० पृ० ३३ सि० मु० पृ० ६०-६१ । ३५७. न्याय कोष : पर्याप्ति शब्द; MNL. p. 77-78. ३५८. MNL. p. 64. ३५९. MIL. p. 61-64. ३६०. Ibid Appendix 6 p. 198-201. ३६१. NDN. p. 79.

सहायक ग्रन्थ, पत्र एवं पत्रिकाएं

अकलङ्कग्रन्थत्रयम् — 'लघीस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय' तथा 'प्रमाणसंग्रह' सहित । सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता सन् १९३९ ।

अथर्ववेद — स्वाध्याय मण्डल, पारडी ।

अद्वैतसिद्धि — निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई सन् १९१७ ।

अनुयोगद्वारसूत्र — आगमोदय समिति, सूरत ।

अभिधान चिन्तामणि — जैन धर्म प्रसारक, भावनगर ।

अमरकोष — नि० मु०, बम्बई सन् १९२९ ।

अष्टादश उपनिषद: — ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकी, मैत्रायणी आदि उपनिषद् सहित । वैदिक संशोधन मण्डल, पूना सन् १९५८ ।

अष्टादश स्मृतय: — पाराशर स्मृति आदि सहित । श्री वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई संवत् १९५१ ।

आत्मतत्त्वविवेक — बिबलोथिका इण्डिका, कलकत्ता, सन् १९३९ ।

आप्तमीमांसा — अष्टशती तथा अष्टसहस्री टीका सहित । भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, काशी सन् १९१४ ।

उत्तराध्ययनसूत्र — आ० स०, सूरत ।

एक सौ आठ उपनिषदें — ३ भाग. अन्नपूर्णा तथा अध्यात्म उपनिषद् आदि सहित । संस्कृति संस्थान, बरेली सन् १९६१ ।

ऐतरेय ब्राह्मण — आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना सन् १९३० ।

ऋग्वेद — सायणभाष्य सहित । वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना सन् १९४६ ।

कामन्दकीय नीतिसार — श्री वें० छापाखाना, बम्बई संवत् २००९ ।

किरणावली — प्रशस्तपाद भाष्य सहित । चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी सन् १९१९ ।

केवलान्वयिप्रकरणम् — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी संवत् २०१२ ।

कोटलीयम् अर्थशास्त्रम् — राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम सन् १९२४ ।

खण्डनखण्डखाद्य — अच्युत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १. वाराणसी संवत् २०१८ ।

गादाधरी — तत्त्वचिन्तामणि तथा दीधिति टीका सहित । चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी सन् १९१७ ।

गोपथ ब्राह्मणम्	— नारायण मुद्रणालय, कलकत्ता सन् १८९१ ।
चरक संहिता	— चक्रपाणि टीका सहित । नि० मु०, बम्बई सन् १९३५
चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय परीक्षा	— डा० सर्वानन्द पाठक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी सन् १९६५ ।
जागदीशी	— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।
जागदीशी व्यधिकरणम्	— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी सन् १९३१ ।
जैन तर्कभाषा	— सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद ।
जैन तर्कवार्तिक	— ....
जैन दर्शन	— डा० महेन्द्रकुमार जैन, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी सन् १९५५ ।
जैमिनियं ब्राह्मणम्	— सरस्वती विहार, नागपुर सन् १९५४
तर्ककौमुदी	— नि० मु०, बम्बई ।
तर्कप्रकरणम्	— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।
तर्कभाषा	— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी सन् १९५३ ।
तर्कशास्त्र	— ३ भाग, गुलाबराय, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग सन् १९२९ ।
तर्कसंग्रह	— दीपिका तथा न्याय बोधिनी टीका सहित । भंडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मंदिर, पूना सन् १९३० ।
	— भास्करोदय तथा नीलकंठी टीका सहित । नि० मु०, बम्बई सन् १९२६ ।
	— पदकृत्य टीका सहित । श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवनम्, बनारस सन् १९५५ ।
तत्त्वचिन्तामणिरहस्य	— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।
	— बि० इं० कलकत्ता ।
तत्त्वप्रदीपिका	— उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी सन् १९५६ ।
तत्त्वसंग्रह	— २ भाग, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका सहित । गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज, बड़ोदा सन् १९२६ ।
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक)	— २ भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन् १९५३-५७ ।
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	— नाथारंग गांधी, बम्बई ।
तत्त्वार्थसूत्र	— जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस सन् १९५२ ।
तत्त्वोपप्लवसिंह	— गा० ओ० सी०, बड़ोदा सन् १९४० ।
तत्त्वसिद्धान्तरत्नावली	— काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, काशी सन् १९४४
तार्किकरक्षा	— बनारस संस्करण सन् १९०३ ।
तैत्तिरीय आरण्यक	— आ० मु०, पूना सन् १९२७ ।
दशवैकालिकसूत्र	— हरिभद्रवृत्ति सहित । आ० स०, सूरत ।

धर्मोत्तरप्रदीप — न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दु टीका सहित । काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना सन् १९५५ ।

नन्दीसूत्र — आ० स०, सूरत ।

नालन्दा विशाल शब्द सागर — न्यू इम्पीरियल बुक डीपो, नई सड़क, देहली संवत् २००७ ।

न्यायकलिका — गवर्नमेण्ट संस्कृत लायब्रेरी, बनारस सन् १९२५ ।

न्यायकुमुदचन्द्र — २ भाग. माणकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।

न्यायकुसुमाञ्जलि — बोधिनी, प्रकाश आदि टीका सहित । चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९५७ ।

— हरिदासवृत्ति सहित चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९६२

न्यायकोष — नि० मु०, बम्बई सन् १९२८ ।

न्यायदर्शन — २ भाग. न्यायसूत्र, न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, एवं न्यायसूत्रवृत्ति सहित । कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १८, कलकत्ता १९३६ ।

— भाष्यचन्द्र, खद्योत आदि टीका सहित । चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९२५ ।

न्यायदीपिका — वीर सेवा मन्दिर, सहारनपुर सन् १९४५ ।

न्यायप्रकाश — स्वामी चिद्घनानन्द श्री वे० छा०, बम्बई सन् १९३४

न्यायप्रवेश — २ भाग. न्यायप्रवेशवृत्ति तथा न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका सहित । गा० ओ० सी०, बड़ोदा ।

न्यायमञ्जरी — २ भाग. चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९३६ ।

न्यायरत्नमाला — गा० ओ० सी०, बड़ोदा ।

न्यायलीलावती — प्रकाश आदि टीका सहित । चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९३४ ।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि— बि० इं०, कलकत्ता सन् १९११ ।

न्यायविनिश्चयविवरण — भाग २ भा० ज्ञा०, काशी सन् १९४९-५४

न्यायसार — पदपञ्चिका टीका सहित । रा० मु०, त्रिवेन्द्रम सन् १९३१

न्यायसिद्धान्तमञ्जरी — अमर यन्त्रालय, रामापुरा, काशी संवत् १९४१

न्यायार्यभाष्य — पं० आर्यमुनि
ऐंग्लो संस्कृत यंत्रालय, लाहोर

न्यायावतार — सिद्धर्षिगणि टीका सहित ।
श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बंबई सन् १९५०

न्यायावतारवार्तिकवृत्ति — न्यायावतार, न्यायावतारवार्तिक सहित ।
सिं० जै० ग्र०, अहमदाबाद सन् १९४९

पद्मपुराण — आ० मु०, पूना सन् १८९३

पक्षताप्रकरणम् — चौ० प्र०, वाराणसी संवत् १९९२

पातञ्जल महाभाष्य — पाणिनि सूत्र आदि सहित ।
नि० मु०, बंबई सन् १९५१

पातञ्जल योगदर्शन — योगभाष्य तथा तत्त्ववैशारदी टीका सहित ।
भारतीय विद्या प्रकाशन, २२।३९ पंचगंगाघाट, वाराणसी सन् १९६३
— भोजवृत्ति आदि सहित ।
— फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर सन् १९३२

प्रकरणपञ्चिका — का० हि० वि० मु०, काशी सन् १९६१

प्रमाणनयतत्त्वालोक — श्री विजय धर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन संवत् १९८९
— रत्नाकरावतारिका टीका सहित ।
नि० मु०, बंबई संवत् १९६६
— स्यादवाद् रत्नाकर टीका सहित ।
आर्हतमतप्रभाकर, पूना

प्रमाणपरीक्षा — भा० जै० सि० प्र० सं०, काशी सन् १९१४

प्रमाणमीमांसा — स्वोपज्ञवृत्ति तथा भाषा टिप्पण सहित ।
सिं० जै० ग्र०, अहमदाबाद सन् १९३९

प्रमाणवार्तिक — स्ववृत्ति तथा कर्णकगोमि टीका सहित ।
किताबमहल, इलाहाबाद सन् १९४३
— मनोरथनन्दी वृत्ति सहित ।
का० जा० अ० सं०, पटना

प्रमाणवार्तिकभाष्यम् — का० जा० अ० सं० पटना, सन् १९५३

प्रमाणसमुच्चय — प्रमाणसमुच्चयवृत्ति सहित ।
मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर

प्रमेयकमलमार्तण्ड — नि० मु०, बंबई सन् १९४१

प्रशस्तपादभाष्यम् — न्यायकन्दली टीका सहित ।
निदेशक, अनुसंधान संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी सन् १९६३

प्रामाण्यवाद — वामाचरण भट्टाचार्य टीका सहित ।
चौ० प्र०, वाराणसी

बीस स्मृतियाँ — संस्कृति संस्थान, बरेली सन् १९६६

बृहती — ऋजुविमला टीका सहित ।
चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९२९

ब्रह्मसूत्र — ४ भाग, अ० ग्र०, काशी संवत् १९९३

ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् — निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

बौद्धतर्कभाषा — गा० ओ० सी०, बड़ोदा ।

बौद्धदर्शन — स्व० महापण्डित राहुल सांकृत्यायन कि० म०, इलाहाबाद सन् १९६२ ।
— पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, २९।२७ गणेश दीक्षित लेन, बनारस सन् १९४६ ।

बौद्धधर्म दर्शन —आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना सन् १९५६ ।

भगवतीसूत्र — आ० स०, सूरत ।

भारतवर्ष का इतिहास — ३ भाग. आचार्य रामदेव, गुरुकुल विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

भारतीय तर्कशास्त्र — डा० शान्तिप्रकाश आत्रेय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी सन् १९६१ ।

भारतीय दर्शन — डा० उमेश मिश्र, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ सन् १९५७ ।
— डा० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा डा० धीरेन्द्रमोहनदत्त । पुस्तक भंडार, पटना सन् १९६१ ।
— पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, २९।१७ गणेश दीक्षित लेन, बनारस सन् १९४५ ।

भारतीय दर्शन परिचय — २ भाग. प्रो० हरिमोहन झा लहेरिया सराय, पटना ।

भारतीय दर्शन शास्त्र (न्याय-वैशेषिक) — डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी सन् १९५३ ।

मत्स्यपुराण — श्री वें० छा०, बम्बई सन् १८९५ ।

मनुस्मृति — चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९५२ ।

महाभारत — बङ्गवासी संस्करण कलकत्ता ।

माध्यमिककारिका — बिबलोथिका बुद्धिका, रशिया

मानमेयोदय — थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार मद्रास सन् १९३३ ।

मीमांसाकोष — चार भाग. प्राज्ञ पाठशाला मण्डल ग्रन्थमाला, वाई जि० सतारा सन् १९५६ ।

मीमांसादर्शनम् — मीमांसासूत्र तथा शाबर भाष्य सहित । आ० मु०, पूना सन् १९२९ ।

यजुर्वेद — आ० मु०, पूना सन् १९०० ।

याज्ञवल्क्यस्मृति — आ० मु०, पूना सन् १९०३ ।

राजप्रश्नीयसूत्र	— आ० स०, सूरत ।
वाक्यपदीयम्	— चौ० प्र०, वाराणसी ।
वाचस्पत्यम्	— चौ० प्र०, वाराणसी ।
वादन्याय	— वादन्याय टीका सहित महाबोधि सोसायटी, सारनाथ
वाल्मीकि रामायण	— मेलापुर, मद्रास सन् १९५८ ।
विशेषावश्यक भाष्य	— यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी ।
विष्णुपुराण	— गीता प्रेस, गोरखपुर ।
वेदवाणी	— (वेदांङ्क) अजमतगढ़ पेलेस, मोतीझील, वाराणसी ।
वेदान्त परिभाषा	— शिखामणि तथा मणिप्रभा टीका सहित । श्री वें० छा०, बम्बई संवत् १९८५ ।
	— अर्थदीपिका टीका सहित । श्री वें० छा०, बम्बई संवत् १९६९ ।
वैशेषिक दर्शनम्	— वैशेषिकसूत्र तथा उपस्कार टीका सहित । चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९३३ ।
वैशेषिककार्यभाष्य	— पं० आर्यमुनि एं० सं० यं०, लाहोर सन् १९०७ ।
व्याप्तिपञ्चक	— माथुरी टीका सहित । ज्योतिषप्रकाश प्रेस, बनारस सन् १९३५ ।
व्योमवती	— चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९२८ ।
शास्त्रदीपिका	— चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९१३ ।
श्लोकवार्तिक	— तात्पर्यटीका सहित । मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास सन् १९४० ।
	— काशिका टीका सहित रा०मु०, त्रिवेन्द्रम सन् १९४३ ।
	— न्यायरत्नाकर टीका सहित । चौ० प्र०, वाराणसी ।
श्रीमद्भगवद्गीता	— स्वा० मं०, पारडी सन् १९६१ ।
षड्दर्शन समुच्चय	— मणिभद्र टीका सहित । चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९२९
षट्खण्डागम	— ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन सन् १९६५ ।
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	— रामनारायण बेनीप्रसाद, प्रयाग सन् १९५७ ।
सन्मतिप्रकरणटीका	— सन्मतिप्रकरण सहित गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
सप्तपदार्थी	— महादेव केशव काले, गिरगाँव, बम्बई सन् १९१९ ।
सर्वदर्शनसंग्रह	— अभ्यंकर टीका सहित । म० प्रा० वि० सं० मं०, पूना सन् १९५१ ।
सामान्यनिरुक्ति	— गङ्गाटीका सहित चौ० प्र०, वाराणसी ।
सामान्यलक्षणा	— चौ० प्र०, वाराणसी
सांख्यकारिका	— माठरवृत्ति सहित । चौ० प्र०, वाराणसी ।
	— गौडपादभाष्य सहित । चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९६३

सांख्यतत्त्वकौमुदी	— प्रभाटीका सहित । सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद सन् १९६२ ।
सांख्य दर्शन का इतिहास	— पं० उदयवीर शास्त्री विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर सहारनपुर सन् १९५० ।
सांख्यप्रवचनभाष्य	— चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९२८ ।
सांख्यसूत्रम्	— अनिरूद्ध वृत्ति तथा प्रमथनाथ तर्कभूषण टीका सहित। पं० आशुतोष विद्याभूषण तथा पं० नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता सन् १९३५ ।
सिद्धान्तमुक्तावली	— कारिकावली तथा दिनकरी एवं रामरुद्री टीका सहित। चौ० प्र०, वाराणसी सन् १९५१ ।
	— विलासिनी टीका सहित । सरजूदेवी, १८५ गणेश महाल, वाराणसी सन् १९५८ ।
सिद्धिविनिश्चयटीका	— २ भाग. भा० ज्ञा०, काशी ।
सुबाल उपनिषद्	— निर्णयसागर प्रेस बम्बई ।
सूत्रकृतांगसूत्र	— आ० स०, सूरत ।
स्थानांगसूत्र	— आ० स०, सूरत ।
स्वयंभूस्तोत्र	— प्रथमगुच्छकान्तर्गत, काशी ।
स्याद्वादमंजरी	— श्री प० प्र० मं० बम्बई सन् १९३५ ।
स्याद्वादसिद्धि	— मा० जै० ग्र०, बम्बई सन् १९५० ।
हेतुबिन्दुटीका	— हेतुबिन्दु तथा आलोक टीका सहित । गा० ओ० सी०, बड़ोदा सन् १९४९ ।

ENGLISH BOOKS : Proceedings, Transactions and Journals

ALEXANDER, P.—'An Introduction to Logic.' Methuen & Co. Ltd. London 1968.

AMBROSE, A & LAZEROWITZ, M.—'Fundamentals of Symbolic Logic.' Rinehart & Co. New york 1950.

ANDERSON, J. M. & JOHNSTONE, H. W.—'Natural Deduction.' Wadsworth Publishing Co. Inc. Belmount, California 1962.

ĀPDEVA—'Mimānsā Nyāya-Prakāsh,' Ed. & Tr. by Franklin Edgerton Yale University Press, New Haven, 1929.

ĀPTE, V. S.—'The Practical Sanskṛit English Dictionary.' Motilal Banarasidas, Varanasi, 1965.

ĀTREYA, B. L.—'The Elements of Indian Logic.' Nalanda Publication, Dhannaur, Sir. Phirozeshah Mehta Road, Bombay 1948.

BACON, F.—'Novum Organan,' 1920.

BAGCHI, S. S.—'Inductive Reasoning,' Shree Munishchandra, 29 Amherst Street, Calcutta, 9.

BALDWIN, J. M.—'Dictionary of Philosophy and Psychology,' Macmillan & Co. London, 1925.

BARLINGAY, S. S.—'A Modern Introduction to Indian Logic,' National Publishing House, Delhi, 1965.

BENNET, A. A. & BAYLIS, C. A.—'Formal Logic.' Prentice Hall, New York, 1950.

BERNARD, T.—'Hindu Philosophy.' Philosophical Inc. Library, New York, 1947.

BERNSTEIN, B. A.—"Remark on Nicod's Reduction of Principia Mathematica." Journal of Symbolic Logic. Vol. 2. pp. 160-66, 1937.

BHATTA, G. P.—'Epistemology of Bhāṭṭa School of Pūrva Mimāmsā" Chowkhamba Publiction, Varanasi, 1962.

BHAṬṬĀCHĀRYA, D. C.—'History of Navya Nyāya in Mithila' Mithila Institute, Darbhnga, 1958.

BHAṬṬACHĀRYA, K. D.—"The Indian Concept of Knowledge and Self." Our Heritage, Vol. 2, 3, 4. 1954-55-56. Calcutta.

BOCHEṄSKI, I. M.—(i) 'A History of Formal Logic.' Ed. & tr. by Ivo Thomas. University of Notre Dame Press, South Bend, 1961. (ii) 'Ancient Formal Logic.' North Holland Publishing Co. Amsterdam. 1951. (iii) 'A Precis of Mathematical Logic.' Ed. & tr. by Otta Bird. D. Reidel,, Dordrecht Holland, 1951.

BOOLE, G.—(i) 'The Mathematical Analysis of Logic.' Macmillan 1847. Reprinted in 1948 (Oxford). (ii) 'Booles 'Collected Logical Works' 3 Vol. Open Court Publishing Co., 1916-20.

BOSANQUET, B.—(i) 'Logic.' 2 Vols. Macmillan & Co., London. 1895. (ii) 'The Essentials of Logic.' Macmillan & Co., London. 1914.

BRADLEY, F. H.—(i) 'Logic.' 2. Vols. Oxford University Press. 1928. (ii) 'Appearance and Reality.' Clarendon Prass, Oxford. 1930.

CARNAP, R. : (i) 'Introduction to Symbolic Logic and its Applications'. Dover Publication, New Yark, 1958, (ii) 'Introduction to Semantics'. Cambridge Mass, 1942. (iii) 'Logical Syntax of Language'. Hart Court Brace, New York, 1937. (iv) 'Formalization of Logic.' Cambridge Mass, 1942.

CHATTERJEE, S. C. : 'The Nyāya Theory of Knowledge.' Calcutta University Press, Calcutta, 1950.

CHURCH, A. : (i) 'Introduction to Mathematical Logic Part I.' Princeton University Press, Princeton M. J. 1956. (ii) "A Brief Bibiliography of Formal Logic". Proceedings of the American Academy of Arts and Science, Vol. 80 No. 2. 1952. (iii) "A Bibiliography of Symbolic Logic." Journal of Symbolic Logic Vol. I-III 1937, 39. (iv) Encyclopaedia Britanica, S. V. "Logic".

COHEN, M. R. & Negal, E. : 'An Introduction to Logic and Scientific Methods.' Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1957.

COOLEY, J. C. : 'A Primer of Formal Logic' Prentice Hall, New York, 1950.

COPI, I. M. : (i) 'Symbolic Logic' Macmillan & Co. London, 1954. (ii) Introduction to Logic Macmillan & Co. London 1954.

COWELL : Introduction to the Nyāya Kusamāñjali of Udayana.

DAS, R. P. : 'Logic of truth Functions & Introduction to Symbolic Logic.' Firma K. L. Mukhopadhayaya, Calcutta, 1964.

DASGUPTA, S. N. : 'A History of Indian Philosophy' Vol. I. Cambridge University Press, Cambridge, 1932.

DATTA, D. M. : 'The Six Ways of Knowing.' George Allen & Unwin, London, 1932.

DE MORGAN : (i) 'Formal Logic.' Open Court Publishing Co., London, 1847. (ii) "On the Syllogisms". Five Papers. Transactions of the Cambridge Philosophical Society, Cambridge, 1846-63. (iii) "On the Logic of Relations." Transactions of the Cambridge Philosophical Society, Vol. IX, Cambridge, 1846-63.

DEVA, R. K. : 'Shabdakalpadruma.' An Encyclopaedic Dictionary of Sanskṛit Terms. Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1961.

DHRUVA, A. B. : (i) Ed. & English tr. of 'Syādvāda Mañjari'. of Malliṣeṇa. (ii) "Trividham Anumānam or A study in Nyāya Sūtrā 1/1/5." Presidential Address, Proceedings of First Oriental Conference, Poona, 1919.

EATON, R. M. : 'General Logic'. Charles scribner's Sons, Newyork, 1931.

Encyclopàedia Americana.

Encyclopaedia Britanica.

Encyclopaedia of Religion and Ethics.

Encyclopaedia of Philosophy

ERDMANN, J. E. : 'History of Philosophy' Vol. I, Macmillan & Co. London, 1893.

FARIS, J. A. : (i) 'Truth Functional Logic'. Routledge and Kegan Paul, London, 1962. (ii) 'Quntification Theory.' Routledge and Kegan Paul, London, 1966.

FEDDEGON : 'The Vaisheṣika System'. Amsterdam, 1918.

FITCH, F. B. : 'Symbolic Logic—An Introduction'. Ronald Press Co., New York, 1952.

FREGE, G. : (i) 'Foundations of Arithmatic' tr. by J. L. Austin, Oxford, 1950. (ii) 'Philosophical Writings of G. Frege'. translated by P. Geach & M. Black, Oxford 1950.

GAUR, J. P. : 'History of Indian Epistemology'. Munshiram Manoharlal, Delhi, 1956.

GENTZEN, G. : (i) "Untersuchungen über das Logische Schliessen". Mathematische Zeitschrift. Vol. 39. pp. 176-210; 405-31. 1934; (ii) "Investigations into Logical Deduction." American Philosophical Quarterly, Vol. I. No. 4.1964, Vol. 2. No. 3. 1965.

GODEL, K. : (i) "Über formal unentcheidbare Sätze der Principia Methematica und verwandter Syateme I". Monatsheft für Mathematik und Physik Vol. 38, pp. 173-198. 1931; (ii) "The Consistancy of the Contininum Hypothesis". Princeton, University Press, Princeton, 1940.

GUHA, D. C. : 'Navya Nyāya System of Logic'. Bhartīya Vidyā Prakashan, Varanasi, 1968.

HILBART, D. & ACKERMANN, W. : (i) 'Principles of Mathematical Logic'. Chelsea Publishing Co. New York, 1950.

HILBART, D. & BERNAYS, P. : (ii) 'Grundlagen der Mathematik'. 2. Vols. Berlin 1934, 39.

HUGHES, G. E. & LONDEY, D. G. : 'The Elements of Formal Logic.' B. I. Publications. Delhi 1967.

HUGHES, G. E. & CRESSWELL, M. J. : 'Introduction to Modal Logic.' Methuen & Co. Ltd. London, 1968.

HUNTINGTON, E. V. : (i) "Sets of Independent Postulates for the Algebra of Logic." Transactions of the American Mathematical Society. Vol. 5. pp. 288-309. 1904; (ii) "Postulates for Assertion, Conjunction, Negation and Equality." Proceedings of the American Academy of Arts and Science, Vol. 72. pp. 1-74. 1937.

INGALLS, D.H.H. : (i) 'Materials for the study of Navya-Nyāya Logic.' Harward University Press, London, 1951. (ii) "The Comparison of Indian and Western Philosophy." Journal of Oriental Research, Vol, 22, pp. 1-11. 1954 (Parts i-iv) (Madras).

International Encyclopaedia of Unified Sciences—Vol. I. No. 3. Chicago, 1939.

JACOBI, H. : "Dates of Philosophical Sūtras of the Brāhmaṇas." Article in Journal of American Oriental Society, 1911.

JASKOWASKI, S. : "On the rules of Suppositions in Formal Logic" Studia Logica No. I, Warsaw, 1934.

JEVONS, W. S. : (i) 'Pure Logic'. London, 1864. (ii) 'Principles of Science'. Macmillan & Co. New York, 1874.

JHA, G. N. : (i) 'Pūrva Mīmāṁsā in its Sources'. Benaras Hindu University, 1942. (ii) 'The Prabhākara School of Prūva Mīmāṁsā.' Indian Thought, Allahabad, 1911. (iii) 'The Nyāya Sūtras of Gautam with Bhāṣya of Vātsyāyana & Vārtika of Udyotkar with notes from Nyāyavārtikatātparya-

tika of Vachaspati Miśra and Tātparyaparishuddhi of Udayanāchārya. 3. Vols. English Translations, Indian Thought, 1812.

JOHNSON, W. E. : 'Logic'. 3 Vols. Cambridge University Press, Cambridge.

'Journal of Asiatic Society'. Calcutta and Bombay.

'Journal of Royal Asiatic Society'. Calcutta, Bombay and Great Britain & Ireland.

JORGENSON, J. : 'A Treatise of Formal Logic'. 3 Vols. London, 1931.

JOSEPH, H. W. B. : 'An Introduction to Logic'. Clarendon Press, Oxford, 1916.

KEITH, A. B. : (i) 'Indian Logic and Atomism'. Clarendon Press, Oxford, 1921. (ii) 'Buddhist Philosopy in India & Ceylon'. Chowkhamba Publication, Varanasi. (iii) "The Authorship of Diññāga." Article in Indian Historical Quarterly. March, 1928.

KEYNES, J. N. : 'Studies and Exercises in Formal Logic'. Macmillan & Co., New York, 1894.

KILLICK, A. H. : Student's Hand Book to Mill's System of Logic'. Longman's Green & Co., London, 1902.

KLEEN, S. C. : 'Introduction to Metamathematics'. Princeton N. J. 1952.

KNEAL W. & M. : 'The Development of Logic. Clarendon Press, Oxford, 1962.

KOLMOGOROV, A. N. : 'Foundations of the Theory of Probability'. New York, 1950.

KRISHNARAO, A. S. : (i) "The Place of Prashastapāda and Diññāga in the Evolution of Vyāpti" and (ii) "Inference in Indian Logic". Articles in Journal of Oriental Research. Madras, January & October, 1927.

LANGER, S. K. : 'An Introduction to Symbolic Logic'. Dover Publication, New York, 1953.

LEWIS, C. I. : (i) 'A Survey of Symbolic Logic'. Berkeley, California. 1918. (ii) "Implication and the Algebra of Logic." and (iii) "A new Algebra of Strict Implication." Articles in Mind N.S. Vol. 12. pp. 522-31 . 1912 & Vol. 23. pp. 214-47. 1914. (iii) "The Matrix Algebra for Implication" and (iv) "Strict Implication—An Emandation Articles" in Journal

of Philosophy Vol. 11. pp. 589-600. 1914 & Vol. 17. pp. 300-310, 1920.

LEWIS, C. I. & LANGFORD, C. H. : 'Symbolic Logic' 2nd Ed. New York, 1918.

LUKASIEWICZ, J. : (i) Aristotle's Syllogistic from the standpoint of Modern Formal Logic'. 2nd Enlarged Ed. Oxford, 1957. (ii) "On variable functors of Propositional Arguments." Proceedings of the Royal Irish Academy Vol. 54 A. 2. pp. 25-35, 1951.

MACE, C. A. : 'The Principles of Logic'. Longman's Green, London, 1933.

MATILAL, B. K. : (i) 'The Navya-Nyāya Doctrine of Negation.' Harvard University Press, Cambridge Mass, 1968. (ii) A Discourse on the Self-Contradictory Terms". The Calcutta Review, Vol. 168, pp. 10-16, 1961. (iii) "The Doctrine of Karaṇa in Grammer and Logic." Proceedings and Transactions of the All-India Oriental Conference Bhuvaneshwar. pp. 303-308, 1959. (iv) "The Intensional charactor of Lakṣaṇa and Saṁkara". Indo-Iranian Journal Leiden Vol. 8, pp. 85-95, 1964-65.

MILL, J. S. : 'System of Logic', London, 1843.

MOHANTY, J. N. : "On this Nature of the Prāmāṇya-Theory." Our Heritage. Calcutta Vol. 8. pp 28-38, 1960.

MUKERJEE, S. : (i) 'The Buddhist Philosophy of Universal Flux'. Calcutta University Press, Calcutta, 1935. (ii) 'Pre-Diṅnāga Budhist Texts on Logic'. Gaekwada Oriental Series, Baroda 1929 (Editorial Notes). (iii) Presidential Address Proceedings and Transaction. First All India Oriental Conference, 1919, Poona.

NICOD, J. G. P. : "A Reduction in the Number of the Primitive Propositions of Logic." Proceedings of the Cambridge Philosophical Society. Vol. XIV pp. 481-88. 1913.

NIDDITCH, P. H. : (i) 'The Development of Mathematical Logic.' Routledge & Kegan Paul, London. (ii) 'Propositional Calculus.' Routledge & Kegan Paul, London.

NOVIKOV, P. S. : 'Elements of Mathematical Logic.' Oliver and Boyd. London, 1964.

NYAYARATNA, M. M. MAHESH CHANDRA : 'Brief Notes on the Modern Nyāya Sytem of Philosophy & Logic.' Hare Press, Calcutta, 1891.

OLIVER, J. W. : "Formal Fallacies and other Invalid Arguments." Mind N. S. Vol. 76. 1967.

PAMPAPATHEY, A. : 'Classical Theory of First order Logic." Indian Institute of Advance Studies, Simla, 1970.

PEANO, G. : 'Formulaire de Mathematiques.' 5. Vol. Turin Bocca 1895-1908.

PEIRCE, C. S. : 'Collected Papers' 8 Vol. Cambridge Mass, 1931-58.

PHAṆIBHŪSHAṆA, M. M. TARKAVĀGĪSH : 'Nyaya Parichaya' Varanasi.

POST, E. L. : "Introduction to a General Theory of Elementary Propositions." American Journal of Mathematics. Vol. 43. pp. 163-185, 1921.

POTTER, K. H. : "Review of Ingall's, Materials for the Study of Navya-Nyāya Logic. Philosophy of East and West. Honolulu Vol. 4. pp. 259-64, 1954-55.

PRIOR, A. N. : 'Formal Logic.' 2nd. Ed. Clarendon Press Oxford, 1962.

QUINE W. V. : (i) 'Mathematical Logic'. Harvard University Press, Cambridge Mass. 1951. (ii) 'Methods of Logic'. Revised Ed. Holt, New York, 1959. (iii) 'Word and Object'. Cambridge Mass, 1960. (iv) 'Set Theory and its Logic'. Mass; 1963.

RADHAKRISHNAN, S. : (i) 'Indian Philosophy' 2. Vol. George Allen & Unwin Ltd., London, 1924. (ii) 'An Idealist view of Life. George Allen & Unwin Ltd., London, 1924.

RAGHUNATH : Padārth-tattva-nirūpaṇa, The Paṇdit, Benaras 1903-5.

RAI, BAHĀDUR MANMOHAN CHAKRAVARTI : "History of Navya Nyāya in Bengal and Mithilā." Journal of Asiatic Society, Bengal, Calcutta, Vol. 11. pp. 259-92. 1915.

RANADEL, H. N.: (i) 'Indian Logic in Early Schools'. Oxford University Press, Oxford. 1930. (ii) 'Fragments from Diñnāga'. Royal Asiatic Society, London, 1926.

REICHENBACH, H. : 'Elements of Symbolic Logic'. Macmillan & Co., New York, 1956.

ROSS, W. D. & SMITH, J. A. : 'The Works of Aristotle'. Tr. & Ed. 12 Vols. Oxford, 1908-52,

ROSSER, J. B. : (i) 'Logic for Mathematicians'. Mc Graw Hill Book Co. Inc. New York 1953. (ii) 'Many Valued Logic'. Amsterdam 1952. (iii) "On Many valued Logic." American Journal of Physics Vol. 9. pp. 207-12. 1941. (iv) "Axioms Schemes for many valued Propositional Calculi." Journal of Symbolic Logic. Vol. 10. pp. 61-82. 1945.

RUSSELL, B. A. W. : (i) 'Principles of Mathhmatics'. George Allen & Unwin Ltd., London 1956. (ii) 'Introduction to Mathematical Philosophy.' George Allen & Unwin Ltd., London 1963. (iii) "The Theory of Implication". & "Mathematical Logic as based on the Theory of Types." American Journal of Mathematics, 1906, 1908.

RUSSELL, L. J. : An Elementary Symbolism for Logic". Mind. January, 1928.

SCHILLER, F. C. S. : 'Formal Logic'. Macmillan & Co. Newyork. 1894.

SCHROEDER, E. : 'Algebra der Logik.' 3 Vols. Teubner, Leipzig 1890-95.

SEAL, B. N. : 'Positive Sciences of Ancient Hindus.' Motilal Banarsidas, Varanasi, 1958.

SEN. S. : 'A study of Mathurānāth's Tattva Chintāmaṇirahasya'. Wageningen, 1924.

SHASTRY, G. N. : 'The Philosophy of Word and Meaning.' Sanskrit College Studies, Calcutta 1959.

SHASTRY, K. S. : 'A Primer of Indian Logic'. Kuppu Swami Shastry Research Institute, Mylapore, Madras, 1961.

SHEFFER, H. M. : (i) "A set of Five Independent Postulates for Boolean Algebra." & "Applications to Logical constants" Articles in Transactions of the American Mathematical Society, 1913.

SINHA, J. N. : History of Indian Philosophy. Vol. I & II Sinha Publishing House, 39 S. R. Road, Calcutta-26. 1959.

Six Buddhist Nyāya Tracts' (with Antarvyāpatisamartham by Ratnākara shānti etc.) Bibliothica Indica. 1910.

STAAL, J. F. : (i) 'Means of Formalisation in Indian and Western Logic'. Reynier Vinkileside 74, Amsterdam. (ii) Review of Ingall's Materials...., Indo-Iranian Journal Vol. 4. 1960.

STCHERBATSKY, T. : 'Buddhist Logic'. Dover Publication, New York 1962.

STEBBING, L. S. : 'A Modern Introduction to Logic'. Methuen & Co. Ltd. London, 1933.

STRASON, P. F. ; 'Introduction to Logical Theory'. B. I. Publication, Bombay, 1966.

STYAZHKIN, N. I. : 'History of Mathematical Logic from Leibniz to Peano'. The M. I. T. Press 1970. (London).

SUPPES, P. : (i) 'Introduction to Logic'. Van Nostrand Reinhold Co. New York, 1969. (ii) Axiomatic Set Theory' Van Nostrand Reinhold Co. New York, 1969.

TARSKI, A : (i) 'Logic, Semantics and Mathematics'. tr. by J. M. Woodger, Oxford, 1956. (ii) 'Introduction to Logic.' New York. 1941.

TUCCI, G. : (i) 'Pre-Diñnāga Buddhist Text on Logic from Chinese Sources'. Gaekwada Oriental Series, Baroda. 1929. (ii) "Buddhist Logic before Diñnāga". & (iii) "Is the Nyāya-pravesh by Diñnāga" & (iv) "On the Fragments from Diñnāga.". Articles in Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland 1928, 29.

UI, H. : 'Vaisheṣika Philosophy according to Dashapadārathashāstra.' Chowkhamba Publication, Varanasi.

UBERWEG, F. : (i) 'System of Logic', Longman's Green & Co. London, 1871. (ii) 'A History of Philosophy' Vol. I. Hoddar & Stoughton. London. 4th Ed.

VENN. J. : 'Symbolic Logic'. London, 1881.

VIDYABHUSHANA, S. C. : 'History of Indian Logic.' Calcutta University Press, Calcutta, 1930.

VONWRIGHT, G. H. : 'An Essay on Modal Logic'. Amsterdam, 1951.

WELTON, J. : 'A Manual of Logic'. 2 Vols. University Tutorial Press, Ltd., London, 1922.

WHITEHEAD, A. N. : 'Introduction to Mathematics'. Home University Library.

WHITEHEAD, A. N. & RUSSELL, B. A. W. : 'Principia Mathematica.' 3. Vol. Cambridge University Press, Cambridge, 1925-27. 2nd. Ed.

WITTGENSTEIN, L. : 'Philosophical Investigations'. Oxford, 1953.

ZERMELO, E. : "Untersuchungen Über die Grundlagen der Mengenlehre I". Mathematische Annalen Vol. 65. pp. 261-281.